ॐ

अथापद्धर्मपर्व।

युधिष्ठिर उवाच—क्षीणस्य दीर्घसूत्रस्य सानुक्रोशस्य बन्धुषु।
परिशङ्कितवृत्तस्य श्रुतमन्त्रस्य भारत ॥ १ ॥
विभक्तपुरराष्ट्रस्य निर्द्रव्यनिचयस्य च।
असंभावितमित्रस्य भिन्नामात्यस्य सर्वशः ॥ २ ॥
परचक्राभिजातस्य दुर्बलस्य बलीयसा।
आपन्नचेतसो ब्रूहि किं कार्यमवशिष्यते ॥ ३ ॥
भीष्म उवाच— बाह्यश्चेद्विजिगीषुः स्याद्धर्मार्थकुशलः शुचिः।
जवेन सन्धिं कुर्वीत पूर्वभुक्तान्विमोचयेत् ॥ ४ ॥
योऽधर्मविजिगीषुः स्याद्बलवान्पापनिश्चयः।
आत्मनः सन्निरोधेन सन्धिं तेनापि रोचयेत् ॥ ५ ॥
अपास्य राजधानीं वा तरेद् द्रव्येण चापदम्।

शान्तिपर्वमें १३१ अध्याय।

आपद्धर्मपर्व।

युधिष्ठिर बोले, हे भारत! जो राजा धान्यकोष आदि संग्रहसे रहित दीर्घसूत्र, बन्धु वध भयके कारण किलेसे बाहर निकलके युद्ध करनेमें असमर्थ, सदा शङ्कित, जिसके विचारको दूसरे लोगोंने सुना है, शत्रुओंने जिसके राज्यको विभाग कर लिया है, जो विषय रहित है, और मित्रोंको सब तरहसे सम्मान पूर्वक अपने वश करनेमें समर्थ नहीं हैं, जिसके सेवक लोग शत्रुओंके वशमें हुए, शत्रु लोग जिसके सम्मुखवर्त्ती होरहे हैं, स्वयं निर्बल होनेसे प्रबल वैरीके जरिये जिसका चित्त व्याकुल हुआ है; उसे अन्तमें क्या करना उचित है, वह कहिये। (१-३)

भीष्म बोले, विजयके निमित्त बाहर हुए विजिगीषु राजा यदि धर्मपूर्वक धन प्राप्त करनेमें निपुण और पवित्र हो, तो शत्रुसे विजित पूर्वभुक्त राज्यको शान्तिवादके सहारे उससे छुडाके शीघ्र सन्धि स्थापित करे। जो पुरुष बलवान और पाप बुद्धि होकर अधर्मके अनुसार विजयकी इच्छा करता है, कई एकगांव दान करके उसके साथमें भी सन्धि

तद्भावयुक्तो द्रव्याणि जीवन्पुनरुपार्जयेत् ॥ ६ ॥
यास्तु कोशबलत्यागाच्छक्यास्तरितुमापदः ।
कस्तत्राधिकमात्मानं संत्यजेदर्थधर्मवित् ॥ ७ ॥
अवरोधान् जुगुप्सेत का सपत्नधने दया ।
न त्वेवात्मा प्रदातव्यः शक्ये सति कथं च न ॥ ८ ॥
युधिष्ठिर उवाच— आभ्यन्तरे प्रकुपिते बाह्ये चोपनिपीडिते ।
क्षीणे कोशे श्रुते मन्त्रे किं कार्यमवशिष्यते ॥ ९ ॥
भीष्म उवाच— क्षिप्रं वा सन्धिकामः स्यात्क्षिप्रं वा तीक्ष्णविक्रमः ।
तदापनयनं क्षिप्रमेतावत्सांपरायिकम् ॥ १० ॥
अनुरक्तेन चेष्टेन हृष्टेन जगतीपतिः ।
अल्पेनापि हि सैन्येन महीं जयति भूमिपः ॥ ११ ॥
हतो वा दिवमारोहेद्धत्वा वा क्षितिमावसेत् ।
युद्धे हि संत्यजन्प्राणान् शक्रस्यैति सलोकताम्॥ १२ ॥
सर्वलोकागमं कृत्वा मृदुत्वं गन्तुमेव च ।

करनेमें सम्मत होवे, अथवा राजधानी परित्याग करके द्रव्य सञ्चय दानसे भी आपदसे पार होवे। यदि राजगुणसे युक्त होकर जीवित रहे, तो द्रव्य आदि फिर प्राप्त कर सकेगा; धन और सेना परित्याग करनेसे यदि सब आपद दूर हो, तो कौन धर्म अर्थको जाननेवाला राजा उस विषयमें आत्मदान किया करता है? अन्तःपुरमें रहनेवाली स्त्रियों-की रक्षा करे, वे यदि शत्रुके अधिकारमें हुई हों, तो उस विषयमें दया करनेकी आवश्यकता नहीं है, सामर्थ्य रहते किसी प्रकार भी आत्म समर्पण करना योग्य नहीं है। (४–८)

युधिष्ठिर बोले, सेवक आदि कोपित, किले तथा राज्य आदि शत्रुसे आक्रान्त, खजाना खालि, और मन्त्रणा प्रकाशित होनेपर अन्तमें क्या करना उचित है। (९)

भीष्म बोले, शत्रु धर्मात्मा होनेपर शीघ्र ही उसके सङ्ग सन्धिकी इच्छा करे, ऐसा होनेसे शीघ्र ही शत्रुको दूर किया जा सकता है, अथवा धर्म युद्धमें प्राणको त्याग करके परलोकमें गमन करना ही कल्याणकारी है। थोडी सेना होनेपर भी यदि वह अनुरक्त, अभिप्रेत और हर्षयुक्त हो, तो पृथ्वी-पति राजा उस ही से महीमण्डल जय कर सकता है। जो युद्धमें प्राणत्यागते हैं, वे इन्द्रलोक पाते हैं। सब लोकोंमें

विश्वासाद्विनयं कुर्याद्विश्वसेचाप्युपायतः ॥ १३ ॥
अपचिक्रमिषुः क्षिप्रं साम्ना वा परिसान्त्वयन् ।
विलङ्घयित्वा मन्त्रेण ततः स्वयमपक्रमेत् ॥ १४ ॥ [४७४९]

इति श्रीमहाभारते०शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३१॥

युधिष्ठिर उवाच- हीने परमके धर्मे सर्वलोकाभिसंहिते ।
सर्वस्मिन्दस्युसाद्भूते पृथिव्यामुपजीवने ॥ १ ॥
केनस्विद्ब्राह्मणो जीवेज्जघन्ये काल आगते ।
असंत्यजन्पुत्रपौत्राननुक्रोशात्पितामह ॥ २ ॥

भीष्म उवाच- विज्ञानबलमास्थाय जीवितव्यं तथागते ।
सर्वं साध्वर्थमेवेदमसाध्वर्थं न किंचन ॥ ३ ॥
असाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यो यः प्रयच्छति ।
आत्मानं संक्रमं कृत्वा कृत्स्नधर्मविदेव सः ॥ ४ ॥

प्रसिद्ध बुद्धिका आसरा करके युद्ध पक्ष परित्याग करनेके लिये जिस प्रकार शत्रुकी विश्वास होवे, उसही प्रकार विनय करे, स्वयं भी समयके अनुसार शत्रुका विश्वास करे; सेवक आदिकोंके प्रतिकूल रहनेपर युद्ध करनेमें असमर्थ होनेपर राजा शान्तिवादके सहारे शत्रु-को शान्त करते हुए, किलेसे बाहर होकर देश देशान्तरमें कुछ समय बिताके फिर अन्तमें मन्त्रणा करके अपने बलसे स्वयं राज्य जय करनेका उद्योग करे। (१०-१४) [४७४९]

शान्तिपर्वमें १३१ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १३२ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! पृथ्वी-पर जिन सब वस्तुओंको उपजीव्य करके जीवन, धारण किया जाता है, उन सबके चोरी होनेपर भी राजाओंको सब उपायसे ब्राह्मणोंकी रक्षा करनी उचित है,—यह सब लोक सत्कृत धर्म नष्ट होनेपर इस आपदके समयमें जो ब्राह्मण दयाके वशमें होकर पुत्र पौत्रों-को परित्याग करनेमें असमर्थ हैं, वे कैसे उपायके जरिये जीवन धारण करेंगे ? (१-२)

भीष्म बोले, हे राजन् ! विपद्काल उपस्थित होनेपर ब्राह्मण विज्ञान अवल-म्बन करके जीवन व्यतीत करें, इस जगत्में जो कुछ भोग्य वस्तु हैं, वे साधुओंके निमित्त उत्पन्न हुई हैं; दुष्टोंके वास्ते कुछ भी नहीं उत्पन्न हुई हैं। जो अपनेको अर्थागमका उपाय करके दुष्टोंसे धन ग्रहण करके साधुओंको दान करते हैं, वे सब धर्मोंको जानते हैं;

आकांक्षन्नात्मनो राज्यं राज्ये स्थितिमकोपयन्।
अदत्तमेवाददीत दातुर्वित्तं ममेति च ॥ ५ ॥
विज्ञानबलपूतो यो वर्तते निन्दितेष्वपि।
वृत्तिविज्ञानवान्धीरः कस्तं वा वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥
येषां बलकृतावृत्तिस्तेषामन्या न रोचते।
तेजसाऽभिप्रवर्तन्ते बलवन्तो युधिष्ठिर ॥ ७ ॥
यदैव प्राकृतं शास्त्रमविशेषेण वर्तते।
तदैवमभ्यसेदेवं मेधावी वाप्यथोत्तरम् ॥ ८ ॥
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान् सत्कृतानभिसत्कृतान्।
न ब्राह्मणान्घातयीत दोषान्प्राप्नोति घातयन् ॥ ९ ॥
एतत्प्रमाणं लोकस्य चक्षुरेतत्सनातनम्।
तत्प्रमाणोऽवगाहेत तेन तत्साध्वसाधु वा ॥ १० ॥
बहवो ग्रामवास्तव्या रोषाद्ब्रूयुः परस्परम्।

स्थान भ्रष्ट राजा किसी पुरुषको कोपित न करके अपने प्रजापालन धर्मकी अभिलाषा करते हुए दूसरेके अदत्त धनको पालन कर्त्ताका धन समझके ग्रहण करें। जो विज्ञान-बलसे पवित्र रहके निन्दित कार्य किया करते हैं; उस वृत्तिविज्ञानवान धीर पुरुषको कौन निन्दा कर सकता है? हे युधिष्ठिर! जो लोग बलपूर्वक वृत्ति प्राप्त करते हैं, दूसरी रीतिसे प्राप्त करनेकी रुचि नहीं होती। बलवान पुरुष निज तेजोप्रभावसे ही जिविका निर्वाहमें प्रवृत्त होते हैं। आपदग्रस्त राजा निज राज्य और पर-राज्यसे धन संग्रह करे। इस आपद्धर्मके उपयोगी सामान्य शास्त्रका अभ्यास करे; मेधावी राजा उक्त शास्त्र और दोनों राज्यमें स्थित धनियोंमेंसे जो कदर्य और कार्यवशसे दण्डके योग्य हैं, उनके निकटसे धन लेके कोष सञ्चय करे। इस विशेष शास्त्रको भी अविशेष भावसे वशमें करे। (३-८)

राजा अत्यन्त आपदग्रस्त होनेपर भी ऋत्विक, पुरोहित, आचार्य और ब्राह्मणोंकी कदापि हिंसा न करे, उन लोगोंकी हिंसा करनेसे दोषग्रस्त होना पडेगा। येही लोगोंको नेत्र स्वरूप सनातन प्रमाण हैं, इससे चाहे यह उत्तम ही अथवा बुरा ही होवे, आपदयुक्त राजाको ऐसा ही आचरण करना उचित है। ग्रामवासी बहुतेरे पुरुष क्रोधके वशमें होकर राजाकी निन्दा किया करते हैं, परन्तु राजा उन लोगोंके

न तेषां वचनाद्राजा सत्कुर्याद्धातयीत वा ॥ ११ ॥
न वाच्यः परिवादोऽयं न श्रोतव्यः कथं च न ।
कर्णावथापिधातव्यौ प्रस्थेयं चान्यतो भवेत् ॥ १२ ॥
असतां शीलमेतद्वै परिवादोऽथ पैशुनम् ।
गुणानामेव वक्तारः सन्तः सत्सु नराधिप ॥ १३ ॥
यथा समधुरौ दम्यौ सुदान्तौ साधुवाहिनौ ।
धुरमुद्यम्य वहतस्तथा वर्तेत वै नृपः ॥ १४ ॥
यथायथाऽस्य बहवः सहायाः स्युस्तथाऽपरे ।
आचारमेव मन्यन्ते गरीयो धर्मलक्षणम् ॥ १५ ॥
अपरे नैवमिच्छन्ति ये शंखलिखितप्रियाः ।
मात्सर्यादथवा लोभान्न ब्रूयुर्वाक्यमीदृशम् ॥ १६ ॥
आर्षमप्यत्र पश्यन्ति विकर्मस्थस्य पातनम् ।
न तादृक्सदृशं किञ्चित्प्रमाणं दृश्यते क्वचित् ॥ १७ ॥
देवताश्च विकर्मस्थं पातयन्ति नराधमम् ।

वचन अनुसार किसीको भी पुरस्कार वा तिरस्कार न करे । पुरोहित आदिके प्रतिवादको किसी प्रकारसे कहना वा सुनना न चाहिये; यदि कोई सभामें उनकी निन्दा करे, तो दोनों कानोंको मूंद ले अथवा दूसरी जगह चला जावे। हे नरनाथ ! दूसरेकी निन्दा वा खलता करना दुष्टोंका स्वभाव-सिद्ध धर्म है; साधुओंके बीच कितने ही पुरुष केवल दूसरेके गुणोंको वर्णन किया करते हैं। जैसे दमनीय अच्छी तरह ढोनेमें समर्थ, दान्त और सुन्दर बैल बोझाधारण करके ढोते हैं, आपदयुक्त राजा वैसा ही व्यवहार करे; जैसे व्यवहारसे उसे बहुतसी सहायता प्राप्त होवे, राजा वैसे ही आचारका प्रचार करे। पण्डित लोग आचारको ही धर्मका श्रेष्ठ लक्षण समझते हैं। (९-१५)

शंख और लिखितके मतको अवलम्बन करनेवाले ऋषियोंका ऐसा अभिप्राय नहीं है, मत्सरता और लोभके वशसे जो वे लोग आचारको धर्म नहीं समझते; वैसा नहीं है; ऋषि शासन ही उनका अनुमोदनीय है; कुकर्म करनेवाले पुरुषोंको शासन करना ही ऋषियोंने वर्णन किया है; परन्तु श्रेष्ठ पुरुष यदि असत् मार्गको अवलम्बन करे तो उसे भी शासन करना उचित है। ऐसा वचन यद्यपि ऋषियोंने कहा है, यह ठीक है, तो भी उसके समान प्रमाण

व्याजेन विन्दन्वित्तं हि धर्मात्स परिहीयते ॥ १८ ॥
सर्वतः सत्कृतः सद्भिर्भूतिप्रवरकारणैः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं व्यवस्यति ॥ १९ ॥
यश्चतुर्गुणसंपन्नं धर्मं ब्रूयात्स धर्मवित् ।
अहेरिव हि धर्मस्य पदं दुःखं गवेषितुम् ॥ २० ॥
यथा मृगस्य विद्धस्य पदमेकपदं नयेत् ।
लक्षेद्रुधिरलेपेन तथा धर्मपदं नयेत् ॥ २१ ॥
यथा सद्भिर्विनीतेन यथा गन्तव्यमित्युत ।
राजर्षीणां वृत्तमेतदेवं गच्छ युधिष्ठिर ॥ २२ ॥ [४७७१]

इतिश्रीमहा०शान्ति०आपद्धर्मपर्वणि राजर्षिवृत्तं नाम द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

भीष्म उवाच— स्वराष्ट्रात्परराष्ट्राच्च कोशं सञ्जनयेन्नृपः ।
कोशाद्धि धर्मः कौन्तेय राज्यमूलं च वर्धते ॥ १ ॥
तस्मात्संजनयेत्कोशं सत्कृत्य परिपालयेत् ।

कहीं भी नहीं दीखता, इससे राजाओं-को वैसा करना योग्य नहीं है; देवता लोग ही कुकर्म्मी अधर्म पुरुषोंको शासन किया करते हैं। जो राजा छलसे धन सञ्चय करता है, वह धर्मसे भ्रष्ट होता है। वेदमें कहे हुए, मनु आदि स्मृति-योंमें वर्णित, देश और कालके अनुसार साधुओंसे आचरित तथा सज्जनोंके हृदयमें स्वयं जो धर्म उत्पन्न होता है, राजा उसे ही अवलम्बन करे। (१६-१९)

जो वेदविहित, तर्कसे निश्चित, वार्त्ताशास्त्र सम्मत और दण्ड नीति प्रसिद्ध धर्मको कह सकते हैं, वेही धर्म जाननेवाले हैं; सांपके पैरको अन्वेषण करनेकी तरह धर्मका मूल अन्वेषण करना अत्यन्त कठिन कर्म है। जैसे व्याधा बाण विद्ध मृगके रुधिरसे भीगे हुए पांवके चिन्हको देखकर उसके गमन करनेके मार्गको मालूम करता है, धर्मके मार्गका अनुसन्धान करना वैसा ही है। हे युधिष्ठिर! इसी प्रकार साधु-ओंसे आचरित मार्गसे विचरण करना उचित है। महर्षियोंका इसी प्रकार चरित्र है तुम भी ऐसा ही करो। (२०-२२)

शान्तिपर्वमें १३२ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १३३ अध्याय।

भीष्म बोले, हे कुन्तीनन्दन! राजा निजराज्य और परराज्यसे धन संग्रह करे, क्यों कि धनसे ही धर्म और मूल राज्यकी बढती हुआ करती है। इससे धन इकट्ठा करके यत्नके सहित उसकी

परिपाल्यानुतनुयादेष धर्मः सनातनः ॥ २ ॥
न कोशः शुद्धशौचेन न नृशंसेन जातुचित् ।
मध्यमं पदमास्थाय कोशसंग्रहणं चरेत् ॥ ३ ॥
अबलस्य कुतः कोशो ह्यकोशस्य कुतो बलम् ।
अबलस्य कुतो राज्यमराज्ञः श्रीर्भवेत्कुतः ॥ ४ ॥
उच्चैर्वृत्तेः श्रियो हानिर्यथैव मरणं तथा ।
तस्मात्कोशं बलं मित्रमथ राजा विवर्धयेत् ॥ ५ ॥
हीनकोशं हि राजानमवजानन्ति मानवाः ।
न चास्याल्पेन तुष्यन्ति कार्यमप्युत्सहन्ति च ॥ ६ ॥
श्रियो हि कारणाद्राजा सत्क्रियां लभते पराम् ।
साऽस्य गूहति पापानि वासो गुह्यमिव स्त्रियाः ॥ ७ ॥
ऋद्धिमस्यानुतप्यन्ते पुरा विप्रकृता नराः ।
शालावृका इवाजस्रं जिघांसुमेव विन्दति ॥ ८ ॥
ईदृशस्य कुतो राज्ञः सुखं भवति भारत ।

रक्षा करनी उचित है; और रक्षा करके उसकी वृद्धि करनी चाहिये, यही सनातन धर्म है । केवल पवित्रता वा नृसंसताके जरिये धन सञ्चय कभी न करना चाहिये; पवित्रता और नृशंसताके मध्यवर्ती होकर कोष संग्रह करना उचित है । बलहीन राजासे धन संग्रह नहीं होता, धनहीनको बल कहां ? बलहीन होनेसे राज्य स्थिर नहीं रहता, राजहीनको श्री कहांसे होगी ? महत् पुरुषकी श्रीहानि मृत्युके समान है, इससे राजाको उचित है, कि जिस उपायसे धन, बल और मित्रोंकी बढती हो, उसही विषयमें यत्नवान होवे । (१-५)

मनुष्य लोग धनहीनकी अवज्ञा किया करते हैं, वे लोग अल्प धन पाके उससे सन्तुष्ट नहीं होते, और उसके कार्योंको करनेके वास्ते उत्साह प्रकाशित नहीं करते । राजा कोष सम्पत्तिके कारणसे ही परम सम्मानको प्राप्त होते हैं । जैसे वस्त्र स्त्रियोंके गोपनीय स्थलको छिपाता है, उसी प्रकार धन सम्पत्ति भी राजाके पापोंको सम्वरण किया करती है । पहिले राजा जिसके साथ विरोध किये रहता है, वह उसकी समृद्धिके समयमें अनुतापित होता है और जैसे वानरोंने जिघांसु पुरुषोंके मारनेके वास्ते उनका अनुसरण किया था, उसी प्रकार उक्त पुरुष कपट आचारके जरिये राजाको नष्ट करनेकी इच्छासे उसका

उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम् ॥ ९ ॥
अथापर्वणि भज्येत न नमेतेह कस्यचित्।
अथारण्यं समाश्रित्य चरेन्मृगगणैः सह ॥ १० ॥
न त्वेवोज्झितमर्यादैर्दस्युभिः सहितश्चरेत्।
दस्यूनां सुलभा सेना रौद्रकर्मसु भारत ॥ ११ ॥
एकान्ततो ह्यमर्यादात्सर्वोऽप्युद्विजते जनः।
दस्यवोऽप्यभिशङ्कन्ते निरनुक्रोशकारिणः ॥ १२ ॥
स्थापयेदेव मर्यादां जनचित्तप्रसादिनीम्।
अल्पेऽप्यर्थे च मर्यादा लोके भवति पूजिता ॥ १३ ॥
नायं लोकोऽस्ति न पर इति व्यवसितो जनः।
नालं गन्तुं हि विश्वासं नास्तिके भयशङ्किते ॥ १४ ॥
यथा सद्भिः परादानमहिंसा दस्युभिः कृता।
अनुरज्यन्ति भूतानि समर्यादेषु दस्युषु ॥ १५ ॥

आश्रय करते हैं। (६-८)

हे भारत! जो राजा इस प्रकार है, उसे सुख कैसे हो सकता है? इससे सब तरहसे उन्नतिके वास्ते चेष्टा करनी योग्य है; नीचा होना उचित नहीं है। क्योंकि उद्यम ही पुरुषार्थ कहाता है, असमयमें बल्कि भागना अच्छा है, तथापि किसीके समीप नीचा होना उचित नहीं है। वनका सहारा करके मृग समूहके साथ भ्रमण करना भी अच्छा है, परन्तु मर्यादारहित दस्यु-ओंकी भांति सेवकोंका संसर्ग करना उचित नहीं है। हे भारत! भयङ्कर कार्योंमें डाकूके समान सेनाका संग्रह सहजमें ही सिद्ध होता है, अत्यन्त मर्यादारहित होनेपर सब लोग ही व्याकुल हुआ करते हैं, और डाकू लोग भी निर्दयी लोगोंसे अत्यन्त शङ्कित होते हैं; इससे जो मर्यादा लोगोंके चित्तको प्रसन्न करे, उसे ही स्थापित करनी उचित है; धन थोडा रहनेपर भी जनसमाजमें मर्यादा पूजित हुआ करती है। इस लोक वा परलोकमें पापपुण्यका फल भोग करना पडता है, साधारण लोग इसमें विश्वास नहीं करते हैं। समझके भयसे शङ्कित नास्ति-कके मतमें विश्वास करना उचित नहीं है। (९—१४)

डाकुओंमें ऐसे पुरुष भी हैं, जो पराये धनको हरते हैं, परन्तु किसीकी हिंसा नहीं करते; इससे डाकू लोग मर्यादायुक्त होनेपर अन्तमें सबकी रक्षा

अयुद्ध्यमानस्य वधो दारामर्षः कृतघ्नता।
ब्रह्मवित्तस्य चादानं निःशेषकरणं तथा ॥ १६ ॥
स्त्रिया मोषः पतिस्थानं दस्युष्वेतद्विगर्हितम्।
संश्लेषं च परस्त्रीभिर्दस्युरेतानि वर्जयेत् ॥ १७ ॥
अभिसंदधते ये च विश्वासायास्य मानवाः।
अशेषमेवोपलभ्य कुर्वन्तीति विनिश्चयः ॥ १८ ॥
तस्मात्सशेषं कर्तव्यं स्वाधीनमपि दस्युभिः।
न बलस्थोऽहमस्मीति नृशंसानि समाचरेत् ॥ १९ ॥
सशेषकारिणस्तत्र शेषं पश्यन्ति सर्वशः।
निःशेषकारिणो नित्यं निःशेषकरणाद्भयम् ॥ २० ॥ [४७९१]

इति श्रीमहाभारते० शांतिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

भीष्म उवाच— अत्र धर्मानुवचनं कीर्तयन्ति पुराविदः।

कर सकते हैं। जो पुरुष युद्ध करनेसे विरत हुआ है, उसका वध करना, स्त्री हरना; कृतघ्नता, ब्राह्मणोंका वित्त ग्रहण करना, सर्वस्व हरण करना, कन्या पोषण ग्राम आदि आक्रमण करके प्रभुत्वभावसे निवास और संभोगके सहित परायी स्त्रीका पतिव्रत भङ्ग, डाकुओंके विषयमें ये सब कार्य विशेष रूपसे निन्दनीय हैं, इस डाकुओंको इन सब कर्मोंको त्यागना उचित है। (१५-१७)

हे भारत! जो लोग दस्युओंके नाशके निमित्त अभिसन्धि करते हैं, वे लोग उन्हें विश्वास उत्पन्न करके अशेष रूपसे उनके धनसम्पत्तिको प्राप्त करके सन्धिबन्धन किया करते हैं। इससे उसका चित्त, स्त्री, पुत्र, विभव जो कुछ हो, वह सब राजाको अपने अधिकारमें करना उचित है। डाकुओंके साथ विरोध उपस्थित होनेपर अपनेको बलवान समझके उनके विषयमें नृशंस व्यवहार करना राजाको उचित नहीं है। जो राजा दस्युओंके स्त्री, पुत्र और धनसम्पतिकी रक्षा करते हैं, वे आप पराहित होके राज्यभोग करनेमें समर्थ होते हैं, और जो दस्युओंको नष्ट करते हैं, उस ही कारणसे दूसरे डाकू लोग उन्हें सदा भय दिखाया करते हैं, इससे उन्हें आपदरहित होके राज्य पालन करना अत्यन्त कठिन होजाता है। (१८-२०) [४७९१]

शान्तिपर्वमें १३३ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १३४ अध्याय।

इस विषयमें इतिहासवेत्ता पण्डित लोग धर्मशासन वर्णन किया करते हैं,

प्रत्यक्षावेव धर्मार्थौ क्षत्रियस्य विजानतः ॥ १ ॥
तत्र न व्यवधातव्यं परोक्षा धर्मयापना।
अधर्मो धर्म इत्येतद्यथा वृकपदं तथा ॥ २ ॥
धर्माधर्मफले जातु ददर्शेह न कश्चन।
बुभूषेद्बलमेवैतत्सर्वं बलवतो वशे ॥ ३ ॥
श्रियो बलममात्यांश्च बलवानिह विन्दति।
यो ह्यनाढ्यः स पतितस्तदुच्छिष्टं यदल्पकम् ॥ ४ ॥
बह्वपथ्यं बलवति न किञ्चित्क्रियते भयात्।
उभौ सत्याधिकारस्थौ त्रायेते महतो भयात् ॥ ५ ॥
अतिधर्माद्बलं मन्ये बलाद्धर्मः प्रवर्तते।
बले प्रतिष्ठितो धर्मो धरण्यामिव जङ्गमम् ॥ ६ ॥
धूमो वायोरिव वशे बलं धर्मोऽनुवर्तते।
अनीश्वरो बले धर्मो द्रुमे वल्लीव संश्रिता ॥ ७ ॥
वशे बलवतां धर्मः सुखं भोगवतामिव।

विशेषज्ञ क्षत्रिय राजा धर्म और अर्थको प्रत्यक्ष करते हैं; प्रत्यक्ष धर्मका शास्त्रोक्त विचार रूप परोक्ष धर्मके जरिये आचरण करना उचित नहीं है, पृथ्वीपर भेडि- येके पैरका चिन्ह देखकर "यह भेडियेका पैर है, वा नहीं," ऐसे विचारके अनु- सार प्रत्यक्ष धर्मको अधर्म कहके सन्देह करना अनुचित है। इस लोकमें किसी पुरुषने धर्मके फलको कदाचित नहीं देखा है। धर्म फलको बलरूपसे जान- ना उचित है, क्योंकि सब विषय ही बलवान पुरुषके वशमें रहते हैं। बलवा- न पुरुष ही धन, बल, और सेवकोंको प्राप्त करते हैं। जो निर्द्धन हैं, वेही पतित हैं; जो कुछ अल्प है, वही उच्छिष्ट कहके गिना जाता है। (१-४)

बलवान पुरुषोंके अनेक निन्दित कर्म करनेपर भी भयके कारण कोई उनका कुछ अनिष्ट नहीं कर सकता। धर्म और सत्य दोनों ही बलवान लोगोंको महत् भयसे परित्राण करते हैं। बल ही धर्मसे प्रबल बोध होता है, क्योंकि बलसे ही धर्म उत्पन्न हुआ करता है; पृथ्वी पर जङ्गम जीवोंकी तरह बल धर्ममें प्रतिष्ठित हो रहा है। जैसे धुआं वायुके वशमें होकर आकाशमें उड जाता है उसही भांति धर्म बलका अनुसरण करता है; जैसे लता वृक्षका आसरा किया करती है, वैसे ही धर्म बलको अवलम्बन करके उसके ऊपर

नास्त्यसाध्यं बलवतां सर्वं बलवतां शुचि ॥ ८ ॥
दुराचारः क्षीणबलः परित्राणं न गच्छति ।
अथ तस्मादुद्विजते सर्वो लोको वृकादिव ॥ ९ ॥
अपध्वस्तो ह्यवमतो दुःखं जीवति जीवितम् ।
जीवितं यदपकृष्टं यथैव मरणं तथा ॥ १० ॥
यदेवमाहुः पापेन चारित्रेण विवर्जितः ।
सुभृशं ताप्यते नैव वाक्शल्येन परिक्षतः ॥ ११ ॥
अत्रैतदाहुराचार्याः पापस्य परिमोक्षणे ।
त्रयीं विद्यामवेक्षेत तथोपासीत वै द्विजान् ॥ १२ ॥
प्रसादयेच्चक्षुषा च वाचा चाप्यथ कर्मणा ।
महामनाश्चापि भवेद्विवहेच्च महाकुले ॥ १३ ॥
इत्यस्मीति वदेदेवं परेषां कीर्तयेद्गुणान् ।
जपेदुदकशीलः स्यात्पेशलो नातिजल्पकः ॥ १४ ॥
ब्रह्मक्षत्रं संप्रविशेद्बहुकृत्वा सुदुष्करम् ।
उच्यमानो हि लोकेन बहुकृत्तदचिन्तयन् ॥ १५ ॥

प्रभुता प्रकाशित नहीं कर सकता। जैसे सुख भोगवानके वशमें रहता है, वैसे ही धर्म बलवानके अधिकारमें है। बलवानोंको कुछ भी असाध्य नहीं है, उनके सब कार्य ही पवित्र हैं। (५-८)

दुराचारी और बलहीन पुरुषके परित्राणका उपाय नहीं है, बल्कि सब लोगही भेडिये की तरह उससे व्याकुल हुआ करते हैं। ऐश्वर्यरहित अज्ञान पुरुष अत्यन्त दुःखसे जीवन बिताता है; घृणित जीवन और मरना दोनों-ही समान हैं। पुराने लोग कहते हैं, कि पाप चरित्रोंके कारण जो पुरुष बान्धवोंसे परित्यक्त हुआ है, वह दूसरेके वचन रूपी शलाकासे घायल होके अत्यन्त ही दुःखित होता है। अधर्मसे धनको प्राप्त करनेमें जो पाप होता है, उसके छुडानेके विषयमें पहिलेके आचार्योंने ऐसा कहा है, कि पापी पुरुष वेद विद्याकी आलोचना, ब्राह्मणोंकी उपासना तथा मधुर वचन और कार्योंसे उन्हें प्रसन्न करे, उदार चित्तवाला होवे, महत् वंशमें विवाह करे, अपनी नम्रता प्रकाशित करके दूसरेका गुण कहे, स्नानशील होके जप करे, कोमल स्वभाव धारण करे, बहुत न बोले। (८-१४)

बहुतेरे दुष्कर कार्योंको करके ब्राह्मण

अपापो ह्येवमाचारः क्षिप्रं बहुमतो भवेत्।
सुखं च चित्रं भुञ्जीत कृतेनैकेन गोपयेत् ॥ १६ ॥
लोके च लभते पूजां परत्रेह महत्फलम् ॥ १७ ॥ [४८०८]

इति श्रीमहा०शान्ति०आपद्धर्मपर्वणि चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१३४॥

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यथा दस्युः समर्यादः प्रेत्यभावेन नश्यति ॥ १ ॥
प्रहर्ता मतिमान् शूरः श्रुतवान् सुनृशंसवान्।
रक्षन्नाश्रमिणां धर्मं ब्रह्मण्यो गुरुपूजकः ॥ २ ॥
निषाद्यां क्षत्रियाज्जातः क्षत्रधर्मानुपालकः।
कायव्यो नाम नैषादिर्दस्युत्वात्सिद्धिमाप्तवान् ॥ ३ ॥
अरण्ये सायं पूर्वाह्णे मृगयूथप्रकोपिता।
विधिज्ञो मृगजातीनां नैषादानां च कोविदः ॥ ४ ॥
सर्वकालप्रदेशज्ञः पारियात्रचरः सदा।

और क्षत्रियोंके समीप आश्रय ग्रहण करे; लोग यदि उसकी निन्दा करें, तो बहुतसे पापोंको करनेवाला पुरुष उसकी चिन्ता न करे। पाप करनेवाला पुरुष ऐसा आचार कर सके तो शीघ्र ही पापसे रहित और सबमें आदर युक्त होता है, इस लोक और परलोकमें महत् सम्मान लाभ करता है, और एकमात्र सुकृतसे सब पापोंको धोकर विचित्र महा सुख भोग करनेमें समर्थ होता है। (१५–१७) [४८०८]

शान्तिपर्वमें १३४ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १३५ अध्याय।

भीष्म बोले, इस स्थलमें पुराने लोग एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं, कि डाकू होके भी मर्यादा युक्त होने पर मरनेके अनन्तर वह नरकगामी नहीं होता। एक निषाद-स्त्रीके गर्भमें क्षत्रियके वीर्यसे कायव्य नाम क्षत्रिय धर्म पालक एक निषाद उत्पन्न हुआ था। वह दस्यु होने पर भी बुद्धिमान्, शूर, शास्त्रज्ञ और अनृशंस होनेसे आश्रमवासी ऋषियोंके धर्मकी रक्षा, ब्राह्मणोंका हित साधन और गुरुजनोंका सम्मान करता था; इन्हीं सब कारणोंसे उसने सिद्धि लाभ की थी। (१–३)

वह प्रतिदिन सवेरे और सामके समय मृगोंको उत्तेजित करता था, निषादोंके बीच वह मृग-विज्ञान विषयमें अत्यन्त पण्डित था; देश कालके विचारका विषय भी उससे छिपा नहीं था। वह सदा पारिपात्र पर्वत पर

धर्मज्ञः सर्वभूतानाममोघेषुर्दृढायुधः ॥ ५ ॥
अप्यनेकशतां सेनामेक एव जिगाय सः।
स वृद्धावन्धबधिरौ महारण्येऽभ्यपूजयत् ॥ ६ ॥
मधुमांसैर्मूलफलैरन्नैरुच्चावचैरपि।
सत्कृत्य भोजयामास मान्यान्परिचचार च ॥ ७ ॥
आरण्यकान् प्रव्रजितान् ब्राह्मणान्परिपूजयन्।
अपि तेभ्यो मृगान् हत्वा निनाय सततं वने ॥ ८ ॥
येऽस्मान्न प्रतिगृह्णन्ति दस्युभोजनशङ्कया।
तेषामासज्ज्य गेहेषु कल्य एव स गच्छति ॥ ९ ॥
बहूनि च सहस्राणि ग्रामणित्वेऽभिवव्रिरे।
निर्मर्यादानि दस्यूनां निरनुक्रोशवर्तिनाम् ॥ १० ॥
दस्यव ऊचुः- मुहूर्तदेशकालज्ञः प्राज्ञः शूरो दृढव्रतः।
ग्रामणीर्भव नो मुख्यः सर्वेषामेव संगतः ॥ ११ ॥
यथायथा वक्ष्यसि नः करिष्यामस्तथातथा।
पालयास्मान्यथान्यायं यथा माता यथा पिता ॥ १२ ॥
कायव्य उवाच- मावधीस्त्वं स्त्रियं भिरुं मा शिशुं मा तपस्विनम्।

घूमते हुए सब जीवोंके धर्मको जानता था, उसके सब बाण अमोघ और अस्त्र दृढ थे। वह अकेले ही कई सौ सेना जय करता था, महा वनके बीच बूढे, अन्धे और बहिरोंका सम्मान करता, सत्कार करके उन्हें मधु मांस फल तथा मूल भोजन कराता और माननीय लोगोंकी सेवा करता था, वनवासी सन्यासी ब्राह्मणोंकी पूजा करता, सदा मृगोंको मारके उन लोगोंको दान करता था। जो लोग लोक-भयसे उस दस्युसे मांस दान नहीं लेते थे, वह बडे सवेरे उठके उनके घरमें मांस आदि रख जाता था। (४—९)

एक समय दयारहित और मर्यादा हीन कई हजार डाकुओंने उसके निकट आके उसे अपना अधिपति करनेकी प्रार्थना की। डाकू लोग बोले, आप देश, काल और मूहूर्तको विशेष रूपसे जानते हैं; आप बुद्धिमान, महाबलवान और दृढव्रती हैं, इससे हम सब लोगोंका यह अभिप्राय है, कि आप हमारे मुख्य ग्रामाध्यक्ष होवें। आप हमको जो आज्ञा देंगे, हम लोग वही करेंगे, इससे माता पिताकी तरह हम लोगोंको न्यायके अनुसार प्रतिपालन करिये। (१०—१२)

नायुध्यमानो हन्तव्यो न च ग्राह्या बलात्स्त्रियः॥१३॥
सर्वथा स्त्री न हन्तव्या सर्वसत्त्वेषु केनचित्।
नित्यं तु ब्राह्मणे स्वस्ति योद्धव्यं च तदर्थतः ॥ १४ ॥
सस्यं च नापि हर्तव्यं सारविघ्नं च मा कृथाः।
पूज्यन्ते यत्र देवाश्च पितरोऽतिथयस्तथा ॥ १५ ॥
सर्वभूतेष्वपि च वै ब्राह्मणो मोक्षमर्हति।
कार्या चोपचितिस्तेषां सर्वस्वेनापि या भवेत् ॥ १६ ॥
यस्य ह्येते संप्ररुष्टा मन्त्रयन्ति पराभवम्।
न तस्य त्रिषु लोकेषु त्राता भवति कश्चन ॥ १७ ॥
यो ब्राह्मणान्परिवदेद्विनाशं चापि रोचयेत्।
सूर्योदय इव ध्वान्ते ध्रुवं तस्य पराभवः ॥ १८ ॥
इहैव फलमासीनः प्रत्याकांक्षत सर्वशः।
ये ये नो न प्रदास्यन्ति तांस्तांस्तेनाभियास्यसि॥१९॥
शिष्ट्यर्थं विहितो दण्डो न वृद्ध्यर्थं विनिश्चयः।

कायव्य बोला, हे डाकूवृन्द! तुम लोग स्त्री, तपस्वी, डराहुक और बालकोंका बध न करना, जो पुरुष युद्ध करनेसे विरत हुआ है, उसका बध करना उचित नहीं है; बलपूर्वक स्त्रियोंको ग्रहण करना योग्य नहीं है; सब जीवोंके बीच कोई पुरुष ही स्त्री बधकी विधि नहीं कहते। सदा ब्राह्मणोंका मङ्गल साधन और उन लोगोंको धन दान करनेके निमित्त दूसरोंसे युद्ध करना। योग्य है, शस्य हरण करना उचित नहीं; विवाह आदि कार्योंमें विघ्न न करना। सब जीवोंके बीच जिसके निकट देवता, पितर और अतिथि पूजित होते हैं, वेही ब्राह्मण वा मोक्षमार्गके अधिकारी हैं, सब वस्तुओंके दानसे जिस प्रकार उसकी उन्नति होवे, सब तरहसे वही करना योग्य है; ब्राह्मण लोग क्रुद्ध होके जिसके पराभव विषयकी मन्त्रणा करते हैं, तीनों लोकके बीच कोई भी उसका त्राता नहीं होता। (१३-१७)

जो पुरुष ब्राह्मणोंकी निन्दा करे, अथवा उनके नाशकी इच्छा करे; अन्धकारमें सूर्य उदय होनेकी तरह निश्चय ही उसकी पराजय होती है। तुम लोग इस ही स्थानमें वास करते हुए सब फल प्राप्तिकी अभिलाषा करना, जो बनिये हम लोगोंका दान न करेंगे उनकी ओर सेना भेजी जावेगी। जो लोग शिष्टोंको शासन करते हैं,

ये च शिष्टान्प्रबाधन्ते दण्डस्तेषां वधः स्मृतः ॥ २० ॥
ये च राष्ट्रोपरोधेन वृद्धिं कुर्वन्ति केचन ।
तदैव तेऽनुमार्यन्ते कुणपे कृमयो यथा ॥ २१ ॥
ये पुनर्धर्मशास्त्रेण वर्तेरन्निह दस्यवः ।
अपि ते दस्यवो भूत्वा क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः ॥ २२ ॥

भीष्म उवाच— ते सर्वमेवानुचक्रुः कायव्यस्यानुशासनम् ।
वृद्धिं च लेभिरे सर्वे पापेभ्यश्चाप्युपारमन् ॥ २३ ॥
कायव्यः कर्मणा तेन महतीं सिद्धिमाप्तवान् ।
साधूनामाचरन् क्षेमं दस्यून्पापान्निवर्तयन् ॥ २४ ॥
इदं कायव्यचरितं यो नित्यमनुचिन्तयेत् ।
नारण्येभ्यो हि भूतेभ्यो भयं प्राप्नोति किञ्चन ॥ २५ ॥
न भयं तस्य भूतेभ्यः सर्वेभ्यश्चैव भारत ।
नासतो विद्यते राजन् स ह्यरण्येषु गोपतिः ॥ २६॥ [४८२५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कायव्यचरिते पंचत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥

भीष्म उवाच— अत्र गाथा ब्रह्मगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।

और उन लोगोंको वधरूपी दण्ड विहित है। जो लोग राजाके विषयमें उपद्रव करके जिस किसी उपायसे होवे, धनकी वृद्धि करते हैं, वे लोग दुःखप्रद कृमि समूहकी तरह थोडे ही समयमें वध्य रूपसे गिने जाते हैं। जो सब डाकू लोग इस वनमें धर्मशास्त्रके अनुसार जीवन बिताते हैं, वे डाकू होनेपर भी शीघ्र ही सिद्धि लाभ करनेमें समर्थ होंगे। (१८–२०)

भीष्म बोले, उन सब डाकुओंने, कायव्यके शासनको प्रतिपालन किया था, उससे सब ही उन्नति लाभ करके पापकर्मोंसे विरत हुए थे, कायव्यने साधुओंके विषयमें मङ्गल आचरण और डाकुओंको पापसे निवर्तन किया था, इससे उसने महती सिद्धि प्राप्त की थी। (२३--२४)

हे राजन् ! जो लोग इस कायव्यके चरित्र विषयको सदा विचारते हैं, उन्हें वनवासी प्राणियोंसे कुछ भी भय नहीं होता। अधिक क्या कहें, सब दुष्ट प्राणियोंसे ही कुछ भय नहीं होता; वे वनके बीच राजा होकर निश्चित रूपसे निवास कर सकते हैं। (२३–२६)

शान्तिपर्वमें १३५ अध्याय समाप्त।

येन मार्गेण राजा वै कोशं संजनयत्युत ॥ १ ॥
न धनं यज्ञशीलानां हार्यं देव स्वमेव च।
दस्यूनां निष्क्रियाणां च क्षत्रियो हर्तुमर्हति ॥ २ ॥
इमाः प्रजाः क्षत्रियाणां राज्यभोगाश्च भारत।
धनं हि क्षत्रियस्यैव द्वितीयस्य न विद्यते ॥ ३ ॥
तदस्य स्याद्बलार्थं वा धनं यज्ञार्थमेव च।
अभोग्यश्चौषधीश्छित्वा भोग्या एव पचन्त्युत ॥ ४ ॥
यो वै न देवान्न पितॄन्न मर्त्यान्हविषाऽर्चति।
अनर्थकं धनं तत्र प्राहुर्धर्मविदो जनाः ॥ ५ ॥
हरेत द्रविणं राजन् धार्मिकः पृथिवीपतिः।
ततः प्रीणयते लोकं न कोशं तद्विधं नृपः ॥ ६ ॥
असाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यो यः प्रयच्छति।
आत्मानं संक्रमं कृत्वा कृत्स्नधर्मविदेव सः ॥ ७ ॥
तथातथा जयेल्लोकान् शक्त्या चैव यथायथा।

शान्तिपर्वमें १३६ अध्याय।

भीष्म बोले, राजा लोग जिस उपायके जरिये कोष सञ्चय किया करते हैं, उस विषयमें प्राचीन वृत्तान्तोंके जाननेवाले पण्डित लोग ब्रह्माकी कही हुई यह गाथा कहा करते हैं। कि यज्ञ करनेवाले ऋषियोंका धन और देवस्व हरण करना उचित नहीं है; क्षत्रिय राजा डाकू और क्रियाहीन लोगोंके धनको हरण कर सकते हैं। हे भारत! क्षत्रियोंको ही इन सब प्रजाओंको पालन करने और राज्य भोगनेका अधिकार है, इससे सब धन ही क्षत्रियोंके अधिकृत हैं दूसरेके नहीं। वह धन राजाके बल अथवा यज्ञका कारण हुआ करता है। जैसे लोग अभोग औषधियोंको काटके उससे भोगार्थ वस्तुओंको पाक किया करते हैं, वैसे ही दुष्टोंकी हिंसा करके साधुओंको प्रतिपालन करे। (१-४)

जो पुरुष देवता, पितर और मनुष्योंकी हविके जरिये अर्चना नहीं करता, धर्म जाननेवाले पुरुष उसके अर्थको अनर्थक कहा करते हैं। हे राजन्! धार्मिक राजा वह धन हरण करे और उससे सब लोगोंको प्रसन्न करे; वैसे धनसे कोष सञ्चय न करे। जो अपनेको अर्थागमका उपाय करके दुष्टोंसे धन लेके साधुओंको दान करते हैं, वेही सब धर्मोंके जाननेवाले हैं। (५-७)

उद्भिज्जा जन्तवो यद्वच्छुक्रजीवा यथा यथा ॥ ८ ॥
अनिमित्तात्संभवन्ति तथा यज्ञः प्रजायते ॥ ९ ॥
यथैव दंशमशकं यथा चाण्डपिपीलिकम्।
सैव वृत्तिरयज्ञेषु यथा धर्मो विधीयते ॥ १० ॥
यथा स्वकस्माद्भवति भूमौ पांसुर्विलोलितः।
तथैवेह भवेद्धर्मः सूक्ष्मः सूक्ष्मतरस्तथा ॥ ११ ॥ [४८३६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३६ ॥

भीष्म उवाच— अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च यः।
द्वावेव सुखमेधेते दीर्घसूत्री विनश्यति ॥ १ ॥
अत्रैव चेदमव्यग्रं शृणुष्वाख्यानमुत्तमम्।
दीर्घसूत्रमुपाश्रित्य कार्याकार्यविनिश्चये ॥ २ ॥
नातिगाधे जलाधारे सुहृदः कुशलास्त्रयः।

जिसकी जैसी शक्ति है, वे उसहीके अनुसार परलोक जय करें। उद्भिज और वज्रकीट आदि जीव जैसे विना-कारणके ही उत्पन्न होके विस्तृत होते हैं; यज्ञ भी वैसे ही उत्पन्न होके क्रमसे प्रसारित हुआ करता है। जैसे गऊ आदिके शरीरसे दंश, मशक और चीटी आदिको पृथक् किया जाता है, अया-ज्ञिक पुरुषके विषयमें वैसा ही व्यवहार करना उचित है; यह धर्मानुसार विहित होता है। जैसे भूमिपर पडा हुआ पांशु पत्थर आदिसे पिसकर अत्यन्त सूक्ष्म होजाता है; इस लोकमें धर्म भी उसी प्रकार सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है। (७-११)

शान्तिपर्वमें १३६ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १३७ अध्याय।

भीष्म बोले, हे राजन्! कार्य उप-स्थित होनेके पहिले जो लोग उसके भावी फलको विचारते हैं, उनका नाम अनागत-विधाता है; कार्य उपस्थित होनेपर जो लोग बुद्धि-बलसे उसे सिद्ध करते हैं; उनका नाम प्रत्युत्पन्नमति है और उपस्थित कार्यमें आलसके वशमें होके जो लोग समय बिताकर विडम्बित होते हैं, उनका नाम दीर्घसूत्र है। इस भूमण्डलपर ऊपर कहे हुए तीन प्रकारके लोगोंके बीच अनागत-विधाता और प्रत्युत्पन्नमति, ये दोनों पुरुष ही सुख-लाभ किया करते हैं और दीर्घसूत्र पुरुष शीघ्रही नष्ट होता है। इस समय दीर्घ-सूत्रको अवलम्बन करके कार्याकार्य-नि-श्चय विषयमें एक उत्तम उपाख्यान

प्रभूतमत्स्ये कौन्तेय बभुवुः सहचारिणः ॥ ३ ॥
तत्रैको दीर्घकालज्ञ उत्पन्नप्रतिभोऽपरः।
दीर्घसूत्रश्च तत्रैकस्त्रयाणां सहचारिणाम् ॥ ४ ॥
कदाचित्तं जलस्थायं मत्स्यबन्धाः समन्ततः।
निस्रावयामासुरथो निम्नेषु विविधैर्मुखैः ॥ ५ ॥
प्रक्षीयमाणं तं दृष्ट्वा जलस्थायं भयागमे।
अब्रवीद्दीर्घदर्शी तु तावुभौ सुहृदौ तदा ॥ ६ ॥
इयमापत्समुत्पन्ना सर्वेषां सलिलौकसाम्।
शीघ्रमन्यत्र गच्छामः पन्था यावन्न दुष्यति ॥ ७ ॥
अनागतमनर्थं हि सुनयैर्यः प्रबाधयेत्।
स न संशयमाप्नोति रोचतां भो व्रजामहे ॥ ८ ॥
दीर्घसूत्रस्तु यस्तत्र सोऽब्रवीत्सम्यगुच्यते।
न तु कार्या त्वरा तावदिति मे निश्चिता मतिः॥ ९ ॥
अथ संप्रतिपत्तिज्ञः प्राब्रवीद्दीर्घदर्शिनम्।

कहता हूं, एकाग्रचित्त होकर सुनो। १–२

हे कुन्तीनन्दन ! बहुत सी मछलियोंसे परिपूरित स्वल्प जलसे युक्त किसी एक तालावमें कुशल तीन मछली सुहृदताके सहित आपसमें प्रेमी होकर वास करती थीं। उन तीनों सङ्गियोंके बीच पहिली अनागत-विधाता दूसरी प्रत्युत्पन्नमति और तीसरी दीर्घसूत्र थी। किसी समय मत्स्यजीवी मछवाहोंने अनेक तरहसे जल निकलनेके मार्गके जरिये उस तालावके जलको निम्न प्रदेशसे निकालनेका यत्न किया था। कार्य उपस्थित होनेपर क्रमसे उस तालावका जल थोडा होने लगा। उसे देखकर दीर्घदर्शी अनागत विधाता भयके कारण दूसरे दोनों मित्रोंसे बोली कि "सब जलचरोंकी यह आपद उपस्थित हुई है। इससे जबतक जल निकलनेका मार्ग दूषित नहीं होता है, उतने ही समयमें जितनी जलदी होसके, हम लोग दूसरी जगह गमन करें। जो अनागत अनर्थको उत्तम नीतिसे निवारण करते हैं, वे कभी संशययुक्त नहीं होते; इससे तुम लोगोंकी इस विषयमें अभिरुचि होवे, मैं जाती हूं।" (३—८)

ऐसा वचन सुनके दीर्घसूत्र बोली। हे भाई ! तुम उत्तम कहती हो, परन्तु मेरा निश्चित विचार यह है, कि किसी विषयमें शीघ्रता करनी उचित नहीं है।

प्राप्ते काले न मे किञ्चिन्न्यायतः परिहास्यते ॥ १० ॥
एवं श्रुत्वा निराक्रम्य दीर्घदर्शी महामतिः ।
जगाम स्रोतसा तेन गम्भीरं सलिलाशयम् ॥ ११ ॥
ततः प्रस्रुततोयं तं प्रसमीक्ष्य जलाशयम् ।
बबन्धुर्विविधैर्योगैर्मत्स्यान्मत्स्योपजीविनः ॥ १२ ॥
विलोड्यमाने तस्मिंस्तु स्रुततोये जलाशये ।
अगच्छद्बन्धनं तत्र दीर्घसूत्रः सहापरैः ॥ १३ ॥
उद्दाने क्रियमाणे तु मत्स्यानां तत्र रज्जुभिः ।
प्रविश्यान्तरमेतेषां स्थितः संप्रतिपत्तिमान् ॥ १४ ॥
गृह्यमेव तदुद्दानं गृहीत्वा तं तथैव सः ।
सर्वानेव च तांस्तत्र ते विदुर्ग्रथितानिति ॥ १५ ॥
ततः प्रक्षाल्यमानेषु मत्स्येषु विपुले जले ।
मुक्त्वा रज्जुं प्रमुक्तोऽसौ शीघ्रं संप्रतिपत्तिमान् ॥१६॥
दीर्घसूत्रस्तु मन्दात्मा हीनबुद्धिरचेतनः ।
मरणं प्राप्तवान् मूढो यथैवोपहतेन्द्रियः ॥ १७ ॥
एवं प्राप्ततमं कालं यो मोहान्नावबुध्यते ।

अनन्तर प्रत्युत्पन्नमति दीर्घ-दर्शीसे बोला, समय उपस्थित होनेपर मैं न्यायके अनुसार किसी कर्त्तव्य विषयको परित्याग नहीं करती । महा बुद्धिमान दीर्घदर्शी ऐसा वचन सुनकर उस ही स्रोतके जलसे निकलकर किसी गहरे तालावमें चली गई । अनन्तर मछुवाहोंने जब देखा, कि इस तालावका सब जल निकल गया, तब अनेक उपायके जरिये सब मछलियोंको बांध लिया । उस जलाशयके जल निकलने तथा विलोडित होनेके समय दीर्घसूत्र अन्य-जलचरोंके सहित जालमें बंधा । ९-१३

मछुवाहोंने उस समय सनकी डोरीसे सब मछलियोंको गूंथना आरम्भ किया, प्रत्युत्पन्नमतिने उनके बीच प्रवेश करके मुखसे पहिले डोरी पकडके स्थित हुआ । जालजीवियोंने सब मछलियोंको गुंथी हुई समझा । अनन्तर जब बडे तालावमें सब मछलियें धोई जाने लगी· तब पूर्वोक्त प्रत्युत्पन्नमति रस्सी छोडके शीघ्र भाग गई और बुद्धिहीन ज्ञान-रहित मन्दात्मा मूढ दीर्घसूत्र नष्टेन्द्रिय लोगोंकी तरह नष्ट हुई । इसी प्रकार जो पुरुष मृत्युकाल उपस्थित होनेपर उसे मोहके वशमें होकर नहीं जान

स विनश्यति वै क्षिप्रं दीर्घसूत्रो यथा झषः ॥ १८ ॥
आदौ न कुरुते श्रेयः कुशलोऽस्मीति यः पुमान्।
स संशयमवाप्नोति यथा संप्रतिपत्तिमान् ॥ १९ ॥
अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च यः।
द्वावेव सुखमेधेते दीर्घसूत्रो विनश्यति ॥ २० ॥
काष्ठा कला मुहूर्ताश्च दिवा रात्रिस्तथा लवाः।
मासाः पक्षाः षड् ऋतवः कल्पः संवत्सरास्तथा ॥२१॥
पृथिवी देश इत्युक्तः कालः स च न दृश्यते।
अभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थं ध्यायते यच्च तत्तथा ॥ २२ ॥
एतौ धर्मार्थशास्त्रेषु मोक्षशास्त्रेषु चर्षिभिः।
प्रधानाविति निर्दिष्टौ कामे चाभिमतौ नृणाम्॥ २३ ॥
परीक्ष्यकारी युक्तश्च स सम्यगुपपादयेत्।
देशकालावभिप्रेतौ ताभ्यां फलमवाप्नुयात् ॥ २४॥ [४८६०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि शाकुलोपाख्याने सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

सकते, वे दीर्घसूत्र मछलीकी तरह शीघ्र ही नष्ट होते हैं। "मैं अत्यन्त बुद्धिमान हूं,"—ऐसा समझके जो पुरुष पहिलेसे अपने कल्याणका मार्ग ठीक नहीं करता वह प्रत्युत्पन्नमतिकी तरह संशयसे युक्त हुआ करता है। १४-१९

अनागत विधाता और प्रत्युत्पन्न ये दोनों ही सुखलाभ करते हैं, और दीर्घ, सूत्र पुरुष नष्ट होता है। काष्ठा, कला, मुहूर्त दिन, रात्रि, लव, महीना, पक्ष, ऋतु कल्प, सम्वत्सर, पृथिवी और देश आदि काल नामसे वर्णित हुआ करते हैं; परन्तु वह दीख नहीं पडते। अभिलषित विषयको सिद्धिके निमित्त जिसकी जैसी चिन्ता की जाती है; वह उस ही रीतिसे सिद्ध हुआ करता है। धर्म अर्थ और मोक्ष विषयक सब शास्त्रोंमें महर्षियोंके जरिये दीर्घदर्शी और प्रत्युत्पन्नमति प्रधान रूपसे वर्णित हुए और वे समय पर सब पुरुषोंके ही अभिमत हुआ करते हैं, जो परीक्षा पूर्वक कार्य सिद्ध करते हैं और जो लोग युक्तिके अनुसार सब कार्योंको पूरा करते हैं, वे देशकालके अनुसार सब लोगोंसे सम्मत होके दीर्घदर्शी और प्रत्युत्पन्नमतिसे भी अधिक फल पाते हैं। (२०-२४) [४८६०]

शान्तिपर्वमें १३७ अध्याय समाप्त।

युधिष्ठिर उवाच—सर्वत्र बुद्धिः कथिता श्रेष्ठा ते भरतर्षभ ।
अनागता तथोत्पन्ना दीर्घसूत्रा विनाशिनी ॥ १ ॥
तदिच्छामि तदा श्रोतुं बुद्धिं ते भरतर्षभ ।
यथा राजा न मुह्येत शत्रुभिः परिवारितः ॥ २ ॥
धर्मार्थकुशलो राजा धर्मशास्त्रविशारदः ।
पृच्छामि त्वां कुरुश्रेष्ठ तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३ ॥
शत्रुभिर्बहुभिर्ग्रस्तो यथा वर्तेत पार्थिवः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं सर्वमेव यथाविधि ॥ ४ ॥
विषमस्थं हि राजानं शत्रवः परिपन्थिनः ।
बहवोऽप्येकमुद्धर्तुं यतन्ते पूर्वतापिताः ॥ ५ ॥
सर्वत्र प्रार्थ्यमानेन दुर्बलेन महाबलैः ।
एकेनैवासहायेन शक्यं स्थातुं भवेत्कथम् ॥ ६ ॥
कथं मित्रमरिश्चापि विन्दते भरतर्षभ ।
चेष्टितव्यं कथं चात्र शत्रोर्मित्रस्य चान्तरे ॥ ७ ॥
प्रज्ञातलक्षणे मित्रे तथैवामित्रतां गते ।

शान्तिपर्वमें १३८ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे भरत-श्रेष्ठ ! सब विषयोंमें ही अपनी बुद्धि श्रेष्ठ है, यह वर्णित हुई है; अनागत और उत्पन्ना बुद्धि ही उत्तम है और दीर्घसूत्री बुद्धि नाश करने वाली है। हे भरतकुलधुरन्धर! इससे इस समय आपकी परमबुद्धिके विषयको सुननेकी इच्छा करता हूं, जिसे अवलम्बन करनेसे राजा शत्रुओंमें घिरके भी मोहको नहीं प्राप्त होते। हे कुरुश्रेष्ठ! आप धर्मार्थ विषयकी व्याख्या करनेमें निपुण, धर्म शास्त्रके जाननेवाले और बुद्धिमान हैं, इससे मैं जो कुछ पूछता हूं, उसे मेरे समीप वर्णन करना आपको उचित है। राजा अनेक शत्रुओंसे घिर कर जिस प्रकार निवास करे, वह सब विधिपूर्वक सुननेकी इच्छा करता हूं। राजाके अत्यन्त विपद युक्त होने पर पहिले दुःखित हुए शत्रु लोग इकट्ठे होके उसकी पराजयके लिये यत्नवान होते हैं। (१—५)

महाबलसे युक्त राजा लोग जब सहाय रहित, अकेले निर्बल राजाको आक्रमण करनेका यत्न करें, तो वह किस प्रकार स्थिति करनेमें समर्थ होगा। हे भरतश्रेष्ठ! किस तरह वह शत्रु और मित्र लाभ करते और शत्रु तथा मित्रोंके बीच उन्हें कैसी चेष्टा करनी उ-

कथं तु पुरुषः कुर्यात्कृत्वा किं वा सुखी भवेत् ॥ ८ ॥
विग्रहं केन वा कुर्यात्सन्धिं वा केन योजयेत् ।
कथं वा शत्रुमध्यस्थो वर्तेत बलवानपि ॥ ९ ॥
एतद्धि सर्वकृत्यानां परं कृत्यं परन्तप ।
नैतस्य कश्चिद्वक्तास्ति श्रोता वाऽपि सुदुर्लभः ॥ १० ॥
ऋते शान्तनवाद्भीष्मात्सत्यसन्धाज्जितेन्द्रियात् ।
तदन्विष्य महाभाग सर्वमेतद्ब्रवीहि मे ॥ ११ ॥

भीष्म उवाच— त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो युधिष्ठिर सुखोदयः ।
शृणु मे पुत्र कार्त्स्न्येन गुह्यमापत्सु भारत ॥ १२ ॥
अमित्रो मित्रतां याति मित्रं चापि प्रदुष्यति ।
सामर्थ्ययोगात्कार्याणामनित्या वै सदा गतिः ॥१३॥
तस्माद्विश्वसितव्यं च विग्रहं च समाचरेत् ।
देशं कालं च विज्ञाय कार्याकार्यविनिश्चये ॥ १४ ॥
संधातव्यं बुधैर्नित्यं व्यवस्य च हितार्थिभिः ।
अमित्रैरपि संधेयं प्राणा रक्ष्या हि भारत ॥ १५ ॥

चित है? मित्र लक्षण युक्त सुहृद यदि शत्रु बन जावे, तो उसके विषयमें कैसा व्यवहार करे और कैसा आचरण करके सुखी होते हैं? राजा किसके साथ विग्रह करे, और किसके सङ्ग सन्धि बन्धन करे तथा बलवान होने पर भी शत्रुओंके बीच किस प्रकार निवास करे। हे महाभाग शत्रुतापन! सब कर्त्तव्य विषयोंमें इसेही आप कर्त्तव्य समझके मुझसे कहिये; सत्यसन्धि शान्तनुनन्दन भीष्मके अतिरिक्त इस विषयका वक्ता दूसरा कोई भी नहीं है, और इसका श्रोता भी अत्यन्त दुर्लभ है। (६—११)

भीष्म बोले, हे भरतकुल तिलक तात युधिष्ठिर! तुमने जो प्रश्न किया वह युक्तियुक्त और उसके सुननेसे सुख उत्पन्न होता है; इससे आपत्कालमें जैसा कार्य्य करना चाहिये, वह सब गुप्त विषय कहता हूं, सुनो। कार्योंके सामर्थ निबन्धनसे शत्रु भी मित्र बन जाता है, मित्र भी शत्रु भावसे दूषित होता है; इससे कार्यकी गति सदा ही अनित्य है; तब कर्त्तव्याकर्त्तव्य विषयको विशेषरूपसे निश्चय करना हो, तो देशकालका विचार करके किसीके विषयमें विश्वास करना और किसीके साथ विग्रह करना उचित है। हे भारत! हितैषी पण्डितोंके साथको शिक्षा करके भी सन्धि करनी उचित है

यो ह्यमित्रैर्नरो नित्यं न संदध्यादपण्डितः।
न सोऽर्थं प्राप्नुयात्किञ्चित्फलान्यपि च भारत ॥१६॥
यस्त्वमित्रेण संदध्यान्मित्रेण च विरुद्धयते।
अर्थयुक्तिं समालोक्य सुमहद्विन्दते फलम् ॥ १७ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मार्जारस्य च संवादं न्यग्रोधे मूषिकस्य च ॥ १८ ॥
वने महति कस्मिंश्चिन्न्यग्रोधः सुमहानभूत्।
लताजालपरिच्छन्नो नानाद्विज गणान्वितः ॥ १९ ॥
स्कन्धवान्मेघसंकाशः शीतच्छायो मनोरमः।
अरण्यमभितो जातः स तु व्यालमृगाकुलः ॥ २० ॥
तस्य मूलं समाश्रित्य कृत्वा शतमुखं बिलम्।
वसति स्म महाप्राज्ञः पलितो नाम मूषिकः ॥ २१ ॥
शाखां तस्य समाश्रित्य वसति स्म सुखं पुरा।
लोमशो नाम मार्जारः पक्षिसंघातखादकः ॥ २२ ॥
तत्र चागत्य चाण्डालो ह्यरण्ये कृतकेतनः।
प्रयोजयति चोन्माथं नित्यमस्तङ्गते रवौ ॥ २३ ॥

और प्राणरक्षाके वास्ते शत्रुके साथ भी सन्धि करनी योग्य है। जो मूर्ख पुरुष शत्रुओंके साथ सन्धि स्थापित नहीं करते, वे कोई अर्थ वा फल लाभ नहीं कर सकते। (११—१६)

और जो पुरुष अर्थ युक्ति अवलम्बन करके समयके अनुसार शत्रुओंके साथ सन्धि और मित्रोंके सङ्ग विरोध करते हैं, महत् फल लाभ करते हैं। प्राचीन विषयोंके जाननेवाले पण्डित लोग इस विषयमें किसी वटवृक्षके निकटमें स्थित बिडाल और मूषिकके सम्वाद युक्त प्राचीन इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं।

किसी महावनके बीच अनेक तरहके पक्षियोंसे युक्त, लतासमूहसे घिरा हुआ, बहुत बडे शाखा और बादलकी तरह शीतल छायासे युक्त, सब वनमें व्याप्त व्याल और मृगसमूहसे परिपूरित बहुत बडा मनोहर वटका वृक्ष था। पलित नाम एक महाबुद्धिमान मूषिक उसके मूलस्थलके अवलम्बसे सौ दरवाजेकी बिल बनाकर उसमें वास करता था। और पक्षियोंको भक्षण करनेवाला लोमश नाम बिडाल पहिलेसे ही उस वृक्षकी शाखाका सहारा करके परम सुखसे निवास करता था। (१७-२२)

तत्र स्नायुमयान् पाशान् यथावत्संविधाय सः ।
गृहं गत्वा सुखं शेते प्रभातामेति शर्वरीम् ॥ २४ ॥
तत्र स्म नित्यं बध्यन्ते नक्तं बहुविधा मृगाः ।
कदाचिदत्र मार्जारस्त्वप्रमत्तो व्यबध्यत ॥ २५ ॥
तस्मिन् बद्धे महाप्राणे शत्रौ नित्याततायिनि ।
तं कालं पलितो ज्ञात्वा प्रचचार सुनिर्भयः ॥ २६ ॥
तेनानुचरता तस्मिन्वने विश्वस्तचारिणा ।
भक्ष्यं मृगयमाणेन चिराद् दृष्टं तदामिषम् ॥ २७ ॥
स तमुन्माथमारुह्य तदामिषमभक्षयत् ॥ २८ ॥
तस्योपरि सपत्नस्य बद्धस्य मनसा हसन् ।
आमिषे तु प्रसक्तः स कदाचिदवलोकयन् ॥ २९ ॥
अपश्यदपरं घोरमात्मनः शत्रुमागतम् ।
शरप्रसूनसंकाशं महीविवरशायिनम् ॥ ३० ॥
नकुलं हरिणं नाम चपलं ताम्रलोचनम् ।
तेन मूषिकगन्धेन त्वरमाणमुपागतम् ॥ ३१ ॥

वनवासी कोई चाण्डाल प्रतिदिन सूर्य अस्त होनेपर उस वट वृक्षके समीप आके पशुपक्षियोंके बन्धनके निमित्त कूटयन्त्र विस्तार किया करता था। वह वहांपर यथा रीतिसे तांतमय जालको बिछाके घरमें जाकर सुखसे सोता और रात बीतनेपर सबेरे वहां आके उपस्थित होता था, रातके समय अनेक तरहके मृग उस पाशजालमें बंध जाया करते थे। किसी दिन वह बिडाल प्रमाद रहित होके भी उस जालमें बंधा गया था। सदा आततायी शत्रु उस महाबुद्धिमान बिडालके बंधने पर पलित नाम चूहा अवसर पाके निर्भयताके सहित घूमने लगा। (२३—२६)

मूषिक विश्वस्तभावसे उस वनके बीच भक्ष्यवस्तुओंको खोजते हुए घूम रहा था, कुछ समयके अनन्तर उस जालमें बंधा हुआ मांस देखा, फिर उसने जालमें बंधे हुए शत्रुके विषयमें मनही मन उपहास करते हुए कूटयन्त्र-के ऊपर चढके मांस भक्षण करने लगा। उसने मांस भक्षणमें आसक्त होके एक महाघोर निज वैरीको समीप आते देखा। पृथ्वीपर बिलमें वास करने वाले उस जन्तुका शरीर शर-पुष्पके समान, उसके नेत्र लालवर्ण, वह अत्यन्त चञ्चल था और उसका नाम हरितनकुल था। वह

भक्ष्यार्थं संलिहानं तं भूमावूर्ध्वमुखं स्थितम् ।
शाखागतमरिं चान्यमपश्यत्कोटरालयम् ॥ ३२ ॥
उलूकं चन्द्रकं नाम तीक्ष्णतुण्डं क्षपाचरम् ।
गतस्य विषयं तत्र नकुलोलूकयोस्तथा ॥ ३३ ॥
अथास्यासीदियं चिन्ता तत्प्राप्य सुमहद्भयम् ।
आपद्यस्यां सुकष्टायां मरणे प्रत्युपस्थिते ॥ ३४ ॥
समन्ताद्भय उत्पन्ने कथं कार्यं हितैषिणा ।
स तथा सर्वतो रुद्धः सर्वत्र भयदर्शनः ॥ ३५ ॥
अभवद्भयसंतप्तश्चक्रे च परमां मतिम् ।
आपद्विनाशभूयिष्ठं गतैः कार्यं हि जीवितम् ॥ ३६ ॥
समन्तात्संशयात्सैषा तस्मादापदुपस्थिता ।
गतं मां सहसा भूमिं नकुलो भक्षयिष्यति ॥ ३७ ॥
उलूकश्चेह तिष्ठन्तं मार्जारः पाशसंक्षयात् ।
न त्वेवास्मद्विधः प्राज्ञः संमोहं गन्तुमर्हति ॥ ३८ ॥
करिष्ये जीविते यत्नं यावद्युक्त्या प्रतिग्रहात् ।

चूहेका गन्ध सूंघके शीघ्र उधर आने लगा और उसे भक्षणके वास्ते ऊर्द्धमुख होकर पृथ्वी पर स्थित रहा। २७-३२

इधर उस चूहेने उस वृक्षके कोटरमें रहनेवाले क्षपाचर तीक्ष्णतुण्ड चन्द्रक नाम एक दूसरे वैरी उलूकको वृक्षकी डालियोंपर भ्रमण करते देखा। चूहा, नेवला और उलूकके बीच स्थित होकर अत्यन्त भयके वशमें होकर इस प्रकार चिन्ता करने लगा, कि " यह अत्यन्त दुःख भय आपदके समय चारों ओरसे भय उत्पन्न और मरण सम्भव हुआ है। मरण उपस्थित होने पर हितैषी पुरुषको कैसा कार्य करना चाहिये । " चूहा इसी प्रकार चारों ओरसे घिरकर सब तरफ भयका कारण देखते हुए भयसे दुःखित होके सूक्ष्म बुद्धिसे विचार करने लगा; कि विपद नष्ट होनेके उपायके जरिये क्लेश निवारण करके जीवनके समयको प्रशस्त करना उचित है, परन्तु चारों ओरसे मेरे समीप यह संशय युक्त समस्त आपद उपस्थित हुई हैं। मैं यदि पृथ्वी पर गमन करूं तो सहसा नकुल आके मुझे भक्षण करेगा। (३२-३७)

यहां पर रहनेसे उल्लूके ग्रास में पतित होना पडेगा और बिडाल जालसे छूटने पर मुझे भक्षण करनेमें विलम्ब

न हि बुद्ध्यान्वितः प्राज्ञो नीतिशास्त्रविशारदः ॥३९॥
निमज्जत्यापदं प्राप्य महतीं दारुणामपि ॥ ४० ॥
न त्वन्यामिह मार्जाराद्वृत्तिं पश्यामि सांप्रतम्।
विषमस्थो ह्ययं शत्रुः कृत्यं चास्य महन्मया ॥ ४१ ॥
जीवितार्थी कथं त्वद्य शत्रुभिः प्रार्थितस्त्रिभिः।
तस्मादेनमहं शत्रुं मार्जारं संश्रयामि वै ॥ ४२ ॥
नीतिशास्त्रं समाश्रित्य हितमस्योपवर्णये।
येनेमं शत्रुसंघातं मतिपूर्वेण वञ्चये ॥ ४३ ॥
अयमत्यन्तशत्रुर्मे वैषम्यं परमं गतः।
मूढो ग्राहयितुं स्वार्थं संगत्या यदि शक्यते ॥ ४४ ॥
कदाचिद्व्यसनं प्राप्य सन्धिं कुर्यान्मया सह।
बलिना सन्निकृष्टस्य शत्रोरपि परिग्रहः ॥ ४५ ॥
कार्य इत्याहुराचार्या विषमे जीवितार्थिना।
श्रेष्ठो हि पण्डितः शत्रुर्न च मित्रमपण्डितः ॥ ४६ ॥

न करेगा, परन्तु मेरे समान बुद्धिमान पुरुष कभी मोहित होने योग्य नहीं है, इससे युक्ति और बुद्धिशक्तिके प्रभावसे जहांतक हो सकेगा, मैं अपने जीवन-रक्षाके वास्ते यत्न करूंगा। नीतिशास्त्रको जाननेवाले, बुद्धिमान ज्ञानी पुरुष कठिन विपदमें पडके उसमें नहीं फंसते। इस समय बिडालसे उपकारके अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं देखता हूं; परन्तु यह विषम शत्रु इस समय विपदग्रस्त हुआ है; इसका महत् उपकार करना मुझे उचित मालूम होता है। इस समय मैं तीन शत्रुओंके बीच घिरके किस प्रकार जीवन रक्षाकी आशा कर सकता हूं; इससे बिडाल मेरा सदाका शत्रु है, तौभी उसका आश्रय ग्रहण करना ही उचित मालूम होता है। मैं नीति शास्त्रको अवलम्बन करके इसे हितका उपदेश प्रदान करूं, इस ही के जरिये इन सब शत्रुओंको बुद्धि-पूर्वक वञ्चना कर सकूंगा॥ ३८-४३

यह मूढ बिडाल मेरा सदाका शत्रु है, इस समय अत्यन्त विपदग्रस्त हुआ है, इससे स्वार्थ-साधन करनेके लिये सङ्गतिके क्रमसे यदि इसे सम्मत कर सकूं, तभी जीवनकी रक्षा होगी। यह इस समय विपदग्रस्त हुआ है, इससे मेरे साथ सन्धि करनेसे कर भी सकता है। बलवान पुरुष विषम विपदमें पड-नेसे जीवनकी रक्षाके निमित्त सन्निकृष्ट

मम त्वमित्रे मार्जारे जीवितं सम्प्रतिष्ठितम् ।
हन्तास्मै संप्रवक्ष्यामि हेतुमात्माभिरक्षणे ॥ ४७ ॥
अपीदानीमयं शत्रुः संगत्या पण्डितो भवेत् ।
एवं विचिन्तयामास मूषिकः शत्रुचेष्टितम् ॥ ४८ ॥
ततोऽर्थगतितत्त्वज्ञः संधिविग्रहकालवित् ।
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यं मार्जारं मूषिकोऽब्रवीत्॥ ४९ ॥
सौहृदेनाभिभाषे त्वां कच्चिन्मार्जार जीवसि ।
जीवितं हि तवेच्छामि श्रेयः साधारणं हि नौ ॥५० ॥
न ते सौम्य भयं कार्यं जीविष्यसि यथासुखम् ।
अहं त्वामुद्धरिष्यामि यदि मां न जिघांससि ॥५१॥
अस्ति कश्चिदुपायोऽत्र दुष्करः प्रतिभाति मे ।
येन शक्यस्त्वया मोक्षः प्राप्तुं श्रेयस्तथा मया ॥५२ ॥
मयाप्युपायो दृष्टोऽयं विचार्य मतिमात्मनः ।
आत्मार्थं च त्वदर्थं च श्रेयः साधारणं हि नौ ॥५३ ॥

शत्रुके साथ सन्धि करें, ऐसा प्राचीन आर्य लोग कहा करते हैं, पण्डित शत्रु भी अच्छा है; मूर्ख मित्र कदापि उत्तम नहीं है। इस समय शत्रु बिडालके निकट मेरा जीवन प्रतिष्ठित है; जो हो, मैं इससे आत्म-मुक्तिका उपाय कहूंगा, यह शत्रु मूर्ख होने पर भी मेरे सहवासके कारण पण्डित हो सकेगा। चूहा शत्रुओंमें घिरकर इसी प्रकार चिन्ता करने लगा। (४४-४८)

अनन्तर सन्धि विग्रहके समय और प्रयोजन सिद्धिके उपायको जाननेवाला चूहा धीरज देके बिडालसे यह वचन बोला, हे बिडाल! मैं सुहृदभावसे तुमसे कहता हूं, कि तुम जीवित हो न? मैं तुम्हारे जीवनकी रक्षा हो, ऐसे ही इच्छा करता हूं, क्यों कि वह हम दोनोंके वास्ते कल्याणकारी है, हे प्रियदर्शन! तुम भय मत करो,सुखपूर्वक जीवित रहोगे। तुम यदि मेरी हिंसा करनेकी इच्छा न करो, तो मैं तुम्हें विपदसे छुडाऊंगा। इस विषयमें कोई उत्तम उपाय है, और मेरे अन्तःकरणमें मालूम हो रहा है, जिसके जरिये तुम मेरे सहारे विपदसे छूटोगे, और मैं भी कल्याण लाभ कर सकूंगा। आत्मबुद्धि विचारसे मैंने अपने और तुम्हारे कल्याण-सिद्धिके वास्ते ऐसा उपाय देखा है, वह मेरे और तुम्हारे दोनोंके ही वास्ते कल्याणकारी है॥ (४९--५२)

इदं हि नकुलोलूकं पापबुद्ध्याऽभिसंस्थितम् ।
न धर्षयति मार्जार तेन मे स्वस्ति सांप्रतम् ॥ ५४ ॥
कूजंश्चपलनेत्रोऽयं कौशिको मां निरीक्षते ।
नगशाखाग्रगः पापस्तस्याहं भृशमुद्विजे ॥ ५५ ॥
सतां साप्तपदं मैत्रं स सखा मेऽसि पण्डितः ।
सांवास्यकं करिष्यामि नास्ति ते भयमद्य वै ॥ ५६ ॥
न हि शक्तोऽसि मार्जार पाशं छेत्तुं मया विना ।
अहं छेत्स्यामि पाशांस्ते यदि मां त्वं न हिंससि ॥५७॥
त्वमाश्रितो द्रुमस्याग्रं मूलं त्वहमुपाश्रितः ।
चिरोषितावुभावावां वृक्षेऽस्मिन् विदितं च ते ॥ ५८ ॥
यस्मिन्नाश्वासते कश्चिद्यश्च नाश्वसिति क्वचित् ।
न तौ धीराः प्रशंसन्ति नित्यमुद्विग्नमानसौ ॥ ५९ ॥
तस्माद्विवर्धतां प्रीतिर्नित्यं संगतमस्तु नौ ।
कालातीतमिहार्थं तु न प्रशंसन्ति पण्डिताः ॥ ६० ॥
अर्थयुक्तिमिमां तत्र यथाभूतां निशामय ।

हे बिडाल! यह नकुल और उलूक पापबुद्धि अवलम्बन करके मेरे सम्मुख वर्त्तमान हैं, ये दोनों यदि मुझे आक्रमण न कर सकें, तभी इस समय मेरा मङ्गल है। यह वृक्षकी डालके ऊपर बैठा हुआ चञ्चल नेत्रवाला पापात्मा उलूक चिल्लाते हुए मुझे देख रहा है, इससे मैं उसके भयसे अत्यन्त व्याकुल हो रहा हूं। साधुओंकी आपसमें सप्त पद उच्चारण पूर्वक आलापसे ही मित्रता होती है, तुम मेरे वही मित्र और पण्डित हो, मैं तुम्हारे साथ यथार्थ मित्रका कार्य करूंगा अब तुम्हें कुछ भय नहीं है। हे बिडाल तुम मेरे विना स्वयं जालको काटनेमें समर्थ न होगे, यदि मेरी हिंसा न करो, तो मैं तुम्हारा समस्त पाश काट दूंगा, तुम इस वृक्षके अग्रभाग और मैं इसके मूलको अवलम्बन करके वास कर रहा हूं हम दोनों ही बहुत दिनोंसे इस वृक्षका आश्रय करके वास कर रहे हैं, वह तुमसे छिपा नहीं है॥ (५४—५८)

जो पुरुष किसीका विश्वास नहीं करता और जिसका कोई विश्वास नहीं करते वैसे सदा व्यग्रचित्त दोनों पुरुषों की पण्डित लोग प्रशंसा नहीं करते, इसलिये हम लोगोंके सदाका सहवास और प्रीति परिवर्धित हो; प्रयोजनका समय बीतनेकी पण्डित लोग निन्दा

तव जीवितमिच्छामि त्वं ममेच्छसि जीवितम् ॥६१॥
कश्चित्तरति काष्ठेन सुगम्भीरां महानदीम् ।
स तारयति तत्काष्ठं स च काष्ठेन तार्यते ॥ ६२ ॥
ईदृशो नौ समायोगो भविष्यति सुविस्तरः ।
अहं त्वां तारयिष्यामि मां च त्वं तारयिष्यसि ॥६३॥
एवमुक्त्वा तु पलितस्तमर्थमुभयोर्हितम् ।
हेतुमद्ग्रहणीयं च कालापेक्षी व्यवेक्ष्य च ॥ ६४ ॥
अथ सुव्याहृतं श्रुत्वा तस्य शत्रोर्विचक्षणः ।
हेतुमद्ग्रहणीयार्थं मार्जारो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६५ ॥
बुद्धिमान्वाक्यसंपन्नस्तद्वाक्यमनुवर्णयन् ।
स्वामवस्थां समीक्ष्याथ साम्नैव प्रत्यपूजयत् ॥ ६६ ॥
ततस्तीक्ष्णाग्रदशनो मणिवैदूर्यलोचनः ।
मूषिकं मन्दमुद्वीक्ष्य मार्जारो लोमशोऽब्रवीत् ॥६७॥
नन्दामि सौम्य भद्रं ते यो मां जीवितुमिच्छसि ।
श्रेयश्च यदि जानीषे क्रियतां मा विचारय ॥ ६८ ॥
अहं हि भृशमापन्नस्त्वमापन्नतरो मम ।

किया करते हैं, इससे इस विषयमें यही यथार्थ युक्ति समझो, तुम यदि मेरे जीवन रक्षाके अभिलाषी होगे, जो मैं भी तुम्हारे जीवनकी रक्षा करनेके वास्ते इच्छा करूंगा। कोई मनुष्य काष्ठके सहारे अत्यन्त गहरी महानदी पार होता है, वैसे ही हम दोनोंके मिलापका परिणाम सुखप्रद होवे। मैं तुम्हें जालसे छुडाऊंगा, तुमभी मुझे विपदसे बचाओगे मूषिकवर पलित इसी प्रकार दोनोंके हितकर युक्तियुक्त ग्रहणीय वचन कहके समयकी अपेक्षा करते हुए देखने लगा। (५९—६४)

अनन्तर चूहेका शत्रु विचक्षण बिडाल उनका युक्तियुक्त सुनने योग्य सुन्दर वचन सुनके उत्तर दिया; और वह बुद्धिमान तथा वाक्य-निपुण बिडाल चूहेके वचनको सुनके और अपनी अवस्था देखके सन्धि करनेमें सम्मत हुआ। अन्तमें तीक्ष्ण दांत और वैदूर्य-नेत्र बिडालोंमें मुख्य लोमश चूहेको धीरे धीरे देखके बोला। हे प्रियदर्शन! तुम्हारा कल्याण होवे, तुम जो मेरे जीवन रक्षाके वास्ते यत्न करते हो उससे मैं अत्यन्त ही आनन्दित हुआ हूं। यदि कल्याणका उपाय जानते हो, तो करो;

द्वयोरापन्नयोः संधिः क्रियतां मा चिराय च ॥ ६९ ॥
विधत्स्व प्राप्तकालं यत्कार्यं सिद्धिकरं विभो ।
मयि कृच्छ्राद्विनिर्मुक्ते न विनंक्ष्यति ते कृतम् ॥ ७० ॥
न्यस्तमानोऽस्मि भक्तोऽस्मि शिष्यस्त्वद्धितकृत्तथा ।
निदेशवशवर्ती च भवन्तं शरणं गतः ॥ ७१ ॥
इत्येवमुक्तः पलितो मार्जारं वशमागतम् ।
वाक्यं हितमुवाचेदमभिनीतार्थमर्थवित् ॥ ७२ ॥
उदारं यद्भवानाह नैतच्चित्रं भवद्विधे ।
विहितो यस्तु मार्गो मे हितार्थं शृणु तं मम ॥ ७३ ॥
अहं त्वाऽनुप्रवेक्ष्यामि नकुलान्मे महद्भयम् ।
त्रायस्व भो मा वधीस्त्वं शक्तोऽस्मि तव रक्षणे ॥ ७४ ॥
उलूकाच्चैव मां रक्ष क्षुद्रः प्रार्थयते हि माम् ।
अहं छेत्स्यामि ते पाशान् सखे सत्येन ते शपे ॥ ७५ ॥
तद्वचः संगतं श्रुत्वा लोमशो युक्तमर्थवत् ।
हर्षादुद्वीक्ष्य पलितं स्वागतेनाभ्यपूजयत् ॥ ७६ ॥

विलम्ब मत करो। मैं आपदग्रस्त हूं और तुम मुझसे भी अधिक आपदमें पडे हो, इससे दोनों आपदग्रस्तोंकी सन्धि होवे; विलम्बका प्रयोजन नहीं है। समयपर जिसमें कार्य सिद्धि हो, वैसाही करो; मैं इस क्लेशकारी विपदसे छूटनेपर तुम्हारे किये हुए उपकारको व्यर्थ नहीं करूंगा। मैं मान त्यागके तुम्हारा अनुरक्त, भक्त, शिष्य हितकारी होकर शरणागत हुआ हूं। (६९–७१)

मूषिकवर पलितने बिडालका ऐसा वचन सुनके उसे अपने वशमें जानकर विनयपूरित अर्थ-युक्त हितकर वचनसे बोला, कि आपने जो उदार वचन कहे, वह तुम्हारे समान पुरुषके विषयमें विचित्र नहीं हैं, दोनोंके हितके निमित्त मैंने जिस उपायका विधान किया है, वह मुझसे सुनो। नेवलसे मुझे अत्यन्त भय लगता है, इससे मैं तुम्हारे समीप बैठता हूं, मैं तुम्हारी रक्षा करनेमें समर्थ हूं; इससे आप मेरी रक्षा कीजिये, वध न करना; क्षुद्राशय उल्लू मुझे आक्रमण करनेकी आशा करता है, इससे उससे मुझे बचाओ। हे मित्र ! मैं सत्यपूर्वक शपथ करता हूं; कि तुम्हारा समस्त पाश काट दूंगा। ७२-७५

लोमशने पलित चूहेका युक्ति और अर्थयुक्त वचन सुनके हर्षके वशमें हो-

तं संपूज्याथ पलितं मार्जारः सौहृदे स्थितः।
स विचिन्त्याब्रवीद्धीरः प्रीतस्त्वरित एव च ॥ ७७ ॥
शीघ्रमागच्छ भद्रं ते त्वं मे प्राणसमः सखा।
तव प्राज्ञ प्रसादाद्धि प्रायः प्राप्स्यामि जीवितम्॥७८॥
यद्यदेवंगतेनाथ शक्यं कर्तुं मया तव।
तदाज्ञापय कर्ताऽस्मि संधिरेवास्तु नौ सखे ॥ ७९ ॥
अस्मात्तु संकटान्मुक्तः समित्रगणबान्धवः।
सर्वकार्याणिकर्ताऽहं प्रियाणि च हितानि च ॥ ८० ॥
मुक्तश्च व्यसनादस्मात्सौम्याहमपि नाम ते।
प्रीतिमुत्पादयेयं च प्रीतिकर्तुश्च सत्क्रियाम् ॥ ८१ ॥
प्रत्युपकुर्वन्बह्वपि न भाति पूर्वोपकारिणा तुल्यः।
एकः करोति हि कृते निष्कारणमेव कुरुतेऽन्यः॥८२॥
भीष्म उवाच— ग्राहयित्वा तु तं स्वार्थं मार्जारं मूषिकस्तथा।
प्रविवेश तु विश्रम्य क्रोडमस्य कृतागसः ॥ ८३ ॥
एवमाश्वासितो विद्वान्मार्जारेण स मूषिकः।

कर उसे देखके स्वागत वचनसे सम्मानित किया। अनन्तर वह वीरवर बिडाल सुहृदभावसे स्थित हो प्रसन्नता और शीघ्रतासे पलितको सम्मानित करके विशेष चिन्ताके अनन्तर बोला, हे मित्र! जलदी आओ, तुम्हारा मङ्गल होवे, तुम मेरे प्राण समान सखा हो। हे बुद्धिमान! तुम्हारी ही कृपासे मैं जीवन लाभ करूंगा। इस सङ्कटके समयमें मैं तुम्हारा जो कुछ उपकार कर सकूं, उसकी तुम आज्ञा करो; मैं वैसाही करूंगा। हे मित्र! हम दोनोंमें सन्धि रहे, इस विपदसे छूटनेपर मैं मित्रों और बन्धुबान्धवोंके सहित तुम्हारा जो कुछ प्रिय और हितकर कार्य होगा, वह सब सिद्ध करूंगा। हे प्रियदर्शन! इस विपदसे छूटनेपर मैं तुम्हारी प्रसन्नता तथा सत्कार साधन करूंगा। उपकृत पुरुष बहुतसा प्रत्युपकार करके भी पूर्व उपकारकी समानता नहीं कर सकता। उपकृत पुरुष पहिले उपकारका स्मरण करके प्रत्युपकार किया करता है, और प्रथम उपकर्ता निष्कारण ही उपकार करता है। (७६-८२)

भीष्म बोले, चूहेने स्वार्थसाधनेके लिये बिडालको इस प्रकार सम्मत करके विश्वासपूर्वक उस अपराध करनेवालेके

मार्जारोरसि विस्रब्धः सुष्वाप पितृमातृवत् ॥ ८४ ॥
लीनं तु तस्य गात्रेषु मार्जारस्य च मूषिकम् ।
दृष्ट्वा तौ नकुलोलूकौ निराशौ प्रत्यपद्यताम् ॥ ८५ ॥
तथैव तौ सुसंत्रस्तौ दृढमागततन्द्रितौ ।
दृष्ट्वा तयोः परां प्रीतिं विस्मयं परमं गतौ ॥ ८६ ॥
बलिनौ मतिमन्तौ च सुवृत्तौ चाप्युपालितौ ।
अशक्तौ तु नयात्तस्मात्संप्रधर्षयितुं बलात् ॥ ८७ ॥
कार्यार्थं कृतसंधी तौ दृष्ट्वा मार्जारमूषिकौ ।
उलूकनकुलौ तूर्णं जग्मतुस्तौ स्वमालयम् ॥ ८८ ॥
लीनः स तस्य गात्रेषु पलितो देशकालवित् ।
चिच्छेद पाशान्नृपते कालापेक्षी शनैः शनैः ॥ ८९ ॥
अथ बन्धपरिक्लिष्टो मार्जारो वीक्ष्य मूषिकम् ।
छिन्दन्तं वै तदा पाशानत्वरं तं त्वरान्वितः ॥ ९० ॥
तमत्वरन्तं पलितं पाशानां छेदने तथा ।
संचोदयितुमारेभे मार्जारो मूषिकं तदा ॥ ९१ ॥
किं सौम्य नातित्वरसे किं कृतार्थोऽवमन्यसे ।
छिन्धि पाशानमित्रघ्न पुरा श्वपच एति च ॥ ९२ ॥

गोदमें प्रवेश किया। बुद्धिमान चूहेने बिडालसे इस प्रकार आश्वासित होकर पिता माताकी तरह विश्वस्त होकर उसकी छातीपर शयन किया। नकुल और उल्लू चूहेको बिडालके शरीरमें लीन होते देखकर निराश हुए और उन दोनोंकी परम प्रीति देखके अत्यन्त भयभीत तथा विस्मययुक्त होगये। वे लोग बलवान, बुद्धिमान, सत्स्वभाव और सन्निहित होके भी बलपूर्वक चूहेको आक्रमण करनेमें असमर्थ होगये। उल्लू और नकुल बिडाल और चूहेको कार्य्यवशसे सन्धि करते देखकर दोनों ही शीघ्र ही निज स्थानपर चले गये। (८३-८८)

हे महाराज! अनन्तर देशकालका जाननेवाला पलित समयकी उपेक्षा करते हुए थोडा थोडा बिडालके शरीरके पाशको काटने लगा। अनन्तर बिडाल बन्धनके दुःखसे अत्यन्त क्लेशित रहके चूहेको पाश काटनेमें विलम्ब करते देखकर आतुरताके सहित शीघ्रता करने लगा। (८९-९१)

बिडाल बोला, हे मित्र! तुम विलम्ब

इत्युक्तस्त्वरता तेन मतिमान्पलितोऽब्रवीत्।
मार्जारमकृतप्रज्ञं पथ्यमात्महितं वचः ॥ ९३ ॥
तूष्णीं भव न ते सौम्य त्वरा कार्या न संभ्रमः।
वयमेवात्र कालज्ञा न कालः परिहास्यते ॥ ९४ ॥
अकाले कृत्यमारब्धं कर्तुर्नार्थाय कल्पते।
तदेव काल आरब्धं महतेऽर्थाय कल्पते ॥ ९५ ॥
अकाले विप्रमुक्तान्मे त्वत्त एव भयं भवेत्।
तस्मात्कालं प्रतीक्षस्व किमिति त्वरसे सखे ॥ ९६ ॥
यदा पश्यामि चाण्डालमायान्तं शस्त्रपाणिनम्।
ततश्छेत्स्यामि ते पाशान्प्राप्ते साधारणे भये ॥ ९७ ॥
तस्मिन्काले प्रमुक्तस्त्वं तरुमेवाधिरोक्ष्यसे।
न हि ते जीवितादन्यत्किञ्चित्कृत्यं भविष्यति ॥९८॥
ततो भवत्यपक्रान्ते त्रस्ते भीते च लोमश।
अहं बिलं प्रवेक्ष्यामि भवान् शाखां भजिष्यति॥९९॥
एवमुक्तस्तु मार्जारो मूषिकेणात्मनो हितम्।

क्यों करते हो? स्वयं कृतकार्य होकर क्या तुम मेरी अवज्ञा करते हो। हे शत्रु-नाशन! व्याधा आगे आरहा है, इससे तुम जल्दी पाश काटो। शीघ्रता करने-वाले बिडालके ऐसा कहनेपर बुद्धिमान पलित चूहेने अपक्वबुद्धि बिडालसे पथ्य और आत्महितकर वचन कहा। हे प्रिय-दर्शन! तुम मौनभावसे रहो, शीघ्रता और भय करना तुम्हें उचित नहीं है, मैं समयज्ञ हूं इससे प्रकृत समय परित्याग नहीं करता। (९२–९४)

हे मित्र! असमयमें आरम्भ कार्य करनेवालेका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और वह कार्य ही समयपर न होनेसे महत् भय उत्पन्न करता है। तुम्हारे असमयमें बन्धनसे छूटनेपर तुमसे मुझे भयकी सम्भावना है, इससे समयकी प्रतीक्षा करो, शीघ्रता क्यों करते हो? शस्त्रधारी चाण्डालको जब आते देखोगे तभी हम लोगोंको ज्योंही भय होगा, त्योंही तुम्हारे पाशको काट दूंगा। उस ही समय तुम बन्धनसे छूटके वृक्षके ऊपर चढोगे, तुम्हारे जीवन रक्षाके अतिरिक्त मुझे दूसरा कोई भी कार्य नहीं है। हे लोमश! तुम्हारे त्रसित तथा डर-कर भागनेपर मैं बिलमें प्रवेश करूंगा; तुम भी वृक्षकी शाखाको अवलम्बन करोगे। चूहेने जब आत्महित साधनके

वचनं वाक्यतत्त्वज्ञो जीवितार्थी महामतिः ॥ १०० ॥
अथात्मकृत्ये त्वरितः सम्यक् प्रश्रितमाचरन् ।
उवाच लोमशो वाक्यं मूषिकं चिरकारिणम् ॥१०१॥
न ह्येवं मित्रकार्याणि प्रीत्या कुर्वन्ति साधवः ।
यथा त्वं मोक्षितः कृच्छ्रात्त्वरमाणेन वै मया ॥१०२॥
तथा हि त्वरमाणेन त्वया कार्यं हितं मम ।
यत्नं कुरु महाप्राज्ञ यथा रक्षाऽऽवयोर्भवेत् ॥ १०३ ॥
अथवा पूर्ववैरं त्वं स्मरन्कालं जिहीर्षसि ।
पश्य दुष्कृतकर्मस्त्वं व्यक्तमायुःक्षयं तव ॥ १०४ ॥
यदि किंचिन्मयाऽज्ञानात्पुरस्ताद्दुष्कृतं कृतम् ।
न तन्मनासि कर्तव्यं क्षामये त्वां प्रसीद मे ॥ १०५ ॥
तमेवंवादिनं प्राज्ञः शास्त्रबुद्धिसमन्वितः ।
उवाचेदं वचः श्रेष्ठं मार्जारं मूषिकस्तदा ॥ १०६ ॥
श्रुतं मे तव मार्जार स्वमर्थं परिगृह्णतः ।
ममापि त्वं विजानासि स्वमर्थं परिगृह्णतः ॥ १०७ ॥

निमित्त विडालसे ऐसा कहा, तब जीनेकी इच्छा करनेवाला वाक्य-तत्त्वज्ञ महाबुद्धिमान लोमश आत्मकार्यको पूर्ण रीतिसे सिद्ध करनेके निमित्त शीघ्रता करके पाशको काटनेमें विलम्ब करनेवाले चूहेसे बोला, मित्र साधु लोग इस प्रकार प्रीतिपूर्वक मित्रका कार्य नहीं करते; मैंने जैसे शीघ्रताके सहित तुम्हें विपदसे मुक्त किया, तुम्हें भी वैसे ही शीघ्रताके सहित मेरा हित साधन करना उचित है ॥ (९५—१०३)

हे बुद्धिमान् ! इस समय जिससे हम दोनोंका कल्याण होवे, तुम उस विषयमें यत्नवान हो; अथवा यदि तुम पहिले वैरको स्मरण करके समय बिताओगे, तो इस पापके कारण विशेष रूपसे तुम अपनी आयुको नष्ट होती देखोगे। यदि अज्ञानताके कारण पहिले मैंने कुछ पाप कर्म किया हो, तो उसे तुम स्मरण मत करो, मैं क्षमा प्रार्थना करता हूं; तुम मेरे ऊपर प्रसन्न हो जावो। विडालके ऐसा कहने पर शास्त्र जाननेवाला बुद्धिमान विज्ञ चूहा उस समय उससे यह हितकर वचन बोला कि, हे बिडाल ! तुमने निज प्रयोजन सिद्धिके लिये व्याकुल होके जो सब वचन कहा, उसे मैंने सुना है; और मैंने भी अपने प्रयोजन सिद्धिकी अभि-

यन्मित्रं भीतवत्साध्यं यन्मित्रं भयसंहितम् ।
सुरक्षितव्यं तत्कार्यं पाणिः सर्पमुखादिव ॥ १०८ ॥
कृत्वा बलवता सन्धिमात्मानं यो न रक्षति ।
अपथ्यमिव तद्भुक्तं तस्य नार्थाय कल्पते ॥ १०९ ॥
न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचित्सुहृत् ।
अर्थतस्तु निबध्यन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥ ११० ॥
अर्थैरर्था निबध्यन्ते गजैर्वनगजा इव ।
न च कश्चित्कृते कार्ये कर्तारं समवेक्षते ॥ १११ ॥
तस्मात्सर्वाणि कार्याणि सावशेषाणि कारयेत् ।
तस्मिन्कालेऽपि च भवान्दिवाकीर्तिभयार्दितः ॥११२॥
मम न ग्रहणे शक्तः पलायनपरायणः ।
छिन्नं तु तंतुबाहुल्यं तन्तुरेकोवशेषितः ॥ ११३ ॥
छेत्स्याम्यहं तमप्याशु निर्वृतो भव लोमश ।
तयोः संवदतोरेवं तथैवापन्नयोर्द्वयोः ॥ ११४ ॥
क्षयं जगाम सा रात्रिर्लोमशं त्वाविशद्भयम् ।

लापासे कातर होके तुमसे जो कहा है, उसे तुम जानते हो। (१०४-१०७)

जो मित्र अत्यन्त भयभीत और जो भयसे विचलित है, सांपके मुखसे निज हाथ बचानेकी तरह उसकी यथा रीतिसे रक्षा करनी उचित है। जो पुरुष बलवानके साथ सन्धि करके आत्मरक्षाका उपाय नहीं करता, उसके भुक्त अन्न आदि अपथ्य वस्तुकी तरह उपकारक नहीं होते। इस जगत्में विना कारणके कोई पुरुष किसीका मित्र वा सुहृत् नहीं होता; स्वार्थ साधनके ही निमित्त शत्रुमित्रोंका सङ्घटन हुआ करता है। जैसे पाले हुए हाथियोंसे जङ्गली हाथियोंको बान्धते हैं, वैसे ही स्वार्थके सहारे ही स्वार्थ साधन हुआ करता है। कार्य हो जानेपर कोई करनेवाले की ओर नहीं देखता; इससे सब कार्योंको ही विशेष रीतिसे करना योग्य है। हे लोमश ! तुम उस समय व्याधा के भयसे भागनेमें तत्पर होगे, इससे मुझे पकड न सकोगे। मैंने अनेक तांतोंको काट दिया है, अब केवल एक ही तांत बाकी है। उसे भी जल्दी काटूंगा, तुम निश्चित रहो। (१०८-११४)

विपदयुक्त चूहा और बिडालके इसी प्रकार वार्तालाप करते हुए रात्रि बीत कर सबेरा हुआ। रात्रि बीतकर

ततः प्रभातसमये विकृतः कृष्णपिङ्गलः ॥ ११५ ॥
स्थूलस्फिग्विकृतो रूक्षः श्वयूथपरिवारितः ।
शंकुकर्णो महावक्त्रो मलिनो घोरदर्शनः ॥ ११६ ॥
परिघो नाम चाण्डालः शस्त्रपाणिरदृश्यत ।
तं दृष्ट्वा यमदूताभं मार्जारस्त्रस्तचेतनः ॥ ११७ ॥
उवाच वचनं भीतः किमिदानीं करिष्यसि ।
अथ तावपि संत्रस्तौ तं दृष्ट्वा घोरसंकुलम् ॥ ११८ ॥
क्षणेन नकुलोलूकौ नैराश्यमुपजग्मतुः ।
बलिनौ मतिमन्तौ च संघाते चाप्युपागतौ ॥ ११९ ॥
अशक्तौ सुनयात्तस्मात्संप्रधर्षयितुं बलात् ।
कार्यार्थं कृतसंधानौ दृष्ट्वा मार्जारमूषिकौ ॥ १२० ॥
उलूकनकुलौ तत्र जग्मतुः स्वं स्वमालयम् ।
ततश्चिच्छेद तं पाशं मार्जारस्य च मूषिकः ॥ १२१ ॥
विप्रमुक्तोऽथ मार्जारस्तमेवाभ्यपतद् द्रुमम् ।
स तस्मात्संभ्रमावर्तान्मुक्तो घोरेण शत्रुणा ॥ १२२ ॥
बिलं विवेश पलितः शाखां लेभे स लोमशः ।
उन्माथमप्यथादाय चाण्डालो वीक्ष्य सर्वशः ॥ १२३ ॥
विहताशः क्षणेनास्ते तस्माद्देशादपाक्रमत् ।
जगाम स स्वभवनं चाण्डालो भरतर्षभ ॥ १२४ ॥

सवेरा होनेपर लोमशके हृदयमें भय उत्पन्न होने लगा। अनन्तर भोरके समय एक विकृत-रूपवाला, कृष्ण पिंगल वर्ण, स्थूल नितम्बवाला, केश-रहित क्रूरमूर्ति, ऊंचे कानोंसे युक्त, बृहत् वक्त्र, कुत्तोंके समूहसे घिरा हुआ, मलिन, बदसूरत और हाथमें शस्त्र लिये हुए परिघ नाम चाण्डाल दीख पडा। बिडाल उस यमदूतके समान चाण्डाल को देखकर त्रस्तचित्त तथा भयभीत होके चूहेसे बोला, मित्र! इस समय क्या करोगे? इधर उसे देखकर नेवला और उल्लूभी निराश हुए और स्वयं बलवान होते हुए भी उनके संगठनसे हमला करनेमें असमर्थ होकर वे अपने घर गये। पश्चात् चूहेने बिडालका ऐसा वचन सुनते ही पाश काट दिया। बिडालने बन्धनसे छूटकर और शत्रुके महाघोर भय से मुक्त होकर उस वृक्ष पर चढके उसकी शाखाका अवलम्बन किया। पलित चूहा

ततस्तस्माद्भयान्मुक्तो दुर्लभं प्राप्य जीवितम् ।
बिलस्थं पादपाग्रस्थः पलितं लोमशोऽब्रवीत्॥ १२५ ॥
अकृत्वा संविदं काञ्चित्सहसा समवप्लुतः ।
कृतज्ञं कृतकर्माणं कच्चिन्मां नाभिशङ्कसे ॥ १२६ ॥
गत्वा च मम विश्वासं दत्वा च मम जीवितम् ।
मित्रोपभोगसमये किं मां त्वं नोपसर्पसि ॥ १२७ ॥
कृत्वा हि पूर्वं मित्राणि यः पश्चान्नानुतिष्ठति ।
न स मित्राणि लभते कृच्छ्रास्वापत्सु दुर्मतिः॥ १२८॥
सत्कृतोऽहं त्वया मित्र सामर्थ्यादात्मनः सखे ।
स मां मित्रत्वमापन्नमुपभोक्तुं त्वमर्हसि ॥ १२९ ॥
यानि मे सन्ति मित्राणि ये च सम्बन्धिबान्धवाः ।
सर्वे त्वां पूजयिष्यन्ति शिष्या गुरुमिव प्रियम्॥१३०॥
अहं च पूजयिष्ये त्वां समित्रगणबान्धवम् ।
जीवितस्य प्रदातारं कृतज्ञः को न पूजयेत् ॥ १३१ ॥

भी बिलमें घुस गया । (११५–१२४)

हे भरत श्रेष्ठ! इधर चाण्डाल वागुरा ग्रहण करके क्षण भरमें सब तरफ देखके निराश होकर निज स्थान पर चला गया। अनन्तर वृक्षकी शाखा पर बैठे हुए लोमशने वैसी विपदसे छूटके तथा दुर्लभ जीवन लाभ करके बिलके बीच स्थित पलितको पुकारके कहा; हे मित्र! तुम मेरे साथ क्यों बिना कुछ वार्त्तालाप किये ही सहसा निज स्थान पर गये हो? तुमने मेरा जैसा उपकार किया है, वह मुझे सदाके वास्ते स्मरणीय है और मैं तुम्हारा उपकार करनेमें समर्थ हूं; इसे जान कर भी तुम मेरी शङ्का तो नहीं करते हो? हे मित्र! तुम मेरे विश्वास पात्र होके प्राणदान करके सुख भोगके समय निकट क्यों नहीं आते हो? जो पुरुष पहिले मित्रता करके फिर उसका अनुष्ठान नहीं करता, वह नीच-बुद्धि कष्टकरी आपदके समय मित्र लाभ करनेमें समर्थ नहीं होता। हे मित्र! तुमने सामर्थके अनुसार मेरा सत्कार किया है, मैं ने भी आत्म सुखमें आसक्त होकर तुम्हारे साथ मित्रता की है, इससे मेरे साथ सुख भोग करना तुम्हें उचित है। मेरे जो सब बन्धुबान्धव, सम्बन्धी आदि आत्मीय हैं, वे सब इस प्रकार तुम्हारा संम्मान करेंगे, जैसे शिष्य लोग गुरुकी सेवा करते है। (१२५–१३०)

तुम मेरे प्राणदाता हो, इससे मैं भी

ईश्वरो मे भवानस्तु स्वशरीरगृहस्य च।
अर्थानां चैव सर्वेषामनुशास्ता च मे भव ॥ १३२ ॥
अमात्यो मे भव प्राज्ञ पितेवेह प्रशाधि माम्।
न तेऽस्ति भयमस्मत्तो जीवितेनात्मनः शपे ॥ १३३ ॥
बुद्ध्या त्वमुशना साक्षाद्बलेनाधिकृता वयम्।
त्वं मन्त्रबलयुक्तो हि दत्वा जीवितमद्य मे ॥ १३४ ॥
एवमुक्तः परां शान्तिं मार्जारेण स मूषिकः।
उवाच परमन्त्रज्ञः श्लक्ष्णमात्महितं वचः ॥ १३५ ॥
यद्भवानाह तत्सर्वं मया ते लोमश श्रुतम्।
ममापि तावद् ब्रुवतः शृणु यत्प्रतिभाति मे ॥ १३६ ॥
वेदितव्यानि मित्राणि विज्ञेयाश्चापि शत्रवः।
एतत्सुसूक्ष्मं लोकेऽस्मिन् दृश्यते प्राज्ञसंमतम् ॥ १३७ ॥
शत्रुरूपा हि सुहृदो मित्ररूपाश्च शत्रवः।
संधितास्ते न बुद्ध्यन्ते कामक्रोधवशं गताः ॥ १३८ ॥
नास्ति जातु रिपुर्नाम मित्रं नाम न विद्यते।

तुम्हारा और तुम्हारे बन्धु बान्धवोंका सम्मान करूंगा; कौन कृतज्ञ पुरुष अपने जीवन दाताकी, पूजा नहीं करता? तुम मेरे शरीर, घर तथा सब धनके स्वामी बनो और मुझे सत उपदेश प्रदान करो। हे बुद्धिमान्! तुम मेरे अमात्य बनो और पिताकी तरह मुझे बुद्धि दान किया करो। मैंने अपने जीवनकी शपथ करके कहा है कि मुझसे तुम्हें कुछभी भय नहीं है। तुम बुद्धि-कौशलमें साक्षात् शुक्राचार्य हो। इससे मन्त्रबलसे मेरा जीवन दान करके तुमने हम लोगोंके ऊपर अधिकार किया है। बिडालने इसी प्रकार चूहेसे सान्त्व-वचन कहा, तब परमार्थको जाननेवाला चूहा कोमल भावसे आत्महितकर वचन कहने लगा। वह बोला, हे लोमश! तुमने जो कुछ कहा, मैंने वह सब सुना, इस समय मैं जो कुछ विचार सिद्ध जानके कहता हूं, उसे सुनो। (१३१-१३६)

शत्रु मित्र दोनोंको ही विशेष रूपसे यह मालूम करना उचित है, इससेही प्राज्ञ लोक इसे अत्यन्त सूक्ष्म विषय कहा करते हैं। शत्रुरूपी मित्रों और मित्ररूपी शत्रुओंके साथ सन्धि होने पर भी काम क्रोधके वशमें रहनेवाले पुरुष उसे सहज रीतिसे मालूम नहीं कर सकते। इस जगत्में कभी स्वाभाविकही कोई

सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥ १३९ ॥
यो यस्मिन् जीवति स्वार्थं पश्येत्पीडां न जीवति ।
स तस्य मित्रं तावत्स्याद्यावन्न स्याद्विपर्ययः ॥१४०॥
नास्ति मैत्री स्थिरा नाम न च ध्रुवमसौहृदम् ।
अर्थयुक्त्यानुजायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥ १४१ ॥
मित्रं च शत्रुतामेति कस्मिंश्चित्कालपर्यये ।
शत्रुश्च मित्रतामेति स्वार्थो हि बलवत्तरः ॥ १४२ ॥
यो विश्वसिति मित्रेषु न विश्वसिति शत्रुषु ।
अर्थयुक्तिमविज्ञाय यः प्रीतौ कुरुते मनः ॥ १४३ ॥
मित्रे वा यदि वा शत्रौ तस्यापि चलिता मतिः ।
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नमपि मूलानि कृन्तति ॥ १४४ ॥
अर्थयुक्त्या हि जायन्ते पिता माता सुतस्तथा ।
मातुला भागिनेयाश्च तथा संबन्धिबान्धवाः॥ १४५ ॥
पुत्रं हि माता पितरौ त्यजतः पतितं प्रियम् ।
लोको रक्षति चात्मानं पश्य स्वार्थस्य सारताम्॥१४६॥

किसीका मित्र वा शत्रु नहीं होता, कार्य-वशसे ही मित्र और शत्रु हुआ करते हैं। जो पुरुष निज प्रयोजन सिद्धिके वास्ते जिसे अवलम्बन करके जीवन धारण करते हैं, यदि उसकी पीडा देखें, तो प्राण-त्याग किया करते हैं, जबतक उस भावका विपर्यय नहीं होता, तबतक वह उसके मित्र हुआ करते हैं। सुहृदता और शत्रुता स्थिर नहीं रहती; प्रयोजनसे ही शत्रु वा मित्र हुआ करते हैं। १३७-१४२

कालक्रमसे मित्र भी शत्रु होता और शत्रु भी मित्र हुआ करता है, इससे स्वार्थ ही बलवान् है। जो पुरुष प्रयो-जन न जानके मित्रोंका विश्वास करता है वह शत्रुओंके विषयमें अविश्वास स्थापित किया करता है, उसका जीवन विचालित होता है। शत्रु वा मित्रके विषयमें प्रयोजन न जानके जो पुरुष प्रसन्न-चित्त होता है, उसकी भी बुद्धि विचलित होजाती है। अविश्वासी पुरु-षका विश्वास न करे, विश्वासी पुरुष-कामी अत्यन्त विश्वास करना उचित नहीं है, क्योंकि विश्वाससे उत्पन्न हुआ भय विश्वासकी जडको काटता है। पिता, माता, पुत्र, मामा, मानजे सम्ब-न्धी और बान्धव आदि प्रयोजनके अ-

सामान्या निष्कृतिः प्राज्ञ यो मोक्षात्प्रत्यनन्तरम्।
कृतं मृगयसे शत्रुं सुखोपायमसंशयम् ॥ १४७ ॥
अस्मिन्निलय एव त्वं न्यग्रोधादवतारितः ॥ १४८ ॥
पूर्वं निविष्टमुन्माथं चपलत्वान्न बुद्धवान्।
आत्मनश्चपलो नास्ति कुतोऽन्येषां भविष्यति ॥१४९॥
तस्मात्सर्वाणि कार्याणि चपलो हन्त्यसंशयम्।
ब्रवीषि मधुरं यच्च प्रियो मेऽद्य भवानिति ॥ १५० ॥
तन्मित्रकारणं सर्वं विस्तरेणापि मे शृणु।
कारणात्प्रियतामेति द्वेष्यो भवति कारणात्॥ १५१ ॥
अर्थार्थी जीवलोकोऽयं न कश्चित्कस्य चित्प्रियः।
सख्यं सोदर्ययोर्भ्रात्रोर्दम्पत्योर्वा परस्परम् ॥ १५२ ॥
कस्यचिन्नाभिजानामि प्रीतिं निष्कारणामिह।
यद्यपि भ्रातरः क्रुद्धा भार्या वा कारणान्तरे॥ १५३ ॥
स्वभावतस्ते प्रीयन्ते नेतरः प्रीयते जनः।

नुसार प्रिय हुआ करते हैं। प्रिय पुत्रके पतित होने पर पिता माता उसे परित्याग करके जन समाजमें अपनी रक्षा करते हैं, इससे स्वार्थ कैसा सारवान है; उसे मालूम करो। (१४२—१४६)

हे बुद्धिमान्! जो पुरुष किसी विपदसे छूटनेपर फिर शत्रुके सुखका उपाय खोजता है; उसकी प्रायः निष्कृति नहीं होती; तुम वटवृक्षसे इस स्थानपर उतरे थे; परन्तु पहिले ही जो जालबन्धन संयोजित हुआ था; चपलताके कारण उसे न जान सके। मनसे चञ्चल दूसरा कुछ भी नहीं है, इससे दूसरेकी चपलता किस प्रकार अधिक हो सकती है? इस लिये चित्त चञ्चल होनेसे निश्चयही सब कार्य नष्ट होते हैं। इस समय तुम जो मुझसे मधुर वचन कहते हो, वह मुझे प्रसन्न करनेवाला है यह ठीक है, परन्तु मैं भी विस्तारपूर्वक मित्रताके उपायसे युक्त जो कथा कहता हूं, उसे सुनो। इस संसारमें लोग कारणके अनुसारही सबके प्यारे होते हैं और कारणके अनुसार ही द्वेष हुआ करता है; जीव-मात्र ही प्रयोजन चाहनेवाले हैं, इससे विना कारणके कोई किसीको प्रिय नहीं होता, दो सहोदर भाइयोंका सौभ्रात्र और दम्पतिका परस्पर प्रेम जब विना कारणके नहीं है, तब इस जगत्में किसीकी प्रीति निष्कारण ही सङ्घटित होती है, ऐसा नहीं देखा गया है; तब भाई और

प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ॥ १५४ ॥
मन्त्रहोमजपैरन्यः कार्यार्थं प्रीयते जनः ।
उत्पन्ना कारणे प्रीतिरासीन्नौ कारणान्तरे ॥ १५५ ॥
प्रध्वस्ते कारणस्थाने सा प्रीतिर्विनिवर्तते ।
किंतु तत्कारणं मन्ये येनाहं भवतः प्रियः ॥ १५६ ॥
अन्यत्राभ्यवहारार्थं तत्रापि च बुधा वयम् ।
कालो हेतुं विकुरुते स्वार्थस्तमनुवर्तते ॥ १५७ ॥
स्वार्थं प्राज्ञोऽभिजानाति प्राज्ञं लोकोऽनुवर्तते ।
न त्वीदृशं त्वया वाच्यं विदुषि स्वार्थपण्डिते॥ १५८॥
अकाले हि समर्थस्य स्नेहहेतुरयं तव ।
तस्मान्नाहं चले स्वार्थात्सुस्थिरः संधिविग्रहे ॥ १५९ ॥
अभ्राणामिव रूपाणि विकुर्वन्ति क्षणे क्षणे ।
अद्यैव हि रिपुर्भूत्वा पुनरद्यैव मे सुहृत् ॥ १६० ॥
पुनश्च रिपुरद्यैव युक्तीनां पश्य चापलम् ।

भार्या किसी कारणसे क्रुद्ध होनेपर भी वे लोग स्वभाविक प्रसन्न हुआ करते हैं, दूसरे लोग उस तरह प्रीतियुक्त नहीं होते ॥ (१४८-१५४)

इस जगत्में कोई दानके जरिये प्रिय होता है, कोई प्रिय वचनसे प्यारा बनता है; दूसरे कार्यके निमित्त मन्त्र, होम और जपसे प्रीतिलाभ करते हैं। हम दोनोंकी प्रीति विशेष कारणसे उत्पन्न हुई थी, इस समय उस कारणकी समाप्ति हुई है, इससे दूसरा कोई श्रेष्ठ कारण रहनेपर भी वह प्रीति निवर्तित होती है। ऐसा कौनसा कारण है,— जिससे मैं तुम्हारा प्यारा बन सकूं, बिना कारणके जैसा व्यवहार करना होता है, उसे मैं विशेष रूपसे जानता हूं। कालही कारणको सुधारता है, कारण कभी स्वार्थ से रहित नहीं होता। बुद्धिमान पुरुष स्वार्थ विषयमें निपुण हैं, इससे लोग प्राज्ञ पुरुषोंका ही अनुवर्त्तन किया करते हैं। स्वार्थको जाननेवाले विद्वान पुरुषके विषयमें ऐसा वचन कहना तुम्हें उचित नहीं है। तुम मेरे विषयमें स्नेह प्रकाश कर सकते हो, यह ठीक है, परन्तु यह उस स्नेहके प्रकाशका समय नहीं है; इससे स्वार्थके कारणसे मैं अस्थिर सन्धि विग्रह विषयमें विलक्षण रीतिसे स्थिर नहीं हूं। (१५४—१५९)

यह सब सन्धि-विग्रह क्षण क्षणमें बादलकी तरह अनेक प्रकारके रूप

आसीन्मैत्री तु लावयोः यावद्धेतुरभूत्पुरा ॥ १६१ ॥
सा गता सह तेनैव कालयुक्तेन हेतुना ।
त्वं हि मे जातितः शत्रुः सामर्थ्यान्मित्रतां गतः ॥१६२॥
तत्कृत्यमभिनिर्वर्त्य प्रकृतिः शत्रुतां गता ।
सोऽहमेवं प्रणीतानि ज्ञात्वा शास्त्राणि तत्वतः ॥ १६३ ॥
प्रविशेयं कथं पाशं त्वत्कृते तद्वदस्व मे ।
त्वद्वीर्येण प्रमुक्तोऽहं मद्वीर्येण तथा भवान् ॥ १६४ ॥
अन्योन्यानुग्रहे वृत्ते नास्ति भूयः समागमः ।
त्वं हि सौम्य कृतार्थोऽद्य निवृत्तार्थास्तथा वयम् ॥१६५॥
न तेऽस्त्यद्य मया कृत्यं किञ्चिदन्यत्र भक्षणात् ।
अहमन्नं भवान् भोक्ता दुर्बलोऽहं भवान्बली ॥ १६६ ॥
नावयोर्विद्यते संधिर्वियुक्ते विषमे बले ।
स मन्येऽहं तव प्रज्ञां यन्मोक्षात्प्रत्यनन्तरम् ॥ १६७ ॥
भक्ष्यं प्रशंससे नूनं सुखोऽपायेन कर्मणा ।
भक्ष्यार्थं ह्यवबद्धस्त्वं स मुक्तः पीडितः क्षुधा ॥ १६८ ॥

धारण करते हैं; तुम आज ही मेरे शत्रु थे, अभी हमारे मित्र हुए। फिर आज ही मेरे शत्रु हुए हो; इससे सब योगों की कैसी चपलता है, उसे देखो। पहिले जबतक कारण था, तबतक हम लोगोंकी मित्रता थी, इस समय यह मित्रता चली गयी है, वह कालके अनुसार दूसरे किसी कारणसे नहीं हो सकती। तुम स्वाभाविक ही मेरे शत्रु हो परन्तु दूसरे वैरीसे मेरी रक्षा करनेकी सामर्थके कारण मित्र हुए थे, उस मित्रताका कार्य निवृत्त हुआ है। १६०–१६३

अब स्वभावने शत्रुभाव धारण किया है, इससे मैं प्राचीन पुरुषोंके बनाये हुए शास्त्रोंको जानके किस प्रकार तुम्हारे कृतपाशमें प्रवेश करूं ? मैं तुम्हारे बल-वीर्यके सहारे विपदसे मुक्त हुआ हूं, तुम भी मेरी सामर्थके प्रभावसे विपदसे पार हुए हो; इससे जब आपसका अनुग्रह निवृत्त हुआ है, तब फिर समागम नहीं होसकता। हे प्रियदर्शन ! इस समय तुम कृतार्थ हुए हो, मेरा भी प्रयोजन सिद्ध हुआ है, इससे मुझे भक्षण करनेके अतिरिक्त आज तुम्हारा मेरे सङ्ग कुछ भी कार्य नहीं है। मैं भक्ष्य हूं, तुम भोक्ता हो, मैं निर्बल और तुम बलवान हो; ऐसे असदृश सम्बन्धके स्थानमें हम दोनोंकी सन्धि

शास्त्रजां मतिमास्थाय नूनं भक्षयिताऽद्य माम् ।
जानामि क्षुधितं तु त्वामाहारसमयश्च ते ॥ १६९ ॥
स त्वं मामभिसंधाय भक्ष्यं मृगयसे पुनः ।
त्वं चापि पुत्रदारस्थो यत्संधिं सृजसे मयि ॥ १७० ॥
शुश्रूषां यतसे कर्तुं सखे मम न तत्क्षमम् ।
त्वया मां सहितं दृष्ट्वा प्रिया भार्या सुताश्च ते ॥१७१॥
कस्मात्ते मां न खादेयुर्हृष्टाः प्रणयिनस्त्वयि ।
नाहं त्वया समेष्यामि वृत्तो हेतुः समागमे ॥ १७२ ॥
शिवं ध्यायस्व मे स्वस्थः सुकृतं स्मरसे यदि ।
शत्रोरन्नार्यभूतस्य क्लिष्टस्य क्षुधितस्य च ॥ १७३ ॥
भक्ष्यं मृगयमाणस्य कः प्राज्ञो विषयं व्रजेत् ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि दूरादपि तवोद्विजे ॥१७४॥
विश्वस्तं वा प्रमत्तं वा एतदेव कृतं भवेत् ।

नहीं होसकती । (१६४-१६७)

इस समय में तुम्हारे बुद्धि-कौशल विषयमें ऐसा ही मालूम करता हूं कि आपदसे छूटके अब तुम अनायास कर्म के जरिये भक्ष्य-लाभकी इच्छा करते हो, तुम भक्ष्यके वास्ते ही बन्धे थे, और क्षुधासे पीडित होनेपर मेरे सहारे मुक्त हुए हो । इस समय शास्त्र-सिद्ध बुद्धि अवलम्बन करके मुझे भक्षण करना, मैं तुम्हें भूखा समझता हूं और तुम्हारे भोजनका समयभी उपस्थित हुआ है । इससे तुम मुझे ही लक्ष्य करके भक्ष्य खोज रहे हो । मित्र ! तुम स्त्री-पुत्रोंके बीचमें रहके भी जब मेरे साथ सन्धि करके सेवा करनेमें यत्नवान होरहे हो; तब मैं उसमें सम्मत होनेमें समर्थ नहीं हूं । तुम्हारी प्रियभार्या और प्रणयीपुत्र तुम्हारे सङ्ग मुझे स्थित देखके भक्षण करनेमें क्यों विरत होंगे ? समागमका कारण समाप्त हुआ है, इससे अब मैं फिर तुम्हारे साथ न मिलूंगा; यदि तुम कृतज्ञ हो तो मेरी कल्याणकी चिन्ता करो। जो असत् शत्रु क्लेश युक्त, भूखा और अपना भक्षक है, कौन बुद्धिमान पुरुष उसके अधिकारमें जावेगा ? तुम्हारा कल्याण होवे, मैं जाता हूं । मैं तुमसे दूर रहके भी व्याकुल होता हूं । तू विश्वस्त हो वा मत्त हो मैं ऐसा ही करूंगा, बल-वानोंसे मिलना हानिकारक होता है । हे लोमश ! इससे मैं तुम्हारे साथ न मिल सकूंगा, तुम निवृत्त रहो । और यदि तुम कृतज्ञ होनेकी अभिलाष करते

बलवत्संनिकर्षो हि न कदाचित्प्रशस्यते ॥ १७५ ॥
नाहं त्वया समेष्यामि निवृत्तो भव लोमश ।
यदि त्वं सुकृतं वेत्सि तत्सख्यमनुसारय ॥ १७६ ॥
प्रशान्तादपि मे पापात् भेतव्यं बलिनः सदा ।
यदि स्वार्थं न ते कार्यं ब्रूहि किं करवाणि ते ॥१७७ ॥
कामं सर्वं प्रदास्यामि न त्वाऽऽत्मानं कदाचन ।
आत्मार्थे संततिस्त्याज्या राज्यं रत्नं धनानि च ॥१७८ ॥
अपि सर्वं स्वमुत्सृज्य रक्षेदात्मानमात्मना ।
ऐश्वर्यधनरत्नानां प्रत्यमित्रे निवर्तताम् ॥ १७९ ॥
दृष्टा हि पुनरावृत्तिर्जीवतामिति नः श्रुतम् ।
न त्वात्मनः संप्रदानं धनरत्नवदिष्यते ॥ १८० ॥
आत्मा हि सर्वदा रक्ष्यो दारैरपि धनैरपि ।
आत्मरक्षणतन्त्राणां सुपरीक्षितकारिणाम् ॥ १८१ ॥
आपदो नोपपद्यन्ते पुरुषाणां स्वदोषजाः ।

हो, तो बन्धुत्वका स्मरण करो। मेरे विश्वस्त तथा असावधान रहनेपर कभी मेरा अनुसरण न करना, ऐसा होनेसे ही सौहृद्यरक्षा हुई। (१६७–१७५)

निर्बल पुरुषको बलवानके साथ संबन्ध रखना कभी उत्तम नहीं है, भयका कारण शेष होनेपर भी निर्बल पुरुषको बलवानके समीप सदा भय करना उचित है। यदि तुम्हारा दूसरा कुछ प्रयोजन हो तो कहो क्या करूं ? मैं तुम्हारी अभिलषित सब वस्तुओंको ही प्रदान कर सकता हूं। परन्तु आत्म प्रदान नहीं कर सकता; अपने वास्ते पुत्र, कन्या, धन, रत्न और राज्य पर्यन्त परित्याग किया जासकता है, इससे सर्वस्व परित्याग करके भी स्वयं अपन रक्षा करे। अपनी रक्षाके वास्ते जो धन रत्न आदि ऐश्वर्य शत्रुके हाथमें समर्पण किया जाता है, जीवित रहने पर वह सब फिर निज हस्तगत हो सकता है; आत्म-प्रदान करनेसे धन रत्नोंकी तरह वह फिर नहीं लौटता; इससे आत्म प्रदान किसीको भी इष्ट नहीं है, यह मैंने जन-समाजमें सुना है, इससे तुम यह सब आलोचना करके इस अध्यवसायसे निवृत्त हो जाओ। (१७५–१८०)

भार्या और धन आदिसे सदा आत्मा की रक्षा करनी उचित है, जो सब पुरुष आत्म-रक्षामें तत्पर होकर विचार-पूर्वक कार्य करते हैं। उन्हें निज दोष जनित

शत्रुं सम्यग्विजानन्ति दुर्बला ये बलीयसम् ॥१८२॥
न तेषां चाल्यते बुद्धिः शास्त्रार्थकृतनिश्चया।
इत्यभिव्यक्तमेवं स पलितेनाभिभर्त्सितः ॥ १८३ ॥
मार्जारो व्रीडितो भूत्वा मूषिकं वाक्यमब्रवीत् ॥१८४॥

लोमश उवाच-- सत्यं शपे त्वयाऽहं वै मित्रद्रोहो विगर्हितः।
तन्मन्येऽहं तव प्रज्ञां यस्त्वं मम हिते रतः ॥ १८५ ॥
उक्तवानर्थतत्त्वेन मया संभिन्नदर्शनः।
न तु मामन्यथा साधो त्वं ग्रहीतुमिहार्हसि ॥ १८६ ॥
प्राणप्रदानजं त्वत्तो मयि सौहृदमागतम्।
धर्मज्ञोऽस्मि गुणज्ञोऽस्मि कृतज्ञोऽस्मि विशेषतः ॥१८७॥
मित्रेषु वत्सलश्चास्मि त्वद्भक्तश्च विशेषतः।
तस्मादेवं पुनः साधो मय्याचरितुमर्हसि ॥ १८८ ॥
त्वया हि वाच्यमानोऽहं जह्यां प्राणान्सबान्धवः।
विश्रम्भो हि बुधैर्दृष्टो मद्विधेषु मनस्विषु ॥ १८९ ॥
तदेतद्धर्मतत्त्वज्ञ न त्वं शङ्कितुमर्हसि।

आपदकी सम्भावना नहीं होती। जो स्वयं निर्बल होनेपर भी शत्रुको भली भांति बलवान रूपसे मालूम करते हैं, उनकी शास्त्रदर्शिनी स्थिर बुद्धि कभी विचलित नहीं होती। पलित चूहाने जब मार्जारकी इस प्रकार विस्पष्ट निन्दा की तब वह लज्जित होकर चूहेसे कहने लगा। (१८१—१८४)

लोमश बोला, हे मित्र! मैं तुम्हारे साथ सत्य शपथ करता हूं, कि मित्रके संग अनिष्ट आचरण करना अत्यन्त निन्दित कर्म है, यह मैं जानता हूं;इससे तुम मेरे हितकारी और तुम्हारी बुद्धि भी वैसी ही है, यह भी मुझे अविदित नहीं है, तुमने अर्थ शास्त्रकी आलोचनाके जरिये भिन्न भाव देखके जो कुछ कहा है, उसके अनुसार मुझे दूसरी तरह मालूम करना तुम्हें उचित नहीं है। तुमने मेरा प्राणदान किया है, इस ही कारण मुझसे तुम्हारी सुहृदता हुई है। मैं धर्मज्ञ, गुणज्ञ, कृतज्ञ और मित्रवत्सल हूं; विशेष करके तुमपर अनुरक्त हुआ हूं; इससे मेरे साथ फिर तुम्हें ऐसा आचरण करना उचित नहीं है, तुह्मारी आज्ञा होनेसे मैं बान्धवोंके सहित प्राण-परित्याग कर सकता हूं, धीर लोग मेरे समान मनस्वी पुरुषका विश्वास किया करते हैं। (१८५-१८९)

इति संस्तूयमानोऽपि मार्जारेण स मूषिकः ॥ १९० ॥
मनसा भावगम्भीरो मार्जारं वाक्यमब्रवीत् ।
साधुर्भवान् श्रुतार्थोऽस्मि प्रीये च न च विश्वसे ॥१९१॥
संस्तवैर्वा धनौघैर्वा नाहं शक्यः पुनस्त्वया ।
न ह्यमित्रे वशं यान्ति प्राज्ञा निष्कारणं सखे ॥१९२॥
अस्मिन्नर्थे च गाथे द्वे निबोधोशनसा कृते ।
शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा सन्धिं बलीयसा ॥१९३ ॥
समाहितश्चरेद्युक्त्या कृतार्थश्च न विश्वसेत् ।
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ॥ १९४ ॥
नित्यं विश्वासयेदन्यान्परेषां तु न विश्वसेत् ।
तस्मात्सर्वास्ववस्थासु रक्षेज्जीवितमात्मनः ॥ १९५ ॥
द्रव्याणि संततिश्चैव सर्वं भवति जीवतः ।
संक्षेपो नीतिशास्त्राणामविश्वासः परो मतः ॥१९६ ॥
नृषु तस्मादविश्वासः पुष्कलं हितमात्मनः ।
वध्यन्ते न ह्यविश्वस्ताः शत्रुभिर्दुर्बला अपि ॥ १९७॥

इससे हे धर्मतत्वके जाननेवाले! मेरे विषयमें तुम्हें शङ्का करनी उचित नहीं है। चूहेने बिडालसे इस प्रकार प्रशंसित होकर उसे मानसिक भावसे पूरित गम्भीर वचनसे कहा, हे मित्र! तुम साधु हो, तुह्मारे वचनका मर्म जानके मैं प्रसन्न हुआ, परन्तु इस समय मैं तुह्मारा फिर विश्वास नहीं कर सकता; तुम प्रशंसा वा धन बलसे फिर मुझे वशीभूत न कर सकोगे; क्योंकि विज्ञ पुरुष विना कारण शत्रुके वशमें नहीं होते; इस विषयमें शुक्राचार्यने जो दो गाथा कही हैं, उसे सुनो! बलवान पुरुष शत्रु साधारण कार्यमें सन्धि करके युक्तिके सहित सावधान रहे और कृतकार्य होनेपर भी शत्रुका विश्वास न करे, अविश्वासी पुरुषका विश्वास न करे और विश्वासपात्रका भी अत्यन्त विश्वास करना उचित नहीं है। १९१-१९५

स्वयं सदा दूसरेका विश्वासपात्र होवे, परन्तु दूसरेका विश्वास न करे, इससे सब अवस्थामें ही अपने जीवनकी रक्षा करनी उचित है। जीवित रहनेपर द्रव्यसामग्री, सन्तान-सन्तति सब हुआ करती है और अविश्वास ही परम श्रेष्ठ है, यही समस्त नीति शास्त्रोंका संक्षिप्त उपदेश है। इससे मनुष्य मात्रका अविश्वास करना अपना अत्यन्त हितकर

विश्वस्तास्तेषु बध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः।
त्वद्विधेभ्यो मया ह्यात्मा रक्ष्यो मार्जार सर्वदा ॥१९८॥
रक्ष त्वमपि चात्मानं चाण्डालाज्जालिकिल्बिषात्।
स तस्य ब्रुवतस्त्वेवं संत्रासाज्जातसाध्वसः ॥ १९९ ॥
शाखां हित्वा जवेनाशु मार्जारः प्रययौ ततः।
ततः शास्त्रार्थतत्त्वज्ञो बुद्धिसामर्थ्यमात्मनः ॥ २०० ॥
विश्राव्य पलितः प्राज्ञो बिलमन्यज्जगाम ह।
एवं प्रज्ञावता बुद्ध्या दुर्बलेन महाबलाः ॥ २०१ ॥
एकेन बहवोऽमित्राः पलितेनाभिसंधिताः।
अरिणापि समर्थेन संधिं कुर्वीत पण्डितः ॥ २०२ ॥
मूषिकश्च विडालश्च मुक्तावन्योन्यसंश्रयात्।
इत्येवं क्षत्रधर्मस्य मया मार्गेषु दर्शितः ॥ २०३ ॥
विस्तरेण महाराज संक्षेपमपि मे शृणु।
अन्योन्यकृतवैरौ तु चक्रतुः प्रीतिमुत्तमाम् ॥ २०४ ॥
अन्योन्यमभिसंधातुं संबभूव तयोर्मतिः।

विषय है। मनुष्य यदि निर्बल होके भी किसीका विश्वास न करे तो वे शत्रुओंके वशमें न होवें और यदि मनुष्य बलवान होके भी शत्रुका विश्वास करे, तो उस का वध्य हुआ करता है। हे बिडाल! इससे तुम मेरी जातिके शत्रु हो, तब तुमसे आत्मरक्षा करनी मुझे सदा उचित है, तुम भी निज शत्रु, पापी जाति चाण्डालसे अपनी रक्षा करो। १९८-१९९

बिडाल चूहेका ऐसा वचन सुनके चाण्डालके भयसे डरके वृक्षकी शाखा त्यागके शीघ्रताके सहित वहांसे भाग गया और शास्त्रतत्त्व जाननेवाला बुद्धिमान चूहा निज बुद्धि सामर्थ प्रदर्शित करके अपने बिलके भीतर प्रविष्ट हुआ। हे महाराज! इसी तरह बुद्धिमान चूहेने निर्बल होनेपर भी अकेले बुद्धिबलसे अनेक शत्रुओंके निकटसे मुक्ति लाभ की थी। बुद्धिमान पुरुषको अपेक्षाकृत प्रबल वैरीके साथ सन्धि करनी योग्य है। चूहा और बिडाल इसी प्रकार सन्धिबलसे आपसके संश्रयसे छूटे थे। हे महाराज! इसी भांति विस्तारपूर्वक मैंने क्षत्रधर्मका मार्ग दिखाया है, अब उसे संक्षेपसे कहता हूं, सुनो। जो एक बार वैर उत्पन्न करके फिर आपसमें प्रीति स्थापित करनेकी इच्छा करता है, परस्परमें प्रतारणा करना ही उसका मानसिक उ-

तत्र प्राज्ञोऽभिसंधत्ते सम्यग्बुद्धिसमाश्रयात् ॥ २०५॥
अभिसंधीयते प्राज्ञः प्रमादादपि वा बुधैः ।
तस्माद्भीतवद्भीतो विश्वस्तवदविश्वसन् ॥ २०६ ॥
न ह्यप्रमत्तश्चलति चलितो वा विनश्यति ।
कालेन रिपुणा संधिः काले मित्रेण विग्रहः ॥ २०७ ॥
कार्य इत्येव संधिज्ञाः प्राहुर्नित्यं नराधिप ।
एतज्ज्ञात्वा महाराज शास्त्रार्थमभिगम्य च ॥ २०८ ॥
अभियुक्तः प्रसन्नश्च प्राग्भयाद्भीतवच्चरेत् ।
भीतवत्संनिधिः कार्यः प्रतिसंधिस्तथैव च ॥ २०९ ॥
भयादुत्पद्यते बुद्धिरप्रमत्ताभियोगतः ।
न भयं विद्यते राजन् भीतस्यानागते भये ॥ २१० ॥
अभीतस्य च विश्रम्भात् सुमहज्जायते भयम् ।
अभीश्चरति यो नित्यं मन्त्रो देयः कथंचन ॥ २११ ॥
अविज्ञानाद्धि विज्ञातो गच्छेदास्पददर्शिषु ।

देश है। उसमेंसे अपेक्षाकृत बुद्धिमान पुरुष निज बुद्धि कौशलसे दूसरेको ठगनेमें समर्थ होता है। और निर्बुद्धि पुरुष निज असावधानता दोषसे प्रतारित हुआ करते हैं। इससे भयभीत होनेपर भी निडरकी तरह और दूसरेके विषयमें अविश्वास रहने पर भी विश्वासीकी तरह व्यवहार करना उचित है। जो पुरुष इस तरह सावधान रहता है, वह कभी विचलित नहीं होता और होनेपर भी विनष्ट नहीं होता॥ (१९९—२०७)

महाराज ! उचित समय उपस्थित होनेपर शत्रुके साथ सन्धि करे, और समयके अनुसार मित्रके साथ भी विग्रह करनेमें प्रवृत्त होवे, सन्धिविग्रहके जाननेवाले पण्डितोंके जरिये ऐसाही सिद्धान्त कर्तव्य कहके वर्णित हुआ है। हे महाराज ! ऐसा ही जानके शास्त्रके अर्थको मालूम करके भयका कारण उपस्थित होनेके पहिलेही स्थिर और सावधान होकर भयभीतकी तरह निवास करे। और भय उपस्थित होनेके पहिले भययुक्त व्यवहार तथा शत्रुके साथ अवश्य सन्धि करनी चाहिये; भयसे सावधान बुद्धि उत्पन्न हुआ करती है। हे महाराज ! जो लोग भयका कारण उपस्थित न होते ही भीत होते हैं उन्हें कभी भय उत्पन्न नहीं होता; और जो निर्भयचित्तसे सबका विश्वास करते हैं, उन्हें सदा ही भय उपस्थित हुआ करता

तस्माद्भीतवद्भीतो विश्वस्तो बहु विश्वसन् ॥ २१२ ॥
कार्याणां गुरुतां प्राप्य नानृतं किञ्चिदाचरेत्।
एवमेतन्मया प्रोक्तमितिहासं युधिष्ठिर ॥ २१३ ॥
श्रुत्वा त्वं सुहृदां मध्ये यथावत्समुपाचर।
उपलभ्य मतिं चाग्र्यामरिमित्रान्तरं तथा ॥ २१४ ॥
संधिविग्रहकाले च मोक्षोपायस्तथैव च।
शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा संधिं बलीयसा ॥ २१५ ॥
समागमे चरेद्युक्त्या कृतार्थो न च विश्वसेत्।
अविरुद्धां त्रिवर्गेण नीतिमेतां महीपते ॥ २१६ ॥
अभ्युत्तिष्ठ श्रुतादस्माद्भूयः संरक्षयन्प्रजाः।
ब्राह्मणैश्चापि ते सार्धं यात्रा भवतु पाण्डव॥ २१७ ॥
ब्राह्मणा वै परं श्रेयो दिवि चेह च भारत।
एते धर्मस्य वेत्तारः कृतज्ञाः सततं प्रभो ॥ २१८ ॥
पूजिताः शुभकर्तारः पूजयेत्तान्नराधिप।

है॥ (२०८—२११)

एकबारगी भीत न होवे- ऐसी सलाह देनी किसी तरह योग्य नहीं है, भयभीत पुरुष अपनेको अविज्ञ समझके सदा बहुदर्शी पण्डितोंके निकट गमन किया करता है; इससे बुद्धिमान पुरुष भीत होके निर्भयकी तरह निवास और अविश्वासी लोगोंके समीप विश्वास प्रदर्शित करके सब कार्योंकी गूढता मालूम करके भी लोगोंके समीप मिथ्या व्यवहार न करे। हे युधिष्ठिर! मैंने नीतिशास्त्रके सार मर्मको वर्णन करनेके उद्देश्यसे इस मर्जार-मूषिकके इतिहासको कहा है, तुम इसे हृदयङ्गम करके शत्रु और मित्रोंके बीच सन्धि विग्रह स्थापन करनेके विधानकी व्यवस्था करो और इस विषयको सुनके बुद्धि शुद्ध करके सन्धि—विग्रहके समय शत्रु मित्रोंके मानसिक भावको अवरोध करके आपदकालमें मुक्तिके उपायको मालूम करो। शत्रुके साधारण कार्यमें निर्बल पुरुष अपेक्षानुसार बलवान शत्रुके साथ सन्धि करके उसके साथ फिर समागम होनेपर युक्तिके अनुसार व्यवहार करे और कृतकार्य होके भी उसका विश्वास न करे। महाराज! यह नीतिकाण्ड धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्गसे युक्त है; इससे इसे सुनके फिर प्रजा पालन करते हुए तुम अभ्युदय लाभ करोगे। २११-२१७

हे पाण्डुनन्दन! तुम ब्राह्मणोंके स-

राज्यं श्रेयः परं राजन् यशः कीर्तिं च लप्स्यसे॥२१९॥
कुलस्य संततिं चैव यथान्यायं यथाक्रमम् ॥ २२० ॥
द्वयोरिमं भारत संधिविग्रहं सुभाषितं बुद्धिविशेषकारकम्।
यथा त्ववेक्ष्य क्षितिपेन सर्वदा निषेवितव्यं नृप शत्रुमण्डले॥२२१॥ [५०८१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि मार्जार-मूषिक संवादे अष्टत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१३८॥

युधिष्ठिर उवाच— उक्तो मन्त्रो महाबाहो विश्वासो नास्ति शत्रुषु।
कथं हि राजा वर्तेत यदि सर्वत्र नाश्वसेत् ॥ १ ॥
विश्वासाद्धि परं राजन् राज्ञामुत्पद्यते भयम्।
कथं हि नाश्वसन् राजा शत्रून् जयति पार्थिवः॥ २ ॥
एतन्मे संशयं छिन्धि मतिर्मे संप्रमुह्यति।
अविश्वासकथामेतामुपश्रुत्य पितामह ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच— शृणुष्व राजन् यद्वृत्तं ब्रह्मदत्तनिवेशने।

हित निज राजधानीमें गमन करो, ब्राह्मण लोगही इस लोक और स्वर्ग लोकमें परम कल्याण साधन किया करते हैं। हे महाराज! ये लोगही धर्मवेत्ता और अत्यन्त कृतज्ञ हैं, ये लोग पूजित होनेसे परम कल्याणका विधान करते हैं, इससे इनकी पूजा करनी उचित है। हे राजन्! तुम न्यायके अनुसार यथा रीतिसे राज्य, परम कल्याण, यश, कीर्ति और वंशकी वृद्धि करनेवाली सन्तान लाभ करोगे। हे भरत कुलप्रदीप! उक्त मार्जार-मूषिकके सन्धिविग्रह-विषयक बुद्धिको श्रेष्ठ करनेवाले सुन्दर वचनको यथार्थ रूपसे हृदयङ्गम करके राजाको शत्रु मण्डलीके बीच निवास करना उचित है। (२१७-२२१)[५०८१]

शान्तिपर्वमें १३८ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १३९ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे महाबाहो! शत्रुओंके बीच विश्वास करना उचित नहीं है;आपने ऐसी ही मन्त्रणा प्रदान की है; यदि किसीकाभी विश्वास करना उचित न हुआ, तो राजा किस उपायको अवलम्बन करके निवास करेगा? हे पितामह! विश्वासके कारणसे ही राजाओंको अत्यन्त भय उत्पन्न होता है, इससे राजा लोग किसी पुरुषका विश्वास न करनेसे किस प्रकार शत्रुओंको जय करनेमें समर्थ होंगे। इस अविश्वासकी कथा सुनकर मेरा मन अत्यन्त मोहित हो रहा है;इससे आप मेरे इस सन्देहको नष्ट कीजिये। (१—३)

पूजन्या सह संवादं ब्रह्मदत्तस्य भूपतेः ॥ ४ ॥
काम्पिल्ये ब्रह्मदत्तस्य त्वन्तःपुरनिवासिनी ।
पूजनी नाम शकुनिर्दीर्घकालं सहोषिता ॥ ५ ॥
रुतज्ञा सर्वभूतानां यथा वै जीवजीवकः ।
सर्वज्ञा सर्वतत्त्वज्ञा तिर्यग्योनिं गताऽपि सा ॥ ६ ॥
अभिप्रजाता सा तत्र पुत्रमेकं सुवर्चसम् ।
समकालं च राज्ञोऽपि देव्यां पुत्रो व्यजायत ॥ ७ ॥
तयोरर्थे कृतज्ञा सा खेचरी पूजनी सदा ।
समुद्रतीरं सा गत्वा आजहार फलद्वयम् ॥ ८ ॥
पुष्ट्यर्थं च स्वपुत्रस्य राजपुत्रस्य चैव ह ।
फलमेकं सुतायादाद्राजपुत्राय चापरम् ॥ ९ ॥
अमृतास्वादसदृशं बलतेजोभिवर्धनम् ।
आदायादाय सैवाशु तयोः प्रादात्पुनः पुनः ॥ १० ॥
ततोऽगच्छत्परां वृद्धिं राजपुत्रः फलाशनात् ।
ततः स धात्र्या कक्षेण उह्यमानो नृपात्मजः ॥ ११ ॥
ददर्श तं पक्षिसुतं बाल्यादागत्य बालकः ।
ततो बाल्याच्च यत्नेन तेनाक्रीडत पक्षिणा ॥ १२ ॥

भीष्म बोले, ब्रह्मदत्त राजाके मन्दिरमें पूजनीके साथ उनका जो वार्तालाप हुआ था। उस सम्वादको सुनो। ब्रह्मदत्त राजाके अन्तःपुरमें रहनेवाली एक पूजनी नाम चिडिया बहुत दिनोंसे उनके सङ्ग वास करती थी। यह जीवजीवक पक्षीकी तरह सब जीवोंकी बोली समझ सकती थी और तिर्यग्-योनिमें उत्पन्न होके भी सर्वज्ञ तथा सब तत्वोंको जाननेवाली थी। पूजनीने उस राजमन्दिरमें एक सुन्दर पुत्र प्रसव किया, उस ही समय राजाके भी राज-महिषीके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह कृतज्ञ चिडिया उन दोनोंके वास्ते किसी समय समुद्रके किनारे गमन करके दो फल लाकर निज पुत्र और राजपुत्रकी पुष्टिके निमित्त दोनोंको एक एक फल दिया करती थी। (४—९)

इसी तरह वह वैसे अमृत स्वादके समान बल और तेजको बढानेवाले, उन दोनों फलोंको बार बार लाके उन बालकोंको देने लगी, राजपुत्र उस फलके खानेसे अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट हुआ। एक समय वह बालक राजपुत्र दासीकी गो-

शून्ये च तमुपादाय पक्षिणं समजातकम् ।
हत्वा ततः स राजेन्द्र धात्र्या हस्तमुपागतः ॥ १३ ॥
अथ सा पूजनी राजन्नागमत्फलहारिणी ।
अपश्यन्निहतं पुत्रं तेन बालेन भूतले ॥ १४ ॥
बाष्पपूर्णमुखी दीना दृष्ट्वा तं रुदती सुतम् ।
पूजनी दुःखसंतप्ता रुदती वाक्यमब्रवीत् ॥ १५ ॥
क्षत्रिये संगतं नास्ति न प्रीतिर्न च सौहृदम् ।
कारणात्सांत्वयन्त्येते कृतार्थाः संत्यजन्ति च ॥ १६ ॥
क्षत्रियेषु न विश्वासः कार्यः सर्वापकारिषु ।
अपकृत्यापि सततं सांत्वयन्ति निरर्थकम् ॥ १७ ॥
अहमस्य करोम्यद्य सदृशीं वैरयातनाम् ।
कृतघ्नस्य नृशंसस्य भृशं विश्वासघातिनः ॥ १८ ॥
सहसंजातवृद्धस्य तथैव सहभोजिनः ।
शरणागतस्य च वधस्त्रिविधं ह्येव पातकम् ॥ १९ ॥
इत्युक्त्वा चरणाभ्यां तु नेत्रे नृपसुतस्य सा ।
भित्त्वा स्वस्था तत इदं पूजनी वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

दमें चढके पक्षीके बच्चेके समीप आके उसे देखा, अनन्तर राजकुमार बाल्य-स्वभावके कारण यत्नपूर्वक उस पक्षीके बच्चेके साथ खेलने लगा। हे राजेन्द्र ! अनन्तर राजपुत्रने उस समजात बच्चेको ऊपर उठाके उसे मारकर दासीके समीप चला गया। हे राजन् ! अनन्तर वह पूजनी फल लेके आई और अपने बच्चे-को राजपुत्रके जरिये मरा हुआ पृथ्वीपर पडा देखा। (१०—१४)

पूजनी बच्चेको मरा देखके, मन म-लिन, दीन और दुःखसे सन्तापित हो-कर रोती हुई बोली, कि क्षत्रियके साथ सहवास, प्रीति वा सुहृदता न करनी चाहिये, ये लोग प्रयोजनके कारण पुरु-षको सान्त्वन करते और कृतकार्य होने-पर उसे परित्याग किया करते हैं, सब-की बुराई करनेवाले क्षत्रियोंके विषयमें विश्वास करना उचित नहीं है; ये लोग सदा अपकार करके भी निरर्थक सान्त्व-ना करते हैं; इससे आज मैं इस विश्वा-सघाती नृशंस और कृतघ्न क्षत्रिय बाल-कसे यथा उचित वैरका पलटा लूंगी; साथमें उत्पन्न होके बढे हुए, साथमें भोजन करनेवाले और शरणागत पुरु-षका वध करनेसे इसे तीन तरहका पाप

इच्छयेह कृतं पापं तमेवस्तं चोपसर्पति ।
कृतं प्रतिकृतं येषां न नश्यति शुभाशुभम् ॥ २१ ॥
पापं कर्म कृतं किंचिद्यदि तस्मिन्न दृश्यते ।
नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु ॥ २२ ॥
ब्रह्मदत्तः सुतं दृष्ट्वा पूजन्या हृतलोचनम् ।
कृते प्रतिकृतं मत्वा पूजनीमिदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

ब्रह्मदत्त उवाच— अस्ति वै कृतमस्माभिरस्ति प्रतिकृतं त्वया ।
उभयं तत्समीभूतं वस पूजनि मा गमः ॥ २४ ॥

पूजन्युवाच— सकृत्कृतापराधस्य तत्रैव परिलम्बतः ।
न तद् बुधाः प्रशंसन्ति श्रेयस्तत्रापसर्पणम् ॥ २५ ॥
सान्त्वे प्रयुक्ते सततं कृतवैरे न विश्वसेत् ।
क्षिप्रं स वध्यते मूढो न हि वैरं प्रशाम्यति ॥ २६ ॥
अन्योन्यकृतवैराणां पुत्रपौत्रं नियच्छति ।

हुआ है। (१५—१९)

पूजनी ऐसा वचन कहके चंगुलसे राजपुत्रके दोनों नेत्रोंको निकालके आकाशको उडके यह वचन बोली, इस संसारमें जो पुरुष इच्छापूर्वक पापकर्म करता है, वह पाप उस ही समय उस पाप करनेवालेको स्पर्श किया करता है। जिसका प्रतिकार किया जाता है, उसके शुभाशुभ फल नष्ट नहीं होते। महाराज! यद्यपि गृहस्वामीका किया हुआ कुछभी पापकर्म न दीख पडे, तौभी उसके पुत्र पौत्र आदिकोंमें वह पापकर्मका फल दीख पडता है। (२०-२२)

ब्रह्मदत्त निज पुत्रको पूजनीके जरिये अन्धा होते देखकर उसके किये हुए कार्यका प्रतिकार हुआ है, ऐसा समझके पूजनीसे कहने लगे। ब्रह्मदत्त बोले, हे पूजनी! मेरे पुत्रने जो किया, तुमने उसका पल्टा लिया है, इससे दोनोंके कार्य समान हुए हैं, इसलिये तुम मेरे गृहमें वास करो; यहांसे मत जाओ। (२३—२४)

पूजनी बोली, जिस पुरुषने जिस स्थानपर एक वेर अपराध किया है, पण्डित लोग उसके उस स्थानमें वास करनेकी प्रशंसा नहीं करते; उसका वहांसे भागनाही कल्याणकारी है; कृतवैर पुरुषके अत्यन्त शान्त्व वचन प्रयोग करनेपर भी उसका विश्वास करना उचित नहीं है; जो मूढ पुरुष उसका विश्वास करता है, वह शीघ्रही वध्य होता है और शत्रुभावकी भी एक ही समयमें

पुत्रपौत्रविनाशे च परलोकं नियच्छति ॥ २७ ॥
सर्वेषां कृतवैराणामविश्वासः सुखोदयः।
एकान्ततो न विश्वासः कार्यो विश्वासघातकैः॥ २८ ॥
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नमपि मूलं निकृन्तति।
कामं विश्वासयेदन्यान्परेषां च न विश्वसेत् ॥ २९ ॥
माता पिता बान्धवानां वरिष्ठौ भार्या जरा बीजमात्रं तु पुत्रः।
भ्राता शत्रुः क्लिन्नपाणिर्वयस्य आत्मा ह्येकः सुखदुःखस्य भोक्ता॥३०॥
अन्योन्यकृतवैराणां न संधिरुपपद्यते।
स च हेतुरतिक्रान्तो यदर्थमहमावसम् ॥ ३१ ॥
पूजितस्यार्थमानाभ्यां जन्तोः पूर्वापकारिणः।
मनो भवत्यविश्वस्तं कर्म त्रासयतेऽबलान् ॥ ३२ ॥
पूर्वं संमानना यत्र पश्चाच्चैव विमानना।
जह्यात्तत्सत्त्ववान्स्थानं शत्रोः संमानितोऽपि सन्॥३३॥

शान्ति नहीं होती। जिनमें आपसकी शत्रुता है, उन लोगोंके पुत्रपौत्र आदि सभी युद्ध-विग्रह आदिसे नष्ट होते हैं, पुत्रपौत्रोंके नाशसे परलोक भी नष्ट हो जाता है। वैर करनेवाले पुरुष मात्रका अविश्वास करना ही सुखोदयका कारण है; विश्वासघातक पुरुषोंके साथ एक-बारगी विश्वास करना उचित नहीं है॥ (२५-२८)

अविश्वासी पुरुषका विश्वास न करे और विश्वस्त पुरुषका अत्यन्त विश्वास करना भी योग्य नहीं है; क्यों कि वि-श्वाससे उत्पन्न हुआ भय विश्वासकी जडको काटता है, स्वयं दूसरेका विश्वास पात्र होवे, परन्तु दूसरेका विश्वास न करे। इस जगत्में पिता माता ही बा-न्धवोंके बीच वरिष्ठ हैं, भार्या जरा है, तथा पुत्र, भ्राता, मित्र आदि धन हरण करनेसे शत्रुपद वाच्य हुआ करते हैं; इस लिये अकेला आत्माही केवल सुख दुःखका भोगनेवाला है। जिन लोगोंमें एक वेर आपसमें वैर हुआ है, फिर उन लोगोंकी सन्धि सङ्घटित नहीं होती। मैं जिस लिये तुम्हारे गृहमें वास करती थी, वह कारण शेष हुआ है; पहिले किसी पुरुषकी बुराई करके फिर धनदान और सम्मान से उसे सम्मानित करने पर उसका मन कभी विश्वास युक्त नहीं होता; बलवान पुरुषोंका ऐसाही व्यवहार है, कि निर्बलों को भय भीत करते हैं। (२९-३२)

उषितास्मि तवागारे दीर्घकालं समर्चिता।
तदिदं वैरमुत्पन्नं सुखमाशु व्रजाम्यहम् ॥ ३४ ॥

ब्रह्मदत्त उवाच—यः कृते प्रतिकुर्याद्वै न स तत्रापराध्नुयात्।
अनृणस्तेन भवति वस पूजनि मा गमः ॥ ३५ ॥

पूजन्युवाच— न कृतस्य तु कर्तुश्च सख्यं संधीयते पुनः।
हृदयं तत्र जानाति कर्तुश्चैव कृतस्य च ॥ ३६ ॥

ब्रह्मदत्त उवाच- कृतस्य चैव कर्तुश्च सख्यं संधीयते पुनः।
वैरस्योपशमो दृष्टः पापं नोपाश्नुते पुनः ॥ ३७ ॥

पूजन्युवाच— नास्ति वैरमतिक्रान्तं सान्त्वितोऽस्मीति नाश्वसेत्।
विश्वासाद्बध्यते लोके तस्माच्छ्रेयोऽप्यदर्शनम् ॥३८॥
तरसा ये न शक्यन्ते शस्त्रैः सुनिशितैरपि।
साम्ना तेऽपि निगृह्यन्ते गजा इव करेणुभिः ॥ ३९ ॥

जिस स्थानमें पहिले सम्मान और पीछे अपमान होवे, बुद्धिमान पुरुष शत्रुसे सम्मानित होनेपर भी वैसे स्थानको परित्याग करे; मैंने बहुत समयसे सम्मानित होके आपके गृहमें वास किया, इस समय वैर भाव उत्पन्न हुआ; इसलिये मैं अनायास ही शीघ्रताके सहित इस स्थानसे गमन करूंगी। (३३-३४)

ब्रह्मदत्त बोले, हे पूजनी! जो लोग अपकारका प्रत्युपकार करते हैं, उसके लिये वे अपराधी नहीं होते, बल्कि उससे वे अऋणी हुआ करते हैं, इस लिये तुम इस ही स्थानमें वास करो, दूसरी जगह मत जाओ। (३५)

पूजनी बोली, अपकारक और प्रत्यपकारकमें फिर मित्रता वा सन्धि नहीं होती, इसे उन लोगोंका अन्तःकरण ही विशेष रूपसे जान सकता है। ब्रह्मदत्त बोले, अनेक स्थानोंमें अपकर्ता और प्रत्यपकर्त्ताका फिर मिलन हुआ करता है, तथा उनके शत्रुताकी शान्ति देखी गई है, दूसरी वार फिर अनिष्ट घटना भी नहीं हुई। (३६--३७)

पूजनी बोली, वैरकी कभी समाप्ति नहीं होती, शत्रुने मेरी सान्त्वना की है ऐसा समझके उसका विश्वास न करे; संसारमें विश्वासके कारण ही लोग मारे जाते हैं; इसलिये शत्रुके साथ भेंट न होनी ही कल्याणकारी है। उत्तम पानी चढे हुए शस्त्रके जरिये जिन लोगोंको जय नहीं किया जा सकता, उन्हें इस प्रकार सान्त्व वचनके जरिये वशमें करना उचित है, जैसे करेणुका समूह हाथियोंको वशीभूत करता है। ३८-३९

ब्रह्मदत्त उवाच- संवासाज्जायते स्नेहो जीवितान्तकरेष्वपि ।
अन्योऽन्यस्य च विश्वासः श्वपचेन शुनो यथा॥ ४० ॥
अन्योऽन्यकृतवैराणां संवासान्मृदुतां गतम् ।
नैव तिष्ठति तद्वैरं पुष्करस्थमिवोदकम् ॥ ४१ ॥

पूजन्युवाच- वैरं पञ्चसमुत्थानं तच्च बुध्यन्ति पण्डिताः ।
स्त्रीकृतं वास्तुजं वाग्जं ससापत्नापराधजम् ॥ ४२ ॥
तत्र दाता न हन्तव्यः क्षत्रियेण विशेषतः ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा बुध्वा दोषबलाबलम् ॥ ४३ ॥
कृतवैरे न विश्वासः कार्यस्त्विह सुहृद्यपि ।
छन्नं संतिष्ठते वैरं गूढोऽग्निरिव दारुषु ॥ ४४ ॥
न वित्तेन न पारुष्यैर्न च सांत्वेन वा श्रुतैः ।
कोपाग्निः शाम्यते राजंस्तोयाग्निरिव सागरे ॥ ४५ ॥
न हि वैराग्निरुद्भूतः कर्म चाप्यपराधजम् ।
शाम्यत्यदग्ध्वा नृपते विना ह्येकतरक्षयात् ॥ ४६ ॥

ब्रह्मदत्त बोले, चाण्डालके सङ्ग कुत्तोंकी तरह प्राणनाश करनेवाले पुरुषोंके निकट भी परस्परके सहवासके कारण प्रीति उत्पन्न होती है, और उस ही कारणसे आपसमें विश्वास उत्पन्न हुआ करता है। कृतवैर पुरुषोंका वैरीभाव परस्परके सहवासके कारण मृदुताको प्राप्त होकर पद्म-पत्र पर स्थित जलकी तरह स्थिर नहीं रहता। (४०-४१)

पूजनी बोली,वैर पांच तरहसे उत्पन्न होता है, इसे पण्डित लोग जानते हैं। पहिला कृष्ण और शिशुपालके विवादकी भांति स्त्रीके वास्ते, दूसरा कौरव और पाण्डवोंकी तरह वस्तुके लिये, तीसरा द्रुपद और द्रोणाचार्यकी भांति वचनके कारण, चौथा बिडाल और चूहेका स्वभावसिद्ध जाति वैर, पांचवा मेरे और आपके अपराधके कारण जो सङ्घटित हुआ है, यह अपराधज है। उसके बीच प्रकाश्य वा अप्रकाश्य भावसे दोषके बलाबलको विचारके दातव्य पुरुषको किसीका विशेष करके क्षत्रियका वध करना उचित नहीं है, मित्रके साथ शत्रुता होनेपर फिर उसका विश्वास न करे। काष्ठके बीच छिपी हुई अग्निकी तरह वैरभाव गूढ भावसे स्थित रहता है। (४२-४४)

हे राजन्! समुद्रमें रहनेवाली वाडवाग्निकी तरह वैराग्नि वित्त, कठोरता, सान्त्व वचन और शास्त्रके जरिये शान्त

सत्कृतस्यार्थमानाभ्यामनुपूर्वापकारिणः।
नादेयो मित्रविश्वासः कर्म त्रासयते बलात् ॥ ४७ ॥
नैवापकार्ये कस्मिंश्चिदहं त्वायि तथा भवान्।
उषिताऽस्मि गृहेऽहं ते नेदानीं विश्वसाम्यहम्॥ ४८ ॥
ब्रह्मदत्त उवाच— कालेन क्रियते कार्यं तथैव विविधाः क्रियाः।
कालेनैते प्रवर्तन्ते कः कस्येहापराध्यति ॥ ४९ ॥
तुल्यं चोभे प्रवर्तेते मरणं जन्म चैव ह।
कार्यते चैव कालेन तन्निमित्तं न जीवति ॥ ५० ॥
बध्यन्ते युगपत्केचिदेकैकस्य न चापरे।
कालो दहति भूतानि संप्राप्याग्निरिवेन्धनम् ॥ ५१ ॥
नाहं प्रमाणं नैव त्वमन्योऽन्यं कारणं शुभे।
कालो नित्यमुपादत्ते सुखं दुःखं च देहिनाम् ॥ ५२ ॥
एवं वसेह सस्नेहा यथाकाममहिंसिता।

नहीं होती। महाराज बढी हुई बैरकी अग्नि और अपराध-युक्त कर्म एक पक्षको जलाके नष्ट बिना किये शान्त नहीं होते। प्रथम अपकार करनेवाले पुरुषको धन और सम्मानके जरिये सत्कृत करके उस में मित्रकी तरह विश्वास स्थापित करना उचित नहीं है; क्योंकि उसके किये हुए कर्म ही बलपूर्वक भयभीत करते हैं। मैंने पहिले कभी आपको बुराई नहीं की थी, आपने भी पहिले कभी मेरी बुराई नहीं की थी, इस ही कारण मैंने आपके गृहमें निवास किया है; परन्तु इस समय अब मैं आपका विश्वास नहीं करती। ब्रह्मदत्त बोले, काल-वशसे कार्य सङ्घटित होते हैं, और कालके अनुसार अनेक क्रिया आरम्भ हुआ करती हैं इस लिये कौन पुरुष किसीके समीप अपराधी होगा? कालके वशमें सब जगत् है, हम दोनोंका कुछ दोष नहीं है। जन्म, मृत्यु दोनों ही समान रूपसे हुआ करती हैं; जीव कालके अनुसार जन्मता और कालवशसे ही मरता है। हर एक पुरुषोंके बीच कितने ही पुरुष एक ही समयमें वध्य होते हैं, दूसरे नहीं होते। जैसे अग्नि काष्ठ प्राप्त होनेसे ही भस्म करती है, वैसे ही काल सब जीवोंको जला रहा है। हे कल्याणि! तुम अथवा मैं हम दोनों ही परस्परके दुःखके कारण नहीं हैं, क्योंकि काल ही सदा देहधारियोंके सुख दुःखको हरण किया करता है। हे पूजनी! इससे जैसे तुम मेरे गृहमें रहती थी,

यत्कृतं तत्तु मे क्षान्तं त्वं च वै क्षम पूजनि ॥ ५३ ॥

पूजन्युवाच— यदि कालः प्रमाणं ते न वैरं कस्य चिद्भवेत्।
कस्मात्त्वपचितिं यान्ति बान्धवा बान्धवैर्हतैः ॥ ५४ ॥
कस्माद्देवासुराः पूर्वमन्योऽन्यमभिजघ्निरे।
यदि कालेन निर्याणं सुखं दुःखं भवाभवौ ॥ ५५ ॥
भिषजो भैषजं कर्तुं कस्मादिच्छन्ति रोगिणः।
यदि कालेन पच्यन्ते भेषजैः किं प्रयोजनम् ॥ ५६ ॥
प्रलापः सुमहान्कस्मात् क्रियते शोकमूर्छितैः।
यदि कालः प्रमाणं ते कस्माद्धर्मोऽस्ति कर्तृषु ॥ ५७ ॥
तव पुत्रो ममापत्यं हतवान्स हतो मया।
अनन्तरं त्वयाऽहं च हन्तव्या हि नराधिप ॥ ५८ ॥
अहं हि पुत्रशोकेन कृतपापा तवात्मजे।
यथा त्वया प्रहर्तव्यं तथा तत्त्वं च मे शृणु ॥ ५९ ॥

वैसे ही प्रीतिपूर्वक इच्छानुसार शंका-रहित चित्तसे वास करो; तुमने मेरी जो बुराई की है, उसे मैंने क्षमा किया और मुझसे तुम्हारा जो कुछ अपकार हुआ है, उसे तुम क्षमा करो। (४५-५३)

पूजनी बोली, हे राजन्! यदि आपके अभिप्रायके अनुसार काल ही सबका कारण होता, तो किसीके साथ कोई पुरुषकी शत्रुता न होती; बान्धवोंके मरने पर बन्धु लोग किस कारण दुःखको प्राप्त होते हैं? देवता और दानवोंने ही किस कारणसे पहिले आपसमें युद्ध किया था? यदि कालके अनुसार ही जन्म, मृत्यु, सुख, दुःख आदि होते हैं, तो वैद्य लोग रोगियोंके वास्ते क्यों औषधि तय्यार करनेमें प्रवृत्त होते हैं? यदि काल वशसे ही जीवोंकी मृत्यु होती, तो औषध प्रयोग करनेका क्या प्रयोजन था? शोकसे मूर्च्छित पुरुष ही किस कारण अत्यन्त प्रलाप वचन कहा करते हैं? यदि काल ही आपके मतमें प्रमाण हुआ तो कर्तृ-समूहके विषयमें धर्म विषयक विधि निषेध आदि निष्फल हो जावेंगे। (५४-५७)

हे नरनाथ! आपके पुत्रने मेरे सन्तानको नष्ट किया, इस ही कारण मैंने भी उसे घायल किया है, इस समय आप मुझे मारेंगे। मैंने पुत्र-शोकके वशमें होकर आपके आत्मजके साथ अनिष्ट आचरण किया है, आप भी जिस प्रकार मेरे ऊपर प्रहार करेंगे, उस विषयकी तत्त्व कथा कहती हूं, सुनो।

भक्षार्थं क्रीडनार्थं च नरा वाञ्छन्ति पक्षिणः ।
तृतीयो नास्ति संयोगो वधबन्धादृते क्षमः ॥ ६० ॥
वधबन्धभयादेते मोक्षतन्त्रमुपाश्रिताः ।
मरणोत्पातजं दुःखं प्राहुर्वेदविदो जनाः ॥ ६१ ॥
सर्वस्य दयिताः प्राणाः सर्वस्य दयिताः सुताः ।
दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम् ॥ ६२ ॥
दुःखं जरा ब्रह्मदत्त दुःखमर्थविपर्ययः ।
दुःखं चानिष्टसंवासो दुःखमिष्टवियोजनम् ॥ ६३ ॥
वधबन्धकृतं दुःखं स्त्रीकृतं सहजं तथा ।
दुःखं सुतेन सततं जनान्विपरिवर्तते ॥ ६४ ॥
न दुःखं परदुःखे वै केचिदाहुरबुद्धयः ।
यो दुःखं नाभिजानाति स जल्पति महाजने ॥ ६५ ॥
यस्तु शोचति दुःखार्तः स कथं वक्तुमुत्सहेत् ।
रसज्ञः सर्वदुःखस्य यथात्मनि तथाऽपरे ॥ ६६ ॥
यत्कृतं ते मया राजंस्त्वया च मम यत्कृतम् ।

मनुष्य लोग खेलवाड और भोजनके वास्ते पक्षियोंको ठगा करते हैं, उन लोगोंके वध और बन्धनके अतिरिक्त तीसरा कारण और कुछ भी नहीं है। पक्षि वृन्द भी वध और बन्धनके भयसे मुक्ति पथ आश्रय किया करते हैं। वेदके जाननेवाले श्रेष्ठ पुरुष मृत्यूत्पातजनित क्लेशको ही दुःख कहा करते हैं, प्राण और पुत्र सबको ही प्रिय है; और सब लोगही दुःखसे व्याकुल होते हैं, सुखमें सबकी ही अभिलाषा होती है। (५८-६२)

हे ब्रह्मदत्त ! दुःख अनेक तरहसे उत्पन्न हुआ करता है; बुढापा, अर्थ-विपर्यय, अनिष्ट सहवास, इष्ट-वियोग, वध, बन्धन, स्त्रीके कारण और सहज भेदसे दुःख अनेक प्रकारके हैं; उसके बीच पुत्रवियोग-जनित दुःख लोगोंको विशेष रूपसे परिवर्तित करता है। कोई कोई निर्बुद्धि लोग दूसरेके दुःखसे दुःखित नहीं होते। यह कहा करते हैं कि जिस पुरुषने कभी दुःख अनुभव नहीं किया है, वह महाजनोंके निकट इस प्रकार कह सकता है। और जो पुरुष दुःखसे आर्त्त होकर शोक करता है, वह किस तरह ऐसा कहनेमें उत्साही होसकता है? जिस पुरुषने सब दुःखोंके विषयोंको ग्रहण किया है, वह अपनेमें जैसा देखता है, दूसरेमें भी उसी तरह देखा

न तद्वर्षशतैः शक्यं व्यपोहितुमरिंदम ॥ ६७ ॥
आवयोः कृतमन्योऽन्यं पुनः संधिर्न विद्यते ।
स्मृत्वा स्मृत्वा हि ते पुत्रं नवं वैरं भविष्यति ॥६८ ॥
वैरमन्तिकमासाद्य यः प्रीतिं कर्तुमिच्छति ।
मृन्मयस्येव भग्नस्य यथा संधिर्न विद्यते ॥ ६९ ॥
निश्चयः स्वार्थशास्त्रेषु विश्वासश्चासुखोदयः ।
उशना चैव गाथे द्वे प्रह्लादायाब्रवीत्पुरा ॥ ७० ॥
ये वैरिणः श्रद्दधते सत्ये सत्येतरेऽपि वा ।
वध्यन्ते श्रद्दधानास्तु मधु शुष्कतृणैर्यथा ॥ ७१ ॥
न हि वैराणि शाम्यन्ति कुले दुःखगतानि च ।
आख्यातारश्च विद्यन्ते कुले वै म्रियते पुमान् ॥ ७२ ॥
उपगृह्य तु वैराणि सांत्वयन्ति नराधिप ।
अथैनं प्रतिपिंषन्ति पूर्णं घटमिवाश्मनि ॥ ७३ ॥
सदा न विश्वसेद्राजा पापं कृत्वेह कस्य चित् ।

करता है ॥ (६३-६६)

हे वैरीदमन राजन् ! मैंने आपकी जो बुराई की है और आपने भी जो अहित आचरण किया है, वह सौ वर्षमें भी लुप्त न हो सकेगा । मैंने जो कार्य किया है, उससे फिर अब परस्परका मिलन नहीं होसकता; आप जिस समय पुत्रको स्मरण करेंगे, उसही समय वैर-भाव नवीन हो जावेगा । अर्थ-शास्त्रके जाननेवाले पण्डितोंने निश्चय किया है, कि जैसे मट्टीके पात्र टूटनेपर फिर नहीं जुडते वैसे ही जो शीघ्र वैर करके प्रीति करनेकी इच्छा करता है, उसका विश्वास कभी सुखदायक नहीं होसकता। पहिले शुक्राचार्यने प्रह्लादसे इस विषयमें दो गाथा कही थी, कि जो शत्रुके सत्य वा मिथ्या वचनमें विश्वास करता है, वह सूखे तृणसे युक्त अन्धकूपमें गिरे हुए मधुलोभीकी तरह शीघ्र नष्ट होता है। ऐसा देखा गया है, कि किसी स्थानमें शत्रुता वंश परम्परासे प्रचलित रहती है ॥ (६७-७२)

जो लोग वैर करके परलोकमें गमन करते हैं, उनके वंशमें जो पुरुष रहते हैं, दूसरे लोग उनके समीप पहिले वैरको प्रकाशित कर देते हैं। हे महाराज ! जो लोग वैरकी शान्तिके वास्ते शत्रुके साथ सन्धिबन्धन करते हैं, वेही पत्थरपर गिरे हुए पूर्ण घडेकी तरह उसे चूर्ण किया करते हैं। इस जगतमें राजा कि-

अपकृत्य परेषां हि विश्वासाद् दुःखमश्नुते ॥ ७४ ॥

ब्रह्मदत्त उवाच- नाविश्वासाद्धिन्दतेऽर्थानीहते चापि किञ्चन ।
भयात्त्वेकतरान्नित्यं मृतकल्पा भवन्ति च ॥ ७५ ॥

पूजन्युवाच— यस्येह व्रणिनौ पादौ पद्भ्यां च परिसर्पति ।
खन्येते तस्य तौ पादौ सुगुप्तमिह धावतः ॥ ७६ ॥
नेत्राभ्यां सरुजाभ्यां यः प्रतिवातमुदीक्षते ।
तस्य वायुरुजात्यर्थं नेत्रयोर्भवति ध्रुवम् ॥ ७७ ॥
दुष्टं पन्थानमासाद्य यो मोहादुपपद्यते ।
आत्मनो बलमज्ञाय तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ७८ ॥
यस्तु वर्षमविज्ञाय क्षेत्रं कर्षति कर्षकः ।
हीनः पुरुषकारेण सस्यं नैवाश्नुते ततः ॥ ७९ ॥
यस्तु तिक्तं कषायं वा स्वादु वा मधुरं हितम् ।
आहारं कुरुते नित्यं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ८० ॥
पथ्यं मुक्त्वा तु यो मोहाद् दुष्टमश्नाति भोजनम् ।
परिणाममविज्ञाय तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ८१ ॥

सीके साथ अनिष्ट आचरण करके सदा उसका विश्वास न करे, दूसरेकी बुराई करनेसे दुःख-भोग करना पडता है। (७२—७४)

ब्रह्मदत्त बोले, अविश्वास करनेसे कोई अर्थ-सञ्चय वा दूसरा कुछ उपाय नहीं कर सकते; बल्कि एक पक्षका सदा अविश्वास करनेसे भयके कारण मृतक्-के समान हुआ करते हैं। (७५)

पूजनी बोली, इस संसारमें जो पुरुष व्रणयुक्त पदसे भ्रमण करते हैं, वह सावधान न रहनेपर उनके दोनों पांव स्खलित हुआ करते हैं, जो पुरुष रुग्ण नेत्रसे वायुके प्रतिकूल दिशाकी ओर देखता है, वायु निश्चयही उसके दोनों नेत्रोंके लिये पीडाजनक होजाती है। जो पुरुष अपना बल न जानके अज्ञानताके कारण दुष्ट मार्ग अवलम्बन करके उसमें उपस्थित होता है, उस ही स्थानमें उसका जीवन समाप्त हुआ करता है। जो पुरुष वर्षाका समय मालूम न करके खेत बोता है, वह पौरुषरहित पुरुष सस्य भोग करनेमें समर्थ नहीं होता। (७५-७९)

जो तीता, मसेला, मीठा वा मधुर पथ्य नित्य आहार करता है, वह अमृत होता है और जो पुरुष परिणामको विना विचार मोह-वशसे पथ्य भोजनोंको परित्याग करके अपथ्य भोजन करता है,

दैवं पुरुषकारश्च स्थितावन्योन्यसंश्रयात्।
उदाराणां तु सत्कर्म दैवं क्लीबा उपासते ॥ ८२ ॥
कर्म चात्महितं कार्यं तीक्ष्णं वा यदि वा मृदु।
ग्रस्यतेऽकर्मशीलस्तु सदाऽनर्थैरकिञ्चनः ॥ ८३ ॥
तस्मात्सर्वं व्यपोह्यार्थं कार्य एव पराक्रमः।
सर्वस्वमपि संत्यज्य कार्यमात्महितं नरैः ॥ ८४ ॥
विद्या शौर्यं च दाक्ष्यं च बलं धैर्यं च पञ्चमम्।
मित्राणि सहजान्याहुर्वर्तयन्तीह तैर्बुधाः ॥ ८५ ॥
निवेशनं च कुप्यं च क्षेत्रं भार्या सुहृज्जनः।
एतान्युपहितान्याहुः सर्वत्र लभते पुमान् ॥ ८६ ॥
सर्वत्र रमते प्राज्ञः सर्वत्र च विराजते।
न विभीषयते कश्चिद्भीषितो न बिभेति च ॥ ८७ ॥
नित्यं बुद्धिमतोऽप्यर्थः स्वल्पकोऽपि विवर्धते।
दाक्ष्येणाकुर्वतः कर्म संयमात्प्रतितिष्ठति ॥ ८८ ॥
गृहस्नेहावबद्धानां नराणामल्पमेधसाम्।

उसका जीवन नष्ट होता है। दैव और पुरुषार्थ आपसमें एक दूसरेके आश्रयसे स्थिति करते हैं। उदार पुरुष सत्कर्मों-का आसरा ग्रहण करते हैं और कादर लोग ही दैवको अवलम्बन किया करते हैं। (८०—८२)

आत्म हितकर कर्म चाहे कठोर हो, चाहे कोमल ही होवे, उसे अवश्य करना चाहिये; कर्महीन तुच्छ पुरुष सदा अ-नर्थ-ग्रस्त हुआ करते हैं। इससे सब विषयोंको परित्याग करके पराक्रम प्र-काश करना ही योग्य है। सर्वस्व परि-त्याग करके भी मनुष्योंको आत्म-हित-कर कार्य करना उचित है, शूरता, द-क्षता, विद्या, वैराग्य और धीरज इन पाचोंको पण्डित लोग सहज मित्र कहा करते हैं; और वे लोग इन पांच प्रकार के मित्रोंके अवलम्बनसे जीवन बिताते हैं, और गृह, ताम्र आदि पात्र, क्षेत्र, भार्या, तथा सुहृदवृन्द इन पाचोंको प-ण्डित लोग उपमित्र कहते हैं; पुरुष स-र्वत्र ही इन पाचोंको पाता है। बुद्धिमान पुरुष सर्वत्र ही अनुरक्त होता और सब जगह विराजता है, कोई पुरुष उसे भय नहीं दिखा सकता, भय दिखानेसे भी वह नहीं डरता। बुद्धिमान पुरुषको थोडा अर्थ होने पर भी वह सदा बढता है. निपुणताके सहित कर्म करनेसे उसे

कुक्षी खादति मांसानि माघमां सेगवा इव ॥ ८९ ॥
गृहं क्षेत्राणि मित्राणि स्वदेश इति चापरे ।
इत्येवमवसीदन्ति नरा बुद्धिविपर्यये ॥ ९० ॥
उत्पतेत्सहजाद्देशाद्व्याधिदुर्भिक्षपीडितात् ।
अन्यत्र वस्तुं गच्छेद्वा वसेद्वा नित्यमानितः ॥ ९१ ॥
तस्मादन्यत्र यास्यामि वस्तुं नाहमिहोत्सहे ।
कृतमेतदनार्यं मे तव पुत्रे च पार्थिव ॥ ९२ ॥
कुभार्यां च कुपुत्रं च कुराजानं कुसौहृदम् ।
कुसंबन्धं कुदेशं च दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ९३ ॥
कुपुत्रे नास्ति विश्वासः कुभार्यायां कुतो रतिः ।
कुराज्ये निर्वृतिर्नास्ति कुदेशे नास्ति जीविका ॥ ९४ ॥
कुमित्रे संगतिर्नास्ति नित्यमस्थिरसौहृदे ।
अवमानः कुसंबन्धे भवत्यर्थविपर्यये ॥ ९५ ॥
सा भार्या या प्रियं ब्रूते स पुत्रो यत्र निर्वृतिः ।
तन्मित्रं यत्र विश्वासः स देशो यत्र जीव्यते ॥ ९६ ॥

प्रतिष्ठा प्राप्त होती है । (८३—८८)

कर्कटीके गर्भसे उत्पन्न हुए सब सन्तान जैसे उसके मांसको भक्षण करते हैं, वैसे गृहस्नेहमें आबद्ध अल्पबुद्धि मनुष्योंकी दुष्ट स्त्रियां वाक्य-यन्त्रणाके जरिये उन लोगोंके मांस और रुधिरको सुखा देती हैं । कोई पुरुष अपने बुद्धि-दोषसे विदेश जानेके समय मेरा गृह, मेरा क्षेत्र, मेरे मित्र और हमारा स्वदेश ऐसीही चिन्ता करके दुःखित हुआ करते हैं । स्वदेश यदि व्याधि वा दुर्भिक्षसे पीडित होवे, तो उसे परित्यागके दूसरे देशमें वास करनेके वास्ते जाकर सम्मानित होके रहना उचित है, इसलिये मैं दूसरी जगह वास करनेके लिये गमन करूंगी । हे महाराज ! मैंने आपके पुत्रके विषयमें अत्यन्तही अन्याय आचरण किया है, इसलिये इस स्थानमें वास करनेकी इच्छा नहीं करती हूं ॥ (८९—९२)

कुभार्या, कुपुत्र, कुराज्य, कुमित्र, कुसम्बन्ध और कुदेशको एकबारगी परित्याग करना चाहिये; कुपुत्रमें विश्वास नहीं, कुभार्यामें अनुराग नहीं, कुराज्यमें सुख नहीं और कुदेशमें जीविका निर्वाह नहीं होता । सदा अस्थिर सुहृद कुमित्रके सहित सङ्गति नहीं निभती और प्रयोजनमें विपर्यय होनेसे कुसम्बन्धमें

यत्र नास्ति बलात्कारः स राजा तीव्रशासनः।
भीरेव नास्ति संबन्धो दरिद्रं यो बुभूषते ॥ ९७ ॥
भार्या देशोऽथ मित्राणि पुत्रसंबन्धिबान्धवाः।
एते सर्वे गुणवति धर्मनेत्रे महीपतौ ॥ ९८ ॥
अधर्मज्ञस्य विलयं प्रजा गच्छन्ति निग्रहात्।
राजा मूलं त्रिवर्गस्य स्वप्रमत्तोऽनुपालयेत् ॥ ९९ ॥
बलिषड्भागमुद्धृत्य बलिं समुपयोजयेत्।
न रक्षति प्रजाः सम्यग्यः स पार्थिवतस्करः॥ १०० ॥
दत्त्वाऽभयं यः स्वयमेव राजा न तत्प्रमाणं कुरुतेऽर्थलोभात्।
स सर्वलोकादुपलभ्य पापं सोऽधर्मबुद्धिर्निरयं प्रयाति ॥ १०१ ॥
दत्त्वाऽभयं स्वयं राजा प्रमाणं कुरुते यदि।
स सर्वसुखकृज्ज्ञेयः प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ १०२ ॥
माता पिता गुरुर्गोप्ता वह्निर्वैश्रवणो यमः।

अपमान हुआ करता है। जो भार्या प्रिय वचन कहे, वही भार्या है; जिस पुत्रसे सुखी होवे, वही पुत्र है, जिसका विश्वास किया जाय वही मित्र है; जिस देशमें अनायास ही जीविका निर्वाह हो, वही स्वदेश है॥ (९३—९६)

जिस राज्यमें जबर्दस्ती नहीं वहां किसी भयकी भी सम्भावना नहीं रहती; जो राजा दरिद्रोंको पालन करनेकी इच्छा करता है, उसके साथ प्रजाका पाल्य-पालन सम्बन्ध होता है; इसलिये ऐसा राजाही तीक्ष्ण शासनकारी कहके प्रसिद्ध होता है, धर्मपालक गुणवान राजाके देश, भार्या, पुत्र, मित्र, सम्बन्धी और बान्धव आदि सभी सुन्दर हुआ करते हैं। अधर्म्मी राजाके निग्रह निबन्धनसे प्रजाका नाश होता है। राजाही धर्म, अर्थ, काम, इस त्रिवर्गका मूल है; इसलिये प्रमादरहित होके उसे प्रजापालन करना अवश्य उचित है। राजा प्रजासमूहके समीपसे छठवां भाग कर लेके उन लोगोंका पालन करे। जो राजा प्रजासमूहको पूर्णरीतिसे पालन नहीं करते, वह राजाओंके बीच तस्कर कहके निन्दित होते हैं॥ (९७—१००)

जो राजा स्वयं अभय दान करके फिर उसमें असम्मत होते हैं, वह अधर्म बुद्धि राजा सब लोगोंके पापको ग्रहण करके अन्त समयमें नरकमें गमन किया करते हैं। राजा यदि स्वयं अभयदान करके उसे प्रमाणित करे, तो वह धर्मपूर्वक प्रजा पालन करते हुए सबको

सप्त राज्ञो गुणानेतान्मनुराह प्रजापतिः ॥ १०३ ॥
पिता हि राजा राष्ट्रस्य प्रजानां योऽनुकम्पनः ।
तस्मिन्मिथ्या विनीतो हि तिर्यग्गच्छति मानवः ॥१०४॥
संभावयति मातेव दीनमप्युपपद्यते ।
दहत्यग्निरिवानिष्टान्यमयन्नसतो यमः ॥ १०५ ॥
इष्टेषु विसृजन्नर्थान्कुबेर इव कामदः ।
गुरुर्धर्मोपदेशेन गोप्ता च परिपालयन् ॥ १०६ ॥
यस्तु रञ्जयते राजा पौरजानपदान् गुणैः ।
न तस्य भ्रमते राज्यं स्वयं धर्मानुपालनात् ॥ १०७ ॥
स्वयं समुपजानन्हि पौरजानपदार्चनम् ।
स सुखं प्रेक्षते राजा इह लोके परत्र च ॥ १०८ ॥
नित्योद्विग्नाः प्रजा यस्य करभारप्रपीडिताः ।
अनर्थैर्विप्रलुप्यन्ते स गच्छति पराभवम् ॥ १०९ ॥
प्रजा यस्य विवर्धन्ते सरसीव महोत्पलम् ।
स सर्वफलभाग्राजा स्वर्गलोके महीयते ॥ ११० ॥

सुख देनेवाला कहके विख्यात होता है। प्रजापति मनुने कहा है, कि राजामें पिता, माता, रक्षिता, अग्नि, कुबेर और इन सातोंका गुण रहता है; क्यों कि राजा प्रजा समूहके विषयमें कृपा प्रकाशित करनेसे पितृस्वरूप हुए हैं, जो मनुष्य उनके समीप मिथ्या विनय करता है, वह तिर्यग् योनिमें जन्म लेता है ॥ (१०१—१०४)

राजा दरिद्रोंको माताके समान पालन करता है, इसीसे मातृस्थानीय हुआ है। बुराइयोंको जलाता है, इससे अग्नि और दुष्टोंको शासन करता है, इस ही कारण यम स्वरूप हुआ है। साधु पुरुषोंको धन दान करनेसे काम प्रद कुबेर, धर्म उपदेश करनेसे गुरु और पालन करनेसे रक्षक स्वरूप हुआ करता है। जो राजा गुणसमूहसे पुरवासी और जनपदवासी लोगोंके चित्तको रञ्जन करता और धर्मके अनुसार स्वयं उन लोगोंका पालन किया करता है, वह राज्यसे कभी च्युत नहीं होता। जो स्वयं पुरवासी और जनपद वासियोंके सम्मानको मालूम करता है, वह इस लोक और परलोकमें सुखभोग किया करता है ॥ (१०५-१०८)

जिसकी प्रजा कर भारसे पीडित होकर सदा व्याकुल होती और बुराइयों·

बलिना विग्रहो राजन्न कदाचित्प्रशस्यते।
बलिना विग्रहो यस्य कुतो राज्यं कुतः सुखम्॥१११॥

भीष्म उवाच— एवमुक्त्वा शकुनिका ब्रह्मदत्तं नराधिपम्।
राजानं समनुज्ञाप्य जगामाभीप्सितां दिशम्॥११२॥
एतत्ते ब्रह्मदत्तस्य पूजन्या सह भाषितम्।
मयोक्तं नृपतिश्रेष्ठ किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि॥११३॥ [५१९४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि ब्रह्मदत्तपूजन्योः संवादे एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३९॥

युधिष्ठिर उवाच— युगक्षयात्परिक्षीणे धर्मे लोके च भारत।
दस्युभिः पीड्यमाने च कथं स्थेयं पितामह ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— अत्र ते वर्तयिष्यामि नीतिमापत्सु भारत।
उत्सृज्यापि घृणां काले यथा वर्तेत भूमिपः ॥ २ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
भारद्वाजस्य संवादं राज्ञः शत्रुञ्जयस्य च ॥ ३ ॥

के जरिये क्लेश पाती है, उसकी शत्रुके निकट पराजय होती है। तालावमें शत दल कमलकी तरह जिसकी सब प्रजा सदा वर्द्धित होती है, वह फलभागी राजा स्वर्गलोकमें निवास करता है। हे महाराज! बलवानके साथ विग्रह करना कदापि प्रशंसित नहीं है, जिसका बलवानके साथ विग्रह हुआ करता है, उसके राज्य ही कहां? वा सुख ही कहां है? (१०९-१११)

भीष्म बोले, हे नरनाथ! पूजनी चिडिया राजा ब्रह्मदत्तसे ऐसा ही कहके उनकी आज्ञा लेकर निज अभिलषित दिशामें चली गई। हे राजन्! पूजनीके साथ ब्रह्मदत्तकी जैसी वार्ता हुई थी, उसे मैंने तुमसे कहा और कहो क्या सुननेकी इच्छा करते हो? (११२-११३)

शान्तिपर्वमें १३९ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १४० अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भरतकुलतिलक पितामह! युगक्षयके कारण धर्म और सब लोगोंके अत्यन्त क्षीण तथा डाकुओंके जरिये पीडित होनेपर किस तरह निवास करना चाहिये। (१)

भीष्म बोले, हे भारत! राजा कालक्रमसे करुणा त्यागके जिस तरह निवास करेंगे, मैं तुम्हारे समीप उस आपत्कालके योग्य नीतिका विषय वर्णन करूंगा। पुराने पण्डित लोग इस विषयमें राजा शत्रुञ्जय और भारद्वाजके

राजा शत्रुंजयो नाम सौवीरेषु महारथः ।
भारद्वाजमुपागम्य पप्रच्छार्थविनिश्चयम् ॥ ४ ॥
अलब्धस्य कथं लिप्सा लब्धं केन विवर्द्धते ।
वर्द्धितं पाल्यते केन पालितं प्रणयेत्कथम् ॥ ५ ॥
तस्मै विनिश्चितार्थाय परिपृष्टोऽर्थनिश्चयम् ।
उवाच ब्राह्मणो वाक्यमिदं हेतुमदुत्तमम् ॥ ६ ॥
नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी च परेषां विवरानुगः ॥ ७ ॥
नित्यमुद्यतदण्डस्य भृशमुद्विजते नरः ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ ८ ॥
एवं दण्डं प्रशंसन्ति पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः ।
तस्माच्चतुष्टये तस्मिन्प्रधानो दण्ड उच्यते ॥ ९ ॥
छिन्नमूले त्वधिष्ठाने सर्वेषां जीवनं हृतम् ।
कथं हि शाखास्तिष्ठेयुश्छिन्नमूले वनस्पतौ ॥ १० ॥
मूलमेवादितश्छिंद्यात्परपक्षस्य पण्डितः ।

सम्वाद युक्त इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं । सौवीर देशमें शत्रुञ्जय नाम एक महारथी राजा थे; उन्होंने भारद्वाजके निकट जाके अर्थ-विषयमें विशेष निर्णयका प्रश्न किया । अप्राप्त अर्थकी प्राप्तिकी इच्छा किस तरह करनी चाहिये, प्राप्त हुए धनकी किस प्रकार बढती होती है, बढे हुए वित्तको किस तरह पालन किया जाता है और पालित अर्थ किस प्रकार व्यय किया जा सकता है ? (२-५)

राजाने जब इस प्रकार अर्थनिर्णय विषयमें प्रश्न किया, तब द्विजवर भारद्वाज उनके पूछे हुए विषयका, युक्ति-युक्त श्रेष्ठ उत्तर देने लगे, कि राजा सदा दण्ड उद्यत कर रखे । सदा अपना पराक्रम प्रकाश करे, स्वयं निर्दोष होकर दूसरेका दोषदर्शी और छिद्रान्वेषी होवे। जो राजा सदा दण्ड उद्यतकर रखता है, मनुष्य उसके निकट अत्यन्त भय करते हैं; इसलिये सब जीवोंको ही दण्डके जरिये शासित करे । तत्वदर्शी पण्डित लोग इसी तरह दण्डकी प्रशंसा किया करते हैं; इसलिये भेद, दण्ड, साम, दान, इन चारोंके बीच दण्डही प्रधान कहके वर्णित हुआ है । आश्रय-स्थानकी जड काटनेसे जीव मात्रका ही जीवन नष्ट होता है, वृक्षकी जड

ततः सहायान् पक्षं च मूलमेवानुसाधयेत् ॥ ११ ॥
सुमन्त्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम्।
आपदास्पदकाले तु कुर्वीत न विचारयेत् ॥ १२ ॥
वाङ्मात्रेण विनीतः स्याद्धृदयेन यथा क्षुरः।
श्लक्ष्णपूर्वाभिभाषी च कामक्रोधौ विवर्जयेत् ॥ १३ ॥
सपत्नसहिते कार्ये कृत्वा संधिं न विश्वसेत्।
अपक्रामेत्ततः शीघ्रं कृतकार्यो विचक्षणः ॥ १४ ॥
शत्रुं च मित्ररूपेण सान्त्वेनैवाभिसान्त्वयेत्।
नित्यशश्चोद्विजेत्तस्माद् गृहात्सर्पयुतादिव ॥ १५ ॥
यथा बुद्धिः परिभवेत्तमतीतेन सान्त्वयेत्।
अनागतेन दुष्प्रज्ञं प्रत्युत्पन्नेन पण्डितम् ॥ १६ ॥
अञ्जलिं शपथं सान्त्वं प्रणम्य शिरसा वदेत्।
अश्रुप्रमार्जनं चैव कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ १७ ॥
वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः।

काटनेपर सब शाखा उसमें स्थित नहीं रह सकती। (९–१०)

बुद्धिमान राजा पहिले शत्रुका मूलच्छेदनकरे, अनन्तर उसके सहाय और अमात्य आदिको वशमें करे। आपद उपस्थित होनेपर उत्तम मन्त्रणा, पराक्रम प्रकाश, अच्छी तरहसे युद्ध अथवा पलायन करे; इस विषयमें कुछ विचार करनेकी अवश्यकता नहीं है। हृदयसे उस्तूरेकी तरह रहके वचनमात्रसे विनय दिखावे, मृदुभावसे वार्त्तालाप करे और कामक्रोधको त्याग दे। शत्रुके साथ कार्यसंश्रव उपस्थित होनेपर पहिले सन्धि करके उसका विश्वास न करे। बुद्धिमान पुरुष कृतकार्य होकर शीघ्रही शत्रुका सङ्ग परित्याग करे। (११–१४)

और मित्ररूपसे सान्त्व वचनसे शान्त करके सर्पयुक्त गृहकी भांति सदा उससे शङ्कित रहे। निज बुद्धिके जरिये जिसकी बुद्धिको पराजित करनी होगी; उसे अभयदान करते हुए धीरज देवे। मन्दबुद्धि पुरुषको अनागत बुद्धिसे और पण्डित पुरुषको प्रत्युत्पन्न बुद्धिके सहारे शान्त करे। जो पुरुष अपने कल्याणकी इच्छा करे, वह हाथ जोडकर शपथ करके सान्त्व-वचनसे शिर झुकाकर आंसू वहाते हुए वचन कहे। जबतक समय परिवर्तन न होवे, तबतक शत्रुको कन्धेपर चढाके ढोवे, समय उपस्थित हुआ जानके पत्थरपर फेंके हुए घडेकी

प्राप्तकालं तु विज्ञाय भिन्द्याद्धटमिवाश्मनि ॥ १८ ॥
मुहूर्तमपि राजेन्द्र तिन्दुकालातवज्ज्वलेत्।
न तुषाग्निरिवानार्चिर्धूमायेत चिरं नरः ॥ १९ ॥
नानार्थिकोऽर्थसंबन्धं कृतघ्ने न समाचरेत्।
अर्थी तु शक्यते भोक्तुं कृतकार्योऽवमन्यते।
तस्मात्सर्वाणि कार्याणि सावशेषाणि कारयेत्॥ २० ॥
कोकिलस्य वराहस्य मेरोः शून्यस्य वेश्मनः।
नटस्य भक्तिमित्रस्य यच्छ्रेयस्तत्समाचरेत् ॥ २१ ॥
उत्थायोत्थाय गच्छेत नित्ययुक्तो रिपोर्गृहान्।
कुशलं चास्य पृच्छेत यद्यप्यकुशलं भवेत् ॥ २२ ॥
नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान्न क्लीबा नाभिमानिनः।
न च लोकरवाद्भीता न वै शश्वत्प्रतीक्षिणः ॥ २३ ॥
नास्मच्छिद्रं रिपुर्विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ २४ ॥

तरह उसे नष्ट कर डाले। हे राजेन्द्र! मनुष्य तिन्दुककाष्ठकी तरह मूहूर्त भर प्रज्वलित होवे; ज्वालारहित तूषकी अग्निकी भांति सदा सुलगता न रहे। (१५-१९)

अनेक प्रयोजनसे युक्त पुरुष कृतघ्नके साथ अर्थयुक्त छुवाई न रखे, क्यों कि कृतघ्न पुरुष कृतकार्य होकर उपकारकी अवमानना किया करता है। इसलिये शत्रुसंघटित सब कार्योंको सब तरहसे पूर्ण न करके उसे शेष रखना उचित है। राजा निज प्रतिपाल्य लोगोंको अन्नके जरिये प्रतिपालन करनेमें कोकिलका, शत्रुका मूल उखाडनेमें वराहका, अनुलङ्घनीयता गुणमें सुमेरु पर्वतका, अनेक रूप धारण करनेमें नटका, अर्थागम करनेके कारण शून्य गृहका और प्रजासमूहके विषयमें दयायुक्त व्यवहार प्रकाश करनेके लिये मित्रका अनुकरण करे। राजा प्रतिदिन उठके शत्रुके गृहमें जावे, शत्रुके घर यदि अमङ्गल भी रहे, तौभी कुशल प्रश्न करे। आलसी अभिमानी, कादर, लोकापवादसे डरनेवाले और सदा संशय-युक्त चित्तवाले पुरुष धनलाभ करनेमें समर्थ नहीं होते। (२०-२३)

शत्रु लोग निज छिद्रकी ओर दृष्टि न रखके दूसरेका छिद्र खोजते रहते हैं; इसलिये कछुएकी तरह अपने अमंगल और सब छिद्रोंको छिपा रखे। बगुले-

बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुम्पेत शरवच्च विनिष्पतेत् ॥ २५ ॥
पानमक्षास्तथा नार्यो मृगया गीतवादितम् ।
एतानि युक्त्या सेवेत प्रसंगो ह्यत्र दोषवान् ॥ २६ ॥
कुर्यात्तृणमयं चापं शयीत मृगशायिकाम् ।
अन्धः स्यादन्धवेलायां बाधिर्यमपि संश्रयेत् ॥ २७ ॥
देशकालौ समासाद्य विक्रमेत विचक्षणः ।
देशकालव्यतीतो हि विक्रमो निष्फलो भवेत् ॥ २८ ॥
कालाकालौ संप्रधार्य बलाबलमथात्मनः ।
परस्परं बलं ज्ञात्वा तत्रात्मानं नियोजयेत ॥ २९ ॥
दण्डेनोपनतं शत्रुं यो राजा न नियच्छति ।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ ३० ॥
सुपुष्पितः स्यादफलः फलवान् स्याद् दुरारुहः ।
आमः स्यात्पक्वसंकाशो न च शीर्येत कस्यचित् ॥ ३१ ॥
आशां कालवतीं कुर्यात्तां च विघ्नेन योजयेत ।

की तरह अर्थचिन्ता, सिंहकी भांति पराक्रम, भेडियेकी तरह आत्मगोपन और बाणकी भांति शत्रु भेद करे; सुरापान, जुआ खेलना, स्त्रीसंभोग, मृगया और गीतवाद्य युक्तिके अनुसार करे; इन सब विषयोंमें अत्यन्त आसक्त होनेसे ही दोषी होना पडता है। बांस आदिसे धनुष तयार करावे, मृगकी तरह सावधानीसे शयन किया करे, समयके अनुसार कभी अन्धे और कभी बधिरकी तरह व्यवहार करे। (२४—२७)

बुद्धिमान राजा देश और कालके अनुसार विक्रम प्रकाश करे, क्यों कि देशकालको अतिक्रम करके विक्रम प्रकाश करनेसे वह निष्फल हुआ करता है। समयके अनुसार अपना बलाबल निश्चय कर परस्परका बल मालूम करके कर्तव्य कार्योंमें तत्पर होवे। जो राजा दण्डोपहत शत्रुको निगृहीत नहीं करता, वह कर्कटीके गर्भ धारणकी भांति मृत्युमुखमें पतित हुआ करता है। अच्छी तरह फूले हुए वृक्ष भी फलहीन होते हैं, फलवान वृक्ष दुरारोह हुआ करते हैं, और जिसका फल अपक्व अवस्थामें रहता है; उसे भी पके हुए फलकी तरह देखा जाता है; इसलिये राजा इन सब कारणोंको देखके किसीके समीप दीन न होवे॥ (२८—३१)

विघ्नं निमित्ततो ब्रूयान्निमित्तं चापि हेतुतः ॥ ३२ ॥
भीतवत्संविधातव्यं यावद्भयमनागतम्।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत् ॥ ३३ ॥
न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥ ३४ ॥
अनागतं विजानीयाद्यच्छेद्भयमुपस्थितम्।
पुनर्वृद्धिभयात्किञ्चिदनिवृत्तं निशामयेत् ॥ ३५ ॥
प्रत्युपस्थितकालस्य सुखस्य परिवर्जनम्।
अनागतसुखाशा च नैव बुद्धिमतां नयः ॥ ३६ ॥
योऽरिणा सह संधाय सुखं स्वपिति विश्वसन्।
स वृक्षाग्रे प्रसुप्तो वा पतितः प्रतिबुध्यते ॥ ३७ ॥
कर्मणा येन तेनैव मृदुना दारुणेन च।
उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ३८ ॥
ये सपत्नाः सपत्नानां सर्वांस्तानुपसेवयेत्।

शत्रुओंकी आशा बहुत समयमें सिद्ध होवे, वचनसे ऐसाही विधान करे; परन्तु विशेष कारण दिखाके उस विषयमें विघ्नका अनुष्ठान करना उचित है। जबतक भय उपस्थित न होवे, तबतक भयभीत पुरुषकी तरह निवास करे; परन्तु भयका कारण उपस्थित होनेपर निडरकी भांति उसे नष्ट करनेमें प्रवृत्त होवे। मनुष्य संशयमें आरोहण न करनेसे कल्याणका मार्ग देखनेमें समर्थ नहीं होता, परन्तु संशययुक्त होकर यदि जीवित रहे, तो अवश्य ही अपना कल्याण देखता है; भय जिसमें उपस्थित न हो, आगे उसका विचार करना चाहिये, दैवात् उपस्थित होनेपर उसका प्रतिकार करना उचित है, फिर वृद्धि होगी, इस भयसे उसे अनिवृत्तकी तरह निवारण करना चाहिये; उपस्थित सुखको त्यागना और अनुउपस्थित सुखकी आशा करनी बुद्धिमान पुरुषकी रीति नहीं है। जो पुरुष शत्रुके साथ सन्धि बन्धन करके विश्वास पूर्वक सुखकी नींद सोता है, वह वृक्षके अग्रभागमें सोये हुए पुरुषकी तरह पतित होते हुए दीख पडता है॥ (३२—३७)

कोमल होवे, अथवा कठोर हो, जिस किसी कर्मके जरिये होसके विपदयुक्त आत्माको उद्धार करना उचित है, और समर्थ होनेपर धर्माचरण करना योग्य है। शत्रुके शत्रुओंकी सेवा करे, अपने

आत्मनश्चापि बोद्धव्याश्चारा विनिहताः परैः ॥ ३९ ॥
चारस्त्वविदितः कार्य आत्मनोऽथ परस्य च।
पाषण्डांस्तापसादींश्च परराष्ट्रे प्रवेशयेत् ॥ ४० ॥
उद्यानेषु विहारेषु प्रपास्वावसथेषु च।
पानागारे प्रवेशेषु तीर्थेषु च सभासु च ॥ ४१ ॥
धर्माभिचारिणः पापाश्चौरा लोकस्य कण्टकाः।
समागच्छन्ति तान्बुद्ध्वा नियच्छेच्छमयीत च ॥४२॥
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद्भयमभ्येति नापरीक्ष्य च विश्वसेत् ॥ ४३ ॥
विश्वासयित्वा तु परं तत्त्वभूतेन हेतुना।
अथास्य प्रहरेत्काले किंचिद्विचलिते पदे ॥ ४४ ॥
अशंक्यमपि शङ्केत नित्यं शङ्केत शङ्किताद।
भयं ह्यशङ्किताज्जातं समूलमपि कृन्तति ॥ ४५ ॥
अवधानेन मौनेन काषायेण जटाजिनैः।
विश्वासयित्वा द्वेष्टारमवलुम्पेद्यथा वृकः ॥ ४६ ॥

दूतोंको भी शत्रु-प्रेरित कहके समझना उचित है; अपने दूतोंको शत्रु लोग न जान सकें, ऐसाही उपाय करना चाहिये। पाषण्ड और तपस्वियोंको दूतरूपसे दूसरेके राज्यमें प्रवेश करावे। कपट धर्माचारी लोगोंके कण्टक रूपी, दुराचारी चोर लोग, बगीचा, विहार स्थान, जलसत्र, पान्थनिवास, पानागार, सब तीर्थों और सभा स्थानोंमें कपट वेषसे भ्रमण करते हैं, इसलिये उन लोगोंको मालूम करके निगृहीत और शान्त करना योग्य है। शत्रुका विश्वास न करे, और विश्वासीका भी अत्यन्त विश्वास उचित नहीं; क्यों कि विश्वाससे भय उत्पन्न होता है, और विशेष रीतिसे परीक्षा न करके किसीका विश्वास न करे। ३८-४३

यथार्थ कारण दिखाके उसका विश्वासपात्र होवे कालक्रमसे उसका किसी विषयमें तनिक भी पैर विचलित होनेपर उसके ऊपर प्रहार करे। जिससे शङ्काकी सम्भावना नहीं है, उसकी भी शङ्का करनी और शङ्का करने योग्य पुरुषोंकी सदा शङ्का करनी उचित है; क्यों कि अशंकित होनेसे उत्पन्न हुआ भय मूल सहित नष्ट किया करता है। ध्यान, धारणा, मौनावलम्बन, गेरुआ वस्त्र पहरना, जटा और मृगछाला धारणके जरिये शत्रुके चित्तमें विश्वास

पुत्रो वा यदि वा भ्राता पिता वा यदि वा सुहृत्।
अर्थस्य विघ्नं कुर्वाणा हन्तव्या भूतिमिच्छता ॥ ४७॥
गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शासनम् ॥ ४८॥
अभ्युत्थानाभिवादाभ्यां संप्रदानेन केन चित्।
प्रतिपुष्पफलाघाती तीक्ष्णतुण्ड इव द्विजः ॥ ४९॥
नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥ ५०॥
नास्ति जात्या रिपुर्नाम मित्रं वापि न विद्यते।
सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥ ५१॥
अमित्रं नैव मुञ्चेत वदन्तं करुणान्यपि।
दुःखं तत्र न कर्तव्यं हन्यात्पूर्वापकारिणम् ॥ ५२॥
संग्रहानुग्रहे यत्नः सदा कार्योऽनसूयता।
निग्रहश्चापि यत्नेन कर्तव्यो भूतिमिच्छता ॥ ५३॥

उत्पन्न करके फिर भेडियेकी तरह उसे लुप्त करे। (४४-४६)

पिता, भ्राता, पुत्र अथवा सुहृद लोग यदि अर्थमें विघ्न करें, तो ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाले पुरुषको उन्हें नष्ट करना चाहिये। महत् पुरुष भी यदि कर्तव्याकर्तव्य कर्म न जानके गर्वित और कुमार्ग गामी होवे, तो उसके लिये भी दण्ड रूप शासनकी विधि है। जैसे तीक्ष्ण तुण्डवाले पक्षी वृक्षोंके फूल और फलोंको नष्ट करते हैं, वैसे ही अभ्युत्थान, अभिवादन वा जिस किसी वस्तु दानसे होसके, शत्रुका विश्वास पात्र होकर अन्तमें उसके सब पुरुषार्थको नष्ट करे। मछरी मारनेवाले मछुवाहेकी तरह दूसरेके मर्मच्छेद आदि कठिन हिंसा कर्मको न करनेसे महा समृद्धि नहीं प्राप्त होसकती। (४७-५०)

जातिके जरिये कोई किसीका शत्रु वा मित्र नहीं होता, प्रयोजन अनुसार ही शत्रु मित्र उत्पन्न हुआ करते हैं। शत्रु-पुरुषके दुःखका कारण प्रकाश करनेपर भी उसे कभी परित्याग न करे और उसके दुःखसे दुःखित न होवे। पूर्वापराधी पुरुषको किस उपायसे बने नष्ट करे। जो अपने ऐश्वर्यकी इच्छा करते हैं, उन्हें शत्रुको पराजित करनेके लिये यत्न करना अवश्य उचित है, किसीके विषयमें निन्दा करनी योग्य नहीं है। (५१-५३)

प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात् प्रहृत्यैव प्रियोत्तरम् ।
असिनापि शिरश्छित्त्वा शोचेत च रुदेत च ॥ ५४ ॥
निमन्त्रयीत सान्त्वेन संमानेन तितिक्षया ।
लोकाराधनमित्येतत्कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ ५५ ॥
न शुष्कवैरं कुर्वीत बाहुभ्यां न नदीं तरेत् ।
अनर्थकमनायुष्यं गोविषाणस्य भक्षणम् ।
दन्ताश्च परिमृज्यन्ते रसश्चापि न लभ्यते ॥ ५६ ॥
त्रिवर्गस्त्रिविधा पीडा अनुबन्धास्तथैव च ।
अनुबन्धं तथा ज्ञात्वा पीडां च परिवर्जयेत् ॥ ५७ ॥
ऋणशेषमग्निशेषं शत्रुशेषं तथैव च ।
पुनः पुनः प्रवर्धन्ते तस्माच्छेषं न धारयेत् ॥ ५८ ॥
वर्धमानमृणं तिष्ठत्परिभूताश्च शत्रवः ।
जनयन्ति भयं तीव्रं व्याधयश्चाप्युपेक्षिताः ॥ ५९ ॥
नासम्यक्कृतकारी स्यादप्रमत्तः सदा भवेत् ।
कण्टकोऽपि हि दुश्छिन्नो विकारं कुरुते चिरम् ॥ ६० ॥

जिसके ऊपर प्रहार करना हो, उससे प्रिय वचन कहे और प्रहार करके भी प्रिय वार्ता कहे; तलवारसे किसीका शिर काटके भी उसके वास्ते शोक प्रकाश और रोदन करे। जो लोग ऐश्वर्यकी अभिलाषा करें, वे सान्त्ववचन, सम्मान और तितिक्षाके जरिये सब लोगोंको आवाहन करें, इसी तरह लोगोंकी आराधना करनी चाहिये, बाहुके सहारे नदी पार न होवे, और जिससे कुछ लाभ न हो, वैसा वैर न करना चाहिये; गोशृङ्गको भक्षण वा चर्वण करना निरर्थक और अनायुष्य है, उससे दांत टूटते और कुछ रस नहीं मिलता। (५४—५६)

धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्गकी तीन तरहकी पीडा होती है अर्थात् धर्मसे अर्थमें बाधा, अर्थके जरिये धर्ममें बाधा और धर्म अर्थ दोनोंके जरिये काममें बाधा हुआ करती है; इसलिये इनके बलाबलको विचार कर उक्त पीडाको त्याग देवे। ऋणशेष, अग्निशेष और शत्रुशेष रहनेसे वे बार बार बढते हैं; इससे इन्हें निःशेष करना उचित है; वृद्धिशील ऋण, उपेक्षित व्याधि और पराभूत शत्रुसमूह अत्यन्त भय उत्पन्न करते हैं। (५७-५९)

कोई कार्य आरम्भ करके उसे बिना

वधेन च मनुष्याणां मार्गाणां दूषणेन च।
अगाराणां विनाशैश्च परराष्ट्रं विनाशयेत् ॥ ६१ ॥
गृध्रदृष्टिर्बकालीनः श्वचेष्टः सिंहविक्रमः।
अनुद्विग्नः काकशङ्की भुजङ्गचरितं चरेत् ॥ ६२ ॥
शूरमञ्जलिपातेन भीरुं भेदेन भेदयेत्।
लुब्धमर्थप्रदानेन समं तुल्येन विग्रहः ॥ ६३ ॥
श्रेणीमुख्योपजापेषु वल्लभानुनयेषु च।
अमात्यान् परिरक्षेत भेदसंघातयोरपि ॥ ६४ ॥
मृदुरित्यवजानन्ति तीक्ष्ण इत्युद्विजन्ति च।
तीक्ष्णकाले भवेत्तीक्ष्णो मृदुकाले मृदुर्भवेत् ॥ ६५ ॥
मृदुनैव मृदुं छिन्धि मृदुना हन्ति दारुणम्।
नासाध्यं मृदुना किंचित्तस्मात्तीक्ष्णतरो मृदुः ॥ ६६ ॥
काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः।
प्रसाधयति कृत्यानि शत्रुं चाप्यधितिष्ठति ॥ ६७ ॥
पण्डितेन विरुद्धः सन् दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत्।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसितः॥ ६८ ॥

पूरा किये बिना न होवे, सदा सावधान रहे, क्षुद्र कण्टक भी अच्छी तरहसे न निकालनेपर सदाके लिये विकार उत्पन्न किया करता है। मनुष्यहत्या, मार्ग रोध और गृह नाशके जरिये शत्रु राज्यको नष्ट करे। गृध्रकी तरह दूरदर्शी, बगुलेकी तरह निश्चल, कुत्तेकी तरह सावधान, सिंहकी भांति पराक्रमी और कौवे की तरह दूसरेका इङ्गितज्ञ होकर धीरताके सहित सर्पकी तरह अकस्मात शत्रुके किलेमें प्रवेश करे। (६०-६२)

वीरके समीप हाथ जोडके डरपोकों-को भय दिखाके और लोभीको धनदा-नसे वशमें करे और अपने समान पुरुष के सङ्ग विग्रह करना ही उचित है। श्रेणीमुख्य, मित्र और अमात्य इनका संघ बनाकर कार्य करनेके यत्नसे रक्षा करना उचित है। राजाके मृदुस्वभाव होनेसे प्रजा उसकी अवज्ञा करती है और तीक्ष्ण होनेसे सब कोई उससे भयभीत होते हैं, इस लिये तीक्ष्ण होनेके समय तीक्ष्ण और कोमलके समय मृदु होना उचित है। मृदुताके जरिये कोमलको छेदन करे, कोमलतासे कठोर कार्य नष्ट किया जासकता है, कोमल उपायके जरिये कोई कार्य भी असाध्य

न तत्तरेद्यस्य न पारमुत्तरेन्न तद्धरेद्यत्पुनराहरेत्परः ।
न तत्खनेद्यस्य न मूलमुद्धरेन्न तं हन्याद्यस्य शिरो न पातयेत्॥६९॥
इतीदमुक्तं वृजिनाभिसंहितं न चैतदेवं पुरुषः समाचरेत् ।
परप्रयुक्तेन कथं विभावयेदतो मयोक्तं भवतो हितार्थिना॥ ७० ॥
यथावदुक्तं वचनं हितार्थिना निशम्य विप्रेण सुवीरराष्ट्रपः ।
तथाऽकरोद्वाक्यमदीनचेतनः श्रियं च दीप्तां बुभुजे सबान्धवः ॥७१॥ ५२६५

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि
कणिकोपदेशे चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

युधिष्ठिर उवाच— हीने परमके धर्मे सर्वलोकातिलङ्घिते ।
अधर्मे धर्मतां नीते धर्मे चाधर्मतां गते ॥ १ ॥
मर्यादासु विनष्टासु क्षुभिते धर्मनिश्चये ।
राजभिः पीडिते लोके परैर्वापि विशांपते ॥ २ ॥

नहीं है; इसलिये मृदुता तीक्ष्णसे भी तीक्ष्ण है। जो लोग समयके अनुसार कोमल और समयानुसार कठोर होते हैं, वे सब कार्यको सिद्ध करके शत्रुको विजय करनेमें समर्थ होसकते हैं। ६२–६७

पण्डितके साथ विरोध करके "मैं दूरहूं" कहके विश्वास न करे क्यों कि बुद्धिमानकी दोनों भुजा बहुत लम्बी होती हैं, वे हिंसित होकर उससे ही हिंसा कर सकते हैं। जिसके दूसरे किनारे पर तैरके न पहुंच सके, वैसी नदीमें न तैरे; शत्रु लोग जिसे फिर हरण कर सकें, वैसा धन हरण न करे; जिसकी जड नहीं उखाडी जा सकती, उसे न खोदे; जिसका सिर न गिराया जासके, उसके ऊपर प्रहार न करे। आपत्कालके अभिप्रायसे मैंने ऐसा कहा है; मनुष्य सदा ऐसा आचरण न करे; शत्रुसे आक्रान्त होनेपर कैसा व्यवहार करे— उसके निमित्त मैंने आपका हितार्थी होकर इस प्रकार कहा है। भीष्म बोले, भारद्वाजने जब सौवीर राज्याधिपतिसे ऐसी कथा कही, तब उन्होंने सुनकर सावधान चित्तसे उसे प्रतिपालन किया और बान्धवोंके सहित समुज्वल राजलक्ष्मी भोग करने लगे। (६९–७१)

शान्तिपर्वमें १४० अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १४१ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, पितामह ! परम धर्म नष्ट प्राय वा सब लोगोंसे उल्लङ्घित होने पर अधर्म धर्मकी तरह और धर्म अधर्मकी भांति होने, मर्यादा नष्ट धर्म-निश्चय क्षुभित और सब लोग राजा वा डाकुओंसे पीडित होने, आश्रमवासियोंके

सर्वाश्रयेषु मूढेषु कर्मसूपहतेषु च ।
कामाल्लोभाच्च मोहाच्च भयं पश्यत्सु भारत ॥ ३ ॥
अविश्वस्तेषु सर्वेषु नित्यं भीतेषु पार्थिव ।
निकृत्या हन्यमानेषु वञ्चयत्सु परस्परम् ॥ ४ ॥
संप्रदीप्तेषु देशेषु ब्राह्मणे चातिपीडिते ।
अवर्षति च पर्जन्ये मिथोभेदे समुत्थिते ॥ ५ ॥
सर्वस्मिन्दस्युसाद्भूते पृथिव्यामुपजीवने ।
केन स्विद्ब्राह्मणो जीवेज्जघन्ये काल आगते ॥ ६ ॥
अतितिक्षुः पुत्रपौत्राननुक्रोशान्नराधिप ।
कथमापत्सु वर्तेत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ७ ॥
कथं च राजा वर्तेत लोके कलुषतां गते ।
कथमर्थाच्च धर्माच्च न हीयेत परंतप ॥ ८ ॥
भीष्म उवाच— राजमूला महाबाहो योगक्षेमसुवृष्टयः ।
प्रजासु व्याधयश्चैव मरणं च भयानि च ॥ ९ ॥
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्च भरतर्षभ ।

मोह युक्त तथा सब कर्मोंके नष्ट होने; लोभ, मोह, कामके कारण सब कोईके भय अनुभव करने, जीव मात्रके सदा अविश्वस्त होने, अवमानना जरिये पीडित सब कोईके परस्पर वञ्चना करते रहनेपर, सब देशोंके प्रदीप्त और ब्राह्मणोंके पीडित होने, बादल बरसनेसे विरत, आपसमें भेद उत्पन्न होने और पृथिवीमें जो सब उपजीव्य वस्तु हैं, वह सब दस्युओंके हस्तगत होनेसे, इस बुरे आपद कालके आनेपर जो ब्राह्मण दयाके कारण पुत्र पौत्र आदिको त्यागनेमें अशक्त हैं, वे किस प्रकार जीवन व्यतीत करेंगे? और सब लोगोंके पापाचारी होनेपर जो राजा दयाके वशमें होकर पुत्र पौत्रोंको परित्याग करनेमें असमर्थ हैं; तथा ब्राह्मणोंको पालन करनेमें भी अशक्त हैं, वे किस प्रकार निवाह करेंगे और किस प्रकार धर्म और अर्थसे भ्रष्ट न होंगे? हे शत्रुतापन! आप मुझसे यही कहिये। (१—८)

भीष्म बोले, हे महाबाहु भरतश्रेष्ठ! अप्राप्त राज्यकी प्राप्ति और प्राप्त राज्यका प्रतिपालन स्वरूप योगक्षेम, उत्तम वृष्टि, प्रजासमूहके व्याधि मरण और भय इन सब विषयोंमें राजा ही मूल है और सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग इन युगोंके परिवर्तन विष-

राजमूला इति मतिर्मम नास्त्यत्र संशयः ॥ १० ॥
तस्मिंस्त्वभ्यागते काले प्रजानां दोषकारके ।
विज्ञानबलमास्थाय जीवितव्यं भवेत्तदा ॥ ११ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
विश्वामित्रस्य संवादं चाण्डालस्य च पक्कणे ॥ १२ ॥
त्रेताद्वापरयोः संधौ तदा दैवविधिक्रमात् ।
अनावृष्टिरभूद्धोरा लोके द्वादशवार्षिकी ॥ १३ ॥
प्रजानामतिवृद्धानां युगान्ते समुपस्थिते ।
त्रेताविमोक्षसमये द्वापरप्रतिपादने ॥ १४ ॥
न ववर्ष सहस्राक्षः प्रतिलोमोऽभवद्गुरुः ।
जगाम दक्षिणं मार्गं सोमो व्यावृत्तलक्षणः ॥ १५ ॥
नावश्यायोऽपि तत्राभूत्कुत एवाभ्रजातयः ।
नद्यः संक्षिप्ततोयौघाः किंचिदन्तर्गतास्तथा ॥ १६ ॥
सरांसि सरितश्चैव कूपाः प्रस्रवणानि च ।
हतत्विषो न लक्ष्यन्ते निसर्गाद्दैवकारितात् ॥ १७ ॥
उपशुष्कजलस्थाया विनिवृत्तसभा प्रपा ।
निवृत्तयज्ञस्वाध्याया निर्वषट्कारमङ्गला ॥ १८ ॥

यमें राजा ही मूल कारण हुआ करता है; इसमें मुझे सन्देह नहीं है । प्रजासमूहके दोषकारक उस आपदकालके उपस्थित होनेपर विज्ञानबलको अवलम्बन करके जीवन व्यतीत करना चाहिये । पण्डित लोग इस विषयमें विश्वामित्र और चाण्डालके संवादयुक्त इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं । (९—१२)

त्रेता और द्वापर-युगके सन्धि समयमें लोकके बीच दैव इच्छासे बारह वर्ष तक घोर अनावृष्टि हुई थी । त्रेताके अन्त और द्वापरके आरम्भके समय अत्यन्त-वृद्ध प्रजासमूहके प्रलयकाल उपस्थित होनेपर देवराजने जलकी वर्षा नहीं की, बृहस्पति प्रतिकूल थे और चन्द्रमण्डलने निज लक्षण परित्याग करके दक्षिण मार्गसे गमन किया था, उस समय बादलका सञ्चार तो दूर रहे, नीहार पात भी नहीं हुआ, तब नदी शुष्कप्राय होगई, तालाब, कूएं और झरने दैववशसे जल रहित और प्रभाहीन होनेसे अलक्षित होने लगे, जलस्थान आदि जलशून्य हुए, ब्राह्मणोंके यज्ञ

उच्छिन्नकृषिगोरक्षा निवृत्तविपणापणा।
निवृत्तयूपसंभारा विप्रनष्टमहोत्सवा ॥ १९ ॥
अस्थिसंचयसंकीर्णा महाभूतरवाकुला।
शून्यभूयिष्ठनगरा दग्धग्रामनिवेशना ॥ २० ॥
क्वचिच्चौरैः क्वचिच्छस्त्रैः क्वचिद्राजभिरातुरैः।
परस्परभयाच्चैव शून्यभूयिष्ठनिर्जना ॥ २१ ॥
गतदैवतसंस्थाना वृद्धलोकनिराकृता।
गोजाविमहिषीहीना परस्परपराहृता ॥ २२ ॥
हतविप्रा हतारक्षा प्रनष्टौषधिसंचया।
सर्वभूततरुप्राया बभूव वसुधा तदा ॥ २३ ॥
तस्मिन्प्रतिभये काले क्षते धर्मे युधिष्ठिर।
बभूवुः क्षुधिता मर्त्याः खादमानाः परस्परम् ॥ २४ ॥
ऋषयो नियमांस्त्यक्त्वा परित्यज्याग्निदेवताः।
आश्रमान्संपरित्यज्य पर्यधावन्नितस्ततः ॥ २५ ॥
विश्वामित्रोऽथ भगवान्महर्षिरनिकेतनः।
क्षुधापरिगतो धीमान्समन्तात्पर्यधावत ॥ २६ ॥

वेदाध्ययन और वषट्कार आदि मङ्गल कार्य निवृत्त होगये; कृषिकार्य और गोरक्षा नष्ट हुई; विपणि और आपण आदि निवृत्त हुए, यज्ञके स्तम्भ, यज्ञका होना और समस्त उत्सव एकबारही नष्ट हुए; बहुतेरे नगर सूने और ग्राम आदि आग लगनेसे जल गये; सब प्रजाके किसी स्थानमें चोरोंसे, किसी जगह शस्त्रोंसे और किसी स्थानमें राजासे पीडित होकर परस्पर भयके कारण भागनेसे सब ग्राम सूने तथा निर्जन होगये; सब देवस्थान नष्ट हुए और वृद्ध मनुष्य अपने पुत्र पौत्रादिकोंके जरिये घरसे निकाले गये। गौ, बकरे, मेढे और भैंसे पञ्चत्वको प्राप्त हुए; ब्राह्मण लोग मृत्युके ग्रासमें पतित हुए; राक्षसोंका नाश हुआ; औषधियां नष्ट होगईं; अधिक क्या कहें, उस समय पृथ्वीमण्डल केवल श्मशान रूप होकर वृक्षसमूहसे भर गया था॥ (१३—२३)

हे युधिष्ठिर! उस भयङ्कर समयमें धर्म नष्ट होनेसे मनुष्य लोग भूखे होकर परस्परके मांसको भक्षण करते हुए भ्रमण करने लगे। ऋषि लोग जप, होम नियम और समस्त आश्रमोंको परित्याग करके इधर उधर दौडने लगे। अनन्तर

त्यक्त्वा दारांश्च पुत्रांश्च कस्मिंश्च जनसंसदि ।
भक्ष्याभक्ष्यसमो भूत्वा निरग्निरनिकेतनः ॥ २७ ॥
स कदाचित्परिपतन् श्वपचानां निवेशनम् ।
हिंस्राणां प्राणिघातानामाससाद वने क्वचित् ॥ २८ ॥
विभिन्नकलशाकीर्णं श्वचर्मच्छेदनायुतम् ।
वराहखरभग्नास्थिकपालघटसंकुलम् ॥ २९ ॥
मृतचैलपरिस्तीर्णं निर्माल्यकृतभूषणम् ।
सर्पनिर्मोकमालाभिः कृतचिह्नकुटीमठम् ॥ ३० ॥
कुक्कुटारावबहुलं गर्दभध्वनिनादितम् ।
उद्घोषद्भिः खरैर्वाक्यैः कलहद्भिः परस्परम् ॥ ३१ ॥
उलूकपक्षिध्वनिभिर्देवतायतनैर्वृतम् ।
लोहघण्टापरिष्कारं श्वयूथपरिवारितम् ॥ ३२ ॥
तत्प्रविश्य क्षुधाऽऽविष्टो विश्वामित्रो महानृषिः ।
आहारान्वेषणे युक्तः परं यत्नं समास्थितः ॥ ३३ ॥
न च क्वचिदविन्दत्स भिक्षमाणोऽपि कौशिकः ।
मांसमन्नं फलं मूलमन्यद्वा तत्र किंचन ॥ ३४ ॥

बुद्धिमान् भगवान् विश्वामित्र महर्षिने क्षुधासे आर्त्त हो घर त्यागके स्त्री पुत्र आदिको किसी जनसमाजमें रक्षा करते हुए खाद्याखाद्य विचार और होम आदि कार्योंको तजके सर्वत्र पर्यटन करनेमें प्रवृत्त हुए ॥ (२४–२७)

वह घूमते घूमते किसीसमय वनकेबीच प्राणघातक हिंसक चाण्डालोंकी बस्तीमें पहुंचे, वहां पहुंचके देखा, कि वह स्थान टूटे घडे, कुत्तोंके चमडोंके टुकडे, वराह और गधेकी हड्डियों और मरे हुए मनुष्योंके वस्त्रसमूहसे परिपूरित है, गृह सब निर्माल्यसे अलंकृत, कुटीके सब मठ अहिनिर्मोक-मालासे चिन्हित हुए हैं। कोई स्थान बहुतसे कुत्तों और कोई स्थान गधेके शब्दसे प्रतिध्वनित हो रहा है; किसी जगह चाण्डाल लोग कडुवे वचन से आपसमें झगडा कर रहे हैं; कहींपर उल्लू और अनेक तरहके पक्षियोंकी मूर्तियोंसे अलंकृत देवालय वर्तमान हैं। कोई स्थान लोहेकी घण्टियोंसे अलंकृत कुत्तोंके समूहसे भरा हुआ है।(२८–३२)

महर्षि विश्वामित्र क्षुधायुक्त होकर उस स्थानमें प्रवेश करके खाद्य वस्तुके खोजनेमें अत्यन्त यत्न करने लगे; परन्तु भीख मांगनेपर भी किसी स्थानमें मांस

अहो कृच्छ्रं मया प्राप्तमिति निश्चित्य कौशिकः ।
पपात भूमौ दौर्बल्यात्तस्मिंश्चाण्डालपक्कणे ॥ ३५ ॥
स चिन्तयामास मुनिः किंनु मे सुकृतं भवेत् ।
कथं वृथा न मृत्युः स्यादिति पार्थिवसत्तम ॥ ३६ ॥
स ददर्श श्वमांसस्य कुतन्त्रीं विततां मुनिः ।
चाण्डालस्य गृहे राजन् सद्यः शस्त्रहतस्य वै ॥ ३७ ॥
स चिन्तयामास तदा स्तैन्यं कार्यमितो मया ।
न हीदानीमुपायो मे विद्यते प्राणधारणे ॥ ३८ ॥
आपत्सु विहितं स्तैन्यं विशिष्टं च महीयसः ।
विप्रेण प्राणरक्षार्थं कर्तव्यमिति निश्चयः ॥ ३९ ॥
हीनादादेयमादौ स्यात्समानात्तदनन्तरम् ।
असंभवे वाऽऽददीत विशिष्टादपि धार्मिकात् ॥ ४० ॥
सोऽहमन्त्यावसायानां हराम्येनां प्रतिग्रहात् ।
न स्तैन्यदोषं पश्यामि हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥ ४१ ॥
एतां बुद्धिं समास्थाय विश्वामित्रो महामुनिः ।
तस्मिन्देशे स सुष्वाप श्वपचो यत्र भारत ॥ ४२ ॥

अन्न, फल, मूल वा दूसरी कुछ भोजनकी सामग्री प्राप्त न हुई । "हाय! मैंने क्याही कष्ट पाया है।" ऐसा ही विचार करके कौशिक शरीरकी निर्बलताके कारण उस ही चाण्डाल वस्तीके बीच पृथ्वीपर गिर पडे, हे नृपसत्तम! वह उस समय क्या करनेसे अवस्थाका परिवर्त्तन हो और किस प्रकार वृथा मृत्यु न हो, ऐसी ही चिन्ता करने लगे॥ (३३-३६)

मुनिने चिन्ता करते करते देखा, चाण्डालके घरमें प्रतिदिन शस्त्रोंसे मरे हुए कुत्तोंका मांस बहुत है; उसे देखकर मुनिने विचारा, इस समय मेरे प्राण धारणके विषयमें दूसरा कुछ उपाय नहीं है; इसलिये मुझे चोरी वृत्ति अवलम्बन करनी पडी; आपदकालमें प्राण रक्षाके वास्ते चोरी अवलम्बन करनी ब्राह्मणोंके विषयमें अनुचित नहीं है; पहिले अपनी अपेक्षा नीचसे अनन्तर समानसे वह भी असम्भव होनेपर नष्ट धर्मवालोंसे भोजनोंकी वस्तु हरन करे; इसलिये मैं प्राण नष्ट होनेके समय इन चाण्डालोंके घरसे कुत्तेका मांस हरण करूंगा; इसमें चोरी दोष नहीं दीखता है। (३७-४१)

हे भारत! महामुनि विश्वामित्र ऐसी

स विगाढां निशां दृष्ट्वा सुप्ते चाण्डालपक्कणे ।
शनैरुत्थाय भगवान्प्रविवेश कुटीमतः ॥ ४३ ॥
स सुप्त इव चाण्डालः श्लेष्मापिहितलोचनः ।
परिभिन्नस्वरो रूक्षः प्रोवाचाप्रियदर्शनः ॥ ४४ ॥
श्वपच उवाच– कः कुतन्त्रीं घट्टयति सुप्ते चाण्डालपक्कणे ।
जागर्मि नात्र सुप्तोऽस्मि हतोऽसीति च दारुणः ॥४५॥
विश्वामित्रस्ततो भीतः सहसा तमुवाच ह ।
तत्र व्रीडाकुलमुखः सोद्वेगस्तेन कर्मणा ॥ ४६ ॥
विश्वामित्रोऽहमायुष्मन्नागतोऽहं बुभुक्षितः ।
मा वधीर्मम सद्बुद्धे यदि सम्यक् प्रपश्यसि ॥ ४७ ॥
चाण्डालस्तद्वचः श्रुत्वा महर्षेर्भावितात्मनः ।
शयनादुपसंभ्रान्त उद्ययौ प्रति तं ततः ॥ ४८ ॥
स विसृज्याश्रुनेत्राभ्यां बहुमानात्कृताञ्जलिः ।
उवाच कौशिकं रात्रौ ब्रह्मन् किं ते चिकीर्षितम् ॥४९॥
विश्वामित्रस्तु मातङ्गमुवाच परिसान्त्वयन् ।

ही बुद्धि अवलम्बन करके उस चाण्डाल के घरमें सो रहे। जब चाण्डाल लोग सो गये, तब भगवान मुनि घोर रात्रि देखके धीरे धीरे उठके उनके घरमें घुसे। बदसूरत चाण्डाल श्लेष्माच्छन्न नेत्रसे निद्रितकी तरह स्थित था। वह मुनिको मांस चुराते देख रूखे और विभिन्न स्वरसे कहने लगा। (४२—४४)

चाण्डाल बोला, जातिके सबलोग सोये हुए हैं, अकेला केवल मैं ही जागता हूं, इस समय कौन मेरे घरमें घुसके मांस चुरानेके वास्ते दण्ड उखाड रहा है; वह अपने जीवनमें संशय समझे। अनन्तर विश्वामित्र सहसा चोरी कार्यके कारण व्याकुल और भयभीत तथा लज्जायुक्त होकर उससे बोले, हे आयुष्मन्! मैं विश्वामित्र क्षुधासे अत्यन्त आर्त होकर तुम्हारे गृहमें आया हूं। हे सद्बुद्धिवाले तुम यदि साधुदर्शी हो, तो मेरा वध मत करो। महर्षिका ऐसा वचन सुनके चाण्डाल शङ्कायुक्त चित्तसे शय्याप-रसे उठके उनके समीप आया; और दोनों आखोंसे बहते हुए आंसुओंको पोछके सम्मानपूर्वक हाथ जोडके उनसे बोला। हे ब्रह्मन्! इस रात्रिके समय आपको कौनसा कार्य साधन करनेकी इच्छा है? (४५—४९)

चाण्डालको धीरज देके विश्वामित्र

क्षुधितोऽहं गतप्राणो हरिष्यामि श्वजाघनीम्॥ ५० ॥
क्षुधितः कलुषं यातो नास्ति ह्रीरशनार्थिनः ।
क्षुच्च मां दूषयत्यत्र हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥ ५१ ॥
अवसीदन्ति मे प्राणाः श्रुतिर्मे नश्यति क्षुधा ।
दुर्बलो नष्टसंज्ञश्च भक्ष्याभक्ष्यविवर्जितः ॥ ५२ ॥
सोऽधर्मं बुद्ध्यमानोऽपि हरिष्यामि श्वजाघनीम् ।
अटन् भैक्ष्यं न विन्दामि यदा युष्माकमालये॥ ५३ ॥
तदा बुद्धिः कृता पापे हरिष्यामि श्वजाघनीम् ।
अग्निर्मुखं पुरोधाश्च देवानां शुचिषाड्विभुः ॥ ५४ ॥
यथावत्सर्वभुग्ब्रह्मा तथा मां विद्धि धर्मतः ।
तमुवाच स चाण्डालो महर्षे शृणु मे वचः ॥ ५५ ॥
श्रुत्वा तत्त्वं तथाऽऽतिष्ठ यथा धर्मो न हीयते ।
धर्मं तवापि विप्रर्षे शृणु यत्ते ब्रवीम्यहम् ॥ ५६ ॥
शृगालादधमं श्वानं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
तस्याप्यधम उद्देशः शरीरस्य श्वजाघनी ॥ ५७ ॥

बोले मैं अत्यन्त भूखा हूं, इसलिये मृतकके समान होकर तुम्हारे गृहमें कुत्तेका निकृष्ट मांस हरण करनेके वास्ते आया हूं, मैं भूखा होकर पापसे आक्रान्त हुआ हूं, भूखे पुरुषमें लज्जा रहनी सम्भव नहीं है; इस समय क्षुधाने मुझे दूषित किया है, मैं कुत्तेका निकृष्ट मांस हरण करूंगा । मेरा प्राण अवसन्न हो-रहा है, क्षुधा मेरे वेदज्ञानको नष्ट करती है; मैं निर्बल चेतनारहित और खाद्याखाद्य विचारसे विमुख हुआ हूं; चोरी कर्मको अधर्म जानके भी मैं कुत्तेका मांस हरण करनेके वास्ते उद्यत हुआ हूं। मैंने तुम्हारे बस्तीमें हरएक गृहमें घूमकर भी भिक्षा नहीं पाई; इसलिये इस समय पाप कार्यमें मेरी प्रवृत्ति हुई है, मैं कुत्तेका निकृष्ट मांस हरण करूंगा । भगवान अग्नि जो देवताओंके मुखस्वरूप हैं और पुरोधा होकर पवित्र वस्तु मात्र भक्षण किया करते हैं, उन्हेंभी समयके अनुसार सर्वभुक्त होना पडता है, इस लिये मुझे भी धर्मानुसार वैसा ही समझो । (५०-५५)

चाण्डाल बोला, हे महर्षि ! मेरा वचन सुनिये और सुनकर जिसमें धर्म नष्ट न हो, वैसाही अनुष्ठान करिये । हे विप्रवर ! मैं आपसे जो कहता हूं, वह भी आपका धर्म है, पण्डित लोग कुत्तेको

नेदं सम्यग्व्यवसितं महर्षे धर्मगर्हितम्।
चाण्डालस्वस्य हरणमभक्ष्यस्य विशेषतः ॥ ५८ ॥
साध्वन्यमनुपश्य त्वमुपायं प्राणधारणे।
न मांसलोभात्तपसो नाशस्ते स्यान्महामुने ॥ ५९ ॥
जानता विहितं धर्मं न कार्यो धर्मसंकरः।
मा स्म धर्मं परित्याक्षीस्त्वं हि धर्मभृतां वरः ॥ ६० ॥
विश्वामित्रस्ततो राजन्नित्युक्तो भरतर्षभ।
क्षुधार्त्तः प्रत्युवाचेदं पुनरेव महामुनिः ॥ ६१ ॥
निराहारस्य सुमहान्मम कालोऽभिधावतः।
न विद्यतेऽप्युपायश्च कश्चिन्मे प्राणधारणे ॥ ६२ ॥
येन येन विशेषेण कर्मणा येन केन चित्।
अभ्युज्जीवेत्साद्यमानः समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ६३ ॥
ऐन्द्रो धर्मः क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामथाग्निकः।
ब्रह्मवह्निर्मम बलं भक्ष्यामि शमयन् क्षुधाम् ॥ ६४ ॥
यथा यथैव जीवेद्धि तत्कर्त्तव्यमहेलया।
जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन् धर्ममवाप्नुयात् ॥ ६५ ॥
सोऽहं जीवितमाकाङ्क्षन्नभक्ष्यस्यापि भक्षणम्।

सियारसे भी निकृष्ट समझते हैं; उसका बुरा मांस शरीरके अधमस्थानसे भी अधिक निकृष्ट है; इससे आपने यह उत्तम कार्य नहीं किया। हे महर्षि! चाण्डालस्व, विशेष करके अभक्ष्य मांस, हरण करना अत्यन्त धर्मनिन्दित कर्म है, आप प्राण धारणके वास्ते दूसरा कोई उत्तम उपाय देखिये। हे महामुनि! मांसलोभके कारण जिसमें आपकी तपस्या नष्ट न होवे; विहित धर्मको मालूम करके धर्मसङ्कर करना योग्य नहीं, आप धार्मिक पुरुषोंमें अग्रगण्य हैं; इसलिये धर्म परित्याग न करिये। (५५—६०)

हे भरतश्रेष्ठ! महामुनि विश्वामित्रने चाण्डालका ऐसा वचन सुनके और क्षुधासे आर्त्त होकर फिर उसे इस प्रकार उत्तर दिया, मैंने निराहार रहके घूमते हुए बहुत समय बिताया है, अब मेरे प्राणधारणका दूसरा कोई उपाय नहीं है। प्राणान्त होनेके समय जिस किसी कर्मसे हो सके, जीवित रहे; उसके अनन्तर समर्थ होनेपर धर्माचरण करे। क्षत्रियोंका इन्द्रकी तरह पालन करना ही धर्म है, ब्राह्मणोंका अग्निकी तरह पवित्रता

व्यवस्ये बुद्धिपूर्वं वै तद्भवाननुमन्यताम् ॥ ६६ ॥
बलवन्तं करिष्यामि प्रणोत्स्याम्यशुभानि तु ।
तपोभिर्विद्यया चैव ज्योतींषीव महत्तमः ॥ ६७ ॥
श्वपच उवाच— नैतत्खादन्प्राप्नुते दीर्घमायुर्नैव प्राणानामृतस्येव तृप्तिः ।
भिक्षामन्यां भिक्ष मा ते मनोऽस्तु श्वभक्षणे श्वा ह्यभक्ष्यो द्विजानाम् ॥६८॥
विश्वामित्र उवाच-न दुर्भिक्षे सुलभं मांसमन्यच्छ्वपाक मन्ये नचमेऽस्ति वित्तम्।
क्षुधार्तश्चाहमगतिर्निराशः श्वमांसे चास्मिन् षड्रसान् साधु मन्ये॥६९॥
श्वपच उवाच—पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रस्य वै विशः ।
यथाशास्त्रं प्रमाणं ते माऽभक्ष्ये मानसं कृथाः॥ ७० ॥
विश्वामित्र उवाच-अगस्त्येनासुरो जग्धो वातापिः क्षुधितेन वै ।
अहमापद्गतः क्षुब्धो भक्षयिष्ये श्वजाघनीम् ॥ ७१ ॥

ही धर्म हुआ करता है; वेदरूपी अग्नि मेरा बल है, मैं उस ही बलको अवलम्बन करके अभक्ष्य मांस भक्षण करके क्षुधाको शान्त करूंगा। जिस किसी उपायके सहारे जीवन धारण किया जा सके, यत्नपूर्वक वैसाही करना चाहिये। मरनेकी अपेक्षा जीवन श्रेष्ठ है, जीवित रहनेसे फिर धर्माचरण होसकता है; इस लिये मैं प्राणधारणके निमित्त ज्ञानपूर्वक अभक्ष्यको भक्षण करनेमें उद्यत हुआ हूं; तुम इसमें अनुमोदन करो। मैं जीवित रहनेसे धर्माचरण करूंगा और जैसे ज्योतिवाले पदार्थ घोर अन्धकारको नष्ट करते हैं, वैसे ही विद्या और तपोबलसे सब अशुभ कर्मोंको खण्डन करूंगा। (६१—६७)

चाण्डाल बोला, इस अभक्ष्य मांसको खानेसे परमायुकी बढती नहीं होती, प्राण प्रसन्न नहीं होता, अमृतपानकी तरह तृप्ति नहीं होती; इससे आप दूसरी कुछ भिक्षा प्रार्थना करिये, कुत्तेका मांस भक्षण करनेमें चित्त न लगाईये, कुत्ते ब्राह्मणोंके अभक्ष्य हैं। विश्वामित्र बोले! इस दुर्भिक्षके समय दूसरा मांस सुलभ नहीं है, मेरी भी कुछ संपत्ति नहीं है, मैं क्षुधाके निमित्त उपायरहित और निराश हुआ हूं; इसलिये इस कुत्तेके मांसमें छः प्रकारके रसोंका स्वाद लेना उत्तम समझता हूं। (६८-६९)

चाण्डाल बोला, ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्योंके लिये शशक आदि पांच पञ्चनखवाले पशु ही भक्ष्य हैं, इस विषयमें आपके निमित्त शास्त्र ही प्रमाण है; इस लिये आप अभक्ष्य वस्तुके खानेमे प्रवृत्ति न कीजिये। विश्वामित्र बोले, अगस्त मुनिने भूखे हो कर वातापी नाम दान-

श्वपच उवाच— भिक्षामन्यामाहरेति न च कर्तुमिहार्हसि।
न नूनं कार्यमेतद्वै हर कामं श्वजाघनीम् ॥ ७२ ॥
विश्वामित्र उवाच-शिष्टा वै कारणं धर्मे तद्वृत्तमनुवर्तये।
परां मेध्याशनादेनां भक्ष्यां मन्ये श्वजाघनीम् ॥७३॥
श्वपच उवाच— असता यत्समाचीर्णं न च धर्मः सनातनः।
नाकार्यमिह कार्यं वै मा छलेनाशुभं कृथाः ॥ ७४ ॥
विश्वामित्र उवाच-न पातकं नावमतमृषिः सन्कर्तुमर्हति।
समौ च श्वमृगौ मन्ये तस्माद्भोक्ष्ये श्वजाघनीम् ॥७५॥
श्वपच उवाच— यद्ब्राह्मणार्थे कृतमर्थितेन तेनर्षिणा तदवस्थाऽविकारे।
स वै धर्मो यत्र न पापमस्ति सर्वैरुपायैर्गुरवो हि रक्ष्याः ॥ ७६ ॥
विश्वामित्र उवाच-मित्रं च मे ब्राह्मणस्यायमात्मा प्रियश्च मे पूज्यतमश्च लोके।
तं भर्तुकामोऽहमिमां जिहीर्षे नृशंसानामीदृशानां न बिभ्ये ॥ ७७ ॥

वको भक्षण किया था, मैं भी आपदग्रस्त और क्षुधासे आर्त्त हुआ हूं, इसलिये कुत्तेका महा निकृष्ट मांस भोजन करूंगा। चाण्डाल बोला, आप और कुछ भिक्षा मांगिये, इस स्थानमें इस तरह अभक्ष्य भक्षण नहीं कर सकेंगे; यह अवश्य ही आपका अकर्त्तव्य है, तब यदि इच्छा हो, तो कुत्तेका मांस ले जाइये।(७०-७२)

विश्वामित्र बोले, शिष्ट पुरुष ही धर्माचरण विषयमें कारण हैं, इससे मैं उन्हींके चरित्रोंका अनुसरण करूंगा, पवित्र सामग्रीको भक्षण करनेकी अपेक्षा इस कुत्तेके मांसको मैं उत्तम भक्ष्य समझता हूं। चाण्डाल बोला, दुष्ट पुरुषोंने जैसा आचरण किया है, वह सनातन धर्म नहीं है; इस समय आपको ऐसा अकर्तव्य कर्म करना उचित नहीं है; आप छलके जरिये अशुभ कार्य न करिये। विश्वामित्र बोले, ऋषि होकर कोई साधारणके असम्मत पापके करनेमें समर्थ नहीं होता, परन्तु इस समय मैं कुत्ता और मृग दोनोंको ही पशु कहके तुल्य ही मानता हूं, इससे मैं कुत्तेका निकृष्ट मांस भोजन करूंगा। (७३-७५)

चाण्डाल बोला, ब्राह्मणोंको वातापी भक्षण करता था, इस ही लिये महर्षि अगस्तिने ब्राह्मणोंकी प्रार्थनाके अनुसार उसे भक्षण किया, वैसी अवस्थामें नरमांस भक्षण दोषयुक्त नहीं है; जिसमें पापका स्पर्श नहीं, वही धर्म है और सब तरहके उपायसे ब्राह्मणोंकी रक्षा करनी उचित है। विश्वामित्र बोले, मैं ब्राह्मण हूं मुझे शरीरही परम प्रिय और पूजनीय मित्र है, उस शरीरकी रक्षाके

श्वपच उवाच-कामं नरा जीवितं संत्यजन्ति नचाभक्ष्ये क्वचित्कुर्वन्ति बुद्धिम्।
सर्वान्कामान्प्राप्नुवन्तीह विद्वन् प्रियस्व कामं सहितः क्षुधैव ॥७८॥
विश्वामित्र उवाच-स्थाने भवेत्संयमः प्रेत्यभावे निःसंशयः कर्मणां वै विनाशः।
अहं पुनर्व्रतनित्यः शमात्मा मूलं रक्ष्यं भक्षयिष्याम्यभक्ष्यम्॥७९॥
बुद्ध्यात्मके व्यक्तमस्तीति पुण्यं मोहात्मके यत्र यथा श्वभक्ष्ये।
यद्यप्येतत्संशयात्मा चरामि नाहं भविष्यामि यथा त्वमेव॥८०॥
श्वपच उवाच- गोपनीयमिदं दुःखमिति मे निश्चिता मतिः।
दुष्कृतो ब्राह्मणः सन्नं यस्त्वामहमुपालभे ॥ ८१ ॥
विश्वामित्र उवाच-पिबन्त्येवोदकं गावो मण्डूकेषु रुवत्स्वपि।
न तेऽधिकारो धर्मेऽस्ति मा भूरात्मप्रशंसकः ॥ ८२ ॥

निमित्तही इस निकृष्ट मांसको हरण करनेकी इच्छा करता हूं; इसलिये ऐसे नृशंस चाण्डालोंका भी भय नहीं करता। चाण्डाल बोला, हे विद्वन्! मनुष्य लोग वल्कि अपने जीवनको त्यागते, तथापि कोई अभक्ष्य वस्तुके भक्षण करनेमें प्रवृत्त नहीं होते, वे लोग भूखको जीतके ही इस लोकमें समस्त कामना प्राप्त करते हैं, इससे आप भी क्षुधाके वेगको सहके इच्छानुसार प्रीति लाभ करिये। (७६—७८)

विश्वामित्र बोले, पाप कर्म करके प्राणत्यागनेसे परलोकमें संशय उपस्थित होता है. यह ठीक है; परन्तु सब कर्मोंके नष्ट होनेपर कुछ संशय नहीं रहता। मैं शान्तचित्त होकर सदा व्रताचरण किया करता हूं; इसलिये तपस्याके जरिये अभक्ष्य भक्षणरूपी पापसे छूटूंगा; इस समय धर्म आचरणके मुख्य साधन शरीरकी रक्षा करनी उचित है, इसीसे मैं अभक्ष्य मांसको भक्षण करनेमें प्रवृत्त हुआ हूं, विवेक शक्तियुक्त पुरुषोंके समीप यह अभक्ष्य भक्षण भी पवित्र कर्म कहके वर्णित होता है और मूढ पुरुष ही आपद्कालमें कुत्तेके मांसको अभक्ष्य कहा करते हैं; मैं जीवन संशयके समयमें यद्यपि इस असत् कार्यको करूं, तौ भी तुम्हारी तरह चाण्डाल न हूंगा। (७९-८०)

चाण्डाल बोला, मुझे यह निश्चय मालूम होता है, कि इस अकार्यसे आपकी रक्षा करना योग्य है, ब्राह्मण यदि दुष्कर्म करे, तो उनमें ब्राह्मणत्व नहीं रहता; इस ही कारण मैं आपको निवारण करता हूं। विश्वामित्र बोले, मेढक ऊंचे स्वरसे चिल्लाते रहते हैं, गौवें कभी जल पीनेसे विरत नहीं होतीं, तुम्हे धर्म उपदेश करनेका कुछ अधि-

श्वपच उवाच— सुहृद्भूत्वानुशासे त्वां कृपा हि त्वयि मे द्विज।
यदिदं श्रेय आधत्स्व मा लोभात्पातकं कृथाः॥ ८३ ॥
विश्वामित्र उवाच-सुहृन्मे त्वं सुखेप्सुश्चेदापदो मां समुद्धर।
जानेऽहं धर्मतोऽऽत्मानं शौनीमुत्सृज जाघनीम्॥८४॥
श्वपच उवाच— नैवोत्सहे भवतो दातुमेतां नोपेक्षितुं ह्रियमाणं स्वमन्नम्।
उभौ स्याव: पापलोकावलिप्तौ दाता चाहं ब्राह्मणस्त्वं प्रतीच्छन्॥८५॥
विश्वामित्र उवाच-अद्याहमेतद्वृजिनं कर्म कृत्वा जीवंश्चरिष्यामि महापवित्रम्।
स पूतात्मा धर्ममेवाभिपत्स्ये यदेतयोर्गुरु तद्वै ब्रवीहि॥ ८६ ॥
श्वपच उवाच-आत्मैव साक्षी कुलधर्मकृत्ये त्वमेव जानासि यदत्र दुष्कृतम्।
यो ह्याद्रियाद्भक्ष्यमिति श्वमांसं मन्ये न तस्यास्ति विवर्जनीयम्॥८७॥
विश्वामित्र उवाच-उपादाने खादने चास्ति दोषः कार्येऽत्यये नित्यमत्रापवादः।

कार नहीं है; इसलिये तुम आत्म-प्रशंसा मत करो। चाण्डाल बोला, हे द्विजवर आपके विषयमें मुझे करुणा हुई है, इसलिये मैं सुहृद भावसे आपको कहता हूं; इससे यदि आप इसे अपना कल्याणदायक समझिये तो ऐसा ही करिये; परन्तु लोभके कारण पाप कर्म न कीजिये, मैं आपको पापाचरण करनेसे निवारण करके भी अपराधी होता हूं। (८१—८३)

विश्वामित्र बोले, तुम यदि मेरे सुहृद और सुखकी इच्छा करनेवाले हो, तो मुझे इस आपदसे उद्धार करो; मैं कुत्तेका निकृष्ट मांस परित्याग करके अपनेको धर्मपूर्वक रक्षित समझूं। चाण्डाल बोला, यह कुत्तेका मांस मेरा अपना भक्ष्य है, इसे आपको दान नहीं कर सकता; और मेरे सम्मुख आप इसे हरण करेंगे, उसमें भी उपेक्षा न कर सकूंगा। मैं इसे दान करने और आप ब्राह्मण होके इसे ग्रहण करनेसे हम दोनों ही नरकमें गमन करेंगे। विश्वामित्र बोले, मैं आज यदि इस पापयुक्त कर्म करके शरीर रक्षा करते हुए जीवित रहूंगा, तो भविष्यत् कालमें परम धर्म आचरण करूंगा। उपवास करके शरीर त्यागना और अभक्ष्य भक्षणके जरिये जीवित रहना, इन दोनोंके बीच कौनसा श्रेष्ठ है, उसे तुम कहो। चाण्डाल बोला; वंश परम्परासे प्रचलित धर्म-सम्पादन विषयमें आत्मा ही साक्षी है, इसलिये इसमें पाप है, वा नहीं; उसे आपही जानते हैं। जो पुरुष कुत्तेके मांसको भक्ष्य कहके आदर करता है, मालूम होता है, उसके लिये दूसरी कोई वस्तु भी परित्याग करनेके योग्य नहीं होता है। (८४—८७)

यस्मिन् हिंसा नानृतं वाच्यलेशो भक्ष्यक्रिया यत्र न तद्गरीयः॥८८॥
श्वपच उवाच—यद्येष हेतुस्तव खादने स्यान्न ते वेदः कारणं नार्यधर्मः।
तस्माद्भक्ष्येऽभक्षणे वा द्विजेन्द्र दोषं न पश्यामि यथेदमत्र ॥ ८९ ॥
विश्वामित्र उवाच—नैवातिपापं भक्षमाणस्य दृष्टं सुरां तु पीत्वा पततीति शब्दः।
अन्योऽन्यकार्याणि यथा तथैव न पापमात्रेण कृतं हिनस्ति॥ ९० ॥
श्वपच उवाच—अस्थानतो हीनतः कुत्सिताद्वा तद्विद्वांसं बाधते साधुवृत्तम्।
श्वानं पुनर्यो लभतेऽभिषङ्गात्तेनापि दण्डः सहितव्य एव ॥ ९१ ॥
भीष्म उवाच— एवमुक्त्वा निववृते मातङ्गः कौशिकं तदा।
विश्वामित्रो जहारैव कृतबुद्धिः श्वजाघनीम् ॥ ९२ ॥
ततो जग्राह स श्वाङ्गं जीवितार्थी महामुनिः।
सदारस्तामुपाहृत्य वने भोक्तुमियेष सः ॥ ९३ ॥

विश्वामित्र बोले, अभक्ष्य वस्तुके ग्रहण करने वा भोजन करनेसे अवश्य पाप होता है; परन्तु प्राण नष्ट होनेके समय वह दोषयुक्त नहीं है। जिसमें हिंसा वा मिथ्या व्यवहार नहीं है और जिस कर्मके करनेसे जनसमाजके बीच अत्यन्त निन्दित नहीं होना पडता;वैसे अभक्ष्यभक्षणमें बहुत भारी पापका कारण नहीं है। चाण्डाल बोला, यदि अभक्ष्यको भक्षण करके प्राणरक्षा करना ही आपका मुख्य कारण हुआ तो वेद और आर्यधर्म आपके समीप कुछ भी नहीं हैं। हे द्विजवर! आप अभक्ष्यभक्षण करनेके लिये आग्रह प्रकाश करते हैं, तब खाद्याखाद्य वस्तुमात्रमें ही कुछ दोष नहीं है, ऐसा ही प्रतिपन्न होता है। (८८-८९)

विश्वामित्र बोले, भोजन करनेसे अत्यन्त पाप होता है; ऐसा विचार नहीं किया जाता; सुरापान करनेसे लोग पतित होते हैं, यह शास्त्रोंका शासनमात्र है; निषिद्ध मैथुन आदि पापकार्यमात्र ही पुण्यकर्मको नष्ट करते हैं, ऐसा शास्त्रनिश्चय नहीं है। (९०)

चाण्डाल बोला, नीच जाति चाण्डालके घरसे चोरी वृत्तिके जरिये अत्यन्त आग्रह के सहित जो कुत्तेका मांस हरण करता है, उस विद्वान पुरुषमें सच्चरित्रता नहीं रहती और अन्तमें उसे अवश्यही दण्डित होना पडता है, चाण्डाल उस समय महर्षि विश्वामित्रसे ऐसा ही कहके निवृत्त हुआ; बुद्धिमान् विश्वामित्रने भी कुत्तेका निकृष्ट मांस हरण करके प्रस्थान किया। अनन्तर उस समय महामुनिने जीवनधारण की इच्छा करते हुए कुत्तेका मांस लेकर

अथास्य बुद्धिरभवद्विधिनाहं श्वजाघनीम् ।
भक्षयामि यथाकामं पूर्वं संतर्प्य देवताः ॥ ९४ ॥
ततोऽग्निमुपसंहृत्य ब्राह्मेण विधिना मुनिः ।
ऐन्द्राग्नेयेन विधिना चरुं अपचत स्वयम् ॥ ९५ ॥
ततः समारभत्कर्म दैवं पित्र्यं च भारत ।
आहूय देवानिन्द्रादीन् भागं भागं विधिक्रमात्॥९६॥
एतस्मिन्नेव काले तु प्रववर्ष स वासवः ।
संजीवयन् प्रजाः सर्वा जनयामास चौषधीः ॥ ९७ ॥
विश्वामित्रोऽपि भगवांस्तपसा दग्धकिल्बिषः ।
कालेन महता सिद्धिमवाप परमाद्भुताम् ॥ ९८ ॥
स संहृत्य च तत्कर्म अनास्वाद्य च तद्धविः ।
तोषयामास देवांश्च पितॄंश्च द्विजसत्तमः ॥ ९९ ॥
एवं विद्वानदीनात्मा व्यसनस्थो जिजीविषुः ।
सर्वोपायैरुपायज्ञो दीनमात्मानमुद्धरेत् ॥ १०० ॥
एतां बुद्धिं समास्थाय जीवितव्यं सदा भवेत् ।
जीवन्पुण्यमवाप्नोति पुरुषो भद्रमश्नुते ॥ १०१ ॥

वनमें स्वजनोंके सहित उसे भोजन करने की इच्छा की। अनन्तर उन्होंने विचार किया कि आगे विधिपूर्वक देवताओं-को तृप्त करके फिर इच्छानुसार इस कुत्तेके मांसको भोजन करूंगा, मुनिने ऐसा ही स्थिर करके ब्राह्मविधिके अनुसार अग्नि लाके ऐन्द्राग्नेय विधानके जरिये स्वयं चरुपाक किया। ९१-९५

हे भारत! अनन्तर उन्होंने विधिपूर्वक भागके अनुसार इन्द्र आदि देवताओंको आवाहन करके देव और पितर-कर्म आरम्भ किया। उस ही समय देवराजने प्रजासमूहको सञ्जीवित करते हुए बहुत ही जल बरसाया; उससे सब औषधी उत्पन्न हुई। भगवान् विश्वामित्र तपस्यासे पाप जलाकर बहुत समयके अनन्तर परम सिद्धिको प्राप्त हुए। उन्होंने उस आरम्भ किये हुए कार्यकी समाप्ति करते हुए वैसे चरुका स्वाद न लेकर ही देवताओं और पितरोंको संतुष्ट किया था, विद्वान् पुरुष आपदायुक्त होके जीवनधारणके अभिलाषी होकर इसी प्रकार शङ्कारहित चित्तसे जिस किसी उपायसे होसके दुःखित आत्मा-का उद्धार करें। सदा ऐसा ही उपाय अवलम्बन करके जीवित रहना उचित है;

तस्मात्कौन्तेय विदुषा धर्माधर्मविनिश्चये।
बुद्धिमास्थाय लोकेऽस्मिन् वर्तितव्यं कृतात्मना॥१०२॥ [५३६७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि
विश्वामित्रश्वपचसंवादे एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥

युधिष्ठिर उवाच—यदि घोरं समुद्दिष्टमश्रद्धेयमिवानृतम्।
अस्ति स्विद्दस्युमर्यादा यामहं परिवर्जये ॥ १ ॥
संमुह्यामि विषीदामि धर्मो मे शिथिलीकृतः।
उद्यमं नाधिगच्छामि कदाचित्परिसान्त्वयन् ॥ २ ॥

भीष्म उवाच— नैतच्छ्रुत्वागमादेव तव धर्मानुशासनम्।
प्रज्ञासमवहारोऽयं कविभिः संभृतं मधु ॥ ३ ॥
बह्व्यः प्रतिविधातव्याः प्रज्ञा राज्ञा ततस्ततः।
नैकशाखेन धर्मेण यात्रैषा संप्रवर्तते ॥ ४ ॥

पुरुष जीवित रहनेसे पुण्य सञ्चय और कल्याणभोग कर सकता है। हे कुन्तीनन्दन! इस लिये विद्वान् पुरुषको धर्माधर्मनिर्णयके विषयमें कृतबुद्धि लोगोंकी बुद्धिको अवलम्बन करके इस लोकमें जीवन व्यतीत करना उचित है। (९६—१०२) [५३६७]

शान्तिपर्वमें १४१ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १४२ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, आपने अनृतकी तरह श्रद्धारहित जिस घोर कार्यको महत् पुरुषोंका भी कर्तव्य कहके वर्णन किया है, उसे सुनकर पूछना पडता है, कि डाकुओंका क्या कर्म है और हम लोगोंके लिये ही कौनसा विषय त्यागने योग्य है। मैं शोक और मोहसे युक्त हुआ हूं; मेरा धर्मबन्धन शिथिल हुआ जाता है; मैं चित्तको शान्त करनेमें समर्थ नहीं होता हूं, इस लिये मैं ऐसा धर्माचरण करनेमें अशक्त हूं। (१—२)

भीष्म बोले, मैं वेदागम आदि शास्त्रोंको सुनकर तुम्हें ऐसा धर्माचरण करनेका उपदेश नहीं करता हूं! आपद्-कालमें ऐसा आचरण न करनेसे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं; इस ही कारण कवियोंने निज बुद्धिकौशलके जरिये अच्छी तरह इसे कल्पना किया है। (कोकिल, वराह, सिंह आदिसे) शिक्षा-लाभ करके, जब जिस विषयमें तुम्हारी यह बुद्धि प्रवर्तित होवे, उसे ही करना; धर्म के एकदेशमात्र का अवलम्बन करना उचित नहीं है, राजाको अनेक तरहकी बुद्धि धारण करनी योग्य है।

बुद्धिसञ्जननो धर्म आचारश्च सतां सदा।
ज्ञेयो भवति कौरव्य सदा तद्विद्धि मे वचः ॥ ५ ॥
बुद्धिश्रेष्ठा हि राजानश्चरन्ति विजयैषिणः।
धर्मः प्रतिविधातव्यो बुद्धया राज्ञा ततस्ततः ॥ ६ ॥
नैकशाखेन धर्मेण राज्ञो धर्मो विधीयते।
दुर्बलस्य कुतः प्रज्ञा पुरस्तादनुपाहृता ॥ ७ ॥
अद्वैधज्ञः पथि द्वैधे संशयं प्राप्तुमर्हति।
बुद्धिद्वैधं वेदितव्यं पुरस्तादेव भारत ॥ ८ ॥
पार्श्वतः करणं प्राज्ञो विष्टंभित्वा प्रकारयेत्।
जनस्तच्चरितं धर्म विजानात्यन्यथान्यथा ॥ ९ ॥
अमिथ्याज्ञानिनः केचिन्मिथ्याविज्ञानिनः परे।
तद्वै यथायथं बुद्ध्वा ज्ञानमाददते सताम् ॥ १० ॥
परिमुष्णन्ति शास्त्राणि धर्मस्य परिपन्थिनः।

हे कुरुनन्दन! बुद्धि तीव्र करनेवाले धर्म और साधुओंके आचरणको सदा जानना चाहिये; मेरा वचन सर्वदा उसे ही प्रतिपादन करता है; इसे मालूम करो। राजा लोग निज निज बुद्धिके प्रभावसे विजयी होते हैं; इसलिये बुद्धिबल अवलम्बन करके धर्मसंस्कारमें प्रवृत्त होना उचित है। (३—६)

राजधर्म अनेक शाखाओंसे युक्त है; इस लिये उसके एकदेशके सहारे व्यवहार करना उचित नहीं है। अध्ययनके समय अच्छी तरह न सीखनेसे बुद्धि शुद्ध नहीं होती, निर्बल पुरुष एक शाखाधर्मके जरिये किसी कार्यको सिद्ध करने में समर्थ नहीं होते। हे भारत! एकमात्र धर्म ही कभी धर्म और कभी अधर्मरूपसे मालूम होता है; जो पुरुष इस विषयमें अनभिज्ञ हैं, वे दो तरहके मार्गमें पडके संशययुक्त होते हैं; इससे बुद्धिके अनुसार इस प्रकार द्वैधको मालूम करना उचित है। अनन्तर जो करना होगा, पहिले उसे निश्चय करके बुद्धिमान् राजा प्रजासमूहके समीपसे छठवां भाग कर ग्रहण करे। आपदकालमें उससे अधिक ग्रहण करना अनुचित नहीं है; दूसरे लोग इसी प्रकार राजाके चरित्रको धर्म समझते हैं, इसमें अन्यथा होनेसे विपरीत होता है। कोई कोई यथार्थ ज्ञानी, कोई वृथा ही ज्ञानयुक्त होते हैं; इसे यथार्थ रीतिसे जानकर बुद्धिमान पुरुष साधुओंके मतको ग्रहण किया करते हैं। धर्म-

वैषम्यमर्थविद्यानां निरर्थाः ख्यापयन्ति ते ॥ ११ ॥
आजिजीविषवो विद्यां यशःकामौ समन्ततः ।
ते सर्वे नृप पापिष्ठा धर्मस्य परिपन्थिनः ॥ १२ ॥
अपक्वमतयो मन्दा न जानन्ति यथातथम् ।
यथा ह्यशास्त्रकुशलाः सर्वत्रायुक्तिनिष्ठिताः ॥ १३ ॥
परिमुष्णन्ति शास्त्राणि शास्त्रदोषानुदर्शिनः ।
विज्ञातमर्थं विद्यानां न सम्यगिति वर्तते ॥ १४ ॥
निन्दया परविद्यानां स्वविद्यां ख्यापयन्ति च ।
वागस्त्रा वाक्शरीभूता दुग्धविद्याफला इव ॥ १५ ॥
तान्विद्यावणिजो विद्धि राक्षसानिव भारत ।
व्याजेन सद्भिर्विहितो धर्मस्ते परिहास्यति ॥ १६ ॥
न धर्मवचनं वाचा नैव बुद्ध्येति नः श्रुतम् ।
इति बार्हस्पतं ज्ञानं प्रोवाच मघवा स्वयम् ॥ १७ ॥
न त्वेव वचनं किंचिदनिमित्तादिहोच्यते ।
सुविनीतेन शास्त्रेण न व्यवस्यन्त्यथापरे ॥ १८ ॥

द्वेषी, अर्थज्ञानरहित मनुष्य शास्त्रोंकी निन्दा तथा शास्त्रोंका अप्रमाण प्रकट किया करते हैं । (७—११)

हे महाराज ! जो लोग शास्त्र और आचारके निन्दा-प्रसङ्गमें केवल जीविका-निर्वाहके लिये विद्या सीखकर यश की इच्छा करते हैं, वेही धर्मद्वेषी और पापी हैं । शास्त्रज्ञानरहित, अयुक्तिसम्पन्न लोगोंकी तरह अपरिणत बुद्धिवाले मूर्ख लोग अपने कर्त्तव्य कर्मका निर्वाह करना नहीं जानते । शास्त्रमें दोषदर्शी पुरुष शास्त्रोंकी निन्दा किया करते हैं; शास्त्रोंका अर्थ मालूम होनेपर भी उन लोगोंके समीप वह साधुभावसे प्रतिपन्न नहीं होता; वह लोग कृतविद्य पुरुषोंकी तरह वचनरूपी अस्त्र वा बाण धारण करके ही दूसरेकी विद्याके निन्दावादके जरिये निज विद्या प्रकट करते हैं । हे भारत ! तुम ऐसे लोगोंको विद्यावणिक् और राक्षसोंके समान जानो; वे लोग साधु पुरुषोंके विहित धर्मको छलपूर्वक परित्याग करते हैं। १२–१६

मैंने सुना है, वचन वा बुद्धिके जरिये धर्म उच्चारण करनेसे ही धर्म नहीं होता; देवराजने स्वयं बृहस्पतिका यह उपदेश कहा था । इस समय मैं बिना कारणके कोई वचन नहीं कहता हूं, कोई कोई पुरुष शास्त्रज्ञानसे युक्त होकर

लोकयात्रामिहैके तु धर्मं प्राहुर्मनीषिणः ।
समुद्दिष्टं सतां धर्मं स्वयमूहेत पण्डितः ॥ १९ ॥
अमर्षाच्छास्त्रसंमोहादविज्ञानाच्च भारत ।
शास्त्रं प्राज्ञस्य वदतः समूहे यात्यदर्शनम् ॥ २० ॥
आगतागमया बुद्ध्या वचनेन प्रशस्यते ।
अज्ञानाज्ज्ञानहेतुत्वाद्वचनं साधु मन्यते ॥ २१ ॥
अनया हतमेवेदमिति शास्त्रमपार्थकम् ।
दैतेयानुशना प्राह संशयच्छेदनं पुरा ॥ २२ ॥
ज्ञानमप्यपदिश्यं हि यथा नास्ति तथैव तत् ।
तं तथा छिन्नमूलेन सन्नोदयितुमर्हसि ॥ २३ ॥
अनव्यवहितं यो वा नेदं वाक्यमुपाश्नुते ।
उग्रायैव हि सृष्टोऽसि कर्मणे न त्वमीक्षसे ॥ २४ ॥
अङ्ग मामन्ववेक्षस्व राजन्याय बुभूषते ।
यथा प्रमुच्यते त्वन्यो यदर्थं न प्रमोदते ॥ २५ ॥
अजोऽश्वः क्षत्रमित्येतत्सदृशं ब्रह्मणा कृतम् ।

भी उसके अनुसार धर्म आचरण नहीं करते, कोई कोई पण्डित लोक-यात्रा विधानको ही धर्म कहा करते हैं;पण्डित पुरुष स्वयं साधुओंके अनुष्ठित धर्मका आचरण करें। हे भारत ! बुद्धिमान् लोग यदि क्रोध, मोह और अज्ञानके वशमें होकर शास्त्रीय उपदेश दान करें, तो वह जनसमाजमें ग्रहण नहीं किया जाता और जो लोग शास्त्रदर्शिनी बुद्धि धारण करते हैं, उनके समीप उक्त उपदेश प्रशंसनीय नहीं है, बल्कि वे लोग अल्प-बुद्धियुक्त पुरुषोंका वचन ज्ञान-पूरित होनेसे उसे साधु समझते हैं। युक्तिके जरिये जो शास्त्र नष्ट होजाय, वह शास्त्रोंमें नहीं गिना जाता। शुक्राचार्यने दानवोंसे यह सन्देहको नष्ट करनेवाला वचन कहा था,—'सन्देह-युक्त ज्ञानका रहना और न रहना समान है; वैसे ज्ञानके जरिये जो धर्म होता है, उसके मूलको काटना और मेरे इन सब उपदेशों को अङ्गीकार करना तुम्हें अवश्य उचित है; तुमने जो उग्र कर्म सिद्ध करनेके वास्ते जन्म लिया है, वह क्या तुम्हें स्मरण नहीं है।' (१७—२४)

देखो, मैने युद्ध-विग्रहमें प्रवृत्त होकर कितने ऐश्वर्यवान् क्षत्रियोंको स्वर्गलोकमें भेजा है, उससे उन लोगोंकी

तस्मादभीक्ष्णं भूतानां यात्रा काचित्प्रसिद्ध्यति॥२६॥
यस्त्ववध्यवधे दोषः स वध्यस्यावधे स्मृतः।
सा चैव खलु मर्यादा यामयं परिवर्जयेत् ॥ २७ ॥
तस्मात्तीक्ष्णः प्रजा राजा स्वधर्मे स्थापयेत्ततः।
अन्योन्यं भक्षयन्तो हि प्रचरेयुर्वृका इव ॥ २८ ॥
यस्य दस्युगणा राष्ट्रे ध्वांक्षा मत्स्यान् जलादिव ।
विहरन्ति परस्वानि स वै क्षत्रियपांसनः ॥ २९ ॥
कुलीनान् सचिवान् कृत्वा वेदविद्यासमन्वितान् ।
प्रशाधि पृथिवीं राजन् प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ३० ॥
विहीनं कर्मणा न्यायं यः प्रगृह्णाति भूमिपः ।
उपायस्याविशेषज्ञं तद्वै क्षत्रं नपुंसकम् ॥ ३१ ॥
नैवोग्रं नैव चानुग्रं धर्मेणेह प्रशस्यते ।
उभयं न व्यतिक्रामेदुग्रो भूत्वा मृदुर्भव ॥ ३२ ॥

सद्गति हुई है; परन्तु कोई कोई पुरुष इसके वास्ते मेरे ऊपर सन्तुष्ट नहीं हुए। प्रजापतिने बकरे, घोडे और क्षत्रियोंको समान रूपसे परोपकारके निमित्त उत्पन्न किया है; इससे सदा प्राणियोंका उपकार करके सुरलोकमें गमन करना ही उचित है; अवध्य पुरुषके मारनेसे जैसा दोष होता है, वध्य पुरुषका वध न करनेसे भी वैसा ही दोष हुआ करता है। साधु लोग जिसे त्यागते हैं, डाकू लोग उसे निज कर्त्तव्य कहके ग्रहण करते हैं, इसलिये राजा अत्यन्त तीक्ष्ण होकर प्रजासमूह को स्वधर्म में स्थापित करें; इस में अन्यथा होनेसे वे लोग भेडियेकी तरह परस्परमें एक एक दूसरेको भक्षण करते हुए भ्रमण करेंगे। कौओंकी तरह जलसे मछली रहनेकी भांति जिसके राज्यमें डाकू लोग परधन हरण किया करते हैं, वह क्षत्रियोंके बीच अत्यन्त ही पापी है। (२५-२९)

हे राजन्! तुम वेदविद्यायुक्त, सत्कुलमें उत्पन्न हुए लोगोंको मन्त्रीपदपर अभिषिक्त करके धर्मके अनुसार प्रजापालन और पृथ्वीशासन करो। जो राजा अन्याय रीतिसे प्रजासमूहके निकट कर ग्रहण करता है, वह पालन-धर्मसे हीन और विशेष उपायमें अनभिज्ञ क्षत्रिय क्लीब शब्दसे पुकारे जाने योग्य होता है। राजा लोग अत्यन्त कोमल तथा अत्यन्त कठोर होनेसे धर्मपूर्वक प्रशंसित नहीं होते; इसलिये मृदुता और कठोर-

कष्टः क्षत्रियधर्मोऽयं सौहृदं त्वयि मे स्थितम् ।
उग्रकर्मनिसृष्टोऽसि तस्माद्राज्यं प्रशाधि वै ॥ ३३ ॥
अशिष्टनिग्रहो नित्यं शिष्टस्य परिपालनम् ।
एवं शुक्रोऽब्रवीद्धीमानापत्सु भरतर्षभ ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर उवाच- अस्ति चेदिह मर्यादा यामन्यो नाभिलङ्घयेत् ।
पृच्छामि त्वां सतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३५ ॥

भीष्म उवाच— ब्राह्मणानेव सेवेत विद्यावृद्धांस्तपस्विनः ।
श्रुतचारित्रवृत्ताढ्यान्पवित्रं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३६ ॥
या देवतासु वृत्तिस्ते साऽस्तु विप्रेषु नित्यदा ।
क्रुद्धैर्हि विप्रैः कर्माणि कृतानि बहुधा नृप ॥ ३७ ॥
प्रीत्या यशो भवेन्मुख्यमप्रीत्या परमं भयम् ।
प्रीत्या ह्यमृतवद्विप्राः क्रुद्धाश्चैव विषं यथा ॥ ३८ ॥ [५४०५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४२ ॥

ता दोनोंको ही अतिक्रम करना उचित नहीं है; इससे तुम पहिले उग्र होकर पीछे मृदु बनो । मैं तुमपर अत्यन्त स्नेह किया करता हूं; इस लिये यह कष्टयुक्त क्षत्रियधर्म कहा है । विधाता ने उग्र कार्योंके करनेके ही वास्ते तुम्हें उत्पन्न किया है; इस लिये तुम उसहीके अनुसार राज्यशासन करो ! हे भरत-श्रेष्ठ ! बुद्धिमान शुक्राचार्यने कहा है, आपदकालमें अशिष्टोंका निग्रह और शिष्टोंको सदा प्रतिपालन करना ही धर्म है । (३०—३४)

युधिष्ठिर बोले, हे साधुसत्तम पिता-मह ! दूसरे लोगोंसे अलङ्घनीय यदि कोई मर्यादा हो, तो मैं पूंछता हूं, आप उसे कहिये । भीष्म बोले, वेद जाननेवाले सचरित्र तपस्वी ब्राह्मणोंकी सेवा करो, यही अत्यन्त पवित्र उत्तम कर्म है; तुम देवताओंके विषयमें जैसा व्यवहार किया करते हो, ब्राह्मणोंके विषयमें भी सदा वैसाही व्यवहार करो । हे महाराज ! ब्राह्मणोंने क्रुद्ध होकर अनेक दुष्कर कर्म किये हैं, उन लोगोंकी प्रसन्नतासे बहुत यश प्राप्त होता है, अप्रसन्नतासे भय उत्पन्न हुआ करता है । ब्राह्मण लोग प्रसन्न होनेसे अमृतके समान और क्रुद्ध होनेसे विषकी तरह हुआ करते हैं । (३५-३८) [५४०५]

शान्तिपर्वमें १४२ अध्याय समाप्त ।

युधिष्ठिर उवाच—पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
शरणं पाल्यमानस्य यो धर्मस्तं ब्रवीहि मे ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— महान्धर्मो महाराज शरणागतपालने ।
अर्हः प्रष्टुं भवांश्चैव प्रश्नं भरतसत्तम ॥ २ ॥
शिबिप्रभृतयो राजन् राजानः शरणागतान् ।
परिपाल्य महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ ३ ॥
श्रूयते च कपोतेन शत्रुः शरणमागतः ।
पूजितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः ॥ ४ ॥
युधिष्ठिर उवाच- कथं कपोतेन पुरा शत्रुः शरणमागतः ।
स्वमांसं भोजितः कां च गतिं लेभे स भारत ॥ ५ ॥
भीष्म उवाच- शृणु राजन्कथां दिव्यां सर्वपापप्रणाशिनीम् ।
नृपतेर्मुचुकुन्दस्य कथितां भार्गवेण वै ॥ ६ ॥
इममर्थं पुरा पार्थ मुचुकुन्दो नराधिपः ।
भार्गवं परिपप्रच्छ प्रणतः पुरुषर्षभ ॥ ७ ॥
तस्मै शुश्रूषमाणाय भार्गवोऽकथयत्कथाम् ।
इमां यथा कपोतेन सिद्धिः प्राप्ता नराधिप ॥ ८ ॥

शान्तिपर्वमें १४३ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे सब शास्त्रोंके जाननेवाले महाबुद्धिमान पितामह ! शरणागत लोगोंके प्रतिपालन करनेसे जो धर्म होता है, आप मुझसे वही कहिये। भीष्म बोले, हे भरतसत्तम महाराज ! शरणागत पुरुषोंके प्रतिपालन करनेसे बहुत ही धर्म हुआ करता है; तुम इस विषयके प्रश्न करनेके योग्यपात्र हो। हे राजन् ! शिबि आदि राजा लोग शरणागत लोगोंको प्रतिपालन करके परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं, मैंने सुना है, किसी कपोतने शरणागत शत्रुको विधिपूर्वक संमान करके निज मांस भोजन कराया था। युधिष्ठिर बोले, हे भारत ! पहिले समयमें कपोतने किस प्रकार शरणागत शत्रुको निज मांस भोजन कराया और किस तरह उसकी गति हुई थी ? (१—५)

भीष्म बोले, हे राजन् भगवान भार्गवने मुचुकुन्द राजाके समीप सब पापोंको नष्ट करनेवाली दिव्य कथा कही थी, उसे तुम सुनो। हे पुरुषप्रवर पृथापुत्र ! पहिले मुचुकुन्द राजाने भार्गवके निकट विनीत भावसे इस विषयमें प्रश्न किया था। भार्गवने उस

मुनिरुवाच— धर्मनिश्चयसंयुक्तां कामार्थसहितां कथाम्।
शृणुष्वावहितो राजन् गदतो मे महाभुज ॥ ९ ॥
कश्चित्क्षुद्रसमाचारः पृथिव्यां कालसंमितः।
विचचार महारण्ये घोरः शकुनिलुब्धकः ॥ १० ॥
काकोल इव कृष्णाङ्गो रक्ताक्षः कालसंमितः।
दीर्घजङ्घो ह्रस्वपादो महावक्त्रो महाहनुः ॥ ११ ॥
नैव तस्य सुहृत्कश्चिन्न संबन्धी न बान्धवाः।
स हि तैः संपरित्यक्तस्तेन रौद्रेण कर्मणा ॥ १२ ॥
नरः पापसमाचारस्त्यक्तव्यो दूरतो बुधैः।
आत्मानं योऽभिसंधत्ते सोऽन्यस्य स्यात्कथं हितः॥१३॥
ये नृशंसा दुरात्मानः प्राणिप्राणहरा नराः।
उद्वेजनीया भूतानां व्याला इव भवन्ति ते ॥ १४ ॥
स वै क्षारकमादाय द्विजान् हत्वा वने सदा।
चकार विक्रयं तेषां पतङ्गानां जनाधिप ॥ १५ ॥
एवं तु वर्तमानस्य तस्य वृत्तिं दुरात्मनः।

सेवा करनेवाले राजासे कपोतने जिस प्रकार सिद्धि लाभ की थी; उस कथा को इस भांति वर्णन किया था, मुनि बोले, हे महाभुज महाराज। मैं धर्म-काम-अर्थ-निर्णय युक्त कथा कहता हूं, सावधान होके सुनो। (६—९)

किसी महावनके बीच कालान्तक यमराजके समान विकट रूपवाला एक पक्षीघातक निषाद भ्रमण करता था। उसका शरीर कौआकी तरह काला, दोनों नेत्र लाल, दोनों जङ्घा बहुत लम्बी, दोनों चरण छोटे, मुखमण्डल भयानक और दोनों गाल बडे थे। वह भयङ्कर कार्य करता था इसीसे स्त्रीके अतिरिक्त दूसरा कोई भी उसका सुहृद सम्बधी और बान्धव नहीं था; सब कोईने ही उसे परित्याग किया था, क्योंकि पापाचारी मनुष्योंको पण्डित लोग एकबारगी परित्याग किया करते हैं, जो पुरुष अपनेको ही विषभक्षण वा उद्बन्धन आदिसे नष्ट कर सकता है, वह किस प्रकार दूसरेका हितसाधन करेगा? जो सब दुराचारी नृशंस मनुष्य प्राणियोंका प्राण हरण करते हैं, वे सर्पकी तरह जीवोंके उद्वेगजनक होते हैं। हे प्रजानाथ! वह निषाद जाल ग्रहण करके वनमें सदा पक्षियोंको मारकर उनका मांस बेचता था। (१०—१५)

अगमत्सुमहान्कालो न चाधर्ममबुध्यत ॥ १६ ॥
तस्य भार्यासहायस्य रममाणस्य शाश्वतम् ।
दैवयोगविमूढस्य नान्या वृत्तिररोचत ॥ १७ ॥
ततः कदाचित्तस्याथ वनस्थस्य समन्ततः ।
पातयन्निव वृक्षांस्तान्सुमहान्वातसंभ्रमः ॥ १८ ॥
मेघसंकुलमाकाशं विद्युन्मण्डलमण्डितम् ।
संछन्नस्तु मुहूर्तेन नौसार्थैरिव सागरः ॥ १९ ॥
वारिधारासमूहेन संप्रविष्टः शतक्रतुः ।
क्षणेन पूरयामास सलिलेन वसुंधराम् ॥ २० ॥
ततो धाराकुले काले संभ्रमन्नष्टचेतनः ।
शीतार्तस्तद्वनं सर्वमाकुलेनान्तरात्मना ॥ २१ ॥
नैव निम्नं स्थलं वाऽपि सोऽविन्दत विहङ्गहा ।
पूरितो हि जलौघेन तस्य मार्गो वनस्य तु ॥ २२ ॥
पक्षिणो वर्षवेगेन हता लीनास्तदाऽभवन् ।
मृगसिंहवराहाश्च स्थलमाश्रित्य शेरते ॥ २३ ॥
महता वातवर्षेण त्रासितास्ते वनौकसः ।

उस दुष्टात्माके इसी प्रकार व्यवसायमें प्रवृत्त रहनेसे बहुत समय बीत गया; तौभी वह निज कार्यसे जो अधर्म होता है, उसे न जान सका। वह इसी प्रकार उपायके सहारे भार्याके सहित समय बिता रहा था, मूढताके कारण उसे दूसरे किसी व्यवसायमें अभिलाषा नहीं हुई। अनन्तर किसी समय वह निषाद वनके बीच स्थित था; उसकी चारों ओर प्रचण्ड पवन मानो वृक्षोंको उखाडता हुआ प्रकट हुआ, जैसे समुद्र नौकासमूहसे परिपूरित होता है, वैसेही आकाशमण्डल मुहूर्त भरके बीच बादलों और बिजलीसमूहसे भर गया, देवराजने बहुतसी जलधारा वर्षा करके क्षणभरमें पृथ्वीको जलसे परिपूर्ण किया अनन्तर उस वर्षाके समय निषाद चेतना रहित और शीतसे आर्त होकर व्याकुलचित्तसे वनके बीच घूमते हुए कहीं भी ऐसी नीची भूमि न पाई, जो कि जलसे परिपूर्ण न हुई हो। वनके सब मार्ग भी जलसे भर गये थे। वेगपूर्वक जलकी वर्षा होनेसे पक्षीसमूह मरके पृथ्वीमें पडे हुए थे। मृग, सिंह, वराह आदि ऊंचे स्थलको अवलम्बन करके सोरहे। (१६-२३)

भयार्ताश्च क्षुधार्ताश्च बभ्रमुः सहिता वने ॥ २४ ॥
स तु शीतहतैर्गात्रैर्न जगाम न तस्थिवान् ।
ददर्श पतितां भूमौ कपोतीं शीतविह्वलाम् ॥ २५ ॥
दृष्ट्वाऽर्तोपि हि पापात्मा स तां पञ्जरकेऽक्षिपत् ।
स्वयं दुःखाभिभूतोऽपि दुःखमेवाकरोत्परे ॥ २६ ॥
पापात्मा पापकारित्वात्पापमेव चकार सः ।
सोऽपश्यत्तरुषण्डेषु मेघनीलवनस्पतिम् ॥ २७ ॥
सेव्यमानं विहंगौघैश्छायावासफलार्थिभिः ।
धात्रा परोपकाराय स साधुरिव निर्मितः ॥ २८ ॥
अथाभवत्क्षणेनैव वियद्विमलतारकम् ।
महत्सर इवोत्फुल्लं कुमुदच्छुरितोदकम् ॥ २९ ॥
ताराढ्यं कुमुदाकारमाकाशं निर्मलं बहु ।
घनैर्मुक्तं नभो दृष्ट्वा लुब्धकः शीतविह्वलः ॥ ३० ॥
दिशो विलोकयामास विगाढां प्रेक्ष्य शार्वरीम् ।
दूरतो मे निवेशश्च अस्माद्देशादिति प्रभो ॥ ३१ ॥
कृतबुद्धिर्द्रुमे तस्मिन्वस्तुं तां रजनीं ततः ।

जंगली जीव प्रचण्डवायु और वर्षासे त्रासित, भयसे आर्त्त और भूखे होकर सब कोई वनमें एक स्थलमें भ्रमण करने लगे। पक्षीघातक निषाद शीतार्त्त शरीरसे किसी स्थानमें जाने वा एकस्थानमें स्थिर रहनेमें समर्थ न हुआ। अन्तमें उसने देखा, कि शीतसे विह्वल एक कपोती पृथ्वीपर पडी है, वह पापी स्वयं पीडित होनेपर भी कपोतीको देखते ही उसे निज पीञ्जरेमें डाल लिया। वह स्वयं दुःखित होनेपर भी दूसरेके दुःखका कारण हुआ; वह पापात्मा पाप करनेवाला था, इसीसे पापकार्यमें ही प्रवृत्त हुआ। उसने वनमें मेघ-मण्डल पर्यन्त ऊंचा एक वृक्ष देखा; छाया, वास और फलकी आशासे पक्षीसमूह उसका आश्रय कर रहे थे; विधाताने मानो परोपकारके ही निमित्त साधु पुरुषोंकी तरह उसे बनाया था। (२४-२८)

अनन्तर फूले हुए कुमुददलसे रञ्जित जलयुक्त बडे तालावकी तरह आकाशमण्डल क्षणभरमें तारा समूहसे सुशोभित हुआ। शीत-विह्वल व्याधाने बादल रहित, तारोंसे प्रकाशमान आकाश और घोर रात्रि देखकर सब ओर देखने लगा। इस स्थानसे बहुत दूर मेरा

साञ्जलिः प्रणतिं कृत्वा वाक्यमाह वनस्पतिम् ॥ ३२ ॥
शरणं यामि यान्यस्मिन् दैवतानि वनस्पतौ ।
स शिलायां शिरः कृत्वा पर्णान्यास्तीर्य भूतले ॥ ३३ ॥
दुःखेन महताऽऽविष्टस्ततः सुष्वाप पक्षिहा ॥३४॥ [५४३९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कपोतलुब्धकसंवादोपक्रमे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

भीष्म उवाच— अथ वृक्षस्य शाखायां विहंगः ससुहृज्जनः ।
दीर्घकालोषितो राजंस्तत्र चित्रतनूरुहः ॥ १ ॥
तस्य कल्पगता भार्या चरितुं नाभ्यवर्तत ।
प्राप्तां च रजनीं दृष्ट्वा स पक्षी पर्यतप्यत ॥ २ ॥
वातवर्षं महच्चासीन्न चागच्छति मे प्रिया ।
किं नु तत्कारणं येन साऽद्यापि न निवर्तते ॥ ३ ॥
अपि स्वस्ति भवेत्तस्याः प्रियाया मम कानने ।
तया विरहितं हीदं शून्यमद्य गृहं मम ॥ ४ ॥
पुत्रपौत्रवधूभृत्यैराकीर्णमपि सर्वतः ।
भार्याहीनं गृहस्थस्य शून्यमेव गृहं भवेत् ॥ ५ ॥

निवास स्थान है,-ऐसा विचारके उसने उस वृक्षके मूलमें रात्रि वितानेका निश्चय किया । अनन्तर उसने हाथ जोडके वृक्षको प्रणाम करके कहा । हे तरुवर ! तुम्हारे ऊपर जो सब देवता हैं, मैं उनका शरणागत हुआ हूं । पक्षीघातकने महादुःखमें पडके ऐसा वचन कहकर पृथ्वीपर कुछ पत्ते बिछाकर पत्थरके ऊपर शिर रखके शयन किया । २९-३४

शांतिपर्वमें १४३ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें १४४ अध्याय ।

भीष्म बोले, हे राजन् ! विचित्र पङ्खयुक्त एक पक्षी बहुत समयसे सुहृदोंके सहित उस वृक्षकी शाखापर वास करता था; उसकी भार्या प्रातःकाल चारा चुगने गई थी; रात्रि उपस्थित हुई तौभी वह आश्रममें न आई; इससे पक्षी अत्यन्त दुःखित होकर कहने लगा, इसके पहिले प्रचण्ड पवन बहता था और जलकी वर्षा हुई थी; मेरी प्रेयसी अबतक भी क्यों नहीं आई ? वह जो अभीतक नहीं लौटी, इसका क्या कारण है ? वनमें मेरी स्त्रीका कुछ अमङ्गल तो नहीं हुआ ? प्रियाविरहसे आज यह मेरा गृह सूना मालूम होता है । भार्यारहित गृहस्थका गृह, पुत्र,

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।
गृहं तु गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम् ॥ ६ ॥
यदि सारक्तनेत्रान्ता चित्रांगी मधुरस्वरा ।
अद्य नायाति मे कान्ता न कार्यं जीवितेन मे ॥ ७ ॥
न भुङ्क्ते मय्यभुक्ते या नास्नाते स्नाति सुव्रता ।
नातिष्ठत्युपतिष्ठेन शेते च शयिते मयि ॥ ८ ॥
हृष्टे भवति सा हृष्टा दुःखिते मयि दुःखिता ।
प्रोषिते दीनवदना क्रुद्धे च प्रियवादिनी ॥ ९ ॥
पतिव्रता पतिगतिः पतिप्रियहिते रता ।
यस्य स्यात्तादृशी भार्या धन्यः स पुरुषो भुवि ॥१०॥
सा हि श्रान्तं क्षुधार्तं च जानीते मां तपस्विनी ।
अनुरक्ता स्थिरा चैव भक्ता स्निग्धा यशस्विनी ॥११॥
वृक्षमूलेऽपि दयिता यस्य तिष्ठति तद्गृहम् ।
प्रासादोऽपि तया हीनः कान्तार इति निश्चितम् ॥१२॥
धर्मार्थकामकालेषु भार्या पुंसः सहायिनी ।

पौत्र, वधू और सेवकोंसे परिपूरित होने-पर भी सूना हुआ करता है; पण्डित लोग गृहको घर नहीं कहते, गृहिणीको ही घर कहा करते हैं; गृहिणीरहित घर वनके समान है। (१—६)

मेरी वह आरक्तनयनी, विचित्राङ्गी मधुर वचन कहनेवाली, प्यारी यदि आज न आवे, तो मेरे जीनेका कोई प्रयोजन नहीं है। जो उत्तम व्रत करने वाली, मेरे भूखे रहनेपर भोजन नहीं करती, स्नान न करनेपर स्नान नहीं करती, विना बैठे बैठती नहीं और विना सोये शयन नहीं करती थी; मेरे प्रसन्न होनेसे जो हर्षित और दुःखी होनेसे दुःखित होती थी; मेरे प्रवासमें गमन करनेसे जिसका मुख मलिन होता था और क्रुद्ध होनेपर जो प्रिय वचन कहती थी, वह पतिव्रता, पति-गति और पतिके प्रिय तथा हितका-र्योंमें रत रहनेवाली प्रेयसी कहां गई ? भूलोकमें जिसकी उसके समान भार्या है, वह पुरुष ही धन्य है। वह अनुरक्त सुस्थिरा, स्निग्ध-मूर्ति, भक्तिशालिनी तपस्विनी ही मुझे थकने वा भूखा होने पर जान सकती है। (७-११)

जिसके प्रेयसी है, वह यदि वृक्षकी मूलमें भी वास करे, तो वही उसके लिये गृहस्वरूप होता है और प्रिया-

विदेशगमने चास्य सैव विश्वासकारिका ॥ १३ ॥
भार्या हि परमो ह्यर्थः पुरुषस्येह पठ्यते ।
असहायस्य लोकेऽस्मिँल्लोकयात्रासहायिनी ॥ १४ ॥
तथा रोगाभिभूतस्य नित्यं कृच्छ्रगतस्य च ।
नास्ति भार्यासमं किंचिन्नरस्यार्तस्य भेषजम् ॥ १५ ॥
नास्ति भार्यासमो बंधुर्नास्ति भार्यासमा गतिः ।
नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्मसंग्रहे ॥ १६ ॥
यस्य भार्या गृहे नास्ति साध्वी च प्रियवादिनी ।
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथाऽरण्यं तथा गृहम् ॥१७॥ [५४५६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि भार्याप्रशंसायां चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४४॥

भीष्म उवाच— एवं विलपतस्तस्य श्रुत्वा तु करुणं वचः ।
गृहीता शकुनिघ्नेन कपोती वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥
कपोत्युवाच— अहोऽतीव सुभाग्याहं यस्या मे दयितः पतिः ।
असतो वा सतो वाऽपि गुणानेवं प्रभाषते ॥ २ ॥

हीन घर भी दुर्गम वनके समान हुआ करता है। पुरुषके धर्म, अर्थ और काम साधन कार्यमें भार्या ही सहाय हुआ करती है और विदेश जानेके समय एक मात्र भार्याही पुरुषकी विश्वासपात्र रहती है। लोकमें भार्या ही पुरुषका परम प्रयोजन सिद्ध करती है, सहाय-रहित पुरुषके लोकयात्रानिर्वाहके विषयमें भार्या ही सहायक होती है। पीडित पुरुषको औषध समान सदा रोगयुक्त और क्लेशमें पडे हुए मनुष्यों के लिये भार्याके समान और कोई भी नहीं, भार्याके समान बन्धु नहीं, भार्याके समान आश्रय नहीं और जनसमाजमें धर्मसंग्रहके विषयमें भार्याके समान और कोई भी सहायक नहीं है। जिसके घरमें पतिव्रता प्रियवादिनी भार्या नहीं है; उसे वनमें गमन करना ही योग्य है। उसके लिये वन और घर दोनों ही समान हैं। (१२-१७) [५४५६]

शान्तिपर्वमें १४४ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १४५ अध्याय।

कपोत इसी तरह विलाप कर रहा था, तब पक्षिघाती निषादके हस्तगत हुई कपोती पतिका करुणायुक्त वचन सुनके कहने लगी। कपोती बोली, ओहो! मैं अत्यन्त सौभाग्यवती हूं, मेरा पति क्या ही प्रियवादी है! मुझमें

न सा स्त्री ह्यभिमन्तव्या यस्यां भर्ता न तुष्यति।
तुष्टे भर्तरि नारीणां तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥ ३ ॥
अग्निसाक्षिकमित्येव भर्ता वै दैवतं परम्।
दावाग्निनेव निर्दग्धा सपुष्पस्तबका लता ॥ ४ ॥
भस्मीभवति सा नारी यस्यां भर्ता न तुष्यति।
इति संचिन्त्य दुःखार्ता भर्तारं दुःखितं तदा ॥ ५ ॥
कपोती लुब्धकेनापि गृहीता वाक्यमब्रवीत्।
हन्त वक्ष्यामि ते श्रेयः श्रुत्वा तु कुरु तत्तथा ॥ ६ ॥
शरणागतसंत्राता भव कान्त विशेषतः।
एष शाकुनिकः शेते तव वासं समाश्रितः ॥ ७ ॥
शीतार्तश्च क्षुधार्त्तश्च पूजामस्मै समाचर।
यो हि कश्चिद् द्विजं हन्याद्गां च लोकस्य मातरम् ॥ ८ ॥
शरणागतं च यो हन्यात्तुल्यं तेषां च पातकम्।
अस्माकं विहिता वृत्तिः कापोती ज्ञातिधर्मतः ॥ ९ ॥
सा न्याय्यात्मवता नित्यं त्वद्विधेनानुवर्तितुम्।
यस्तु धर्मं यथाशक्ति गृहस्थो ह्यनुवर्तते ॥ १० ॥

गुण हो, वा न हो, ये तो ऐसा कहते हैं, जिस नारीके ऊपर पति प्रसन्न नहीं है, उसे स्त्री कहके गिनना अनुचित है। स्त्रियोंके ऊपर यदि पति प्रसन्न रहे, तो सब देवता ही संतुष्ट होते हैं; अबलाओंको जो पति ही परम देवता स्वरूप है, उस विषयमें अग्नि ही साक्षी रहती है। जैसे पुष्प-स्तवकयुक्त लता दावानलके जरिये जल जाती है, पतिके असन्तुष्ट रहनेसे नारी भी उसी प्रकार भस्म होजाती है। (१-६)

निषादके हस्तगत हुई कपोती दुःखसे आर्त्त होकर उस समय इसी भांति चिन्ता करके शोकित पतिसे बोली, हे नाथ! मैं तुम्हें कल्याण की कथा कहती हूं, तुम सुनकर वैसा ही करो, तुम शरणागत पुरुषका विशेष रीतिसे परित्राण करो; यह तुम्हारे स्थानपर आके सोरहा है, यह पुरुष शीतसे दुःखित तथा क्षुधासे आर्त्त हुआ है; इसलिये इसका सत्कार करो, जो कोई ब्रह्महत्या करे, जो कोई लोकमाता गऊको मारे और जो पुरुष शरणागत पुरुषका त्याग करते हैं, उन लोगोंके पाप समान ही होते हैं। हमारी कपोतजातिके धर्म अनुसार जैसा व्यवहार विहित है, उसी

स प्रेत्य लभते लोकानक्षयानिति शुश्रुम ।
स त्वं संतानवानद्य पुत्रवानसि च द्विज ॥ ११ ॥
तत्स्वदेहे दयां त्यक्त्वा धर्मार्थौ परिगृह्य च ।
पूजामस्मै प्रयुङ्क्ष्व त्वं प्रीयेतास्य मनो यथा ॥ १२ ॥
शरीरे मा च सन्तापं कुर्वीथास्त्वं विहंगम ।
शरीरयात्राकृत्यर्थमन्यान् दारानुपैष्यसि ॥ १३ ॥
इति सा शाकुनी वाक्यं पंजरस्था तपस्विनी ।
अतिदुःखान्विता प्रोक्त्वा भर्तारं समुदैक्षत ॥१४॥ [५४७०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कपोतं प्रति कपोतीवाक्ये पंचचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥

भीष्म उवाच— स पत्न्या वचनं श्रुत्वा धर्मयुक्तिसमन्वितम् ।
हर्षेण महता युक्तो वाक्यं व्याकुललोचनः ॥ १ ॥
तं वै शाकुनिकं दृष्ट्वा विधिदृष्टेन कर्मणा ।
स पक्षी पूजयामास यत्नात्तं पक्षिजीविनम् ॥ २ ॥
उवाच स्वागतं तेऽद्य ब्रूहि किं करवाणि ते ।
सन्तापश्च न कर्तव्यः स्वगृहे वर्तते भवान् ॥ ३ ॥
तद्ब्रवीतु भवान् क्षिप्रं किं करोमि किमिच्छसि ।
प्रणयेन ब्रवीमि त्वां त्वं हि नः शरणागतः ॥ ४ ॥

भांति बुद्धिमान् पुरुषको सदा उसका अनुसरण करना उचित है; जो गृहस्थ शक्तिके अनुसार धर्माचरण करता है, मैंने सुना है अन्तकालमें अक्षय लोकोंको पाता है। इस समय तुमने कन्या पुत्रोंका सुख देखा है, इससे निज शरीरके लिये दया त्यागके धर्म और अर्थ परिग्रह करके जिस प्रकार इसका चित्त प्रसन्न हो, उसी तरह सत्कार करो। हे नाथ! तुम मेरे वास्ते दुःख मत करो, तुम यदि जीते रहोगे, तो शरीरयात्रानिर्व्वाहके लिये दूसरी भार्या पाओगे। पींजरेमें स्थित तपस्विनी कपोती अत्यन्त दुःखित होकर पतिको देखके ऐसा ही बोली थी। (६-१४)

शान्तिपर्वमें १४५ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १४६ अध्याय।

भीष्म बोले, कपोतने निज पत्नीका धर्मपूरित युक्तियुक्त वचन सुनके अत्यन्त हर्षित होकर आंसू भरे नेत्रसे पक्षिजीवी निषादको देखकर यथाविधि यत्नपूर्वक उसका सत्कार किया, और

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।
छेत्तुमप्यागते छायां नोपसंहरते द्रुमः ॥ ५ ॥
शरणागतस्य कर्तव्यमातिथ्यं हि प्रयत्नतः ।
पञ्चयज्ञप्रवृत्तेन गृहस्थेन विशेषतः ॥ ६ ॥
पञ्चयज्ञांस्तु यो मोहान्न करोति गृहाश्रमे ।
तस्य नायं न च परो लोको भवति धर्मतः ॥ ७ ॥
तद् ब्रूहि मां सुविश्रब्धो यत्त्वं वाचा वदिष्यसि ।
तत्करिष्याम्यहं सर्वं मा त्वं शोके मनः कृथाः ॥ ८ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा शकुनेर्लुब्धकोऽब्रवीत् ।
बाधते खलु मे शीतं संत्राणं हि विधीयताम् ॥ ९ ॥
एवमुक्तस्ततः पक्षी पर्णान्यास्तीर्य भूतले ।
यथाशक्त्या हि पर्णेन ज्वलनार्थं द्रुतं ययौ ॥ १० ॥
स गत्वाङ्गारकर्मान्तं गृहीत्वाग्निमथागमत् ।
ततः शुष्केषु पर्णेषु पावकं सोऽप्यदीपयत् ॥ ११ ॥
स संदीप्तं महत्कृत्वा तमाह शरणागतम् ।
प्रतापय सुविश्रब्धः स्वगात्राण्यकुतोभयः ॥ १२ ॥

उसका स्वागत प्रश्न करके बोला, तुम्हारी क्या अभिलाषा है, शीघ्र कहो ? मैं उसे ही करूंगा। शत्रु भी यदि घरपर आवे, तो उसकी भी अतिथिसेवा करनी उचित है; कोई पुरुष यदि काटनेके लिये आवे, तो वृक्ष उसे छायादान करनेमें विरत नहीं होता। (१-५)

पञ्चयज्ञमें प्रवृत्त गृहस्थ पुरुषोंको विशेष यत्नके सहित शरणागत पुरुषोंका अतिथि-सत्कार करना चाहिये। गृहस्थाश्रममें रहकर जो पुरुष मोहके वशमें होकर पञ्चयज्ञ करनेमें विरत होता है; धर्मपूर्वक उसकी इस लोक और परलोकमें सद्गति नहीं होती; इससे तुम विश्वासी होकर कहो, मुझसे जो कहोगे, मैं वही करूंगा, तुम अपने मनमें शोक मत करो। निषाद कबूतरका ऐसा वचन सुनके उससे बोला, मैं जाडेसे अत्यन्त दुःखी हूं, इससे जिस प्रकार जाडेसे परित्राण हो, तुम वैसा ही विधान करो। (६-९)

निषादके ऐसा कहनेपर कपोतने सामर्थ्य के अनुसार पृथ्वीपर कितने ही पत्रोंको इकट्ठा करके पत्तके सहारे अग्नि लानेके वास्ते शीघ्र ही गमन किया। वह अग्निशालासे आग ले आया,

स तथोक्तस्तथेत्युक्त्वा लुब्धो गात्राण्यतापयत् ।
अग्निं प्रत्यागतप्राणस्ततः प्राह विहंगमम् ॥ १३ ॥
हर्षेण महताऽऽविष्टो वाक्यं व्याकुललोचनः ।
तथेमं शाकुनिं दृष्ट्वा विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १४ ॥
दत्तमाहारमिच्छामि त्वया क्षुद्बाधते हि माम् ।
स तद्वचः प्रतिश्रुत्य वाक्यमाह विहङ्गमः ॥ १५ ॥
न मेऽस्ति विभवो येन नाशयेयं क्षुधां तव ।
उत्पन्नेन हि जीवामो वयं नित्यं वनौकसः ॥ १६ ॥
संचयो नास्ति चास्माकं मुनीनामिव भोजने ।
इत्युक्त्वा तं तदा तत्र विवर्णवदनोऽभवत् ॥ १७ ॥
कथं नु खलु कर्तव्यमिति चिन्तापरस्तदा ।
बभूव भरतश्रेष्ठ गर्हयन् वृत्तिमात्मनः ॥ १८ ॥
मुहूर्ताल्लब्धसंज्ञस्तु स पक्षी पक्षिघातिनम् ।
उवाच तर्पयिष्ये त्वां मुहूर्तं प्रतिपालय ॥ १९ ॥
इत्युक्त्वा शुष्कपर्णैस्तु समुज्ज्वाल्य हुताशनम् ।
हर्षेण महताविष्टः स पक्षी वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥
ऋषीणां देवतानां च पितॄणां च महात्मनाम् ।

फिर सूखे पत्रोंके बीच अग्नि जला दिया। कबूतर इसी तरह आग जलाके शरणागत पुरुषसे बोला, तुम विश्रामी होकर निःशंकचित्तसे अपना शरीर गर्म्म करो। कपोतका ऐसा वचन सुन निषादने अपना शरीर गर्म्म किया। अग्नितापसे उसका जीवन प्रत्यागत हुआ, तब वह कपोतको पुकारके बोला, हे पक्षी! मैं भूंखसे कातर हुआ हूं, इससे इच्छा करता हूं कि तुम मुझे कुछ भोजन दान करो, कबूतरने व्याधका वचन स्वीकार करके कहा, मेरे पास ऐसी कोई भोजनकी सामग्री सञ्चित नहीं है, जिससे तुम्हारी क्षुधा शान्त हो; मैं वनवासी हूं, प्रतिदिन जो कुछ लाता हूं, उसहीसे जीविका-निर्वाह किया करता हूं; मुनियोंकी तरह हम लोगोंके पास भी भोजनकी वस्तु सञ्चित नहीं रहती। हे भरतश्रेष्ठ! कपोत निषादसे ऐसा वचन कहके दुःखित हुआ और क्या करना चाहिये, ऐसी ही चिन्ता करते हुए निज वृत्ति की निन्दा करने लगा। (१०-१८)

कपोत मुहूर्त भरके अनन्तर सावधान होकर पक्षिघातीसे बोला, " थोड़ी

श्रुतः पूर्वं मया धर्मो महानतिथिपूजने ॥ २१ ॥
कुरुष्वानुग्रहं सौम्य सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ।
निश्चिता खलु मे बुद्धिरतिथिप्रतिपूजने ॥ २२ ॥
ततः कृतप्रतिज्ञो वै स पक्षी प्रहसन्निव ।
तमग्निं त्रिः परिक्रम्य प्रविवेश महामतिः ॥ २३ ॥
अग्निमध्ये प्रविष्टं तु लुब्धो दृष्ट्वा तु पक्षिणम् ।
चिन्तयामास मनसा किमिदं वै मया कृतम् ॥ २४ ॥
अहो मम नृशंसस्य गर्हितस्य स्वकर्मणा ।
अधर्मः सुमहान् घोरो भविष्यति न संशयः ॥ २५ ॥
एवं बहुविधं भूरि विललाप स लुब्धकः ।
गर्हयन् स्वानि कर्माणि द्विजं दृष्ट्वा तथाऽऽगतम् ॥२६॥ [५४९६]

इतिश्री महा०शान्ति० आप० कपोतलुब्धकसंवादे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४६॥

भीष्म उवाच- ततः स लुब्धकः पश्यन् क्षुधयाऽपि परिप्लुतः ।
कपोतमग्निपतितं वाक्यं पुनरुवाच ह ॥ १ ॥
किमीदृशं नृशंसेन मया कृतमबुद्धिना ।

देर ठहरो, मैं तुम्हें तृप्त करूंगा।" कपोत निषादसे ऐसा वचन कहके सूखे पत्तोंमें आग जलाकर अत्यन्त हर्षित होकर बोला, मैंने पहिले देवता पितर और महानुभाव ऋषियोंके निकटसे सुना है, कि अतिथिपूजनसे बहुत धर्म हुआ करता है। इससे, हे प्रियदर्शन! मैं तुमसे सत्य कहता हूं, तुम मेरे ऊपर कृपा करो, अतिथि-पूजा विषयमें मुझे निश्चय ज्ञान हुआ है। अनन्तर प्रतिज्ञा किये हुए महाबुद्धिमान कपोतने मानो हंसते हंसते तीन बार उस अग्निकी प्रदक्षिणा करके उसमें प्रविष्ट हुआ। निषादने कपोतको अग्निमें प्रवेश करते देखकर "मैंने यह क्या किया।" मनही मन ऐसी ही चिन्ता करने लगा॥ हाय! मैं कैसा नृशंस और क्या ही निन्दनीय हूं। निजकर्मके दोषसे मुझे निःसन्देह महाघोर अधर्म होगा। व्याधा पक्षीकी वैसी अवस्था देखकर निज कर्मकी निन्दा करते हुए इसी भांति अनेक प्रकार विलाप करने लगा। (१९—२६) [५४९६]

शान्तिपर्वमें १४६ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १४७ अध्याय।

भीष्म बोले, अनन्तर क्षुधासे आर्च वह लोभी अग्निमें प्रविष्ट हुए कपोतकी ओरसे देखकर फिर यह वचन बोला

स विनिन्द्यंस्तथाऽऽत्मानं पुनः पुनरुवाच ह ॥ २ ॥
अविश्वास्यः सुदुर्बुद्धिः सदा निकृतिनिश्चयः ।
शुभं कर्म परित्यज्य सोऽहं शकुनिलुब्धकः ॥ ३ ॥
नृशंसस्य ममाचायं प्रत्यादेशो न संशयः ।
दत्तः स्वमांसं दहता कपोतेन महात्मना ॥ ४ ॥
सोऽहं त्यक्ष्ये प्रियान्प्राणान्पुत्रान्दारांस्तथैव च ।
उपदिष्टो हि मे धर्मः कपोतेन महात्मना ॥ ५ ॥
अद्य प्रभृति देहं स्वं सर्वभोगैर्विवर्जितम् ।
यथा स्वल्पं सरो ग्रीष्मे शोषयिष्याम्यहं तथा ॥ ६ ॥
क्षुत्पिपासातपसहः कृशो धमनिसंततः ।
उपवासैर्बहुविधैश्चरिष्ये पारलौकिकम् ॥ ७ ॥
अहो देहप्रदानेन दर्शिताऽतिथिपूजना ।
तस्माद्धर्मं चरिष्यामि धर्मो हि परमा गतिः ॥ ८ ॥
दृष्टो धर्मो हि धर्मिष्ठे यादृशो विहगोत्तमे ।
एवमुक्त्वा विनिश्चित्य रौद्रकर्मा स लुब्धकः ॥ ९ ॥
महाप्रस्थानमाश्रित्य प्रययौ संशितव्रतः ॥ १० ॥

कि मैं अत्यन्त नृशंस और निर्बुद्धि हूं, मैंने क्या कर्म किया । मैं अत्यन्त क्षुद्रजीवी हूं; इस कार्यसे अवश्यही मुझे महापाप होगा । वह बार बार अपनी निन्दा करके बोला, मैं जब शुभ कार्यको त्यागके पक्षिलोभी हुआ हूं, तब मैं अवश्य ही अविश्वासी और अत्यन्त दुर्बुद्धि तथा सदा पापमें रत हूं; मैं बहुत ही निष्ठुर हूं, इस ही लिये महात्मा कपोतने निज शरीरको जलाकर मुझे धिक्कार पूर्वक उपदेश दान किया, इसमें सन्देह नहीं है; इससे मैं स्त्री-पुत्रोंको त्यागके प्रिय प्राण छोडूंगा महात्मा कपोतने मुझे धर्मउपदेश प्रदान किया है । (१—५)

जैसे ग्रीष्मकालमें थोडे जलसे युक्त तालाब सूख जाते हैं, उसही प्रकार मैं आजसे निजशरीरको सब भोगोंसे रहित करके सुखाऊंगा । भूख, प्यास और आतपको सहके धमनी संयुक्त शरीरसे अनेक तरहके उपवासके सहारे पारलौकिक धर्म आचरण करूंगा । कैसा आश्चर्य है ! कपोतने देहदान करके अतिथिसत्कार दिखाया।। धर्मिष्ठ पक्षिश्रेष्ठ का जैसा धर्म दीख पडा, मैं वैसा ही आचरण करूंगा, क्यों कि धर्म ही परम

ततो यष्टिं शलाकां च क्षारकं पञ्जरं तथा।
तां च बद्धां कपोतीं स प्रमुच्य विससर्ज ह॥ ११ ॥[५५०७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि लुब्धकोपरतौ सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४७॥

भीष्म उवाच- ततो गते शाकुनिके कपोती प्राह दुःखिता।
संस्मृत्य सा च भर्तारं रुदती शोककर्शिता ॥ १ ॥
नाहं ते विप्रियं कान्त कदाचिदपि संस्मरे।
सर्वाऽपि विधवा नारी बहुपुत्राऽपि शोचते ॥ २ ॥
शोच्या भवति बन्धूनां पतिहीना तपस्विनी।
लालिताऽहं त्वया नित्यं बहुमानाच्च पूजिता ॥ ३ ॥
वचनैर्मधुरैः स्निग्धैरसंक्लिष्टमनोहरैः।
कन्दरेषु च शैलानां नदीनां निर्झरेषु च ॥ ४ ॥
द्रुमाग्रेषु च रम्येषु रमिताऽहं त्वया सह।
आकाशगमने चैव विहृताऽहं त्वया सुखम् ॥ ५ ॥
रमामि स्म पुरा कान्त तन्मे नास्त्यद्य किं च न।
मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः॥ ६ ॥

गति है। क्रूर धर्म करनेवाले लोभी व्याधने तीक्ष्ण व्रत अवलम्बनपूर्वक ऐसा ही कहके तथा निश्चय करके महाप्रस्थानका आश्रय करते हुए उस बूढी कपोतीको छोडके यष्टि, शलाका जाल और पिञ्जरा परित्याग किया। (६–११)

शान्तिपर्वमें १४७ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १४८ अध्याय।

भीष्म बोले, निषादके जानेपर परम दुःखी कपोतवनिता शोकसे आर्त्त होकर रोदन करती हुई पतिको स्मरण करके बोली, नाथ! तुमने कभी मेरा अप्रिय कार्य किया था, ऐसा स्मरण नहीं होता; बहुतसे पुत्रवाली स्त्रियें भी विधवा होनेपर शोक किया करती हैं; पतिसे रहित दुःखिनी नारी बन्धु जनोंमें शोचनीय होती हैं। तुमने सदा मेरा लालन किया, मीठे और मनोहर वचनोंसे अनेक तरहसे मेरा सत्कार किया है। पहाडकी गुफा, नदियोंके झरने और रमणीय वृक्षोंकी चोटियोंमें मैंने तुम्हारे सङ्गमें विहार किया है; आकाशमें गमन करनेके समय भी मैं तुम्हारे साथ सुखसे फिरती थी। (१–५)

हे नाथ! मैंने पहिले तुम्हारे साथ जो सब विहार किया है; आज अब वह

अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ।
नास्ति भर्तृसमो नाथो नास्ति भर्तृसमं सुखम् ॥ ७ ॥
विसृज्य धनसर्वस्वं भर्ता वै शरणं स्त्रियाः ।
न कार्यमिह मे नाथ जीवितेन त्वया विना ॥ ८ ॥
पतिहीना तु का नारी सती जीवितुमुत्सहेत् ।
एवं विलप्य बहुधा करुणं सा सुदुःखिता ॥ ९ ॥
पतिव्रता संप्रदीप्तं प्रविवेश हुताशनम् ।
ततश्चित्राङ्गदधरं भर्तारं सान्वपश्यत ॥ १० ॥
विमानस्थं सुकृतिभिः पूज्यमानं महात्मभिः
चित्रमाल्याम्बरधरं सर्वाभरणभूषितम् ॥ ११ ॥
विमानशतकोटीभिरावृतं पुण्यकर्मभिः ।
ततः स्वर्गं गतः पक्षी विमानवरमास्थितः ।
कर्मणा पूजितस्तत्र रेमे स सह भार्यया ॥ १२ ॥ [५५१९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कपोतस्वर्गगमने अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४८ ॥

भीष्म उवाच— विमानस्थौ तु तौ राजन् लुब्धकः खे ददर्श ह ।

कुछभी नहीं है। पिता, भ्राता, पुत्र आदि परिमित सुख प्रदान करते हैं, अपरिमित सुख देनेवाले पतिकी कौन पूजा नहीं करती? पतिके समान नाथ नहीं, पतिके समान सुख नहीं; सर्वस्व धन परित्याग करके स्त्रियोंके लिये एक मात्र पति ही अवलम्बनीय है। (६-८)

हे नाथ! इस समय तुम्हारे विना मेरे जीनेका कुछ प्रयोजन नहीं है; कौन सती सीमन्तिनी पतिहीन होकर जीने का उत्साह करेगी? अत्यन्त दुःखिता पतिव्रता कपोतीने करुणास्वरसे इसी भांति अनेक तरह विलाप करके जलती हुई अग्निमें प्रवेश किया। अनन्तर कपोतकी स्त्रीने देखा, कि विचित्र कवचधारी विमानमें स्थित पतिकी महानुभाव सुकृतिजन पूजा करते हैं। कपोत उस समय विचित्रमाला, वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषित होकर शत-कोटि विमानोंपर विहार करनेवाले पुण्यवान पुरुषोंसे घिरा था। कपोतने विमानपर चढके स्वर्ग लोकमें जाकर वहां निज कर्मके अनुसार सत्कृत होकर प्रियाके सहित विहार करने लगा। (८—१२) [५५१९]

शान्तिपर्वमें १४८ अध्याय समाप्त।

दृष्ट्वा तौ दम्पती राजन् व्यचिन्तयत तां गतिम् ॥१॥
ईदृशेनैव तपसा गच्छेयं परमां गतिम्।
इति बुद्ध्या विनिश्चित्य गमनायोपचक्रमे ॥२॥
महाप्रस्थानमाश्रित्य लुब्धकः पक्षिजीवकः।
निश्चेष्टो मरुदाहारो निर्ममः स्वर्गकाङ्क्षया ॥३॥
ततोऽपश्यत्सुविस्तीर्णं हृद्यं पद्माभिभूषितम्।
नानापक्षिगणाकीर्णं सरः शीतजलं शिवम् ॥४॥
पिपासार्तोऽपि तद्दृष्ट्वा तृप्तः स्यान्नात्र संशयः।
उपवासकृशोऽत्यर्थं स तु पार्थिव लुब्धकः ॥५॥
अनवेक्ष्यैव संहृष्टः श्वापदाध्युषितं वनम्।
महान्तं निश्चयं कृत्वा लुब्धकः प्रविवेश ह ॥६॥
प्रविशन्नेव स वनं निगृहीतः स कण्टकैः।
स कण्टकैर्विभिन्नाङ्गो लोहितार्द्रीकृतच्छविः ॥७॥
बभ्राम तस्मिन्विजने नानामृगसमाकुले।
ततो द्रुमाणां महता पवनेन वने तदा ॥८॥
उदतिष्ठत संघर्षात्सुमहान् हव्यवाहनः।

शान्तिपर्वमें १४९ अध्याय।

भीष्म बोले, हे राजन्! निषादने उस कपोत दम्पतीको विमानपर चढे हुए निवास करते देखकर दुःखित होकर चिन्ता किया, कि इसी प्रकार तपस्याके सहारे मैं परम गतिको प्राप्त होऊंगा। उसने मनही मन ऐसाही निश्चय करके गमन करनेकी तैयारी की। पक्षिजीवी व्याधा महाप्रस्थानका आश्रय करके स्वर्गप्राप्तिकी इच्छासे चेष्टारहित और ममताहीन होकर वायु भक्षण करने लगा। अनन्तर सुन्दर शीतल जलसे युक्त अनेक प्रकार के पक्षियोंसे परिपूरित एक तालाव उसके दृष्टिगोचर हुआ। प्यासा पुरुष उसे देखनेसे ही निःसन्देह तृप्त होता था। महाराज! व्याधा उस समय उपवासके कारण अत्यन्त कृश हुआ था, उसने उस रमणीय तालावकी ओर विशेष रूपसे न देखकर ही विविध श्वापदयुक्त एक महाघोर वनके बीच हर्षपूर्वक प्रवेश किया; प्रवेश करते ही उसका शरीर कांटोंसे क्षत विक्षत होकर रक्त-पूरित होगया; तौभी वह उस अनेक मृग आदिकोंसे युक्त निर्जन वनके बीच भ्रमण करने लगा। अनन्तर वनमें वेगपूर्वक

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा॰ व्य॰
१ आदिपर्व	(१ से ११)	११	११२५	६) छः रु.	१।)
२ सभापर्व	(१२ " १५)	४	३५६	२॥) अढाई	।॥)
३ वनपर्व	(१६ " ३०)	१५	१५३८	८) आठ	१॥)
४ विराटपर्व	(३१ " ३३	३	३०६	२) दो	॥
५ उद्योगपर्व	(३४ " ४२	९	९५३	५) पांच	१।)
६ भीष्मपर्व	(४३ " ५०)	८	८००	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	(५१ " ६४)	१४	१३६४	७॥ साढेसात	१।)
८ कर्णपर्व	(६५ " ७०)	६	६३७	३॥ साढेतीन	।॥)
९ शल्यपर्व	(७१ " ७४)	४	४३५	२॥) अढाई	।॥
१० सौप्तिकपर्व	(७५)	१	१०४	॥। बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	(७६)	१	१०८	॥।) " "	।)
१२ शान्तिपर्व।					
राजधर्मपर्व	(७७ " ८३)	७	६९४	४ चार	१।)
आपद्धर्मपर्व	८४ " ८५)	२	२३२	१॥ डेढ	॥)
मोक्षधर्मपर्व	(८६ " ९६)	११	११००	६) छः	१।)
१३ अनुशासन	(९७ " १०७	११	१०७६	६) छः	१।)
१४ आश्वमेधिक	(१०८" १११)	४	४००	२॥) अढाई	॥)
१५ आश्रमवासिक	११२)	१	१४८	१) एक	।)
१६-१७-१८ मौसल, महाप्रास्थानिक,					
स्वर्गारोहण।	(११३)	१	१०८	१) एक	।)

सूचना—ये सब पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु॰ के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री-स्वाध्याय मंडल, औंध (जि॰ सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक— श्री॰ दा॰ सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि॰ सातारा)

REGISTERED NO. B. 1819

महाभारत

भाषा-भाष्य-समेत

संपादक-श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल, औंध, जि. सातारा

संपूर्ण महाभारत तैयार है।

मूल्य।

सजिल्द ६५) डा० व्य० अलग

बिना जिल्द ६०) ,, ,, ,,

मंत्री—स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि. सातारा)

१२ अंकोंका मूल्य म. आ. से. ६) और वी.पी. से ७) विदेशके लिये ८)

तद्वनं वृक्षसंपूर्णं लताविटपसंकुलम् ॥ ९ ॥
ददाह पावकः क्रुद्धो युगान्ताग्निसमप्रभः।
सज्वालैः पवनोद्धूतैर्विस्फुलिङ्गैः समन्ततः ॥ १० ॥
ददाह तद्वनं घोरं मृगपक्षिसमाकुलम्।
ततः स देहमोक्षार्थं संप्रहृष्टेन चेतसा ॥ ११ ॥
अभ्यधावत वर्धन्तं पावकं लुब्धकस्तदा।
ततस्तेनाग्निना दग्धो लुब्धको नष्टकल्मषः।
जगाम परमां सिद्धिं ततो भरतसत्तम ॥ १२ ॥
ततः स्वर्गस्थमात्मानमपश्यद्विगतज्वरः।
यक्षगन्धर्वसिद्धानां मध्ये भ्राजन्तमिन्द्रवत् ॥ १३ ॥
एवं खलु कपोतश्च कपोती च पतिव्रता।
लुब्धकेन सह स्वर्गं गताः पुण्येन कर्मणा ॥ १४ ॥
याऽपि चैवंविधा नारी भर्तारमनुवर्तते।
विराजते हि सा क्षिप्रं कपोतीव दिवि स्थिता ॥ १५ ॥
एवमेतत्पुरावृत्तं लुब्धकस्य महात्मनः।
कपोतस्य च धर्मिष्ठा गतिः पुण्येन कर्मणा ॥ १६ ॥

वायुके चलनेसे बडे बडे वृक्षोंके आपस में रगड खानेसे प्रवल दावाग्नि प्रकट हुई। (१—९)

धीरे धीरे प्रलयकालकी अग्निसमान प्रभायुक्त अग्नि क्रुद्ध होकर विविध वृक्षों और लतापल्लवोंसे परिपूरित वनको जलाने लगी। जब अग्निदेव ज्वालामाला-युक्त वायुसे बढके अग्निपुञ्जके सहारे मृगपक्षियोंसे युक्त घोर वनको जलाने लगे, तब व्याधाने शरीर त्यागनेके वास्ते कृतनिश्चय होकर हृष्टचित्तसे बढी हुई अग्निकी ओर दौडा। हे भरतसत्तम निषाद जब उस अग्निके जरिये भस्म हुआ, तब उसकी कलुषराशि विनष्ट हुई; अन्तमें उसने परम सिद्धि लाभ की। अनन्तर उसने पापरहित होकर स्वर्गलोकमें गमन करके आपनेको यक्ष, गन्धर्व और सिद्धोंके बीच देवराजके समान विराजते हुए देखा। पतिव्रता कपोती और कपोत पुण्यकर्म के सहारे इसी प्रकार निषादके सहित सुर-लोकमें गये थे। (९—१४)

इसी प्रकार जो स्त्री शीघ्र ही पतिका अनुसरण करती है, वह स्वर्गवासिनी कपोतीकी तरह विराजमान हुआ करती है। मैंने महात्मा कपोत और व्याधेका

यश्चेदं शृणुयान्नित्यं यश्चेदं परिकीर्तयेत्।
नाशुभं विद्यते तस्य मनसाऽपि प्रमादतः ॥ १७ ॥
युधिष्ठिर महानेष धर्मो धर्मभृतां वर।
गोघ्नेष्वपि भवेदस्मिन्निष्कृतिः पापकर्मणः ॥ १८ ॥
न निष्कृतिर्भवेत्तस्य यो हन्याच्छरणागतम्।
इतिहासमिमं श्रुत्वा पुण्यं पापप्रणाशनम् ॥
न दुर्गतिमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ १९ ॥ [५५३८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि लुब्धकस्वर्गगमने एकोनपंचाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४९ ॥

युधिष्ठिर उवाच— अबुद्धिपूर्वं यत्पापं कुर्याद्भरतसत्तम।
मुच्यते स कथं तस्मादेतत्सर्वं ब्रवीहि मे ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— अत्र ते वर्तयिष्यामि पुराणमृषिसंस्तुतम्।
इन्द्रोतः शौनको विप्रो यदाह जनमेजयम् ॥ २ ॥
आसीद्राजा महावीर्यः पारिक्षिज्जनमेजयः।
अबुद्धिपूर्वामागच्छद् ब्रह्महत्यां महीपतिः ॥ ३ ॥

यह उपन्यास कहा, इन्होंने पवित्र कर्म के जरिये धार्मिक पुरुषोंकी गति लाभ की थी। जो पुरुष सदा इसे सुनता वा कहता है, प्रमादके कारण मनमें भी कभी उसका अशुभ नहीं होता है। हे धार्मिकप्रवर युधिष्ठिर! इसी तरह शरणागत पुरुषकी रक्षा करना ही महान् धर्म है, यह कार्य करके गोहत्या करनेवाला मनुष्य भी पाप कर्मसे छूट जाता है, परन्तु जो पुरुष शरणागत जनोंका वध करता है, उसकी निष्कृति नहीं होती। मनुष्य इस पाप नष्ट करनेवाले पवित्र इतिहासको सुननेसे दुर्गतिको न प्राप्त होकर स्वर्गलोकमें गमन किया करते हैं। (१४—१९) [५५३८]

शान्तिपर्वमें १४९ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १५० अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भरतसत्तम! जो पुरुष अज्ञानताके कारण पापाचरण करता है, वह जिस प्रकार उससे मुक्त होता है, आप मुझसे वही कहिये। (१)

भीष्म बोले, शुनकपुत्र द्विजवर इन्द्रोत ने जो जनमेजयसे कहा था, मैं इस विषयमें तुम्हारे निकट ऋषियोंसे सत्कृत वह प्राचीन वृत्तान्त वर्णन करूंगा। परीक्षितके पुत्र जनमेजय नाम महाबलवान् पराक्रमी एक राजा थे; उन्होंने अज्ञानताके कारण ब्रह्महत्या की

ब्राह्मणाः सर्व एवैते तत्यजुः सपुरोहिताः ।
स जगाम वनं राजा दह्यमानो दिवानिशम् ॥ ४ ॥
प्रजाभिः स परित्यक्तश्चकार कुशलं महत् ।
अतिवेलं तपस्तेपे दह्यमानः स मन्युना ॥ ५ ॥
ब्रह्महत्यापनोदार्थमपृच्छद् ब्राह्मणान् बहून् ।
पर्यटन् पृथिवीं कृत्स्नां देशे देशे नराधिपः ॥ ६ ॥
तत्रेतिहासं वक्ष्यामि धर्मस्यास्योपबृंहणम् ।
दह्यमानः पापकृत्या जगाम जनमेजयः ॥ ७ ॥
चरिष्यमाण इन्द्रोतं शौनकं संशितव्रतम् ।
समासाद्योपजग्राह पादयोः परिपीडयन् ॥ ८ ॥
ऋषिर्दृष्ट्वा नृपं तत्र जगर्हे सुभृशं तदा ।
कर्ता पापस्य महतो भ्रूणहा किमिहागतः ॥ ९ ॥
किं त्वयाऽस्मासु कर्तव्यं मा मां स्प्राक्षीः कथं च न ।
गच्छ गच्छ न ते स्थानं प्रीणात्यस्मानिति ब्रुवन् ॥१०॥
रुधिरस्येव ते गन्धः शवस्येव च दर्शनम् ।
अशिवः शिवसंकाशो मृतो जीवन्निवाटसि ॥ ११ ॥

थी, इसीसे पुरोहितके सहित ब्राह्मणोंने उन्हे परित्याग किया, अंतमें प्रजासमूह ने भी उन्हें परित्याग किया, तब उन्होंने रात दिन शोककी अग्निसे जलते हुए वनमें गमन करके महत् कल्याण साधन किया। राजाने शोकसे जलते हुए घोर तपस्या करते हुए पृथ्वीमण्डलमें देश देश घूमकर ब्रह्महत्यासे उत्पन्न हुए पाप दूर होनेका विषय ब्राह्मणोंसे पूछा था; उस विषयमें यह धर्मयुक्त पूर्ण वृत्तान्त वर्णन करता हूं, सुनो! किसी समय राजा जनमेजयने पाप कार्यसे दह्यमान होकर भ्रमण करते हुए। शुनकनन्दन संशित व्रती महर्षि इन्द्रोतके निकट जाके उन के दोनों चरण ग्रहण किये। (२—८)

महर्षि उस समय राजाकी ओर देखकर अत्यन्त निन्दा करके बोले, तुम भ्रूणहत्या करनेवाले, पापाचारी होकर किस निमित्त इस स्थानमें आये हो? मेरे निकट तुम्हारा क्या प्रयोजन है? तुम मुझसे कोई बात मत पूछो, जाओ, यह तुम्हारे योग्य स्थान नहीं है; तुम्हारे आनेसे मैं प्रसन्न नहीं हुआ; तुम्हारे शरीरसे रुधिरकी तरह दुर्गन्धि बाहर होती है, आकार मुर्देकी तरह दीख पडता है, तुम अमङ्गलाचारी होकर मङ्ग-

ब्रह्ममृत्युरशुद्धात्मा पापमेवानुचिन्तयन्।
प्रबुध्यसे प्रस्वपिषि वर्तसे परमे सुखे ॥ १२ ॥
मोघं ते जीवितं राजन् परिक्लिष्टं च जीवसि।
पापायैव हि सृष्टोऽसि कर्मणेह यवीयसे ॥ १३ ॥
बहु कल्याणमिच्छन्ति ईहन्ते पितरः सुतान्।
तपसा दैवतेज्याभिर्वन्दनेन तितिक्षया ॥ १४ ॥
पितृवंशमिमं पश्य त्वत्कृते नरकं गतम्।
निरर्थाः सर्व एवैषामाशाबन्धास्त्वदाश्रयाः ॥ १५ ॥
यान्पूजयन्तो विन्दन्ति स्वर्गमायुर्यशः प्रजाः।
तेषु त्वं सततं द्वेष्टा ब्राह्मणेषु निरर्थकः ॥ १६ ॥
इमं लोकं विमुच्य त्वमवाङ्मूर्द्धा पतिष्यसि।
अशाश्वतीः शाश्वतीश्च समाः पापेन कर्मणा ॥ १७ ॥
अर्द्यमानो यत्र गृध्रैः शितिकण्ठैरयोमुखैः।
ततश्च पुनरावृत्तः पापयोनिं गमिष्यसि ॥ १८ ॥
यदिदं मन्यसे राजन्नायमस्ति कुतः परः।

लाचारी और मृत होकर जीवितकी तरह भ्रमण कर रहे हो। तुम अनुक्षण पापकी चिन्ता करते हुए मलिनस्वभाव और मृत्युसे आक्रान्त हुए हो, तुम सोते और जागते हो, यह ठीक है; परन्तु अत्यन्त दुःख भोग कर रहे हो। हे राजन्! तुम्हारा जीवन निरर्थक है, तुम अत्यन्त क्लेशसे जीवन बिता रहे हो। नीच पापकर्म करनेके वास्ते विधाताने तुम्हें उत्पन्न किया है। (९-१३)

पितर लोग अनेक कल्याणकी इच्छा करके तपस्या, देवपूजा, वन्दना और तितिक्षाके जरिये पुत्रकामना किया करते हैं; परन्तु देखो, तुम्हारे लिये तुम्हारे सब पितर नरकगामी हो रहे हैं, तुममें उन लोगोंका जो सब आशाबन्धन था, वह भी निरर्थक हुआ है। लोग जिनकी पूजा करते हुए स्वर्ग, आयु और यश लाभ करते हैं, तुम विना कारणके ही उन ब्राह्मणोंसे सदा द्वेष किया करते हो; इसलिये तुम इस लोकको परित्याग करनेपर पापकर्मके कारण शिर नीचे करके सब कर्मोंके फल भोगनेके लिये बहुत समयतक नरकमें डूबते रहोगे। वहांपर गिद्ध और अधोमुख मयूरसमूह तुम्हें प्रतिक्षण भक्षण करेंगे। अनन्तर तुम फिर पापयोनिको प्राप्त होगे। हे राजन्! यदि तुम विचार करो कि यह

प्रतिस्मारयितारस्त्वां यमदूता यमक्षये ॥ १९ ॥ [५५५७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि इंद्रोतपारिक्षितीयसंवादे पंचाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५०॥

भीष्म उवाच— एवमुक्तः प्रत्युवाच तं मुनिं जनमेजयः ।
गर्ह्यं भवान् गर्हयते निन्द्यं निन्दति मां पुनः ॥ १ ॥
धिक्कार्यं मां धिक्कुरुते तस्मात्त्वाऽहं प्रसादये ।
सर्वं हीदं दुष्कृतं मे ज्वलाम्यग्नाविवाहितः ॥ २ ॥
स्वकर्माण्यभिसंधाय नाभिनन्दति मे मनः ।
प्राप्य घोरं भयं नूनं मया वैवस्वतादपि ॥ ३ ॥
तत्तु शल्यमनिर्हृत्य कथं शक्ष्यामि जीवितुम् ।
सर्वं मन्युं विनीय त्वमभि मां वद शौनक ॥ ४ ॥
महानासं ब्राह्मणानां भूयो वक्ष्यामि साम्प्रतम् ।
अस्तु शेषं कुलस्यास्य मा पराभूदिदं कुलम् ॥ ५ ॥
नहि नो ब्रह्मशस्तानां शेषं भवितुमर्हति ।

लोकही नहीं है,—तो परलोक कहां ? ऐसा होनेसे यमस्थानपर यमदूत लोग प्रतिक्षण तुम्हें उसे स्मरण करा देंगे ! (१४—१९) [५५५७]

शान्तिपर्वमें १५० अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें १५१ अध्याय ।

भीष्म बोले, इन्द्रोत मुनिने जब जनमेजयसे ऐसा कहा, तब वह मुनिको सम्बोधन करके बोले, हे तपोधन ! आप निन्दनीय पुरुषकी निन्दा किया करते हैं, इस कारण मैं निन्दनीय हुआ हूं और निन्दनीय कार्य किया है; इससे मुझे और मेरे कार्यकी निन्दा कर रहे हैं; इसलिये मैं आपको प्रसन्न करता हूं, मैंने जो कुछ किया है, वह सब दुष्कर्म है, इस समय मैं मानो अग्निमें पडके जल रहा हूं, निज कर्मोंको स्मरण करके मेरा अन्तःकरण किसी तरह सन्तुष्ट नहीं होता है; मैं यमसे अत्यन्त भयभीत होता हूं; यमभयरूपी शल्यको विना निकाले किस प्रकार जीवन धारण करनेमें समर्थ होऊंगा ? हे महर्षि ! आप समस्त क्रोध परित्याग करके मुझे सदुपदेश प्रदान करिये । पहिले मैं ब्राह्मणोंके विषयमें अत्यन्त भक्तिमान था; इस समय भी कहता हूं कि ब्राह्मणोंके विषयमें फिर अब अभक्ति नहीं करूंगा, मेरे इस वंशका शेष रहे, जिसमें इसकी पराभव न हो । (१—५)

जो लोग ब्राह्मणोंकी हिंसा करके

स्तुतीरलभमानानां संविदं वेदनिश्चितात् ॥ ६ ॥
निर्विद्यमानस्त्वात्मानं भूयो वक्ष्यामि शाश्वतम्।
भूयश्चैवाभिरक्षन्तु निर्धनान्निर्जना इव ॥ ७ ॥
न ह्ययज्ञा अमुं लोकं प्राप्नुवन्ति कथं च न।
आपातान्प्रतितिष्ठन्ति पुलिन्दशबरा इव ॥ ८ ॥
अविज्ञायैव मे प्रज्ञां बालस्येव स पण्डितः।
ब्रह्मन् पितेव पुत्रस्य प्रीतिमान् भव शौनक ॥ ९ ॥
शौनक उवाच— किमाश्चर्यं यतः प्राज्ञो ब्रह्म कुर्यादसाम्प्रतम्।
इति वै पण्डितो भूत्वा भूतानां नानुकुप्यते ॥ १० ॥
प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यः शोचते जनान्।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थः प्रज्ञया प्रतिपत्स्यति ॥ ११ ॥
न चोपलभ्यते तेन न चाश्चर्याणि कुर्वते।
निर्विण्णात्मा परोक्षो वा धिक्कृतः पूर्वसाधुषु ॥१२॥
विदितं भवतो वीर्यं माहात्म्यं वेद आगमे।

जनसमाजमें अपयशके पात्र और वेद निर्णयके अनुसार निज जातिसे परित्यक्त हुए हैं, उनका शेष होना उचित नहीं है, मैं अत्यन्त दुःखित हुआ हूं, इसलिये युक्तियुक्त वचन बार बार प्रकाश करके आसक्तिरहित योगी लोग जैसे कृपा करके निर्धन लोगोंको प्रतिपालन किया करते हैं, आपभी उसी तरह मेरी रक्षा करिये। यज्ञहीन मनुष्य किसी प्रकार इस लोकको नहीं प्राप्त होते, वे पुलिन्द और शबर आदि म्लेच्छ जातियोंकी तरह नरकमें निवास किया करते हैं। हे ब्रह्मन्! आप उत्तम पण्डित हैं, इसलिये मैंने बालक की तरह न जानकर जो कुछ कहा है, आप उसे क्षमा करिये; पुत्रके विषयमें पिताकी तरह आप मेरे ऊपर प्रसन्न होइये। (६-९)

शौनक बोले, अज्ञ पुरुष जो बहुतसे अयुक्त कर्म किया करते हैं, उसमें आश्चर्य नहीं है; ज्ञानवान होके भी जो जीवोंके विषयमें योग्य व्यवहार नहीं करते, वही आश्चर्य है। बुद्धिमान् पुरुष बुद्धिरूपी महलपर चढके स्वयं अशोच्य होकर दूसरेके लिये शोक किया करते हैं और पहाडपर वास करनेवालेकी तरह पृथ्वीकी सब वस्तुओंको बुद्धिबलसे देखते हैं। जो पुरुष साधुओंके समीप निन्दनीय होकर दुःखित होता और उनकी दृष्टिके अगोचर हुआ करता है, वह कभी कल्याणलाभ और कर्त्तव्यको

कुरुष्वेह यथाशान्ति ब्रह्म शरणमस्तु ते ॥ १३ ॥
तद्वै पारत्रिकं तात ब्राह्मणानामकुप्यताम् ।
अथवा तप्यसे पापे धर्ममेवानुपश्य वै ॥ १४ ॥

जनमेजय उवाच— अनुतप्य च पापेन न च धर्मं विलोपये ।
बुभूषुं भजमानं च प्रीतिमान् भव शौनक ॥ १५ ॥

शौनक उवाच— छित्वा दम्भं च मानं च प्रीतिमिच्छामि ते नृप ।
सर्वभूतहितं तिष्ठ धर्मं चैव प्रतिस्मरन् ॥ १६ ॥
न भयान्न च कार्पण्यान्न लोभात्त्वामुपाह्वये ।
तां मे दैवीं गिरं सत्यां शृणु त्वं ब्राह्मणैः सह ॥ १७ ॥
सोऽहं न केन चिचार्थी त्वां च धर्मादुपाह्वये ।
क्रोशतां सर्वभूतानां हा हा धिगिति जल्पताम् ॥ १८ ॥
वक्ष्यन्ति मामधर्मज्ञं त्यक्ष्यन्ति सुहृदो जनाः ।
ता वाचः सुहृदः श्रुत्वा संज्वरिष्यन्ति मे भृशम् ॥ १९ ॥
केचिदेव महाप्राज्ञाः प्रतिज्ञास्यन्ति तत्वतः ।

नहीं देख सकता । वेद शास्त्रोंमें कहे हुए ब्राह्मणोंके पराक्रम और महात्म्य तुम्हें अविदित नहीं हैं; इसलिये इस समय जिससे शान्तिलाभ हो, वही करो; ब्राह्मण लोग तुम्हारी रक्षा करें । हे तात ! क्रोधरहित ब्राह्मण लोग जो आचरण करते हैं, उसीसे अन्तकालमें उपकार होता है; इस समय तुम पापसे परितापित हो रहे हो, इसलिये एक मात्र धर्म अवलम्बन करो । (१०-१४)

जनमेजय बोले, हे शुनकनन्दन ! मैं पापकी आंचसे सन्तापित हो रहा हूं, यह ठीक है, परन्तु मैंने धर्मलोप नहीं किया है, कल्याणकी इच्छा करके आपकी आराधना कर रहा हूं; आप मेरे ऊपर प्रसन्न होइये (१५)

शौनक बोले, हे राजन् ! मैं दम्भ और अभिमानको त्यागके तुम्हारी प्रीतिको अभिलाष करता हूं; तुम एकमात्र धर्मको स्मरण करके सब प्राणियोंके हितानुष्ठानमें अनुरक्त रहो । भय, कृपणता अथवा लोभके वशमें होकर मैं तुम्हें अनुशासन नहीं करता हूं, तुम ब्राह्मणोंके सहित मेरा सत्य वचन सुनो । मैं किसी विषयमें प्रार्थना नहीं करता । हा ! हा ! धिक् धिक् ! कहके जो सब जीवसमूह चिल्लाया करते हैं, उनके सम्मुखमें ही मैं तुम्हें उपदेश देता हूं, सुहृद लोग इसके लिये मुझे अधार्मिक कहेंगे और परित्याग करेंगे, परन्तु वे लोग

जानीहि मत्कृतं तात ब्राह्मणान् प्रति भारत ॥ २० ॥
यथा ते मत्कृते क्षेमं लभन्ते ते तथा कुरु ।
प्रतिजानीहि चाद्रोहं ब्राह्मणानां नराधिप ॥ २१ ॥ [५५७१]

जनमेजय उवाच- नैव वाचा न मनसा पुनर्जातु न कर्मणा ।
द्रोग्धास्मि ब्राह्मणान्विप्र चरणावपि ते स्पृशे ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि इंद्रोतपारिक्षितीये एकपंचाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

शौनक उवाच- तस्मात्तेऽहं प्रवक्ष्यामि धर्ममावृत्तचेतसे ।
श्रीमान्महाबलस्तुष्टः स्वयं धर्ममवेक्षसे ॥ १ ॥
पुरस्ताद्दारुणो भूत्वा सुचित्रतरमेव तत् ।
अनुगृह्णाति भूतानि स्वेन वृत्तेन पार्थिवः ॥ २ ॥
कृत्स्नं नूनं स दहति इति लोको व्यवस्यति ।
यत्र त्वं तादृशो भूत्वा धर्ममेवानुपश्यसि ॥ ३ ॥
हित्वा तु सुचिरं भक्ष्यं भोज्यांश्च तप आस्थितः ।

मेरा वह सब वचन सुनकर अत्यन्त ही पीडित होंगे। कोई कोई महाबुद्धिमान मनुष्य यथार्थ रूपसे मेरा अभिप्राय जान सकेंगे। हे भारत! ब्राह्मणोंके विषयमें मेरा जैसा अभिप्राय है, उसे तुम मालूम करो; वे लोग मेरे लिये जिस प्रकार कल्याण लाभ करें तुम वैसा ही करो; हे नरनाथ! ब्राह्मणोंकी बुराई नहीं करूंगा, कह के प्रतिज्ञा करो। (१९-२१)

जनमेजय बोले, हे विप्रवर! मैं आपके दोनों चरण छूके प्रतिज्ञा करता हूं, कि वचन, मन और कर्मसे फिर कभी ब्राह्मणोंके विषयमें अनिष्ट आचरण न करूंगा। (२२) [५५७९]

शान्तिपर्वमें १५१ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १५२ अध्याय।

शौनक बोले, हे राजन्! इस समय तुम्हारा चित्त धर्म मार्गमें लौटा हुआ है, इस ही कारण मैं तुम्हें उपदेश दान करनेमें प्रवृत्त हुआ हूं; तुम श्रीमान् महाबलवान् और पराक्रमी होकर स्वयं धर्मदर्शी हो रहे हो; राजा लोग पहिले कठोर स्वभाववाले होके पीछे जीवोंके विषयमें कृपा प्रकाशित किया करते हैं, यह अत्यन्तही आश्चर्य है। लोग कहा करते हैं, कि जो राजा निष्ठुर होता है, वह सब लोगोंको दुःखित करता है। तुमभी पहिले वैसाही होकर इस समय धर्मदर्शी हुए हो। हे जनमेजय! तुमने

इत्येतदभिभूतानामद्भुतं जनमेजय ॥ ४ ॥
योऽदुर्लभो भवेद्दाता कृपणो वा तपोधनः ।
अनाश्चर्यं तदित्याहुर्नातिदूरेण वर्तते ॥ ५ ॥
एतदेव हि कार्पण्यं समग्रमसमीक्षितम् ।
यच्चेत्समीक्षयैव स्याद्भवेत्तस्मिंस्ततो गुणः ॥ ६ ॥
यज्ञो दानं दया वेदाः सत्यं च पृथिवीपते ।
पञ्चैतानि पवित्राणि षष्ठं सुचरितं तपः ॥ ७ ॥
तदेव राज्ञां परमं पवित्रं जनमेजय ।
तेन सम्यग्गृहीतेन श्रेयांसं धर्ममाप्स्यसि ॥ ८ ॥
पुण्यदेशाभिगमनं पवित्रं परमं स्मृतम् ।
अत्राप्युदाहरन्तीमां गाथां गीतां ययातिना ॥ ९ ॥
यो मर्त्यः प्रतिपद्येत आयुर्जीवितमात्मनः ।
यज्ञमेकान्ततः कृत्वा तत्संन्यस्य तपश्चरेत् ॥ १० ॥
पुण्यमाहुः कुरुक्षेत्रं कुरुक्षेत्रात्सरस्वतीम् ।
सरस्वत्याश्च तीर्थानि तीर्थेभ्यश्च पृथूदकम् ॥ ११ ॥

जो राज्य भोग भक्ष्य भोज्य परित्याग करके बहुत दिनोंसे तपस्या अवलम्बन की है, वह अधर्म युक्त राजाओंके विषयमें अद्भुत कार्य है। समृद्धियुक्त दाता वा कृपण जो तपस्वी होता है, वह आश्चर्य नहीं हैं; क्यों कि वे लोग तपस्याकी अन्तिम सीमापर स्थिति नहीं करते। (१—५)

पूर्व पर विचार न करके कार्य करनेसे दोष घटनाकी सम्भावना रहती है और परीक्षा करके कार्य करनेपर उससे अनेक गुण उत्पन्न होते हैं। हे महाराज यज्ञ, दान, दया, वेदाध्ययन, और सत्य वचन, इन पांच कर्मोंके तथा उत्तम रीतिसे तपस्या करनाही राजाओंके परम पवित्र धर्म हैं। हे जनमेजय! तुम पूर्ण रीतिसे उस ही तपस्याको अवलम्बन करनेसे श्रेष्ठ धर्म-लाभ करोगे। पवित्र देशमें गमन करना परम पवित्र कर्म है, इसे ऋषियोंने स्मरण किया है। इस विषयमें ययाति राजाने जो गाथा कही थी, पण्डित लोग उसेही उदाहरणमें कहा करते हैं। जो मनुष्य बहुत दिन जीनेकी इच्छा करे, वह यत्नपूर्वक यज्ञ करके, अन्तमें उसे छोडके तपस्या करे। पण्डित लोग कुरुक्षेत्रको पवित्र तीर्थ कहा करते हैं, कुरुक्षेत्रसे सरस्वती, सरस्वतीसे उसके सब तीर्थ और सरस्वतीसे

यत्रावगाह्य पीत्वा च नैनं श्वोमरणं तपेत् ।
महासरः पुष्कराणि प्रभासोत्तरमानसे ॥ १२ ॥
कालोदकं च गन्ताऽसि लब्धायुर्जीविते पुनः ।
सरस्वतीदृषद्वत्योः संगमो मानसः सरः ॥ १३ ॥
स्वाध्यायशीलः स्थानेषु सर्वेष्वेवमुपस्पृशेत् ।
त्यागधर्मः पवित्राणां संन्यासं मनुरब्रवीत् ॥ १४ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथाः सत्यवता कृताः ।
यथा कुमारः सत्यो वै नैव पुण्यो न पापकृत् ॥ १५ ॥
न ह्यस्ति सर्वभूतेषु दुःखमस्मिन्कुतः सुखम् ।
एवं प्रकृतिभूतानां सर्वसंसर्गयायिनाम् ॥ १६ ॥
त्यजतां जीवितं श्रेयो निवृत्ते पुण्यपापके ।
यत्त्वेव राज्ञो ज्यायिष्ठं कार्याणां तद्ब्रवीमि ते ॥ १७ ॥
बलेन संविभागैश्च जय स्वर्गं जनेश्वर ।
यस्यैव बलमोजश्च स धर्मस्य प्रभुर्नरः ॥ १८ ॥

पृथूदक तीर्थ पवित्र है, जिसमें नहाने और जिस के जल पीने से मनुष्य अकाल-मृत्युसे कदापि दुखी नहीं होते। (६—१२)

जो लोग बहुत आयुकी इच्छा करें वे महासरोवर पुष्कर, प्रभास, उत्तर मानस और कालोदक आदि सब तीर्थोंमें गमन करें। सरस्वती और दृषद्वती नदियोंके सङ्गम और मानस सरोवरपर स्वाध्यायमें रत होकर भ्रमण करें। मनुने कहा है, कि सब पवित्र धर्मोंमें त्याग धर्म पवित्र है और सन्यास-धर्म उससे अधिक पवित्र है। इस विषयमें सत्यवानने जो अपनी निज सम्मति प्रकाशित की है, पण्डित लोग उसे ही उदाहरण दिया करते हैं; रागद्वेषसे रहित बालक जैसे पापपुण्यमें आसक्त नहीं होता, तुम भी उसी प्रकार पापपुण्यके अनुष्ठानसे निवृत्त होजाओ। इस पृथ्वीपर सुख दुःख कुछ भी नहीं जीवोंके पुत्र कलत्र आदिके संयोग वियोगके कारण सुख दुःख कल्पना मात्र है निखिल-पापी संसर्गमें रहनेवाले पुरुषोंके पुण्य और पाप निवृत्त होनेपर वे ब्रह्मस्वरूप लाभ करके जीवन परित्याग करके परम कल्याण भाजन होते हैं। इस समय राजाओंके कर्त्तव्य कार्योंके बीच जो उत्तम है; वह तुमसे कहता हूं। (१२—१७)

हे प्रजानाथ ! तुम धीरज और

ब्राह्मणार्थं सुखार्थं हि त्वं पाहि वसुधां नृप ।
यथैवैनान्पुराक्षेप्सीस्तथैवैतान्प्रसादय ॥ १९ ॥
अपि विक्रममाणोऽपि त्यजमानोऽप्यनेकधा ।
आत्मनो दर्शनाद्विप्रान्न हन्तास्मीति मार्गय ।
घटमानः स्वकार्येषु कुरु निःश्रेयसं परम् ॥ २० ॥
हिमाग्निघोरसदृशो राजा भवति कश्चन ।
लाङ्गलाशनिकल्पो वा भवेदन्यः परन्तप ॥ २१ ॥
न विशेषेण गन्तव्यमविच्छिन्नेन वा पुनः ।
न जातु नाहमस्मीति सुप्रसक्तमसाधुषु ॥ २२ ॥
विकर्मणा तप्यमानः पापाद्विपरिमुच्यते ।
नैतत्कार्यं पुनरिति द्वितीयात्परिमुच्यते ॥ २३ ॥
चरिष्ये धर्ममेवेति तृतीयात्परिमुच्यते ।
शुचिस्तीर्थान्यनुचरन् बहुत्वात्परिमुच्यते ॥ २४ ॥

दानके सहारे स्वर्ग लोकमें अधिकार करो जिसमें धीरज और दान शक्ति है, वही धार्मिक है । महाराज ! तुम ब्राह्मणोंके सुखके निमित्त पृथ्वी पालन करो पहिले तुमने जिस प्रकार ब्राह्मणोंकी निन्दा की थी, उस भांति इस समय उन्हे प्रसन्न करो । ब्राह्मणोंसे वारंवार धिक्कृत और परित्यक्त होनेपर भी तुम आत्म उपमा के जरिये उन लोगोंका कभी वध न करना, ऐसाही निश्चय करके निज कार्योंमें नियुक्त रहके परम कल्याण साधन करो । कोई कोई राजा हिमके समान शीतल, अग्निकी तरह क्रूर और यमकी भांति गुणदोषोंके विचारक हुआ करते हैं, और कोई कोई शत्रुतापन राजा हल की तरह शत्रुओंके मूलको नष्ट करते तथा वज्रके अकस्मात गिरनेकी भांति दुष्टोंको शासन किया करते हैं । दुष्टोंके सङ्ग विशेषरूपसे प्रीति करनेसे वह स्थिरताके सहित वर्त्तमान नहीं रहती, इस लिये कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुष को खलोंके साथ कभी प्रीति करनी उचित नहीं है । (१८—२२)

एक वेर पापकर्म करके शोक करनेपर उससे छुटकारा होता है; दूसरी बार पापकर्म करके फिर ऐसा न करूंगा इस प्रकार प्रतिज्ञा करनेसे उससे निस्तार हो सकता है; तीसरी बार पापकर्म करनेपर "धर्माचरण करूंगा" कहके दृढ प्रतिज्ञ होनेपर वह नष्ट होता है; बहुत सा पाप कर्म करनेपर पवित्र होकर तीर्थाटन करनेसे उससे मुक्तिलाभ हुआ

कल्याणमनुकर्तव्यं पुरुषेण बुभूषता।
ये सुगन्धीनि सेवन्ते तथागन्धा भवन्ति ते ॥ २५ ॥
ये दुर्गन्धीनि सेवन्ते तथागन्धा भवन्ति ते।
तपश्चर्यापरः सद्यः पापाद्विपरिमुच्यते ॥ २६ ॥
संवत्सरमुपास्याग्निमभिशस्तः प्रमुच्यते।
त्रीणि वर्षाण्युपास्याग्निं भ्रूणहा विप्रमुच्यते ॥ २७ ॥
महासरः पुष्कराणि प्रभासोत्तरमानसे।
अभ्येत्य योजनशतं भ्रूणहा विप्रमुच्यते। ॥ २८ ॥
यावतः प्राणिनो हन्यात्तज्जातीयांस्तु तावतः।
प्रमीयमाणानुन्मोच्य प्राणिहा विप्रमुच्यते ॥ २९ ॥
अपि चाप्सु निमज्जेत जपंस्त्रिरघमर्षणम्।
यथाऽश्वमेधावभृथस्तथा तन्मनुरब्रवीत् ॥ ३० ॥
तत्क्षिप्रं नुदते पापं सत्कारं लभते तथा।
अपि चैनं प्रसीदन्ति भूतानि जडमूकवत् ॥ ३१ ॥
बृहस्पतिं देवगुरुं सुरासुराः सर्वे समेत्याभ्यनुयुज्य राजन्।

करता है। ज्ञानकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंको कल्याणपथका पथिक होना उचित है। जो लोग सुगन्धित वस्तुकी सेवा करते हैं, उनका शरीर सुगन्धयुक्त होता है, और जो लोग दुर्गन्ध वस्तुकी सेवा किया करते हैं, उनका शरीर दुर्गन्धमय होजाता है, तपस्या करनेवाले पुरुष पापसे सदा ही मुक्त हुआ करते हैं। अभिशापयुक्त पुरुष सात वर्ष तक अग्निकी उपासना करनेसे मुक्तिलाभ करते हैं। भ्रूण-हत्या करनेवाले मनुष्य तीन वर्षतक अग्निकी उपासना करनेसे मुक्त हो सकते हैं, और भ्रूण-हत्या करनेवाला पुरुष एक सौ योजन दूरसे यदि महासरोवर पुष्कर प्रभास और उत्तर मानस तीर्थोंमें गमन करे तो वह पापसे मुक्त होवे। (२३-२८)

प्राणी-घातक मनुष्य जितने प्राणियोंका वध करते हैं, उस जातिके उतने ही प्राणियोंके म्रियमाण होनेपर उन्हें बन्धनसे छुडा सकें तो उस पापसे छूट जाते हैं। मनुने कहा है, कि पापी पुरुष अघमर्षण मन्त्रकी तीन बार जप करते हुए यदि जलमें निमग्न हो; तो वह अश्वमेध यज्ञके अन्तमें स्नान करनेवाले पुरुषकी भांति पवित्र होके जनसमाज में आदरयुक्त हुआ करता है, और जीव मात्रही जड तथा मूक की तरह उससे

धर्मस्य फलं वेत्थ फलं महर्षे तथैव तास्मिन्नरके पारलोक्ये ॥ ३२ ॥
उभे तु यस्य सदृशे भवेतां किं स्वित्तयोस्तत्र जयोऽथ न स्यात् ।
आचक्ष्व नः पुण्यफलं महर्षे कथं पापं नुदते धर्मशीलः॥ ३३ ॥
बृहस्पतिरुवाच- कृत्वा पापं पूर्वमबुद्धिपूर्वं पुण्यानि चेत्कुरुते बुद्धिपूर्वम् ।
स तत्पापं नुदते कर्मशीलो वासो यथा मलिनं क्षारयुक्तम्॥ ३४॥
पापं कृत्वाऽभिमन्येत नाहमस्मीति पूरुषः ।
तच्चिकीर्षति कल्याणं श्रद्दधानोऽनसूयकः ॥ ३५ ॥
छिद्राणि विवृतान्येव साधूनां चावृणोति यः ।
यः पापं पुरुषः कृत्वा कल्याणमभिपद्यते ॥ ३६ ॥
यथाऽऽदित्यः प्रातरुद्यंस्तमः सर्वं व्यपोहति ।
कल्याणमाचरन्नेवं सर्वपापं व्यपोहति ॥ ३७ ॥
भीष्म उवाच— एवमुक्त्वा तु राजानमिन्द्रोतो जनमेजयम् ।
याजयामास विधिवद्वाजिमेधेन शौनकः ॥ ३८ ॥

प्रसन्न होते हैं। हे राजन्! पहिले देवता और असुरोंने देव गुरु बृहस्पतिके समीप जाके विनीत वचनसे कहा था, हे महर्षि आप धर्मके फलको जानते हैं और जिसके जरिये परलोकमें नरकमें गमन करना पडता है, वह पापका फल भी आपको अविदित नहीं है; जिसके पाप पुण्य दोनों ही समान हैं, वह क्या पुण्यके जरिये पापको जय नहीं कर सकता? सो पुण्यका फल कैसा है, और धर्मशील मनुष्य किस प्रकार पाप खण्डन करते हैं; वह आप हम लोगोंसे कहिये। (२९-३३)

बृहस्पति बोले, पहिले अज्ञानपूर्वक पाप कर्म करके, फिर यदि ज्ञानपूर्वक पुण्यका अनुष्ठान करे, तो जिस प्रकार क्षारके संयोगसे मैले वस्त्रोंका मल दूर किया जाता है, वैसे ही पुण्य करनेवाला पुरुष धर्माचरणके सहारे पापखण्डन करनेमें समर्थ होता है। पुरुष पापकर्म करके, अभिमान न करे, श्रद्धायुक्त और असूयारहित होकर कल्याणकी इच्छा करे, जो पुरुष पापाचार करके कल्याण की इच्छा करता है, वह साधुओंके विवृत छिद्रोंको छिपाया करता है। जैसे सूर्य भोरके समय उदय होकर समस्त अन्धकार नष्ट करता है। धर्म करनेवाला पुरुष उसी तरह सब पापखण्डन किया करता है। (३४-३७)

भीष्म बोले, शुनकपुत्र महर्षि इन्द्रोतने राजा जनमेजयसे ऐसा ही कहके विधिपूर्वक उसे अश्वमेध यज्ञमें प्रवर्तित

ततः स राजा व्यपनीतकल्मषः श्रेयोवृतः प्रज्वलिताग्निरूपवान् ।
विवेश राज्यं स्वममित्रकर्षणो यथा दिवं पूर्णवपुर्निशाकरः ॥३९॥ ५६१८

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि इंद्रोतपारिक्षितीये द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥

युधिष्ठिर उवाच— कच्चित्पितामहेनासीच्छ्रुतं वा दृष्टमेव च ।
कच्चिन्मर्त्यो मृतो राजन् पुनरुज्जीवितोऽभवत् ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— शृणु पार्थ यथावृत्तमितिहासं पुरातनम् ।
गृध्रजम्बुकसंवादं यो वृत्तो नैमिषे पुरा ॥ २ ॥
कस्य चिद् ब्राह्मणस्यासीद्दुःखलब्धः सुतो मृतः ।
बाल एव विशालाक्षो बालग्रहनिपीडितः ॥ ३ ॥
दुःखिताः केचिदादाय बालमप्राप्तयौवनम् ।
कुलसर्वस्वभूतं वै रुदन्तः शोकविह्वलाः ॥ ४ ॥
बालं मृतं गृहीत्वाऽथ श्मशानाभिमुखाः स्थिताः ।
अङ्केनैव च संक्रम्य रुरुदुर्भृशदुःखिताः ॥ ५ ॥
शोचन्तस्तस्य पूर्वोक्तान् भाषितांश्चासकृत्पुनः ।
तं बालं भूतले क्षिप्य प्रतिगन्तुं न शक्नुयुः ॥ ६ ॥

किया । अनन्तर शत्रुनाशन राजा जनमेजयने पापरहित और कल्याणयुक्त होकर जैसे पूर्णचन्द्र आकाशमें उदय होता है, वैसे ही जलती अग्निके समान तेजःपुञ्ज-युक्त शरीरसे निज नगर में प्रवेश किया । (३८—३९)

शान्तिपर्वमें १५२ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें १५३ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, कोई मनुष्य मरके फिर जीवित होता, इसे आपने देखा वा सुना है ? भीष्म बोले, हे राजन् ! पहिले समय नैमिषारण्यमें गिद्ध जम्बुक संवादयुक्त प्राचीन इतिहास जिस प्रकार कहा गया था, उसे सुनो। किसी ब्राह्मणके अनेक दुःखसे प्राप्त हुआ विशालनेत्रवाला एक मात्र पुत्र बालग्रहके जरिये बालक अवस्थामें ही मृत्युके ग्रासमें पतित हुआ । बान्धवोंने दुःखित और शोकित होकर रोदन करते हुए वंशके सर्वस्वभूत उस अप्राप्त अवस्थावाले मृत बालकको उठाके श्मशानकी ओर प्रस्थान किया । वे लोग उस बालकको गोदमें लेके अत्यन्त दुःखित होकर उसके मधुर वचनको बार बार स्मरण करके शोक प्रकाश करते हुए रोदन करने लगे, किसी

तेषां रुदितशब्देन गृध्रोऽभ्येत्य वचोऽब्रवीत् ।
एकात्मजमिमं लोके त्यक्त्वा गच्छत मा चिरम् ॥७॥
इह पुंसां सहस्राणि स्त्रीसहस्राणि चैव हि ।
समानीतानि कालेन हित्वा वै यान्ति बान्धवाः ॥८॥
संपश्यत जगत्सर्वं सुखदुःखैरधिष्ठितम् ।
संयोगो विप्रयोगश्च पर्यायेणोपलभ्यते ॥ ९ ॥
गृहीत्वा ये च गच्छन्ति ये न यान्ति च तान् मृतान् ।
तेऽप्यायुषः प्रमाणेन स्वेन गच्छन्ति जन्तवः ॥ १० ॥
अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसंकुले ।
कङ्कालबहुले रौद्रे सर्वप्राणिभयंकरे ॥ ११ ॥
न पुनर्जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥१२॥
सर्वेण खलु मर्तव्यं मर्त्यलोके प्रसूयता ।
कृतान्तविहिते मार्गे मृतं को जीवयिष्यति ॥ १३ ॥
कर्मान्तविरते लोके अस्तं गच्छति भास्करे ।

प्रकार भी उस मृत बालकको पृथ्वीपर फेंकके घर जानेमें समर्थ न हुए। उस ही समय कोई गृध्र उन लोगोंके रोदनकी ध्वनिके अनुसार वहांपर आके बोला, तुम लोग इस एक मात्र पुत्रको इस स्थानमें परित्याग करके गमन करो, देरी मत करो। (१—७)

इस स्थानमें सहस्रों पुरुष और स्त्रियां माया करती हैं, बान्धव लोग यथासमयमें उन्हें परित्याग कर जाते हैं। देखो सब जगत ही सुख और दुःखमें स्थिति करता है; पर्याय क्रमसे पुत्रकलत्र आदिके सङ्ग संयोग और वियोग हुआ करता है; जो लोग मृत पुरुषको ग्रहण करके स्थित रहते अथवा उसका अनुगमन करते हैं; उन्हें भी निज परमायु के परिमाणके अनुसार यमलोकमें गमन करना पडता है; इस लिये इस गृध्रगोमायुयुक्त अनेक प्रेतोंसे घिरा हुआ सब प्राणियोंको भयङ्कर घोर श्मशानमें रहनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है; प्रिय हो, वा अप्रिय ही होवे कोई पुरुष पञ्चत्वको प्राप्त होकर फिर जीवित नहीं होता; प्राणियोंकी ऐसीही गति है। मर्त्यलोकमें जिसने जन्म लिया है, उसे अवश्य मरना होगा; इसलिये इस कालकृत नियमके रहते कौन पुरुष मरे हुए लोगोंको

गरुयतां स्वमधिष्ठानं सुतस्नेहं विसृज्य वै ॥ १४ ॥
ततो गृध्रवचः श्रुत्वा प्राक्रोशन्तस्तदा नृप ।
बान्धवास्तेऽभ्यगच्छन्त पुत्रमुत्सृज्य भूतले ॥ १५ ॥
विनिश्चित्याथ च तदा विक्रोशन्तस्ततस्ततः ।
मृतमित्येव गच्छन्तो निराशास्तस्य दर्शने ॥ १६ ॥
निश्चितार्थाश्च ते सर्वे संत्यजन्तः स्वमात्मजम् ।
निराशा जीविते तस्य मार्गमावृत्य धिष्ठिताः ॥ १७ ॥
ध्वांक्षपक्षसवर्णस्तु बिलान्निःसृत्य जम्बुकः ।
गच्छमानान् स तानाह निर्घृणाः खलु मानुषाः ॥१८॥
आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत मा भयम् ।
बहुरूपो मुहूर्तश्च जीवत्यपि कदा च न ॥ १९ ॥
यूयं भूमौ विनिक्षिप्य पुत्रस्नेहविनाकृलाः ।
श्मशाने सुतमुत्सृज्य कस्माद्गच्छत निर्घृणाः ॥ २० ॥
न वोऽस्त्यस्मिन्सुते स्नेहो बाले मधुरभाषिणि ।
यस्य भाषितमात्रेण प्रसादमधिगच्छत ॥ २१ ॥

जीवित कर सकेगा। (८—१३)

कार्यकी समाप्तिके कारण सब लोगों के विरत होनेपर सूर्य अस्ताचलपर गमन कर रहे हैं; इसलिये तुम लोग पुत्रस्नेह त्यागके निज निवासस्थानपर गमन करो। अनन्तर बान्धव लोग गिद्धका वचन सुनके उस समय मानो शोकरहित होकर पुत्रको पृथ्वीपर छोड के गृहकी ओर गमन करनेमें प्रवृत्त हुए और वे लोग बालकको मरा हुआ निश्चय करके उसे देखनेसे निराश और हताश होकर रोदन करने लगे। बान्धव लोग विशेष रीतिसे निश्चय करके मार्ग के बीच आरहे हैं उस ही समय कौआके समान काले रङ्गका एक सियार बिलसे निकलके उन घर जानेवाले पुरुषोंसे बोला, रे दयाहीन मूढ मनुष्यों! यह देखो सूर्य अभीतक अस्त नहीं हुआ, इसलिये अब भी तुम लोग स्नेह करो, भय मत करो, मुहूर्त्तका अत्यन्त चमत्कार प्रभाव है, मुहूर्त्तके प्रभावसे इसका फिर जीवित होना असम्भव नहीं है। १४-१९

तुम लोग अपत्यस्नेहहीन और निर्दयी होकर श्मशानमें भूमिपर उस पुत्रको छोडके किस लिये गमन करते हो? जिसका वचन कानमें प्रविष्ट होनेसेही तुम लोग प्रसन्न होते थे, उस मधुर वचन कहनेवाले शिशु सन्तानके

ते पश्यत सुतस्नेहो यादृशः पशुपक्षिणाम् ।
न तेषां भारयित्वा तान् कश्चिदस्ति फलागमः ॥२२॥
चतुष्पात्पक्षिकीटानां प्राणिनां स्नेहसङ्गिनाम् ।
परलोकगतिस्थानां मुनियज्ञक्रियामिव ॥ २३ ॥
तेषां पुत्राभिरामाणामिह लोके परत्र च ।
न गुणो दृश्यते कश्चित्प्रजाः संधारयन्ति च ॥ २४ ॥
अपश्यतां प्रियान्पुत्रांस्तेषां शोको न तिष्ठति ।
न च पुष्णन्ति संवृद्धास्ते मातापितरौ क्वचित् ॥२५॥
मानुषाणां कुतः स्नेहो येषां शोको भविष्यति ।
इमं कुलकरं पुत्रं त्यक्त्वा क नु गमिष्यथ ॥ २६ ॥
चिरं मुञ्चत बाष्पं च चिरं स्नेहेन पश्यत ।
एवंविधानि हीष्टानि दुस्त्यजानि विशेषतः ॥ २७ ॥
क्षीणस्यार्थाभियुक्तस्य श्मशानाभिमुखस्य च ।
बान्धवा यत्र तिष्ठन्ति तत्रान्यो नावतिष्ठति ॥२८॥
सर्वस्य दयिताः प्राणाः सर्वः स्नेहं च विन्दति ।

ऊपर क्या तुम्हारा स्नेह नहीं है? पशु पक्षी आदि अपनी सन्तानोंको प्रतिपालन करके कोई फल नहीं पाते; तौभी उनका कैसा अपत्यस्नेह है, उसे तुम लोग विचारो; कर्मसंन्यासी मुनियोंके यज्ञ कार्यकी भांति पशुपक्षी कीट आदि स्नेहबद्ध प्राणियोंका पुत्र आदिसे परलोक फलकी आशा नहीं है, उन लोगोंको इस लोक और परलोकमें पुत्रादिकोंसे कुछ उपकार प्राप्त नहीं होता, तौभी वे कैसे यत्नके सहित अपत्योंको धारण किया करते हैं। (१९-२४)

पशुपक्षी आदि प्राणियोंको सन्तान बडी होकर कभी पितामाताको प्रतिपालन नहीं करती, तौभी प्रिय पुत्रोंको न देखनेपर क्या उनके मनमें शोक उत्पन्न नहीं होता? मनुष्योंको अपत्यस्नेहके कारण पुत्र आदिके विरहसे शोक उत्पन्न हुआ करता है; इससे तुम लोग इस एक मात्र पुत्रको छोडके कहां जाओगे? तुम लोग बहुत समयतक आंसू बहाते हुए स्नेहयुक्त नेत्रसे इसे देखो; ऐसे प्रियपात्रको परित्याग करना किसी प्रकार भी योग्य नहीं है। दुर्बल, अभियुक्त और श्मशानमें स्थित पुरुषके निकट बान्धवोंके स्थित होनेपर दूसरे लोग वहां निवास करनेमें समर्थ नहीं होते। जीवन सबको ही प्यारा है सभी स्नेह-

तिर्यग्योनिष्वपि सतां स्नेहं पश्यत यादृशम् ॥ २९ ॥
त्यक्त्वा कथं गच्छथेमं पद्मलोलायताक्षिकम् ।
यथा नवोद्वाहकृतं स्नानमाल्यविभूषितम् ॥ ३० ॥
जम्बुकस्य वचः श्रुत्वा कृपणं परिदेवतः ।
न्यवर्तन्त तदा सर्वे शवार्थं ते स्म मानुषाः ॥ ३१ ॥

गृध्र उवाच— अहो बत नृशंसेन जम्बुकेनाल्पमेधसा ।
क्षुद्रेणोक्ता हीनसत्वा मानुषाः किं निवर्तथ ॥ ३२ ॥
पञ्चभूतपरित्यक्तं शून्यं काष्ठत्वमागतम् ।
कस्माच्छोचथ तिष्ठन्तमात्मानं किं न शोचथ ॥ ३३ ॥
तपः कुरुत वै तीव्रं मुच्यध्वं येन किल्विषात् ।
तपसा लभ्यते सर्वं विलापः किं करिष्यति ॥ ३४ ॥
अनिष्टानि च भाग्यानि जातानि सह मूर्तिना ।
येन गच्छति बालोऽयं दत्वा शोकमनन्तकम् ॥ ३५ ॥
धनं गावः सुवर्णं च मणिरत्नमथापि च ।
अपत्यं च तपोमूलं तपो योगाच्च लभ्यते ॥ ३६ ॥

लाभ किया करते हैं; साधु लोग तिर्यग् योनिवालोंमें जैसा स्नेह करते हैं; उसे देखिये नवीन विवाहके समय मालासे विभूषितकी तरह इस कमलनेत्रवाले बालकको छोडके तुम लोग किस कारण चले जाते हो? बान्धव लोग उस समय सियारका वचन सुनके दीनतापूर्वक विलाप करते हुए सब कोई मुर्देके सबब घर जानेसे निवृत्त हुए। (२५-३१)

गिद्ध बोला, हाय! क्या आश्चर्य है! हे पुरुषार्थहीन मनुष्यों! तुम लोग इस अल्पबुद्धि नृशंस क्षुद्र सियारका वचन सुनके क्यों निवृत्त होते हो? पञ्चभूतों-से परित्यक्त और काष्ठत्वको प्राप्त हुए शून्य और चेष्टाहीन मुर्देके शरीरके लिये क्यों शोक प्रकाश करते हो? तुम लोग अपने वास्ते क्यों नहीं शोक-प्रकाश करते? तीव्र तपस्याचरण करो, जिसके जरिये पापोंसे मुक्त होगे; तप-स्याके जरिये सब प्राप्त हो सकता है विलाप करनेसे क्या होगा? अनिष्ट और अदृष्ट मृत्युके सहित उत्पन्न होते हैं; उस ही अदृष्टका अनुगामी होकर यह बालक तुम लोगोंको अनन्त शोक समुद्रमें डालकर गमन करता है। गऊ, धन, सुवर्ण, मणिरत्न और पुत्र तपस्या के फल प्रभावसे प्राप्त होते हैं। और योगसे तपस्या प्राप्त होती है। (३२-३६)

यथाकृता च भूतेषु प्राप्यते सुखदुःखिता।
गृहीत्वा जायते जन्तुर्दुःखानि च सुखानि च ॥ ३७ ॥
न कर्मणा पितुः पुत्रः पिता वा पुत्रकर्मणा।
मार्गेणान्येन गच्छन्ति बद्धाः सुकृतदुष्कृतैः ॥ ३८ ॥
धर्मं चरत यत्नेन न चाधर्मे मनः कृथाः।
वर्तध्वं च यथाकालं दैवतेषु द्विजेषु च ॥ ३९ ॥
शोकं त्यजत दैन्यं च सुतस्नेहान्निवर्तत।
त्यज्यतामयमाकाशे ततः शीघ्रं निवर्तत ॥ ४० ॥
यत्करोति शुभं कर्म तथा कर्म सुदारुणम्।
तत्कर्तैव समश्नाति बान्धवानां किमत्र ह ॥ ४१ ॥
इह त्यक्त्वा न तिष्ठन्ति बान्धवा बान्धवं प्रियम्।
स्नेहमुत्सृज्य गच्छन्ति बाष्पपूर्णाविलेक्षणाः ॥ ४२ ॥
प्राज्ञो वा यदि वा मूर्खः सधनो निर्धनोऽपि वा।
सर्वः कालवशं याति शुभाशुभसमन्वितः ॥ ४३ ॥
किं करिष्यथ शोचित्वा मृतं किमनुशोचथ।
सर्वस्य हि प्रभुः कालो धर्मतः समदर्शनः ॥ ४४ ॥

जो प्राणी जैसा कर्म करता है वह वैसा ही सुख दुःख पाता है; जीव सुख और दुःखको ग्रहण करके जन्म लेता है। पुत्र पिताके कर्मसे अथवा पिता पुत्रके कर्मसे सुकृत वा दुष्कृतमें बद्ध होकर इस मार्गसे गमन नहीं करता। जिस प्रकार अधर्मसे निवृत्ति हो सके वैसे ही यत्नपूर्वक धर्माचरण करो, देवता और ब्राह्मणोंकी समयके अनुसार सेवा करो। शोक और दीनता परित्याग करके पुत्रस्नेहसे निवृत्त हो जाओ; इसे सूने स्थानमें छोडके शीघ्र गृहकी ओर गमन करो, जो पुरुष शुभ वा अशुभ कर्म करता है, वही उसका फलभोग किया करता है; उसमें बान्धवोंका क्या सम्बध है? बान्धवलोग प्रियपुत्र आदिको परित्याग करके इस स्थानमें निवास नहीं करते; वे लोग स्नेह त्यागके आंसू भरे नेत्रसे युक्त होकर घर चले जाते हैं। (३७-४२)

बुद्धिमान हो वा मूर्ख हो; धनवान हो वा निर्द्धन ही होवे; सबको ही शुभाशुभसे युक्त होकर कालके वशमें होना पडता है, शोक करके क्या करोगे? मरे हुएके वास्ते किस लिये शोक करते हो? धर्मानुसार समदर्शी कालही सबका

यौवनस्थांश्च बालांश्च वृद्धान् गर्भगतानपि।
सर्वानाविशते मृत्युरेवंभूतमिदं जगत् ॥ ४५ ॥

जम्बुक उवाच— अहो मन्दीकृतः स्नेहो गृध्रेणेहाल्पबुद्धिना।
पुत्रस्नेहाभिभूतानां युष्माकं शोचतां भृशम् ॥ ४६ ॥
शब्दैः सम्यक्प्रयुक्तैश्च वचनैः प्रत्ययोत्तरैः।
यद्गच्छति जनश्चायं स्नेहमुत्सृज्य दुस्त्यजम् ॥ ४७ ॥
अहो पुत्रवियोगेन मृतशून्योपसेवनात्।
क्रोशतां सुभृशं दुःखं विवत्सानां गवामिव ॥ ४८ ॥
अद्य शोकं विजानामि मानुषाणां महीतले।
स्नेहं हि कारणं कृत्वा ममाप्यश्रूण्यथापतन् ॥ ४९ ॥
यत्नो हि सततं कार्यस्ततो दैवेन सिद्ध्यति।
दैवं पुरुषकारश्च कृतान्तेनोपपद्यते ॥ ५० ॥
अनिर्वेदः सदा कार्यो निर्वेदाद्धि कुतः सुखम्।
प्रयत्नात्प्राप्यते ह्यर्थः कस्माद्गच्छथ निर्दयम् ॥ ५१ ॥
आत्ममांसोपवृत्तं च शरीरार्धमयीं तनुम्।
पितॄणां वंशकर्तारं वने त्यक्त्वा क्व यास्यथ ॥ ५२ ॥

नियन्ता है। बालक, युवा, वृद्ध और गर्भस्थ सभी मृत्युको वशीभूत होते हैं, जगत्‌की ऐसीही गति है। (४३–४५)

सियार बोला, कैसा आश्चर्य है, हे मनुष्यों! तुम लोग अपत्यस्नेहसे युक्त होकर अत्यन्त शोक प्रकाश करते हो, अल्पबुद्धी गिद्ध इस समय तुम लोगोंके स्नेहबन्धनको छेदन करता है, क्योंकि इसके सम्भावसे भली भांति प्रयुक्त प्रत्ययान्वित वचनके जरिये तुम लोग दुःस्तर स्नेह त्यागके निज स्थानपर जाते हो। हाय! बछडाहीन गऊकी तरह पुत्रवियोगके कारण श्मशानमें मुर्देकी सेवा करते हुए रोदन करते करते तुम लोगोंको अत्यन्त दुःख होता है। (४६—४८)

पृथ्वीमण्डलमें मनुष्योंको जैसा शोक हुआ करता है, उसे आज मैंने जाना है। तुम लोगोंका स्नेह और विलाप देखके मेरा भी आंसू गिरता है। सदा यत्न करनेसे दैवके जरिये वह सिद्ध होता है, दैव और पुरुषका प्रयत्न समयके अनुसार सिद्ध होता है। सदा दुःख न करना ही उचित है; क्योंकि शोकसे सुख नहीं मिलता, यत्न करनेसे प्रयोजनकी सिद्धि हुआ करती है; इसलिये

अथवाऽस्तं गते सूर्ये संध्याकाल उपस्थिते।
ततो नेष्यथ वा पुत्रमिहस्था वा भविष्यथ ॥ ५३ ॥

गृध्र उवाच— अद्य वर्षसहस्रं मे साग्रं जातस्य मानुषाः।
न च पश्यामि जीवन्तं मृतं स्त्रीपुंनपुंसकम् ॥ ५४ ॥
मृता गर्भेषु जायन्ते जातमात्रा म्रियन्ति च।
चङ्क्रमन्तो म्रियन्ते च यौवनस्थास्तथाऽपरे ॥ ५५ ॥
अनित्यानीह भाग्यानि चतुष्पात्पक्षिणामपि।
जङ्गमानां नगानां चाप्यायुरग्रेऽवतिष्ठते ॥ ५६ ॥
इष्टदारवियुक्ताश्च पुत्रशोकान्वितास्तथा।
दह्यमानाः स्म शोकेन गृहं गच्छन्ति नित्यशः॥ ५७ ॥
अनिष्टानां सहस्राणि तथेष्टानां शतानि च।
उत्सृज्येह प्रयाता वै बान्धवा भृशदुःखिताः ॥ ५८ ॥
त्यज्यतामेष निस्तेजाः शून्यः काष्ठत्वमागतः।
अन्यदेहविषक्तं हि शावं काष्ठत्वमागतम् ॥ ५९ ॥

तुम लोग दयारहित होके क्यों जाते हो? पितरोंके वंशकी रक्षा करो; आत्म-मांससे उत्पन्न हुई अर्द्ध शरीर स्वरूप सन्तानको उनमें परित्याग करके कहां जाते हो? सूर्यके अस्त होने तथा संध्याकाल उपस्थित होनेपर तुम लोग इस बालकको घर ले जाना, अथवा इसको लेकर इस ही स्थानमें निवास करना। (४९-५३)

गिद्ध बोला, हे मनुष्य लोगो! इस समय मुझे उत्पन्न हुए सहस्र वर्षसे भी अधिक हुआ होगा; परन्तु पुरुष, स्त्री और नपुंसकोंमें से कोई मरके फिर जीवित हुआ है, इसे मैंने नहीं देखा; कोई कोई गर्भमें ही मरके पृथ्वीपर गिरते हैं, कोई जन्मते ही मृत्युके ग्रासमें पतित हुआ करता है; कोई बाल्यकालमें पांवसे चलनेके समय और कोई युवा अवस्थामें पञ्चत्वको प्राप्त होता है। इस लोकमें पशु पक्षी आदि जङ्गम मात्रका ही अदृष्ट अनित्य है; स्थावर जङ्गम सभी परमायुके अधीन हैं। प्यारी स्त्रीके विरह और पुत्र शोकसे जलते हुए पुरुष प्रतिदिन इस स्थानसे घरको चले जाते हैं। (५४-५७)

मनुष्य लोग इस लोकमें सहस्रों अप्रिय और सैकडों प्रिय वस्तुओंको परित्याग करके अत्यन्त दुःखित होकर परलोकमें गमन करते हैं; इसलिये तुम लोग इस शोचनीय अवस्थायुक्त जीवन-

त्यक्तजीवस्य चैवास्य कस्माद्धित्वा न गच्छत।
निरर्थको ह्ययं स्नेहो निष्फलश्च परिश्रमः ॥ ६० ॥
चक्षुर्भ्यां न च कर्णाभ्यां संशृणोति समीक्षते।
कस्मादेनं समुत्सृज्य न गृहान्गच्छताशु वै ॥ ६१ ॥
मोक्षधर्माश्रितैर्वाक्यैर्हेतुमद्भिः सुनिष्ठुरैः।
मयोक्ता गच्छत क्षिप्रं स्वं स्वमेव निवेशनम् ॥ ६२ ॥
प्रज्ञाविज्ञानयुक्तेन बुद्धिसंज्ञाप्रदायिना।
वचनं श्राविता नूनं मानुषाः संन्यवर्तत ॥ ६३ ॥
शोको द्विगुणतां याति दृष्ट्वा स्मृत्वा च चेष्टितम्।
इत्येतद्वचनं श्रुत्वा संनिवृत्तास्तु मानुषाः।
अपश्यत्तं तदा सुप्तं द्रुतमागत्य जम्बुकः ॥ ६४ ॥
जम्बुक उवाच— इमं कनकवर्णाभं भूषणैः समलंकृतम्।
गृध्रवाक्यात्कथं पुत्रं त्यक्षध्वं पितृपिण्डदम् ॥ ६५ ॥
न स्नेहस्य च विच्छेदो विलापरुदितस्य च।

हीन और तेज रहित बालकको परित्याग करो; जीवन दूसरे शरीरमें संसक्त होने से इस निर्जीव बालकके काष्ठत्व प्राप्त मृत शरीरको परित्याग करके किस लिये तुम लोग गमन करनेमें विरत हो रहे हो? इस समय इसके ऊपर स्नेह और इसे घेरकर स्थिति करनेसे कोई फल नहीं है। इस समय इस बालकके देखने और सुननेकी इन्द्रियसे कोई कार्य नहीं होता है; इससे तुम लोग इसे त्यागके शीघ्रही निज गृहकी ओर गमन करो। (५८—६१)

मेरा वचन इस समय निष्ठुरवत् मालूम होनेपर भी अन्तमें यह युक्तियुक्त और मोक्षधर्मसे पूरित बोध होगा; इसलिये कहता हूं, तुम लोग विलम्ब न करके निज निज स्थानपर चले जाओ, बुद्धि और विज्ञानवान् चैतन्य-प्रद गिद्धका वचन सुनकर मनुष्य लोग निवृत्त हुए। मृत पुरुषको बान्धवोंसे घिरा हुआ देखने और स्मरण करनेसे शोक दूना हो जाता है; बान्धव लोग यह वचन सुनतेही एकबारही निवृत्त हुए। बान्धवोंके निवृत्त होनेपर सियारने जलदीसे दौडकर वहां आके सोये हुए बालकको देखकर कहा। (६२–६४)

सियार बोला, हे मनुष्यों! आप लोग गिद्धका वचन सुनके इस सुवर्णके आभूषणोंसे भूषित पितरोंको पिण्ड देनेवाले पुत्रको क्यों परित्याग करते हैं?

मृतस्यास्य परित्यागात्तापो वै भविता ध्रुवम् ॥ ६६ ॥
श्रूयते शम्बुके शूद्रे हते ब्राह्मणदारकः ।
जीवितो धर्ममासाद्य रामात्सत्यपराक्रमात् ॥ ६७ ॥
तथा श्वेतस्य राजर्षेर्बालो दिष्टान्तमागतः ।
श्वेतेन धर्मनिष्ठेन मृतः संजीवितः पुनः ॥ ६८ ॥
तथा कश्चिद्भवेत्सिद्धो मुनिर्वा देवतापि वा ।
कृपणानामनुक्रोशं कुर्याद्वो रुदतामिह ॥ ६९ ॥
इत्युक्तास्ते न्यवर्तन्त शोकार्ताः पुत्रवत्सलाः ।
अङ्के शिरः समाधाय रुरुदुर्बहुविस्तरम् ।
तेषां रुदितशब्देन गृध्रोऽभ्येत्य वचोऽब्रवीत् ॥ ७० ॥

गृध्र उवाच— अश्रुपातपरिक्लिन्नः पाणिस्पर्शप्रपीडितः ।
धर्मराजप्रयोगाच्च दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥ ७१ ॥
तपसाऽपि हि संयुक्ता धनवन्तो महाधियः ।
सर्वे मृत्युवशं यान्ति तदिदं प्रेतपत्तनम् ॥ ७२ ॥
बालवृद्धसहस्राणि सदा संत्यज्य बान्धवाः ।

इस मेरे पुत्रके त्यागनेसे स्नेह, विलाप और रोदनका अन्त न होगा, बल्कि अवश्य ही पछतावा करना पडेगा। मैंने सुना है, सत्य पराक्रमी रामचन्द्रने शम्बुक नाम शूद्र तपस्वी को मारा, उसके धर्मबलसे कोई ब्राह्मणका बालक फिर जिवित हुआ था; और महर्षि श्वेतका बालक पुत्र पञ्चत्वको प्राप्त हुआ था, धर्मनिष्ठ श्वेतने उस प्रेत पुत्र-को फिर जीवित किया था। उसी तरह कोई सिद्ध मुनि वा देवता तुम लोगोंका करुणायुक्त रोदन सुनके दया कर सकता है। सियारका ऐसा वचन सुन शोकसे आर्त बान्धव लोग घर जानेसे निवृत्त हुए और मृत बालकका सिर गोदमें रखके अत्यन्त विलापके सहित रोदन करने लगे। गिद्धने उन लोगों के रोदनकी ध्वनि सुन कर वहां आके वक्ष्यमाण वचन कहना आरम्भ किया। (६५—७०)

गिद्ध बोला, यह बालक धर्मराजके नियोग निबन्धनसे दीर्घ निद्राको प्राप्त हुआ है, इस लिये इसके शरीर पर हाथ फेरने और आंसू बहानेसे क्या होगा? कितने ही तपस्या करनेवाले धनवान और बुद्धिमान मनुष्य इस प्रेतस्थानपर मृत्युके ग्रासमें पतित हुआ करते हैं। बान्धव लोग इस स्थानपर सहस्रों बा-

दिनानि चैव रात्रीश्च दुःखं तिष्ठन्ति भूतले ॥ ७३ ॥
अलं निर्बन्धमागत्य शोकस्य परिधारणे।
अप्रत्ययं कुतो ह्यस्य पुनरद्येह जीवितम् ॥ ७४ ॥
मृतस्योत्सृष्टदेहस्य पुनर्देहो न विद्यते।
नैव मूर्तिप्रदानेन जम्बुकस्य शतैरपि ॥ ७५ ॥
शक्यं जीवयितुं ह्येष बालो वर्षशतैरपि।
अथ रुद्रः कुमारो वा ब्रह्मा वा विष्णुरेव च ॥ ७६ ॥
वरमस्मै प्रयच्छेयुस्ततो जीवेदयं शिशुः।
नैव बाष्पविमोक्षेण न वा श्वासकृतेन च ॥ ७७ ॥
न दीर्घरुदितेनायं पुनर्जीवं गमिष्यति।
अहं च क्रोष्टुकश्चैव यूयं ये चास्य बान्धवाः ॥ ७८ ॥
धर्माधर्मौ गृहीत्वेह सर्वे वर्तामहेऽध्वनि।
अप्रियं परुषं चापि परद्रोहं परस्त्रियम् ॥ ७९ ॥
अधर्ममनृतं चैव दूरात्प्राज्ञो विवर्जयेत्।
धर्मं सत्यं श्रुतं न्याय्यं महतीं प्राणिनां दयाम् ॥८०॥

लक और वृद्धोंको परित्याग करते हुए रात दिन दुःखित भावसे निवास करते हैं; इसलिये शोक भार धारण करनेसे कुछ फल नहीं है, इस समय इसका फिर जीवित होना किसी प्रकारभी विश्वासके योग्य नहीं है। यह बालक सियारके वचनसे फिर जीवित नहीं होगा; जो पुरुष कालके वशमें होकर शरीर छोडता है; फिर वह जीवित नहीं होता। सियार यदि अपने समान सैकडों शरीर प्रदान करे, तौभी एकसौ वर्षमें भी इस बालकको जीवित न कर सकेगा; तब यदि रुद्रदेव, स्वामिकार्तिक, ब्रह्मा अथवा विष्णु इसे वरदान करें; तभी यह बालक जीवित हो सकेगा, नहीं तो तुम लोगोंके आंसू बहाने, बाश्वासपूर्वक बहुत समय तक रोदन करनेसे यह बालक फिर जीवित न होगा। (७१-७८)

यह सियार और तुम लोग कई एक बान्धव तथा हम सब कोई धर्माधर्म ग्रहण करके इस मार्गमें ही निवास करेंगे; इसलिये बुद्धिमान पुरुष अप्रिय, परुषता, परद्रोह, परनारीसे प्रणयकी अभिलाष, अधर्म और मिथ्या व्यवहारको एकबारही परित्याग करे। तुम लोग सत्य, धर्म, शुभ, न्याय, प्राणियोंके ऊपर महती दया, शठता हीनता और सरल-

अजिह्मत्वमशाठ्यं च यत्नतः परिमार्गत ।
मातरं पितरं वाऽपि बान्धवान् सुहृदस्तथा ॥ ८१ ॥
जीवतो ये न पश्यन्ति तेषां धर्मविपर्ययः ।
यो न पश्यति चक्षुर्भ्यां नेङ्गते च कथंचन ॥ ८२ ॥
तस्य निष्ठावसानान्ते रुदन्तः किं करिष्यथ ।
इत्युक्तास्ते सुतं त्यक्त्वा भूमौ शोकपरिप्लुताः ।
दह्यमानाः सुतस्नेहात्प्रययुर्बान्धवा गृहम् ॥ ८३ ॥
जम्बुक उवाच— दारुणो मर्त्यलोकोऽयं सर्वप्राणिविनाशनः ।
इष्टबन्धुवियोगश्च तथेहाल्पं च जीवितम् ॥ ८४ ॥
बहुलीकमसत्यं चाप्यतिवादाप्रियंवदम् ।
इमं प्रेक्ष्य पुनर्भावं दुःखशोकाविवर्धनम् ॥ ८५ ॥
न मे मानुषलोकोऽयं मुहूर्तमपि रोचते ।
अहो धिग्गृध्रवाक्येन यथैवाबुद्धयस्तथा ॥ ८६ ॥
कथं गच्छथ निःस्नेहाः सुतस्नेहं विसृज्य च ।
प्रदीप्ताः पुत्रशोकेन संनिवर्तत मानुषाः ॥ ८७ ॥
श्रुत्वा गृध्रस्य वचनं पापस्येहाकृतात्मनः ।

ताकी यत्नपूर्वक प्रार्थना करें। जो लोग माता, पिता, बान्धव और सुहृदोंको जीवित नहीं देखते, उन लोगोंमें धर्म-विपर्यय हुआ करता है। जो नेत्रसे देखने और अङ्ग आदि चलाने में समर्थ नहीं है, उसके शरीरान्त होनेपर तुम लोग अब रोदन करके क्या करोगे? अपत्य-स्नेह-निबन्धनसे जलते हुए वे सब शोकयुक्त बान्धव लोग गिद्धका ऐसा वचन सुनकर पुत्रको भूमिपर परित्याग करके घर जानेमें प्रवृत्त हुए। (७८-८३)

सियार बोला, प्राणियोंके विनाश-साधनका स्थान यह मर्त्यलोक अत्यन्त दारुण स्थल है, इस स्थलमें प्रियबन्धुका वियोग, जीवनकालकी अत्यन्त अल्पता, अनेक प्रकारका कुटिल व असत्य व्यवहार, अतिवाद और अप्रिय वचन आदि दुःख-शोकको बढानेवाले समस्त भाव अवलोकन करके मुहूर्तभरके लिये भी इस मर्त्यलोकमें निवास करनेकी मेरी रुचि नहीं होती; धिक् धिक्! कैसा आश्चर्य है। हे मनुष्यो! तुम लोग पुत्रशोकसे जलकर बुद्धिहीन लोगोंकी तरह गिद्धके वचनसे निवृत्त हुए, पापी चञ्चल बुद्धिवाले गिद्धका

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ॥ ८८ ॥
सुखदुःखावृते लोके नेहास्त्येकमनन्तरम् ।
इमं क्षितितले त्यक्त्वा बालं रूपसमन्वितम् ॥ ८९ ॥
कुलशोभाकरं मूढाः पुत्रं त्यक्त्वा क्व यास्यथ ।
रूपयौवनसंपन्नं द्योतमानमिव श्रिया ॥ ९० ॥
जीवन्तमेव पश्यामि मनसा नात्र संशयः ।
विनाशो नास्य न हि वै सुखं प्राप्स्यथ मानुषाः ॥ ९१ ॥
पुत्रशोकाभितप्तानां मृतानामद्य वः क्षमम् ।
सुखसंभावनं कृत्वा धारयित्वा सुखं स्वयम् ।
त्यक्त्वा गमिष्यथ क्वाद्य समुत्सृज्याल्पबुद्धिवत् ॥ ९२ ॥

भीष्म उवाच— तथा धर्मविरोधेन प्रियमिथ्याभिधायिना ।
श्मशानवासिना नित्यं रात्रिं मृगयता नृप ॥ ९३ ॥
ततो मध्यस्थतां नीता वचनैरमृतोपमैः ।
जम्बुकेन स्वकार्यार्थं बान्धवास्तस्य धिष्ठिताः ॥ ९४ ॥

गृध्र उवाच— अयं प्रेतसमाकीर्णो यक्षराक्षससेवितः ।

वचन सुनते स्नेहहीन होकर अपत्यस्नेह त्यागके इस समय किस प्रकार घर जानेमें प्रवृत्त हुए हो ? । (८४-८८)

इस सुख दुःखसे पूरित लोकके बीच सुखके अनन्तर दुःख और दुःखके बाद सुख होता है; इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है। हे मूढ लोगो! वंशके शोभाकी खान इस रूपवान् शिशु सन्तानको पृथ्वीपर त्यागके तुम लोग कहां जाओगे? इस उत्तम सुन्दरतायुक्त बालकको मैं मनही मन जीवितकी तरह देखता हूं, इसमें सन्देह नहीं है। हे मनुष्यों! इसका मरनाही अनुचित है, तुम लोग अनायासही इसे पाओगे। यदि छोडते जाओगे, तो पुत्रशोकसे सन्तापित होकर आजही तुम लोगोंका नाश होगा। रात्रिमें इस स्थानपर निवास करनेसे दुःखकी सम्भावना जानके स्वयं सुखमें रहनेकी इच्छासे अल्पबुद्धि लोगोंकी भांति इसे त्यागके कहां जाओगे ? (८९—९२)

भीष्म बोले, धर्मराज ! श्मशानवासी सियारने स्वार्थ-सिद्धिके लिये उस समय अमृतके समान धर्मयुक्त मिथ्या प्रिय वचनके जरिये उन सब बान्धवोंकी गति निवृत्त करके उन्हें मध्यवर्ती किया; तब वे लोग वहांपर स्थित रहे। गिद्ध बोला, यह यक्ष राक्षस-सेवित

दारुणः काननोद्देशः कौशिकैरभिनादितः ॥ ९५ ॥
भीमः सुघोरश्च तथा नीलमेघसमप्रभः ।
अस्मिञ्छवं परित्यज्य प्रेतकार्याण्युपासत ॥ ९६ ॥
भानुर्यावत्प्रयात्यस्तं यावच्च विमला दिशः ।
तावदेनं परित्यज्य प्रेतकार्याण्युपासत ॥ ९७ ॥
नदन्ति परुषं श्येनाः शिवाः क्रोशन्ति दारुणम् ।
मृगेन्द्राः प्रतिनन्दन्ति रविरस्तं च गच्छति ॥ ९८ ॥
चिताधूमेन नीलेन संरज्यन्ते च पादपाः ।
श्मशाने च निराहाराः प्रतिनर्दन्ति देवताः ॥ ९९ ॥
सर्वे विकृतदेहाश्चाप्यस्मिन्देशे सुदारुणे ।
युष्मान्प्रधर्षयिष्यन्ति विकृता मांसभोजिनः॥ १०० ॥
क्रूरश्चायं वनोद्देशो भयमद्य भविष्यति ।
त्यज्यतां काष्ठभूतोऽयं मृष्यतां जाम्बुकं वचः॥ १०१॥
यदि जम्बुकवाक्यानि निष्फलान्यनृतानि च ।
श्रोष्यथ भ्रष्टविज्ञानास्ततः सर्वे विनङ्क्ष्यथ ॥ १०२ ॥

जम्बुक उवाच—स्थीयतां नेह भेतव्यं यावत्तपति भास्करः ।

प्रेतोंसे परिपूरित, पेचकनादसे अनुनादित, काले बादलके समान घोर दारुण वन अति भयङ्कर है; सूर्य अस्त होनेके पहिले जबतक दिशा निर्मल रहती हैं। उतने ही समयके बीच तुम लोग इस वनस्थलमें मुर्देका शरीर परित्याग करके समस्त प्रेतकर्म समाप्त करो। (९६-९७)

बाज पक्षी कर्कश बोली बोल रहे हैं। सियारोंने दारुणरूपसे चिल्लाना आरम्भ किया है, शेर गर्ज रहे हैं। और सूर्य अस्ताचलचूडावलम्बी हो रहे हैं। श्मशानमें स्थित वृक्षसमूह काले रङ्गवाली चिताके धूएंसे रञ्जित होते हैं, श्मशानवासी देवता लोग निराहार रहनेसे गर्ज रहे हैं। इस दारुण श्मशानस्थलके बीच विकृतरूपवाले क्रव्यादगण तुम लोगोंको वशीभूत करेंगे; वनके बीच आज तुम लोगोंको अवश्यही भय होगा; इसलिये इस काष्ठके समान मृत शरीरको परित्याग करो; सियारका वचन मत मानो। तुम लोग यदि ज्ञानभ्रष्ट होकर जम्बुकके निष्फल मिथ्या वचनको सुनोगे, तो सब कोई नष्ट होगे। (९८—१०२)

सियार बोला, हे मनुष्यों! जब तक सूर्य अस्ताचलपर गमन नहीं करते हैं, उतने समयतक तुम लोग अपत्यस्नेह-

तावदस्मिन्सुते स्नेहादनिर्वेदेन वर्तत ॥ १०३ ॥
स्वैरं रुदन्तो विश्रब्धाश्चिरं स्नेहेन पश्यत ।
स्थीयतां यावदादित्यः किं च क्रव्यादभाषितैः॥१०४॥
यदि गृध्रस्य वाक्यानि तीव्राणि रभसानि च ।
गृह्णीत मोहितात्मानः सुतो वो न भविष्यति ॥१०५॥
भीष्म उवाच— गृध्रोऽस्तमित्याह गतो गतो नेति च जम्बुकः ।
मृतस्य तं परिजनमूचतुस्तौ क्षुधान्वितौ ॥ १०६ ॥
स्वकार्यबद्धकक्षौ तौ राजन् गृध्रोऽथ जम्बुकः ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ शास्त्रमालम्ब्य जल्पतः॥१०७॥
तयोर्विज्ञानविदुषोर्द्वयोर्मृगपतत्रिणोः ।
वाक्यैरमृतकल्पैस्तैः प्रातिष्ठन्ति व्रजन्ति च ॥ १०८ ॥
शोकदैन्यसमाविष्टा रुदन्तस्तस्थिरे तदा ।
स्वकार्यकुशलाभ्यां ते संभ्राम्यन्ते ह नैपुणात् ॥१०९॥
तथा तयोर्विवदतोर्विज्ञानविदुषोर्द्वयोः ।

निबन्धनसे दुःख न करके इस स्थानमें निवास करो; भय करना उचित नहीं है। तुम लोग विश्वासी होकर रोदन करते हुए बहुत समय तक सन्तानकी ओर स्नेहयुक्त नेत्रसे देखो; इस दारुण वनके बीच तुम लोगोंको किसी भयकी सम्भावना नहीं है। पितरोंके मरनेकी जगह यह वनस्थल अत्यन्त मनोहर है; इसलिये जब तक सूर्य स्थित है, तब तक तुम लोग निवास करो; मांसभक्षी गिद्धके वचन सुननेसे कोई फल नहीं है। तुम लोग यदि मोहित होकर गिद्धके निष्ठुर वचनको मानोगे, तो तुम लोगोंका पुत्र फिर जीवित न होगा। (१०३—१०५)

भीष्म बोले, हे राजन्! गिद्ध बोला, सूर्य अस्त हुआ, सियारने कहा; नहीं हुआ; इसी तरह वे निजकार्यसाधनमें यत्नवान और भूख प्याससे कातर होकर शास्त्रको अवलम्बन करके मृत बालकके बान्धवोंको विडम्बित करने लगे। वे लोग उन विज्ञानवित् गिद्ध और सियारके अमृतसमान वचनसे कभी स्थित और कभी घरकी ओर गमन करनेमें उद्यत हुए। अन्तमें वे लोग शोकयुक्त होकर रोदन करते हुए उन कार्यदक्ष गिद्ध और सियारकी वचन निपुणतासे प्रतारित होकर भी उस समय वहां निवास करनेमें प्रवृत्त हुए। इसी प्रकार विवाद करनेवाले उन विज्ञानवित्

बान्धवानां स्थितानां चाप्युपातिष्ठत शङ्करः॥ ११० ॥
देव्या प्रणोदितो देवः कारुण्यार्द्रीकृतेक्षणः।
ततस्तानाह मनुजान् वरदोऽस्मीति शङ्करः ॥ १११ ॥
ते प्रत्यूचुरिदं वाक्यं दुःखिताः प्रणताः स्थिताः।
एकपुत्रविहीनानां सर्वेषां जीविताथिनाम् ॥ ११२ ॥
पुत्रस्य नो जीवदानाज्जीवितं दातुमर्हसि।
एवमुक्तः स भगवान् वारिपूर्णेन चक्षुषा ॥ ११३ ॥
जीवितं स्म कुमाराय प्रादाद्वर्षशतानि वै।
तथा गोमायुगृध्राभ्यां प्राददत्क्षुद्विनाशनम् ॥११४॥
वरं पिनाकी भगवान् सर्वभूतहिते रतः।
ततः प्रणम्य ते देवं प्रायो हर्षसमन्विताः ॥ ११५ ॥
कृतकृत्याः सुखं हृष्टाः प्रातिष्ठन्त तदा विभो।
अनिर्वेदेन दीर्घेण निश्चयेन ध्रुवेण च ॥ ११६ ॥
देवदेवप्रसादाच्च क्षिप्रं फलमवाप्यते।
पश्य दैवस्य संयोगं बान्धवानां च निश्चयम्॥ ११७ ॥
कृपणानां तु रुदतां कृतमश्रुप्रमार्जनम्।
पश्य चाल्पेन कालेन निश्चयान्वेषणेन च ॥ ११८॥

गिद्ध और सियार तथा वहांपर स्थिर बान्धवोंके समीप भगवान् भवानीपति भगवतीके भजनेसे करुणा भरे नेत्रसे उपस्थित हुए! और बोले, हे मनुष्यों! मैं वरदाता शङ्कर हूं। (१०९-१११)

दुःखित बान्धवोंने प्रणाम करके खडे होकर कहा; हे भगवन्! हम सब कोई एक मात्र पुत्रके जीवनके लिये अत्यन्त प्रार्थना करते हैं; इसलिये आप कृपा करके हमारे पुत्रको जीवन दान करके जीवित करिये। सब प्राणियोंके हितैषी भगवान पिनाकीने मनुष्योंका ऐसा वचन सुनके जलसे युक्त हाथके जरिये बालकको एक सौ वर्षकी आयु और गिद्ध सियारको क्षुधाशान्तिका वर दान किया। अनन्तर उन लोगोंने कल्याणपूरित, हर्षयुक्त, कृतकृत्य और अत्यन्त आनन्दित होकर देवोंके देवको प्रणाम करके प्रस्थान किया, अनिर्वेद और दृढ-निश्चयके जरिये महादेवकी कृपासे शीघ्रही फल प्राप्त होता है। दैवयोग और बान्धवोंका दृढनिश्चय देखो! (११२--११७)

वे लोग दुःखित होकर रोदन कर

प्रसादं शङ्करात्प्राप्य दुःखिताः सुखमाप्नुवन् ।
ते विस्मिताः प्रहृष्टाश्च पुत्रसंजीवनात्पुनः ॥ ११९ ॥
बभूवुर्भरतश्रेष्ठ प्रसादाच्छङ्करस्य वै ।
ततस्ते त्वरिता राजंस्त्यक्त्वा शोकं शिशूद्भवम् ॥१२०॥
विविशुः पुत्रमादाय नगरं हृष्टमानसाः ।
एषा बुद्धिः समस्तानां चातुर्वर्ण्येन दर्शिता ॥ १२१ ॥
धर्मार्थमोक्षसंयुक्तमितिहासमिमं शृणु ।
श्रुत्वा मनुष्यः सततमिहामुत्र प्रमोदते ॥ १२२ ॥ [५७४०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि गृध्रगोमायुसंवादे कुमारसंजीवने त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३ ॥

युधिष्ठिर उवाच- बलिनः प्रत्यमित्रस्य नित्यमासन्नवर्तिनः ।
उपकारापकाराभ्यां समर्थस्योद्यतस्य च ॥ १ ॥
मोहाद्विकत्थनामात्रैरसारोऽल्पबलो लघुः ।
वाग्भिरप्रतिरूपाभिरभिद्रुह्य पितामह ॥ २ ॥
आत्मनो बलमास्थाय कथं वर्तेत मानवः ।
आगच्छतोऽतिक्रुद्धस्य तस्योद्धरणकाम्यया ॥ ३ ॥

रहे थे, भगवान्‌ने उनकी आंसू पोंछी ! देखिये, थोडेही समयके बीच निश्चय खोजके सहारे महादेवकी कृपासे दुःखित मनुष्य सुखी हुए । हे भारत ! वे लोग महादेवकी कृपासे पुत्रके फिर जीवित होनेपर विस्मययुक्त और अत्यन्त हर्षित हुए थे । हे राजन् ! अनन्तर उन लोगोंने शिशुके कारण प्राप्त हुए शोकको त्यागके शीघ्रही पुत्रके सहित हर्षपूर्वक नगरमें प्रवेश किया । ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके बीच सबके ही विषयमें इस प्रकारका ज्ञान निदर्शन रूपसे दिखाया गया है । मनुष्य इस धर्मार्थ-मोक्ष-संयुक्त पवित्र इतिहासको सुननेसे इस लोक और परलोकमें सदा आनन्दित हुआ करते हैं । (११८-१२२)

शान्तिपर्वमें १५३ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें १५४ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! असार अल्पबल, और क्षुद्रजीवी मनुष्य मोहके वशमें होकर अपनी बडाईसे युक्त असदृश वचनके जरिये सदा निकटवर्ती उपकार और अपकारके सहारे शत्रुनिग्रहमें समर्थ, सदा उद्योगी बलवान पुरुषसे वैर करें, तो यदि वह क्रुद्ध होकर वैर समाप्त करनेकी अभिलाषासे आग-

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
संवादं भरतश्रेष्ठ शाल्मलेः पवनस्य च ॥ ४ ॥
हिमवन्तं समासाद्य महानासीद्वनस्पतिः।
वर्षपूगाभिसंवृद्धः शाखी स्कन्धी पलाशवान् ॥ ५ ॥
तत्र स्म मत्तमातङ्गा घर्मार्त्ताः श्रमकर्शिताः।
विश्रम्यन्ति महाबाहो तथाऽन्या मृगजातयः ॥ ६ ॥
नल्वमात्रपरीणाहो घनच्छायो वनस्पतिः।
सारिकाशुकसंजुष्टः पुष्पवान्फलवानपि ॥ ७ ॥
सार्थिका वणिजश्चापि तापसाश्च वनौकसः।
वसन्ति तत्र मार्गस्थाः सुरम्ये नगसत्तमे ॥ ८ ॥
तस्य ता विपुलाः शाखा दृष्ट्वा स्कन्धं च सर्वशः।
अभिगम्याब्रवीदेनं नारदो भरतर्षभ ॥ ९ ॥
अहो नु रमणीयस्त्वमहो चासि मनोहरः।
प्रियामहे त्वया नित्यं तरुप्रवर शाल्मले ॥ १० ॥
सदैव शकुनास्तात मृगाश्चाथ तथा गजाः।
वसन्ति तव संहृष्टा मनोहर मनोहराः ॥ ११ ॥
तव शाखा महाशाख स्कन्धांश्च विपुलांस्तथा।

मन करे, तो थोडे बलवाला पुरुष किस प्रकार आत्मबल अवलम्बन करके निवास करेगा? भीष्म बोले, हे भरतश्रेष्ठ पुराने लोग इस विषयमें शाल्मलि पवनके संवादयुक्त प्राचीन इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं। हिमालय पर्वत पर अनेक वर्षोंसे वृद्धिको प्राप्त हुआ; शाखा और स्कन्ध पलाशयुक्त एक बहुत बडा शाल्मलिका वृक्ष था। (१-५)

वहां मतवाले हाथियोंके यूथ और दूसरे अनेक भांतिके सब पशु ग्रीष्मकालमें गर्मीसे आर्त होने तथा थकने पर विश्राम करते थे। उस वृक्षके चार सौ हाथके परिणाम बडे, घनी छायासे परिपूरित और फल फूलसे सुशोभित रहनेसे शुकसारिकासमूह सदा उसमें निवास करते थे। हे भारत! किसी समय महर्षि नारद उस शाल्मलि वृक्ष के स्कन्ध और बहुतसी शाखा देखकर उसके निकट आके बोले, हे तरुवर! तुम क्या ही मनोहर हो, तुम्हें देखके मैं अत्यन्त प्रसन्न हो रहा हूं। मनोहर मृग, पक्षी और हाथियोंके यूथ हर्षित होकर सदा तुम्हारे आसरेमें निवास

न वै प्रभग्नान्पश्यामि मारुतेन कथंचन ॥ १२ ॥
किं नु ते पवनस्तात प्रीतिमानथ वा सुहृत्।
त्वां रक्षति सदा येन वनेऽत्र पवनो ध्रुवम् ॥ १३ ॥
भगवान्पवनः स्थानाद्वृक्षानुच्चावचानपि।
पर्वतानां च शिखराण्याचालयति वेगवान् ॥ १४ ॥
शोषयत्येव पातालं वहन् गन्धवहः शुचिः।
सरांसि सरितश्चैव सागरांश्च तथैव च ॥ १५ ॥
संरक्षति त्वां पवनः सखित्वेन न संशयः।
तस्मात्त्वं बहुशाखोऽपि पर्णवान्पुष्पवानपि ॥ १६ ॥
इदं च रमणीयं ते प्रतिभाति वनस्पते।
यदिमे विहगास्तात रमन्ते मुदितास्त्वयि ॥ १७ ॥
एषां पृथक् समस्तानां श्रूयते मधुरस्वरः।
पुष्पसंमोदने काले वाशतां सुमनोहरम् ॥ १८ ॥
तथेमे गर्जिता नागाः स्वयूथकुलशोभिताः।
घर्मार्त्तास्त्वां समासाद्य सुखं विन्दन्ति शाल्मले॥१९॥
तथैव मृगजातीभिरन्याभिरभिशोभसे।

करते हैं। (९—११)

हे महाशाख ! तुम्हारे बडे स्कन्ध और सब शाखोंको कभी वायुके जरिये टूटी हुई नहीं देखता हूं। इस वनके बीच जब पवन सदा तुम्हारी रक्षा करता है, तब बोध होता है,वह तुम्हारा मित्र है; अथवा तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हो रहा है। वेगशाली पवित्र गन्धयुक्त भगवान् पवन बहते हुए विविध वृक्ष-समूह और पर्वतोंकी शिखर समूहको स्वस्थानसे विचलित करते, और नदी समस्त तालावों, दूसरेकी तो कुछ बात ही नहीं है, रसातलको भी सुखाया करते हैं; इसलिये मित्रताके कारण पवन तुम्हारी रक्षा करता है, इसमें सन्देह नहीं है, इसीसे तुम अनेक शाखायुक्त होके फूल पत्रोंसे शोभित हो रहे हो। (१२—१६)

हे तरुवर ! ये सब पक्षीसमूह तुम्हें अवलम्बन करके प्रसन्न मनसे विहार कर रहे हैं, इसीसे यह वन रमणीय रूपसे शोभित होता है। वसन्तकालमें मनोहर शब्द करनेवाले इन पक्षियोंकी मीठी वोली कानोंमें अमृतकी वर्षा करती है। गर्मीसे विकल हाथियोंके समूह निज यूथके सहित गर्जते

तथा सर्वाधिवासैश्च शोभसे मेरुवद् द्रुम ॥ २० ॥
ब्राह्मणैश्च तपःसिद्धैस्तापसैः श्रमणैस्तथा।
त्रिविष्टपसमं मन्ये तवायतनमेव हि ॥ २१ ॥ [५७६१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि पवनशाल्मलिसंवादे चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥

नारद उवाच— बन्धुत्वादथ वा सख्याच्छाल्मले नात्र संशयः।
पालयत्येव सततं भीमः सर्वत्रगोऽनिलः ॥ १ ॥
न्यग्भावं परमं वायोः शाल्मले त्वमुपागतः।
तवाहमस्मीति सदा येन रक्षति मारुतः ॥ २ ॥
न तं पश्याम्यहं वृक्षं पर्वतं वेश्म चेदृशम्।
यन्न वायुबलाद्भग्नं पृथिव्यामिति मे मतिः ॥ ३ ॥
त्वं पुनः कारणैर्नूनं रक्ष्यसे शाल्मले यथा।
वायुना सपरीवारस्तेन तिष्ठस्यसंशयम् ॥ ४ ॥
शाल्मलिरुवाच— न मे वायुः सखा ब्रह्मन् बन्धुर्न च मे सुहृत्।
परमेष्ठी तथा नैव येन रक्षति वाऽनिलः ॥ ५ ॥

हुए तुम्हारे आसरे सुखभोग करते हैं। इसी प्रकार तुम दूसरे सब मृगजाति और समस्त जीवोंके आश्रयके कारण होके पर्वतकी भांति शोभित होते हो। तपस्यासे सिद्ध ब्राह्मण, तपस्वी और संन्यासियोंके समूहसे परिपूरित होनेसे तुम्हारा स्थान स्वर्गके समान निश्चित-सा मालूम होता है। (१७-२१)

शान्तिपर्वमें १५४ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १५५ अध्याय।

नारद बोले, हे वृक्ष! सर्वत्र गमन करनेवाला भयङ्कर वायु बन्धुता वा मित्रताके कारण सदा तुम्हारी रक्षा करता है, इसमें सन्देह नहीं है; तुम उसके समीप मैं तुम्हारा ही हूं—ऐसा वचन अङ्गीकार करके परम आत्मीय हुए हो, इसही निमित्त वह सदा तुम्हारी रक्षा करता है। मैं भूलोकमें ऐसे किसी वृक्ष पहाड और स्थानको नहीं देखता हूं, जो वायुके बलसे न टूटता हो; इसलिये मुझे मालूम होता है, तुम किसी कारणसे शाखा पल्लवके सहित वायुसे रक्षित होनेसे संशय रहित होके निवास करते हो। (१—४)

शाल्मलिने कहा, हे ब्रह्मन्! वायु मेरा सखा, मित्र, बन्धु वा विधाता नहीं है, जो उस कारणसे वह मेरी रक्षा करता है। मेरा तेज बल वायुसे भी प्रबल

मम तेजो बलं भीमं वायोरपि हि नारद।
कलामष्टादशीं प्राणैर्न मे प्राप्नोति मारुतः ॥ ६ ॥
आगच्छन्परुषो वायुर्मया विष्टम्भितो बलात्।
भञ्जन् द्रुमान् पर्वतांश्च यच्चान्यदपि किंचन ॥ ७ ॥
स मया बहुशो भग्नः प्रभञ्जन्वै प्रभञ्जनः।
तस्मान्न बिभ्ये देवर्षे क्रुद्धादपि समीरणात् ॥ ८ ॥
नारद उवाच— शाल्मले विपरीतं ते दर्शनं नात्र संशयः।
न हि वायोर्बलेनास्ति भूतं तुल्यबलं क्वचित् ॥ ९ ॥
इन्द्रो यमो वैश्रवणो वरुणश्च जलेश्वरः।
नैतेऽपि तुल्या मरुतः किं पुनस्त्वं वनस्पते ॥ १० ॥
यच्च किंचिदिह प्राणी चेष्टते शाल्मले भुवि।
सर्वत्र भगवान्वायुश्चेष्टाप्राणकरः प्रभुः ॥ ११ ॥
एष चेष्टयते सम्यक् प्राणिनः सम्यगायतः।
असम्यगायतो भूयश्चेष्टते विकृतं नृषु ॥ १२ ॥
स त्वमेवंविधं वायुं सर्वसत्त्वभृतां वरम्।
न पूजयसि पूज्यं तं किमन्यद् बुद्धिलाघवात् ॥ १३ ॥

है, पवन मेरे बलके अठारहवें भागके एक भागके समान भी नहीं है। वह जब मेरे समीप आता है, उस समय मैं बलपूर्वक उसे स्तम्भित कर रखता हूं। वायु पहाड वृक्ष आदि जिस किसी वस्तुको क्यों न तोडे, वह समीप आनेसे मुझसे पराजित होता है, हे देवर्षि! इस लिये वायुके क्रुद्ध होनेपर भी मैं उससे भय नहीं करता। (५—८)

नारद बोले, हे शाल्मलि! तुम्हारी विपरीत बुद्धि हुई है, इसमें सन्देह नहीं है। वायुके समान बलवान कोईभी नहीं है, और कभी किसी स्थानमें कोई हुआ भी नहीं था। तुम्हारी बात तो दूर रहे, इन्द्र, यम, कुबेर और जलके स्वामी वरुण भी वायुके समान नहीं हैं। इस जगत्में जो सब जीव जीवन धारण करते हैं, भगवान पवनही उसके कारण हैं, वेही सबके प्राणदाता और चैतन्य करनेवाले हैं, इसी वायुके प्रशान्त भावसे रहनेसे सब प्राणी जीवित रहते और इसीके अशान्त होनेपर सब जीव नष्ट होते हैं; इसलिये तुमने सब बलवानोंमें अग्रगण्यसे पूजनीय वायुका जो असम्मान किया है, उसका कारण तुम्हारी बुद्धिलाघवके अतिरिक्त दूसरा कुछभी नहीं

असारश्चापि दुर्मेधा: केवलं बहु भाषसे।
क्रोधादिभिरवच्छन्नो मिथ्या वदसि शाल्मले॥ १४ ॥
मम रोष: समुत्पन्नस्त्वय्येवं संप्रभाषति।
ब्रवीम्येष स्वयं वायोस्तव दुर्भाषितं बहु ॥ १५ ॥
चन्दनैः स्यन्दनैः शालैः सरलैर्देवदारुभि:।
वेतसैर्धन्वनैश्चापि ये चान्ये बलवत्तराः ॥ १६ ॥
तैश्चापि नैवं दुर्बुद्धे क्षिप्तो वायुः कृतात्मभि:।
तेऽपि जानन्ति वायोश्च बलमात्मन एव च ॥ १७ ॥
तस्मात्तं वै नमस्यन्ति श्वसनं तरुसत्तमाः।
त्वं तु मोहान्न जानीषे वायोर्बलमनन्तकम् ॥ १८ ॥
एवं तस्माद्गमिष्यामि सकाशं मातरिश्वनः॥ १९ ॥[५७८०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि
पवनशाल्मलिसंवादे पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १५५ ॥

भीष्म उवाच- एवमुक्त्वा तु राजेन्द्र शाल्मलिं ब्रह्मवित्तमः।
नारदः पवनं सर्वं शाल्मलेर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥
नारद उवाच- हिमवत्पृष्ठजः कश्चिच्छाल्मलिः परिवारवान्।

है। तुम अत्यन्त असार और दुर्बुद्धि हो इस ही कारण केवल बडी बात बोलते और क्रोधमें भरकर मिथ्या वचन कहते हो। (९-१४)

तुम्हारा ऐसा वचन सुनके मुझे क्रोध उत्पन्न हुआ है, मैं स्वयं वायुके समीप जाके तुम्हारा यह सब दुष्ट वचन कहूंगा। रे नीचबुद्धि! चन्दन, स्यन्दन, शाल, सरल, देवदारु, वेतस और बकुल आदि दूसरे जो सब सारवान तथा बलवान वृक्ष हैं, वे कभी वायुका इस प्रकार तिरस्कार नहीं करते, वे सब वायुके और अपने बलाबलको जानते हैं, इस कारण वे सब वृक्ष वायुको प्रणाम किया करते हैं। तुमने मोहके वशमें होकर वायुके अनन्त बलको नहीं जाना है, इस ही से ऐसा कहते हो; इसलिये मैं तुम्हारी बात कहनेके लिये वायुके समीप जाता हूं। (१५-१९)

शान्तिपर्वमें १५५ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १५६ अध्याय।

भीष्म बोले, हे राजेन्द्र! ब्रह्मज्ञानी नारद शाल्मलिसे ऐसा वचन कहके पवनके समीप जाके उसकी सब बात कहने लगे। नारद बोले, हे वायु! हिमालय पर्वतपर उत्पन्न हुआ शाखा-

बृहन्मूलो बृहच्छायः स त्वां वायोऽवमन्यते ॥ २ ॥
बहुव्याक्षेपयुक्तानि त्वामाह वचनानि सः।
न युक्तानि मया वायो तानि वक्तुं तवाग्रतः ॥ ३ ॥
जानामि त्वामहं वायो सर्वप्राणभृतां वरम्।
वरिष्ठं च गरिष्ठं च क्रोधे वैवस्वतं तथा ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच- एतत्तु वचनं श्रुत्वा नारदस्य समीरणः।
शाल्मलिं तमुपागम्य क्रुद्धो वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

वायुरुवाच- शाल्मले नारदो गच्छंस्त्वयोक्तो मद्विगर्हणम्।
अहं वायुः प्रभावं ते दर्शयाम्यात्मनो बलम् ॥ ६ ॥
अहं त्वामभिजानामि विदितश्चासि मे द्रुम।
पितामहः प्रजासर्गे त्वयि विश्रान्तवान्प्रभुः ॥ ७ ॥
तस्य विश्रमणादेष प्रसादो मत्कृतस्तव।
रक्ष्यसे तेन दुर्बुद्धे नात्मवीर्याद् द्रुमाधम ॥ ८ ॥
यन्मां त्वमवजानीषे यथाऽन्यं प्राकृतं तथा।
दर्शयाम्येष चात्मानं यथा मां नावमन्यसे ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच- एवमुक्तस्ततः प्राह शाल्मलिः प्रहसन्निव।

पल्लवसे युक्त बृहत् मूलवाला कोई शाल्मलि वृक्ष तुम्हारी अवज्ञा करता है; तुम्हारे समीप वह सब वचन कहना मुझे उचित नहीं है; मैं तुम्हें सब प्राणियोंमें अग्रगण्य, वरिष्ठ और गरिष्ठ समझता हूं, तुम क्रुद्ध होनेपर कालके समान हुआ करते हो। (१—४)

भीष्म बोले, वायु नारदका यह वचन सुनके उस शाल्मलि वृक्षके समीप आके अतिक्रुद्ध होकर कहने लगे। वायु बोले, हे शाल्मलि! तुमने नारदके निकट मेरी निन्दा की है; इस लिये मैं बलपूर्वक तुम्हें अपना प्रभाव दिखाऊंगा। मैं तुम्हें जानता हूं और तुम भी मुझे जानते हो; पितामहने प्रजाकी सृष्टि करनेके समय तुम्हारे मूलमें विश्राम किया था, अर्थात् उन्होंने विश्राम किया था,—इसीसे मैं तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करता था। रे नीचबुद्धि अधमवृक्ष! उस ही कारण मैं तेरी रक्षा करता था; तू निज बलके प्रभावसे रक्षित नहीं हुआ है। तू जब सामान्य लोगोंकी भांति मेरी अवज्ञा करता है, तब जिससे फिर मेरी अवज्ञा न करे, उसी प्रकार अपना प्रभाव दिखाऊंगा। (५—९)

पवन त्वं च मे क्रुद्धो दर्शयात्मानमात्मना ॥ १० ॥
मयि वै त्यज्यतां क्रोधः किं मे क्रुद्धः करिष्यसि ।
न ते बिभेमि पवन यद्यपि त्वं स्वयं प्रभुः ॥ ११ ॥
बलाधिकोऽहं त्वत्तश्च न भीः कार्या मया तव ।
ये बुद्ध्या हि बलिनस्ते भवन्ति बलीयसः ॥ १२ ॥
प्राणमात्रबला ये वै नैव ते बलिनो मताः ।
इत्येवमुक्तः पवनः श्व इत्येवाब्रवीद्वचः ॥ १३ ॥
दर्शयिष्यामि ते तेजस्ततो रात्रिरुपागमत् ।
अथ निश्चित्य मनसा शाल्मलिर्वातकारितम् ॥ १४ ॥
पश्यमानस्तदाऽऽत्मानमसमं मातरिश्वना ।
नारदे यन्मया प्रोक्तं वचनं प्रति तन्मृषा ॥ १५ ॥
असमर्थो ह्यहं वायोर्बलेन बलवान् हि सः ।
मारुतो बलवान्नित्यं यथा वै नारदोऽब्रवीत् ॥ १६ ॥
अहं तु दुर्बलोऽन्येभ्यो वृक्षेभ्यो नात्र संशयः ।
किं तु बुद्ध्या समो नास्ति मया कश्चिद्वनस्पतिः ॥१७॥

भीष्म बोले, शाल्मलि वायुका ऐसा वचन सुनकर हंसके बोला, हे पवन ! तुम मेरे ऊपर क्रुद्ध होके क्या पराक्रम प्रकाशित करोगे ? अपनेको ही अपना बल दिखाओ। मेरे ऊपर क्रोध मत करो; मुझपर क्रोध करके तुम क्या करोगे ? हे वायु ! तुम दूसरेको शासन करनेमें समर्थ हो तौभी मैं तुमसे भय नहीं करता, मैं तुमसे अधिक बलवान हूं; इस लिये तुमसे मुझे भय करनेका क्या प्रयोजन है ? जगत्‌में जो लोग बुद्धिबलसे बली हैं, वेही बलवान हैं; सामर्थ्यमात्रसे बलवान् पुरुषोंको बलवान कहके नहीं गिना जाता। वायु शाल्मलिकी ऐसी बात सुनके कलह तुम्हे पराक्रम दिखाऊंगा, ऐसा कहके चले गये। (१०-१३)

अनन्तर रात्रि उपस्थित होनेपर शाल्मलिने मनही मन पवनके पराक्रमको विचारके और अपनेको उसके असदृश जानके सोचा कि मैंने नारदके निकट वायुके विषयमें जो कहा वह अमूलक है; पवन प्रबल बलशाली है, नारदने जैसा कहा है, वायु वैसाही बलवान् है। उसके समीप मैं अत्यन्त असमर्थ हूं; उसकी बात तो दूर है, मैं दूसरे वृक्षोंसे भी निर्बल हूं, इसमें सन्देह नहीं है; परन्तु कोई वनस्पति मेरे

तदहं बुद्धिमास्थाय भयं मोक्ष्ये समीरणात् ।
यदि तां बुद्धिमास्थाय तिष्ठेयुः पर्णिनो वने ॥ १८ ॥
अरिष्टाः स्युः सदा क्रुद्धात्पवनान्नात्र संशयः ।
ते तु बाला न जानन्ति यथा वै तान् समीरणः ।
समीरयति संक्रुद्धो यथा जानाम्यहं तथा ॥ १९ ॥ [५७९९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि पवनशाल्मलिसंवादे षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥

भीष्म उवाच— ततो निश्चित्य मनसा शाल्मलिः क्षुभितस्तदा ।
शाखाः स्कन्धान्प्रशाखाश्च स्वयमेव व्यशातयत् ॥ १ ॥
स परित्यज्य शाखाश्च पत्राणि कुसुमानि च
प्रभाते वायुमायान्तं प्रत्यैक्षत वनस्पतिः ॥ २ ॥
ततः क्रुद्धः श्वसन्वायुः पातयन्वै महाद्रुमान् ।
आजगामाथ तं देशमास्ते यत्र स शाल्मलिः ॥ ३ ॥
तं हीनपर्णं पतिताग्रशाखं निशीर्णपुष्पं प्रसमीक्ष्य वायुः ।
उवाच वाक्यं स्मयमान एवं मुदा युतः शाल्मलिमुग्रशाखम् ॥ ४ ॥
वायुरुवाच— अहमप्येवमेव त्वां कुर्वाणः शाल्मले रुषा ।
आत्मना यत्कृतं कृच्छ्रं शाखानामपकर्षणम् ॥ ५ ॥

समान बुद्धिमान नहीं है; इससे मैं बुद्धिबलके अवलम्बनसे पवनके भयसे अपना परित्राण करूंगा। वनमें स्थित वृक्षसमूह यदि मेरी तरह बुद्धि अवलम्बन करके निवास करें, तो वे सदा क्रोध पूरित वायुसे निःसंदेह न उखाड जावें। क्रुद्ध वायु उन्हें जिस प्रकार सञ्चालित करता है, उसे मैं जैसा जानता हूं, वे लोग बालक होनेसे वैसा नहीं जानते। (१४—१९)

शान्तिपर्वमें १५६ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १५७ अध्याय।

भीष्म बोले, अनन्तर शाल्मलिने क्षुब्ध होकर आपही अपनी सब शाखा, डाली और स्कन्धोंको छेदन किया। वह शाखा, पत्र, पुष्प आदि परित्याग करके भोरके समय वायुके आगमनकी प्रतीक्षा करने लगा। अनन्तर क्रोधयुक्त वायु बडे बडे वृक्षोंको गिराकर शाल्मलिके निकट आया; आके उसे शाखा, पत्रपुष्पोंसे रहित देखके अत्यन्त हर्षित और विस्मययुक्त होकर कहा, हे शाल्मलि! तुम आप ही कष्ट करके सब

हीनपुष्पाग्रशाखस्त्वं शीर्णाङ्कुरपलाशकः ।
आत्मदुर्मन्त्रितेनेह मद्वीर्यवशगः कृतः ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच— एतच्छ्रुत्वा वचो वायोः शाल्मलिर्व्रीडितस्तदा ।
अतप्यत वचः स्मृत्वा नारदो यत्तदाऽब्रवीत् ॥ ७ ॥
एवं हि राजशार्दूल दुर्बलः सन् बलीयसा ।
वैरमारभते बालस्तप्यते शाल्मलिर्यथा ॥ ८ ॥
तस्माद्वैरं न कुर्वीत दुर्बलो बलवत्तरैः ।
शोचेद्धि वैरं कुर्वाणो यथा वै शाल्मलिस्तथा ॥ ९ ॥
न हि वैरं महात्मानो विवृण्वन्त्यपकारिषु ।
शनैः शनैर्महाराज दर्शयन्ति स्म ते बलम् ॥ १० ॥
वैरं न कुर्वीत नरो दुर्बुद्धिर्बुद्धिजीविना ।
बुद्धिर्बुद्धिमतो याति तृणेष्विव हुताशनः ॥ ११ ॥
न हि बुद्ध्या समं किंचिद्विद्यते पुरुषे नृप ।
तथा बलेन राजेन्द्र न समोऽस्तीह कश्चन ॥ १२ ॥
तस्मात्क्षमेत बालाय जडान्धबधिराय च ।

डालियोंको छेदन करके जैसे हुए हो, मैं भी क्रोधपूर्वक तुम्हें वैसाही करता; तुम अपनी बुद्धिहीनताके कारण मेरे पराक्रमके वशमें होकर फल पत्ता डाली और अंकुरसे रहित हुए। (१–६)

भीष्म बोले, शाल्मलि उस समय वायुका ऐसा वचन सुनके लज्जित हुआ और देवऋषि नारदने पहिले जो कहा था, उसे स्मरण करके अनुताप करने लगा। हे धर्मराज ! इसी प्रकार जो अल्पबुद्धि पुरुष स्वयं निर्बल होके बलवानके सङ्ग वैर करता है, वह शाल्मलि की भांति दुःखित पुरुष होता है; इसलिये निर्बल प्रबलके साथ वैर न करें; यदि करें तो शाल्मलिकी तरह शोचनीय होंगे। समान बलवाले पुरुषभी अपकारीके समीपमें सहसा पराक्रम प्रकाशित नहीं करते, वे लोग धीरे धीरे शत्रुके निकट पराक्रम दिखाया करते हैं। (७—१०)

नीचबुद्धि पुरुषका बुद्धिमानके सङ्ग शत्रुताचरण अत्यन्त अनुचित है, तृणसमूहमें पडी हुई अग्निकी तरह बुद्धिमानकी बुद्धि शत्रुओंके बीच अनायास ही प्रवेश करती है। हे राजेन्द्र ! जगत्में पुरुषके बुद्धि और बलके समान दूसरा कुछ भी नहीं है; इसलिये बालक जड, अन्धे, बधिर और अधिक बलवाले पुरुषके विषयमें क्षमा करे। हे शत्रुदमन !

बलाधिकाय राजेन्द्र तद् दृष्टं त्वयि शत्रुहन् ॥ १३ ॥
अक्षौहिण्यो दशैका च सप्त चैव महाद्युते।
बलेन न समा राजन्नर्जुनस्य महात्मनः ॥ १४ ॥
निहताश्चैव भग्नाश्च पाण्डवेन यशस्विना।
चरता बलमास्थाय पाकशासनिना मृधे ॥ १५ ॥
उक्ताश्च ते राजधर्मा आपद्धर्माश्च भारत।
विस्तरेण महाराज किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ १६॥ [५८१५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि पवनशाल्मलिसंवादे सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १५७ ॥

युधिष्ठिर उवाच— पापस्य यदधिष्ठानं यतः पापं प्रवर्तते।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन भरतर्षभ ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— पापस्य यदधिष्ठानं तच्छृणुष्व नराधिप।
एको लोभो महाग्राहो लोभात्पापं प्रवर्तते ॥ २ ॥
अतः पापमधर्मश्च तथा दुःखमनुत्तमम्।
निकृत्या मूलमेतद्धि येन पापकृतो जनाः ॥ ३ ॥
लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रवर्तते।
लोभान्मोहश्च माया च मानः स्तम्भः परासुता ॥४॥

अधिक बलवाले पुरुषको जो क्षमा करना होता है, वह तुममें देखा गया है। दुर्योधनकी ग्यारह अक्षौहिणी और तुम्हारी सात अक्षौहिणी सेना महाबली अर्जुनके बलके समान नहीं। यशस्वी इन्द्रपुत्र धनञ्जयने जङ्गलोंमें घूमके भी अन्तमें युद्धके बीच शत्रुओंको मारा और पराजित किया। महाराज! यही मैंने तुमसे राजधर्म और आपद्धर्म विस्तारके सहित कहा है, अब कहो, क्या सुननेकी इच्छा करते हो? (११–१६)

शान्तिपर्वमें १५७ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १५८ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भरतश्रेष्ठ! पापका निवासस्थान क्या है, और जिससे पाप प्रवर्त्तित होता है, मैं उसे ही यथार्थ रीतिसे सुननेकी इच्छा करता हूं। भीष्म बोले, हे नरनाथ! जिससे पाप उत्पन्न होता है, उसे सुनो। एकमात्र लोभ केवल पुण्यफल ग्रास किया करता है; इसलिये लोभसे ही पाप प्रकट होता है। तथा पापके सहित अत्यन्त दुःख उत्पन्न हुआ करता है; लोग लोभके कारण पापाचरणमें प्रवृत्त होते हैं, इससे लोभ

अक्षमा ह्रीपरित्यागः श्रीनाशो धर्मसंक्षयः ।
अभिध्याऽप्रख्यता चैव सर्वं लोभात्प्रवर्तते ॥ ५ ॥
अत्यागश्चातितर्षश्च विकर्मसु च याः क्रियाः ।
कुलविद्यामदश्चैव रूपैश्वर्यमदस्तथा ॥ ६ ॥
सर्वभूतेष्वभिद्रोहः सर्वभूतेष्वसत्कृतिः ।
सर्वभूतेष्वविश्वासः सर्वभूतेष्वनार्जवम् ॥ ७ ॥
हरणं परवित्तानां परदाराभिमर्शनम् ।
वाग्वेगो मनसो वेगो निन्दावेगस्तथैव च ॥ ८ ॥
उपस्थोदरयोर्वेगो मृत्युवेगश्च दारुणः ।
ईर्ष्यावेगश्च बलवान् मिथ्यावेगश्च दुर्जयः ॥ ९ ॥
रसवेगश्च दुर्वार्यः श्रोत्रवेगश्च दुःसहः ।
कुत्सा विकत्था मात्सर्यं पापं दुष्करकारिता ॥ १० ॥
साहसानां च सर्वेषामकार्याणां क्रियास्तथा ।
जातौ बाल्ये च कौमारे यौवने चापि मानवाः ॥११॥
न संत्यजन्त्यात्मकर्म यो न जीर्यति जीर्यतः ।
यो न पूरयितुं शक्यो लोभः प्राप्त्या कुरूद्वह ॥ १२ ॥
नित्यं गम्भीरतोयाभिरापगाभिरिवोदधिः ।

ही पापका मूल कारण है। काम, क्रोध, मोह, माया, अभिमान, गर्व, पराधीनता, अक्षमा, निर्लज्जता, श्रीनाश, धर्महीनता, चिन्ता और अकीर्ति आदि सभी लोभ से उत्पन्न हुआ करते हैं। (१-५)

कृपणता-विषयक रुचि, सुखमें अत्यन्त तृष्णा, कुकर्ममें प्रवृत्ति, वंश और विद्याका अहङ्कार, सुन्दरता और ऐश्वर्य का अभिमान, सब जीवोंका अनिष्टाचरण, सबके विषयमें असम्मान, अविश्वास और शठता प्रकाशित करना, परधनहरण, परनारीगमन, वचन और मनका आवेग, दूसरेकी निन्दा, इन्द्रिय-परतन्त्रता, उदरम्भरिता, दारुण मृत्यु, बलवती ईर्ष्या, दुर्जय मिथ्या व्यवहार, दुर्निवार्य रसवेग, दुःसह श्रोत्रवेग, नीचता, अपनी बडाई, मत्सरता, दुष्कर कार्य और समस्त साहसके कार्य, तथा अकार्यके अभिमानजनित पाप, लोभके कारणसे ही उत्पन्न होते हैं। मनुष्य लोग क्या बाल्य, क्या कौमार अथवा युवा अवस्थामें ही लोभको परित्याग नहीं कर सकते; मनुष्योंके जराजीर्ण होनेपर भी लोभ जीर्ण नहीं होता। (६-१२)

न प्रहृष्यति यो लोभैः कामैर्यश्च न तृप्यति ॥ १३ ॥
यो न देवैर्न गन्धर्वैर्नासुरैर्न महोरगैः।
ज्ञायते नृप तत्त्वेन सर्वैर्भूतगणैस्तथा ॥ १४ ॥
स लोभः सह मोहेन विजेतव्यो जितात्मना।
दम्भो द्रोहश्च निन्दा च पैशुन्यं मत्सरस्तथा ॥ १५ ॥
भवन्त्येतानि कौरव्य लुब्धानामकृतात्मनाम्।
सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्ति बहुश्रुताः ॥ १६ ॥
छेत्तारः संशयानां च क्लिश्यन्तीहाल्पबुद्धयः।
द्वेषक्रोधप्रसक्ताश्च शिष्टाचारबहिष्कृताः ॥ १७ ॥
अन्तःक्रूरा वाङ्मधुराः कूपाश्छन्नास्तृणैरिव।
धर्मवैतंसिकाः क्षुद्रा मुष्णन्ति ध्वजिनो जगत् ॥१८॥
कुर्वते च बहून्मार्गांस्तान् हेतुबलमाश्रिताः।
सतां मार्गान् विलुम्पन्ति लोभज्ञानेष्ववस्थिताः॥१९॥
धर्मस्य ह्रियमाणस्य लोभग्रस्तैर्दुरात्मभिः।

हे कुरुकुलधुरन्धर महाराज! जैसे गहरे जलसे युक्त नदियोंके समूहसे समुद्र परिपूर्ण नहीं होता, वैसेही सदा फल प्राप्त होनेपर भी लोभको कभी परिपूर्ण नहीं किया जा सकता। जो लोभ अर्थलाभसे हर्षित और कामना सिद्ध होनेसे परितृप्त नहीं होता; देवता, गन्धर्व, असुर, सर्प और समस्त जीव जिसे यथार्थ रूपसे नहीं जानते, उस लोभको मोहके सहित जय करना जितेन्द्रिय पुरुषको उचित है। हे कौरव! इन्द्रियोंके वशमें रहनेवाले लोभियोंमें दम्भ, दूसरेकी बुराई, पराई निन्दा, पिशुनता और मत्सरता उत्पन्न हुआ करती है। जो लोग अनेक शास्त्रोंको पढके बहुदर्शी और समस्त संशयोंको काटनेमें समर्थ हुए हैं, वे भी अल्पबुद्धि पुरुषोंकी भांति लोभजालमें फंसके क्लेश पाते हैं। द्वेष क्रोधसे आसक्त और शिष्टाचारसे बाहर हुए लोभी पुरुष तृणसे ढंके हुए कूएंकी भांति भीतरमें क्रूर और बाहरमें मधुर हुआ करते हैं। वे क्षुद्राशयवाले पुरुष अधर्मप्रचारक होकर धर्मके छलसे दूसरेका अनिष्ट करते हुए जगत्को ठगा करते हैं, किसी उपायको अवलम्बन करके अनेक मार्गप्रदर्शन और लोभमें आसक्त होकर सत् मार्गोंको लुप्त करते हैं। (१२—१९)

लोभग्रस्त दुष्टात्माओंके अनुष्ठित धर्मकी जो जो अवस्था अन्यथा होती

यां यां विक्रियते संस्था ततः साऽपि प्रपद्यते ॥ २० ॥
दर्पः क्रोधो मदः स्वप्नो हर्षः शोकोऽतिमानिता ।
एत एव हि कौरव्य दृश्यन्ते लुब्धबुद्धिषु ॥ २१ ॥
एतानशिष्टान्बुध्यस्व नित्यं लोभसमन्वितान् ।
शिष्टांस्तु परिपृच्छेथा यान्वक्ष्यामि शुचिव्रतान् ॥२२॥
येष्वावृत्तिभयं नास्ति परलोकभयं न च ।
नामिषेषु प्रसङ्गोऽस्ति न प्रियेष्वप्रियेषु च ॥ २३ ॥
शिष्टाचारः प्रियो येषु दमो येषु प्रतिष्ठितः ।
सुखं दुःखं समं येषां सत्यं येषां परायणम् ॥ २४ ॥
दातारो न ग्रहीतारो दयावन्तस्तथैव च ।
पितृदेवातिथेयाश्च नित्योद्युक्तास्तथैव च ॥ २५ ॥
सर्वोपकारिणो वीराः सर्वधर्मानुपालकाः ।
सर्वभूतहिताश्चैव सर्वदेयाश्च भारत ॥ २६ ॥
न ते चालयितुं शक्या धर्मव्यापारकारिणः ।
न तेषां भिद्यते वृत्तं यत्पुरा साधुभिः कृतम् ॥ २७ ॥

है, वह उसके अनुसार ही प्रसिद्ध हुआ करती है । हे कुरुनन्दन ! क्रोध, अभिमान, स्वप्न, हर्ष, मद और शोक लुब्धबुद्धि पुरुषोंको आश्रय किया करता है, इन सब लोभयुक्त लोगोंको सदा अनिष्ट कहके मालूम करो । अब पवित्र चरित्रवाले शिष्टोंका विषय कहता हूं सुनो, हे भारत ! जिन्हें संसारमें पुनरावृत्ति और नरकका भय नहीं है, प्रिय और अप्रिय वस्तुओंमें समान ज्ञान है, जो विषयिक सुखमें आसक्त नहीं हैं; शिष्टाचार और इन्द्रियसंयम जिसने अवलम्बन किया है, सुख तथा दुःखमें जिसका सम भाव है, सत्यही जिनका परम अवलम्ब है, जो दानशील और दयावान हैं, तथा दूसरेके धनको ग्रहण करनेमें पराङ्मुख हैं; जो पितरों देवताओं और अतिथियोंको तृप्त करनेमें सदा रत रहते हैं । (२०–२५)

जो सबका उपकार करनेवाले, धीर और सब धर्मोंके पालक हैं, जो सब प्राणियोंके हितैषी और साधारणके उपकारके निमित्त प्राणदान करनेमें समर्थ हैं, उन सब धार्मिक पुरुषोंको धर्ममार्गसे विचलित करनेमें किसीकी भी सामर्थ नहीं है । पहिले साधु लोग जैसा आचरण कर गये हैं, उन लोगोंका आचरण उनसे पृथक् नहीं है । जो

न अासिनो न चपला न रौद्राः सत्पथे स्थिताः ।
ते सेव्याः साधुभिर्नित्यं येष्वहिंसा प्रतिष्ठिता ॥२८॥
कामक्रोधव्यपेता ये निर्ममा निरहंकृताः ।
सुव्रताः स्थिरमर्यादास्तानुपास्स्व च पृच्छ च ॥ २९ ॥
न धनार्थं यशोऽर्थं वा धर्मस्तेषां युधिष्ठिर ।
अवश्यं कार्यं इत्येव शरीरस्य क्रियास्तथा ॥ ३० ॥
न भयं क्रोधचापल्ये न शोकस्तेषु विद्यते ।
न धर्मध्वजिनश्चैव न गुह्यं कं चिदास्थिताः ॥ ३१ ॥
येष्वलोभस्तथाऽमोहो ये च सत्यार्जवे स्थिताः ।
तेषु कौन्तेय रज्येथा येषां न भ्रश्यते पुनः ॥ ३२ ॥
ये न हृष्यन्ति लाभेषु नालाभेषु व्यथन्ति च ।
निर्ममा निरहंकाराः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ॥ ३३ ॥
लाभालाभौ सुखदुःखे च तात प्रियाप्रिये मरणं जीवितं च ।
समानि येषां स्थिरविक्रमाणां बुभुत्सतां सत्त्वपथे स्थितानाम्॥३४॥
धर्मप्रियांस्तान्सुमहानुभावान् दान्तोऽप्रमत्तश्च समर्चयेथाः ।

लोग सन्मार्गमें निवास करते हैं, उन्हें भय नहीं होता, जो लोग चपल और उग्र स्वभाववाले नहीं हैं, कभी किसीकी हिंसा नहीं करते, उन सब पुरुषोंकी सदा सेवा करनी साधुओंका कर्तव्य है। जो लोग काम, क्रोध, ममता और अहङ्कारसे रहित उत्तम व्रत करनेवाले और स्थिर मर्यादायुक्त हैं, उनकी उपासना करतेहुए तुम धर्मजिज्ञासा करो। २६-२९

हे युधिष्ठिर ! धन और यशके निमित्त उनका जन्म नहीं है, देह-धारणके वास्ते आहार आदिकी तरह अवश्य कर्त्तव्य कहके वे लोग धर्म पालन किया करते हैं; उन लोगोंमें भय, क्रोध, चपलता और शोक नहीं है, वे धर्मध्वजी वा पाषण्डधर्मावलम्बी नहीं हैं, जिन लोगोंमें लोभ मोह नहीं है, जो सत्य और सरलताको अवलम्बन किया करते हैं, हे कुन्तीनन्दन ! तुम उन लोगोंमें ही अनुरक्त रहो, जिनके सङ्ग अनुरक्त होनेपर फिर वह स्खलित नहीं होती। जो लोग लाभसे हर्षित और हानिसे असन्तुष्ट नहीं होते, उन ममताहीन, अहङ्काररहित, और सत्त्वगुण अवलम्बी, समदर्शी सन्मार्गसे स्थित, स्थिर पराक्रमी बोधेच्छु पुरुषोंको लाभालाभ, सुख, दुःख, प्रियाप्रिय और जीवन मरण सभी समान है। हे भद्र ! तुम

दैवान्सर्वे गुणवन्तो भवन्ति शुभाशुभे वाक्प्रलापास्तथाऽन्ये ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि आपन्मूलभूतदोषकथने अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥ [५८५०]

युधिष्ठिर उवाच— अनर्थानामधिष्ठानमुक्तो लोभः पितामह।
अज्ञानमपि वै तात श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— करोति पापं योऽज्ञानान्नात्मनो वेत्ति च क्षयम्।
प्रद्वेष्टि साधुवृत्तांश्च स लोकस्यैति वाच्यताम् ॥ २ ॥
अज्ञानान्निरयं याति तथाऽज्ञानेन दुर्गतिम्।
अज्ञानात्क्लेशमाप्नोति तथाऽऽपत्सु निमज्जति ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच— अज्ञानस्य प्रवृत्तिं च स्थानं वृद्धिक्षयोदयौ।
मूलं योगं गतिं कालं कारणं हेतुमेव च ॥ ४ ॥
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन यथावदिह पार्थिव।
अज्ञानप्रसवं हीदं यद्दुःखमुपलभ्यते ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच— रागो द्वेषस्तथा मोहो हर्षः शोकोऽभिमानिता।
कामः क्रोधश्च दर्पश्च तन्द्री चालस्यमेव च ॥ ६ ॥

इन्द्रियनिग्रहमें रत और सावधान होकर उन सब धर्मप्रिय महानुभावोंका सब प्रकारसे सम्मान करना ! लोगोंके वचन कभी दैववशसे गुण गौरव युक्त होकर सम्पत्तिका कारण होता है, कभी वही फिर विपत्का हेतु हो जाता है। (३०-३५)

शान्तिपर्वमें १५८ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १५९ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! लोभही अनर्थका मूल है, इसे आपने कहा, इस समय अज्ञान किसे कहते हैं, उसे यथार्थ रीतिसे सुननेकी इच्छा करता हूं। भीष्म बोले, जो पुरुष बिनाजाने पापाचरण करता है, उससे अपना नाश होगा उसे वह नहीं जान सकता, वह उत्तम चरित्रवाले पुरुषोंसे द्वेष करके लोगोंके समीप निन्दनीय होता है। लोग अज्ञानके वशमें होके नरकगामी, दुर्गतिभागी, क्लेश तथा आपदायुक्त हुआ करते हैं। युधिष्ठिर बोले, अब मैं अज्ञानकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, क्षय, उदय, मूल, गति, कारण, काल और हेतु क्या है, उसे यथार्थ रीतिसे सुननेकी इच्छा करता हूं, लोग जो दुःख भोग किया करते हैं, वह अज्ञानसे ही उत्पन्न होता है। (१—५)

भीष्म बोले, राग,द्वेष,मोह,असन्तोष,

इच्छा द्वेषस्तथा तापः परवृद्ध्युपतापिता।
अज्ञानमेतन्निर्दिष्टं पापानां चैव याः क्रियाः ॥ ७ ॥
एतस्य वा प्रवृत्तेश्च वृद्ध्यादीन्यांश्च पृच्छसि।
विस्तरेण महाराज शृणु तच्च विशेषतः ॥ ८ ॥
उभावेतौ समफलौ समदोषौ च भारत।
अज्ञानं चातिलोभश्चाप्येकं जानीहि पार्थिव ॥ ९ ॥
लोभप्रभवमज्ञानं वृद्धं भूयः प्रवर्द्धते।
स्थाने स्थाने भवेत्क्षीणमुपैति विविधां गतिम् ॥१०॥
मूलं लोभस्य मोहो वै कालात्मगतिरेव च।
छिन्ने भिन्ने तथा लोभे कारणं काल एव च ॥ ११ ॥
तस्याज्ञानाद्धि लोभो हि लोभादज्ञानमेव च।
सर्वदोषास्तथा लोभात्तस्माल्लोभं विवर्जयेत् ॥ १२ ॥
जनको युवनाश्वश्च वृषादर्भिः प्रसेनजित्।
लोभक्षयाद्दिवं प्राप्तास्तथैवान्ये नराधिपाः ॥ १३ ॥
प्रत्यक्षं तु कुरुश्रेष्ठ त्यज लोभमिहात्मना।
त्यक्त्वा लोभं सुखं लोके प्रेत्य चानुचरिष्यसि ॥१४॥ [५८६४]

इति श्रीमहाभारते० शान्ति० आप०अज्ञानमाहात्म्ये एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५९ ॥

शोक, अभिमान, काम, क्रोध, हर्ष, तन्द्रा, आलस्य, सब विषयोंमें अभिलाष, ताप, पराई वृद्धिमें परिताप और पापकर्म, ये सब अज्ञान कहके वर्णित हुए हैं। हे महाराज! तुम जो अज्ञानकी उत्पत्ति और वृद्धि आदि पूछते हो, उसे विशेष तथा विस्तारपूर्वक कहता हूं, सुनो। हे भारत! अज्ञान और अत्यन्त लोभ, इन दोनोंका फल तथा दोष समान है; इसलिये तुम इन दोनोंको एकही समझो, लोभकी वृद्धि, क्षय और उत्पत्तिके अनुसार उससे प्रकट हुआ अज्ञान वर्द्धित, क्षीण और उदित हुआ करता है। ६-१०

मोह ही लोभका मूल है, और लोभसे ही अज्ञान उत्पन्न होता है; लोभके छिन्नभिन्न होनेपर उसका कारणभी नष्ट हो जाता है। अज्ञानसे लोभ और लोभसे अज्ञान तथा दूसरे सब दोष ही उत्पन्न हुआ करते हैं; इसलिये लोग लोभ त्याग देवें। जनक, युवनाश्व, वृषादर्भि, प्रसेनजित् और दूसरे बहुतेरे राजा लोग लोभ त्यागनेसे देवलोकमें गये थे। हे कुरुवर! प्रत्यक्ष दुःखदायक लोभको परित्याग करो। इस लोकमें

युधिष्ठिर उवाच— स्वाध्याये कृतयत्नस्य नरस्य च पितामह।
धर्मकामस्य धर्मात्मन् किं नु श्रेय इहोच्यते ॥ १ ॥
बहुधा दर्शने लोके श्रेयो यदिह मन्यसे।
अस्मिँल्लोके परे चैव तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥
महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत।
किं स्विदेवेह धर्माणामनुष्ठेयतमं मतम्। ॥ ३ ॥
धर्मस्य महतो राजन् बहुशाखस्य तत्त्वतः।
यन्मूलं परमं तात तत्सर्वं ब्रूह्यशेषतः ॥ ४ ॥
भीष्म उवाच— हन्त ते कथयिष्यामि येन श्रेयो ह्यवाप्स्यसि।
पीत्वाऽमृतमिव प्राज्ञो ज्ञानतृप्तो भविष्यसि ॥ ५ ॥
धर्मस्य विधयो नैके ये वै प्रोक्ता महर्षिभिः।
स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य दमस्तेषां परायणम् ॥ ६ ॥
दमं निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ॥ ७ ॥

लोभ त्यागनेसे परलोकमें परम सुखभोग करोगे। (११—१४)

शान्तिपर्वमें १५९ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १६० अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे धर्मात्मन्! स्वाध्यायमें यत्नशील धर्म करनेवाले मनुष्योंके विषयमें इस लोकमें क्या कल्याणदायक है। जगत्में अनेक तरहकी वस्तु देखी जाती हैं, इनके बीच इस लोक और परलोकमें जिसके जरिये कल्याण हो, आप मुझसे वही कहिये। हे भारत! धर्मका मार्ग बहुत बडा और अनेक शाखासे युक्त है, इसमेंसे धर्मका कौन अंश अनुष्ठेयरूपसे आपको अभिमत है। अनेक शाखासे युक्त धर्म अत्यन्त महत् पदार्थ है, इसलिये उस धर्मका जो परम मूल है, आप वह सब यथार्थ रीतिसे वर्णन करिये। (१—४)

भीष्म बोले, हे राजन्! मैं तुम्हारा प्रश्न सुनके सन्तुष्ट हुआ, जिससे तुम्हारा कल्याण होगा, उसे कहता हूं। बुद्धिमान पुरुष अमृत पीके जिस प्रकार तृप्त होता है, तुम भी वैसे ही ज्ञानसे तृप्त होगे। महर्षियोंने धर्मका जैसा अनुष्ठान कहा है, वह अनेक तरहका है; निज निज विज्ञानको अवलम्बन करके इन्द्रियनिग्रहही उसके बीच परम श्रेष्ठ है, निश्चयदर्शी वृद्ध लोग इन्द्रिय-निग्रहको ही कल्याणका कारण कहा करते हैं; विशेष करके ब्राह्मणोंके विषयमें इन्द्रियनिग्रह

दमात्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते।
दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चातिवर्तते ॥ ८ ॥
दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम्।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत् ॥ ९ ॥
दमेन सदृशं धर्मं नान्यं लोकेषु शुश्रुम।
दमो हि परमो लोके प्रशस्तः सर्वधर्मिणाम् ॥ १० ॥
प्रेत्य चात्र मनुष्येन्द्र परमं विन्दते सुखम्।
दमेन हि समायुक्तो महान्तं धर्ममश्नुते ॥ ११ ॥
सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं पर्येति लोकांश्च मनश्चास्य प्रसीदति ॥ १२ ॥
अदान्तः पुरुषः क्लेशमभीक्ष्णं प्रतिपद्यते।
अनर्थांश्च बहूनन्यान् प्रसृजत्यात्मदोषजान् ॥ १३ ॥
आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम्।
तस्य लिङ्गानि वक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ॥ १४ ॥
क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्।
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १५ ॥

ही सनातन धर्म है। ब्राह्मणोंकी इन्द्रिय-निग्रहसे ही विधिपूर्वक कार्यसिद्धि होती है। दमगुण दान, यज्ञ, वेदाध्ययनसे भी उत्तम है, परम पवित्र दमगुणसे तेजकी वृद्धि होती है; दमको अवलम्बन करनेसे पुरुष पापरहित और तेजस्वी होकर महत् फल लाभ कर सकते हैं। (५—९)

मैंने सुना है, लोकमें इन्द्रियनिग्रह-के समान दूसरा धर्म और कुछ भी नहीं है। जनसमाजमें सब कर्मोंके बीच इन्द्रिय-निग्रह ही परम श्रेष्ठ है, हे नर-नाथ! इन्द्रियोंको निग्रह करनेवाला पुरुष इस लोक और परलोकमें महत् धर्म तथा परम सुख भोग करता है। धार्मिक पुरुष सुखसे सोते, जागते तथा सब ठौर विचरते हैं और उनका मन सदा प्रसन्न रहता है। अधर्म्मी पुरुष सदा क्लेश भोग करते हुए अपने दोषके कारणसे ही बहुतसे अनर्थोंमें फंसते हैं। पण्डितोंने कहा है, चारों आश्रमोंके बीच इन्द्रिय निग्रह ही उत्तम व्रत है। हे कुरु-नन्दन! इससे जिसकी समष्टिको दम कहते हैं उसका सब लक्षण कहता हूं। (१०—१४)

क्षमा, धीरज, अहिंसा, सब जीवोंमें समभाव, सत्य, सरलता, इन्द्रियोंको

अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः प्रियवादिता।
अविहिंसाऽनसूया चाप्येषां समुदयो दमः ॥ १६ ॥
गुरुपूजा च कौरव्य दया भूतेषु पैशुनम्।
जनवादं मृषावादं स्तुतिनिन्दाविसर्जनम् ॥ १७ ॥
कामं क्रोधं च लोभं च दर्पं स्तम्भं विकत्थनम्।
रोषमीर्ष्याऽवमानं च नैव दान्तो निषेवते ॥ १८ ॥
अनिन्दितो ह्यकामात्मा नाल्पेष्वर्थ्यनसूयकः।
समुद्रकल्पः स नरो न कथंचन पूर्यते ॥ १९ ॥
अहं त्वयि मम त्वं च मयि तेषु तथाप्यहम्।
पूर्वसंबन्धिसंयोगं नैतद्दान्तो निषेवते ॥ २० ॥
सर्वा ग्राम्यास्तथारण्या याश्च लोके प्रवृत्तयः।
निन्दां चैव प्रशंसां च यो नाश्रयति मुच्यते ॥ २१ ॥
मैत्रोऽथ शीलसंपन्नः प्रसन्नात्मात्मविच्च यः।
मुक्तस्य विविधैः संगैस्तस्य प्रेत्य फलं महत् ॥ २२ ॥
सुवृत्तः शीलसंपन्नः प्रसन्नात्मात्मविद् बुधः।
प्राप्येह लोके सत्कारं सुगतिं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

जीतना, दक्षता, कोमलता, लज्जा, चपलतारहितता, अकृपणता, अक्रोध, सन्तोष, प्रियवादिता, असूयाहीनता, गुरुसेवा और सब जीवोंके विषयमें दया, इन सबको ही दम कहते हैं। धर्मात्मा पुरुष खलता, लोकापवाद, मिथ्या वचन, स्तुति, निन्दा, क्रोध, लोभ, गर्व्व, अविनय, अपनी बडाई, रोष, ईर्षा और अवमाननाकी आलोचना नहीं करते; वह निन्दा, कामना और असूयारहित होके अनित्य सुखके अभिलाषी नहीं होते; और जैसे समुद्र जलसे परिपूर्ण नहीं होता, वैसे ही वे लोग ब्रह्मलोक प्राप्त होनेपर भी किसी भांति तृप्त नहीं होते। जितेन्द्रिय पुरुष मैं तुम्हारे, तुम मेरे, वह मेरा, मैं उसका; ऐसे सम्बन्धयुक्त ममतापाशमें बद्ध नहीं होते। (१५-२०)

ग्राम और अरण्य भेदसे लोकके बीच जो दो प्रकारकी प्रवृत्ति हैं, उसमें तथा निन्दा और प्रशंसामें जो लोग आसक्त नहीं होते, वेही मुक्ति लाभ किया करते हैं। जो सब जीवोंके हितैषी, शीलयुक्त, प्रसन्नचित्त, आत्मज्ञानी और अनेक तरहकी विषयासक्तिसे रहित हैं, उन्हें परलोकमें महत् फल

कर्म यच्छुभमेवेह सद्भिराचरितं च यत् ।
तदेव ज्ञानयुक्तस्य मुनेर्वर्त्म न हीयते ॥ २४ ॥
निष्क्रम्य वनमास्थाय ज्ञानयुक्तो जितेन्द्रियः ।
कालाकाङ्क्षी चरत्येवं ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २५ ॥
अभयं यस्य भूतेभ्यो भूतानामभयं यतः ।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ २६ ॥
अवाचिनोति कर्माणि न च संप्रचिनोति ह ।
समः सर्वेषु भूतेषु मैत्रायणगतिश्चरेत् ॥ २७ ॥
शकुनीनामिवाकाशे जले वारिचरस्य च ।
यथा गतिर्न दृश्येत तथा तस्य न संशयः ॥ २८ ॥
गृहानुत्सृज्य यो राजन् मोक्षमेवाभिपद्यते ।
लोकास्तेजोमयास्तस्य कल्पान्ते शाश्वतीः समाः॥२९॥
संन्यस्य सर्वकर्माणि संन्यस्य विधिवत्तपः ।
संन्यस्य विविधा विद्याः सर्वं संन्यस्य चैव ह ॥ ३० ॥
कामे शुचिरनावृत्तः प्रसन्नात्माऽऽत्मविच्छुचिः ।

प्राप्त होता है। सुशील, सच्चरित्र, प्रसन्नचित्त आत्मवित् पुरुष इस लोकमें साधुता पाके परलोकमें सद्गति लाभ करते हैं। इस लोकमें जो कर्म शुभरूपसे प्रसिद्ध हैं और साधु लोग जिसका आचरण किया करते हैं, ज्ञानयुक्त मौनावलम्बी मनुष्योंका वही स्वाभाविक मार्ग है; यह मार्ग कभी नष्ट नहीं होता। ज्ञानयोगसे युक्त होकर जो जितेन्द्रिय पुरुष घर त्यागके वनमें जाकर समय बिताते हुए व्रताचरण करता है, वह ब्रह्मसारूप्य लाभ करनेमें समर्थ होता है। (२१—२५)

सब जीवोंसे जिसे भय नहीं होता और जिससे सब भूतोंको भी भयकी सम्भावना नहीं रहती, उसे देह त्यागनेके अनन्तर किसीसे भी भय नहीं होता। जो भोगके जरिये कर्मफलोंका नाश करते और कभी उसे सञ्चय करके नहीं रखते, वे सब प्राणियोंमें समदर्शी विद्वान् पुरुष सब जीवोंको अभयदान करते हुए परब्रह्ममें लीन होते हैं। जैसे आकाशमें पक्षियों और जलमें जलचरोंकी गति दृष्टिगोचर नहीं होती, वैसे ही निःसन्देह सब जीवोंके हितैषी पुरुषोंकी गति नेत्रसे नहीं दीख पडती। हे राजन् ! जो लोग गृह त्यागके मोक्ष मार्गके पथिक होते हैं, उनके वास्ते सदाके लिये

प्राप्येह लोके सत्कारं स्वर्गं समभिपद्यते ॥ ३१ ॥
यच्च पैतामहं स्थानं ब्रह्मराशिसमुद्भवम् ।
गुहायां पिहितं नित्यं तद्दमेनाभिगम्यते ॥ ३२ ॥
ज्ञानारामस्य बुद्धस्य सर्वभूताविरोधिनः ।
नावृत्तिभयमस्तीह परलोकभयं कुतः ॥ ३३ ॥
एक एव दमे दोषो द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ३४ ॥
एकोऽस्य सुमहाप्राज्ञ दोषः स्यात्सुमहान्गुणः ।
क्षमया विपुला लोकाः सुलभा हि सहिष्णुता॥ ३५ ॥
दान्तस्य किमरण्येन तथाऽदान्तस्य भारत ।
यत्रैव निवसेद्दान्तस्तदरण्यं स चाश्रमः ॥ ३६ ॥
वैशम्पायन उवाच-एतद्भीष्मस्य वचनं श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः ।
अमृतेनेव संतृप्तः प्रहृष्टः समपद्यत ॥ ३७ ॥
पुनश्च परिपप्रच्छ भीष्मं धर्मभृतां वरम्

तेजोमय समस्त लोक निर्मित होते हैं। प्रसन्नतायुक्त पवित्र चित्त, आत्मवित् निष्काम पुरुष सब कर्मोंको त्याग कर विधिपूर्वक तपस्या और विविध विद्या संन्यास करते हुए इस लोकमें आदरयुक्त होकर स्वर्गलोकमें जाते हैं। (२६-३१)

पितामहके तपसे उत्पन्न गुफाके बीच जो नित्यलोक है, वह इन्द्रियोंके जीतनेसे प्राप्त होता है। जो ज्ञानकी आलोचनासे तृप्त और सावधान हुए हैं, तथा किसीके सङ्ग जिनका विरोध नहीं है, इस लोकमें उन्हें फिर जन्म लेनेका भय नहीं रहता! तब परलोकका भय क्यों होगा? इन्द्रिय जीतनेमें एकही दोष दीख पडता है, दूसरा नहीं देखा जाता। दमयुक्त पुरुष क्षमाशील होते हैं, इसीसे लोग उन्हें असमर्थ समझते हैं। हे महाबुद्धिमान् धर्मराज! एक पुरुषका एकही दोष महत् गुणका कारण हुआ करता है, क्षमासे विपुल लोककी सहिष्णुता सुलभ होती है! धार्मिक पुरुषको वनमें जानेका प्रयोजन नहीं है, वे जिस स्थानमें निवास करते हैं, वही वन और आश्रम सदृश हुआ करता है। (३२—३६)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, राजा युधिष्ठिर भीष्मके ऐसे वचन सुन इस प्रकार आनन्दित हुए, जैसे कोई अमृत पीके तृप्त होता है, उन्होंने धर्मात्मा शान्तनुपुत्रसे फिर धर्म विषयमें प्रश्न

ततः प्रीतः स चोवाच तस्मै सर्वं कुरूद्वहः॥ ३८ ॥ [५९०२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि दमकथने षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६०॥

भीष्म उवाच- सर्वमेतत्तपोमूलं कवयः परिचक्षते।
नह्यतप्ततपा मूढः क्रियाफलमवाप्नुते ॥ १ ॥
प्रजापतिरिदं सर्वं तपसैवासृजत्प्रभुः।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २ ॥
तपसैव ससर्जान्नं फलमूलानि यानि च।
त्रींल्लोकांस्तपसा सिद्धाः पश्यन्ति सुसमाहिताः॥ ३ ॥
औषधान्यगदादीनि क्रियाश्च विविधास्तथा।
तपसैव हि सिद्ध्यन्ति तपोमूलं हि साधनम् ॥ ४ ॥
यद्दुरापं भवेत्किंचित्तत्सर्वं तपसो भवेत्।
ऐश्वर्यमृषयः प्राप्तास्तपसैव न संशयः ॥ ५ ॥
सुरापोऽसंमतादायी भ्रूणहा गुरुतल्पगः।
तपसैव सुतप्तेन नरः पापात्प्रमुच्यते ॥ ६ ॥
तपसो बहुरूपस्य तैस्तैर्द्वारैः प्रवर्ततः।

किया। अनन्तर कुरुकुल—धुरन्धर भीष्मदेव प्रसन्न होके उनसे कहने लगे। (३७-३८) [५९०२]

शान्तिपर्वमें १६० अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १६१ अध्याय।

भीष्म बोले, ऋषि लोग इन सबको ही तपका मूल कहा करते हैं, जो मूढ-बुद्धि तपस्या नहीं करता, वह कभी कर्मका फल नहीं पाता। सर्वशक्तिमान प्रजापतिने तपोबलसे ही इस दृश्यमान जगत्को बनाया है, इसी तरह ऋषियोंने भी तपके प्रभावसे वेदोंको प्राप्त किया है। विधाताने फल मूल आदि अन्नोंको तपस्यासे ही उत्पन्न किया है, एकान्त योगयुक्त सिद्ध लोग तपके प्रभावसे तीनों लोकोंको देखते हैं। रोगनाश करनेवाली सब औषधि और अनेक कर्मोंका निर्वाह तपस्यासे ही सिद्ध होता है, सब साधनोंका तप ही मूल है। (१-४)

जगत्में जो कुछ दुष्प्राप्य वस्तु हैं, वह सब तपके प्रभावसे प्राप्त होती हैं; ऋषियोंने तपस्यासे ही निःसन्देह ऐश्वर्य प्राप्त किया है। सुरा पीनेवाले, धन हरनेवाले, भ्रूणहत्या करनेवाले और गुरुस्त्रीगामी मनुष्य उत्तम रीतिसे तपस्या

निवृत्त्या वर्तमानस्य तपो नानशनात्परम् ॥ ७ ॥
अहिंसा सत्यवचनं दानमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतेभ्यो हि महाराज तपो नानशनात्परम् ॥ ८ ॥
न दुष्करतरं दानान्नातिमातरमाश्रमः ।
त्रैविद्येभ्यः परं नास्ति संन्यासः परमं तपः ॥ ९ ॥
इन्द्रियाणीह रक्षन्ति स्वर्गधर्माभिगुप्तये ।
तस्मादर्थे च धर्मे च तपो नानशनात्परम् ॥ १० ॥
ऋषयः पितरो देवा मनुष्या मृगपक्षिणः ।
यानि चान्यानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥११॥
तपःपरायणाः सर्वे सिध्यन्ति तपसा च ते ।
इत्येवं तपसा देवा महत्त्वं प्रतिपेदिरे ॥ १२ ॥
इमानीष्टविभागानि फलानि तपसः सदा ।
तपसा शक्यते प्राप्तुं देवत्वमपि निश्चयात् ॥ १३ ॥ [५९१५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि तपःप्रशंसायां एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६१॥

करनेपर उन पापोंसे छूट जाते हैं। तपस्या अनेक प्रकारकी हैं। विषयिक-सुखभोगोंसे निवृत्त होके चाहे कोई किसी प्रकारकी तपस्या क्यों न करें, अनशनसे बढके परम तपस्या और कुछ भी नहीं है। महाराज! अहिंसा, सत्य-वचन, दान और इन्द्रियदमनसे अनशन उत्तम है। दानसे कुछ भी कठिन नहीं है, जननीको अतिक्रम करके दूसरे आश्रममें गमन करना धर्म नहीं है; वेदज्ञसे दूसरा कोई भी श्रेष्ठ नहीं है; संन्यासही परम तपस्या है। (५-९)

जो लोग सुख समृद्धि और धर्म-रक्षाके निमित्त इस लोकमें इन्द्रियसंयम किया करते हैं, उनके निमित्त धर्म और अर्थ विषयमें अनशन व्रतसे श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है। ऋषि, पितर, देवता, मनुष्य, मृग और पक्षीसमूह तथा इनके अतिरिक्त दूसरे जो सब स्थावर जङ्गम जीव हैं, वे सभी तपस्यामें रत होके तपके जरिये सिद्ध होते हैं। इसी भांति देवताओंको तपस्याके जरिये महत्व प्राप्त हुआ है। तपस्याका फल सदा सब इष्ट विषयोंका विभाग कर देता है। तपस्या-से निःसन्देह देवत्व भी प्राप्त हो सकता है। (१०-१३) [५९१५]

शान्तिपर्वमें १६१ अध्याय समाप्त।

युधिष्ठिर उवाच--सत्यं धर्मं प्रशंसन्ति विप्रर्षिपितृदेवताः।
सत्यमिच्छाम्यहं श्रोतुं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
सत्यं किंलक्षणं राजन् कथं वा तदवाप्यते।
सत्यं प्राप्य भवेत्किं च कथं चैव तदुच्यताम् ॥ २ ॥
भीष्म उवाच— चातुर्वर्ण्यस्य धर्माणां संकरो न प्रशस्यते।
अविकारितमं सत्यं सर्ववर्णेषु भारत ॥ ३ ॥
सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः ॥ ४ ॥
सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥
आचारानिह सत्यस्य यथावदनुपूर्वशः।
लक्षणं च प्रवक्ष्यामि सत्यस्येह यथाक्रमम् ॥ ६ ॥
प्राप्यते च यथा सत्यं तच्च श्रोतुमिहार्हसि।
सत्यं त्रयोदशाविधं सर्वलोकेषु भारत ॥ ७ ॥
सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः।

शान्तिपर्वमें १६२ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! देवता, ब्राह्मण, ऋषि और पितर लोग सत्य धर्मकी प्रशंसा किया करते हैं; इसलिये मैं सत्यधर्म सुननेकी अभिलाषा करता हूं; आप मुझसे वही कहिये। सत्यका क्या लक्षण है, किस प्रकार वह प्राप्त होता है और सत्यके प्राप्त होनेसे क्या होता है! आप उसे वर्णन कीजिये। भीष्म बोले, हे भारत! ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके बीच धर्मसङ्कर उत्तम नहीं है; सब वर्णोंके बीच अविकारी सत्य ही श्रेष्ठ है। साधुओंके समीप सत्यधर्म ही सदा आदरणीय है, सत्यही सनातन धर्म है; सब कोई सत्यका आदर करें, सत्यही परम गति है। तपस्या और योगसाधन सत्यधर्म है, सत्यही सनातन ब्रह्म, सत्यही परम श्रेष्ठ यज्ञ कहके वर्णित होता और सब वस्तु ही सत्यसे प्रतिष्ठित हो रही है। (१-५)

सत्यका जैसा स्वरूप और लक्षण है, उसे मैं विधिपूर्वक विस्तारके सहित कहता हूं और जिस प्रकार सत्य प्राप्त होता है, उसे भी वर्णन करूंगा, तुम इसके सुननेके योग्य पात्र हो। हे भारत! सब लोकोंके बीच सत्य तेरह प्रकारके रूपसे विख्यात है। हे राजेन्द्र! सत्य,

अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षाऽनसूयता ॥ ८ ॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं दया।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश ॥ ९ ॥
सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च।
सर्वधर्माविरुद्धेन योगेनैतदवाप्यते ॥ १० ॥
आत्मनीष्टे तथाऽनिष्टे रिपौ च समता तथा।
इच्छाद्वेषक्षयं प्राप्य कामक्रोधक्षयं तथा ॥ ११ ॥
दमो नान्यस्पृहा नित्यं गाम्भीर्यं धैर्यमेव च।
अभयं रोगशमनं ज्ञानेनैतदवाप्यते ॥ १२ ॥
अमात्सर्यं बुधाः प्राहुर्दाने धर्मे च संयमः।
अवस्थितेन नित्यं च सत्येनामत्सरी भवेत् ॥ १३ ॥
अक्षमायाः क्षमायाश्च प्रियाणीहाऽप्रियाणि च।
क्षमते संमतः साधुः साध्वाप्नोति च सत्यवाक् ॥१४॥
कल्याणं कुरुते बाढं धीमान्न ग्लायते क्वचित्।
प्रशान्तवाङ्मना नित्यं ह्रीस्तु धर्मादवाप्यते ॥ १५ ॥

समता, दम, मत्सरहीनता, क्षमा लज्जा, तितिक्षा, अनसूयता, त्याग, ध्यान, धृति, आर्यत्व, सब जीवोंपर सदा दया तथा अहिंसा ये तेरह प्रकार सत्यके रूप हैं। तिसके बीच अव्यय और अविकारी नित्य वस्तुका नाम सत्य है; सब धर्मोंके अविरोधयोगके जरिये वह प्राप्त होता है। इच्छा, द्वेष, काम, क्रोधके नष्ट होनेपर अपने और शत्रुके इष्ट अनिष्ट विषयोंमें तुल्य दृष्टिको समता कहते हैं। इन्द्रियोंके विषयमें आसक्ति-हीनताको दम कहा जाता है; दमगुण रहने पर धीरज, गंभीरता, अभय और रोगोंकी शान्ति होती है; यह ज्ञानके प्रभावसे प्राप्त होता है। (६-१२)

दान और धर्म विषयके संयमको पण्डित लोग अमात्सर्य कहते हैं; पुरुष सदा सत्य मार्गमें स्थित रहनेसे मत्सर-रहित होते हैं। अक्षमा और क्षमाके विषयमें प्रिय और अप्रिय वस्तुओंको जिस शक्तिके सहारे शिष्ट तथा साधु लोग क्षमा करते हैं, उसे ही क्षमा कहते हैं; सत्यवादी पुरुष उत्तम रीतिसे इस शक्तिको प्राप्त करते हैं। शान्तचित्त तथा स्थिर वचनवाले बुद्धिमान् पुरुष जिस शक्तिके जरिये अत्यन्त कल्याण-युक्त कर्मोंको सिद्ध करते और किसी स्थानमें ग्लानियुक्त नहीं होते, उसे ही

धर्मार्थहेतोः क्षमते तितिक्षा क्षान्तिरुच्यते।
लोकसंग्रहणार्थं वै सा तु धैर्येण लभ्यते ॥ १६ ॥
त्यागः स्नेहस्य यस्त्यागो विषयाणां तथैव च।
रागद्वेषप्रहीणस्य त्यागो भवति नान्यथा ॥ १७ ॥
आर्यता नाम भूतानां यः करोति प्रयत्नतः।
शुभं कर्म निराकारो वीतरागस्तथैव च ॥ १८ ॥
धृतिर्नाम सुखे दुःखे यथा नाप्नोति विक्रियाम्।
तां भजेत सदा प्राज्ञो य इच्छेद्भूतिमात्मनः ॥ १९ ॥
सर्वथा क्षमिणा भाव्यं तथा सत्यपरेण च।
वीतहर्षभयक्रोधो धृतिमाप्नोति पण्डितः ॥ २० ॥
अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥ २१ ॥
एते त्रयोदशाकाराः पृथक् सत्यैकलक्षणाः।
भजन्ते सत्यमेवेह बृंहयन्ते च भारत ॥ २२ ॥
नान्तः शक्यो गुणानां च वक्तुं सत्यस्य पार्थिव।
अतः सत्यं प्रशंसन्ति विप्राः सपितृदेवताः ॥ २३ ॥

लज्जा कहते हैं; यह शक्ति धर्मसे प्राप्त होती है। धर्म और अर्थके निमित्त लोक-संग्रहके लिये क्षमा करनेको तितिक्षा कहा जाता है, धीरजसे तितिक्षा प्राप्त होती है। (१३-१६)

ममता और विषयवासना परित्याग करनेका नाम त्याग है, राग द्वेषसे रहित पुरुष ही त्यागी होते हैं; दूसरे नहीं। यत्नपूर्वक जीवोंके शुभ कार्योंको सिद्ध करनेको आर्यता कहते हैं। जिसके जरिये सुख और दुःखकी विकृति नहीं होती, उसे ही धृति कहा जाता है, जो बुद्धिमान् पुरुष अपने ऐश्वर्यकी इच्छा करे, वह सदा धृतिके वशवर्ती होवे। मनुष्य सदा क्षमाशील और सत्यपरायण होवे, जिसने हर्ष, भय और क्रोध परित्याग किया है, वह पण्डित पुरुष ही धृतिलाभ करनेमें समर्थ होता है। वचन, मन, कर्मके जरिये सब जीवोंके विषयमें अद्रोह, अनुग्रह और दान करना साधुओंका सनातन धर्म है। हे भारत! येही तेरह प्रकारके पृथक् पृथक् गुणोंके इकठे होने पर सत्य होता है, इस लोकमें साधु लोग सत्यकी सेवा करके बढते हैं। (१७-२२)

हे राजन्! सत्यके सब गुणोंका

नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
श्रुतिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत् ॥ २४ ॥
उपैति सत्याद्दानं हि तथा यज्ञाः सदक्षिणाः ।
त्रेताग्निहोत्रं वेदाश्च ये चान्ये धर्मनिश्चयाः ॥ २५ ॥
अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥ २६ ॥ [५९४१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि सत्यप्रशंसायां द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६२ ॥

युधिष्ठिर उवाच—यतः प्रभवति क्रोधः कामो वा भरतर्षभ ।
शोकमोहौ विधित्सा च परासुत्वं च तद्वद ॥ १ ॥
लोभो मात्सर्यमीर्ष्या च कुत्सासूया कृपा भयम् ।
एतत्सर्वं महाप्राज्ञ याथातथ्येन मे वद ॥ २ ॥

भीष्म उवाच— त्रयोदशैतेऽतिबलाः शत्रवः प्राणिनां स्मृताः ।
उपासन्ते महाराज समन्तात्पुरुषानिह ॥ ३ ॥
एते प्रमत्तं पुरुषमप्रमत्तास्तुदन्ति च ।
वृका इव विलुम्पन्ति दृष्ट्वैव पुरुषं बलात् ॥ ४ ॥
एभ्यः प्रवर्तते दुःखमेभ्यः पापं प्रवर्तते ।

अन्त नहीं कहा जा सकता, इसीलिये पितरों और देवताओंके सहित ब्राह्मण लोग सत्यकी प्रशंसा किया करते हैं। सत्यसे बढके परम धर्म और कुछ भी नहीं है। मिथ्याके समान परम पाप दूसरा कुछ नहीं है। सत्यही धर्मका आसरा है; इसलिये सत्यका लोप न करे। सत्यसे ही दान दक्षिणायुक्त यज्ञ, अग्निहोत्र, समस्त वेद और धर्म निश्चय प्राप्त होता है। एक ओर सहस्र अश्वमेध यज्ञ और दूसरी ओर अकेले सत्यके तुलादण्डपर रखनेसे सहस्र अश्वमेधसे अकेला सत्य अधिक होता है। (२३-२६)

शान्तिपर्वमें १६२ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १६३ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे महाबुद्धिमान भरतश्रेष्ठ! काम, क्रोध, शोक, मोह, विधित्सा, पराधीनता, लोभ, मत्सरता, ईर्षा, कुत्सा, असूया, कृपा और भय जिससे उत्पन्न होते हैं, आप मेरे समीप उसे यथार्थ रीतिसे वर्णन करिये। भीष्म बोले, हे धर्मराज! ये तेरह प्राणियोंके प्रबल शत्रु हैं; ये मनुष्योंको भेडियोंकी तरह खाते हैं, यह मनुष्योंको

इति मर्त्यो विजानीयात्सततं पुरुषर्षभ ॥ ५ ॥
एतेषामुदयं स्थानं क्षयं च पृथिवीपते।
हन्त ते कथयिष्यामि क्रोधस्योत्पत्तिमादितः ॥ ६ ॥
यथा तत्त्वं क्षितिपते तादिहैकमनाः शृणु।
लोभात्क्रोधः प्रभवति परदोषैरुदीर्यते ॥ ७ ॥
क्षमया तिष्ठते राजन् क्षमया विनिवर्त्तते।
संकल्पाज्जायते कामः सेव्यमानो विवर्धते ॥ ८ ॥
यदा प्राज्ञो विरमते तदा सद्यः प्रणश्यति।
पराऽसूया क्रोधलोभावन्तरा प्रतिमुच्यते ॥ ९ ॥
दयया सर्वभूतानां निर्वेदाद्विनिवर्तते।
अवद्यदर्शनादेति तत्त्वज्ञानाच्च धीमताम् ॥ १० ॥
अज्ञानप्रभवो मोहः पापाभ्यासात्प्रवर्तते।
यदा प्राज्ञेषु रमते तदा सद्यः प्रणश्यति ॥ ११ ॥
विरुद्धानीह शास्त्राणि ये पश्यन्ति कुरूद्वह।
विधित्सा जायते तेषां तत्त्वज्ञानान्निवर्तते ॥१२॥

सदा जानना उचित है। हे राजन्! इन सबकी उत्पत्ति, स्थिति और निवृत्ति का विषय तुम्हारे समीप वर्णन करूंगा। इस समय पहिले क्रोधके उत्पत्तिका विषय यथार्थ रीतिसे कहता हूं। तुम सावधान होकर सुनो। लोभसे क्रोध उत्पन्न होता है और वह पराये दोषके जरिये उद्दीप्त होकर क्षमाके सहारे निवद्ध वा निवृत्त हुआ करता है। (१—८)

सङ्कल्पसे काम उत्पन्न होता है, उसकी जितनी ही सेवा की जाय उतना ही वह बढता है। बुद्धिमान पुरुषोंके कामसे विरत होनेपर उसही समय वह नष्ट होजाता है, क्रोध और लोभके बीचसे असूयाकी उत्पत्ति होती है, सब जीवोंमें दया करनेसे उसकी निवृत्ति हुआ करती है। बुद्धिमान पुरुषोंके मनमें अनिष्ट वस्तुओंके दर्शनसे भी इसकी उत्पत्ति होती और तत्वज्ञानके जरिये निवृत्ति देखी जाती है। अज्ञानसे मोह उत्पन्न होता है और पापसे बार बार बढता रहता है, सत्सङ्गतिके कारण वह नष्ट होजाता है। हे कुरुकुल धुरन्धर! जो लोग विरुद्ध शास्त्रोंको देखते हैं, उन लोगोंकी विधित्सा अर्थात् कार्यके आरम्भमें व्यग्रता उत्पन्न होती है; तत्वज्ञानसे उसकी निवृत्ति हुआ करती है। (८-१२)

प्रीत्या शोकः प्रभवति वियोगात्तस्य देहिनः ।
यदा निरर्थकं वेत्ति तदा सद्यः प्रणश्यति ॥ १३ ॥
परासुता क्रोधलोभादभ्यासाच्च प्रवर्त्तते ।
दयया सर्वभूतानां निर्वेदात्सा निवर्तते ॥ १४ ॥
सत्यत्यागात्तु मात्सर्यमहितानां च सेवया ।
एतत्तु क्षीयते तात साधूनामुपसेवनात् ॥ १५ ॥
कुलाज्ज्ञानात्तथैश्वर्यान्मदो भवति देहिनाम् ।
एभिरेव तु विज्ञातैः स च सद्यः प्रणश्यति ॥ १६ ॥
ईर्ष्या कामात्प्रभवति संहर्षाच्चैव जायते ।
इतरेषां तु सत्त्वानां प्रज्ञया सा प्रणश्यति ॥ १७ ॥
विभ्रमाल्लोकबाह्यानां द्वेष्यैर्वाक्यैरसंमतैः ।
कुत्सा संजायते राजन् लोकान्प्रेक्ष्याभिशाम्यति ॥१८॥
इति कर्तुं न शक्ता ये बलस्थायापकारिणे ।
असूया जायते तीव्रा कारुण्याद्विनिवर्तते ॥ १९ ॥
कृपणान्सततं दृष्ट्वा ततः संजायते कृपा ।

प्रणययुक्त पुत्र आदिके वियोगके कारण देहधारी जीवोंको शोक उत्पन्न होता है; प्रिय पुरुषका वियोग होनेपर जब कि यह विदित होता है कि फिर उसके मिलनेकी सम्भावना नहीं है, उस समय शोककी शान्ति हुआ करती है; क्रोध, लोभ और अभ्यासके कारणसे अकार्य परतन्त्रता प्रकट होती है; सब जीवोंमें दया और निर्वेदके सबब उसकी निवृत्ति होती है। सत्यके त्यागने और अनिष्ट-विषयोंकी सेवा करनेसे मत्सरता उत्पन्न होती है, वह साधुओंकी सङ्गति करनेसे नष्ट होती है। कुलकी मर्यादा, विद्या और ऐश्वर्यसे मद उत्पन्न होता है; इन सबकी यथार्थता मालूम होनेपर उसही समय उसका नाश होता है। काम और हर्षसे ईर्षा प्रकट होती है, साधारण प्राणियोंकी बुद्धिको देखनेसे वह नष्ट होती है (१३—१७)

हे राजन्! समाजसे च्युत लोगोंके भ्रमके कारण द्वेष और असम्मत वचनके जरिये कुत्साकी उत्पत्ति होती है। शिष्टाचारके देखनेसे उसकी शान्ति होती है, जो लोग बलवान् शत्रुके प्रतिकार करनेमें समर्थ नहीं हैं, उन लोगोंमें तीक्ष्ण असूया उत्पन्न हुआ करती है, करुणासे वह निवृत्त होती है। सदा दुःखित पुरुषोंके देखनेसे कृपा उत्पन्न

धर्मनिष्ठां यदा वेत्ति तदा शाम्यति सा कृपा ॥ २० ॥
अज्ञानप्रभवो लोभो भूतानां दृश्यते सदा।
अस्थिरत्वं च भोगानां दृष्ट्वा ज्ञात्वा निवर्तते ॥ २१ ॥
एतान्येव जितान्याहुः प्रशमाच्च त्रयोदश।
एते हि धार्तराष्ट्राणां सर्वे दोषास्त्रयोदश ॥
त्वया सत्यार्थिना नित्यं विजिता ज्येष्ठसेवनात् ॥२२॥५९६३

इति श्रीमहा० शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि लोभनिरूपणे त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥१६३॥

युधिष्ठिर उवाच- आनृशंस्यं विजानामि दर्शनेन सतां सदा।
नृशंसान्न विजानामि तेषां कर्म च भारत ॥ १ ॥
कण्टकान्कूपमग्निं च वर्जयन्ति यथा नराः।
तथा नृशंसकर्माणं वर्जयन्ति नरा नरम् ॥ २ ॥
नृशंसो हि दहेद्व्यक्तं प्रेत्य चेह च भारत।
तस्मात्त्वं ब्रूहि कौरव्य तस्य धर्मविनिश्चयम् ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच— स्पृहा स्याद्गर्हिता चैव विधित्सा चैव कर्मणाम्।
आक्रोष्टा क्रुश्यते चैव वञ्चितो बुध्यते स च ॥ ४ ॥

होती है, धर्मनिष्ठा विदित होनेपर उसकी निवृत्ति हुआ करती है। यह सदा देखा जाता है, कि जीवोंको अज्ञानसे लोभ उत्पन्न होता है, सब विषयोंकी अस्थिरता देखनेपर ज्ञानसे उसकी निवृत्ति होती है। बुद्धिमान् लोग कहा करते हैं, कि शान्तिके जरिये इन तेरहों दोषोंको पराजित किया जाता है। धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें येही सब दोष थे, तुमने सत्यके अभिलाषी होकर उन लोगोंको जय किया है। (१८-२२)

शान्तिपर्वमें १६३ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १६४ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भारत! मैं सदा साधुओंकी सङ्गतिमें रहनेसे अनृशंसता को जानता हूं; नृशंस और उसके कार्यके विषयको नहीं जानता; लोग कांटे, कूएं और अग्निको जिस तरह त्यागते हैं, निठुर मनुष्यको भी उसी तरह परित्याग किया करते हैं, नृशंस पुरुष इस लोक और परलोकमें स्पष्ट रूपसे जलता है; इसलिये आप उस विषय और कर्म-निर्णयको वर्णन करिये। भीष्म बोले, नृशंस पुरुष कुकर्ममें प्रवृत्त और नीच कार्य करनेमें अभिलाषी होता है। वह स्वयं जन समाजमें निन्दनीय होकर भी सदा दूसरेकी निन्दा करता है और अपनेको सबके समीप वञ्चित समझता

दत्तानुकीर्तिर्विषमः क्षुद्रो नैकृतिकः शठः ।
असंविभागी मानी च तथा सङ्गी विकत्थनः ॥ ५ ॥
सर्वातिशङ्की पुरुषो बलीशः कृपणोऽथ वा ।
वर्गप्रशंसी सततमाश्रमद्वेषसंकरी ॥ ६ ॥
हिंसाविहारः सततमविशेषगुणागुणः ।
बह्वलीको मनस्वी च लुब्धोऽत्यर्थं नृशंसकृत् ॥ ७ ॥
धर्मशीलं गुणोपेतं पापमित्यवगच्छति ।
आत्मशीलप्रमाणेन न विश्वसिति कस्य चित् ॥ ८ ॥
परेषां यत्र दोषः स्यात्तद्गुह्यं संप्रकाशयेत् ।
समानेष्वेव दोषेषु वृत्त्यर्थमुपघातयेत् ॥ ९ ॥
तथोपकारिणं चैव मन्यते वञ्चितं परम् ।
दत्त्वापि च धनं काले संतपत्युपकारिणे ॥ १० ॥
भक्ष्यं पेयमथालेह्यं यच्चान्यत्साधु भोजनम् ।
प्रेक्षमाणेषु योऽश्नीयान्नृशंसमिति तं वदेत् ॥ ११ ॥
ब्राह्मणेभ्यः प्रदायाग्रं यः सुहृद्भिः सहाश्नुते ।

है; उसके समान छोटा और नीचबुद्धि दूसरा कोई भी नहीं है । (१—५)

वह अभिमान, असत्सङ्ग और अपनी बड़ाईमें रत होकर निज वदान्यता प्रकाशित करता है; कृपण और मूर्खकी भांति सबकी ही शङ्का किया करता है; निज सम्प्रदायकी प्रशंसा और आश्रमवासी ऋषियोंके विषयमें द्वेष करता है; सदा दूसरेकी हिंसामें प्रवृत्त होकर दोष गुणका विचार नहीं करता; बहुतसी न कहने योग्य बात कहता है, अशान्त चित्त और लोभी होकर निठुर कार्य किया करता है; धर्म करनेवाले गुणवान् मनुष्योंको पापी कहके निश्चय करता है, अपने चरित्रके प्रमाण अनुसार दूसरेका विश्वास नहीं करता, दूसरेका दोष देखनेसे ही उसे गुप्त रीतिसे प्रकाश करता है; दूसरेका दोष निज दोषके समान होनेपर जीविका निर्वाहके लिये उसे छिपा रखता है; उपकारी पुरुषको केवल वञ्चित समझता है; समयके अनुसार उपकारीको धनदान करके फिर दुःख किया करता है । प्राप्त हुए भक्ष्य भोज्य और पेय वस्तुओंको दूसरेके देखते रहते भी जो पुरुष अकेला भोजन करता है, उसे भी नृशंस कहते हैं । (५—११)

जो लोग पहिले ब्राह्मणोंको भोज-

स प्रेत्य लभते स्वर्गमिह चानन्त्यमश्नुते ॥ १२ ॥
एष ते भरतश्रेष्ठ नृशंसः परिकीर्त्तितः ।
सदा विवर्जनीयो हि पुरुषेण विजानता ॥ १३ ॥ [५९७६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि
नृशंसाख्याने चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६४ ॥

भीष्म उवाच— हृतार्थो यक्ष्यमाणश्च सर्ववेदान्तगश्च यः ।
आचार्यपितृकार्यार्थं स्वाध्यायार्थमथाऽपि च ॥ १ ॥
एते वै साधवो दृष्टा ब्राह्मणा धर्मभिक्षवः ।
निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्या च भारत ॥ २ ॥
अन्यत्र दक्षिणादानं देयं भरतसत्तम ।
अन्येभ्योऽपि बहिर्वेदि चाकृतान्नं विधीयते ॥ ३ ॥
सर्वरत्नानि राजा हि यथार्हं प्रतिपादयेत् ।
ब्राह्मणा एव वेदाश्च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ॥ ४ ॥
अन्योऽन्यं विभवाचारा यजन्ते गुणतः सदा ।
यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ॥
अधिकं चापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥ ५ ॥
यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादंशेनैकेन यज्वनः ।

नकी वस्तुओंको दान करके सुहृदोंके सङ्ग उसे भोजन करते हैं, वे इस लोकमें अनन्त सुख भोग करते हुए अन्त कालमें स्वर्ग लाभ करते हैं। हे धर्मराज ! यही तुम्हारे निकट नृशंसका विषय वर्णन किया। विज्ञानयुक्त मनुष्योंको सदा नृशंसका सङ्ग परित्याग करना उचित है। (१२–१४)

शान्तिपर्वमें १६४ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें १६५ अध्याय ।

भीष्म बोले, हे भारत ! सब वेदोंके जाननेवाले यज्ञशील धर्मात्मा साधु ब्राह्मणोंके दरिद्र होने पर आचार्य कार्य, पितर कर्म और पढनेके लिये उन लोगोंको अर्थदान करना अवश्य उचित है। राजा सामर्थ्यके अनुसार ब्राह्मणोंको सब रत्न दान करे, ब्राह्मण लोग ही वेद और अनेक दक्षिणायुक्त यज्ञ स्वरूप हैं। वे लोग इच्छा पूर्वक गुण तथा गौरवके अनुसार धनसे सिद्ध होनेवाले यज्ञोंको पूरा किया करते हैं। जिसके आश्रितोंके पालन करनेके निमित्त त्रिवर्षिक और उससे भी अधिक अन्न उपस्थित रहता है, वे सोमपान करनेमें समर्थ

ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि ॥ ६ ॥
यो वैश्यः स्याद्बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः ।
कुटुम्बात्तस्य तद्वित्तं यज्ञार्थं पार्थिवो हरेत् ॥ ७ ॥
आहरेद्धनो किंचित्कामं शूद्रस्य वेश्मनः ।
न हि यज्ञेषु शूद्रस्य किंचिदस्ति परिग्रहः ॥ ८ ॥
योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।
तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ ९ ॥
अदातृभ्यो हरेद्वित्तं विख्याप्य नृपतिः सदा ।
तथैवाचरतो धर्मो नृपतेः स्यादथाखिलः ॥ १० ॥
तथैव शृणु मे भक्तं भक्तानि षडनश्नतः ।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ ११ ॥
खलात्क्षेत्रात्तथाऽऽरामाद्यतो वाप्युपपद्यते ।
आख्यातव्यं नृपस्यैतत्पृच्छतेऽपृच्छतेऽपि वा ॥ १२ ॥
न तस्मै धारयेद्दण्डं राजा धर्मेण धर्मवित् ।
क्षत्रियस्य तु बालिश्याद्ब्राह्मणः क्लिश्यते क्षुधा ॥ १३ ॥
श्रुतशीले समाज्ञाय वृत्तिमस्य प्रकल्पयेत् ।

होते हैं, धर्मात्मा राजा वर्त्तवान समयमें यज्ञ करनेवाले विशेष करके ब्राह्मणोंका यज्ञ यदि एक अंशके जरिये रुक जाय, तो राजा यज्ञ और सोमरस पान न करनेवाले अनेक पशुसमूहसे युक्त वैश्यका धन ग्रहण करके यज्ञके निमित्त ब्राह्मणको दान करे। (१-७)

राजा इच्छानुसार शूद्रके घरसे धन ग्रहण करे, क्यों कि शूद्रको यज्ञ कर्मका कुछ अधिकार नहीं है। जो एक सौ गऊवाले होकर अग्निमें आहुति नहीं देते और जो सहस्र गऊसे युक्त होके भी यज्ञ नहीं करते, राजा कुछ भी विचार न करके यज्ञके लिये उनका धन हरण करे; राजा प्रकाश्य रीतिसे सदा कृपणोंके धनको हरण करे; जो राजा ऐसा आचरण करता है, उसे बहुत धर्म होता है। जिस ब्राह्मणने अन्नके अभावसे तीन दिन तक उपवास किया है, वह कर्महीन पुरुष उलूखल, क्षेत्र, बगीचे अथवा जिस स्थानसे मिल सके, वहांसे एक दिनके योग्य अन्न हरण करके राजाके न पूछने पर भी उसके समीप प्रकाशित करे, धर्म जाननेवाला राजा धर्मके अनुसार उसके विषयमें दण्ड धारण न करे, क्षत्रियोंकी

अथैनं परिरक्षेत पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १४ ॥
इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये ।
अनुकल्पः परो धर्मो धर्मवादैस्तु केवलम् ॥ १५ ॥
विश्वैर्देवैश्च साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधिः प्रतिनिधिः कृतः ॥ १६ ॥
प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते ।
न सांपरायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ १७ ॥
न ब्राह्मणो निवेदेत किंचिद्राजनि वेदवित् ।
स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम् ॥ १८ ॥
तस्माद्राज्ञः सदा तेजो दुःसहं ब्रह्मवादिनाम् ।
कर्ता शास्ता विधाता च ब्राह्मणो देव उच्यते ॥ १९ ॥
तस्मिन्नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कामीरयेद्गिरम् ।
क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः ॥ २० ॥
धनैर्वैश्यश्च शूद्रश्च मन्त्रैर्होमैश्च वै द्विजः ।
नैव कन्या न युवतिर्नामन्त्रज्ञो न बालिशः ॥ २१ ॥
परिवेष्टाऽग्निहोत्रस्य भवेन्नासंस्कृतस्तथा ।

असावधानीसे ब्राह्मण क्षुधासे क्लेशित होते हैं, राजा ब्राह्मणोंकी विद्या और चरित्रको जानके उनकी वृत्तिका विधान करे। (८-१४)

जैसे पिता और स्वपुत्रोंको प्रतिपालन करता है, राजा वैसे ही ब्राह्मणोंकी सब तरहसे रक्षा करे; सम्वत्के अन्तमें वैश्वानर यज्ञ करे। धर्म जाननेवाले पुरुषोंने अनुकल्पको परधर्म कहा है और विश्वदेव, साध्य, महर्षि तथा ब्राह्मणोंने आपदकालमें मरनेसे डरके अनुकल्पको मुख्य धर्मका प्रतिनिधि स्वरूप निश्चित किया है। जो पुरुष मुख्य कल्पको करनेमें समर्थ होकर अनुकल्पका अनुवर्ती होता है, उसे पारलौकिक फल नहीं मिलता। वेद जाननेवाला ब्राह्मण राजाके निकट किसी विषयका निवेदन न करे; ब्रह्म-बल और राजबल इन दोनोंके बीच ब्राह्मणका बल ही प्रबल है; इसलिये ब्रह्मवादियोंका बल राजाके विषयमें सदा दुःसह हुआ करता है। ब्राह्मण कर्त्ता, शास्ता, धाता और देवता .... कहे जाते हैं; ब्राह्मणोंके निकट .. और अमांगलिक वचन न कहे। क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य, शूद्र बहुतसे धनके

नरकं निपतंत्येते जुह्वानाः स च यस्य तत् ॥
तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः ॥ २२ ॥
प्राजापत्यमदत्त्वाश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम् ।
अनाहिताग्निरिति स प्रोच्यते धर्मदर्शिभिः ॥ २३ ॥
पुण्यानि यानि कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
अनाप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्न यजेत कथंचन । ॥ २४ ॥
प्रजाः पशूंश्च स्वर्गं च हन्ति यज्ञो ह्यदक्षिणः ।
इन्द्रियाणि यशः कीर्तिमायुश्चाप्यवकृन्तति ॥ २५ ॥
उदक्याश्वासते ये च द्विजाः केचिदनग्नयः ।
होमं चाश्रोत्रियं येषां ते सर्वे पापकर्मिणः ॥ २६ ॥
उदपानोदके ग्रामे ब्राह्मणो वृषलीपतिः ।
उषित्वा द्वादशसमाः शूद्रकर्मैव गच्छति ॥ २७ ॥
अभार्यां शयने बिभ्रच्छूद्रं वृद्धं च वै द्विजः ।
अब्राह्मणं मन्यमानस्तृणेष्वासीत पृष्ठतः ॥

जरिये और ब्राह्मण मन्त्र तथा होमके सहारे आपदोंसे पार होते हैं। कन्या, स्त्री, मन्त्रज्ञानसे हीन, मूर्ख और यज्ञोपवीत रहित पुरुष अग्निहोत्रमें आहुति न देवें, ये लोग जिसके होमकी अग्निमें आहुति देते हैं; उसके सहित अपनेको नरकमें डालते हैं; इसलिये वेद जाननेवाले याज्ञिक पुरुषको होता होना उचित है। (१४-२२)

जो यज्ञकी अग्नि स्थापित करके प्राजापत्य दक्षिणा दान नहीं करते, धर्मदर्शी पुरुष उन्हें आहिताग्नि नहीं कहते; श्रद्धावान् जितेन्द्रिय होकर समस्त पुण्यकर्म करे, कभी दक्षिणा-रहित यज्ञ न करे। जो यज्ञ करके दक्षिणा नहीं देते, उनकी प्रजा, पशु, स्वर्ग, यश, कीर्ति, आयु और समस्त इन्द्रियां नष्ट होती हैं। जो ब्राह्मण रजस्वला स्त्रीसे सङ्ग करते, जो आहिताग्नि नहीं हैं और जिसके वंशमें वेदज्ञानसे रहित पुरुष जन्म लेते हैं, वे सब ही शूद्रके समान हैं; ब्राह्मण शूद्रकी कन्याका पाणिग्रहण करके जिस स्थानमें केवल कूएका जल ही उपजीव्य है, वहां बारह वर्ष वास करनेसे शूद्रत्वको प्राप्त होता है। हे राजन्! ब्राह्मण यदि अपरिणीता स्त्री और शूद्रको माननीय समझके अपनी शय्यापर शयन करने दे, तो वह अपनेको अब्राह्मण समझके उसके पीछे तृणशय्या पर शयन करे, तब शुद्ध

तथा संशुध्यते राजन् शृणु चात्र वचो मम ॥ २८ ॥
यदेकरात्रेण करोति पापं निकृष्टवर्णं ब्राह्मणः सेवमानः।
स्थानासनाभ्यां विहरन् व्रती स त्रिभिर्वर्षैः शमयेदात्मपापम् ॥२९॥
न नर्मयुक्तमनृतं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
न गुर्वर्थे नात्मनो जीवितार्थे पंचानृतान्याहुरपातकानि ॥ ३० ॥
श्रद्दधानः शुभां विद्यां हीनादपि समाप्नुयात्।
सुवर्णमपि चामेध्यादाददीताविचारयन् ॥ ३१ ॥
स्त्रीरत्नं दुष्कुलाच्चापि विषादप्यमृतं पिबेत्।
अदूष्या हि स्त्रियो रत्नमाप इत्येव धर्मतः ॥ ३२ ॥
गोब्राह्मणहितार्थं च वर्णानां संकरेषु च।
वैश्यो गृह्णीत शस्त्राणि परित्राणार्थमात्मनः ॥ ३३ ॥
सुरापानं ब्रह्महत्या गुरुतल्पमथापि वा।
अनिर्देश्यानि मन्यन्ते प्राणान्तमिति धारणा ॥ ३४ ॥
सुवर्णहरणं स्तैन्यं विप्रस्वं चेति पातकम्।
विहरन्मद्यपानाच्च अगम्यागमनादपि ॥ ३५ ॥

होगा; इस विषयमें मैं जो कहता हूं, उसे सुनो। (२३—२८)

जो ब्राह्मण नीच वर्णकी सेवा करके एक स्थान और एक आसनपर एक रात्रिके बीच उसके सङ्ग विहार करके पापग्रस्त होता है, वह व्रतनिष्ठ होकर तीन वर्षमें उस पापको नष्ट करनेमें समर्थ हुआ करता है। हे धर्मराज! परिहासके समय, स्त्रीके निकट, विवाह-कालमें; गुरुके लिये और निज जीवन-की रक्षाके निमित्त मिथ्या वचन कहने से दोष नहीं होता; पण्डित लोग इस पांच प्रकारके झूठ व्यवहारको पाप नहीं कहते। श्रद्धावान् पुरुष नीच जातिसे भी उत्तम विद्या सीखे, अपवित्र जगहसेभी कुछ विचार न करके सुवर्ण ग्रहण करे नीचकुलसे भी उत्तम स्त्री ग्रहण करे, और विषसे अमृत लेके पीवे; क्यों कि स्त्री रत्न और जल धर्मपूर्वक दूषित नहीं होते। वैश्यजाति वर्णसङ्क रोंको निवारण करने और गऊ ब्राह्मण-के हित तथा अपने परित्राणके लिये शस्त्र ग्रहण करे। (२९—३३)

जानके ब्रह्महत्या सुरापान, गुरुस्त्री गमन, सुवर्ण चुराना और ब्राह्मणस्व हरण करना, ये पांचो महापातक हैं; प्राणनाश ही इसका प्रायश्चित्त निश्चित है। सुरापान और अगम्य गमनके का-

पतितैः संप्रयोगाच्च ब्राह्मणीयोनितस्तथा ।
अचिरेण महाराज पतितो वै भवत्युत ॥ ३६ ॥
संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ।
याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥ ३७ ॥
एतानि हित्वाऽतोऽन्यानि निर्देश्यानीति भारत ।
निर्देश्यानेन विधिना कालेनाव्यसनी भवेत् ॥ ३८ ॥
अन्नं वीर्यं गृहीतव्यं प्रेतकर्मण्यपातिते ।
त्रिषु त्वेतेषु पूर्वेषु न कुर्वीत विचारणम् ॥ ३९ ॥
अमात्यान्वा गुरून्वापि जह्याद्धर्मेण धार्मिकः ।
प्रायश्चित्तानि कुर्याच्च न तैरर्हन्ति संविदम् ॥ ४० ॥
अधर्मकारी धर्मेण तपसा हन्ति किल्बिषम् ।
ब्रुवंस्तेन इति स्तेनं तावत्प्राप्नोति किल्बिषम् ॥ ४१ ॥
अस्तेनं स्तेन इत्युक्त्वा द्विगुणं पापमाप्नुयात् ।
त्रिभागं ब्रह्महत्यायाः कन्या प्राप्नोति दुष्यती ॥ ४२ ॥

रण जो पुरुष पतित होता है, उसके सङ्ग सहवास करने और अब्राह्मण होके ब्राह्मणी गमन करनेसे पुरुष शीघ्र ही पतित होता है। मनुष्य याजन, अध्यापन और योनिसम्बन्धके कारण पतित हुए पुरुषके सङ्ग व्यवहार करनेसे सम्वत्सरके बीच पतित हुआ करते हैं; एकत्र गमन करने, एक आसन पर बैठने और एकत्र भोजन करनेसे पतित नहीं होते। हे धर्मराज! ब्रह्महत्या आदि पञ्च महापातक का प्रायश्चित्त नहीं कहा है, प्राणत्याग ही उसका प्रायश्चित्त है; इससे अतिरिक्त दूसरे पापोंके जो प्रायश्चित्त हैं, उससे पाप नष्ट करके अन्तमें पुरुष फिर उसमें प्रवृत्त न होवे, सुरापीनेवाले, ब्रह्महत्यारे और विमाताके सङ्ग गमन करनेवाले पुरुषोंके मरने पर उनके दाहकर्म तथा प्रेतकार्य करनेकी आवश्यकता नहीं है; सपिण्ड लोग इस विषयमें विचार न करके उसका अशौच ग्रहण न करके अन्न और सुवर्ण ग्रहण करें। (३४--३९)

अमात्य और महत् पुरुषके पतित होने पर जबतक वह प्रायश्चित्त न करे, तबतक धार्मिक पुरुष धर्मके अनुसार उसे त्याग दे और उसके सङ्ग बात न करे। पाप करनेवाला पुरुष तपस्या और धर्माचरण से पापको नष्ट करता है। तिसको चोर कहनेसे उसके समान पाप होता है, और जो पुरुष तस्कर नहीं है, उसे

यस्तु दूषयिता तस्याः शेषं प्राप्नोति पाप्मनः।
ब्राह्मणानवगर्य्येह स्पृष्ट्वा गुरुतरं भवेत् ॥ ४३ ॥
वर्षाणां हि शतं तावत्प्रतिष्ठां नाधिगच्छति।
सहस्रं चैव वर्षाणां निपत्य नरकं वसेत् ॥ ४४ ॥
तस्मान्नैवावगर्य्येत नैव जातु निपातयेत्।
शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णीयाद् द्विजक्षतात् ॥४५ ॥
तावतीः स समा राजन् नरके प्रतिपद्यते।
भ्रूणहाऽऽहवमध्ये तु शुध्यते शस्त्रपाततः ॥ ४६ ॥
आत्मानं जुहुयादग्नौ समिद्धे तेन शुद्ध्यते।
सुरापो वारुणीमुष्णां पीत्वा पापाद्विमुच्यते ॥ ४७ ॥
तया स काये निर्दग्धे मृत्युं वा प्राप्य शुद्ध्यति।
लोकांश्च लभते विप्रो नान्यथा लभते हि सः ॥ ४८ ॥
गुरुतल्पमधिष्ठाय दुरात्मा पापचेतनः।

तस्कर कहनेसे उसके पापसे दूना पाप कहनेवालेको लगता है। कुमारी यदि व्यभिचारसे दूषित हो, तो वह ब्रह्म-हत्या पापके तीन भागका एक भाग भोग करती है और जो पुरुष उसे दूषित करता है, वह बाकी दो भाग ग्रहण करता है। ब्राह्मणको मारनेके लिये उद्योग अथवा प्रहार करनेसे एक सौ वर्ष पर्यन्त प्रतिष्ठा नहीं मिलती। हत्या करनेसे सहस्र वर्ष पर्यन्त नरकमें वास करना पड़ता है; इसलिये कभी ब्राह्मणके ऊपर प्रहार करने वा मारनेके वास्ते तैयार न होवे। (४०—४५)

ब्राह्मणके ऊपर प्रहार करनेसे उसके शरीरसे निकला हुआ रुधिर जितनी धूलिको गोली करता है, मारनेवाला पुरुष उतने ही वर्ष पर्यन्त नरकमें वास किया करता है। भ्रूणहत्या करनेवाला पुरुष गऊ ब्राह्मणकी रक्षाके वास्ते युद्धमें शस्त्रसे मरकर शुद्ध होता अथवा जलती हुई अग्निमें अपने शरीरको आहुति देनेसे शुद्ध हो सकता है। सुरा पीनेवाला जलते हुए उष्ण वारुणी मद्य पीनेसे पापसे मुक्त होता अर्थात् उष्ण मद्य पीनेसे उसका शरीर जलनेपर वह मृत्युके कारण परलोकमें गमन करके पवित्र होता है। ब्राह्मण लोग सुरापान करके ऐसा आचरण करनेसे शुभ लोकमें गमन करते है; इसमें अन्यथा करनेसे असत् गतिको प्राप्त होते हैं। (४५-४८)

पापबुद्धि दुष्टात्मा पुरुष गुरुपत्नी साथ गमन करनेसे जलती हुई लोहमयी

स्त्र्याकारां प्रतिमां लिङ्ग्य मृत्युना सोऽभिशुद्ध्यति॥४९॥
अथवा शिश्नवृषणावादायाञ्जलिना स्वयम् ॥ ५० ॥
नैर्ऋतीं दिशमास्थाय निपतेत्सत्त्वजिह्मगः ।
ब्राह्मणार्थेऽपि वा प्राणान् संत्यजेत्तेन शुद्ध्यति॥ ५१॥
अश्वमेधेन वाऽपीष्ट्वा अथवा गोसवेन वा ।
अग्निष्टोमेन वा सम्यगिह प्रेत्य च पूज्यते ॥ ५२ ॥
तथैव द्वादश समाः कपाली ब्रह्महा भवेत् ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यं स्वकर्म ख्यापयन्मुनिः ॥ ५३ ॥
एवं वा तपसा युक्तो ब्रह्महा सवनी भवेत् ।
एवं तु समभिज्ञातामात्रेयीं वा निपातयेत् ॥ ५४ ॥
द्विगुणा ब्रह्महत्या वै आत्रेयीनिधने भवेत् ।
सुरापो नियताहारो ब्रह्मचारी क्षितीशयः ॥ ५५ ॥
ऊर्ध्वं त्रिभ्योऽपि वर्षेभ्यो यजेताग्निष्टुतापरम् ।
ऋषभैकसहस्रं वा गा दत्वा शौचमाप्नुयात् ॥ ५६ ॥
वैश्यं हत्वा तु वर्षे द्वे ऋषभैकशतं च गाः ।
शूद्रं हत्वाऽब्दमेवैकमृषभं च शतं च गाः ॥ ५७ ॥

स्त्रीकी मूर्त्तिको आलिङ्गन करके प्राणत्यागनेसे शुद्ध होता है । अथवा स्वयं शिश्न और कोश काटकर अञ्जलीमें लेकर नैऋती दिशामें गमन करके निपातित होवे; अथवा ब्राह्मणके निमित्त प्राण परित्याग करनेसे शुद्ध होगा । अथवा अश्वमेध, गोमेध वा अग्निष्टोम यज्ञ करके इस लोक और परलोकमें सत्कृत हो सकेगा । ब्रह्महत्या करनेवाला पुरुष मरे हुए ब्राह्मणका कपाल धारण करके बारह वर्ष तक निरन्तर निज कार्यको प्रकाश करते हुए व्रतचारी और मननशील होवे । ब्रह्महत्या करनेवाले पुरुषको इसी प्रकार मननशील और तपमें निष्ठावान होना उचित है । जो पुरुष ऋतुमती स्त्रीको ऋतुमती जानके बध करता है, उसे ब्रह्महत्यासे दुगुना पाप होता है । सुरापीनेवाला ब्राह्मण निराहार ब्रह्मचारी होकर पृथ्वीपर शयन करते हुए तीन वर्षतक केवल अग्निष्टोम यज्ञ करे; शेषमें एक बैलके सहित एक सहस्र गऊ दान करके शुद्ध होगा । (४९-५६)

वैश्यका बध करनेसे दो वर्षतक अग्निष्टोम यज्ञ करके एक बैलके सङ्ग एक सौ गऊ दान करे । शूद्रको मारने-

श्वखराहखरान् हत्वा शौद्रमेव व्रतं चरेत् ।
मार्जारचाषमण्डूकान् काकं व्यालं च मूषिकम् ॥ ५८॥
उक्तः पशुसमो दोषो राजन्प्राणिनिपातनात् ।
प्रायश्चित्तान्यथाऽन्यानि प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ५९ ॥
अल्पे वाप्यथ शोचेत पृथक् संवत्सरं चरेत् ।
त्रीणि श्रोत्रियभार्यायां परदारे च द्वे स्मृते ॥ ६० ॥
काले चतुर्थे भुञ्जानो ब्रह्मचारी व्रती भवेत् ।
स्थानासनाभ्यां विहरेत्त्रिरह्नाभ्युपयन्नपः ।
एवमेवनिराकर्ता यश्चाग्नीनपविध्यति ॥ ६१ ॥
त्यजत्यकारणे यश्च पितरं मातरं गुरुम् ।
पतितः स्यात्स कौरव्य यथा धर्मेषु निश्चयः ॥ ६२ ॥
ग्रासाच्छादनमात्रं तु दद्यादिति निदर्शनम् ।
भार्यायां व्यभिचारिण्यां निरुद्धायां विशेषतः ।
यत्पुंसः परदारेषु तदेनां चारयेद् व्रतम् ॥ ६३ ॥

से एक वर्ष तक अग्निष्टोम यज्ञ करके एक बैल और एक सौ गऊ दान करे। कुत्ता, सूअर और गधेको मारनेसे शूद्रके व्रतका आचरण करे। हे राजन्! बिडाल, चूहा, मेढक, कौवा, स्वर्ण-चातक और सांप आदि जीवोंकी हिंसा करनेसे पशु हत्याका पाप हुआ करता है। इस समय दूसरे सब प्रायश्चित्तोंकी कथा क्रमके अनुसार कहता हूं। बिना जाने कीट आदिका वध करनेसे शोक रूपी प्रायश्चित्त करके शुद्ध होगा; गऊ वधके अतिरिक्त दूसरे पृथक् पृथक् उपपातकोंका प्रायश्चित्त सम्वत भरमें ही करे। वेदजाननेवाले ब्राह्मणकी भार्यासे गमन करने पर तीन वर्ष, और परस्त्री मात्रके सङ्ग गमन करनेसे दो वर्ष तक दिनके चौथे भागमें भोजन करके ब्रह्मचारी और व्रतमें निष्ठावान होवे। परस्त्रीके साथ एक स्थान और एक आसन पर बैठनेसे तीन दिन केवल जल पीके समय बितावे। (५७-६१)

हे कुरुनन्दन! जो पुरुष बिना कारणके ही पिता, माता और गुरुको परित्याग करता है, वह जिस प्रकार धर्म-निर्णयके अनुसार पतित होता है, उसी तरह जो पुरुष अग्निहोत्र नष्ट करता है, वह भी पतित हुआ करता है। भार्याके व्यभिचारिणी होनेपर उसे विशेष रीतिसे अवरुद्ध करके भोजन और वस्त्र मात्र देवे; परस्त्री-गमन करनेसे पुरुषके लिये

श्रेयांसं शयनं हित्वा याऽन्यं पापं निगच्छति ।
श्वभिस्तामर्दयेद्राजा संस्थाने बहुविस्तरे ॥ ६४ ॥
पुमांसमुन्नयेत्प्राज्ञः शयने तप्त आयसे ।
अप्यादधीत दारूणि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ६५ ॥
एष दण्डो महाराज स्त्रीणां भर्तृव्यतिक्रमात् ।
संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो भवेत् ॥ ६६ ॥
द्वे तस्य त्रीणि वर्षाणि चत्वारि सहसेविनि ।
कुचरः पञ्च वर्षाणि चरेद्भैक्ष्यं मुनिव्रतः ॥ ६७ ॥
परिवित्तिः परिवेत्ता या चैव परिविद्यते ।
पाणिग्राहस्त्वधर्मेण सर्वे ते पतिताः स्मृताः ॥ ६८ ॥
चरेयुः सर्व एवैते वीरहा यद् व्रतं चरेत् ।
चान्द्रायणं चरेन्मासं कृच्छ्रं वा पापशुद्धये ॥ ६९ ॥
परिवेत्ता प्रयच्छेत तां स्नुषां परिवित्तये ।
ज्येष्ठेन त्वभ्यनुज्ञातो यवीयानप्यनन्तरम् ।

जैसा प्रायश्चित्त है, उसे भी उसी व्रतका आचरण करावे, जो स्त्री अपने पतिको त्यागके दूसरे पुरुषका आसरा करके पापाचार करती है; राजा उसे अनेक लोगोंसे परिपूरित स्थानमें कुत्तोंसे भक्षण करावे । इसी तरह पुरुषको भी व्यभिचार करने पर उसे जलती हुई लोहमय शय्यापर सुलावे और उसमें काठका ढेर लगानेसे पाप करनेवाला मनुष्य भस्म होगा । (६२-६५)

महाराज ! स्त्रियोंको पतिके विषयमें व्यतिक्रम करनेसे उन्हें भी इसी तरह दण्ड देना योग्य है । जो दुष्टात्मा पापकर्म करके सम्वतके बीच प्रायश्चित नहीं करता, उसे दूना प्रायश्चित करना पडता है । प्रायश्चित न करनेवाले पुरुष के सङ्ग जो मनुष्य दो, तीन, चार अथवा पांच वर्षतक वास करता है, वह मुनिव्रत अवलम्बन करके भिक्षा मांगके जीवन व्यतीत करे । जेठे भाईके क्वारा रहते छोटा भाई यदि विवाह करे, तो उसे परिवेत्ता कहते हैं, वह उसके जेठ और जिसके उद्योगसे विवाह होता है, वे सभी अधर्मके कारण पतित हुआ करते हैं । वीरघाती पुरुष जिस व्रतका अनुष्ठान करता है, वह भी पापशुद्धिके लिये एक महीने तक उसही कृच्छ्र वा चान्द्रायण व्रतका आचरण करे; अन्तमें परिवेत्ता जेठे भाईको वह विवाहिता भार्या प्रदान करे, अनन्तर छोटा भाई

एवं च मोक्षमाप्नोति तौ च सा चैव धर्मतः ॥ ७० ॥
अमानुषीषु गोवर्ज्यमनावृष्टिर्न दुष्यति ।
अधिष्ठात्रवमं तारं पशूनां पुरुषं विदुः ॥ ७१ ॥
परिधायोर्ध्ववालं तु पात्रमादाय मृन्मयम् ।
चरेत्सप्त गृहाञ्जित्यं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ ७२ ॥
तत्रैव लब्धभोजी स्याद् द्वादशाहात्स शुद्ध्यति ।
चरेत्संवत्सरं चापि तद् व्रतं येन कृन्तति ॥ ७३ ॥
भवेत्तु मानुषेष्वेवं प्रायश्चित्तमनुत्तमम् ।
दानं वा दानशक्तेषु सर्वमेतत्प्रकल्पयेत् ॥ ७४ ॥
अनास्तिकेषु गोमात्रं दानमेकं प्रचक्षते ।
श्ववराहमनुष्याणां कुक्कुटस्य खरस्य च ॥ ७५ ॥
मांसं मूत्रं पुरीषं च प्राश्य संस्कारमर्हति ।
ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गंधमादाय सोमपः ॥ ७६ ॥
अपस्त्र्यहं पिबेदुष्णं त्र्यहमुष्णं पयः पिबेत् ।

बडेकी अनुमतिसे फिर उसे ग्रहण करे, तब वह दोनों भाइयोंसे परिणीता स्त्री धर्मके अनुसार शुद्ध होती है। (६६-७०)

गऊको छोडके दूसरे पशुओंकी हिंसा दोषयुक्त नहीं होती; पण्डित लोग जानते हैं, कि पशुओंके ऊपर प्रतिपालक पुरुषोंकी सब तरहकी प्रभुता है। पापी पुरुष गायके चवरंको धारण करके निज कर्मको कहते हुए मट्टीका पात्र लेकर सवेरे सात घरमें भिक्षाके वास्ते भ्रमण करें और उससे जो प्राप्त हो, वही भोजन करें; बारह दिनतक इसी तरह व्रत करनेसे उसके अनन्तर शुद्ध होंगे। पाप शान्ति न होनेपर सम्वत्सरभर ऐसाही व्रत करे; तो पाप नष्ट हो सकेगा। (७१-७३)

मनुष्योंके बीच इसी तरहका प्रायश्चित्त ही उत्तम है। दान करनेमें समर्थ पुरुषोंके विषयमें इन्हीं सब दानोंका विधान करे, जो लोग नास्तिक नहीं है, उनके निमित्त केवल एक गऊका दान पण्डितोंके जरिये कहा गया है। ब्राह्मण यदि कुत्ता, सूअर, कुक्कुट और गधेका मांस, मूत्र अथवा पुरीष भोजन करे, तो फिरसे उसका संस्कार करना होगा, सोमपान करनेवाला ब्राह्मण यदि सुरा पीनेवालेका गन्ध सूंघे, तो पहिले तीन दिन तक केवल गर्म जल पीवे, फिर तीन दिन गर्म दूध पीवे; तिसके अनन्तर तीन दिन उष्ण जल पीकर

त्र्यहमुष्णं पयः पीत्वा वायुभक्षो भवेत्त्र्यहम् ॥ ७७ ॥
एवमेतत्समुद्दिष्टं प्रायश्चित्तं सनातनम् ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण यदज्ञानेन संभवेत् ॥ ७८ ॥ [६०५४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि प्रायश्चित्तीये पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥

वैशम्पायन उवाच-कथान्तरमथासाद्य खड्गयुद्धविशारदः ।
नकुलः शरतल्पस्थमिदमाह पितामहम् ॥ १ ॥
नकुल उवाच— धनुः प्रहरणं श्रेष्ठमतीवाऽत्र पितामह ।
मतस्तु मम धर्मज्ञ खड्ग एव सुसंशितः ॥ २ ॥
विशीर्णे कार्मुके राजन् प्रक्षीणेषु च वाजिषु ।
खड्गेन शक्यते युद्धे साध्वात्मा परिरक्षितुम् ॥ ३ ॥
शरासनधरांश्चैव गदाशक्तिधरांस्तदा ।
एकः खड्गधरो वीरः समर्थः प्रतिबाधितुम् ॥ ४ ॥
अत्र मे संशयश्चैव कौतूहलमतीव च ।
किं स्वित्प्रहरणं श्रेष्ठं सर्वयुद्धेषु पार्थिव ॥ ५ ॥
कथं चोत्पादितः खड्गः कस्मै चार्थाय केन च ।

तीन दिन वायु भक्षण करे, सब वर्णोंके विशेष करके विना जाने ब्राह्मणोंके किये हुए पापोंका इसी प्रकार सनातन प्रायश्चित कहा गया है (७४-७८)

शान्तिपर्वमें १६५ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १६६ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तलवार युद्धके जाननेवाले नकुलने कथाकी समाप्ति देखकर शरशय्याशायी पितामह भीष्मदेवसे यह बात कही। नकुल बोले, हे धर्म जाननेवाले पितामह! सब शस्त्रोंके बीच धनुष अत्यन्त उत्तम है; पर मेरे मतमें तलवार ही प्रशंसनीय है; क्यों कि धनुष कटने और घोडोंके नष्ट होने पर केवल तलवारसे आत्माकी भलीभांति रक्षा करी जा सकती है, अकेला तलवार ग्रहण करनेवाला वीर पुरुष, धनुषधारी और गदाशक्तिसे प्रहार करनेवाले शत्रुओंको निवारण करनेमें समर्थ होता है। हे पितामह! इससे मुझे इस विषयमें बहुत ही संशय और कौतुहल उत्पन्न हुआ है; युद्धमात्रमें कौन शस्त्र उत्तम है ? किस कारण किस जरिये किस तरह खड्ग उत्पन्न हुआ था और पहिले कौन खड्गविद्याका

पूर्वाचार्यं च खड्गस्य प्रब्रूहि प्रपितामह ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच-तस्य तद्वचनं श्रुत्वा माद्रीपुत्रस्य धीमतः ।
स तु कौशलसंयुक्तं सूक्ष्मचित्रार्थसंमतम् ॥ ७ ॥
ततस्तस्योत्तरं वाक्यं स्वरवर्णोपपादितम् ।
शिक्षया चोपपन्नाय द्रोणशिष्याय भारत ॥ ८ ॥
उवाच स तु धर्मज्ञो धनुर्वेदस्य पारगः ।
शरतल्पगतो भीष्मो नकुलाय महात्मने ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच— तत्त्वं शृणुष्व माद्रेय यदेतत्परिपृच्छसि ।
प्रबोधितोऽस्मि भवता धातुमानिव पर्वतः ॥ १० ॥
सलिलैकार्णवं तात पुरा सर्वमभूदिदम् ।
निष्प्रकम्पमनाकाशमनिर्देश्यमहीतलम् ॥ ११ ॥
तमसाऽऽवृतमस्पर्शमतिगम्भीरदर्शनम् ।
निःशब्दं चाप्रमेयं च तत्र जज्ञे पितामहः ॥ १२ ॥
सोऽसृजद्वातमग्निं च भास्करं चापि वीर्यवान् ।
आकाशमसृजच्चोर्ध्वमधो भूमिं च नैर्ऋतिम् ॥ १३ ॥
नभः सचन्द्रतारं च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा ।
संवत्सरानृतून्मासान्पक्षानथ लवान् क्षणान् ॥ १४ ॥

आचार्य था ? आप वह सब वर्णन करिये। (१–६)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे भारत! धनुर्वेदके जाननेवाले शरशय्याशायी धर्मज्ञ भीष्मदेव बुद्धिमान् माद्रीपुत्रका यह वचन सुनकर सुशिक्षित द्रोणशिष्य महानुभाव नकुलसे कौशलयुक्त सूक्ष्म और विचित्र अर्थके सहित स्वरवर्णसे युक्त उत्तम वचन कहने लगे। भीष्म बोले, हे माद्रीपुत्र! तुमने धातुमान् पर्वतकी तरह मुझे सावधान किया; इससे जो पूंछते हो, उस विषयका यथार्थ वृत्तान्त कहता हूं, सुनो, हे तात! पहिले यह दृश्यमान जगत् जलसमूहमें समुद्रमय, निष्प्रकम्प, अनाकाश, अन्धेरेसे परिपूरित, स्पर्शरहित, शब्दहीन, अप्रमेय और अत्यन्त गम्भीर था, उस समय पृथ्वीतलका पता न था; पितामह ब्रह्माने उस ही समय जन्म लिया। उस सर्वशक्तिमान् ब्रह्माने वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, स्वर्ग, पाताल, भूमि, नैऋती, चन्द्रमा, तारा, ग्रह, नक्षत्र, संवत्सर, ऋतु, महीना, पक्ष, लव और क्षण इन सबकी सृष्टि की। (७–१४)

ततः शरीरं लोकस्थं स्थापयित्वा पितामहः ।
जनयामास भगवान् पुत्रानुत्तमतेजसः ॥ १५ ॥
मरीचिमृषिमत्रिं च पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
वसिष्ठाङ्गिरसौ चोभौ रुद्रं च प्रभुमीश्वरम् ॥ १६ ॥
प्राचेतसस्तथा दक्षः कन्याषष्टिमजीजनत् ।
ता वै ब्रह्मर्षयः सर्वाः प्रजार्थं प्रतिपेदिरे ॥ १७ ॥
ताभ्यो विश्वानि भूतानि देवाः पितृगणास्तथा ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव रक्षांसि विविधानि च ॥ १८ ॥
पतत्रिमृगमीनाश्च प्लवङ्गाश्च महोरगाः ।
तथा पक्षिगणाः सर्वे जलस्थलविचारिणः ॥ १९ ॥
उद्भिदः स्वेदजाश्चैव सांडजाश्च जरायुजाः ।
जज्ञे तात जगत्सर्वं तथा स्थावरजङ्गमम् ॥ २० ॥
भूतसर्गमिमं कृत्वा सर्वलोकपितामहः ।
शाश्वतं वेदपठितं धर्मं प्रयुयुजे ततः ॥ २१ ॥
तस्मिन् धर्मे स्थिता देवाः सहाचार्यपुरोहिताः ।
आदित्या वसवो रुद्राःससाध्या मरुदश्विनः॥ २२ ॥
भृग्वत्र्यङ्गिरसः सिद्धाः काश्यपाश्च तपोधनाः ।
वसिष्ठगौतमागस्त्यास्तथा नारदपर्वतौ ॥ २३ ॥

अनन्तर भगवान् पितामहने लौकिक शरीर धारण करके मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वशिष्ठ, अङ्गिरा, सब कार्यों में समर्थ रुद्र और प्रचेता नाम अत्यन्त तेजस्वी ऋषिसन्तानोंको उत्पन्न किया। दक्ष प्रजापतिसे साठ कन्या उत्पन्न हुई, ब्रह्मर्षियोंने पुत्र उत्पन्न करनेके लिये उन कन्याओंको ग्रहण किया। उन्हीं कन्याओंसे विश्वगण, देवता, पितर, भूत, गन्धर्व, अप्सरा, विविध, राक्षस, पतत्री, मृग, मछली, प्लवग, महोरग, भूचर, खेचर, जलचर, जरायुज, अण्डज, स्वेदज, और उद्भिज आदि प्राणी तथा स्थावर जङ्गमसे युक्त समस्त जगत् उत्पन्न हुआ, सब लोकोंके पितामह ब्रह्माने इन सब जीवोंको उत्पन्न करके शाश्वत वेदोक्त धर्म प्रयोग किया, आचार्य और पुरोहितके सहित देवता लोग उस ही धर्मका अनुष्ठान करने लगे। आदित्यगण, वसु, रुद्र, साध्य, दोनों अश्विनीकुमार, भृगु, अत्रि, अङ्गिरा, सिद्ध लोग, तपस्वी,

ऋषयो वालखिल्याश्च प्रभासाः सिकतास्तथा।
घृतपाः सोमवायव्या वैश्वानरमरीचिपाः ॥ २४ ॥
अकृष्टाश्चैव हंसाश्च ऋषयो वाऽग्नियोनयः।
वानप्रस्थाः पृश्नयश्च स्थिता ब्रह्मानुशासने ॥ २५ ॥
दानवेन्द्रास्त्वतिक्रम्य तत्पितामहशासनम्।
धर्मस्यापचयं चक्रुः क्रोधलोभसमन्विताः ॥ २६ ॥
हिरण्यकशिपुश्चैव हिरण्याक्षो विरोचनः।
शम्बरो विप्रचित्तिश्च प्रह्लादो नमुचिर्बलिः ॥ २७ ॥
एते चान्ये च बहवः सगणा दैत्यदानवाः।
धर्मसेतुमतिक्रम्य रेमिरेऽधर्मनिश्चयाः ॥ २८ ॥
सर्वे तुल्याभिजातीया यथा देवास्तथा वयम्।
इत्येवं धर्ममास्थाय स्पर्धमानाः सुरर्षिभिः ॥ २९ ॥
न प्रियं नाप्यनुक्रोशं चक्रुर्भूतेषु भारत।
त्रीनुपायानुपाक्रम्य दण्डेन रुरुधुः प्रजाः ॥ ३० ॥
न जग्मुः संविदं तैश्च दर्पादसुरसत्तमाः।
अथ वै भगवान्ब्रह्मा ब्रह्मर्षिभिरुपस्थितः ॥ ३१ ॥
तदा हिमवतः शृङ्गे सुरम्ये पद्मतारके।

कश्यप, वशिष्ठ, अगस्त्य, नारद, पर्वत, वालखिल्य ऋषि, प्रभास, सिकत, घृतप, सोमवायव्य, वैश्वानर, मरीचिपायी, अकृष्ट, हंस, अग्नियोनि ये सब ऋषि, वानप्रस्थ तथा पृश्नि आदि ऋषि ब्रह्माकी आज्ञामें स्थित रहे। (१५-२५)

दानवेन्द्रसमूह क्रोध लोभसे युक्त होकर पितामहका वह शासन अतिक्रम करके धर्म नष्ट करने लगा, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु विप्रचित्ति, विरोचन, शम्बर, प्रह्लाद, नमुचि और बलि, ये सब तथा समूहके सहित दूसरे बहुतेरे दैत्य दानव धर्मबन्धन उल्लङ्घन करके अधर्ममें रत हुए थे। सब कोई समान वंशमें उत्पन्न हुए हैं; इसलिये जैसे देवता लोग हैं वैसे ही हम भी हैं, दैत्य लोग ऐसा ही धर्म अवलम्बन करके देवर्षियोंके सङ्ग स्पर्धा करने लगे। हे भारत! वे लोग जीवोंके ऊपर करुणा तथा उनका प्रियकार्य नहीं करते थे। भेद, दण्ड, दानरूपी तीनों उपायको अवलम्बन करके दण्डसे प्रजा समूहको पीडित करने लगे, वे सब मुख्य मुख्य असुर लोग विज्ञानमार्गसे नहीं चलते थे।

शतयोजनविस्तारे मणिरत्नचयाचिते ॥ ३२ ॥
तस्मिन् गिरिवरे पुत्र पुष्पितद्रुमकानने ।
तस्थौ स विबुधश्रेष्ठो ब्रह्मा लोकार्थसिद्धये ॥ ३३ ॥
ततो वर्षसहस्रान्ते वितानमकरोत्प्रभुः ।
विधिना कल्पदृष्टेन यथावच्चोपपादितम् ॥ ३४ ॥
ऋषिभिर्यज्ञपटुभिर्यथावत्कर्मकर्तृभिः ।
समिद्भिः परिसंकीर्णं दीप्यमानैश्च पावकैः ॥ ३५ ॥
काञ्चनैर्यज्ञभाण्डैश्च भ्राजिष्णुभिरलंकृतम् ।
वृतं देवगणैश्चैव प्रवरैर्यज्ञमण्डलम् ॥ ३६ ॥
तथा ब्रह्मर्षिभिश्चैव सदस्यैरुपशोभितम् ।
तत्र घोरतमं वृत्तमृषीणां मे परिश्रुतम् ॥ ३७ ॥
चन्द्रमा विमलं व्योम यथाभ्युदिततारकम् ।
विकीर्याग्निं तथा भूतमुत्थितं श्रूयते तदा ॥ ३८ ॥
नीलोत्पलसवर्णाभं तीक्ष्णदंष्ट्रं कृशोदरम् ।
प्रांशुं सुदुर्धर्षतरं तथैव ह्यमितौजसम् ॥ ३९ ॥
तस्मिन्नुत्पतमाने च प्रचचाल वसुन्धरा ।

अनन्तर भगवान् ब्रह्मा ब्रह्मर्षियोंके सहित हिमालय पर्वतके सुन्दर शृङ्गपर उपस्थित हुए। (२६-३२)

देवोंमें श्रेष्ठ विधाताने प्रजासमूहके प्रयोजनसिद्धिके निमित्त फूले हुए वृक्षोंसे परिपूर्ण उस पर्वतपर निवास किया। अनन्तर सहस्रवर्षके बाद ब्रह्माने विधानके अनुसार यज्ञ आरम्भ किया, विधिके अनुसार कर्म करनेवाले यज्ञ-दक्ष ऋषियोंके जरिये यथारीति वह यज्ञ पूर्ण होने लगा। यज्ञका स्थान प्रकाश-मान अग्नि और समित्समूहसे परि-पूरित, भ्राजमान सुवर्ण यज्ञकलशसे अलंकृत, मुख्य मुख्य देवताओंसे घिर-कर ब्रह्मर्षियोंसे सुशोभित हुआ था। मैंने सुना है, यज्ञमें ऋषियोंके बीच आश्चर्य घटना हुई थी। उदित तारोंसे शोभित निर्मल आकाशमें जैसे चन्द्र-माका उदय होता है, वैसे ही कोई भूत अग्निको विक्षिप्त करके प्रकट हुआ। वह भूत नीलोत्पल दलके समान श्यामवर्ण; उसके सब दांत तीक्ष्ण, उदर अत्यन्त क्षीण, आकार बहुत ऊंचा, तेजसे-युक्त और अनभिभवनीय था। (३३-३९)

उसके उठते ही पृथ्वी विचलित और तरङ्गमालाके सहित आवर्त्तयुक्त

महोर्मिकलितावर्त्तश्चुक्षुभे स महोदधिः ॥ ४० ॥
पेतुरुल्का महोत्पाताः शाखाश्च मुमुचुर्द्रुमाः।
अप्रशान्ता दिशः सर्वाः पवनश्चाशिवो ववौ ॥ ४१ ॥
मुहुर्मुहुश्च भूतानि प्राव्यथन्त भयात्तथा।
ततः स तुमुलं दृष्ट्वा तं च भूतमुपस्थितम् ॥ ४२ ॥
महर्षिसुरगन्धर्वानुवाचेदं पितामहः।
मयैवं चिन्तितं भूतमसिर्नामैष वीर्यवान् ॥ ४३ ॥
रक्षणार्थाय लोकस्य वधाय च सुरद्विषाम्।
ततस्तद्रूपमुत्सृज्य बभौ निस्त्रिंश एव सः ॥ ४४ ॥
विमलस्तीक्ष्णधारश्च कालान्तक इवोद्यतः।
ततः स शितिकण्ठाय रुद्रायार्षभकेतवे ॥ ४५ ॥
ब्रह्मा ददावसिं तीक्ष्णमधर्मप्रतिवारणम्।
ततः स भगवान् रुद्रो महर्षिजनसंस्तुतः ॥ ४६ ॥
प्रगृह्यासिममेयात्मा रूपमन्यच्चकार ह।
चतुर्बाहुः स्पृशन्मूर्ध्ना भूस्थितोऽपि दिवाकरम्॥ ४७ ॥
ऊर्ध्वदृष्टिर्महालिङ्गो मुखाज्ज्वालाः समुत्सृजन्।

महोदधि क्षुभित हुआ, उत्पातजनक उल्कापात होने लगा। वृक्षोंकी सब शाखा टूट गयीं, समस्त दिशा कलुषित हुई और अकल्याणयुक्त वायु बहने लगा। उस समय सब जीव भयके कारण बारंबार दुःखित होने लगे। अनन्तर पितामह उस तुमुल कारण और अद्भुत भूतको उपस्थित देखकर देवता गन्धर्व तथा महर्षियोंसे यह वचन बोले, कि जगत्की रक्षा और असुरोंके वधके लिये मैंने इस बलवान असिनाम भूतको इसी तरह चिन्ता किया था। क्षणभरके अनन्तर भूत उस अद्भुत रूपको परित्याग करके उद्यत कालान्तकके समान तीक्ष्णधार तलवार रूपसे प्रकाशित हुआ। अनन्तर ब्रह्माने वृषभध्वज नीलकण्ठ रुद्र देवको वह अधर्मवारण तीक्ष्ण शस्त्र प्रदान किया। महर्षियोंसे स्तूयमान अनन्त महिमाधार भगवान रुद्रदेवने उस खड्गको ग्रहण करके दूसरा रूप धारण किया। उस समय उन्होंने चतुर्भुज होकर पृथ्वीपर स्थित होके मस्तकसे सूर्यको स्पर्श किया। (४०-४७)

और महालिङ्ग मूर्त्ति धारणकर ऊर्ध्वदृष्टि होकर मुखसे ज्वाला बाहर करने

विकुर्वन् बहुधा वर्णाञ्शीलपाण्डुरलोहितान् ॥ ४८ ॥
बिभ्रत्कृष्णाजिनं वासो हेमप्रवरतारकम् ।
नेत्रं चैकं ललाटेन भास्करप्रतिमं वहन् ॥ ४९ ॥
शुशुभातेऽतिविमले द्वे नेत्रे कृष्णपिङ्गले ।
ततो देवो महादेवः शूलपाणिर्भगाक्षिहा ॥ ५० ॥
संप्रगृह्य तु निस्त्रिंशं कालाग्निसमवर्चसम् ।
त्रिकूटं चर्म चोद्यम्य सविद्युतमिवाम्बुदम् ॥
चचार विविधान्मार्गान्महाबलपराक्रमः ॥ ५१ ॥
विधुन्वन्नसिमाकाशे तथा युद्धचिकीर्षया ।
तस्य नादं विनदतो महाहासं च मुञ्चतः ॥ ५२ ॥
बभौ प्रतिभयं रूपं तदा रुद्रस्य भारत ।
तद्रूपधारिणं रुद्रं रौद्रकर्मचिकीर्षया ॥ ५३ ॥
निशम्य दानवाः सर्वे हृष्टाः समभिदुद्रुवुः ।
अश्मभिश्चाभ्यवर्षन्त प्रदीप्तैश्च तथोल्मुकैः ॥ ५४ ॥
घोरैः प्रहरणैश्चान्यैः क्षुरधारैरयोमयैः ।
ततस्तु दानवानीकं संप्रणेतारमच्युतम् ॥ ५५ ॥

लगे । नील, पाण्डुर, लोहित आदि अनेक तरहके रूप बदलते हुए रुद्रने सुवर्णतारसे खचित कृष्णाजीन वस्त्र धारण किया । उनके माथेपर सूर्यके समान एक नेत्र प्रकट हुआ, तब काले और पीले वर्णवाले उनके दोनों नेत्र सुशोभित हुए । अनन्तर भगनेत्र हर महाबली पराक्रमी शूलधारी महादेवने प्रलयकी अग्नि समान प्रकाशमान तलवार ग्रहण करके बिजलीयुक्त बादलकी तरह दोनों बगल और अग्रभागमें धारणक्षम त्रिकूटयुक्त ढाल ग्रहण करके युद्धकी इच्छासे आकाशमें तलवार घुमाते हुए विविध मार्गसे भ्रमण करने लगे । हे भारत! उस समय रुद्रदेवके महाहास्य और निनाद करनेसे उनका भयङ्कर रूप प्रकाशित हुआ । रौद्र कर्म करनेवाले रुद्रदेवने युद्धके निमित्त वैसा रूप धारण किया । (४८-५३)

उसे सुनकर दानव लोग हर्षित होकर उनके सम्मुख दौडे । वे सब जलते हुए अङ्गार, अयोमय क्षुरधारवाले सब शस्त्र और दूसरे घोर आयुधों तथा पत्थरोंकी वर्षा करने लगे; अनन्तर दानवोंकी सेना बलपूर्वक विध्वंस करनेवाले अच्युत रुद्रदेवको देखकर

रुद्रं दृष्ट्वा बलोद्भूतं प्रमुमोह चचाल च।
चित्रं शीघ्रपदत्वाच्च चरन्तमसिपाणिनम् ॥ ५६ ॥
तमेकमसुराः सर्वे सहस्रमिति मेनिरे।
छिन्दन् भिन्दन् रुजन्कृन्तन् दारयन्पोथयन्नपि ॥५७॥
अचरद्वैरिसङ्घेषु दावाग्निरिव कक्षगः।
असिवेगप्रभग्नास्ते छिन्नबाहूरुवक्षसः ॥ ५८ ॥
संप्रकीर्णान्त्रगात्राश्च पेतुरुर्व्यां महाबलाः।
अपरे दानवा भग्नाः खड्गपातावपीडिताः ॥ ५९ ॥
अन्योन्यमभिनर्दन्तो दिशः संप्रतिपेदिरे।
भूमिं केचित्प्रविविशुः पर्वतानपरे तथा ॥ ६० ॥
अपरे जग्मुराकाशमपरेऽम्भः समाविशन्।
तस्मिन्महति संवृत्ते समरे भृशदारुणे ॥ ६१ ॥
बभूव भूः प्रतिभया मांसशोणितकर्दमा।
दानवानां शरीरैश्च पतितैः शोणितोक्षितैः ॥ ६२ ॥
समाकीर्णा महाबाहो शैलैरिव सकिंशुकैः।
स रुद्रो दानवान् हत्वा कृत्वा धर्मोत्तरं जगत् ॥६३॥
रौद्रं रूपमथोत्क्षिप्य चक्रे रूपं शिवं शिवः।

मोहित और विचलित हुई। वह अकेले ही तलवार ग्रहण करके द्रुतपदसे घूम रहे थे; तब असुर लोग उन्हें सहस्ररूपसे मालूम करने लगे। वह तृणसमूहमें पडी हुई दावानल अग्निकी भांति शत्रुओंके बीच छेदन भेदन, पीडन, कृन्तन, विदारण और दाहन करते हुए भ्रमण करने लगे। महाबली दानव लोग तलवारके वेगसे छिन्नभिन्न होगये; किसीकी भुजा कटी, किसीकी गर्द्दन, किसीकी छाती और किसीके शिर कटके पृथ्वी पर गिर पडे। कितनेही तलवार की चोटसे पीडित होकर युद्धत्यागके आपसमें एक दूसरेके विषयमें आक्रोश करते हुए दशों दिशामें भाग गये। कोई भूगर्भ, कोई पर्वतके बीच, कोई कोई आकाशमार्ग और कोई जलके भीतर प्रविष्ट हुए। उस अत्यन्त दारुण कठोर संग्रामके समाप्त होने पर मांस और रुधिरमय कीचडसे युक्त पृथ्वीने अत्यन्त भयङ्कर मूर्त्ति धारण की। (५४–६२)

फूले हुए पलाश के वृक्षोंसे युक्त पर्वत समूहकी तरह दानवोंके रुधिर-

ततो महर्षयः सर्वे सर्वे देवगणास्तथा ॥ ६४ ॥
जयेनाद्भुतकल्पेन देवदेवं तथाऽर्चयन्।
ततः स भगवान् रुद्रो दानवक्षतजोक्षितम् ॥ ६५ ॥
असिं धर्मस्य गोप्तारं ददौ सत्कृत्य विष्णवे।
विष्णुर्मरीचये प्रादान्मरीचिर्भगवानपि ॥ ६६ ॥
महर्षिभ्यो ददौ खड्गमृषयो वासवाय च।
महेन्द्रो लोकपालेभ्यो लोकपालास्तु पुत्रक ॥ ६७ ॥
मनवे सूर्यपुत्राय ददुः खड्गं सुविस्तरम्।
ऊचुश्चैनं तथा वाक्यं मानुषाणां त्वमीश्वरः ॥ ६८ ॥
असिना धर्मगर्भेण पालयस्व प्रजा इति।
धर्मसेतुमतिक्रान्ताः स्थूलसूक्ष्मात्मकारणात् ॥ ६९ ॥
विभज्य दण्डं रक्ष्यास्तु धर्मतो न यदृच्छया।
दुर्वाचा निग्रहो दण्डो हिरण्यबहुलस्तथा ॥ ७० ॥
व्यङ्गना च शरीरस्य वधो वाऽनल्पकारणात्।
असेरेतानि रूपाणि दुर्वारादीनि निर्दिशेत् ॥ ७१ ॥

पूरित मृत शरीरसे पृथ्वी भर गई। उस समय पृथ्वी रुधिरकी धारासे युक्त होकर मदविह्वल रुधिरसे भींगे हुए वस्त्र-वाली श्यामा स्त्रीकी तरह शोभायमान हुई। रुद्रदेवने दानवोंको मारके जगत्में धर्म स्थापित करते हुए रौद्ररूप त्यागकर कल्याणयुक्त शिव रूप धारण किया, अनन्तर सब देवताओं और महर्षियोंने आश्चर्यमय जयशब्दके जरिये महादेवकी पूजा की, अन्तमें भगवान रुद्रदेवने धर्मकी रक्षा करनेवाले विष्णुका सत्कार करके दानवोंके रुधिरसे भींगी हुई तलवार प्रदान की। हे तात! विष्णुने मरीचिको, भगवान मरीचिने महर्षियोंको, महर्षियोंने महेन्द्रको, देवराजने लोकपालोंको, लोकपालोंने सूर्यपुत्र मनुको वह बहुत बडा खड्ग प्रदान किया; और उन्होंने मनुसे यह वचन कहा था, कि तुम मनुष्योंके प्रभु हो; इससे इस धर्मगर्भ तलवारके जरिये प्रजासमूहको पालन करो। (६३—६९)

जिन्होंने शरीर और मनकी प्रीतिके निमित्त धर्मबन्धन अतिक्रम किया है, उन लोगोंको धर्मपूर्वक दण्ड देकर रक्षा करनी उचित है; इच्छानुसार दण्ड-प्रयोग करना उचित नहीं है। दण्ड चार प्रकारका है। दुष्ट-वचनसे निग्रह करना वाक्‌दण्ड है, सुवर्ण वसूल करना

असेरेवं प्रमाणानि परिपाल्य व्यतिक्रमात्।
स विसृज्याथ पुत्रं स्वं प्रजानामधिपं ततः ॥ ७२ ॥
मनुः प्रजानां रक्षार्थं क्षुपाय प्रददावसिम्।
क्षुपाज्जग्राह चेक्ष्वाकुरिक्ष्वाकोश्च पुरूरवाः ॥ ७३ ॥
आयुश्च तस्माल्लेभे तं नहुषश्च ततो भुवि।
ययातिर्नहुषाच्चापि पूरुस्तस्माच्च लब्धवान् ॥ ७४ ॥
अमूर्तरयसस्तस्मात्ततो भूमिशयो नृपः।
भरतश्चापि दौष्यन्तिर्लेभे भूमिशयादसिम् ॥ ७५ ॥
तस्माल्लेभे च धर्मज्ञो राजन्नैलविलस्तथा।
ततस्त्वैलविलाल्लेभे धुन्धुमारो नरेश्वरः ॥ ७६ ॥
धुन्धुमाराच्च काम्बोजो मुचुकुन्दस्ततोऽलभत्।
मुचुकुन्दान्मरुत्तश्च मरुत्तादपि रैवतः ॥ ७७ ॥
रैवताद्युवनाश्वश्च युवनाश्वात्ततो रघुः।
इक्ष्वाकुवंशजस्तस्माद्धरिणाश्वः प्रतापवान् ॥ ७८ ॥
हरिणाश्वादसिं लेभे शुनकः शुनकादपि।
उशीनरो वै धर्मात्मा तस्माद्भोजः सयादवः ॥ ७९ ॥
यदुभ्यश्च शिबिर्लेभे शिबेश्चापि प्रतर्दनः।

अर्थदण्ड, शरीरकी अङ्गहानि करना शारीरिक दण्ड और अधिक अपराधके कारण वधरूपी प्राणदण्ड विहित है। तलवारका यह समस्त रूप दुर्वार कहके माने; प्रतिपाल्य पुरुषके व्यतिकर्मके कारण तलवारके इसी तरहसे सब रूप प्रमाणीकृत हुआ करते हैं। (६९-७२)

अनन्तर मनुने लोकाधिपति निज-पुत्र क्षुपको अभिषिक्त करके प्रजासमूह की रक्षाके लिये वह तलवार प्रदान की; क्षुपसे वह इक्ष्वाकुको मिला; इक्ष्वाकुसे पुरुरवा, पुरुरवासे आयुने उसे पाया; आयुसे नहुष, नहुषसे ययाति, ययाति-से वह पूरुको मिला; पूरुसे अमूर्त्तरयस, उनसे राजा भूमिशय, भूमिशयसे दुष्य-न्तपुत्र भरतने वह तलवार पाया; उन-से धर्मज्ञ राजा ऐलविलको मिला; ऐलविलसे राजा धुन्धुमार, धुन्धुमारसे काम्बोज, उनसे मुचकुन्दने पाई। मुच-कुन्दसे मरुत्त, मरुत्तसे रैवत, रैवतसे युवनाश्व, युवनाश्वसे इक्ष्वाकुवंशीय रघू; उनसे प्रतापी हरिणाश्व; हरिणाश्वसे शुनकने उस तलवारको पाया। शुनकसे धर्मात्मा उशीनर, उशीनरसे यदुवंशीय

प्रतर्दनादष्टकश्च पृषदश्वोऽष्टकादपि ॥ ८० ॥
पृषदश्वाद्भरद्वाजो द्रोणस्तस्मात्कृपस्ततः।
ततस्त्वं भ्रातृभिः सार्धं परमासिमवाप्तवान् ॥ ८१ ॥
कृत्तिकास्तस्य नक्षत्रमसेरग्निश्च दैवतम्।
रोहिणी गोत्रमास्याथ रुद्रश्च गुरुरुत्तमः ॥ ८२ ॥
असेरष्टौ हि नामानि रहस्यानि निबोध मे।
पाण्डवेय सदा यानि कीर्तयन् लभते जयम् ॥ ८३ ॥
असिर्विशसनः खड्गस्तीक्ष्णधारो दुरासदः।
श्रीगर्भो विजयश्चैव धर्मपालस्तथैव च ॥ ८४ ॥
अग्र्यः प्रहरणानां च खड्गो माद्रवतीसुत।
महेश्वरप्रणीतश्च पुराणे निश्चयं गतः ॥ ८५ ॥
पृथुस्तूत्पादयामास धनुराद्यमरिन्दमः।
तेनेयं पृथिवी दुग्धा सस्यानि सुबहून्यपि।
धर्मेण च यथापूर्वं वैन्येन परिरक्षिता ॥ ८६ ॥
तदेतदार्षं माद्रेय प्रमाणं कर्तुमर्हसि।
असेश्च पूजा कर्तव्या सदा युद्धविशारदैः ॥ ८७ ॥
इत्येष प्रथमः कल्पो व्याख्यातस्ते सुविस्तरात्।

भोज, भोजसे शिबि, शिबिसे प्रतर्दनने उसे पाया; प्रतर्दनसे अष्टक, अष्टकसे पृषदश्व, पृषदश्वसे भरद्वाज, भरद्वाजसे द्रोण, द्रोणसे कृप और कृपसे भाइयोंके सहित तुमने इस परम तलवारको पाया है। (७२—८१)

इस असि का कृत्तिका नक्षत्र है, अग्नि देवता, रोहिणी गोत्र और रुद्रदेव परम गुरु हैं। हे पाण्डुपुत्र ! सब लोग जिसे सदा कीर्तन करनेसे जयलाभ करते हैं, अत्यन्त गोपनीय असिके उन आठ नामोंको मुझसे सुनो, असि, विशसन, खड्ग तीक्ष्णधार, दुरासद, श्रीगर्भ, विजय और धर्मपाल। हे माद्रीपुत्र ! सब शास्त्रोंमें खड्गही प्रधान है; यह महेश्वरप्रणीत कहके पुराणमें निश्चित हुआ है। हे शत्रुदमन ! पृथुराजने पहिले धनुष उत्पन्न किया और उसहीसे धर्मपूर्वक पृथ्वी पालन करते हुए अनेक शस्य दोहन किया था। हे माद्रीपुत्र ! धनुषको भी ऋषि-प्रणीत कहके प्रमाण कर सकते हो। युद्ध जाननेवाले पुरुषोंको सदा खड्गकी पूजा करनी योग्य है। हे भरतश्रेष्ठ ! तलवारकी उत्पत्ति और

असंकृत्पत्तिसंसर्गो यथावद्भरतर्षभ ॥ ८८ ॥
सर्वथैतदिदं श्रुत्वा खड्गसाधनमुत्तमम् ।
लभते पुरुषः कीर्तिं प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ॥ ८९ ॥ [६१४३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि खड्गोत्पत्तिकथने षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६६ ॥

वैशम्पायन उवाच– इत्युक्तवति भीष्मे तु तूष्णींभूते युधिष्ठिरः ।
पप्रच्छावसथं गत्वा भ्रातॄन् विदुरपञ्चमान् ॥ १ ॥
धर्मे चार्थे च कामे च लोकवृत्तिः समाहिता ।
तेषां गरीयान् कतमो मध्यमः को लघुश्च कः ॥ २ ॥
कस्मिंश्चात्मा नियन्तव्यस्त्रिवर्गविजयाय वै ।
संहृष्टा नैष्ठिकं वाक्यं यथावद्वक्तुमर्हथ ॥ ३ ॥
ततोऽर्थगतितत्त्वज्ञः प्रथमं प्रतिभानवान् ।
जगाद विदुरो वाक्यं धर्मशास्त्रमनुस्मरन् ॥ ४ ॥

विदुर उवाच— बाहुश्रुत्यं तपस्त्यागः श्रद्धा यज्ञक्रिया क्षमा ।
भावशुद्धिर्दया सत्यं संयमश्चात्मसंपदः ॥ ५ ॥
एतदेवाभिपद्यस्व मा ते भूच्चलितं मनः ।

संसर्गविषयक यह प्रथम कल्प यथारीतिसे विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ। मनुष्य सदा इस उत्तम खड्गकी उत्पत्तिका विषय सुनकर इस लोकमें कीर्त्तिलाभ और परलोकमें अत्यन्त सुख भोग करते हैं। (८२-८९)

शान्तिपर्वमें १६६ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १६७ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, भीष्मदेव जब इतनी कथा कहके चुप हुए, तब युधिष्ठिरने घर जाके विदुरके संग एकत्र वर्त्तमान चारों भाइयोंसे पूछा, धर्म, अर्थ, काम इन तीनों विषयोंसे लोक-व्यवहार चलता है; उसके बीच कौन उत्तम, कौन मध्यम और कौनसा निकृष्ट है; तथा काम, क्रोध और लोभको जीतनेके लिये किस विषयमें चित्त लगाना चाहिये; आप लोग अच्छी तरह प्रसन्न होकर यह विषय यथार्थ रीतिसे वर्णन करिये, अनन्तर अर्थतत्वके जाननेवाले बुद्धिमान विदुर पहिले धर्मशास्त्रको स्मरण करके कहने लगे। (१-४)

विदुर बोले, अनेक शास्त्रोंको पढना, निज धर्मका आचरण करना; दान, श्रद्धा, यज्ञक्रिया, क्षमा, कपटहीनता,

एतन्मूलौ हि धर्मार्थावेतदेकपदं हि मे ॥ ६ ॥
धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
धर्मेण देवा ववृधुर्धर्मे चार्थः समाहितः ॥ ७ ॥
धर्मो राजन् गुणः श्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते ।
कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ८ ॥
तस्माद्धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना ।
तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथाऽऽत्मनि ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच-समाप्तवचने तस्मिन्नर्थशास्त्रविशारदः ।
पार्थो धर्मार्थतत्त्वज्ञो जगौ वाक्यं प्रचोदितः ॥ १० ॥

अर्जुन उवाच— कर्मभूमिरियं राजन्निह वार्ता प्रशस्यते ।
कृषिर्वाणिज्यगोरक्षं शिल्पानि विविधानि च ॥ ११ ॥
अर्थ इत्येव सर्वेषां कर्मणामव्यतिक्रमः ।
न ऋतेऽर्थेन वर्तेते धर्मकामाविति श्रुतिः ॥ १२ ॥
विषयैरर्थवान् धर्ममाराधयितुमुत्तमम् ।
कामं च चरितुं शक्तो दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ १३ ॥

दीनोंके ऊपर दया, यथार्थ वचन और इन्द्रियनिग्रह, ये कईएक धर्मकी सम्पत्ति हैं; आप इन्हें धर्मकी गति समझिये; आपका चित्त जिससे विचलित न हो,—धर्म और अर्थ इन सबका मूल है; मैं इन्हें एकही समझता हूं। ऋषि लोग धर्मके सहारे संसारसे पार हुए हैं, सब लोक धर्मसे ही प्रतिष्ठित हैं; देवताओंकी धर्मसे ही वृद्धि हुई और धर्ममेंही अर्थ स्थित है। हे राजन्! पण्डित लोग धर्मको सब गुणोंके बीच श्रेष्ठ, अर्थको मध्यम और कामको कनिष्ठ कहा करते हैं; इसलिये स्थिर चित्तवाले पुरुष धर्मको मुख्य समझें। अपने विषयमें जैसा आचरण किया जाता है, सब जीवोंके विषयमें वैसा ही व्यवहार करना चाहिये। (५—९)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, विदुरका वचन समाप्त होनेपर धर्म, अर्थके तत्वज्ञ अर्थशास्त्रके जाननेवाले पृथापुत्र अर्जुनने युधिष्ठिरके प्रश्नके अनुसार वक्ष्यमाण वचन कहना आरम्भ किया। अर्जुन बोले, यह पृथ्वी कर्मभूमि है, इसलिये इसमें प्रवृत्तिविधायक कर्म ही मुख्य हैं; कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और विविध शिल्पकर्मोंका व्यतिक्रम न करनेसे ही अर्थ होता है, मैंने सुना है, अर्थके विना धर्म और काम स्थित नहीं

अर्थस्यावयवावेतौ धर्मकामाविति श्रुतिः ।
अर्थसिद्ध्या विनिर्वृत्तावुभावेतौ भविष्यतः ॥ १४ ॥
तद्गतार्थं हि पुरुषं विशिष्टतरयोनयः ।
ब्रह्माणमिव भूतानि सततं पर्युपासते ॥ १५ ॥
जटाजिनधरा दान्ताः पङ्कदिग्धा जितेन्द्रियाः ।
मुण्डा निस्तन्तवश्चापि वसन्त्यर्थार्थिनः पृथक् ॥ १६ ॥
काषायवसनाश्चान्ये श्मश्रुला ह्रीनिषेविणः ।
विद्वांसश्चैव शान्ताश्च मुक्ताः सर्वपरिग्रहैः ॥ १७ ॥
अर्थार्थिनः सन्ति केचिदपरे स्वर्गकाङ्क्षिणः ।
कुलप्रत्यागमाश्चैके स्वं स्वं धर्ममनुष्ठिताः ॥ १८ ॥
आस्तिका नास्तिकाश्चैव नियताः संयमे परे ।
अप्रज्ञानं तमोभूतं प्रज्ञानं तु प्रकाशिता ॥ १९ ॥
भृत्यान् भोगैर्द्विषो दण्डैर्यो योजयति सोऽर्थवान् ।
एतन्मतिमतां श्रेष्ठ मतं मम यथातथम् ॥
अनयोस्तु निबोध त्वं वचनं वाक्यकण्ठयोः ॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच-ततो धर्मार्थकुशलौ माद्रीपुत्रावनन्तरम् ।
नकुलः सहदेवश्च वाक्यं जगदतुः परम् ॥ २१ ॥

हो सकते; विना अर्थसिद्धिके धर्म और काम निवृत्त होंगे; इसलिये जैसे सब जीव प्रजापतिकी उपासना करते हैं, वैसे ही सत्कुलमें उत्पन्न पुरुष धनवान मनुष्यकी सदा सेवा किया करते हैं। जटा, मृगछाला धारण करनेवाले, जितेन्द्रिय, सिरमुडे और निष्ठावान् ब्रह्मचारी लोग भी अर्थके अभिलाषी होकर पृथक् पृथक् धर्मके अनुसार निवास करते हैं; दूसरे गेरुए वस्त्र पहरके समश्रुल लज्जाशील शान्त, सब तरहकी आसक्तिसे रहित होके और दूसरे कोई कोई पुरुष कुलरीतिको अवलम्बन करके निज निज धर्मका अनुष्ठान करते हुए स्वर्ग-कामना किया करते हैं। (१०-१८)

आस्तिक और नास्तिक लोग परम संयममें रत होके अज्ञानके समान अर्थके प्रधान विषयको प्रकाशित करते हैं। जो सेवकोंको भोगसे और शत्रुओंको दण्डसे शासित करते, वेही धनवान हैं। हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ ! यही मेरा अपना मत है, अब नकुल और सहदेव कुछ कहनेकी इच्छा करते हैं; इससे इनका वचन सुनिये। श्रीवैशम्पायन मुनि बोले,

नकुलसहदेवावूचतुः- आसीनश्च शयानश्च विचरन्नपि वा स्थितः।
अर्थयोगं दृढं कुर्याद्योगैरुच्चावचैरपि ॥ २२ ॥
अस्मिंस्तु वै विनिर्वृत्ते दुर्लभे परमप्रिये।
इह कामानवाप्नोति प्रत्यक्षं नात्र संशयः ॥ २३ ॥
योऽर्थो धर्मेण संयुक्तो धर्मो यश्चार्थसंयुतः।
तद्धि त्वाऽमृतसंवादं तस्मादेतौ मताविह ॥ २४ ॥
अनर्थस्य न कामोऽस्ति तथाऽर्थोऽधर्मिणः कुतः।
तस्मादुद्विजते लोको धर्मार्थाद्यो बहिष्कृतः ॥ २५ ॥
तस्माद्धर्मप्रधानेन साध्योऽर्थः संयतात्मना।
विश्वस्तेषु हि भूतेषु कल्पते सर्वमेव हि ॥ २६ ॥
धर्मं समाचरेत्पूर्वं ततोऽर्थं धर्मसंयुतम्।
ततः कामं चरेत्पश्चात्सिद्धार्थः स हि तत्परम्॥ २७ ॥
वैशम्पायन उवाच-विरेमतुस्तु तद्वाक्यमुक्त्वा तावश्विनोः सुतौ।
भीमसेनस्तदा वाक्यमिदं वक्तुं प्रचक्रमे ॥ २८ ॥

अनन्तर धर्मअर्थके जाननेवाले नकुल, सहदेव उत्तम वचन कहनेको उद्यत हुए। नकुल और सहदेव बोले, मनुष्य सोने बैठने और चलनेके समय विविध उपायसे अर्थागमकी चेष्टा करे। परम प्रिय दुर्लभ अर्थके प्राप्त होनेपर पुरुष इस लोकमें कामनाका फल भोगता है यह प्रत्यक्ष दीखता है; इसलिये इसमें सन्देह नहीं है। धर्मके संग मिला हुआ अर्थ और अर्थके सहित धर्म अवश्य ही आपके विषयमें अमृतके समान है; इस ही कारण यह हम लोगोंको सम्मत है। (१९-२४)

अर्थहीन मनुष्योंको काम्य वस्तुका भोग नहीं प्राप्त होता और धर्महीन पुरुषको धन नहीं मिलता; इसलिये जो पुरुष धर्म और अर्थसे रहित हुआ है, सब लोग उससे व्याकुल होते हैं; इसलिये स्थिरचित्तवाले पुरुषोंको धर्मको मुख्य मानके अर्थसाधन करना योग्य है; ऐसा होनेसे विश्वस्त जीवोंके बीच सब विश्वस्त रूपसे कल्पित होता है। पहिले धर्मका आचरण करे। तिसके अनन्तर धर्मयुक्त अर्थ प्राप्त करे, पीछे काम सेवन करे; क्यों कि जिसके प्रयोजन सिद्ध हुए हैं, उसके लिये कामही श्रेष्ठ है। श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, नकुल, सहदेव ऐसा कहके चुप हुए। तब भीमसेन वक्ष्यमाण वचन कहने लगे। (२५-२८)

भीमसेन उवाच– नाकामः कामयत्यर्थं नाकामो धर्ममिच्छति।
नाकामः कामयानोऽस्ति तस्मात्कामो विशिष्यते॥२९॥
कामेन युक्ता ऋषयस्तपस्येव समाहिताः।
पलाशफलमूलादा वायुभक्षाः सुसंयताः ॥ ३० ॥
वेदोपवेदेष्वपरे युक्ताः स्वाध्यायपारगाः।
श्राद्धयज्ञक्रियायां च तथा दानप्रतिग्रहे ॥ ३१ ॥
वणिजः कर्षका गोपाः कारवः शिल्पिनस्तथा।
देवकर्मकृतश्चैव युक्ताः कामेन कर्मसु ॥ ३२ ॥
समुद्रं वा विशन्त्यन्ये नराः कामेन संयुताः।
कामो हि विविधाकारः सर्वं कामेन संततम् ॥ ३३ ॥
नास्ति नासीन्नाभविष्यद्भूतं कामात्मकात्परम्।
एतत्सारं महाराज धर्मार्थावत्र संस्थितौ ॥ ३४ ॥
नवनीतं यथा दध्नस्तथा कामोऽर्थधर्मतः।
श्रेयस्तैलं हि पिण्याकाद् घृतं श्रेय उदश्वितः॥ ३५ ॥
श्रेयः पुष्पफलं काष्ठात्कामो धर्मार्थयोर्वरः।

भीमसेन बोले, निष्काम पुरुष अर्थकी इच्छा नहीं करते, कामहीन पुरुष धर्मके अभिलाषी नहीं होते और जिसे काम नहीं है वह किसी विषयकी कामना भी नहीं करता, इसलिये कामही उत्तम है। ऋषि लोग कामनाके कारण फल मूल पलाश आदि तथा वायु भक्षण करके अत्यन्त सावधान होके तपस्यामें रत हुआ करते हैं। दूसरे लोग स्वाध्यायशील होके भी कामनाके कारण वेद वेदान्त आदि शास्त्रोंके अनुशीलनमें रत होते हैं। कोई कोई श्रद्धा सहित यज्ञ कर्ममें कामनाके कारणसे दान करते हैं। बनिये, कृषक, पशुपालक, कारुकर, शिल्पकार और जो लोग देवकर्म किया करते हैं, वे सभी कामनाके अनुसार कार्योंमें नियुक्त होते हैं, कोई कोई मनुष्य कामनायुक्त होकर समुद्रमें प्रवेश करते हैं। कामके रूप अनेक तरहके हैं; सब पदार्थ ही कामसे व्याप्त होरहे हैं। हे महाराज! कामसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, न था और न होगा; यही सार पदार्थ है; धर्म और अर्थ इसही में स्थित हो रहे हैं। (२९-३४)

जैसे दहीसे माखन, तिलसे तेल, मट्ठेसे घृत, काष्ठसे फूल और फल तथा पुष्पसे मधु श्रेष्ठ है; वैसे ही धर्म और

पुष्पतो मध्विव रसः काम आभ्यां तथा स्मृतः।
कामो धर्मार्थयोर्योनिः कामश्चाथ तदात्मकः ॥ ३६ ॥
नाकामतो ब्राह्मणाः स्वन्नमर्थान्नाकामतो ददति ब्राह्मणेभ्यः।
नाकामतो विविधा लोकचेष्टा तस्मात्कामः प्राक् त्रिवर्गस्य दृष्टः॥३७॥
सुचारुवेषाभिरलंकृताभिर्मदोत्कटाभिः प्रियदर्शनाभिः।
रमस्व योषाभिरुपेत्य कामं कामो हि राजन्परमो भवेन्नः ॥ ३८ ॥
बुद्धिर्ममैषा परिखास्थितस्य मा भूद्विचारस्तव धर्मपुत्र।
स्यात्संहितं सद्भिरफल्गुसारं समेति वाक्यं परमानृशंसम्॥ ३९ ॥
धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकभक्तः स नरो जघन्यः।
तयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं स उत्तमो योऽभिरतस्त्रिवर्गे ॥४०॥
प्राज्ञः सुहृच्चन्दनसारलिप्तो विचित्रमाल्याभरणैरुपेतः।
ततो वचः संग्रहविस्तरेण प्रोक्त्वाथ वीरान् विरराम भीमः॥४१॥
ततो मुहूर्तादथ धर्मराजो वाक्यानि तेषामनुचिन्त्य सम्यक्।

अर्थसे काम उत्तम है; काम ही धर्म-अर्थ स्वरूप है। कामना न रहती तो लोग उत्तम ब्राह्मणोंको सुवर्ण और धनदान न करते और लोगोंकी अनेक तरहकी चेष्टा सिद्ध न होती; इसलिये धर्म, अर्थ और काम, इन त्रिवर्गोंके बीच कामही प्रधान रूपसे दीख पडता है। हे राजन्! आप उत्तम वेषसे भूषित होकर मदसे मतवाली खूबसूरत स्त्रियोंके सङ्ग काम-नानुसार क्रीडा करिये; हमारे लिये कामही उत्तम है। हे धर्मराज ! मैंने अच्छी तरह विचार करके बुद्धिसे यह निश्चय किया है; इसलिये आपको इस विषयके विचार करनेकी कुछ आवश्य-कता नहीं है। मेरा यह अनृशंस वचन युक्तिरहित नहीं है, इसलिये साधुओंसे यह संग्रहीत हुआ करता है। धर्म, अर्थ और कामको समान रीतिसे सेवन करना योग्य है; जो पुरुष एकको सेवन करता है, वह जघन्य है, धर्म और अर्थ दोनोंको सेवन करनेवाला पुरुष मध्यम है; और जो बुद्धिमान् हृदयके सहित चन्दन चर्चित और माला तथा आभूषणोंसे भूषित होकर धर्म, अर्थ, काम इन त्रिवर्गोंकी सेवामें रत होता है, वही उत्तम मनुष्य है। श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर भीमसेन वीरोंके निकट संक्षेप और विस्तारयुक्त वचनसे अपना अभिप्राय प्रकट करके चुप हुए। (३५-४१)

तब शास्त्र जाननेवाले धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर विदुर आदिकी बातोंको

उवाच वाचावितथं स्मयन्वै लब्धश्रुतां धर्मभृतां वरिष्ठः ॥ ४२ ॥
युधिष्ठिर उवाच—निःसंशयं निश्चितधर्मशास्त्राः सर्वे भवन्तो विदितप्रमाणाः।
विज्ञातुकामस्य ममेह वाक्यमुक्तं यद्वै नैष्ठिकं तच्छ्रुतं मे।
इदं त्ववश्यं गदतो ममापि वाक्यं निबोधध्वमनन्यभावाः ॥ ४३ ॥
यो वै न पापे निरतो न पुण्ये नार्थे न धर्मे मनुजो न कामे।
विमुक्तदोषः समलोष्टकाञ्चनो विमुच्यते दुःखसुखार्थसिद्धेः ॥ ४४ ॥
भूतानि जातिस्मरणात्मकानि जराविकारैश्च समन्वितानि।
भूयश्च तैस्तैः प्रतिबोधितानि मोक्षं प्रशंसन्ति न तं च विद्मः ॥ ४५ ॥
स्नेहेन युक्तस्य न चास्ति मुक्तिरिति स्वयम्भूर्भगवानुवाच।
बुधाश्च निर्वाणपरा भवन्ति तस्मान्न कुर्यात्प्रियमप्रियं च ॥ ४६ ॥
एतत्प्रधानं च न कामकारो यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।
भूतानि सर्वाणि विधिर्नियुङ्क्ते विधिर्बलीयानिति वित्त सर्वे ॥ ४७ ॥
न कर्मणाऽऽप्नोत्यनवाप्यमर्थं यद्भावि तद्वै भवतीति वित्त।

मुहूर्त भरके बीच भली भांति विचारके सत्यको स्मरण करके कहने लगे। युधिष्ठिर बोले, आप लोगोंने धर्मशास्त्रोंको निर्णय करके सब प्रमाणोंको निःसन्देह मालूम किये हैं। मैंने जो जाननेकी इच्छासे कहा था, उसका सिद्धान्त वचन सुना; आप लोगोंने जो कहा, वह अवश्यही निश्चित वचन है, परन्तु अब मैं कुछ कहता हूं, सावधानचित्तसे सुनिये, जो मनुष्य पाप, पुण्य, धर्म, अर्थ और काममें रत नहीं हैं, जो दोषरहित और सुवर्ण तथा लोष्टमें समदर्शी हैं; वे सुख, दुःख और अर्थसिद्धिसे छूट जाते हैं। जातिस्मर और जराविकारसेयुक्त मनुष्य लोग बार बार सुख दुःख आदिके जरिये सावधान होकर मोक्षकी प्रशंसा किया करते हैं; परन्तु हम मोक्षका विषय कुछ भी नहीं जानते। (४२–४५)

भगवान् स्वयम्भूने कहा है, कि राग, द्वेष और स्नेहसे युक्त पुरुषोंकी मुक्ति नहीं होती; ममताहीन पण्डित लोग मुक्तिलाभ करते हैं; इसलिये प्रिय और अप्रिय वस्तुओंमें आसक्त न होवे। मोक्षप्राप्तिका यही उत्तम उपाय है, कि मेरे इच्छानुमार प्रवृत्त होनेपर भी विधाता मुझे जिस विषयमें जिस तरह नियुक्त करता है, वैसा ही करता हूं; विधाता ही सब प्राणियोंको समस्त विषयोंमें नियुक्त करता है; इसलिये सबको जानना चाहिये, कि विधाता ही बलवान् है। इसे जानना उचित है,

त्रिवर्गहीनोऽपि हि विन्दतेऽर्थं तस्मादहो लोकहिताय गुह्यम्॥४८॥

वैशम्पायन उवाच-ततस्तदग्र्यं वचनं मनोऽनुगं समस्तमाज्ञाय ततो हि हेतुमत्।

तदा प्रणेदुश्च जहर्षिरे च ते कुरुप्रवीराय च चक्रिरेऽञ्जलिम् ॥४९॥

सुचारुवर्णाक्षरचारुभूषितां मनोऽनुगां निर्धुतवाक्यकण्टकाम्।

निशम्य तां पार्थिव पार्थभाषितां गिरं नरेन्द्राः प्रशशंसुरेव ते ॥५०॥

स चापि तान् धर्मसुतो महामनास्तदा प्रतीतान्प्रशशंस वीर्यवान्।

पुनश्च पप्रच्छ सरिद्वरासुतं ततः परं धर्ममहीनचेतसम् ॥ ५१ ॥[६१९४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि षड्जगीतायां सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६७॥

युधिष्ठिर उवाच-पितामह महाप्राज्ञ कुरूणां प्रीतिवर्धन।

प्रश्नं कंचित्प्रवक्ष्यामि तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

कीदृशा मानवाः सौम्याः कैः प्रीतिः परमा भवेत्।

आयत्यां च तदात्वे च के क्षमास्तान्वदस्व मे ॥ २ ॥

न हि तत्र धनं स्फीतं न च संबन्धिबान्धवाः।

कि कर्मसे अप्राप्य अर्थ नहीं मिलता; जो अवश्य होनहार है, वही प्राप्त होता है; धर्म, अर्थ, काम; इन त्रिवर्गोंसे हीन मनुष्य भी अर्थलाभ करता है; इस लिये सब लोकोंके हितके लिये विधाताने इस विषयको अत्यन्त गोपनीय कर रखा है। (४६-४८)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर भीमसेन आदि युधिष्ठिरका वह सब युक्तियुक्त मनोहर वचन सुनके हर्षित हुए और हाथ जोडके उस कुरुप्रवीर युधिष्ठिरको प्रणाम किया। हे राजन्! वे सब राजालोग उत्तम वर्णाक्षरोंसे विभूषित युधिष्ठिरके कही हुई कण्टक-रहित कथा सुनके अत्यन्त ही प्रशंसा करने लगे। वीर्यवान् महात्मा धर्मपुत्रने भी उन लोगोंको उस विषयमें विश्वास देखकर प्रशंसा की। अनन्तर वह सावधान चित्तवाले भीष्मदेवके समीप आके फिर परम धर्मका विषय पूछने लगे। (४९-५१) [६१९४]

शान्तिपर्वमें १६७ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १६८ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे महाबुद्धिमान पितामह! आप कौरवोंको प्रतिदिन बढाया करते हैं, इस लिये मैं और भी कुछ पूछता हूं उसे वर्णन करिये। कैसे मनुष्य प्रियदर्शन होते हैं? किसके सङ्ग परम प्रीति होती है। परिणाम और वर्त्तमान कालमें कौनसे लोग हितकारी

तिष्ठन्ति यत्र सुहृदस्तिष्ठन्तीति मतिर्मम ॥ ३ ॥
दुर्लभो हि सुहृच्छ्रोता दुर्लभश्च हितः सुहृत्।
एतद्धर्मभृतां श्रेष्ठ सर्वं व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच- सन्धेयान् पुरुषान् राजन्नसन्धेयांश्च तत्त्वतः।
वदतो मे निबोध त्वं निखिलेन युधिष्ठिर ॥ ५ ॥
लुब्धः क्रूरस्त्यक्तधर्मा निकृतिः शठ एव च।
क्षुद्रः पापसमाचारः सर्वशङ्की तथाऽलसः ॥ ६ ॥
दीर्घसूत्रोऽनृजुः क्रुष्टो गुरुदारप्रधर्षकः।
व्यसने यः परित्यागी दुरात्मा निरपत्रपः ॥ ७ ॥
सर्वतः पापदर्शी च नास्तिको वेदनिन्दकः।
संप्रकीर्णेन्द्रियो लोके यः कामं निरतश्चरेत् ॥ ८ ॥
असत्यो लोकविद्विष्टः समये चानवस्थितः।
पिशुनोऽथाकृतप्रज्ञो मत्सरी पापनिश्चयः ॥ ९ ॥
दुःशीलोऽथाकृतात्मा च नृशंसः कितवस्तथा।
मित्रैरपकृतिर्नित्यमिच्छतेऽर्थं परस्य यः ॥ १० ॥
ददतश्च यथाशक्ति यो न तुष्यति मन्दधीः।

हुआ करते हैं। आप मेरे समीप इन सब पुरुषोंका विषय वर्णन करिये। मुझे ऐसा मालूम होता है, कि बहुतसा धन सम्बन्धी और बान्धव सुहृदोंके समान नहीं होसकता। हितकारी वचन सुने और हितकर कार्योंको करे, ऐसा मित्र अत्यन्त दुर्लभ है। हे धार्मिक-प्रवर! आप यह सब वर्णन करिये। (१-४)

भीष्म बोले, हे धर्मराज! किन पुरुषोंके साथ मित्रता करनी चाहिये और किनके साथ मित्रता करनी योग्य नहीं है, उसे यथार्थ रीतिसे कहता हूं सुनिये। हे नरनाथ! जो लोग लोभी, क्रूर, कर्मत्यागी, धूर्त, शठ, नीचाशय, पापी, सबसे शङ्का करनेवाले, आलसी, दीर्घसूत्री, कोमलताहीन, लोकनिन्दित, गुरुस्त्री हरनेवाले, विपदमें पडे हुए, बान्धवोंको त्यागनेवाले, दुष्टात्मा, लज्जारहित, सब तरहसे पापदर्शी, नास्तिक, वेदनिन्दक, जनसमाजमें स्वेच्छाचारी तथा इन्द्रियोंके वशमें होनेवाले, लोगोंसे द्वेष करनेवाले, कार्यके समय असावधान, चुगुल, नष्टबुद्धि, मत्सरी, पाप करनेवाले, अशुद्धचित्तवाले, नृशंस, कितव, जो पुरुष सदा मित्रोंका अपकार और

अधैर्यमपि यो युङ्क्ते सदा मित्रं नरर्षभ ॥ ११ ॥
अस्थानक्रोधनोऽयुक्तो यश्चाकस्माद्विरुध्यते ।
सुहृदश्चैव कल्याणानाशु त्यजति किल्बिषी ॥ १२ ॥
अल्पेऽप्यपकृते मूढस्तथाज्ञानात्कृतेऽपि च ।
कार्यसेवी च मित्रेषु मित्रद्वेषी नराधिप ॥ १३ ॥
शत्रुर्मित्रमुखो यश्च जिह्मप्रेक्षी विलोचनः ।
न विरज्यति कल्याणे यः कुर्यात्तादृशं नरम् ॥ १४ ॥
पानपो द्वेषणः क्रोधी निर्घृणः परुषस्तथा ।
परोपतापी मित्रध्रुक् तथा प्राणिवधे रतः ॥ १५ ॥
कृतघ्नश्चाधमो लोके न सन्धेयः कदाचन ।
छिद्रान्वेषी ह्यसन्धेयः सन्धेयानपि मे शृणु ॥ १६ ॥
कुलीना वाक्यसंपन्ना ज्ञानविज्ञानकोविदाः ।
रूपवन्तो गुणोपेतास्तथाऽलुब्धा जितश्रमाः ॥ १७ ॥
सन्मित्राश्च कृतज्ञाश्च सर्वज्ञा लोभवर्जिताः ।
माधुर्यगुणसंपन्नाः सत्यसन्धा जितेन्द्रियाः ॥ १८ ॥

दूसरेके अर्थकी इच्छा करते हैं, जो नीचबुद्धि शक्तिके अनुसार दान करनेपर भी प्रसन्न नहीं होते, जो पुरुष सदा मित्रोंके विषयमें असन्तोष प्रकाशित करते हैं; जो चञ्चल चित्तवाला मनुष्य विनाकारणके ही क्रोध और अकस्मात विरोध किया करता है; जो पापी हितैषी मित्रोंको शीघ्र परित्याग, करता, जो मित्रद्रोही मूढ पुरुष थोडी बुराई अथवा अज्ञानके कारण कोई कार्य करके उसही समय मित्रोंकी उपासना किया करता है; जो पुरुष मित्रमुख शत्रु है, जो विपरीतदृष्टि अथवा कुटिलदर्शी है जो हितमें रत मनुष्यको परि करता है, सुरा पीनेवाला शत्रुता करनेवाला, क्रुद्ध, दयारहित, दूसरेसे डाह करनेवाला, मित्रद्रोही, प्राणिहिंसामें रत, कृतघ्न, छिद्र खोजनेवाला और जो पुरुष जनसमाजमें अधम रूपसे विख्यात हैं, उनके साथ कभी मित्रता करनी उचित नहीं है। (५-१६)

अब जिसके साथ मित्रता करनी उचित है, वह मुझसे सुनिये। जो लोग सत्कुलमें उत्पन्न हुए, वचनयुक्त, ज्ञानविज्ञानके जाननेवाले, रूपवान, गुणवान्, अलुब्ध, परिश्रमी, उत्तम मित्र, कृतज्ञ, सर्वज्ञ, लोभहीन, सदा कसरत करनेवाले, वंशधर, धुरन्धर, दोषरहित और

व्यायामशीलाः सततं कुलपुत्राः कुलोद्वहाः ।
दोषैः प्रमुक्ताः प्रथितास्ते ग्राह्याः पार्थिवैर्नराः ॥ १९ ॥
यथाशक्ति समाचाराः संप्रतुष्यन्ति हि प्रभो ।
नास्थाने क्रोधवन्तश्च न चाकस्माद्विरागिणः ॥ २० ॥
विरक्ताश्च न दुष्यन्ति मनसाप्यर्थकोविदाः ।
आत्मानं पीडयित्वापि सुहृत्कार्यपरायणाः ॥
विरज्यन्ति न मित्रेभ्यो वासोरक्तमिवाविकम् ॥ २१ ॥
क्रोधाच्च लोभमोहाभ्यां नानर्थं युवतीषु च ।
न दर्शयन्ति सुहृदो विश्वस्ता धर्मवत्सलाः ॥ २२ ॥
लोष्टकाञ्चनतुल्यार्थाः सुहृत्सु दृढबुद्धयः ।
ये चरन्त्यभिमानानि सृष्टार्थमनुषङ्गिणः ॥ २३ ॥
संगृह्णन्तः परिजनं स्वाम्यर्थपरमाः सदा ।
ईदृशैः पुरुषश्रेष्ठैर्यः सन्धिं कुरुते नृपः ॥ २४ ॥
तस्य विस्तीर्यते राज्यं ज्योत्स्ना ग्रहपतेरिव ।
शास्त्रनित्या जितक्रोधा बलवन्तो रणे सदा ॥ २५ ॥
जन्मशीलगुणोपेताः सन्धेयाः पुरुषोत्तमाः ।
ये च दोषसमायुक्ता नराः प्रोक्ता मयाऽनघ ॥ २६ ॥

जनसमाजमें विख्यात हैं, वे सब मनुष्य राजाओंके ग्राह्य हुआ करते हैं; जो लोग शक्तिके अनुसार सदाचारमें रत होकर सन्तुष्ट होते हैं, बिना कारणके क्रोध नहीं करते, वे सब अर्थकोविद लोग मनही मन विरक्त होनेपर भी दूषित नहीं होते; वे स्वयं कष्ट सहके भी मित्र-का कार्य सिद्ध करते हैं; बहुतसे रत जैसे वस्त्रको विरक्त नहीं करते, वैसे ही वे लोग मित्रोंसे विरक्त नहीं होते; क्रोधके वशमें होकर निर्द्धन और लोभ मोहके कारण स्त्रियोंको दुःखित नहीं करते; वे लोग प्रसन्नहृदय, विश्वासी, धर्म करनेवाले सुवर्ण और लोष्टमें सम-दर्शी और सुहृदोंके विषयमें दृढबुद्धि हुआ करते हैं, जो मनुष्य शास्त्रज्ञानका अभिमान और निज विभूषण त्यागके प्रजाके सङ्ग सदा स्वामीके कार्यमें तत्पर होते हैं, वैसे श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ जो राजा मित्रता करता है, उसका राज्य चन्द्रमाकी चन्द्रिकासमान बढता है, सदा शास्त्रमें रत; क्रोध जीतनेवाले युद्धमें पराक्रमी सत्वंशमें उत्पन्न, शील-युक्त, गुणवान् शूर पुरुषोंके सङ्ग

तेषामप्यधमा राजन् कृतघ्ना मित्रघातकाः ।
त्यक्तव्यास्तु दुराचाराः सर्वेषामिति निश्चयः ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर उवाच— विस्तरेणाथ संबन्धं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यः प्रोक्तस्तद्वदस्व मे ॥ २८ ॥

भीष्म उवाच— हन्त ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम् ।
उदीच्यां दिशि यद् वृत्तं म्लेच्छेषु मनुजाधिप ॥ २९ ॥
ब्राह्मणो मध्यदेशीयः कश्चिद्वै ब्रह्मवर्जितः ।
ग्रामं वृद्धियुतं वीक्ष्य प्राविशद्भैक्ष्यकाङ्क्षया ॥ ३० ॥
तत्र दस्युर्धनयुतः सर्ववर्णविशेषवित् ।
ब्रह्मण्यः सत्यसन्धश्च दाने च निरतोऽभवत् ॥ ३१ ॥
तस्य क्षयमुपागम्य ततो भिक्षामयाचत ।
प्रतिश्रयं च वासार्थं भिक्षां चैवाथ वार्षिकीम् ॥ ३२ ॥
प्रादात्तस्मै स विप्राय वस्त्रं च सदृशं नवम् ।
नारीं चापि वयोपेतां भर्त्रा विरहितां तथा ॥ ३३ ॥
एतत्संप्राप्य हृष्टात्मा दस्योः सर्वं द्विजस्तथा ।

मित्रता करनी उचित है । हे पापरहित महाराज ! पहिले मैंने जिन लोगोंको दोषयुक्त कहा, कृतघ्न और मित्रघाती पुरुष उन सबसे भी अधम हैं; यह निश्चय जान रखो, कि दुराचारियोंको सब लोगोंको परित्याग करना योग्य है । (१६—२७)

युधिष्ठिर बोले, आपने जो मित्रद्रोही और कृतघ्नका विषय कहा, मैं उसका पूरा इतिहास विस्तारके सहित सुननेकी इच्छा करता हूं; इससे मेरे समीप उसे वर्णन कीजिये । भीष्म बोले, हे नरनाथ ! उत्तर दिशामें म्लेच्छ देशके बीच जो घटना हुई थी; मैं प्रसन्न होकर तुम्हारे निकट वह प्राचीन इतिहास वर्णन करता हूं; सुनो । मध्यदेशीय गौतम नाम किसी ब्राह्मणने देवकर्मरहित एक गांव देखकर भीख मांगनेकी इच्छासे उसमें प्रवेश किया । वहां सब वर्णोंके विषयको जाननेवाला ब्रह्मनिष्ठ, सत्यसन्ध, दानमें रत एक धनवान डकैत वास करता था । ब्राह्मणने उसके स्थानमें पहुंचके रहनेके लिये घर और वार्षिक भिक्षा मांगी । डाकूने उस ब्राह्मणके योग्य नया वस्त्र और एक पतिहीन युवा स्त्री दान की । हे राजन् ! उस समय ब्राह्मण डाकूके समीप वह सब पाके प्रसन्न-चित्त होकर

तस्मिन् गृहवरे राजंस्तया रेमे स गौतमः ॥ ३४ ॥
कुटुम्बार्थं च दास्याश्च साहाय्यं चाप्यथाकरोत् ।
तत्रावसत्स वर्षांश्च समृद्धे शबरालये ॥ ३५ ॥
बाणवेधे परं यत्नमकरोच्चैव गौतमः ।
चक्राङ्गान्स च नित्यं वै सर्वतो वनगोचरान् ॥ ३६ ॥
जघान गौतमो राजन् यथा दस्युगणास्तथा ।
हिंसापटुर्घृणाहीनः सदा प्राणिवधे रतः ॥ ३७ ॥
गौतमः संनिकर्षेण दस्युभिः समतामियात् ।
तथा तु वसतस्तस्य दस्युग्रामे सुखं तदा ॥ ३८ ॥
अगमन्बहवो मासा निघ्नतः पक्षिणो बहून् ।
ततः कदाचिदपरो द्विजस्तं देशमागतः ॥ ३९ ॥
जटाचीराजिनधरः स्वाध्यायपरमः शुचिः ।
विनीतो नियताहारो ब्रह्मण्यो वेदपारगः ॥ ४० ॥
स ब्रह्मचारी तद्देश्यः सखा तस्यैव सुप्रियः ।
तं दस्युग्राममगमद्यत्रासौ गौतमोऽवसत् ॥ ४१ ॥
स तु विप्रगृहान्वेषी शूद्रान्नपरिवर्जकः ।

उस स्थानमें स्त्रीके सहित परम सुखसे समय बिताने और उसके कुटुम्बकी सहायता करने लगा; उसने उस समृद्धियुक्त डकैतके स्थानमें कई वर्षतक वास किया; क्रमसे बाण वेधनेमें वह अत्यन्त यत्नवान हुआ। (२८-३६)

हे राजन् ! वह डाकुओंकी तरह सदा वनचारी हंसोंको मारने लगा। गौतम धीरे धीरे हिंसायुक्त, दयाहीन और सदा प्राणियोंके वधमें रत रहनेसे दस्युओंके सहवासके कारण उनके समान होगया। उस समय उसी भांति अनेक पक्षियोंको मारते और डकैतके घरमें वास करते हुए उसको कई महीने व्यतीत हुआ। अनन्तर जटाचीर मृगछाल धारण करनेवाले, स्वाध्यायमें रत, पवित्र, विनययुक्त, मिताहारी, ब्रह्मनिष्ठ और वेदपारग दूसरे एक ब्राह्मणने उस स्थानमें आगमन किया। वह ब्रह्मचारी गौतमके स्वदेशीय और उसके अत्यन्त प्यारे तथा सखा थे; गौतम डाकुओंके जिस गांवमें वास करता था, वह भी उस ही जगह उपस्थित हुए। वह शूद्रका अन्न नहीं लेते थे, इस ही कारण डाकुओंसे परिपूरित उस गांवमें ब्राह्मणका घर खोजते हुए घूमने लगे। अन-

ग्रामे दस्युसमाकीर्णे व्यचरत्सर्वतो दिशम् ॥ ४२ ॥
ततः स गौतमगृहं प्रविवेश द्विजोत्तमः ।
गौतमश्चापि संप्राप्तस्तावन्योऽन्येन संगतौ ॥ ४३ ॥
चक्राङ्गभारस्कन्धं तं धनुष्पाणिं धृतायुधम् ।
रुधिरेणावसिक्ताङ्गं गृहद्वारमुपागतम् ॥ ४४ ॥
तं दृष्ट्वा पुरुषादाभमपध्वस्तं क्षयागतम् ।
अभिज्ञाय द्विजो व्रीडन्निदं वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ४५ ॥
किमिदं कुरुषे मोहाद्विप्रस्त्वं हि कुलोद्वहः ।
मध्यदेशपरिज्ञातो दस्युभावं गतः कथम् ॥ ४६ ॥
पूर्वान् स्मर द्विजज्ञातीन् प्रख्यातान्वेदपारगान् ।
तेषां वंशेऽभिजातस्त्वमीदृशः कुलपांसनः ॥ ४७ ॥
अवबुध्यात्मनात्मानं सत्त्वं शीलं श्रुतं दमम् ।
अनुक्रोशं च संस्मृत्य त्यज वासमिमं द्विज ॥ ४८ ॥
स एवमुक्तः सुहृदा तेन तत्र हितैषिणा ।
प्रत्युवाच ततो राजन् विनिश्चित्य तदार्तवत् ॥ ४९ ॥
निर्धनोऽस्मि द्विजश्रेष्ठ नापि वेदविदप्यहम् ।

न्तर उस विप्रने गौतमके गृहमें प्रवेश किया। गौतम भी उस समय वहां उपस्थित हुआ; इससे परस्पर भेंट हुई। (३६-४३)

हे धर्मराज! नये ब्राह्मणने गौतमको कन्धेपर हंसका भार और हाथमें धनुष-बाण लिये रुधिरपूरित शरीरसे राक्षस-की तरह घरके दर्वाजेपर आया हुआ देखकर पहिलेकी पहचानके कारण उसे पहचान कर यह वचन कहा, कि तुम वंशके धुरन्धर विप्र होके मोहके वशमें पडके यह कौनसा कार्य कर रहे हो; मध्यदेशके विख्यात ब्राह्मण होके किस कारण दस्युभावको प्राप्त हुए हो; तुम अपने वेदपारग पूर्व ज्ञातिसमूहका स्मरण करो, तुम उन्हींके वंशमें जन्म लेके ऐसे कुलाङ्गार हुए हो। हे द्विज! तुम स्वयं अपनेको जानके और सत्य-शील, अध्ययन, दम तथा दयाको स्मरण करके इस निवासस्थानको छोडो। (४४-४८)

हे राजन्! अनन्तर गौतमने उस हितैषी मित्रका ऐसा वचन सुनके और उनकी बातोंको विशेषरूपसे निश्चय करके आर्त्त पुरुषकी तरह उत्तर दिया कि, हे द्विजसत्तम! मैं धनहीन और

वित्तार्थमिह संप्राप्तं विद्धि मां द्विजसत्तम ॥ ५० ॥
त्वद्दर्शनात्तु विप्रेन्द्र कृतार्थोऽस्म्यद्य वै द्विज ।
आवां हि सह यास्यावः श्वो वसस्वाद्य शर्वरीम् ॥५१॥
स तत्र न्यवसद्विप्रो घृणी किंचिदसंस्पृशन् ।
क्षुधितश्छन्द्यमानोऽपि भोजनं नाभ्यनन्दत ॥५२॥ [६२४६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि
कृतघ्नोपाख्याने अष्टषष्ठ्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥

भीष्म उवाच— तस्यां निशायां व्युष्टायां गते तस्मिन् द्विजोत्तमे ।
निष्क्रम्य गौतमोऽगच्छत्समुद्रं प्रति भारत ॥ १ ॥
सामुद्रिकान्स वणिजस्ततोऽपश्यत् स्थितान् पथि ।
स तेन सह सार्थेन प्रययौ सागरं प्रति ॥ २ ॥
स तु सार्थो महान् राजन्कस्मिंश्चिद्गिरिगह्वरे ।
मत्तेन द्विरदेनाथ निहतः प्रायशोऽभवत् ॥ ३ ॥
स कथंचिद्भयात्तस्माद्विमुक्तो ब्राह्मणस्तथा ।
कान्दिग्भूतो जीवितार्थी प्रदुद्रावोत्तरां दिशम् ॥ ४ ॥
स तु सार्थपरिभ्रष्टस्तस्माद्देशात्तथा च्युतः ।

वेदज्ञानसे रहित हूं; इसही कारण धन-संग्रह करनेके लिये इस स्थानमें आया हूं, तुम ऐसाही समझो। हे विप्रवर! आज मैं आपको देखके कृतार्थ हुआ, आजकी रात आप इसही स्थानमें वास करिये; कल्ह हम दोनों साथही चलेंगे। दयालु ब्राह्मणने वहां पर किसी वस्तु-को स्पर्श न करके गौतमके वचनके अनुसार उस रातको वहांपर ही वास किया। वह भूखे थे, इससे गौतमने उन्हें भोजन करानेके लिये वार वार यत्न किया, परन्तु भोजन करनेमें उन-की रुचि न हुई। (४९—५२)

शान्तिपर्वमें १६८ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १६९ अध्याय।

भीष्म बोले, हे भारत! रात बीतने पर भोरके समय उस ब्राह्मणके जानेके अनन्तर गौतमने घरसे निकलके समुद्र-की ओर गमन किया। चलते चलते रास्तेमें समुद्रकी ओर जानेवाले बनियों को देखा, फिर वह उन लोगोंके साथ समुद्रकी ओर जाने लगा। हे राजन्! किसी पर्वतकी कन्दरामें स्थित मतवाले हाथियोंके जरिये वह बनियोंका समूह अधिकांश नष्ट हुआ। ब्राह्मण उस समय किसी तरह विपदसे छूटके भयसे तथा

एकाकी व्यचरत्तत्र वने किंपुरुषो यथा ॥ ५ ॥
स पन्थानमथासाद्य समुद्राभिसरं तदा ।
आससाद वनं रम्यं दिव्यं पुष्पितपादपम् ॥ ६ ॥
सर्वर्तुकैराम्रवणैः पुष्पितैरुपशोभितम् ।
नन्दनोद्देशसदृशं यक्षकिन्नरसेवितम् ॥ ७ ॥
शालैस्तालैस्तमालैश्च कालागुरुवनैस्तथा ।
चन्दनस्य च मुख्यस्य पादपैरुपशोभितम् ॥
गिरिप्रस्थेषु रम्येषु तेषु तेषु सुगन्धिषु ॥ ८ ॥
समन्ततो द्विजश्रेष्ठास्तत्राकूजन्त वै तदा ।
मनुष्यवदनाश्चान्ये भारुण्डा इति विश्रुताः ॥ ९ ॥
भूलिङ्गशकुनाश्चान्ये सामुद्राः पर्वतोद्भवाः ।
स तान्यतिमनोज्ञानि विहगानां रुतानि वै ॥ १० ॥
शृण्वन् सुरमणीयानि विप्रोऽगच्छत गौतमः ।
ततोऽपश्यत्सुरम्येषु सुवर्णसिकताचिते ॥ ११ ॥
देशे समे सुखे चित्रे स्वर्गोद्देशसमे नृप ।
श्रिया जुष्टं महावृक्षं न्यग्रोधं च सुमण्डलम् ॥ १२ ॥
शाखाभिरनुरूपाभिर्भूयिष्ठं छत्रसन्निभम् ।

जीवनकी इच्छा करके उत्तर दिशाकी ओर दौडा । वह अर्थसे भ्रष्ट और उक्त स्थानसे च्युत होकर अकेलाही कादरकी तरह वनमें घूमने लगा । अनन्तर वह समुद्रकी ओर जानेका उत्तम मार्ग पाकर एक रमणीय वनमें उपस्थित हुआ । (१-६)

नन्दनवनके समान यक्ष किन्नरोंसे सेवित वह वन सब ऋतुओंमें फलसे युक्त फूला हुआ आम्रके वनसे शोभित और शाल, ताल, तमाल, कालागुरु और उत्तम चन्दनके वृक्षोंसे अलंकृत था । उस समय वहां सुन्दर और सुगन्धियुक्त पहाडकी शिखरके सब हिस्सोंमें भारुण्डनाम विख्यात मनुष्यके रूपसमान पक्षियोंके समूह और पहाडसे समुद्र तक जानेवाले भूलिङ्ग शकुन आदि पक्षी किलोल कर रहे थे । गौतम उन सब पक्षियोंके मनोहर शब्दोंको सुनते हुए गमन करने लगा । हे महाराज ! अनन्तर उसने अत्यन्त रमणीय सिकताचित स्वर्गके समान सुखदायक किसी विचित्र समतल स्थानमें श्रीसंयुक्त मण्डलाकार एक बृहत् वटवृक्ष देखा । उसके

तस्य मूलं च संसिक्तं वरचन्दनवारिणा ॥ १३ ॥
दिव्यपुष्पान्वितं श्रीमत्पितामहसभोपमम्।
तं दृष्ट्वा गौतमः प्रीतो मनःकान्तमनुत्तमम् ॥ १४ ॥
मेध्यं सुरगृहप्रख्यं पुष्पितैः पादपैर्वृतम्।
तमासाद्य मुदा युक्तस्तस्याधस्तादुपाविशत् ॥ १५ ॥
तत्रासीनस्य कौन्तेय गौतमस्य सुखः शिवः।
पुष्पाणि समुपस्पृश्य प्रववावनिलः शुभः।
ह्लादयन् सर्वगात्राणि गौतमस्य तदा नृप ॥ १६ ॥
स तु विप्रः प्रशान्तश्च स्पृष्टः पुण्येन वायुना।
सुखमासाद्य सुष्वाप भास्करश्चास्तमभ्ययात् ॥ १७ ॥
ततोऽस्तं भास्करे याते सन्ध्याकाल उपस्थिते।
आजगाम स्वभवनं ब्रह्मलोकात्खगोत्तमः ॥ १८ ॥
नाडीजङ्घ इति ख्यातो दयितो ब्रह्मणः सखा।
बकराजो महाप्राज्ञः कश्यपस्यात्मसम्भवः ॥ १९ ॥
राजधर्मेति विख्यातो बभूवाप्रतिमो भुवि।
देवकन्यासुतः श्रीमान् विद्वान्देवसमप्रभः ॥ २० ॥
मृष्टाभरणसम्पन्नो भूषणैरर्कसन्निभैः।

अनुरूप सब शाखा मानो छत्रके समान हुई थीं, उसके मूलस्थलमें चन्दन-जल छिडका हुआ था। गौतम उस समय पितामहकी सभासमान, दिव्य फूलोंसे शोभित, श्रीयुक्त, अत्यन्त उत्तम मनोहर वृक्षका स्थान देखकर परम प्रसन्न हुआ; वह उस सुरपुर समान फूले हुए वृक्षोंसे परिपूरित पवित्र स्थानको पाके हर्षपूर्वक वहां बैठ गया। (७--१५)

हे कुन्तीपुत्र महाराज! गौतमके वहां बैठने पर सुखस्पर्शयुक्त शुभवायु उसके सब अंगोंको प्रफुल्लित करते हुए पुष्पसमूहोंको स्पर्श करके बहने लगा। ब्राह्मण पवित्र वायुके लगनेसे श्रम-रहित होके परम सुखसे सोगया, सूर्यने भी अस्ताचलपर गमन किया। अनन्तर सूर्यके अस्त तथा सन्ध्याकालके उपस्थित होने पर नाडीजङ्घ नामसे विख्यात् पितामहके प्रियमित्र कश्यप-पुत्र महा-बुद्धिमान पक्षीप्रवर बकराज ब्रह्मलोकसे निज स्थानमें आये। देवसमान प्रभायुक्त देवकन्यापुत्र श्रीमान् विद्वान् निरुपम बकराज पृथ्वीपर धर्मराज नामसे भी विख्यात थे; उनका सब शरीर सूर्यके

भूषितः सर्वगात्रेषु देवगर्भः श्रिया ज्वलन् ॥ २१ ॥
तमागतं खगं दृष्ट्वा गौतमो विस्मितोऽभवत् ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तो हिंसार्थी चाभ्यवैक्षत ॥ २२ ॥
राजधर्मोवाच— स्वागतं भवतो विप्र दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मे गृहम् ।
अस्तं च सविता यातः सन्ध्येयं समुपस्थिता ॥ २३ ॥
मम त्वं निलयं प्राप्तः प्रियातिथिरनिन्दितः ।
पूजितो यास्यसि प्रातर्विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ २४ ॥ [६२७०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६९ ॥

भीष्म उवाच— गिरं तां मधुरां श्रुत्वा गौतमो विस्मितस्तदा ।
कौतूहलान्वितो राजन् राजधर्माणमैक्षत ॥ १ ॥
राजधर्मोवाच— भोः कश्यपस्य पुत्रोऽहं माता दाक्षायणी च मे ।
अतिथिस्त्वं गुणोपेतः स्वागतं ते द्विजोत्तम ॥ २ ॥
भीष्म उवाच— तस्मै दत्त्वा स सत्कारं विधिदृष्टेन कर्मणा ।
शालपुष्पमयीं दिव्यां बृसीं वै समकल्पयत् ॥ ३ ॥

समान सफेद भूषणोंसे विभूषित था, वह देवगर्भसे उत्पन्न हुए पक्षिराज उस समय सुन्दरतासे प्रकाशित थे; गौतम उस पक्षिश्रेष्ठको आया हुआ देखके विस्मययुक्त हुआ, वह भूख और घामसे अत्यन्त व्याकुल था, इस कारण मारनेकी इच्छासे उसे देखने लगा। (१६-२२)

राजधर्मा बोले, हे विप्र ! आपका मङ्गल तो है ? भाग्यसे ही आप मेरे स्थानपर उपस्थित हुए हैं। सूर्य अस्त और सन्ध्याका समय उपस्थित हुआ, आप अनिन्दित प्रिय अतिथि कृपापूर्वक मेरे स्थान आये हैं, इसलिये आज इसी स्थानपर विधिपूर्वक सत्कृत होकर निवास करिये, कल्ह सबेरे निज स्थानपर जाइयेगा। (२३-२४)

शान्तिपर्वमें १६९ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १७० अध्याय।

भीष्म बोले, हे धर्मराज ! उस समय गौतम उस मधुर वचनको सुनकर विस्मित और कौतूहलयुक्त होकर राजधर्माको देखने लगा। राजधर्मा बोले, हे द्विजवर ! मैं कश्यपका पुत्र हूं, दाक्षायणी मेरी माता है; आप गुणवान अतिथि हैं, आपका मङ्गल तो है ? भीष्म बोले, अनन्तर कश्यपपुत्र राजधर्माने उस ब्राह्मणका विधिपूर्वक सत्कार

भगीरथरथाक्रान्तदेशान् गङ्गानिषेवितान्।
ये चरन्ति महामीनास्तांश्च तस्यान्वकल्पयत् ॥ ४ ॥
वह्निं चापि सुसन्दीप्तं मीनांश्चापि सुपीवरान्।
स गौतमायातिथये न्यवेदयत काश्यपिः ॥ ५ ॥
भुक्तवन्तं च तं विप्रं प्रीतात्मानं महातपाः।
क्लमापनयनार्थं स पक्षाभ्यामभ्यवीजयत् ॥ ६ ॥
ततो विश्रान्तमासीनं गोत्रप्रश्नमपृच्छत।
सोऽब्रवीद्गौतमोऽस्मीति ब्रह्म नान्यदुदाहरत् ॥ ७ ॥
तस्मै पर्णमयं दिव्यं दिव्यपुष्पाधिवासितम्।
गन्धाढ्यं शयनं प्रादात्स शिश्ये तत्र वै सुखम्॥ ८ ॥
अथोपविष्टं शयने गौतमं धर्मराट् तदा।
पप्रच्छ काश्यपो वाग्मी किमागमनकारणम् ॥ ९ ॥
ततोऽब्रवीद्गौतमस्तं दरिद्रोऽहं महामते।
समुद्रगमनाकाङ्क्षी द्रव्यार्थमिति भारत ॥ १० ॥
तं काश्यपोऽब्रवीत्प्रीतो नोत्कण्ठां कर्तुमर्हसि।
कृतकार्यो द्विजश्रेष्ठ सद्रव्यो यास्यसे गृहान् ॥ ११ ॥
चतुर्विधा ह्यर्थसिद्धिर्बृहस्पतिमतं यथा।

करके शान्त पुष्पमय दिव्य आसन प्रदान किया, भागीरथी गङ्गामें जो सब मछलियां विचरती हैं उन्हें और दूसरी पीवर मछलियां तथा अत्यन्त जलती हुई अग्नि गौतम अतिथिके लिये ला दी। ब्राह्मण भोजन करके प्रसन्न हुआ, महातपस्वी बकराज उसकी थकावट दूर होनेके लिये अपने दोनों पङ्खोंसे उसे वायु करने लगे, अनन्तर वह परिश्रम-रहित होकर बैठा, तब राजधर्माने उसका नाम और गोत्र पूछा। वह "मैं गौतम हूं"—इतना ही कहके और कुछ न बोला, फिर पक्षिराजने उसे दिव्य फूलोंसे सुवासित सुगन्धमय पत्तोंसे युक्त दिव्य शय्या दी; वह उसपर परम सुखसे सोया। (१—८)

अनन्तर जब गौतम शय्यासे उठा, तब कश्यपपुत्र राजधर्माने उसके आगमनका प्रयोजन पूछा। हे भारत ! गौतम उनसे बोला, हे महाबुद्धिमान ! मैं अत्यन्त दरिद्र हूं, इसलिये धनसञ्चय करनेके वास्ते समुद्रकी ओर जानेकी इच्छा की है। राजधर्मा प्रसन्न होकर उससे बोले, हे द्विजवर ! आप आतुर

पारम्पर्यं तथा दैवं काम्यं मैत्रमिति प्रभो ॥ १२ ॥
प्रादुर्भूतोऽस्मि ते मित्रं सुहृत्त्वं च मम त्वयि ।
सोऽहं तथा यतिष्यामि भविष्यसि यथाऽर्थवान् ॥१३॥
ततः प्रभातसमये सुखं दृष्ट्वाऽब्रवीदिदम् ।
गच्छ सौम्य पथाऽनेन कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ १४ ॥
इतस्त्रियोजनं गत्वा राक्षसाधिपतिर्महान् ।
विरूपाक्ष इति ख्यातः सखा मम महाबलः ॥ १५ ॥
तं गच्छ द्विजमुख्य त्वं स मद्वाक्यप्रचोदितः ।
कामानभीप्सितांस्तुभ्यं दाता नास्त्यत्र संशयः ॥१६॥
इत्युक्तः प्रययौ राजन् गौतमो विगतक्लमः ।
फलान्यमृतकल्पानि भक्षयन् स यथेष्टतः ॥ १७ ॥
चन्दनागुरुमुख्यानि त्वक्पत्राणां वनानि च ।
तस्मिन् पथि महाराज सेवमानो द्रुतं ययौ ॥ १८ ॥
ततो मेरुव्रजं नाम नगरं शैलतोरणम् ।
शैलप्राकारवप्रं च शैलयन्त्राकुलं तथा ॥ १९ ॥
विदितश्चाभवत्तस्य राक्षसेन्द्रस्य धीमतः ।

न होइये। कृतकार्य होकर धन-सञ्चयके सहित घर जाइये। बृहस्पतिके मतके अनुसार परम्पर, दैव, काम्य और मैत्र भेदसे अर्थसिद्धि चार प्रकारकी है; इस समय मैं तुम्हारा मित्र हुआ हूं और तुम्हारे ऊपर मेरी सुहृदता उत्पन्न हुई है; इससे तुम जिस तरह धनवान् होगे, मैं उसमें यत्नवान् होऊंगा। अनन्तर पक्षिराजने भोरके समय गौतमको सुख से बैठा हुआ देखके यह वचन बोले, हे प्रियदर्शन! तुम इस मार्गसे जाइये, अवश्य ही कृतकार्थ होगे; यहांसे तीन योजन जाने पर विरूपाक्ष नामसे वि-ख्यात महाबली पराक्रमी मेरे मित्र एक राक्षसराजको देखोगे, हे विप्र! तुम मेरे वचनके अनुसार उनके समीप जाओ, वह तुम्हें निःसन्देह सब अभि-लषित वस्तु दान करेंगे। (९-१६)

हे धर्मराज! गौतम पक्षिराजका ऐसा वचन सुन, इच्छानुसार अमृत-समान फलोंको खाकर सावधान होके चलने लगा। महाराज! वह उस मार्ग में अगरु, चन्दन और भोजपत्रोंके सु-न्दर वनोंसे होता हुआ शीघ्रताके सहित जाने लगा। अनन्तर वह शैल-तोरण सम्पन्न पहाडकी दीवार और विप्रयुक्त

प्रहितः सुहृदा राजन् प्रीयमाणः प्रियातिथिः॥ २० ॥
ततः स राक्षसेन्द्रः स्वान् प्रेष्यानाह युधिष्ठिर।
गौतमो नगरद्वाराच्छीघ्रमानीयतामिति ॥ २१ ॥
ततः पुरवरात्तस्मात्पुरुषाः श्येनचेष्टनाः।
गौतमेत्यभिभाषन्तः पुरद्वारमुपागमन् ॥ २२ ॥
ते तमूचुर्महाराज राजप्रेष्यास्तदा द्विजम्।
त्वरस्व तूर्णमागच्छ राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति ॥ २३ ॥
राक्षसाधिपतिर्वीरो विरूपाक्ष इति श्रुतः।
स त्वां त्वरति वै द्रष्टुं तत्क्षिप्रं संविधीयताम्॥ २४ ॥
ततः स प्राद्रवद्विप्रो विस्मयाद्विगतक्लमः।
गौतमः परमर्द्धिं तां पश्यन् परमविस्मितः ॥ २५ ॥
तैरेव सहितो राज्ञो वेश्म तूर्णमुपाद्रवत्।
दर्शनं राक्षसेन्द्रस्य काङ्क्षमाणो द्विजस्तदा ॥२६॥ [६२९६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७० ॥

भीष्म उवाच— ततः स विदितो राज्ञः प्रविश्य गृहमुत्तमम्।

शैलयन्त्रोंसे परिपूरित मेरुव्रज नाम नगरमें पहुंचा। हे राजन्! वह वहां पहुंचके बुद्धिमान् राक्षसराजके प्रिय मित्रके भेजनेसे आया हूं, कहके प्रिय अतिथि रूपसे मालूम हुआ। हे युधिष्ठिर! राक्षसराजने अपने दूतोंसे कहा, कि नगरके दर्वाजेसे गौतमको शीघ्र ले आओ; शीघ्रता करनेवाले राजदूतोंने स्वामीकी आज्ञा पाते ही नगरके द्वारपर उपस्थित होकर गौतमका नाम लेकर उसे बुलाया। हे महाराज! वे सब दूत उस समय ब्राह्मणसे बोले, तुम शीघ्रता करो, जलदी चलो; राजा तुम्हें देखनेकी इच्छा करता है; विरूपाक्ष नाम राक्षसराज तुम्हें देखनेके लिये आतुर हो रहे हैं; इस लिये जलदी आओ। (१७—२४)

अनन्तर गौतम ब्राह्मण श्रमरहित तथा उस परमसमृद्धिको देखकर अत्यन्त विस्मित होके राक्षसराजके दर्शनकी इच्छा करता हुआ, दूतोंके सङ्ग शीघ्रही राजमन्दिरमें उपस्थित हुआ। २५-२६

शान्तिपर्वमें १७० अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १७१ अध्याय।

भीष्म बोले, अनन्तर गौतम राक्षसराजको विदित होकर उसके रमणीय

पूजितो राक्षसेन्द्रेण निषसादासनोत्तमे ॥ १ ॥
पृष्टश्च गोत्रचरणं स्वाध्यायं ब्रह्मचारिकम्।
न तत्र व्याजहारान्यद्गोत्रमात्राहते द्विजः ॥ २ ॥
ब्रह्मवर्चसहीनस्य स्वाध्यायोपरतस्य च।
गोत्रमात्रविदो राजा निवासं समपृच्छत ॥ ३ ॥

राक्षस उवाच— क्व ते निवासः कल्याण किंगोत्रा ब्राह्मणी च ते।
तत्त्वं ब्रूहि न भीः कार्या विश्वसस्व यथासुखम् ॥४॥

गौतम उवाच— मध्यदेशप्रसूतोऽहं वासो मे शबरालये।
शूद्रा पुनर्भूर्भार्या मे सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच— ततो राजा विममृशे कथं कार्यमिदं भवेत्।
कथं वा सुकृतं मे स्यादिति बुद्ध्याऽन्वचिन्तयत् ॥६॥
अयं वै जन्मना विप्रः सुहृत्तस्य महात्मनः।
संप्रेषितश्च तेनायं काश्यपेन ममान्तिकम् ॥ ७ ॥
तस्य प्रियं करिष्यामि स हि मामाश्रितः सदा।
भ्राता मे बान्धवश्चासौ सखा च हृदयङ्गमः ॥ ८ ॥
कार्तिक्यामद्य भोक्तारः सहस्रं मे द्विजोत्तमाः।

मन्दिरमें प्रवेश करते ही उससे सत्कार प्राप्त करके सुन्दर आसनपर विठलाकर, राजाने उसका गोत्र, आचार, वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य का विषय पूछा; उसने केवल गोत्र बताया और कुछ भी नहीं कहा। राक्षसराजने उस ब्रह्मतेजरहित, स्वाध्यायहीन, गोत्रमात्रके जाननेवाले ब्राह्मणका निवास पूछा। राक्षस बोला, हे विप्र! तुम्हारा निवास कहां है, तुमने किस गोत्रमें विवाह किया है, डरो मत, सत्य कहो; निःशङ्क चित्तसे विश्वास करो। गौतम बोला, मैंने मध्यदेशमें जन्म लिया। इस समय डाकूके घर वास करता हूं; एक विधवा शूद्रासे विवाह किया है, यह तुम्हारे निकट यथार्थ कहा। (१–५)

भीष्म बोले, अनन्तर राक्षसराजने विमर्शयुक्त होके मनही मन चिन्ता की, कि किस तरह यह कार्य सिद्ध होगा, किस प्रकार मेरा सुकृतसञ्चय हो सकेगा। यह केवल जातिका ब्राह्मण है, महात्मा बकराजका मित्र है, इसीसे उन्होंने इसे मेरे पास भेजा है; वह सदा मेरे आश्रित, भ्राता, बान्धव और हृदयसे सखा है; इसलिये मैं उनका प्रिय कार्य सिद्ध करूंगा। आज कार्त्तिकी

तन्नायमपि भोक्ता च देयमस्मै च मे धनम् ॥ ९ ॥
स चाद्य दिवसः पुण्यो ह्यतिथिश्चायमागतः।
संकल्पितं चैव धनं किं विचार्यमतः परम् ॥ १० ॥
ततः सहस्रं विप्राणां विदुषां समलंकृतम्।
स्नातानामनुसंप्राप्तं सुमहत्क्षौमवाससाम् ॥ ११ ॥
तानागतान् द्विजश्रेष्ठान् विरूपाक्षो विशांपते।
यथार्हं प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १२ ॥
बृस्यस्तेषां तु संन्यस्ता राक्षसेन्द्रस्य शासनात्।
भूमौ वरकुशास्तीर्णाः प्रेष्यैर्भरतसत्तम ॥ १३ ॥
तासु ते पूजिता राज्ञा विषण्णा द्विजसत्तमाः।
तिलदर्भोदकेनाथ अर्चिता विधिवद् द्विजाः ॥ १४ ॥
विश्वे देवाः सपितरः साग्नयश्चोपकल्पिताः।
विलिप्ताः पुष्पवन्तश्च सुप्रचाराः सुपूजिताः ॥ १५ ॥
व्यराजन्त महाराज नक्षत्रपतयो यथा।
ततो जांबूनदीः पात्रीर्वज्राङ्का विमलाः शुभाः ॥१६॥
वराञ्नपूर्णा विप्रेभ्यः प्रादान्मधुघृतप्लुताः।

पूर्णिमाके दिन मैं सहस्र ब्राह्मणोंको भोजन कराऊंगा, यह भी उनके साथ भोजन करेगा; तब इसे धनदान करूंगा। आज पुण्यतिथि है, यह भी अतिथि होकर आया है; दानके निमित्त संकल्प हुआ धन भी उपस्थित है; फिर अब कुछ विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। राक्षसराजके ऐसा विचार करनेके अनन्तर पीताम्बरधारी स्नात और चन्दन आदिसे अलंकृत सहस्र विद्वान् विप्र उसके गृहपर उपस्थित हुए। हे महाराज! विरूपाक्षने आये हुए उन ब्राह्मणोंका विधिपूर्वक यथायोग्य सत्कार किया; उनकी आज्ञाके अनुसार सेवकोंने भूमिपर कुशके आसन बिछा दिये। ब्राह्मणलोग राक्षसराजसे सत्कार पाके आसनोंपर बैठ गये, तब राजाने तिल, दर्भ और जलसे उनकी पूजा की। (९-१४)

महाराज! विश्वदेव पितर और अग्निमूर्त्तिस्वरूप सदाचारी ब्राह्मणलोग चन्दनचर्चित, फलमालासे युक्त और भलीभांति पूजित होकर, सुधाकरसमूह की तरह शोभित हुए। अनन्तर राक्षसराजने ब्राह्मणोंको घृत और मधुयुक्त उत्तम अन्नोंसे भरे हुए हीरा जटित

तस्य नित्यं सदाऽऽषाढ्यां माघ्यां च बहवो द्विजाः ॥१७॥
ईप्सितं भोजनवरं लभन्ते सत्कृतं सदा।
विशेषतस्तु कार्तिक्यां द्विजेभ्यः संप्रयच्छति ॥ १८ ॥
शरद्व्यपाये रत्नानि पौर्णमास्यामिति श्रुतिः।
सुवर्णं रजतं चैव मणीनथ च मौक्तिकान् ॥ १९ ॥
वज्रान्महाधनांश्चैव वैदूर्याजिनराङ्कवान्।
रत्नराशीन्विनिक्षिप्य दक्षिणार्थे स भारत ॥ २० ॥
ततः प्राह द्विजश्रेष्ठान् विरूपाक्षो महाबलः।
गृह्णीत रत्नान्येतानि यथोत्साहं यथेष्टतः ॥ २१ ॥
येषु येषु च भाण्डेषु भुक्तं वो द्विजसत्तमाः।
तान्येवादाय गच्छध्वं स्ववेश्मानीति भारत ॥ २२ ॥
इत्युक्तवचने तस्मिन् राक्षसेन्द्रे महात्मनि।
यथेष्टं तानि रत्नानि जगृहुर्ब्राह्मणर्षभाः ॥ २३ ॥
ततो महार्हास्ते सर्वे रत्नैरभ्यर्चिताः शुभैः।
ब्राह्मणा मृष्टवसनाः सुप्रीताः स्म ततोऽभवन् ॥२४॥
ततस्तान् राक्षसेन्द्रश्च द्विजानाह पुनर्वचः।
नानादेशागतान् राजन् राक्षसान् प्रतिषिध्य वै ॥२५॥

निर्मलसुवर्ण पात्र प्रदान किया। हर वर्ष आषाढी और माघी पूर्णमासीको बहुतेरे ब्राह्मण उसके स्थानमें इच्छानुसार उत्तम भोजन पाते थे; मैंने ऐसा सुना है, कि विशेषकरके शरत् ऋतुके बीतनेपर कार्तिककी पूर्णमासीको राक्षसराज बहुत ब्राह्मणोंको इसी तरह भोजन कराके बहुतसे रत्नदान किया करता था। जो हो, ब्राह्मणोंके भोजन कर चुकने पर उन्हें दक्षिणा देनेके निमित्त महाबलवान् विरूपाक्षने सोने, चांदी, मणि, मोती, महामूल्यवान् हीरे, प्रवाल और रांकव आदि रत्नोंके ढेर मंगाके कहा, हे द्विजसत्तमो! आप लोग इच्छा और उत्साहके अनुसार इन रत्नोंको लेके जिसने जिसमें भोजन किया है; वह उस ही पात्रको लेकर अपने अपने घर जावे। (१७-२२)

महात्मा राक्षसराजके ऐसा कहनेपर पवित्र वस्त्रवाले माननीय ब्राह्मणोंने इच्छानुसार उन सब रत्नोंको ग्रहण किया और पवित्र रत्नोंसे पूजित होकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। हे राजन्! अनन्तर राक्षसराजने अनेक देशोंसे आये

अद्यैकं दिवसं विप्रा न वोऽस्तीह भयं क्वचित् ।
राक्षसेभ्यः प्रमोदध्वमिष्टतो यात मा चिरम् ॥ २६ ॥
ततः प्रदुद्रुवुः सर्वे विप्रसङ्घाः समन्ततः ।
गौतमोऽपि सुवर्णस्य भारमादाय सत्वरः ॥ २७ ॥
कृच्छ्रात्समुद्वहन् भारं न्यग्रोधं समुपागमत् ।
न्यषीदच्च परिश्रान्तः क्लान्तश्च क्षुधितश्च सः ॥ २८ ॥
ततस्तमभ्यगाद्राजन् राजधर्मा खगोत्तमः ।
स्वागतेनाभिनन्दंश्च गौतमं मित्रवत्सलः ॥ २९ ॥
तस्य पक्षाग्रविक्षेपैः क्लमं व्यपनयत्खगः ।
पूजां चाप्यकरोद्धीमान् भोजनं चाप्यकल्पयत् ॥ ३० ॥
स भुक्तवान्सुविश्रान्तो गौतमोऽचिन्तयत्तदा ।
हाटकस्याभिरूपस्य भारोऽयं सुमहान्मया ॥ ३१ ॥
गृहीतो लोभमोहाभ्यां दूरं च गमनं मम ।
न चास्ति पथि भोक्तव्यं प्राणसंधारणं मम ॥ ३२ ॥
किं कृत्वा धारयेयं वै प्राणानित्यभ्यचिन्तयत् ।

हुए राक्षसोंको निषेध करके उन ब्राह्मणोंसे फिर कहा, हे ब्राह्मणलोगो ! आज एक दिनके लिये इस स्थानमें आप लोगोंको राक्षसोंसे कुछ भय नहीं है; इस लिये आप लोग आनन्दित होकर शीघ्रही अपने अभिलषित देशोंमें जाइये। अनन्तर ब्राह्मणलोग निज निज दिशाकी ओर दौडे; गौतम भी शीघ्रताके सहित सुवर्णभार उठाके अत्यन्त कष्टसे ढोता हुआ पूर्वोक्त वटवृक्षके निकट उपस्थित हुआ और परिश्रमसे अत्यन्त थककर तथा भूखा होके वहां बैठ गया। हे धर्मराज ! अनन्तर मित्रवत्सल पक्षिश्रेष्ठ राजधर्माने गौतमको स्वागत प्रश्नसे अभिनन्दित करते हुए उसके समीप गये और अपने दोनों पंखोंको डुलाकर उसकी थकावट दूर करने लगे; फिर बुद्धिमान् पक्षीने उसका यथा उचित सत्कार करके भोजनकी सामग्री ला दी। (२३–३०)

गौतम उस समय परिश्रमरहित होके भोजन करके सोचने लगा, कि "मैंने लोभ और मोहके वशमें होकर बहुतसा सुवर्ण भार ग्रहण किया है, मुझे बहुत दूर जाना पडेगा; रस्तेमें प्राणधारणके लिये भोजनकी कुछ भी सामग्री नहीं है; इससे किस तरह प्राण धारण करूंगा।" हे पुरुषप्रवर !

ततः स पथि भोक्तव्यं प्रेक्षमाणो न किंचन ॥ ३३ ॥
कृतघ्नः पुरुषव्याघ्र मनसेदमचिन्तयत् ।
अयं बकपतिः पार्श्वे मांसराशिः स्थितो महान् ॥३४॥
इमं हत्वा गृहीत्वा च यास्येऽहं समभिद्रुतम् ॥३५॥ [६३२१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि
कृतघ्नोपाख्याने एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥

भीष्म उवाच— अथ तत्र महार्चिष्माननलो वातसारथिः ।
तस्याविदूरे रक्षार्थं खगेन्द्रेण कृतोऽभवत् ॥ १ ॥
स चापि पार्श्वे सुष्वाप निःश्वस्तो बकराट् तदा ।
कृतघ्नस्तु स दुष्टात्मा तं जिघांसुरथाग्रतः ॥ २ ॥
ततोऽलातेन दीप्तेन निःश्वस्तं निजघान तम् ।
निहत्य च मुदा युक्तः सोऽनुबन्धं न दृष्टवान् ॥ ३ ॥
स तं विपक्षरोमाणं कृत्वाग्नावपचत्तदा ।
तं गृहीत्वा सुवर्णं च ययौ द्रुततरं द्विजः ॥ ४ ॥
ततोऽन्यस्मिन् गते चाह्नि विरूपाक्षोऽब्रवीत्सुतम् ।
न प्रेक्षे राजधर्माणमद्य पुत्र खगोत्तमम् ॥ ५ ॥

अनन्तर कृतघ्न ब्राह्मणने मार्गमें जानेके समय खाने योग्य कुछ भी वस्तु सङ्गमें न देखकर मनही मन ऐसाही सोचा, कि यह मांसराशि बकराज मेरे बगलमें स्थित है, इसेही मारके ग्रहण करके शीघ्रताके सहित वेगपूर्वक गमन करूंगा। (३१–३५) [६३२१]

शान्तिपर्वमें १७१ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १७२ अध्याय।

भीष्म बोले, पक्षिराज वटवृक्षके निकट ब्राह्मणकी रक्षाके निमित्त वायुकी सहायतासे युक्त महा अर्चिष्मान् अग्नि स्थापित की थी उन्होंने विश्वासपूर्वक उसके निकटमें ही शयन किया। दुष्टात्मा कृतघ्न ब्राह्मणने उन्हें मारनेकी इच्छासे उनके अगाडी सोया; अनन्तर उस दुष्टात्माने उस विश्वासी बकराजको जलते हुए अङ्गारसे मार डाला; मारके हर्षित हुआ, पाप अथवा दोष नहीं देखा। अनन्तर उसने उस मृत पक्षीको पङ्खहीन तथा लोमरहित करके आगके बीच पकाया। पकानेके बाद उस पक्षिमांस और सुवर्णको लेके अत्यन्त जलदी वेगपूर्वक जाने लगा। (१–४)

दूसरे दिन राक्षसराज विरूपाक्षने निज पुत्रको सम्बोधन करके कहा,

स पूर्वसन्ध्यां ब्रह्माणं वन्दितुं याति सर्वदा।
मां चाऽदृष्ट्वा कदाचित्स न गच्छति गृहं खगः ॥ ६ ॥
उभे द्विरात्रिसन्ध्ये वै नाभ्यगात्स ममालयम्।
तस्मान्न शुध्यते भावो मम स ज्ञायतां सुहृद् ॥ ७ ॥
स्वाध्यायेन वियुक्तो हि ब्रह्मवर्चसवर्जितः।
तद्गतस्तत्र मे शङ्का हन्यात्तं स द्विजाधमः ॥ ८ ॥
दुराचारस्तु दुर्बुद्धिरिङ्गितैर्लक्षितो मया।
निष्कृपो दारुणाकारो दुष्टो दस्युरिवाधमः ॥ ९ ॥
गौतमः स गतस्तत्र तेनोद्विग्नं मनो मम।
पुत्र शीघ्रमितो गत्वा राजधर्मनिवेशनम् ॥ १० ॥
ज्ञायतां स विशुद्धात्मा यदि जीवति मा चिरम्।
स एवमुक्तस्त्वरितो रक्षोभिः सहितो ययौ ॥ ११ ॥
न्यग्रोधं तत्र चापश्यत् कङ्कालं राजधर्मणः।
स रुदन्नगमत्पुत्रो राक्षसेन्द्रस्य धीमतः ॥ १२ ॥
त्वरमाणः परं शक्त्या गौतमग्रहणाय वै।

हे पुत्र! आज मैंने खगवर राजधर्माको नहीं देखा। वह प्रतिदिन प्रातःकाल ब्रह्माकी वन्दना करने जाया करते हैं; परन्तु मुझे विना देखे कभी घर नहीं जाते थे। दो सन्ध्या और दो रात्रि बीत गई, वह मेरे स्थानपर नहीं आये; इसलिये मेरा मन प्रसन्न नहीं होता है; वह सुहृत् कहां है, उनकी खोज करो। वेदज्ञानसे हीन, ब्रह्मवर्चसरहित, हिंसामें रत, वह अधम ब्राह्मण वहां गया है, वह उनका वध कर सकता है, मुझे ऐसीही शङ्का होरही है; मैंने इङ्गितसे जान लिया है, कि गौतम अत्यन्त दुराचारी, नीचबुद्धि, निर्दयी, दारुण आकृति, और दस्युओंकी तरह अधम प्रकृतिवाला है, वह उस स्थानपर गया है; इसही लिये मेरा मन व्याकुल होरहा है। हे पुत्र! इससे तुम शीघ्रही यहांसे राजधर्माके स्थानपर जाके मालूम करो, कि वे शुद्ध स्वभाववाले सुहृद जीवित हैं, वा नहीं। बुद्धिशक्तिसे युक्त राक्षसराजका पुत्र पिताका वचन सुनकर शीघ्रताके सहित राक्षसोंको सङ्ग लेकर वटवृक्षके निकट गया और जाके वहांपर राजधर्माकी हड्डी देखी। उसे देखके वह अत्यन्त दुःखित होकर रोता हुआ शक्ति के अनुसार शीघ्रता के सहित गौतम को पकडने के लिये

ततो विदूरे जगृहुर्गौतमं राक्षसास्तदा ॥ १३ ॥
राजधर्मशरीरं च पक्षास्थिचरणोज्झितम्।
तमादायाथ रक्षांसि द्रुतं मेरुव्रजं ययुः ॥ १४ ॥
राज्ञश्च दर्शयामासुः शरीरं राजधर्मणः।
कृतघ्नं पुरुषं तं च गौतमं पापकारिणम् ॥ १५ ॥
रुरोद राजा तं दृष्ट्वा सामात्यः सपुरोहितः।
आर्त्तनादश्च सुमहानभूत्तस्य निवेशने ॥ १६ ॥
सस्त्रीकुमारं च पुरं बभूवास्वस्थमानसम्।
अथाब्रवीन्नृपः पुत्रं पापोऽयं वध्यतामिति ॥ १७ ॥
अस्य मांसैरिमे सर्वे विहरन्तु यथेष्टतः।
पापाचारः पापकर्मा पापात्मा पापसाधनः ॥ १८ ॥
हन्तव्योऽयं मम मतिर्भवद्भिरिति राक्षसाः।
इत्युक्ता राक्षसेन्द्रेण राक्षसा घोरविक्रमाः ॥ १९ ॥
नैच्छन्त तं भक्षयितुं पापकर्माणमित्युत।
दस्यूनां दीयतामेष साध्वद्य पुरुषाधमः ॥ २० ॥
इत्यूचुस्ते महाराज राक्षसेन्द्रं निशाचराः।

दोहा। (५-१३)

अनन्तर राक्षसोंने बहुत दूर जाके पङ्ख, हड्डी और चरण रहित राजधर्माके शरीरके सहित गौतमको पकडा; उसे पकडके उन लोगोंने शीघ्रताके सहित मेरुव्रज नगरमें आके, राजाके समीप राजधर्माका मृत शरीर और पाप कृतघ्न गौतमको उपस्थित किया। राजा पुरोहित तथा मन्त्रियोंके सहित उसे देखकर रोने लगे, राजभवनमें बहुतही आर्त्तनाद उत्पन्न हुआ; नगरके बीच बालक स्त्री सबका चित्त व्याकुल होगया। अनन्तर राक्षसराजने पुत्रको आज्ञा दी, कि "इस पापीका शीघ्र वध करो"-और ये सब राक्षस लोग इच्छानुसार इसका मांस भक्षण करके सन्तुष्ट होवें। हे राक्षस-लोगो! मेरे विचारमें ऐसा आता है, कि तुमलोग इसी समय इस पापाचारी, पापकर्म करनेवाले, पापमें रत, पापात्मा-का वध करो। घोर पराक्रमी राक्षसोंने राक्षसेन्द्रका ऐसा वचन सुनके उस पापीको भक्षण करनेकी इच्छा नहीं की। महाराज! उन सब राक्षसोंने शिर नीचा करके राक्षसराजसे कहा। (१३-२०)

इस अधम मनुष्यको भक्षण करनेके

शिरोभिः प्रणताः सर्वे व्याहरन् राक्षसाधिपम् ॥२१॥
न दातुमर्हसि त्वं नो भक्षणायास्य किल्बिषम्।
एवमस्त्विति तानाह राक्षसेन्द्रो निशाचरान् ॥ २२ ॥
दस्यूनां दीयतामेष कृतघ्नोऽद्यैव राक्षसाः।
इत्युक्ता राक्षसास्तेन शूलपट्टिशपाणयः ॥ २३ ॥
कृत्वा तं खण्डशः पापं दस्युभ्यः प्रददुस्तदा।
दस्यवश्चापि नैच्छन्त तमत्तुं पापकारिणम्।
क्रव्यादा अपि राजेन्द्र कृतघ्नं नोपभुञ्जते ॥ २४ ॥
ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता राजन् कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥२५॥
मित्रद्रोही कृतघ्नश्च नृशंसश्च नराधमः।
क्रव्यादैः कृमिभिश्चैव न भुज्यन्ते हि तादृशाः ॥२६॥[६३५७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२ ॥

भीष्म उवाच— ततश्चितां बकपतेः कारयामास राक्षसः।
रत्नैर्गन्धैश्च बहुभिर्वस्त्रैश्च समलंकृताम् ॥ १ ॥

लिये इसी समय दस्युओंके हाथमें सौंपिये, इसका पापमय शरीर भक्षण करनेके वास्ते हम लोगोंको आज्ञा देना आपको उचित नहीं है। राक्षसराजने निशाचरोंके वचनमें सम्मत होके उनसे कहा, हे राक्षसलोगो! इस कृतघ्नको इसी समय दस्युओंके हाथमें सौंपो। शूल, पट्टिशधारी राक्षसोंने स्वामीकी आज्ञा पातेही उस पापीको टुकडे टुकडे करके उसही समय दस्युओंके हवाले किया। दस्युओंने भी उस पापाचारीको भक्षण करनेकी इच्छा नहीं की। हे धर्मराज! मांसभक्षी नृशंसलोग भी कृतघ्नोंको भक्षण नहीं करते। हे राजन्! ब्राह्मणघाती, सुरा पीनेवाले, चोर और कृतघ्न पुरुषोंकी वलिक निष्कृति होती है; परन्तु कृतघ्न लोगोंकी किसी प्रकार निष्कृति नहीं होती। जो नराधम मित्रद्रोही, कृतघ्न और नृशंस हैं; क्रव्याद तथा दूसरे मांसभक्षी कीडे भी उन्हें भक्षण नहीं करते। (२०-२६)

शान्तिपर्वमें १७२ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १७३ अध्याय।

भीष्म बोले, अनन्तर प्रतापशाली राक्षसराज रत्न, गन्ध और अनेक वस्त्रोंसे अलंकृत चिता तैय्यार कराके

ततः प्रज्वाल्य नृपतिर्बकराजं प्रतापवान् ।
प्रेतकार्याणि विधिवद्राक्षसेन्द्रश्चकार ह ॥ २ ॥
तस्मिन्काले च सुरभिर्देवी दाक्षायणी शुभा ।
उपरिष्टात्ततस्तस्य सा बभूव पयस्विनी ॥ ३ ॥
तस्या वक्त्राच्च्युतः फेनः क्षीरमिश्रस्तदाऽनघ ।
सोऽपतद्वै ततस्तस्यां चितायां राजधर्मणः ॥ ४ ॥
ततः संजीवितस्तेन बकराजस्तदाऽनघ ।
उत्पत्य च समीयाय विरूपाक्षं बकाधिपः ॥ ५ ॥
ततोऽभ्ययाद्देवराजो विरूपाक्षपुरं तदा ।
प्राह चेदं विरूपाक्षं दिष्ट्या संजीवितस्त्वया ॥ ६ ॥
श्रावयामास चेन्द्रस्तं विरूपाक्षं पुरातनम् ।
यथा शापः पुरा दत्तो ब्रह्मणा राजधर्मणः ॥ ७ ॥
यदा बकपती राजन् ब्रह्माणं नोपसर्पति ।
ततो रोषादिदं प्राह खगेन्द्राय पितामहः ॥ ८ ॥
यस्मान्मूढो मम सभां नागतोऽसौ बकाधमः ।
तस्माद्वधं स दुष्टात्मा न चिरात्समवाप्स्यति ॥ ९ ॥
तदयं तस्य वचनान्निहतो गौतमेन वै ।
तेनैवामृतसिक्तश्च पुनः संजीवितो बकः ॥ १० ॥

बकराजको जलाकर विधिपूर्वक उनका प्रेत कर्म करने लगे । उस समय दक्षनान्दिनी पयस्विनी शोभना सुरभीदेवी उसके ऊपरके विभागमें प्रकट हुई; उनके मुखसे क्षीर-मिश्रित फेन निकलके राजधर्माकी चितामें गिरा । अनन्तर बकराज उसहीके जरिये फिर जीवित होके उठकर विरूपाक्षके निकट उपस्थित हुए । उसही समय देवराज विरूपाक्ष के नगरमें आके उससे बोले, हे राक्षस राज ! तुमने प्रारब्धसेही राजधर्माको फिर जीवित किया । पहिले समयमें प्रजापतिने राजधर्माको जो शाप दिया था, देवेन्द्रने वह प्राचीन वृत्तान्त विरूपाक्षको सुनाया; उन्होंने कहा, हे राजन् ! बकराज प्रजापतिके निकट नहीं गये, इसीसे उन्होंने इनके ऊपर क्रुद्ध होके यह वचन कहा था, कि "दुष्ट समाववाला बकाधम जब मेरी सभामें नहीं आया, तब शीघ्रही वह नष्ट होगा" इसलिये ब्रह्माके वचन अनुसार ये गौतमके जरिये मरकर उन्हींके अमृत

राजधर्मा बकः प्राह प्रणिपत्य पुरन्दरम् ।
यदि तेऽनुग्रहकृता मयि बुद्धिः सुरेश्वर ॥ ११ ॥
सखायं मे सुदयितं गौतमं जीवयेत्युत ।
तस्य वाक्यं समादाय वासवः पुरुषर्षभ ॥ १२ ॥
सिक्त्वाऽमृतेन तं विप्रं गौतमं जीवयत्तदा ।
सभाण्डोपस्करं राजंस्तमासाद्य बकाधिपः ॥ १३ ॥
संपरिष्वज्य सुहृदं प्रीत्या परमया युतः ।
अथ तं पापकर्माणं राजधर्मा बकाधिपः ॥ १४ ॥
विसर्जयित्वा सधनं प्रविवेश स्वमालयम् ।
यथोचितं च स बको ययौ ब्रह्मसदस्तथा ॥ १५ ॥
ब्रह्मा चैनं महात्मानमातिथ्येनाभ्यपूजयत् ।
गौतमश्चापि संप्राप्य पुनस्तं शबरालयम् ॥
शूद्रायां जनयामास पुत्रान् दुष्कृतकारिणः ॥ १६ ॥
शापश्च सुमहांस्तस्य दत्तः सुरगणैस्तदा ।
कुक्षौ पुनर्भ्वां पापोऽयं जनयित्वा चिरात्सुतान् ॥ १७ ॥
निरयं प्राप्स्यति महत् कृतघ्नोऽयमिति प्रभो ।
एतत्प्राह पुरा सर्वं नारदो मम भारत ॥ १८ ॥

सेचनसे फिर जीवित हुए हैं। (१-१०)

अनन्तर राजधर्मा बकने पुरन्दरको प्रणाम करके कहा। हे नरेश्वर! यदि आपने कृपा की है, तो मेरे प्रियमित्र गौतमको फिर जीवित करिये; पुरुषप्रवर इन्द्रने उनके वचनके अनुसार अमृत छिडकके गौतमको फिर जिला दिया। हे धर्मराज! बकराजने सुवर्णपात्र आदिसे युक्त उस पापाचारी सुहृदको पाकर परम प्रीतिके सहित आलिङ्गन करके धन रत्नके सहित उसे बिदा कर दिया; आपभी निज स्थानमें आके पहिले की भांति प्रजापतिकी सभामें गमन किया। ब्रह्माने उस महात्माको अतिथि-सत्कारसे सम्मानित किया। गौतमभी फिर डाकूके स्थानपर पहुंचके शूद्राभार्यासे बहुतसे पापी पुत्र उत्पन्न किया। उस समय देवताओंने उसके विषयमें महाशाप दिया था, कि यह पापाचारी कृतघ्न ब्राह्मण पुनर्भू पत्नीके गर्भसे बहुत समयतक बहुतसे पुत्रोंको उत्पन्न करके महानरकगामी होगा। (११-१७)

हे भारत! मुझसे नारद मुनिने पहिले यह सब वृत्तान्त कहा था, मैंने वह सब

संस्मृत्य चापि सुमहदाख्यानं भरतर्षभ।
मयाऽपि भवते सर्वं यथावदनुवर्णितम् ॥ १९ ॥
कुतः कृतघ्नस्य यशः कुतः स्थानं कुतः सुखम्।
अश्रद्धेयः कृतघ्नो हि कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ २० ॥
मित्रद्रोहो न कर्तव्यः पुरुषेण विशेषतः।
मित्रध्रुङ् नरकं घोरमनन्तं प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥
कृतज्ञेन सदा भाव्यं मित्रकामेन चैव ह।
मित्राच्च लभते सर्वं मित्रात्पूजां लभेत च ॥ २२ ॥
मित्राद्भोगांश्च भुञ्जीत मित्रेणापत्सु मुच्यते।
सत्कारैरुत्तमैर्मित्रं पूजयेत विचक्षणः ॥ २३ ॥
परित्याज्यो बुधैः पापः कृतघ्नो निरपत्रपः।
मित्रद्रोही कुलाङ्गारः पापकर्मा नराधमः ॥ २४ ॥
एष धर्मभृतां श्रेष्ठ प्रोक्तः पापो मया तव।
मित्रद्रोही कृतघ्नो वै किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ २५ ॥
वैशम्पायन उवाच-एतच्छ्रुत्वा तदा वाक्यं भीष्मेणोक्तं महात्मना।
युधिष्ठिरः प्रीतमना बभूव जनमेजय ॥ २६ ॥ [६३८३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १७३ ॥

समाप्तं चापद्धर्मपर्व।

स्मरण करके तुम्हारे समीप यथार्थ रीतिसे यह महत् उपाख्यान वर्णन किया। कृतघ्न पुरुषको यश, सुख और आश्रयस्थान कहां है? कृतघ्न अत्यन्त अश्रद्धेय है, कृतघ्न पुरुषका किसी तरह निस्तार नहीं होता। मनुष्यमात्रकोही मित्रद्रोह करना उचित नहीं; मित्रद्रोही मनुष्य महाघोर अनन्त नरकमें गमन करता है। मित्रतायुक्त मनुष्यको सदा कृतज्ञ होना उचित है, मित्रोंसे समस्त वस्तु प्राप्त होती हैं; मित्रसे ही संमान मिलता है, मित्रोंसे सब भोग वस्तुयें भोगी जाती हैं, मित्रोंसेही विपदसे छुटकारा मिलता है; बुद्धिमान् पुरुष उत्तम सत्कारके जरिये मित्रकी पूजा करें। पापी, कुलाङ्गार, निरपत्रप, पापकर्ममें रत, पुरुषोंमें अधम, मित्रद्रोही, कृतघ्न पुरुषोंको पण्डितलोग परित्याग करें। हे धार्मिकवर! यह मैंने तुम्हारे निकट पापाचारी, मित्रद्रोही कृतघ्नका विषय वर्णन किया,

फिर कहिये अब कौनसे विषयको सुन- नेकी अभिलाषा करते हो? (१७-२५)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे जनमे- जय! उस समय महानुभाव भीष्मकी कही हुई इतनी कथा सुनके युधिष्ठिर अत्यन्त प्रसन्नचित्त हुए थे। (२६)

शान्तिपर्वमें १७३ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें आपद्धर्मपर्व समाप्त।

श्लोकसंख्या।

१-११	स्त्रीपर्वके अन्ततक	५८०९९
१२	शान्तिपर्वान्तर्गत—	
	१ राजधर्मपर्व ४७३५	
	२ आपद्धर्मपर्व १६५२	
		६३८७
	सर्वयोग	६४४८६

शान्तिपर्वान्तर्गत आपद्धर्मपर्वकी

विषय सूची।

अध्याय विषय पृष्ठ

१३१ युधिष्ठिरका भीष्मसे आपत्कालमें उपजीव्य वस्तुओंकी चोरी होनेपर भी राजाओंसे ब्राह्मणोंकी रक्षा, तथा उनके जीविकाकी उपाय पूछना, भीष्मके द्वारा उसको उपाय वर्णन और राजाओंको निज राज्य तथा परराज्यसे धनसंग्रह प्रतिवल तथा धर्म करनेका उपदेश। ६८९

१३५ युधिष्ठिरके विषयमें भीष्मका उपदेशछलसे दस्युराज कायव्यका उपन्यास कहना और राजकोष सञ्चयके विषयमें ब्रह्माकी कही हुई गाथा वर्णन करना। ७००

१३७ युधिष्ठिरके निकट भीष्मकेद्वारा अनागतविधाता, प्रत्युत्पन्नमति और दीर्घसूत्री पुरुषोंके लक्षणके विषयमें शकुलनामी तीन मछलियोंका इतिहास वर्णन। ७०५

१३८ युधिष्ठिरका भीष्मसे राजाके शत्रुओंके बीच घिरनेपर उसका कर्त्तव्य कार्य पूछना और भीष्मका उस विषयमें बिडाल—मूषिक-संवादयुक्त इतिहास कहना। ७०९

१३९ राजाओंको शत्रुओंका विश्वास न करना चाहिये, इस विषयमें सन्देहयुक्त होके युधिष्ठिरका भीष्मसे प्रश्न करना और उस विषयमें भीष्मके द्वारा पुजनी चिडिया तथा राजा ब्रह्मदत्तका इतिहास वर्णन। ७३८

१४० युधिष्ठिरका भीष्मसे युगक्षयनिबन्धनसे धर्मादि विनष्ट तथा लोगोंके क्षीण होनेपर कर्त्तव्य कार्य पूछना और भीष्मका उस प्रसङ्गमें राजा शत्रुञ्जय और भारद्वाजका इतिहास कहना। ७५४

१४१ आपत्कालमें धर्मादि विनष्ट तथा लोगोंसे उल्लङ्घित होनेपर लोगोंके कर्त्तव्यकार्य विषयमें युधिष्ठिरका प्रश्न सुनके भीष्मके द्वारा उस विषयमें विश्वामित्र और चाण्डालका इतिहास वर्णन। ७६४

१४२ समस्त धर्माचरणमें असमर्थताहेतु युधिष्ठिरका भीष्मसे प्रश्न करना और भीष्मका युधिष्ठिरके विषयमें धर्मा-

अध्याय विषय पृष्ठ

चरण विषयक उपदेश। ७७९

१४९ शरणागत पुरुषोंके प्रतिपालन करनेसे जो धर्म होता है, उस विषयमें युधिष्ठिरके समीप भीष्मके द्वारा कबूतर और व्याधाके सम्वादयुक्त इतिहास वर्णन। ७८५

१५० विना जाने पापाचरण करनेसे किस प्रकार मुक्ति होती है, इस विषय को जाननेके लिये युधिष्ठिरका भीष्मसे प्रश्न करना और भीष्मका उस विषयमें इन्द्रोतजनमेजय संवाद कहना। ८०२

१५१ कोई मनुष्य मरके फिर जीवित होता है, उसे जाननेके लिये युधिष्ठिर-का भीष्मसे प्रश्न करना और भीष्मका युधिष्ठिरसे उसके उत्तर प्रसङ्ग में गृध्रजम्बुक संवादयुक्त इतिहास कहना। ८१४

१५४ असार, अल्पबल तथा क्षुद्र-जीवी मनुष्य शत्रुनिग्रहमें समर्थ पुरुष-से वैर करनेपर किस प्रकार आत्मरक्षा करेगा, उसे जाननेके लिये युधिष्ठिरका भीष्मसे प्रश्न करना और भीष्मका उस विषयमें शाल्मलिपवनसंवादयुक्त इति-हास कहना। ८३०

१५८ पापका निवासस्थान और जिससे पाप प्रवर्तित होता है, उसे जाननेके लिये युधिष्ठिरका भीष्मसे प्रश्न करना और भीष्मके द्वारा उसका वृत्ता-न्त वर्णन। ८४०

१५९ युधिष्ठिरके पूछनेपर भीष्मके द्वारा अज्ञानका विषय वर्णन। ८४५

१६० युधिष्ठिरके पूछनेपर भीष्मके द्वारा स्वाध्यायमें यत्नशील धर्मकी इच्छावाले मनुष्योंके लिये इस लोकमें कल्याणदायक विषय वर्णन। ८४७

१६१ युधिष्ठिरके निकट भीष्मके द्वारा तपका प्रभाव वर्णन। ८५२

१६२ युधिष्ठिरके पूछनेपर भीष्मके द्वारा, सत्यधर्म सत्यके लक्षण तथा धर्मादि वर्णन। ८५४

१६३ युधिष्ठिरका भीष्मसे कामादि तेरह रिपुओंकी उत्पत्तिका विषय पूछना, उस प्रसङ्गमें भीष्मके द्वारा लोभोपाख्यान और निरास पुरुषोंका वर्णन। ८५७

१६५ युधिष्ठिरके समीप भीष्मके द्वारा वेदान्त जाननेवाले तथा यज्ञशील ब्राह्मणोंके विषयमें दानादि विविध उपदेश और रजस्वलागमन प्रभृति अनेक प्रकारके पाप तथा पापका प्राय-श्चित वर्णन। ८६०

१६६ नकुलके पूछनेपर भीष्मके द्वारा तलवारकी उत्पत्ति वर्णन। ८७३

१६७ युधिष्ठिरका विदुर तथा भाइ-योंसे धर्म, अर्थ, कामके उत्तम, मध्यम और निकृष्ट भेद पूछना तथा विदुरादि-का उस विषय में उत्तर। ८८४

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१६८	युधिष्ठिरका भीष्मसे मित्रामित्रका विषय पूछना और भीष्मका उस विषयको वर्णन करना।	८९१
१६९	युधिष्ठिरका भीष्मसे कृतघ्नका इतिहास पूछना तथा भीष्मके द्वारा कृतघ्नोपाख्यान वर्णन।	८९८

आपद्धर्मपर्वकी विषयसूची

समाप्त।

मुद्रक और प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

REGISTERED NO. B. 1819

अङ्क ८६ [शांतिपर्व अंक १०]

महाभारत

भाषा--भाष्य--समेत

संपादक-श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल, औंध, जि. सातारा

संपूर्ण महाभारत तैयार है।

मूल्य।

सजिल्द ६५) डा० व्य० अलग

बिनाजिल्द ६०) ,, ,, ,,

मंत्री--स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि. सातारा)

१२ अंकोंका मूल्य म. आं. से. ६) और वी.पी. से ७) विदेशके लिये ८)

ॐ

अथ मोक्षधर्मपर्व।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥
युधिष्ठिर उवाच— धर्माः पितामहेनोक्ता राजधर्माश्रिताः शुभाः।
धर्ममाश्रमिणां श्रेष्ठं वक्तुमर्हसि पार्थिव ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— सर्वत्र विहितो धर्मः सत्यप्रेत्य तपःफलम्।
बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया ॥ २ ॥
यस्मिन्यस्मिंस्तु विषये यो यो याति विनिश्चयम्।
स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम ॥ ३ ॥
यथा यथा च पर्येति लोकतन्त्रमसारवत्।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः ॥ ४ ॥
एवं व्यवसिते लोके बहुदोषे युधिष्ठिर।

मोक्षधर्मपर्व।

शान्तिपर्वमें १७४ अध्याय।

नारायण, पुरुषोंमें श्रेष्ठ नर और सरस्वती देवीको प्रणाम करके पश्चात् जय इतिहासकी कथा कहे। (१)

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! आपने राजधर्माश्रित परम पवित्र आपद्धर्म पूर्ण रीतिसे कहे; अब गृहस्थ आदि सब आश्रमवालोंके लिये जो श्रेष्ठ हो, उस धर्म विषयको वर्णन करिये। भीष्म बोले, हे भरतसत्तम! आश्रममात्रमें ही धर्म विहित है, उसमेंसे सत्यस्वरूप परमात्म विषयको सुनना, मनन, निदिध्यासनमय, तपस्याके ज्ञानरूप फल इस जीवनमेंही दीख पडते हैं; धर्मके द्वार अनेक तरहके हैं, इस लोकमें उनकी समस्त क्रिया कभी निष्फल नहीं होती। ज्ञानलाभ, उसके निमित्त चित्तशुद्धि, स्वर्गकामना और पुत्रोंको उत्पन्न करना आदि जिन जिन विषयोंको जो लोग निश्चय करते हैं, उसे ही वे कल्याणकारी समझा करते हैं; विषयान्तरोंमें उनकी प्रवृत्ति नहीं होती; जब संसार तृण आदि तुच्छ वस्तुओंकी तरह असार रूपसे समझ पडता है, तभी इससे निःसन्देह विराग उत्पन्न

आत्ममोक्षनिमित्तं वै यतेत मतिमान्नरः ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच— नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते ।
यया बुद्ध्या नुदेच्छोकं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच— नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते ।
अहो दुःखमिति ध्यायन् शोकस्यापचितिं चरेत् ॥७॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यथा सेनजितं विप्रः कश्चिदेत्याब्रवीत्सुहृत् ॥ ८ ॥
पुत्रशोकाभिसंतप्तं राजानं शोकविह्वलम् ।
विषण्णमनसं दृष्ट्वा विप्रो वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥
किं नु मुह्यसि मूढस्त्वं शोच्यः किमनुशोचसि ।
यदा त्वामपि शोचन्तः शोच्या यास्यन्ति तां गतिम् ॥१०॥
त्वं चैवाहं च ये चान्ये त्वामुपासन्ति पार्थिव ।
सर्वे तत्र गमिष्यामो यत एवागता वयम् ॥ ११ ॥

सेनजिदुवाच— का बुद्धिः किं तपो विप्र कः समाधिस्तपोधन ।

हुआ करता है। हे युधिष्ठिर! अनेक दोषोंका आधार संसार जब इस प्रकार असार कहके निश्चित हुआ है, तब बुद्धिमान मनुष्योंको आत्ममोक्षके निमित्त यत्न करना उचित है। (१-५)

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! धन-नाश अथवा पुत्र कलत्र वा पिताके परलोकगामी होनेपर जिस बुद्धिके जरिये शोक दूर किया जाता है, आप उसे मेरे समीप वर्णन करिये। भीष्म बोले, धन नष्ट होने तथा स्त्री, पुत्र और पिताके मरनेपर 'हाय! कैसा दुःख है!' ऐसी चिन्ता करते हुए शोक दूर करनेके लिये आत्मज्ञानके निमित्त शमगुण आदिकोंका अनुष्ठान करे। इस विषयमें पण्डित लोग इस प्राचीन इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं। किसी ब्राह्मणने सेनजित् राजाके निकट सुहृद्भावसे आके जो कहा था, उसे सुनो। कोई ब्राह्मणपुत्र शोकसे दुःखित राजा सेनजित् को शोकसे विह्वल और व्याकुल देखकर बोला, हे राजन्! तुम क्यों मोहित होते हो। स्वयं शोचनीय होकर किस निमित्त दूसरेके लिये शोक प्रकाश करते हो। जो लोग तुम्हारे लिये शोक किया करते हैं, वे भी शोकयुक्त होकर शोच-नीय अवस्थाको प्राप्त होंगे। तुम, मैं और जो लोग तुम्हारी उपासना करते हैं; सबकोही जहांसे आये हैं, वहांही

किं ज्ञानं किं श्रुतं चैव यत्प्राप्य न विषीदसि ॥ १२ ॥
ब्राह्मण उवाच— पश्य भूतानि दुःखेन व्यतिषिक्तानि सर्वशः ।
उत्तमाधममध्यानि तेषु तेष्विह कर्मसु ॥ १३ ॥
आत्माऽपि चायं न मम सर्वा वा पृथिवी मम ।
यथा मम तथाऽन्येषामिति चिन्त्य न मे व्यथा ॥
एतां बुद्धिमहं प्राप्य न प्रहृष्ये न च व्यथे ॥ १४ ॥
यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥ १५ ॥
एवं पुत्राश्च पौत्राश्च ज्ञातयो बान्धवास्तथा ।
तेषां स्नेहो न कर्तव्यो विप्रयोगो ध्रुवो हि तैः ॥१६॥
अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः ।
न त्वाऽसौ वेद न त्वं तं कः सन् किमनुशोचसि ॥१७॥
तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ।

फिर जाना पडेगा । (६-११)

सेनजित् बोले, हे तपोधन ब्राह्मण! बुद्धि क्या है, तपस्या क्या है, समाधि किसे कहते हैं। ज्ञान क्या है और इन सबके प्रमाण शास्त्रके अनुसार सुननेहीसे क्या फल है? जिसे जानके भी आप शोकित नहीं होते हैं। ब्राह्मण बोला, देव, तिर्यग् मनुष्य आदि उत्तम और मध्यम समस्त प्राणी निमित्तभूत कर्मों के जरिये दुःखसे युक्त होरहे हैं, "मैं" यह प्रीतिगोचर आत्मा ही मेरा नहीं है, अथवा समस्त पृथ्वीही मेरी है, यह जैसी मेरी है दूसरे की भी वैसीही है, ऐसाही विचारनेसे मुझे कुछ दुःख नहीं होता; मैं इस ही बुद्धिसे हर्षित वा दुःखित नहीं होता। जैसे महासागरमें काठसे काठ आपसमें मिलके फिर जिस प्रकार पृथक् होते हैं, जीवोंका समागम भी वैसा ही है। पुत्र, पौत्र, स्वजन, बान्धव सबही इसी प्रकार हैं, इससे उन लोगोंके विषयमें प्रीति करनी उचित नहीं है; क्यों कि इनका अवश्यही विच्छेद होता है। (१२-१६)

जिसका रूप देखनेमें नहीं आता उस अगोचर चिन्मय पुरुषसे तुम्हारा पुत्र उत्पन्न हुआ था, फिर दृष्टि-मार्गसे अतीत होकर उसहीमें लीन हुआ है; वह तुम्हें नहीं जानता, तुम भी उसे नहीं जानते; तुम कौन हो, किसके लिये शोक करते हो? विषयवासना-रूपी व्याधिसे दुःख प्रकट होता है, दुःखनाश होनेके लिये सुख उत्पन्न

सुखात्संजायते दुःखं दुःखमेवं पुनः पुनः ॥ १८ ॥
सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
सुखदुःखे मनुष्याणां चक्रवत्परिवर्ततः ॥ १९ ॥
सुखात्त्वं दुःखमापन्नः पुनरापत्स्यसे सुखम्।
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम् ॥ २० ॥
शरीरमेवायतनं सुखस्य दुःखस्य चाप्यायतनं शरीरम्।
यद्यच्छरीरेण करोति कर्म तेनैव देही समुपाश्नुते तत् ॥ २१ ॥
जीवितं च शरीरेण तेनैव सह जायते।
उभे सह विवर्तेते उभे सह विनश्यतः ॥ २२ ॥
स्नेहपाशैर्बहुविधैराविष्टविषया जनाः।
अकृतार्थाश्च सीदन्ते जलैः सैकतसेतवः ॥ २३ ॥
स्नेहेन तिलवत्सर्वं सर्गचक्रे निपीड्यते।
तिलपीडैरिवाक्रम्य क्लेशैरज्ञानसंभवैः ॥ २४ ॥
संचिनोत्यशुभं कर्म कलत्रापेक्षया नरः।
एकः क्लेशानवाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥ २५ ॥

हुआ करता है, सुखसे भी दुःख प्रकट होता है; इससे दुःखही बार बार उत्पन्न होता है। सुखके अनन्तर दुःख और दुःखके बाद सुख उत्पन्न हुआ करता है; इसलिये मनुष्योंके सुख दुःख चक्रकी तरह घूम रहे हैं। तुमने सुखके बाद दुःख पाया है, फिर सुख पाओगे। मनुष्य कभी सदा सुख दुःख भोग नहीं करता, अकेला शरीरही सुख दुःख का स्थान है। स्थूल और सूक्ष्म भेदसे दो प्रकारका शरीरही सुख और दुःखका आश्रय है; जीव जिस शरीरसे जो कर्म करता है, उसही शरीरके जरिये उसका फल भोगता है। (१७-२१)

जीवनका कारण सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरके सहित उत्पन्न होती हैं, दोनों संसारयात्राके समय विविध रूपसे वर्त्तमान रहतीं और दोनों ही एकही समय नष्ट होती हैं। मनुष्यलोग अनेक तरहके स्नेहपाशके जरिये विषयमें फंसके जलमें स्थित बालूके पुलके समान अकृतार्थ रूपसे अवसन्न होते हैं। तिलको पेरनेवाले तेली लोग जैसे प्रीतिपूर्वक तिलोंको चक्रमें पेरते हैं, वैसेही सब कोई अज्ञानसे उत्पन्न हुए क्लेशकदम्बसे आक्रान्त होकर सृष्टिचक्रमें पेरे जारहे हैं। मनुष्य, भार्या आदि परिवार समूहके भरण पोषणके वास्ते

पुत्रदारकुटुम्बेषु प्रसक्ताः सर्वमानवाः।
शोकपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥ २६ ॥
पुत्रनाशे वित्तनाशे ज्ञातिसंबन्धिनामपि।
प्राप्यते सुमहद्दुःखं दावाग्निप्रतिमं विभो ॥
दैवायत्तमिदं सर्वं सुखदुःखे भवाभवौ ॥ २७ ॥
असुहृत्ससुहृच्चापि सशत्रुर्मित्रवानपि।
सप्रज्ञः प्रज्ञया हीनो दैवेन लभते सुखम् ॥ २८ ॥
नालं सुखाय सुहृदो नालं दुःखाय शत्रवः।
न च प्रज्ञानमर्थानां न सुखानामलं धनम् ॥ २९ ॥
न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥ ३० ॥
बुद्धिमन्तं च शूरं च मूढं भीरुं जडं कविम्।
दुर्बलं बलवन्तं च भागिनं भजते सुखम् ॥ ३१ ॥

चोरी आदि अशुभ कर्म किया करता है; परन्तु इस लोक और परलोकमें अकेलाही उस दुष्कर्मजनित क्लेशको भोग करता है। मनुष्यमात्रही पुत्र, कलत्र आदि कुटुम्बोंमें आसक्त होकर कीचडमें फंसे हुए जीर्ण जङ्गली हाथीके समान शोकसमूहमें डूबते रहते हैं। (२२—२६)

पुत्रनाश, वित्तनाश और स्वजन सम्बन्धियोंके विनाश होनेपर मनुष्योंको दावानलके समान महत् दुःख प्राप्त होता है। सुख दुःखकी उत्पत्ति और क्षय आदि सब दैवके वशमें है; प्रत्युपकारकी इच्छा न करके जो लोग उपकार करते हैं, वे मित्रपदके वाच्य होते हैं, मनुष्य वैसे सुहृदोंसे युक्त होवें, अथवा असुहृदही हों, शत्रुयुक्त हों अथवा मित्रवानही होवें, बुद्धिमान् हों, अथवा बुद्धिहीनही होवें, दैववशसे ही सुखलाभ किया करते हैं। मित्रलोग सुख देनेमें समर्थ नहीं हो सकते, शत्रुभी दुःख नहीं दे सकते; बुद्धि रहनेसेही धन नहीं होता, धन होनेपर भी सुख नहीं होसकता; बुद्धिमत्ता धन प्राप्तिका कारण नहीं है; मूर्खता भी असमृद्धिका कारण नहीं होती; इससे प्राज्ञपुरुष ही लोक-निर्माण वृत्तान्तको जानते हैं दूसरे नहीं। क्या बुद्धिमान, क्या दुर्बुद्धि, क्या कादर, क्या साहसी, क्या मूर्ख, क्या दीर्घदर्शी, क्या निर्बल और क्या बलवान, जो पुरुष भाग्यवान् होता है, वही सुखभोग किया करता

धेनुर्वत्सस्य गोपस्य स्वामिनस्तस्करस्य च ।
पयः पिबति यस्तस्या धेनुस्तस्येति निश्चयः ॥ ३२ ॥
ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः ।
ते नराः सुखमेधन्ते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥ ३३ ॥
अन्त्येषु रेमिरे धीरा न ते मध्येषु रेमिरे ।
अन्त्यप्राप्तिं सुखामाहुर्दुःखमंतरमन्त्ययोः ॥ ३४ ॥
ये च बुद्धिसुखं प्राप्ता द्वन्द्वातीता विमत्सराः ।
तान्नैवार्था न चानर्था व्यथयन्ति कदाचन ॥ ३५ ॥
अथ ये बुद्धिमप्राप्ता व्यतिक्रान्ताश्च मूढताम् ।
तेऽतिवेलं प्रहृष्यन्ति संतापमुपयान्ति च ॥ ३६ ॥
नित्यं प्रमुदिता मूढा दिवि देवगणा इव ।
अवलेपेन महता परिभूत्या विचेतसः ॥ ३७ ॥
सुखं दुःखान्तमालक्ष्य दुःखं दाक्ष्यं सुखोदयम् ।
भूतिस्त्वेवं श्रिया सार्धं दक्षे वसति नालसे ॥ ३८ ॥
सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम् ।

है । (२७-३१)

पुत्र, गोप्रतिपालक और तस्कर, इन सबके बीच जो पुरुष गऊका दूध पीता है, निश्चय है, कि गऊ उस ही की है । जनसमाजमें जो सब मूढ मनुष्य हैं, और जिन्होंने बुद्धितत्वसे अतीत परब्रह्मको जाना है, वेही सब मनुष्य सुखलाभ किया करते हैं, इन दोनोंके मध्यमें रहनेवाले लोग तत्त्वज्ञ पुरुषोंमें अनुरक्त होते हैं, मध्यप्रकारके मनुष्योंमें रत नहीं होते, वे लोग आत्मतत्व ज्ञान लाभको ही सुख और एकबारगी मूढता और अत्यन्त बुद्धिमत्ताकी मध्यमवर्त्तिताको दुःख कहा करते हैं । जिन्होंने सुख दुःखसे हीन और मत्सरतारहित होके बुद्धिसुख लाभ किया है, अर्थ और अनर्थ उन्हें कदापि दुःखित नहीं कर सकते और जो लोग ज्ञानलाभ करनेमें समर्थ नहीं हुए परन्तु मूढताको परित्याग किया है, वह अत्यन्त आनन्दित और दुःखित होते हैं । सुरपुरके देवताओंकी तरह मूढलोग महागर्व और ऐश्वर्यसे अचेत होकर सदा आनन्दित हुआ करते हैं । (३२-३७)

दुःखके बीतने पर सुख होता है, आलस्यही दुःखका और दक्षता ही सुखका कारण होती है; सम्पत्ति लक्ष्मी के सहित इसी तरह आलस्यहीन पुरुषको

प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥ ३९ ॥
शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ ४० ॥
बुद्धिमन्तं कृतप्रज्ञं शुश्रूषुमनसूयकम् ।
दान्तं जितेन्द्रियं चापि शोको न स्पृशते नरम् ॥ ४१ ॥
एतां बुद्धिं समास्थाय गुप्तचित्तश्चरेद् बुधः ।
उदयास्तमयज्ञं हि न शोकः स्प्रष्टुमर्हति ॥ ४२ ॥
यन्निमित्तं भवेच्छोकस्तापो वा दुःखमेव च ।
आयासो वा यतो मूलमेकाङ्गमपि तत्त्यजेत् ॥ ४३ ॥
किंचिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम् ।
तदेव परितापार्थं सर्वं संपद्यते तथा ॥ ४४ ॥
यद्यत्त्यजति कामानां तत्सुखस्याभिपूर्यते ।
कामानुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यति ॥ ४५ ॥
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ ४६ ॥

अवलम्बन करती हैं; आलसीके निकट कभी नहीं जातीं । सुख, दुःख, प्रिय वा अप्रिय जिस समय जो उपस्थित होवे, सावधान चित्तसे उसकी उपासना करे । पुत्रकलत्रके वियोग निबन्धनसे सहस्रों शोकके विषय और अनिष्ट घटना आदि सैकड़ों भयके विषय प्रति-दिन मूढ मनुष्योंको अवलम्बन करते हैं, पण्डितोंको वे कभी स्पर्श नहीं करते। बुद्धिमान्, स्वाभाविक बुद्धिशक्तिसे युक्त, शास्त्रोंके अभ्यासमें रत, असूया-रहित, दान्त और जितेन्द्रिय पुरुषको शोक कभी स्पर्श नहीं कर सकता । (३८-४१)

बुद्धिमान् मनुष्य इसी प्रकार ज्ञान को अवलम्बन करके विचारते हैं, जो प्राणियोंके उदय और लयके विषयको जानते हैं, उन्हें स्पर्श करनेमें शोक समर्थ नहीं होता; शोक, ताप, दुःख वा भय जिसके कारण हुआ करता है, कमसे कम उसका एक अंग परित्याग करना उचित है । जो कुछ ममताके जरिये कल्पित होता है, वही दुःखका कारण हुआ करता है । विषयोंके बीच जो कुछ परित्याग किया जाता है, वही सुखका कारण हो जाता है; कामानुयायी मनुष्य कामके सहितही नष्ट होता है । लोकमें विषयसुख और दिव्य

पूर्वदेहकृतं कर्म शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
प्राज्ञं मूढं तथा शूरं भजते यादृशं कृतम् ॥ ४७ ॥
एवमेव किलैतानि प्रियाण्येवाप्रियाणि च ।
जीवेषु परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ ४८ ॥
एतां बुद्धिं समास्थाय सुखमास्ते गुणान्वितः ।
सर्वान्कामान् जुगुप्सेत कामात्कुर्वीत पृष्ठतः ॥ ४९ ॥
वृत्त एष हृदि प्रौढो मृत्युरेष मनोभवः ।
क्रोधो नाम शरीरस्थो देहिनां प्रोच्यते बुधैः ॥ ५० ॥
यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
तदाऽऽत्मज्योतिरात्माऽयमात्मन्येव प्रपश्यति॥ ५१ ॥
न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ५२ ॥
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा शोकानन्दौ भयाभये ।
प्रियाप्रिये परित्यज्य प्रशान्तात्मा भविष्यति ॥ ५३ ॥
यदा न कुरुते धीरः सर्वभूतेषु पापकम् ।

महत् सुख कहके जो विख्यात हैं, वे वासनाक्षयजनित सुखके सोलहवें अंश के समान नहीं है। पूर्वदेहके किये हुए शुभ वा अशुभकर्म जिस प्रकारसे किये गये हैं, वैसेही वे बुद्धिमान् मूढ और शूर पुरुषोंको अवलम्बन करते हैं। इसी तरह प्रिय और अप्रिय सुख तथा दुःख प्राणियोंमें घूमा करता है। गुणवान मनुष्य ऐसीही बुद्धि अवलम्बन करके सुखमें निवास करते हैं; इसलिये समस्त कामोंकी निन्दा करते हुए क्रोधको पीछे करते हैं। (४२—४९)

पण्डितलोग कहते हैं, यह क्रोध देहधारियोंके शरीरसे कामरूपसे स्थित मृत्यु स्वरूपसे हृदयके बीच दृढभावसे उत्पन्न होता है। कछुवेके निज अङ्ग समेटनेकी तरह यह आत्मा जब सब तरहके कामोंको संहार करता है, तब आपही आत्मज्योति दीख पडती है, जबतक जो वस्तु हमारी कहके मानी जाती हैं, उस समयतक वे सब दुःख के कारण हुआ करती हैं। यह आत्मा जब किसीसे डरती नहीं और इससे कोई भय नहीं करते, यह जब इच्छा और द्वेषसे रहित होता है, तब ब्रह्म-स्वरूप लाभ करता है। सत्य, मिथ्या, शोक, हर्ष, भय, अभय, प्रिय और अप्रिय परित्याग करनेसे ही चित्त शान्त

कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ५४ ॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥५५॥
अत्र पिङ्गलया गीता गाथाः श्रूयन्ति पार्थिव।
यथा सा कृच्छ्रकालेऽपि लेभे धर्मं सनातनम् ॥ ५६ ॥
सङ्केते पिङ्गला वेश्या कान्तेनासीद्विनाकृता।
अथ कृच्छ्रगता शान्तां बुद्धिमास्थापयत्तदा ॥ ५७ ॥
पिङ्गलोवाच— उन्मत्ताऽहमनुन्मत्तं कान्तमन्ववसं चिरम्।
अन्तिके रमणं सन्तं नैनमध्यगमं पुरा ॥ ५८ ॥
एकस्थूणं नवद्वारमपिधास्याम्यगारकम्।
का हि कान्तमिहायान्तमयं कान्तेति मंस्यते ॥ ५९ ॥
अकामां कामरूपेण धूर्ता नरकरूपिणः।
न पुनर्वञ्चयिष्यन्ति प्रतिबुद्धाऽस्मि जागृमि ॥ ६० ॥
अनर्थो हि भवेदर्थो दैवात्पूर्वकृतेन वा।

होगा। जब कर्म, मन और वचनसे सब प्राणियोंके विषयमें कुछ असत् अभिप्राय वा पाप नहीं किया जाता, तभी ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति हुआ करती है। नीचबुद्धि मनुष्य जिसे किसी तरह परित्याग नहीं कर सकते, मनुष्योंके जीर्ण होनेपर भी जो जीर्ण नहीं होती, जो प्राणान्तक रोगरूपसे वर्णित हुई है, उस तृष्णाको जो मनुष्य परित्याग कर सकते हैं, वेही सुखी होते हैं। (५०—५५)

हे राजन्! इस विषयमें पिङ्गलाकी कही हुई सब गाथा सुनी जाती है; दुःखके समय उसने जिस प्रकार सनातनधर्म लाभ किया था उसे सुनो। पिङ्गला नामी कोई वारवनिता अभिसार-स्थानमें निज प्राणकान्तके वियोगसे कातरसे होके बोली थी, मैंने उन्मत्त होके निर्विकार कान्तके सहित बहुत समयतक वास किया; परन्तु कालके मेरी अन्तिमें स्थिति करनेपर भी पहिले मैं कभी कान्तके निकट न गई एकमात्र अविद्याने जिसे धारण कर रखा है, उस नेत्र, कान आदि नवद्वारोंसे युक्त गृहको मैंने विद्याबलसे छिपा रखा है। जो हो, कान्त के समीप आगमन करनेपर भी कौन स्त्री उसे "ये कान्त हैं"—ऐसा समझती है; मैंने इस समय कामनाको त्याग दिया; धूर्त लोग नरकरूपी कामुक रूपसे फिर मुझे नहीं ठग सकेंगे,

संबुद्धाऽहं निराकारा नाहमद्याजितेन्द्रिया ॥ ६१ ॥
सुखं निराशः स्वपिति नैराश्यं परमं सुखम् ।
आशामनाशां कृत्वा हि सुखं स्वपिति पिङ्गला ॥६२॥
भीष्म उवाच— एतैश्चान्यैश्च विप्रस्य हेतुमद्भिः प्रभाषितैः ।
पर्यवस्थापितो राजा सेनजिन्मुमुदे सुखी ॥ ६३ ॥ [६४४६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि ब्राह्मणसेनजित्संवादकथने चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७४ ॥

युधिष्ठिर उवाच- अतिक्रामति कालेऽस्मिन्सर्वभूतक्षयावहे ।
किं श्रेयः प्रतिपद्येत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पितुः पुत्रेण संवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥
द्विजातेः कस्यचित्पार्थ स्वाध्यायनिरतस्य वै ।
बभूव पुत्रो मेधावी मेधावी नाम नामतः ॥ ३ ॥
सोऽब्रवीत्पितरं पुत्रः स्वाध्यायकरणे रतम् ।
मोक्षधर्मार्थकुशलो लोकतत्त्वविचक्षणः ॥ ४ ॥

अब मुझे ज्ञान उत्पन्न हुआ, मैं सदा जागती थी, पहिलेका किया हुआ सुकृत दैववशसे अनिष्ट वा इष्टरूपसे परिणत होता है, इस समय मुझे इन्द्रिय-विजय और बोधका उदय हुआ; वासना भी दूर होगई । जिन्हें आशा नहीं है, वेही सुखसे सोते हैं, नैराश्यही परम सुख है, पिङ्गला इस समय आशाको निराश करके अनायासही सोती है। (५६-६२)

भीष्म बोले, ब्राह्मणके इन सब तथा दूसरे युक्तियुक्त वचनसे राजा सेनजित् सावधान चित्तसे सुखी होके हर्षित हुए। (६३)

शान्तिपर्वमें १७४ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १७५ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! इन सब प्राणियोंके क्षय करनेवाले समयके बीतते रहनेपर किस प्रकार कल्याणका आसरा करना उचित है, आप उसे वर्णन करिये । भीष्म बोले, हे धर्मराज! इस विषयमें पुराने लोग पिता पुत्र युक्त जिस प्राचीन इतिहासको कहा करते हैं, उसे सुनो । हे पृथापुत्र ! वेदाध्ययनमें रत किसी ब्राह्मणके मेधावी नाम एक बुद्धिमान् पुत्र था । मोक्षधर्मकी व्याख्यामें निपुण लोकतत्वको जाननेवाला वह पुत्र वेदविहित कार्योंमें रत पितासे प्रश्न करनेमें प्रवृत्त हुआ । पुत्र बोला,

पुत्र उवाच— धीरः किं स्वित्तात कुर्यात्प्रजानन् क्षिप्रं ह्यायुर्भ्रश्यते मानवानाम्।
पितस्तदाचक्ष्व यथार्थयोगं ममानुपूर्व्या येन धर्मं चरेयम् ॥ ५ ॥
पितोवाच— वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्र पुत्रानिच्छेत्पावनार्थं पितॄणाम्।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत् ॥ ६ ॥
पुत्र उवाच— एवमभ्याहते लोके समन्तात्परिवारिते।
अमोघासु पतन्तीषु किं धीर इव भाषसे ॥ ७ ॥
पितोवाच— कथमभ्याहतो लोकः केन वा परिवारितः।
अमोघाः काः पतन्तीह किं नु भीषयसीव माम् ॥८॥
पुत्र उवाच— मृत्युनाऽभ्याहतो लोको जरया परिवारितः।
अहोरात्राः पतन्त्येते ननु कस्मान्न बुद्ध्यसे ॥ ९ ॥
अमोघा रात्रयश्चापि नित्यमायान्ति यान्ति च।
यदाऽहमेतज्जानामि न मृत्युस्तिष्ठतीति ह।
सोऽहं कथं प्रतीक्षिष्ये ज्ञानेनापिहितश्चरन् ॥ १० ॥
रात्र्यां रात्र्यां व्यतीतायामायुरल्पतरं यदा।

हे तात ! मनुष्योंकी परमायु शीघ्र नष्ट हुआ करती है इसलिये धीर पुरुष किस विषयको मालूम करके कार्य करें। आप फलसम्बन्धको अतिक्रम न करके विस्तारपूर्वक मेरे समीप उसे वर्णन करिये; जिसे सुनके मैं धर्माचरण करनेमें समर्थ हूंगा। (१-५)

पिताने कहा, हे पुत्र ! ब्रह्मचर्य अवलम्बनके जरिये सब वेदोंको पढकर पितृलोक पानेके लिये पुत्रकामना करे। अनन्तर विधिके अनुसार अग्नि स्थापित करके यज्ञकार्य पूर्ण करते हुए वनमें गमन करके ध्याननिष्ठ होवे। पुत्र बोला, हे पिता ! लोकोंके इस प्रकार सब भांतिसे ताडित होने तथा घिरे रहने और निरन्तर अमोघापात होनेपर भी आप निर्विकार चित्तसे धीरकी तरह क्या कह रहे हैं ? पिताने कहा, हे पुत्र! सब लोक किस प्रकार ताडित तथा किससे घिरे हैं और अमोघा क्या है, जो गिर रही है, क्या तुम मुझे भय दिखाते हो। (६-८)

पुत्र बोला, सब लोक मृत्युसे ताडित और जरासे घिरे हुए हैं, और परमायुहरणके कारण अमोघा रात्रि प्रतिदिन आती जाती है। जब यह जानता हूं, कि यद्यपि मृत्यु इस स्थानमें उपस्थित नहीं है, परन्तु प्रतिक्षण प्राणियोंको आक्रमण करती है; तब मैं ज्ञानावरणसे अनावृत होके किस प्रकार व्यवहार

तदैव वन्ध्यं दिवसमिति विद्याद्विचक्षणः ॥ ११ ॥
गाधोदके मत्स्य इव सुखं विन्देत कस्तदा।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम् ॥ १२ ॥
पुष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्र गतमानसम्।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥ १३ ॥
अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगादयम्।
अकृतेष्वेव कार्येषु मृत्युर्वै संप्रकर्षति ॥ १४ ॥
श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्ने चापराह्निकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम् ॥ १५ ॥
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति।
युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम् ॥
कृते धर्मे भवेत्कीर्तिरिह प्रेत्य च वै सुखम् ॥ १६ ॥
मोहेन हि समाविष्टः पुत्रदारार्थमुद्यतः।

करते हुए समय व्यतीत करूंगा। जब कि प्रतिरात्रिके बीतनेपर सवेरा होते ही आयु क्षीण होती है तब बुद्धिमान पुरुषको उचित है, कि दिनको निष्फल समझे। कामनाओंके पूर्ण न होते ही मृत्यु मनुष्योंको आक्रमण करती है; इसलिये थोडे जलमें रहनेवाली मछलियोंकी तरह मृत्युके आक्रमणके समयमें कौन पुरुष सुख करनेमें समर्थ होगा। फूल गूंथनेकी तरह जब मनुष्य लोग काम्य कर्मोंके भोगनेके निमित्त तत्पर होते हैं, तब जैसे बाघिन भेडके बच्चोंको ग्रहण करके अनायास ही चली जाती है, वैसे ही मृत्यु उन्हें ग्रहण करके प्रस्थान करती है। जो कुछ कल्याणसाधक कर्म हैं, उसे आजही समाप्त करना उचित है। यह समय जिसमें तुम्हें अतिक्रम न करे, कर्त्तव्य कार्योंके पूरा न होते ही मृत्यु मनुष्योंको आक्रमण किया करती है। जो कल्ह करना होगा, उसे आजही करना योग्य है; अपरान्हके कर्त्तव्य कर्मोंको पूर्वान्हमेंही करना चाहिये, मनुष्योंके कर्त्तव्य कर्म पूरे हुए हैं, वा नहीं; उसके लिये मृत्यु कभी उन्हें आक्रमण करनेमें उपेक्षा नहीं करती। (८ – १५)

मनुष्य युवा अवस्थामेंही धर्मशील होवे; क्यों कि जीवनका समय अत्यन्त अनित्य है; आज किसका मृत्यु काल उपस्थित होगा, इसे कौन कह सकता है। धर्मकार्य करनेसे इस लोकमें कीर्त्ति और परलोकमें अनन्त सुख

कृत्वा कार्यमकार्यं वा पुष्टिमेषां प्रयच्छति ॥ १७ ॥
तं पुत्रपशुसंपन्नं व्यासक्तमनसं नरम्।
सुप्तं व्याघ्रो मृगमिव मृत्युरादाय गच्छति ॥ १८ ॥
संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्।
व्याघ्रः पशुमिवादाय मृत्युरादाय गच्छति ॥ १९ ॥
इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत्कृताकृतम्।
एवमीहासुखासक्तं कृतान्तः कुरुते वशे ॥ २० ॥
कृतानां फलमप्राप्तं कर्मणां कर्मसंज्ञितम्।
क्षेत्रापणगृहासक्तं मृत्युरादाय गच्छति ॥ २१ ॥
दुर्बलं बलवन्तं च शूरं भीरुं जडं कविम्।
अप्राप्तं सर्वकामार्थान्मृत्युरादाय गच्छति ॥ २२ ॥
मृत्युर्जरा च व्याधिश्च दुःखं चानेककारणम्।
अनुषक्तं यदा देहे किं स्वस्थ इव तिष्ठसि ॥ २३ ॥
जातमेवान्तकोऽन्ताय जरा चान्वेति देहिनम्।

मिलता है। मनुष्य लोग मोहमें फंसके पुत्र, कलत्र आदिके लिये कर्त्तव्य वा अकर्त्तव्य कार्योंको करके उनका पालन करते हैं, जैसे शेर सोये हुए हरिनको पकडके चल देता है, वैसेही पुत्रवान्, पशुओंसे युक्त, संसारमें फंसे हुए समान मनुष्योंको मृत्यु ग्रहण करती हुई प्रस्थान करती है। जो पुरुष कामभोगसे तृप्त नहीं हुआ और पुत्र, कलत्र आदि परिवारोंको अधिक कहांतक कहें, आत्माको भी वञ्चित करके धनसञ्चय किया करता है, उसे मृत्यु इस तरह आक्रमण करती है, जैसे शार्दूल हरिणको पकडता है। 'यह कार्य किया है, इसे करना होगा और दूसरे कार्य पूरे नहीं हुए, इस प्रकारके वासनासुखमें आसक्त पुरुषोंको मृत्यु ग्रास किया करती है। (१६-२०)

जिस पुरुषने गोत्र आपण और भवनमें आसक्त होके किये हुए सब कर्मोंका फल नहीं पाया है, उसे भी मृत्युके वशमें होना पडता है। क्या निर्बल, क्या बलवान्, क्या मूढ, क्या पण्डित, क्या कादर, क्या साहसी, कोई क्यों न हो; कामनाके सब विषयोंको प्राप्त न होतेही होते मृत्यु उन लोगोंको ग्रहण करके गमन करती है। जरा, मरण, व्याधि और अनेक कारणोंसे उत्पन्न हुए दुःख जब शरीरमें उपस्थित होरहे हैं, जब आप किस प्रकार अरोगीकी

अनुषक्ता द्वयेनैते भावाः स्थावरजङ्गमाः ॥ २४ ॥
मृत्योर्वा मुखमेतद्वै या ग्रामे वसतो रतिः ।
देवानामेष वै गोष्ठो यदरण्यमिति श्रुतिः ॥ २५ ॥
निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः ।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ॥ २६ ॥
न हिंसयति यो जन्तून्मनोवाक्कायहेतुभिः ।
जीवितार्थापनयनैः प्राणिभिर्न स हिंस्यते ॥ २७ ॥
न मृत्युसेनामायान्तीं जातु कश्चित्प्रबाधते ।
ऋते सत्यमसत्त्याज्यं सत्ये ह्यमृतमाश्रितम् ॥ २८ ॥
तस्मात्सत्यव्रताचारः सत्ययोगपरायणः ।
सत्यागमः सदा दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत् ॥ २९ ॥
अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् ।
मृत्युरापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम् ॥ ३० ॥

तरह निवास करते हैं । (२१-२३)

देहधारी जीवोंके जन्मतेही जरा मृत्यु उसके नाशके लिये उसका अनुगमन करती है; इसलिये स्थावर जङ्गम आदि उत्पन्न होनेवाली वस्तुमात्र इन दोनोंसे आक्रान्त हो रही है। गांवमें वास करनेके लिये लोगोंको जो अनुराग हुआ करता है, वह मृत्युका मुखस्वरूप है और जो अरण्य कहके विख्यात् है, ऐसी जनश्रुति है, कि वही इन्द्रियोंका विविक्त वासस्थान है। ग्राममें निवास करनेवालोंको अनुराग बन्धन रस्सीरूपी है; सुकृतवान् लोग उसे काटके गमन करते हैं, पापी पुरुष उसे नहीं काट सकते। मन,वचन और शरीरसे जो कभी प्राणियोंकी हिंसा नहीं करते, वे जीने तथा अर्थमें बाधा करनेवाले हिंसक जीव तथा चोरोंसे हिंसित नहीं होते। जरा व्याधिरूपी मृत्युकी सेना जब आगमन करती है, तब कोई कभी उसे निवारण नहीं कर सकता। (२४-२८)

जो मिथ्या सम्पर्कसे रहित है, वही सत्य है, उस सत्यमें ही अमरणरूपी अमृत सदा स्थित रहता है; इसलिये मनुष्य ब्रह्म-प्राप्तिके निमित्त यम-नियम-रूपी सत्यव्रतका आचरण करते हुए चिदाभासरूपी जीवके एक साधन सत्य योगमें रत, वेद वाक्यमें श्रद्धावान् और जितेन्द्रिय होकर सत्यके जरिएही मृत्युको जीते। सत्य और मृत्यु ये दोनों शरीरमें स्थित हैं, उसमेंसे मनुष्य मोहके कारण मृत्युके वशमें होते हैं

सोऽहं ह्यहिंस्रः सत्यार्थी कामक्रोधबहिष्कृतः।
समदुःखसुखः क्षेमी मृत्युं हास्याम्यमर्त्यवत् ॥ ३१ ॥
शान्तियज्ञरतो दान्तो ब्रह्मयज्ञे स्थितो मुनिः।
वाङ्मनःकर्मयज्ञश्च भविष्याम्युदगायने ॥ ३२ ॥
पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमर्हति।
अन्तवद्भिरिव प्राज्ञः क्षेत्रयज्ञैः पिशाचवत् ॥ ३३ ॥
यस्य वाङ्मनसी स्यातां सम्यक्प्रणिहिते सदा।
तपस्त्यागश्च सत्यं च स वै सर्वमवाप्नुयात् ॥ ३४ ॥
नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥३५॥
आत्मन्येवात्मना जात आत्मनिष्ठोऽप्रजोऽपि वा।
आत्मन्येव भविष्यामि न मां तारयति प्रजा ॥ ३६ ॥
नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥३७॥
किं ते धनैर्बान्धवैर्वापि किं ते किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि।

और सत्यसे अमृतत्वलाभ करते हैं, इसलिये मैं अहिंसामें रत और काम क्रोधसे रहित होके सुख दुःखको समान जानके सत्यार्थी और कुशली होकर अमर्त्यकी तरह मृत्युको त्यागूंगा। उत्तरायण कालमें निवृत्ति मार्ग अभ्यासरूपी शान्तियज्ञमें रत, दान्त, उपनिषदोंके अर्थविचाररूप ब्रह्मयज्ञके अनुष्ठानमें अनुरक्त, मननशील, प्रणव-जपरूपी वाग्यज्ञ, परब्रह्मका मननरूपी मानस यज्ञ और स्नान, पवित्रता तथा गुरुसेवा आदि कर्मयज्ञोंका अनुष्ठान करूंगा। मेरे समान बुद्धिमान पुरुष पिशाचके निष्फल क्षेत्रयज्ञकी तरह हिंसासाध्य पशुवधके जरिये किस प्रकार यज्ञ करनेमें समर्थ होंगे। (२८-३३)

जिनके वचन, मन, तपस्या, त्याग और योग ये पांचों सदा परब्रह्ममें परिणत होते हैं, वे परमपद प्राप्त करते हैं, विद्याके समान नेत्र, सत्यके समान तपस्या, रागके समान दुःख और संन्यासके समान दूसरा सुख नहीं है। मैं अपुत्र होकर भी आत्मासे आत्माके जरिये आत्मजरूपसे उत्पन्न और आत्म-निष्ठ होऊंगा; पुत्र मेरा उद्धार न करेगा। एकाकिता, समता, सत्यता, सच्चरित्रता मर्यादा, दण्डविधान, सरलता और सब कार्योंमें आसक्तिहीनता, इन सबके

आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं पितामहास्ते क गताः पिता च॥३८॥

भीष्म उवाच— पुत्रस्यैतद्वचः श्रुत्वा यथाऽकार्षीत्पिता नृप।
तथा त्वमपि वर्तस्व सत्यधर्मपरायणः ॥ ३९ ॥ [६४८५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पितापुत्रसंवादकथने पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७५ ॥

युधिष्ठिर उवाच- धनिनश्चाधना ये च वर्तयन्ते स्वतन्त्रिणः।
सुखदुःखागमस्तेषां कः कथं वा पितामह ॥ १ ॥

भीष्म उवाच- अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
शम्पाकेनेह मुक्तेन गीतं शान्तिगतेन च ॥ २ ॥
अब्रवीन्मां पुरा कश्चिद्ब्राह्मणस्त्यागमाश्रितः।
क्लिश्यमानः कुदारेण कुचैलेन बुभुक्षया ॥ ३ ॥
उत्पन्नमिह लोके वै जन्मप्रभृति मानवम्।
विविधान्युपवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ ४ ॥
तयोरेकतरे मार्गे यदेनमभिसन्नयेत्।

समान ब्राह्मणोंके विषयमें और कुछ भी धन नहीं है। हे ब्रह्मन्! आपको जब अवश्यही कालके ग्रासमें पडना होगा, तब फिर आपको धन, बन्धु और पुत्र कलत्रोंसे क्या प्रयोजन है। अन्तःकरणसे निष्ठावान् होके आत्माको प्राप्त करनेकी इच्छा करिये; आपके पिता और पितामह आदि कहां गये हैं; उसे विचारिये। भीष्म बोले, हे धर्मराज! पिताने पुत्रका वचन सुनके जैसा किया था, तुम भी सत्यधर्म-में तत्पर होके ऐसाही अनुष्ठान करो। (२४–३९)

शान्तिपर्वमें १७५ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १७६ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! धन-वान् अथवा निर्द्धन मनुष्य जो कि पृथक् पृथक् धर्मशास्त्रको अवलम्बन करके निवास करते हैं, उन लोगोंका सुख वा दुःख लाभ कैसा है। और किस तरह हुआ करता है? भीष्म बोले, प्राचीन पण्डित लोग इस विष-यमें शान्तिसुखसे युक्त मुक्तिपथ अवलम्बी शम्पाकके कहे हुए इस पुराने इतिहासको कहते हैं। कुभार्या, कुवस्त्र और भूखसे क्लेशित होकर संन्यासधर्म अवलम्बन करनेवाले शम्पाक नाम किसी ब्राह्मणने पहिले मुझसे यह कथा कही थी। मनुष्यके इस लोकमें उत्पन्न होते ही अनेक

न सुखं प्राप्य संहृष्येन्नासुखं प्राप्य संज्वरेत् ॥ ५ ॥
न वै चरसि यच्छ्रेय आत्मनो वा यदीशिषे ।
अकामात्मापि हि सदा धुरमुद्यस्य चैव ह ॥ ६ ॥
अकिंचनः परिपतन् सुखमास्वादयिष्यसि ।
अकिंचनः सुखं शेते समुत्तिष्ठति चैव ह ॥ ७ ॥
आकिंचन्यं सुखं लोके पथ्यं शिवमनामयम् ।
अनमित्रपथो ह्येष दुर्लभः सुलभो सताः ॥ ८ ॥
अकिंचनस्य शुद्धस्य उपपन्नस्य सर्वतः ।
अवेक्षमाणस्त्रींल्लोकान्न तुल्यमिह लक्षये ॥ ९ ॥
आकिंचन्यं च राज्यं च तुलया समतोलयम् ।
अत्यरिच्यत दारिद्र्यं राज्यादपि गुणाधिकम् ॥ १० ॥
आकिंचन्ये च राज्ये च विशेषः सुमहानयम् ।
नित्योद्विग्नो हि धनवान् मृत्योरास्यगतो यथा ॥११॥
नैवास्याग्निर्न चारिष्टो न मृत्युर्न च दस्यवः ।

तरहके सुख और दुःख उसे अवलम्बन करते हैं; परन्तु उस सुख वा दुःखके प्राप्त होनेपर जब वह दैवविहित कहके मालूम होता है, तब मनुष्य सुखलाभसे हर्षित और दुःखसे असन्तुष्ट नहीं होता; तुम कामहीन कहके सदा भार धारण करते हुए अपने कल्याणका आचरण नहीं करते हो; क्या तुम चित्तसंयम करनेमें समर्थ नहीं हो। (१—६)

जिसके धन, स्त्री आदि कुछ भी नहीं है, उसे अकिञ्चन कहते हैं, तुम वही अकिञ्चन होके गृह आदि त्यागके भ्रमण करते हुए सुख अनुभव करोगे। दरिद्र पुरुषही सुखसे सोता और उठता है; दरिद्रताही लोकमें कल्याणकारी मार्ग और अनामय सुखस्वरूप है। यह शत्रुरहित मार्ग कामियोंको दुर्लभ और निष्काम पुरुषोंके अनायासही प्राप्त होता है; मैं तीनों लोकोंको देखकर इस समय वैराग्ययुक्त शुद्ध स्वभाववाले अकिञ्चनके समान लोग नहीं देखता हूं। मैंने अकिञ्चनता और राज्य दोनों को तुलादण्डपर तौला था, परन्तु राज्यसे समधिक गुणशालिनी अकिंचनता ही अधिक हुई थी। अकिंचनता और राज्य इन दोनोंके बीच महान् विशेषता यही है, कि समृद्धियुक्त मनुष्य काल-कवलितकी तरह सदा व्याकुल रहता है, और जो लोग धनरत्नोंको परित्याग करनेसे विमुक्त तथा आशा-

प्रभवन्ति धनत्यागाद्विमुक्तस्य निराशिषः ॥ १२ ॥
तं वै सदा कामचरमनुपस्तीर्णशायिनम् ।
बाहूपधानं शाम्यन्तं प्रशंसन्ति दिवौकसः ॥ १३ ॥
धनवान् क्रोधलोभाभ्यामाविष्टो नष्टचेतनः ।
तिर्यगीक्षः शुष्कमुखः पापको भृकुटीमुखः ॥ १४ ॥
निर्दशन्नधरोष्ठं च क्रुद्धो दारुणभाषिता ।
कस्तमिच्छेत्परिद्रष्टुं दातुमिच्छति चेन्महीम् ॥ १५ ॥
श्रिया ह्यभीक्ष्णं संवासो मोहयत्यविचक्षणम् ।
सा तस्य चित्तं हरति शारदाभ्रमिवानिलः ॥ १६ ॥
अथैनं रूपमानश्च धनमानश्च विन्दति ।
अभिजातोऽस्मि सिद्धोऽस्मि नाऽस्मि केवलमानुषः॥१७॥
इत्येभिः कारणैस्तस्य त्रिभिश्चित्तं प्रमाद्यति ।
संप्रसक्तमना भोगान्विसृज्य पितृसंचितान् ।
परिक्षीणः परस्वानामादानं साधु मन्यते ॥ १८ ॥
तमतिक्रान्तमर्यादमाददानं ततस्ततः ।

रहित हुए हैं; अग्नि, चोर आदि उपद्रव, मृत्यु तथा डाकूलोग उनका कुछ भी नहीं कर सकते। (७-१२)

सुरपुरवासी देवता लोग उस कामचारी, शय्यारहित, बाहुपर शिर रखके पृथ्वीमें शयन करनेवाले तथा शान्तिमार्गको अवलम्बन करनेवालोंकी सदा प्रशंसा किया करते हैं। धनवान् क्रोध और लोभसे युक्त होकर, चेतनारहित वक्र-दृष्टि, रूखा मुख, कुटिल भौं, पापकर्म और क्रोधयुक्त होकर निष्ठुर वचन प्रयोग करता है; वह यदि पृथ्वीमण्डलको भी दान करनेकी इच्छा करे, तौभी कौन पुरुष उसे देखनेकी इच्छा करेगा। लक्ष्मीके साथ सदा सहवास होना मूर्खोंको मोहित करता है। जैसे वायु शरत् कालके बादलोंको उड़ा देती है, वैसेही सम्पत्ति धनवान् पुरुषोंके चित्तको हरण किया करती है; और रूप तथा धनका अभिमान उसे अवलम्बन करता है, "मैं सद्वंशमें उत्पन्न हुआ, सिद्ध तथा मैं सामान्य मनुष्य नहीं हूं"— इन तीनों कारणोंसे उसका चित्त प्रमत्त होता है। वह संसारमें आसक्त होके पिताकी इकट्ठी की हुई सब सम्पत्ति व्यय करके निर्द्धन होनेपर दूसरेका धन हरनेमें पाप नहीं समझता। (१३—१८)

जैसे व्याधा बाणोंसे हरिणोंको विद्ध

प्रतिषेधन्ति राजानो लुब्धा मृगमिवेषुभिः ॥ १९ ॥
एवमेतानि दुःखानि तानि तानीह मानवम् ।
विविधान्युपपद्यन्ते गात्रसंस्पर्शजान्यपि ॥ २० ॥
तेषां परमदुःखानां बुद्ध्या भैषज्यमाचरेत् ।
लोकधर्ममवज्ञाय ध्रुवाणामध्रुवैः सह ॥ २१ ॥
नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम् ।
नात्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव॥२२॥
इत्येतद्धास्तिनपुरे ब्राह्मणेनोपवर्णितम् ।
शम्पाकेन पुरा मह्यं तस्मात्त्यागः परो मतः॥ २३ ॥[६५०८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शम्पाकगीतायां षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥

युधिष्ठिर उवाच— ईहमानः समारम्भान्यदि नासादयेद्धनम् ।
धनतृष्णाभिभूतश्च किं कुर्वन्सुखमाप्नुयात् ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— सर्वसाम्यमनायासं सत्यवाक्यं च भारत ।
निर्वेदश्चाविधित्सा च यस्य स्यात्स सुखी नरः ॥ २ ॥

करता है, वैसेही राजालोग उन मर्यादा-रहित परधन हरनेवाले मनुष्योंके विषयमें दण्डविधान किया करते हैं। इसी प्रकार इसी भांतिके अनेक दुःख और दाहच्छेद आदि सब क्लेश इस लोकमें मनुष्योंको अवलम्बन करते हैं; इस विनश्वर देह आदिके सहित अपत्य और धन रत्नरूपी लोकधर्मकी अवज्ञा करके बुद्धिबलसे उन अवश्य होनेवाले क्लेशोंका प्रतिकार करे। विना त्यागके सुख नहीं मिलता; त्यागके विना परम पदार्थ प्राप्त नहीं होता; विना त्यागके निर्भय होके शयन नहीं किया जाता; इसलिये सब विषयोंको परित्याग करके सुखी हूजिये। पहिले हस्तिनापुरमें शम्पाक नाम ब्राह्मणने मेरे समीप इसी तरह ऊपर कहे हुए विषयको वर्णित किया था, इसलिये त्यागही सबसे उत्तम है; यह सर्वसम्मत है। (१९-२३)

शान्तिपर्वमें १७६ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १७७ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, कृषि, वाणिज्य, यज्ञ और दान आदि कर्मकी अभिलाष करते हुए मनुष्य अर्थलाभमें असमर्थ होकर धनकी तृष्णासे युक्त होनेपर कौन कार्य करके सुखभोग कर सकते हैं। भीष्म बोले, हे भारत! जिसे लाभ, हानि, मान, अपमान, विषयोंमें समज्ञान,

एतान्येव पदान्याहुः पञ्च वृद्धाः प्रशान्तये ।
एष स्वर्गश्च धर्मश्च सुखं चानुत्तमं मतम् ॥ ३ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
निर्वेदान्मङ्किना गीतं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ४ ॥
ईहमानो धनं मङ्किर्भग्नेहश्च पुनः पुनः ।
केनचिद्धनशेषेण क्रीतवान् दम्यगोयुगम् ॥ ५ ॥
सुसंबद्धौ तु तौ दम्यौ दमनायाभिनिःसृतौ ।
आसीनमुष्ट्रं मध्येन सहसैवाभ्यधावताम् ॥ ६ ॥
तयोः संप्राप्तयोरुष्ट्रः स्कन्धदेशममर्षणः ।
उत्थायोत्क्षिप्य तौ दम्यौ प्रससार महाजवः ॥ ७ ॥
ह्रियमाणौ तु तौ दम्यौ तेनोष्ट्रेण प्रमाथिना ।
म्रियमाणौ च संप्रेक्ष्य मङ्किस्तत्राब्रवीदिदम् ॥ ८ ॥
न चैवाविहितं शक्यं दक्षेणापीहितुं धनम् ।
युक्तेन श्रद्धया सम्यगीहां समनुतिष्ठता ॥ ९ ॥
कृतस्य पूर्वं चानर्थैर्युक्तस्याप्यनुतिष्ठतः ।

धन आदिके निमित्त आयासाभाव, सत्य वाक्य, वैराग्य और कर्म करनेमें इच्छा नहीं है, वेही मनुष्य सुखी कहके वर्णित होते हैं। प्राचीन लोग इन पांचों विषयोंको मोक्षका कारण कहा करते हैं; येही स्वर्ग, धर्म और अत्यन्त उत्तम सुखस्वरूपसे माने गये हैं। हे धर्मराज! इस विषयमें प्राचीन लोग इस पुराने इतिहासको वर्णन किया करते हैं। मंकि नाम किसी पुरुषने जो कहा था उसे सुनो। (१—४)

मंकिके धनकी इच्छा करनेपर बारंबार उसकी कोशिश निष्फल हुई, तब जो कुछ धन बाकी था, उसके ही जरिये उसने जुआ काष्ठके सहित दमनके योग्य दो बैल खरीदा। जुआके दोनों ओर जुते हुए वे दमनीय दोनों बैल दमनके लिये निकले और दौडके मार्गमें बैठे हुए एक ऊंटके ऊपर सहसा जा गिरे। जब जुएमें जुते हुए दोनों बैल सहसा ऊंटके कन्धेपर गिरे, तब महावेगशाली ऊंट क्रोधयुक्त होकर उठा और उन दोनोंको उठाकर चलने लगा। बलवान ऊंटके जरिये दोनों बैलोंका हरण तथा मरण देखके मंकिने उस समय यह वचन कहा, दैवके धन दान न करनेपर निपुण पुरुषभी यदि अत्यन्त श्रद्धा तथा पूर्ण रीतिसे चेष्टा करे, तौभी उसे प्राप्त

इमं पश्यत संगत्या मम दैवमुपप्लवम् ॥ १० ॥
उद्यम्योद्यम्य मे दम्यौ विषमेणैव गच्छतः ।
उत्क्षिप्य काकतालीयमुत्पथेनैव धावतः ॥ ११ ॥
मणी वोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम ।
शुद्धं हि दैवमेवेदं हठे नैवास्ति पौरुषम् ॥ १२ ॥
यदि वाऽप्युपपद्येत पौरुषं नाम कर्हिचित् ।
अन्विष्यमाणं तदपि दैवमेवावतिष्ठते ॥ १३ ॥
तस्मान्निर्वेद एवेह गन्तव्यः सुखमिच्छता ।
सुखं स्वपिति निर्विण्णो निराशश्चार्थसाधने ॥ १४ ॥
अहो सम्यक् शुकेनोक्तं सर्वतः परिमुच्यता ।
प्रतिष्ठता महारण्यं जनकस्य निवेशनात् ॥ १५ ॥
यः कामानाप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ १६ ॥
नान्तं सर्वविधित्सानां गतपूर्वोऽस्ति कश्चन ।

करनेमें समर्थ नहीं होता, मैंने पहिले अनेक उपायके जरिये सावधान चित्तसे धन उपार्जनका अनुष्ठान किया; परन्तु किसीसे भी कृतकार्य न होके शेषमें दो बैल खरीदा; उसमें भी यह दैवविड-म्बना दीख पडी। (५—१०)

उत्पथमें दौडनेवाला ऊंट काकतालीयकी तरह मेरे दोनों प्रिय बैलोंको उठाकर बार बार उछालते हुए गमन कर रहा है, जुएमें फंसे हुए दोनों बैल मानो दो मणिकी तरह लटक रहे हैं; इसलिये यह केवल दैव-विहित है; इस विषयमें पराक्रम प्रकाश करनेका कुछ प्रयोजन नहीं है। पुरुषके यत्न करनेपर किसी विषयमें यदि कोई कार्य सिद्ध होवे, तो विशेष अनुसन्धान करके देखनेसे वह भी दैवविहित कहके प्रतिपन्न होता है, इसलिये इस संसारमें जो लोग सुखकी इच्छा करें, उन्हें वैराग्य अवलम्बन करनाही अवश्य उचित है। वैराग्यवान् पुरुष धनप्राप्तिसे निराश होके सुखसे सोता है। सब तरहकी आसक्तिसे रहित शुकदेवने जब जनकके यहांसे महावनके बीच प्रस्थान किया, उस समय कई एक उत्तम वचन कहा था, कि सब काम्य वस्तुओंकी प्राप्ति और समस्त कामनाका परित्याग, इन दोनोंके बीच सब काम्य वस्तुओंकी प्राप्तिसे उसका परित्याग ही उत्तम कल्प है। कोई पुरुषभी धनो-

शरीरे जीविते चैव तृष्णा मन्दस्य वर्धते ॥ १७ ॥
निवर्तस्व विधित्साभ्यः शाम्य निर्विद्य कामुक ।
असकृच्चासि निकृतो न च निर्विद्यसे ततः ॥ १८ ॥
यदि नाहं विनाश्यस्ते यद्येवं रमसे मया ।
मा मां योजय लोभेन वृथा त्वं वित्तकामुक ॥ १९ ॥
संचितं संचितं द्रव्यं नष्टं तव पुनः पुनः ।
कदाचिन्मोक्ष्यसे मूढ धनेहां धनकामुक ॥ २० ॥
अहो नु मम बालिश्यं योऽहं क्रीडनकस्तव ।
किं नैवं जातु पुरुषः परेषां प्रेष्यतामियात् ॥ २१ ॥
न पूर्वे नापरे जातु कामानामन्तमाप्नुवन् ।
त्यक्त्वा सर्वसमारम्भान् प्रतिबुद्धोऽस्मि जागृमि॥२२॥
नूनं ते हृदयं काम वज्रसारमयं दृढम् ।
यदनर्थशताविष्टं शतधा न विदीर्यते ॥ २३ ॥
जानामि काम त्वां चैव यच्च किंचित्प्रियं तव ।

पार्जन प्रवृत्तिके पारगामी नहीं हुआ; मूढ मनुष्यको ही शरीर और जीवनमें तृष्णाकी वृद्धि हुआ करती है। (११-१७)

हे कामुक मन! इसलिये धनोपार्जन-प्रवृत्तिसे निवृत्त रहे, वैराग्य अवलम्बन करके शान्तिलाभ करें; तू बार बार वञ्चित होता है; तौभी वैराग्यका आश्रा नहीं करता है। हे वित्त-कामुक मन! यदि मैं तेरे सम्बन्धमें विनाश्य कहके न समझा जाऊं और तू यदि मेरे सङ्ग इसी तरह विहार करे; तो अनर्थक मुझे लोभमें आसक्त मत कर। तूने बार बार जिन द्रव्योंको सञ्चय किया था, वे सब नष्ट हुई हैं। रे मूढ चित्त! तू कब धनकी अभिलाषको परित्याग करेगा; हाय! मेरी कैसी मूर्खता है। मैं अबतक भी तेरा विलास-भाजन हुआ हूं; परन्तु इसी तरह पुरुष किसी किसी समय दूसरेके अधीनतापाशमें बद्ध होता है। भूत वा भविष्य मनुष्यों के बीच कोई कभी कामनाकी पराकाष्ठाको प्राप्त नहीं हुआ; होगा भी नहीं। मैं इस समय सब कर्मोंको त्यागकर मोहनिद्राको विसर्जन करके जाग्रत हुआ हूं। (१८—२२)

हे वासना! बोध होता है, तुम्हारा हृदय वज्रसारमय अत्यन्त दृढ है; क्योंकि सैकडों अनर्थोंसे अनिष्ट होनेपर भी सौ टुकडे होकर फट नहीं जाता। हे वासना! मैं तुम्हें तथा तुम्हारी जो

तवाहं प्रियमन्विच्छन्नात्मन्युपलभे सुखम् ॥ २४ ॥
काम जानामि ते मूलं संकल्पात्किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि समूलो न भविष्यसि ॥२५॥
ईहा धनस्य न सुखा लब्ध्वा चिन्ता च भूयसी।
लब्धनाशे यथा मृत्युर्लब्धं भवति वा न वा ॥ २६ ॥
परित्यागे न लभते ततो दुःखतरं नु किम्।
न च तुष्यति लब्धेन भूय एव च मार्गति ॥ २७ ॥
अनुतर्षुल एवार्थः स्वादु गाङ्गमिवोदकम्।
मद्विलापनमेतत्तु प्रतिबुद्धोऽस्मि संत्यज ॥ २८ ॥
य इमं मामकं देहं भूतग्रामः समाश्रितः।
स यात्वितो यथाकामं वसतां वा यथासुखम् ॥ २९ ॥
न युष्मास्विह मे प्रीतिः काम लोभानुसारिषु।
तस्मादुत्सृज्य कामान्वै सत्त्वमेवाश्रयाम्यहम् ॥ ३० ॥
सर्वभूतान्यहं देहे पश्यन्मनसि चात्मनः।

कुछ प्रिय वस्तु हैं, उन्हें भी जानता हूं, मैं तुम्हारी प्रिय कामना करते हुए आत्माको सुख भोग करनेमें समर्थ नहीं हूं। संकल्पसे तेरा जन्म हुआ है; इसलिये सङ्कल्पही तुम्हारा मूल है; वह भी मुझसे छिपा नहीं है, मैं सङ्कल्पको परित्याग करूंगा, इससे तूं जडके सहित नष्ट होगी। धनकी लालसासे सुखलाभ नहीं होता; धन प्राप्त होनेपर भी बहुतसी चिन्ता हुआ करती है; प्राप्त धनके नष्ट होनेसे मृत्युके समान दुःख होता है; धनलाभ भी संशयसे युक्त है; दूसरेके समीप प्रार्थना करनेपर भी यदि धन न मिले, तो उससे बढके दुःख और कुछ भी नहीं है; प्राप्त हुए धनसे भी मनुष्य सन्तुष्ट नहीं होता; बल्कि फिर भी उसकी इच्छा किया करता है। (२३—२७)

स्वादिष्ट गङ्गाजलकी तरह धन तृष्णाकी अत्यन्त ही वृद्धि करता है, और यही मुझे नष्ट करनेकी चेष्टा किया करता है; जो हो, इस समय मैं मोह-निद्रासे रहित हुआ हूं, इसलिये। हे वासना! अब तू मुझे परित्याग कर, अथवा तूंने जब मेरे पाञ्चभौतिक शरीरका आशरा किया है, तब मेरे सहित इच्छानुसार यथा सुखसे निवास कर। हे वासना! तू लोभकी अनुगामी हुआ करती है, इसी लिये तुम्हारे ऊपर मेरी प्रीति नहीं है, इससे सब कामना परि-

योगे बुद्धिं श्रुते सत्त्वं मनो ब्रह्मणि धारयन् ॥ ३१ ॥
विहरिष्याम्यनासक्तः सुखी लोकान्निरामयः।
यथा मां त्वं पुनर्नैवं दुःखेषु प्रणिधास्यसि ॥ ३२ ॥
त्वया हि मे प्रणुन्नस्य गतिरन्या न विद्यते।
तृष्णाशोकश्रमाणां हि त्वं काम प्रभवः सदा ॥३३॥
धननाशोऽधिकं दुःखं मन्ये सर्वमहत्तरम्।
ज्ञातयो ह्यवमन्यन्ते मित्राणि च धनाच्च्युतम् ॥३४॥
अवज्ञानसहस्रैस्तु दोषाः कष्टतरा धने।
धने सुखकला या तु साऽपि दुःखैर्विधीयते ॥ ३५ ॥
धनमस्येति पुरुषं पुरो निघ्नन्ति दस्यवः।
क्लिश्यन्ति विविधैर्दण्डैर्नित्यमुद्वेजयन्ति च ॥ ३६ ॥
अर्थलोलुपता दुःखमिति बुद्धं चिरान्मया।
यद्यदालम्बसे कामं तत्तदेवानुरुध्यसे ॥ ३७ ॥
अतत्त्वज्ञोऽसि बालश्च दुस्तोषोऽपूरणोऽनलः।

त्याग करके मैं सत्त्वगुण अवलम्बन करूंगा। मैं शरीरमें सब प्राणियों और मनमें आत्माको देखते हुए योगविशेषमें चित्त लगाकर तथा श्रवण विषयमें सत्त्वगुण अवलम्बन करके परब्रह्ममें मन स्थिर कर निरामय आसक्तिहीन और सुखी होकर लोकके बीच इस प्रकार भ्रमण करूंगा, कि अब तू मुझे फिर दुःखसमूहमें न डुबा सकेगी। (२८-३२)

हे वासना! तू यदि मुझे परिचालित करे, तो मुझे दूसरा उपाय नहीं है, तृष्णा, शोक और श्रम आदि, तुझसे ही उत्पन्न हुआ करते हैं। मुझे बोध होता है; धन नष्ट होनेपर सबसे अधिक दुःख उत्पन्न होता है, धनहीन मनुष्य-की स्वजन और बन्धु लोग अवज्ञा किया करते हैं; सहस्रों अवज्ञा निबन्धनसे युक्त धनविषयमें बहुतेरे कष्टपूरित दोष दीख पडते हैं; धनविषयमें जो कुछ सुख है, वह भी दुःखसे मिला हुआ है। डाकू लोग अगाडी धनवान पुरुषका ही वध करते, अनेक तरहके दण्डसे दुःख देते और सदा व्याकुल किया करते हैं। (३३—३६)

अर्थलोभही दुःख है, इसे मैंने बहुत दिनोंमें समझा है। हे काम! तू जिसे अवलम्बन करता है, उसे ही अवरुद्ध कर रखता है; इससे तू बालककी तरह मूर्ख है, किसीसे भी तेरी तुष्टि नहीं होती और अग्निकी भांति किसी प्रकार

नैव त्वं वेत्थ सुलभं नैव त्वं वेत्थ दुर्लभम् ॥ ३८ ॥
पाताल इव दुष्पूरो मां दुःखैर्योक्तुमिच्छसि ।
नाहमद्य समावेष्टुं शक्यः काम पुनस्त्वया ॥ ३९ ॥
निर्वेदमहमासाद्य द्रव्यनाशाद्यदृच्छया ।
निर्वृत्तिं परमां प्राप्य नाद्य कामान्विचिन्तये ॥ ४० ॥
अतिक्लेशान्सहामीह नाहं बुद्ध्याम्यबुद्धिमान् ।
निकृतो धननाशेन शये सर्वाङ्गविज्वरः ॥ ४१ ॥
परित्यजामि काम त्वां हित्वा सर्वमनोगतीः ।
न त्वं मया पुनः काम वत्स्यसे न च रंस्यसे ॥ ४२ ॥
क्षमिष्ये क्षिपमाणानां न हिंसिष्ये विहिंसितः ।
द्वेष्ययुक्तः प्रियं वक्ष्याम्यनादृत्य तदप्रियम् ॥ ४३ ॥
तृप्तः स्वस्थेन्द्रियो नित्यं यथालब्धेन वर्तयन् ।
न स कामं करिष्यामि त्वामहं शत्रुमात्मनः ॥ ४४ ॥
निर्वेदं निर्वृतिं तृप्तिं शान्तिं सत्यं दमं क्षमाम् ।

तुझे परिपूर्ण नहीं किया जा सकता। तू दुर्लभ और सुलभ कुछभी नहीं जानता; पातालकी भांति दुष्पूर होके मुझे दुःखयुक्त करनेकी अभिलाष करता है। हे काम! अब तू फिर मेरा आश्रय न कर सकेगा, मैं इच्छानुसार वैराग्य अवलम्बन करके परम सुख प्राप्त करके इस समय अब काम्य वस्तुओंकी इच्छा नहीं करता। मैंने इसके पहिले अत्यन्त क्लेश सहा है।" इस समय मैं बुद्धिमान् नहीं हूं "—ऐसा नहीं समझता, मैंने धनहानिनिबन्धनसे छुटकारा पाके इस समय सब तरहसे क्लेशरहित होकर सुखसे सोता हूं। (३७—४१)

हे काम! मैं मनकी सब वृत्तियोंको त्यागके तुझे भी परित्याग करता हूं। तू अब फिर मेरे सङ्ग अनुरक्ति तथा निवास मत करना। जो मेरी निन्दा किया करते हैं, मैं उन लोगोंके विषयमें क्षमा करूंगा, दूसरे यदि मेरी हिंसा करें तौभी मैं उनकी हिंसा न करूंगा; मेरे विषयमें विद्वेष प्रकाशित करके यदि कोई अप्रिय वचन कहे, तो मैं उसके उस अप्रिय वचनका अनादर करके उसे प्रिय वचनही कहूंगा। मैं तृप्तियुक्त होके और इन्द्रियोंको जीतकर जो कुछ वस्तु प्राप्त होगी, उससे ही जीवन बिताते हुए आत्मशत्रु तुम्हें फिर सकाम नहीं करूंगा। यह समझ रखो कि वैराग्य, सुख तृप्ति, शान्ति, सत्य, दम, क्षमा और

सर्वभूतदयां चैव विद्धि मां समुपागतम् ॥ ४५ ॥
तस्मात्कामश्च लोभश्च तृष्णा कार्पण्यमेव च ।
त्यजन्तु मां प्रतिष्ठन्तं सत्त्वस्थो ह्यस्मि साम्प्रतम् ॥४६॥
प्रहाय कामं लोभं च सुखं प्राप्तोऽस्मि साम्प्रतम् ।
नाद्य लोभवशं प्राप्तो दुःखं प्राप्स्याम्यनात्मवान् ॥४७॥
यद्यत्त्यजति कामानां तत्सुखस्याभिपूर्यते ।
कामस्य वशगो नित्यं दुःखमेव प्रपद्यते ॥ ४८ ॥
कामानुबन्धं नुदते यत्किंचित्पुरुषो रजः ।
कामक्रोधोद्भवं दुःखमह्रीररतिरेव च ॥ ४९ ॥
एष ब्रह्मप्रतिष्ठोऽहं ग्रीष्मे शीतमिव ह्रदम् ।
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखं मामेति केवलम् ॥ ५० ॥
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ ५१ ॥
आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम् ।
प्राप्यावध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखी ॥ ५२ ॥

सब भूतोंमें दयारूपसे मैं उपस्थित हुआ हूं। (४२—४५)

अब सत्त्वगुणावलंम्बी होकर मुक्तिमार्गमें प्रस्थान करता हूं; इसलिये, काम, लोभ, तृष्णा और दीनता मुझे परित्याग करे मैं काम और लोभको त्यागके सुखी हुआ हूं, इस समय निर्बुद्धियोंकी तरह लोभके वशमें होकर फिर दुःखभोग न करूंगा। कामनाके जो अंश परित्याग किये जाते हैं; वे मनुष्यको सुख देते हैं। जो सदा कामके वशमें रहते हैं वे लोग केवल दुःख भोग करते हैं। कामसे युक्त जो कुछ रजोगुण है, उसे पुरुषमात्रकोही त्यागना उचित है; क्यों कि अलज्जा और अरतिरूप दुःख, काम तथा क्रोधसे उत्पन्न हुआ करते हैं, ग्रीष्म ऋतुमें ठण्डे तालावमें प्रवेश करनेकी भांति इस समय मैं परब्रह्ममें प्रविष्ट हुआ हूं; सब कर्मोंसे मुक्त होकर दुःखरहित हुआ हूं, निर्विकार सुखही सदा मेरे समीप स्थित है, लोकमें जो कुछ कामसुख तथा जो कुछ दिव्य महत् सुख हैं, वे सब तृष्णाक्षयरूपी सुखके सोलहवें अंशके समान नहीं हैं। (४६-५१)

स्थूल शरीरके सङ्ग गिनती करनेसे जो सातवां होता है, उस सब अनर्थोंका मूलस्वरूप परम शत्रु कामका नाश कर

एतां बुद्धिं समास्थाय मङ्किर्निर्वेदमागतः।
सर्वान्कामान्परित्यज्य प्राप्य ब्रह्म महत्सुखम् ॥५३॥
दम्यनाशकृते मङ्किरमृतत्वं किलागमत्।
अच्छिनत्काममूलं स तेन प्राप महत्सुखम् ॥ ५४ ॥[६५६२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि
मङ्किगीतायां सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७७ ॥

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं विदेहराजेन जनकेन प्रशाम्यता ॥ १ ॥
अनन्तमिव मे वित्तं यस्य मे नास्ति किंचन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन ॥ २ ॥
अत्रैवोदाहरन्तीमं बोध्यस्य पदसंचयम्।
निर्वेदं प्रतिविन्यस्तं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ ३ ॥
बोध्यं शान्तमृषिं राजा नाहुषः पर्यपृच्छत।
निर्वेदाच्छान्तिमापन्नं शास्त्रप्रज्ञानतर्पितम् ॥ ४ ॥
उपदेशं महाप्राज्ञ शमस्योपदिशस्व मे।
कां बुद्धिं समनुध्याय शान्तश्चरसि निर्वृतः ॥ ५ ॥

अविनश्वर ब्रह्मपुर पाके मैं राजाकी तरह सुखी हुआ हूं। यह प्रसिद्ध है, कि मंकिने दोनों बैलोंके नष्ट होनेपर ऐसाही विचारके शोकरहित हो सब कामना त्यागकर महत् सुखस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त होके अमरत्व लाभ किया था। उसने कामके मूल मायाबन्धनको तोडा था, इसीसे महत् सुखलाभ किया। (५१—५४)

शान्तिपर्वमें १७७ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १७८ अध्याय।

भीष्म बोले, हे धर्मराज! विदेहराज जनकने सब कर्मोंसे मुक्त होकर जो कुछ कहा था, पुराने लोग इस विषयमें उस ही प्राचीन इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं; उन्होंने कहा था, "हमारे विभवका अन्त नहीं है, तौभी मेरा कुछ भी नहीं है, सारी मिथिला नगरीके भस्म होनेपर भी मेरा कुछ न जलेगा।" हे धर्मराज! बोध्य ऋषिने वैराग्यविषयक जिन श्लोकोंको कहा था; प्राचीन लोग उनका भी इस विषयमें उदाहरण दिया करते हैं,उसे तुम सुनो। राजा नाहुषने वैराग्यके कारण शान्तिसुखसे युक्त, शास्त्रज्ञानसे तृप्त, शान्त बोध्य नाम ऋषिसे कहा था, हे महाबुद्धिमान्! आप

बोध्य उवाच— उपदेशेन वर्तामि नानुशास्मीह कंचन।
लक्षणं तस्य वक्ष्येऽहं तत्स्वयं परिमृश्यताम् ॥ ६ ॥
पिङ्गला कुररः सर्पः सारङ्गान्वेषणं वने।
इषुकारः कुमारी च षडेते गुरवो मम ॥ ७ ॥
भीष्म उवाच— आशा बलवती राजन्नैराश्यं परमं सुखम्।
आशां निराशां कृत्वा तु सुखं स्वपिति पिङ्गला॥ ८ ॥
सामिषं कुररं दृष्ट्वा वध्यमानं निरामिषैः।
आमिषस्य परित्यागात्कुररः सुखमेधते ॥ ९ ॥
गृहारम्भो हि दुःखाय न सुखाय कदाचन।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥ १० ॥
सुखं जीवन्ति मुनयो भैक्ष्यवृत्तिं समाश्रिताः।
अद्रोहेणैव भूतानां सारङ्गा इव पक्षिणः ॥ ११ ॥
इषुकारो नरः कश्चिदिषावासक्तमानसः।
समीपेनापि गच्छन्तं राजानं नावबुद्धवान् ॥ १२ ॥
बहूनां कलहो नित्यं द्वयोः संकथनं ध्रुवम्।

कृपा करके वह शान्तिमय उपदेश दान करिये जिसका अवलंबन करके आप सुखी होकर शान्तिसे विचरते हैं। (१–५)

बोध्य बोले, मैं उपदेश ग्रहण करके निवास करता हूं; परन्तु किसीको भी उपदेश दान नहीं करता। इस समय उस उपदेशका लक्षण कहता हूं, आप स्वयं उसका विचार करिये। पिङ्गला, कुरर पक्षी, सांप, वनके बीच सारङ्ग पक्षीकी खोज, इषुकार और कुमारी ये छः मेरे उपदेष्टा हैं। भीष्म बोले, हे राजन्! आशा अत्यन्त बलवती है, नैराश्यही परम सुख है; पिङ्गला नामी वेश्या आशाको त्यागके सुखकी नींद सोई थी। मांसयुक्त कुरर-पक्षीको देखकर मांसरहित कुरर पक्षियें उसे मारनेमें उद्यत होती हैं, तब वह मांसको त्यागनेसे सुखी हुआ करती है। गृहारम्भ केवल दुःखका मूल है, कदापि सुखका कारण नहीं होता; सांप दूसरेके बनाये हुए गृहमें प्रवेश करके सहजमें ही सुखसे रहता है। (८—१०)

मुनि लोग भिक्षावृत्ति अवलम्बन करके सारङ्ग पक्षीकी तरह जीवोंके विषयमें अनिष्ट आचरण न करके परम सुखसे जीवन व्यतीत करते हैं। कोई इषुकार मनुष्य बाण बनानेमें आसक्तचित्त होकर निज समीपमें राजाको

एकाकी विचरिष्यामि कुमारीशङ्खको यथा ॥ १३ ॥ [६५७५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बोध्यगीतायाम् अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७८ ॥

युधिष्ठिर उवाच- केन वृत्तेन वृत्तज्ञ वीतशोकश्चरेन्महीम् ।
किं च कुर्वन्नरो लोके प्राप्नोति गतिमुत्तमाम् ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराजगरस्य च ॥ २ ॥
चरन्तं ब्राह्मणं कंचित्कल्पचित्तमनामयम् ।
पप्रच्छ राजा प्रह्लादो बुद्धिमान् बुद्धिसंमतम् ॥ ३ ॥

प्रह्लाद उवाच— स्वस्थः शक्तो मृदुर्दान्तो निर्विधित्सोऽनसूयकः ।
सुवाक्प्रगल्भो मेधावी प्राज्ञश्चरसि बालवत् ॥ ४ ॥
नैव प्रार्थयसे लाभं नालाभेष्वनुशोचसि ।
नित्यतृप्त इव ब्रह्मन्न किंचिदिव मन्यसे ॥ ५ ॥

गमन करते हुए न जान सका। बहुतसे लोगोंके इकट्ठे रहनेपर सदा कलह हुआ करता है, दोनोंका परामर्श ही निश्चय है; पिताके वशमें रहनेवाली किसी कुमारीने ब्राह्मणभोजन करानेकी इच्छा करके चावलोंको छाटने लगी, उस समय उसके हाथमें स्थित सब शङ्ख (चूडी) बजने लगे, तब उसने दोनों हाथोंमें केवल दो शङ्खोंको रखके बाकी सब शङ्खोंको तोडके शब्दको निवारण किया था। मैं उस ही कुमारीके शङ्खकी तरह अकेले ही विचरण करूंगा। (११-१३)

शान्तिपर्वमें १७८ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें १७९ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे व्यवहारज्ञ ! मनुष्य किस व्यवहारसे शोकरहित होकर पृथ्वीपर विचरते और लोकके बीच कौन कार्य करके उत्तम गति प्राप्त करते हैं? भीष्म बोले, प्राचीन लोग इस विषयमें प्रह्लाद और अजगर वृत्तिको अवलम्बन करके जीविका निर्वाह करनेवाले किसी मुनिके संवादयुक्त इस पुराने इतिहासको कहा करते हैं। बुद्धिमान् राजा प्रह्लादने रागद्वेषसे हीन दृढ चित्तसे भ्रमण करनेवाले किसी बुद्धिमान् ब्राह्मणसे प्रश्न किया कि, हे ब्रह्मन् ! आप स्वास्थ्य, दम्भरहित दयावान्, जितेन्द्रिय, कर्महीन, सर्वत्र दोषदर्शी,सत्यवादी प्रतिज्ञायुक्त मेधावी और तत्वज्ञ होकर भी बालककी तरह घूम रहे हैं, आप वस्तुलाभकी इच्छा नहीं करते; प्राप्त न होने पर भी अस-

स्रोतसा ह्रियमाणासु प्रजासु विमना इव ।
धर्मकामार्थकार्येषु कूटस्थ इव लक्ष्यसे ॥ ६ ॥
नानुतिष्ठसि धर्मार्थौ न कामे चापि वर्तसे ।
इन्द्रियार्थाननादृत्य मुक्तश्चरसि साक्षिवत् ॥ ७ ॥
का नु प्रज्ञा श्रुतं वा किं वृत्तिर्वा का नु ते मुने ।
क्षिप्रमाचक्ष्व मे ब्रह्मन् श्रेयो यदिह मन्यसे ॥ ८ ॥
भीष्म उवाच— अनुयुक्तः स मेधावी लोकधर्मविधानवित् ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा प्रह्लादमनपार्थया ॥ ९ ॥
पश्य प्रह्लाद भूतानामुत्पत्तिमनिमित्ततः ।
ह्रासं वृद्धिं विनाशं च न प्रहृष्ये न च व्यथे ॥ १० ॥
स्वभावादेव संदृश्या वर्तमानाः प्रवृत्तयः ।
स्वभावनिरताः सर्वाः परितुष्येन्न केनचित् ॥ ११ ॥
पश्य प्रह्लाद संयोगान् विप्रयोगपरायणान् ।
संचयांश्च विनाशान्तान्न क्वचिद्विदधे मनः ॥ १२ ॥

न्तुष्ट नहीं होते; सदा वृक्षकी भांति किसी विषयकी अवज्ञा नहीं करते।(१-५)

काम क्रोधके प्रबलवेग लोगोंको हरण कर रहे हैं, तौभी आप विरक्तकी तरह धर्म, काम और अर्थयुक्त कार्योंमें निर्विकार चित्तके समान मालूम होरहे हैं। आप धर्म और अर्थका अनुष्ठान नहीं करते तथा काममें भी प्रवृत्त नहीं होते। रूप, रस आदि इन्द्रियोंसे विषयोंका अनादर करके कर्त्तृत्व भोक्तृत्व आदि अभिमानसे रहित होकर साक्षीकी तरह भ्रमण कर रहे हैं। ब्रह्मन् ! आपका कैसा तत्वदर्शन, किस प्रकार शास्त्रका सुनना और किस प्रकारका धर्मानुष्ठान है; यदि उसे मेरे विषयमें उत्तम समझते हो, तो शीघ्रही वर्णन कीजिये। (६-८)

भीष्म बोले, लोकधर्मको जाननेवाले उस मेधावी मुनिने पूछनेपर अर्थयुक्त मधुर वचनसे प्रह्लादको उत्तर दिया, हे प्रह्लाद! कारणरहित एकमात्र अद्वितीय परम पुरुषसे जीवोंकी उत्पत्ति, ह्रास, वृद्धि वा नाशके विषयकी आलोचना कर, मैं इसकी आलोचना करके ही हर्षित तथा दुःखित नहीं होता। स्वभावके कारण वर्त्तमान प्रवृत्तियों और स्वभावमें रत सब लोगोंको भली भांति देखना उचित है, मैं इसे जानकर ब्रह्मलोक प्राप्तिसे भी प्रसन्न नहीं होता, हे प्रह्लाद ! वियोगपरायण प्राणियोंके

अन्तवन्ति च भूतानि गुणयुक्तानि पश्यतः।
उत्पत्तिनिधनज्ञस्य किं कार्यमवशिष्यते ॥ १३ ॥
जलजानामपि ह्यन्तं पर्यायेणोपलक्षये।
महतामपि कायानां सूक्ष्माणां च महोदधौ ॥ १४ ॥
जङ्गमस्थावराणां च भूतानामसुराधिप।
पार्थिवानामपि व्यक्तं मृत्युं पश्यामि सर्वशः ॥ १५ ॥
अन्तरिक्षचराणां च दानवोत्तमपक्षिणाम्।
उत्तिष्ठते यथाकालं मृत्युर्बलवतामपि ॥ १६ ॥
दिवि संचरमाणानि ह्रस्वानि च महान्ति च।
ज्योतींष्यपि यथाकालं पतमानानि लक्षये ॥ १७ ॥
इति भूतानि संपश्यन्ननुषक्तानि मृत्युना।
सर्वसामान्यगो विद्वान् कृतकृत्यः सुखं स्वपे ॥ १८ ॥
सुमहान्तमपि ग्रासं ग्रसे लब्धं यदृच्छया।
शये पुनरभुञ्जानो दिवसानि बहून्यपि ॥ १९ ॥
आशयन्त्यपि मामन्नं पुनर्बहुगुणं बहु।
पुनरल्पं पुनस्तोकं पुनर्नैवोपपद्यते ॥ २० ॥
कणं कदाचित्खादामि पिण्याकमपि च ग्रसे।

संयोग और विनाशावसान समस्त सञ्चयोंको अवलोकन करो। मैं किसी विषयमें ही मन नहीं लगाता। जो लोग गुणयुक्त जीवोंको अन्तवन्त अवलोकन करते और उत्पत्ति तथा लयके विषयको जानते हैं; उनके लिये कोई कार्य शेष नहीं है। (९-१३)

हे दानवराज! यह देखता हूं, कि समुद्रके बीच क्या बडे, क्या छोटे शरीर जलचर जीवोंका पर्यायक्रमसे नाश हो रहे हैं, स्थावर जङ्गम आदि सब जीवोंको स्पष्ट भावसे मृत्युके मुखमें पतित होते देखता हूं। आकाशचारी पक्षियोंकी भी यथा समयमें मृत्यु होती है; आकाशमें घूमनेवाले छोटे और बडे तारे भी नष्ट होते दीख पडते हैं। इसी तरह सब भूतोंको मृत्युके वशमें होते देखकर ब्रह्मनिष्ठ और कृतकृत्य होकर सुखकी नींद सोता हूं। कभी अनायास प्राप्त हुए उत्तम भक्ष्य भोजन किया करता हूं, कभी कई दिनोंतक विना भोजन किये ही सोता हूं, कभी लोग मुझे बहुतसा और कभी थोडा अन्न भोजन कराते हैं; कभी कुछ भी अन्न

भक्षये शालिमांसानि भक्षांश्चोच्चावचान्पुनः ॥ २१ ॥
शये कदाचित्पर्यङ्के भूमावपि पुनः शये ।
प्रासादे चापि मे शय्या कदाचिदुपपद्यते ॥ २२ ॥
धारयामि च चीराणि शाणक्षौमाजिनानि च ।
महार्हाणि च वासांसि धारयाम्यहमेकदा ॥ २३ ॥
न संनिपतितं धर्म्यमुपभोगं यदृच्छया ।
प्रत्याचक्षे न चाप्येनमनुरुध्ये सुदुर्लभम् ॥ २४ ॥
अचलमनिधनं शिवं विशोकं शुचिमतुलं विदुषां मते प्रविष्टम् ।
अनभिमतमसेवितं विमूढैर्व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २५ ॥
अचलितमतिरच्युतः स्वधर्मात्परिमितसंसरणः परावरज्ञः ।
विगतभयकषायलोभमोहो व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २६ ॥
अनियतफलभक्ष्यभोज्यपेयं विधिपरिणामविभक्तदेशकालम् ।

उपस्थित नहीं होता । मैं कभी चावलों के किनकोंको भक्षण करता, कभी पिण्याकफल भोजन किया करता हूं। (१४—२१)

कभी पकान्न आदिक अनेक प्रकारकी भक्ष्य वस्तुओंको भक्षण करता हूं मैं कभी पलङ्गपर सोता, कभी पृथ्वीपर शयन किया करता हूं, कभी महलमें मेरी शय्या सज्जित हुआ करती है, कभी, चीरवसन, कभी शनसूतके बने हुए वस्त्र, कभी कभी क्षौमवस्त्र और कभी मृगछाल धारण करता हूं; समयके अनुसार महामूल्यवान वस्त्रोंको भी पहना करता हूं। यदृच्छाप्राप्त धर्मयुक्त उपभोग वस्तुओंमें मैं अनास्था नहीं करता और इसके अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी उसके लिये मेरी रुचि नहीं होती। मैं पवित्र भावसे स्थिरतायुक्त, मरण-विरोधी, मंगलजनक शोकहीन और तुलनारहित इस अजगर व्रतका आचरण करता हूं। अत्यन्त मूढ लोग इसका आचरण करना तो दूर रहे इसे जाननेमें भी समर्थ नहीं होते; यह ब्रह्मप्राप्तिका उपाय स्वरूप है। (२१–२५)

मैं स्थिर चित्तसे निज धर्मसे विचलित न होकर पूर्वापर सब मालूम करके परिमित भावसे जीविका निर्वाह करते हुए निर्भय, राग, द्वेष आदिसे रहित, निर्लोभ और मोहहीन होकर पवित्र भावसे इस अजगर व्रतका आचरण करता हूं। जिसमें भक्ष्य, भोज्य और पेय विषयका नियम नहीं है; अदृष्टके परिणामके कारण देश और कालकी व्यवस्था की है; कुत्सित पुरुष जिसके

हृदयसुखमसेवितं कदर्यैर्व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २७ ॥
इदमिदमिति तृष्णयाऽभिभूतं जनमनवाप्तधनं विषीदमानम् ।
निपुणमनुनिशम्य तत्त्वबुद्ध्या व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २८ ॥
बहुविधमनुदृश्य चार्थहेतोः कृपणमिहार्यमनार्यमाश्रयन्तम् ।
उपशमरुचिरात्मवान् प्रशान्तो व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २९ ॥
सुखमसुखमलाभमर्थलाभं रतिमरतिं मरणं च जीवितं च ।
विधिनियतमवेक्ष्य तत्त्वतोऽहं व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३० ॥
अपगतभयरागमोहदर्पो धृतिमतिबुद्धिसमन्वितः प्रशान्तः ।
उपगतफलभोगिनो निशम्य व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३१ ॥
अनियतशयनासनः प्रकृत्या दमनियमव्रतसत्यशौचयुक्तः ।
अपगतफलसञ्चयः प्रहृष्टो व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३२ ॥
अपगतमसुखार्थमीहनार्थैरुपगतबुद्धिरवेक्ष्य चात्मसंस्थम् ।

आचरण करनेमें असमर्थ हैं उस हृदय-सुखदायक अजगर व्रतका मैं पवित्र भावसे आचरण करता हूं। "अमुक धन मैं लाभ करूंगा" इसी तरह तृष्णासे युक्त होकर धन न प्राप्त होनेपर दुःखित होते हैं, इसे तत्वबुद्धिके जरिये निपुणताके सहित आलोचना करके मैं पवित्र भावसे इस अजगर व्रतका आचरण करता हूं। (२६–२८)

दीन पुरुष कृपण भावसे सत् और असत् सबहीके निकट धनके निमित्त आश्रित होते हैं, इसे देखकर मैं उपशम की अभिलाष करके और चित्तको जीतके इस अजगर व्रतका आचरण करता हूं। सुख, दुःख, लाभ, हानि, रति, अरति, जीना और मरना सब दैवके अधीन है, इसे यथार्थ रीतिसे जानकर मैं पवित्र भावसे इस अजगर व्रतका आचरण करता हूं। अजगर सर्प उपस्थित फलको भोग किया करता है, उसे सुनके मैं राग, भय, मोह और अभिमानसे रहित, धृति, मति और बुद्धिसे युक्त तथा प्रशान्त होकर पवित्र भावसे इस अजगर व्रतका आचरण करता हूं। मेरे सोने और भोजन करने का नियम नहीं है, मैं स्वभावसेही दम, नियम, सत्य, व्रत और शौच युक्त, फलसञ्चयसे रहित और आनन्दित होकर इस अजगरव्रतका आचरण करता हूं। इच्छाके विषय पुत्र और वित्त आदि निबन्धन परिणाम दुःखके कारण हैं, समस्त दुःख स्वयंही [illegible] हुए हैं; इससे मैं ज्ञानलाभ करके अन्तःकरणको तृषित और अस्थिर देखकर उसे

तृषितमनियतं मनो नियन्तुं व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥३३॥
हृदयमनुरुध्य वाङ्मनो वा प्रियसुखदुर्लभतामनित्यतां च।
तदुभयमुपलक्षयन्निवाहं व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३४ ॥
बहु कथितमिदं हि बुद्धिमद्भिः कविभिरपि प्रथयद्भिरात्मकीर्तिम्।
इदमिदमिति तत्र तत्र हन्त स्वपरमतैर्गहनं प्रतर्कयद्भिः ॥ ३५ ॥
तदिदमनुनिशम्य विप्रपातं पृथगभिपन्नमिहाबुधैर्मनुष्यैः।
अनवसितमनन्तदोषपारं नृषु विहरामि विनीतदोषतृष्णः॥ ३६ ॥
भीष्म उवाच-अजगरचरितं व्रतं महात्मा य इह नरोऽनुचरेद्विनीतरागः।
अपगतभयलोभमोहमन्युः स खलु सुखी विचरेदिमं विहारम् ॥३७॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि
अजगरप्रन्हादसंवादे एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७९॥ [६६१२]

युधिष्ठिर उवाच- बान्धवाः कर्म वित्तं वा प्रज्ञा वेह पितामह।
नरस्य का प्रतिष्ठा स्यादेतत्पृष्टो वदस्व मे ॥ १ ॥
भीष्म उवाच- प्रज्ञा प्रतिष्ठा भूतानां प्रज्ञा लाभः परो मतः।

स्थिर करनेके लिये पवित्र भावसे इस आत्मनिष्ठ अजगर व्रतका आचरण करता हूं। (२९—३३)

मैं वचन, मन और अन्तःकरणका अनुरोध न करके प्रिय सुखकी दुर्लभता और अनित्यता देखते हुए पवित्र भावसे इस अजगर व्रतका आचरण करता हूं। बुद्धिमान कवियोंने आत्मकीर्त्तिको प्रसिद्ध करते हुए निजमत और परमतके जरिये यह शास्त्र ऐसा कहता है इसी तरह अनेक वितर्क करके बहुतायतके सहित आत्मतत्वका विषय वर्णन किया है। मूर्ख मनुष्य उस प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे प्रसिद्ध तर्कसे अगोचर आत्मतत्वको जाननेमें समर्थ नहीं होते; मैं उसेही अज्ञान आदि नाशक, अन्तरहित और अनन्त दोष निवारक रूपसे आलोचना करके दोष और तृष्णा त्यागके मनुष्योंके बीच भ्रमण किया करता हूं। भीष्म बोले, इस पृथ्वीमण्डल पर जो महानुभाव मनुष्य रागहीन और भय, लोभ, मोह तथा मानरहित होकर इस अजगर व्रतका आचरण करते हैं, वे अवश्यही सुखी होते हैं। (३४-३७)

शान्तिपर्वमें १७९ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १८० अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! बान्धवों, वित्त, कर्म और बुद्धि इन सबके बीच मनुष्योंकी किस विषयसे प्रतिष्ठा होती

प्रज्ञा निःश्रेयसी लोके प्रज्ञा स्वर्गो मतः सताम्॥ २॥
प्रज्ञया प्रापितार्थो हि बलिरैश्वर्यसंक्षये।
प्रह्लादो नमुचिर्मङ्किस्तस्याः किं विद्यते परम् ॥ ३ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
इन्द्रकाश्यपसंवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ४ ॥
वैश्यः कश्चिदृषिसुतं काश्यपं संशितव्रतम्।
रथेन पातयामास श्रीमान् दृप्तस्तपस्विनम् ॥ ५ ॥
आर्तः स पतितः क्रुद्धस्त्यक्त्वाऽऽत्मानमथाब्रवीत्।
मरिष्याम्यधनस्येह जीवितार्थो न विद्यते ॥ ६ ॥
तथा मुमूर्षुमासीनमकूजन्तमचेतसम्।
इन्द्रः सृगालरूपेण बभाषे लुब्धमानसम् ॥ ७ ॥
मनुष्ययोनिमिच्छन्ति सर्वभूतानि सर्वशः।
मनुष्यत्वे च विप्रत्वं सर्वे एवाभिनन्दति ॥ ८ ॥
मनुष्यो ब्राह्मणश्चासि श्रोत्रियश्चाऽसि काश्यप।

है, मैं इसेही पूछता हूं आप मेरे समीप वर्णन करिये। भीष्म बोले, बुद्धिसेही जीवोंकी प्रतिष्ठा होती है, इस लोकमें बुद्धिसेही निःश्रेयस लाभ हुआ करता है; बुद्धिही साधुओंमें स्वर्गरूपसे सम्मत है। ऐश्वर्य नष्ट होनेपर राजा बलि; प्रह्लाद, नमुचि और मंकिने बुद्धिसेही पुरुषार्थ लाभ किया था; इससे बुद्धिसे श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है। हे धर्मराज! इस विषयमें पण्डित लोग इन्द्र और कश्यपके संवादयुक्त इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, उसे तुम सुनो। ऐश्वर्यसे मतवाला कोई वैश्य कश्यपवंशीय संशितव्रती तपस्वी ऋषिपुत्रको रथचक्रसे गिराया था। (१-५)

गिरनेसे पीडित होकर ऋषिपुत्रने शरीर त्यागनेका निश्चय करके क्रुद्ध भावसे कहा, मैं अवश्यही जीवन परित्याग करूंगा; इस पृथ्वीमण्डलपर निर्द्धन मनुष्योंको जीवन धारण करनेका कुछ प्रयोजन नहीं है। ऋषिपुत्रके मुमूर्षु होकर चेतनारहित अवस्था इस प्रकार क्षुब्धचित्त और शब्द रहित होके निवास करनेपर देवराज इन्द्र सियारका रूप धरके उसके समीप आके बोले, हे कश्यप! समस्त जीव सब तरहसे मनुष्ययोनि प्राप्त होनेकी इच्छा करते हैं, मनुष्य जन्म होनेसे सब कोई ब्राह्मणत्वका अभिनन्दन किया करते हैं। तुम

सुदुर्लभमवाप्यैतन्न दोषान्मर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥
सर्वे लाभाः साभिमाना इति सत्यवती श्रुतिः।
सन्तोषणीयरूपोऽसि लोभाद्यदभिमन्यसे ॥ १० ॥
अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः।
अतीव स्पृहये तेषां येषां सन्तीह पाणयः ॥ ११ ॥
पाणिमद्भ्यः स्पृहाऽस्माकं यथा तव धनस्य वै।
न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते ॥ १२ ॥
अपाणित्वाद्वयं ब्रह्मन्कण्टकं नोद्धरामहे।
जन्तूनुच्चावचानङ्गे दशतो न कषाम वा ॥ १३ ॥
अथ येषां पुनः पाणी देवदत्तौ दशांगुली।
उद्धरन्ति कृमीनङ्गाद्दशतो निकषन्ति च ॥ १४ ॥
वर्षाहिमातपानां च परित्राणानि कुर्वते।

मनुष्य-जन्म पाके ब्राह्मण हुए हो, विशेष करके वेदाध्ययन किया है; अत्यन्त दुर्लभ मनुष्यत्व ब्राह्मणत्व और श्रोत्रियत्व लाभ करके मूढताके वशमें होकर तुम्हें शरीर त्यागना उचित नहीं है। (६-९)

लाभमात्रही अभिमानसे युक्त है, अर्थात् "मैंने यह धन प्राप्त किया है" सब वस्तुओंके प्राप्त होने पर इसी प्रकार अभिमान हुआ करता है। इस विषयमें जो जनश्रुति है, अर्थात् किसीके धनमें अभिलाषा मत करो, यह अवश्यही तुम्हें विदित होगा, तुम्हारा सौन्दर्य अत्यन्त ही सन्तोषयुक्त है; इसलिये तुमने जो मरनेका निश्चय किया है, उस विषयमें लोभही कारण है। इस जगत्में जिन्हें पांच अंगुलियोंसे युक्त हाथ है, उनका सभी प्रयोजन सिद्ध होता है; हाथ युक्त लोगोंकी मैं अत्यन्त सराहना किया करता हूं, धनके निमित्त तुम्हारी जैसी इच्छा है, हाथ युक्त मनुष्योंके विषयमें मेरी वैसीही अभिलाष हुआ करती है, हस्तलाभसे अधिक लाभ और कुछ भी नहीं है। हे ब्राह्मण! हाथ नहीं है, इसहीसे हम लोग कण्टक उद्धार नहीं कर सकते और अनेक प्रकारके कीट हमारे अङ्गमें दशन करते रहते हैं, उन्हें नष्ट करनेकी सामर्थ्य नहीं होती। (१०—१३)

जिन्हें दैवके दिये हुए दश अंगुलियोंसे युक्त दोनों हाथ विद्यमान हैं, वे लोग दशन करनेवाले कीटोंको सहजमें ही पृथक् कर सकते हैं, सर्दी, वर्षा और धूपसे अपना बचाव करनेमें

चैलमन्नं सुखं शय्यां निवातं चोपभुञ्जते ॥ १५ ॥
अधिष्ठाय च गां लोके भुञ्जते वाहयन्ति च ।
उपायैर्बहुभिश्चैव वश्यानात्मनि कुर्वते ॥ १६ ॥
ये खल्वजिह्वाः कृपणा अल्पप्राणा अपाणयः ।
सहन्ते तानि दुःखानि दिष्ट्या त्वं न तथा मुने॥१७॥
दिष्ट्या त्वं न शृगालो वै न कृमिर्न च मूषकः ।
न सर्पो न च मण्डूको न चान्यः पापयोनिजः ॥१८॥
एतावतापि लाभेन तोष्टुमर्हसि काश्यप ।
किं पुनर्योऽसि सत्त्वानां सर्वेषां ब्राह्मणोत्तमः॥ १९ ॥
इमे मां कृमयोऽदन्ति येषामुद्धरणाय वै ।
नास्ति शक्तिरपाणित्वात्पश्यावस्थामिमां मम॥ २० ॥
अकार्यमिति चैवेमं नात्मानं संत्यजाम्यहम् ।
नातः पापीयसीं योनिं पतेयमपरामिति ॥ २१ ॥
मध्ये वै पापयोनीनां शार्गालीं यामहं गतः ।
पापीयस्यो बहुतरा इतोऽन्याः पापयोनयः ॥ २२ ॥

समर्थ होते हैं । अन्न, वस्त्र, सुख, शय्या आदि सहजमेंही उपभोग कर सकते हैं; जनसमाजके बीच वाहनोंपर चढके उन्हें चलाते हुए सुखभोग कर सकते और आत्मसुखके लिये अनेक प्रकार उपायसे सबको वशीभूत करनेमें समर्थ होते हैं । जिनके हाथ और जीभ नहीं हैं, वे कृपण तथा अल्पबलवाले हैं, वेही उन सब दुःखोंको सहते हैं । हे मुनि ! भाग्यसेही तुम सियार, कीट, मूषिक, सांप वा मेडक नहीं हुए अथवा दूसरी किसी पापयोनिमें जन्म नहीं लिया । (१४-१८)

हे कश्यप ! मनुष्यत्व लाभसेही तुम्हें सन्तुष्ट रहना उचित है; तुम जब सब जीवोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण हुए हो, तब फिर दूसरे लाभकी क्या आवश्यकता है; मेरी दशा देखो, ये सब कृमिसमूह मुझे डंस रहे हैं, हाथ नहीं है, इसीसे मैं इन्हें नष्ट तथा निवारण करनेमें समर्थ नहीं हो सकता । तिर्यग् प्राणियोंको भी शरीर त्यागना पापका कारण हुआ करता है, इसलिये मैं इस शरीरको नहीं त्याग सकता और इससे अधिक पापयुक्त दूसरी योनिमें पडनेकी इच्छा नहीं होती । समस्त पापयोनियोंके बीच मैंने जो शृगाल योनि पाई है, इससे भी अधिक पापयुक्त दूसरी

जात्यैवैके सुखितराः सन्त्यन्ये भृशदुःखिताः ।
नैकान्तं सुखमेवेह क्वचित्पश्यामि कस्यचित् ॥ २३ ॥
मनुष्या ह्याढ्यतां प्राप्य राज्यमिच्छन्त्यनन्तरम् ।
राज्याद्देवत्वमिच्छन्ति देवत्वादिन्द्रतामपि ॥ २४ ॥
भवेस्त्वं यद्यपि त्वाढ्यो न राजा न च दैवतम् ।
देवत्वं प्राप्य चेन्द्रत्वं नैव तुष्येस्तथा सति ॥ २५ ॥
न तृप्तिः प्रियलाभेऽस्ति तृष्णा नाद्भिः प्रशाम्यति ।
संप्रज्वलति सा भूयः समिद्भिरिव पावकः ॥ २६ ॥
अस्त्येव त्वयि शोकोऽपि हर्षश्चापि तथा त्वयि ।
सुखदुःखे तथा चोभे तत्र का परिदेवना ॥ २७ ॥
परिच्छिद्यैव कामानां सर्वेषां चैव कर्मणाम् ।
मूलं बुद्धीन्द्रियग्रामं शकुन्तानिव पञ्जरे ॥ २८ ॥
न द्वितीयस्य शिरसश्छेदनं विद्यते क्वचित् ।
न च पाणेस्तृतीयस्य यन्नास्ति न ततो भयम् ॥ २९ ॥

अनेक पापयोनि हैं, कितनेही लोग जातिके जरियेही अत्यन्त सुखी हुआ करते हैं; दूसरे लोग उसहीसे अत्यन्त दुःखित होते हैं; इस जगत्में कोई पुरुषको किसी विषयमें इकबारगी सुखी नहीं देखता हूं। (१९-२३)

मनुष्य लोग धनवान होके फिर राज्यकी इच्छा करते हैं, राज्य प्राप्त होनेपर फिर देवत्वकी इच्छा किया करते हैं, देवत्व प्राप्त होनेपर इन्द्रत्व लाभके अभिलाषी होते हैं। तुम यदि धनवान हो जाओ तथापि राजा वा देवता न होंगे, यद्यपि देवत्वलाभ करके अन्तमें इन्द्रत्व लाभ करो; तौभी तुम सन्तुष्ट न होगे। प्रिय वस्तुओंके मिलनेसे कभी तृप्ति नहीं होती। बहुत जल रहने पर भी प्यास कभी नहीं शान्त होती, काष्ठ प्राप्त होनेसे अग्निकी तरह प्रिय वस्तुओंके मिलनेसे विषय-तृष्णा अत्यन्तही बढती है। जैसा तुम्हें शोक हुआ है, वैसाही हर्ष भी तुममें निवास कर रहा है, इससे तुम आत्मगत हर्षसे शोकको दूर करो। जब कि सुख और दुःख दोनोंही प्राप्त होते हैं, तब फिर उसके लिये दुःख करनेका क्या प्रयोजन है। (२४-२७)

जो लोग कामना और उसके सब कार्योंकी मूल बुद्धि तथा इन्द्रियोंको पिञ्जरेमें बद्ध पक्षीकी तरह शरीरके बीच रोक रख सकते हैं; जैसे कल्पित दूसरे

न खल्वप्यरसज्ञस्य कामः क्वचन जायते ।
संस्पर्शाद्दर्शनाद्वापि श्रवणाद्वापि जायते ॥ ३० ॥
न त्वं स्मरसि वारुण्या लट्वाकानां च पक्षिणाम् ।
ताभ्यां चाभ्यधिको भक्ष्यो न कश्चिद्विद्यते क्वचित् ॥ ३१ ॥
यानि चान्यानि भूतेषु भक्ष्यजातानि कस्यचित् ।
येषामभुक्तपूर्वाणि तेषामस्मृतिरेव ते ॥ ३२ ॥
अप्राशनमसंस्पर्शमसंदर्शनमेव च ।
पुरुषस्यैष नियमो मन्ये श्रेयो न संशयः ॥ ३३ ॥
पाणिमन्तो बलवन्तो धनवन्तो न संशयः ।
मनुष्या मानुषैरेव दासत्वमुपपादिताः ॥ ३४ ॥
वधबन्धपरिक्लेशैः क्लिश्यन्ते च पुनः पुनः ।
ते खल्वपि रमन्ते च मोदन्ते च हसन्ति च ॥ ३५ ॥
अपरे बाहुबलिनः कृतविद्या मनस्विनः ।
जुगुप्सितां च कृपणां पापवृत्तिमुपासते ॥ ३६ ॥
उत्सहन्ते च ते वृत्तिमन्यामप्युपसेवितुम् ।

सिर और तीसरे हाथका कटना सम्भव नहीं है, वैसेही उन्हें किसी स्थानमें किसी विषयमें भय नहीं होता। जो पुरुष जिस विषयका रसज्ञ नहीं है, उसमें कामना नहीं होती; दर्शन, स्पर्शन और श्रवण निबन्धनसे रसज्ञान हुआ करता है। तुमने कभी मद्य और लडाक पक्षीके मांसका स्वाद नहीं ग्रहण किया है; किन्तु ऊपर कही हुई दोनों वस्तुओंसे बढके उत्तम भक्ष्य और कुछ भी नहीं है। हे कश्यप! जीवोंकी जो सब भक्ष्य वस्तु हैं, उसमेंसे तुमने जिसे नहीं खाया है, उसके विषयमें तुम्हारा स्वाद ग्रहण भी नहीं है; इसलिये अशन स्पर्शन और दर्शन त्याग विषयमें नियम निर्द्धारण करना ही पुरुषोंको निःसन्देह कल्याणकारी बोध होता है। (२८-३३)

हाथयुक्त जीवही निःसंदेह बलवान् और धनवान् हुआ करते हैं। मनुष्य लोग मनुष्योंके दासत्व शृंखलमें बद्ध होकर वध बन्धन आदि विविध क्लेशोंसे बार बार क्लेशित हुआ करते हैं, वे लोग वैसी अवस्थामें पडके भी क्रीडा, आमोद तथा हास किया करते हैं। दूसरे बाहुबलशाली कृतविद्य मनस्वी पुरुषभी भवितव्यताकी अलङ्घनीयता निबन्धनसे अत्यन्त निन्दित पापकर्ममें

स्वकर्मणा तु नियतं भवितव्यं तु तत्तथा ॥ ३७ ॥
न पुक्कसो न चाण्डाल आत्मानं त्यक्तुमिच्छति ।
तया तुष्टः स्वया योन्या मायां पश्यस्व यादृशीम्॥३८
दृष्ट्वा कुणीन्पक्षहतान् मनुष्यानामयाविनः ।
सुसंपूर्णः स्वया योन्या लब्धलाभोऽसि काश्यप॥३९॥
यदि ब्राह्मणदेहस्ते निरातङ्को निरामयः ।
अङ्गानि च समग्राणि न च लोकेषु धिक्कृतः ॥ ४० ॥
न केनचित्प्रवादेन सत्येनैवापहारिणा ।
धर्मायोत्तिष्ठ विप्रर्षे नात्मानं त्यक्तुमर्हसि ॥ ४१ ॥
यदि ब्रह्मन् शृणोष्येतच्छ्रद्दधासि च मे वचः ।
वेदोक्तस्यैव धर्मस्य फलं मुख्यमवाप्स्यसि ॥ ४२ ॥
स्वाध्यायमग्निसंस्कारमप्रमत्तोऽनुपालय ।
सत्यं दमं च दानं च स्पर्धिष्ठा मा च केनचित्॥४३ ॥
ये केचन स्वध्ययनाः प्राप्ता यजनयाजनम् ।

अनुरक्त होते हैं, वे लोग अत्यन्त घृणित नीच व्यवहार करनेमें भी उत्साह किया करते हैं। पुक्कश और चाण्डाल जातीय पुरुष भी मायाके प्रभावसे आत्मयोनिमेंही सन्तुष्ट रहके आत्मत्यागकी इच्छा नहीं करते; इसलिये मायाका कैसा प्रभाव है, इसे देखिये। (३३-३८)

हे कश्यप ! विकल अंगवाले, पक्षाघातके कारण अर्द्धांङ्ग और रोगमें फंसे हुए मनुष्योंको देखकर तुम निज जातिके बीच अपनेको सहजमेंही सब तरहसे सुखी और लाभवान समझो। तुम्हारा यह ब्राह्मणशरीर यदि निर्भय और रोगरहित रहे तथा सब अङ्ग विकल न हों तो तुम जनसमाजमें निन्दित न होंगे। हे विप्रवर! कोई जाति नाशकारी कलङ्क होनेपर भी जब आत्मपरित्याग करना उचित नहीं है, तब किस कारण तुमने शरीर त्यागनेका सङ्कल्प किया है। तुम्हें आत्मत्याग करना योग्य नहीं है, तुम धर्मसाधनके लिये उठके खडे हो जाओ। हे ब्रह्मन्! यदि तुम मेरा यह वचन सुनो और इसमें श्रद्धा करो, तो वेदमें कहे हुए धर्मके मुख्य फल पाओगे। तुम प्रमादरहित होके वेदाध्ययन, अग्निसंस्कार, सत्य वचन इन्द्रिय दमन और दानधर्म प्रतिपालन करो; किसीके साथ ईर्षा न करना। जो लोग स्वाध्यायमें रत होके यजन याजन आदि कर्मोंके अधिकारी

कथं ते चानुशोचेयुर्ध्यायेयुर्वाप्यशोभनम् ॥ ४४ ॥
इच्छन्तस्ते विहाराय सुखं महदवाप्नुयुः ।
उत जाताः सुनक्षत्रे सुतिथौ सुमुहूर्तजाः ।
यज्ञदानप्रजेहायां यतन्ते शक्तिपूर्वकम् ॥ ४५ ॥
नक्षत्रेष्वासुरेष्वन्ये दुस्तिथौ दुर्मुहूर्तजाः ।
संपतन्त्यासुरीं योनिं यज्ञप्रसववर्जिताः ॥ ४६ ॥
अहमासं पण्डितको हैतुको वेदनिन्दकः ।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम् ॥ ४७ ॥
हेतुवादान्प्रवदिता वक्ता संसत्सु हेतुमत् ।
आक्रोष्टा चाऽभिवक्ता च ब्रह्मवाक्येषु च द्विजान् ॥४८॥
नास्तिकः सर्वशङ्की च मूर्खः पण्डितमानिकः ।
तस्येयं फलनिर्वृत्तिः सृगालत्वं मम द्विज ॥ ४९ ॥
अपि जातु तथा तस्मादहोरात्रशतैरपि ।
यदहं मानुषीं योनिं सृगालः प्राप्नुयां पुनः ॥ ५० ॥
सन्तुष्टश्चाप्रमत्तश्च यज्ञदानतपोरतिः ।

हुए हैं, वे शोक क्यों करेंगे । किस लिये ही अमङ्गल चिन्ता करनेमें रत होंगे; वे लोग यथा उचित यज्ञ आदिके जरिये समय बितानेकी इच्छा करके अत्यन्त सुखलाभ करेंगे । (३९—४४)

जो लोग शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र और शुभ लग्नमें जन्म लेते हैं, वे यज्ञ, दान और सन्तान उत्पन्न करनेके लिये शक्तिके अनुसार यत्न किया करते हैं; और जो लोग आसुर नक्षत्र, दुष्ट तिथि तथा दुष्ट मुहूर्तमें उत्पन्न हुए हैं, वे यज्ञ-हीन और सन्तानरहित होके आसुरी योनिमें पडते हैं । मैं पूर्व जन्ममें वेद-निन्दक, पुरुषार्थरहित, निरर्थक, आन्वीक्षिकी विद्यामें अनुरक्त, कुतर्क-परायण, नास्तिक और पाण्डित्याभिमानी महामूर्ख था, सभाके बीच युक्ति-युक्त हेतु-वादोंको प्रकट किया करता था, वेदवचनमें अनादर प्रकाशित करके चीत्कारस्वरसे ब्राह्मणोंको अतिक्रम करके वक्तृता करता और स्वर्ग आदि अदृष्ट फलोंमें मुझे शङ्का था । हे द्विज-वर ! उसही फलके परिणाम बलसे मुझे यह शृगालत्व प्राप्त हुई है; मैं सियार होके भी यदि कभी सैकडों दिन तथा रात्रिके अनन्तर फिर मनुष्ययोनी पाऊंगा; तो सदा सन्तुष्ट, प्रमादरहित होकर यज्ञ दान और तपस्यामें रत

ज्ञेयज्ञाता भवेयं वै वर्ज्यवर्जयिता तथा ॥ ५१ ॥
ततः स मुनिरुत्थाय काश्यपस्तमुवाच ह ।
अहो बतासि कुशलो बुद्धिमांश्चेति विस्मितः ॥ ५२ ॥
समवैक्षत तं विप्रो ज्ञानदीर्घेण चक्षुषा ।
ददर्श चैनं देवानां देवमिन्द्रं शचीपतिम् ॥ ५३ ॥
ततः संपूजयामास काश्यपो हरिवाहनम् ।
अनुज्ञातस्तु तेनाथ प्रविवेश स्वमालयम् ॥ ५४ ॥ [६६६६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सृगालकाश्यपसंवादे अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८० ॥

युधिष्ठिर उवाच— यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा तपस्तप्तं तथैव च ।
गुरूणां वापि शुश्रूषा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— आत्मनाऽनर्थयुक्तेन पापे निविशते मनः ।
स्वकर्म कलुषं कृत्वा कृच्छ्रे लोके विधीयते ॥ २ ॥
दुर्भिक्षादेव दुर्भिक्षं क्लेशात्क्लेशं भयाद्भयम् ।
मृतेभ्यः प्रमृतं यान्ति दरिद्राः पापकारिणः ॥ ३ ॥
उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात्स्वर्गं सुखात्सुखम् ।

रहके ज्ञेय पदार्थोंका ज्ञान और त्याज्य विषयोंको परित्याग करूंगा। (४४-५१)

सियारका वचन समाप्त होनेपर कश्यपवंशीय मुनिपुत्रने विस्मययुक्त होके उठकर कहा कैसा आश्चर्य है; तुम अत्यन्त निपुण वक्ता और बुद्धिमान हो। ब्राह्मणने ऐसा वचन कहके ज्ञानयुक्त नेत्रसे उस सियारकी ओर देखते ही देवोंके देव शचीपति इन्द्रका दर्शन किया, अनन्तर द्विजवर कश्यपने देवराजकी भक्ति और श्रद्धाके सहित पूजा की और उनकी आज्ञासे निज स्थानमें प्रविष्ट हुए। (५२-५४)

शान्तिपर्वमें १८० अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १८१ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! दान, यज्ञ, तपस्या, गुरुसेवा और बुद्धि कल्याणप्राप्तिका कारण हैं वा नहीं; उसे मेरे समीप वर्णन कीजिये। भीष्म बोले, मन स्वयं काम, क्रोध आदि अनर्थके वशमें होकर पापमें प्रवृत्त होता है। और निज कर्मोंको पापयुक्त करके क्लेशदायक नरक आदिकोंमें दुःखभोगका अधिकारी हुआ करता है, पाप करनेवाले दरिद्रपुरुष बार बार दुर्भिक्ष, क्लेश, भय और मृत्यु लाभ करते हैं,

श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनाढ्याः शुभकारिणः ॥ ४ ॥
व्यालकुञ्जरदुर्गेषु सर्पचोरभयेषु च ।
हस्तावापेन गच्छन्ति नास्तिकाः किमतः परम् ॥ ५ ॥
प्रियदेवातिथेयाश्च वदान्याः प्रियसाधवः ।
क्षेम्यमात्मवतां मार्गमास्थिता हस्तदक्षिणम् ॥ ६ ॥
पुलाका इव धान्येषु पुत्तिका इव पक्षिषु ।
तद्विधास्ते मनुष्याणां येषां धर्मो न कारणम् ॥ ७ ॥
सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनुधावति ।
शेते सह शयानेन येन येन यथा कृतम् ॥ ८ ॥
उपतिष्ठति तिष्ठन्तं गच्छन्तमनुगच्छति ।
करोति कुर्वतः कर्म च्छायेवानुविधीयते ॥ ९ ॥
येन येन यथा यद्यत्पुरा कर्म समीहितम् ।
तत्तदेकतरो भुङ्क्ते नित्यं विहितमात्मना ॥ १० ॥

और सत्कर्मोंमें रत, दान्त, श्रद्धावान् धनाढ्य मनुष्य सदा उत्सव, स्वर्ग और सुख लाभ किया करते हैं, नास्तिकोंका दोनों हाथ बांधके दुष्ट हाथियोंके जरिये दुर्गम और सांप तथा चोर भयसे युक्त वनके बीच रखना उचित है, इसके अतिरिक्त उन लोगोंके लिये और कुछ शासन नहीं है । (१-५)

जो लोग देवता, अतिथि और साधुओंके विषयमें प्रीति किया करते हैं, वे सब वदान्य पुरुष दान आदि कर्मोंकी अनुकूलताके कारण योगियोंके कल्याणकारी मार्गमें देवयानमें निवास करनेमें समर्थ होते हैं। धान्यके बीच पुलाक और पक्षियोंके बीच जैसे मशक निकृष्ट हैं, वैसेही जिन मनुष्योंको धर्मकर्ममें सुखकी आशा नहीं है, वे भी मनुष्योंके बीच निकृष्ट हुआ करते हैं। पुरुषके परम यत्नवान होनेपर भी पूर्वकर्म उसका अनुसरण करते हैं, सोनेपर भी उसके सहित शयन किया करते हैं, प्राचीन कर्म जब जिस प्रकारसे किया जाता है, उसही समय वह उसी प्रकार फलदायक वा अफलदायक हुआ करता है। (६-८)

प्राक्तन कर्म छायाके समान है। पुरुषके स्थित होनेपर स्थित, गमन करनेपर अनुगामी और कर्म करनेपर उसके सहित अविच्छिन्न रहके अनुकूलता करता है। पहिले जिस तरहसे जो कर्म किया गया है, मनुष्य उसही आत्मकृत कर्मको उसही प्रकार सदा

स्वकर्मफलनिक्षेपं विधानपरिरक्षितम् ।
भूतग्राममिमं कालः समन्तात्परिकर्षति ॥ ११ ॥
अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च ।
स्वं कालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुरा कृतम् ॥ १२ ॥
संमानश्चाऽवमानश्च लाभालाभौ क्षयोदयौ ।
प्रवृत्तानि विवर्तन्ते विधानान्ते पुनः पुनः ॥ १३ ॥
आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम् ।
गर्भशय्यामुपादाय भुज्यते पौर्वदेहिकम् ॥ १४ ॥
बालो युवा च वृद्धश्च यत्करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं प्रतिपद्यते ॥ १५ ॥
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ १६ ॥
समुन्नमग्रतो वस्त्रं पश्चाच्छुध्यति कर्मणा ।
उपवासैः प्रतप्तानां दीर्घं सुखमनन्तकम् ॥ १७ ॥
दीर्घकालेन तपसा सेवितेन तपोवने ।
धर्मनिर्धूतपापानां संपद्यन्ते मनोरथाः ॥ १८ ॥

भोग किया करता है। निज कर्मफलका आश्रय स्वरूप पूर्वकर्मके कारण अदृष्टके जरिये परिरक्षित जीवोंको काल सदा आकर्षण कर रहा है। जैसे फूल और फल अवचित न होनेसे निज समयको अतिक्रम नहीं करते, पहलेके किये हुए कर्म भी, वैसे ही मान, अवमान लाभ, हानि, क्षय और उदय आदि प्राक्तन कर्मके भीतर बार बार प्रवृत्त और निवृत्त होते हैं। मनुष्य गर्भशय्यामें शयन करते हुए भी पूर्वदेह सम्बन्धीय आत्मकृत सुख दुःख भोग करता है, क्या बालक, क्या युवा, क्या वृद्ध जो लोग जिस अवस्थामें जो कुछ शुभाशुभ कर्म किया करते हैं, वे उसही अवस्थामें उसका फल पाते हैं। (९–१५)

जैसे बछडा हजार गऊके बीच निज जननीको खोज लेता है वैसेही पूर्वकर्म भी कर्त्ताका अनुगमन किया करते हैं। जैसे वस्त्र पहले मलसे मलिन होके फिर धोनेसे शुद्ध होते हैं। उसी तरह विषयत्यागनिबन्धनसे सन्तापित लोगोंको अत्यन्त महत् अनन्त सुख हुआ करता है। तपोवनमें बहुत समयतक तपस्या करके धर्मबलसे जिसके पाप धोये गये हैं,

शकुनानामिवाऽऽकाशे मत्स्यानामिव चोदके।
पदं यथा न दृश्येत तथा ज्ञानविदां गतिः ॥ १९ ॥
अलमन्यैरुपालम्भैः कीर्तितैश्च व्यतिक्रमैः।
पेशलं चानुरूपं च कर्तव्यं हितमात्मनः ॥ २० ॥ [६६८६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥

युधिष्ठिर उवाच— कुतः सृष्टमिदं विश्वं जगत्स्थावरजङ्गमम्।
प्रलये च कमभ्येति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
ससागरः सगगनः सशैलः सबलाहकः।
सभूमिः साग्निपवनो लोकोऽयं केन निर्मितः ॥ २ ॥
कथं सृष्टानि भूतानि कथं वर्णविभक्तयः।
शौचाशौचं कथं तेषां धर्माधर्मविधिः कथम् ॥ ३ ॥
कीदृशो जीवतां जीवः क्व वा गच्छन्ति ये मृताः।
अस्माल्लोकादमुं लोकं सर्वं शंसतु नो भवान् ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।

उन्हींके मनोरथ सिद्ध होते हैं। जैसे आकाशमें पक्षियों और जलमें मछलियोंके पैर नहीं दीखते, ज्ञानवान् मनुष्योंकी गति भी वैसी ही है। दूसरे आक्षेप और अपराधवाक्यके उल्लेखकी आवश्यकता नहीं है, निपुणताके सहित अपने अनुरूप हितसाधन करना उचित है, ऐसा होनेसे ही प्रज्ञा और कल्याणलाभ हुआ करता है। (१६-२०)

शान्तिपर्वमें १८१ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १८२ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! यह स्थावर जङ्गमात्मक जगत् किससे उत्पन्न हुआ है, और प्रलयकालमें किसमें जाके लयको प्राप्त होता है, आप मुझसे वही कहिये। समुद्र, पहाड, आकाश, बलाहक, पृथ्वी, पवन और अग्निके सहित इस संसारको किसने बनाया है। सब जीव किस तरह उत्पन्न हुए हैं; वर्णविभाग किस प्रकार हुआ है; सब वर्णोंके शौच अशौच और धर्माधर्मकी विधि कैसी है, जीवोंका जीवन कैसा है, सब जीव मरनेपर कहां जाते हैं इस लोकसे परलोकमें कैसे जाना होता है; आप यह सब मेरे समीप वर्णन करिये। (१-४)

भीष्म बोले, भरद्वाजके प्रश्नके अनुसार भृगु मुनिके कहे हुए इस प्राचीन

भृगुणाऽभिहितं शास्त्रं भरद्वाजाय पृच्छते ॥ ५ ॥
कैलासशिखरे दृष्ट्वा दीप्यमानं महौजसम्।
भृगुं महर्षिमासीनं भरद्वाजोऽन्वपृच्छत ॥ ६ ॥
ससागरः सगगनः सशैलः सबलाहकः।
सभूमिः साग्निपवनो लोकोऽयं केन निर्मितः ॥ ७ ॥
कथं सृष्टानि भूतानि कथं वर्णविभक्तयः।
शौचाशौचं कथं तेषां धर्माधर्मविधिः कथम् ॥ ८ ॥
कीदृशो जीवतां जीवः क्व वा गच्छन्ति ये मृताः।
परलोकमिमं चापि सर्वं शंसितुमर्हसि ॥ ९ ॥
एवं स भगवान्पृष्टो भरद्वाजेन संशयम्।
ब्रह्मर्षिर्ब्रह्मसङ्काशः सर्वं तस्मै ततोऽब्रवीत् ॥ १० ॥

भृगुरुवाच— मानसो नाम यः पूर्वो विश्रुतो वै महर्षिभिः।
अनादिनिधनो देवस्तथाऽभेद्योऽजरामरः ॥ ११ ॥
अव्यक्त इति विख्यातः शाश्वतोऽथाऽक्षयोऽव्ययः।
यतः सृष्टानि भूतानि जायन्ते च म्रियन्ति च॥ १२ ॥
सोऽसृजत्प्रथमं देवो महान्तं नाम नामतः।

इतिहासको पुराने पण्डित लोग इस विषयमें उदाहरण दिया करते हैं। कैलास शिखरपर बैठे हुए महातेजस्वी दीप्यमान महर्षि भृगुका दर्शन करके भरद्वाज प्रश्न करनेमें प्रवृत्त हुए। भरद्वाज बोले, समुद्र, पर्वत, आकाश, बलाहक, भूमि, पवन और अग्निके सहित इस विश्वको किसने बनाया है। सब भूत किस प्रकार उत्पन्न हुए और वर्णविभाग किस तरह हुआ है, सब वर्णोंके शौच अशौच और धर्माधर्मकी विधि कैसी है, जीवित लोगोंका जीवन कैसा है, सब जीव मरकेही कहां गमन करते हैं, परलोक और इस लोकके विषय किस प्रकारके हैं ? आपही यह सब वर्णन करनेके योग्य हैं; इस लिये ऊपर कहे हुए सब विषयोंको वर्णन करिये। (५-९)

ब्रह्मसङ्काश ब्रह्मर्षि भृगुने भरद्वाजके ऐसे संशययुक्त विषयोंको सुनके उनसे सब विषय कहने लगे। भृगु बोले, सत् और असत् रूपसे अनिर्वचनीय अज्ञानसे उत्पन्न मानस नाम महर्षियोंसे विश्रुत अनादिनिधन, अभेद्य, अजर, अमर, अव्यक्त रूपसे विख्यात, अक्षय, अव्यय और शाश्वत एक देवता है; जन्मविशिष्ट जीव जिससे उत्पन्न होते और

महान्ससर्जोऽहंकारं स चापि भगवानथ ।
आकाशमिति विख्यातं सर्वभूतधरः प्रभुः ॥ १३ ॥
आकाशादभवद्वारि सलिलादग्निमारुतौ ।
अग्निमारुतसंयोगात्ततः समभवन्मही ॥ १४ ॥
ततस्तेजोमयं दिव्यं पद्मं सृष्टं स्वयंभुवा ।
तस्मात्पद्मात्समभवद्ब्रह्मा वेदमयो निधिः ॥ १५ ॥
अहंकार इति ख्यातः सर्वभूतात्मभूतकृत् ।
ब्रह्मा वै स महातेजा य एते पञ्च धातवः ॥ १६ ॥
शैलास्तस्यास्थिसंज्ञास्तु मेदो मांसं च मेदिनी ।
समुद्रास्तस्य रुधिरमाकाशमुदरं तथा ॥ १७ ॥
पवनश्चैव निःश्वासस्तेजोऽग्निर्निम्नगाः शिराः ।
अग्नीषोमौ तु चन्द्रार्कौ नयने तस्य विश्रुते ॥ १८ ॥
नभश्चोर्ध्वं शिरस्तस्य क्षितिः पादौ भुजौ दिशः ।
दुर्विज्ञेयो ह्यचिन्त्यात्मा सिद्धैरपि न संशयः ॥ १९ ॥
स एष भगवान्विष्णुरनन्त इति विश्रुतः ।
सर्वभूतात्मभूतस्थो दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः ॥ २० ॥

अन्तमें जिसमें लीन हुआ करते हैं; वही देव पहले महत्की सृष्टि करता है, महत्से अहंकार, अहङ्कारसे आकाश, आकाशसे जल, जलसे अग्नि, वायु और अग्नि तथा वायुके मेलसे महीमण्डल उत्पन्न होता है, अनन्तर स्वयम्भू मानस दिव्य तेजमय एक पद्मकी सृष्टि करते हैं उसही पद्मसे वेद पूर्ण ऐश्वर्य-निधि ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। (१०-१५)

आकाश आदि पञ्चभूतमय और जरायुज आदि चार प्रकारके जीवोंके सृष्टि कर्ता वह महातेजस्वी ब्रह्मा उत्पन्न होते ही "सोहं"-यह वाक्य उच्चारण करनेसे अहङ्कार नामसे विख्यात हुए हैं । सब पर्वत जिसकी हड्डी, पृथ्वी जिसका मेद और मांस है, सागर उसका रुधिर, आकाश पेट, पवन श्वास, अग्नि तेज, नदियें शिरा, चन्द्रमा और सूर्य उनके दोनों नेत्र, ऊर्ध्व तथा आकाश शिर, पृथ्वी दोनों चरण और सब दिशा उनके हाथ हुए हैं; वह अचिन्त्यस्वभाव ब्रह्मा सिद्धोंको भी निःसंदेह दुर्विज्ञेय हैं । वही विश्वव्यापी भगवान अनन्त नामसे विख्यात हैं । सब भूतोंके आत्मभूत अहङ्कार तत्वमें जो स्थित हैं; उन्हें कृत-बुद्धि पुरुष सहजमें जाननेमें समर्थ नहीं

अहंकारस्य यः स्रष्टा सर्वभूतभवाय वै।
यतः समभवद्विश्वं पृष्टोऽहं यदिह त्वया ॥ २१ ॥

भरद्वाज उवाच- गगनस्य दिशां चैव भूतलस्यानिलस्य वा।
कान्यत्र परिमाणानि संशयं छिन्धि तत्त्वतः ॥ २२ ॥

भृगुरुवाच— अनन्तमेतदाकाशं सिद्धदैवतसेवितम्।
रम्यं नानाश्रयाकीर्णं यस्यान्तो नाधिगम्यते ॥ २३ ॥
ऊर्ध्वं गतेरधस्तात्तु चन्द्रादित्यौ न दृश्यतः।
तत्र देवाः स्वयंदीप्ता भास्वराभाऽग्निवर्चसः ॥ २४ ॥
ते चाप्यन्तं न पश्यन्ति नभसः प्रथितौजसः।
दुर्गमत्वादनन्तत्वादिति मे विद्धि मानद ॥ २५ ॥
उपरिष्टोपरिष्टात्तु प्रज्वलद्भिः स्वयंप्रभैः।
निरुद्धमेतदाकाशमप्रमेयं सुरैरपि ॥ २६ ॥
पृथिव्यन्ते समुद्रास्तु समुद्रान्ते तमः स्मृतम्।
तमसोऽन्ते जलं प्राहुर्जलस्यान्तेऽग्निरेव च ॥ २७ ॥
रसातलान्ते सलिलं जलान्ते पन्नगाधिपाः।

होते। सब भूतोंकी उत्पत्तिके कारण अहङ्कारकी जिन्होंने सृष्टि की थी, जिससे कि संसार उत्पन्न हुआ है; उसका विषय तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैंने तुमसे कहा। (१९—२१)

भरद्वाज बोले, आकाश, दिशा, भूमि और अनिलका क्या परिमाण है? पूरी रीतिसे उसे वर्णन करके मेरा संशय छेदन करिये। भृगु बोले, हे तपोधन! चौदहों भुवन परिपूरित, सिद्ध देवताओंसे सेवित यह रमणीय आकाश अनन्त है; इसका अन्त नहीं मालूम होता। ऊर्ध्वगति और अधोगतिके अनुसार दिनमें चन्द्रमा और रात्रिमें सूर्यदेव हमलोगोंके नेत्रोंसे नहीं दीखते; उस दृष्टिके अगोचर स्थानमें सूर्यके समान प्रकाशयुक्त अग्निके समान तेजस्वी स्वयं प्रकाशमान देवता लोग निवास करते हैं। वे प्रथित तेजस्वी देवता लोग भी दुर्गमत्व और अनन्तत्व निबन्धनसे आकाशका अन्त नहीं देख सकते। हे मानद! तुम मेरे समीप मालूम करो, कि ऊपरके सब जलते हुए लोक भी स्वयं प्रकाशमान देवताओंके जरिये इस अप्रमेय आकाशमें रुके हुए हैं। (२२-२६)

पृथ्वीके अन्तमें समुद्र, समुद्रके अन्तमें अन्धकार, अन्धकारके अन्तमें जल और

तदन्ते पुनराकाशमाकाशान्ते पुनर्जलम् ॥ २८ ॥
एवमन्तं भगवतः प्रमाणं सलिलस्य च ।
अग्निमारुततोयेभ्यो दुर्ज्ञेयं दैवतैरपि ॥ २९ ॥
अग्निमारुततोयानां वर्णाः क्षितितलस्य च ।
आकाशादवगृह्यन्ते भिद्यन्ते तत्त्वदर्शनात् ॥ ३० ॥
पठन्ति चैव मुनयः शास्त्रेषु विविधेषु च ।
त्रैलोक्यसागरे चैव प्रमाणं विहितं यथा ॥ ३१ ॥
अदृश्याय त्वगम्याय कः प्रमाणमुदाहरेत् ।
सिद्धानां देवतानां च यदापरिमिता गतिः ॥ ३२ ॥
तदागौणमनन्तस्य नामानन्तेति विश्रुतम् ।
नामधेयानुरूपस्य मानसस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥
यदा तु दिव्यं यद्रूपं ह्रसते वर्धते पुनः ।
कोऽन्यस्तद्वेदितुं शक्यो योऽपि स्यात्तद्विधोऽपरः ॥३४॥
ततः पुष्करतः सृष्टः सर्वज्ञो मूर्तिमान्प्रभुः ।
ब्रह्मा धर्ममयः पूर्वः प्रजापतिरनुत्तमः ॥ ३५ ॥

जलके अन्तमें अग्नि है। इसी तरह रसातलके अनन्तर जल जलके बाद सर्प, सांपोंके अनन्तर फिर आकाश और आकाशके बाद फिर जल है। इसी प्रकार जलमय भगवान्‌का अन्त मेरे समीप मालूम करो। अग्नि, वायु और जलका अन्त देवताओंको भी दुर्ज्ञेय है। अग्नि, वायु, जल और पृथ्वीतलका रूप आकाशके समान है; परन्तु तत्त्वदर्शनके कारण आकाशसे पृथक् मालूम होता है। मुनिलोग विविध शास्त्रोंमें इसी प्रकार त्रैलोक्य-सागर विषयमें विहित प्रमाण पाठ किया करते हैं। (२६—३१)

अदृश्य और अगम्य विषयका प्रमाण कौन कह सकता है; देवताओं और सिद्धोंके गमन करनेका मार्ग आकाशकाही जब परिमाण नहीं है, तब अनन्त नामसे विख्यात नामहीके अनुरूप परमात्मा स्वरूप महात्मा मानसका अन्त किस प्रकार सम्भव हो सकता है। जबकि उस दिव्य रूपकी ह्रास और वृद्धि होरही है, तब दूसरा कौन पुरुष उसके जाननेमें समर्थ होगा, यदि वैसा दूसरा कोई रहता, तो उसे जान सकता; जो हो, उस स्थूल सूक्ष्म कार्य रूप पुष्करसे पहिले धर्ममय परम श्रेष्ठ, सर्वज्ञ, मूर्त्तिमान् सर्वशक्तिमान् प्रजा-

भरद्वाज उवाच– पुष्कराद्यदि संभूतो ज्येष्ठं भवति पुष्करम्।
ब्रह्माणं पूर्वजं चाह भवान्संदेह एव मे ॥ ३६ ॥
भृगुरुवाच— मानसस्येह या मूर्तिर्ब्रह्मत्वं समुपागता।
तस्यासनविधानार्थं पृथिवी पद्ममुच्यते ॥ ३७ ॥
कर्णिका तस्य पद्मस्य मेरुर्गगनमुच्छ्रितः।
तस्य मध्ये स्थितो लोकान्सृजते जगतः प्रभुः ॥३८॥ [६७२४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८२ ॥

भरद्वाज उवाच– प्रजाविसर्गं विविधं कथं स सृजते प्रभुः।
मेरुमध्ये स्थितो ब्रह्मा तद् ब्रूहि द्विजसत्तम ॥ १ ॥
भृगुरुवाच— प्रजाविसर्गं विविधं मानसो मनसाऽसृजत्।
संरक्षणार्थं भूतानां सृष्टं प्रथमतो जलम् ॥ २ ॥
यत्प्राणः सर्वभूतानां वर्धन्ते येन च प्रजाः।
परित्यक्ताश्च नश्यन्ति तेनेदं सर्वमावृतम् ॥ ३ ॥

पति सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं। (३२–३५)

भरद्वाज बोले, ब्रह्मा यदि पुष्करसे उत्पन्न हुए तो पुष्कर उनसे ज्येष्ठ हुआ परन्तु आप ब्रह्माको पूर्वज कहते हैं; इसलिये इस विषयमें मुझे सन्देह होता है। भृगु बोले, मानसकी जो मूर्त्ति ब्रह्म-रूपसे विख्यात हुई है, उसही ब्रह्माके आसन विधानके लिये मानस पृथ्वीही पद्म रूपसे कही गई है; अर्थात् स्थूल सृष्टिके पहिले सूक्ष्म रूपसे जो मानस सृष्टि हुई थी, उस सूक्ष्म सृष्टिके अनन्तर दृश्यमान स्थूल जगत्की सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्मा उत्पन्न हुए; जो हो, आकाश पर्यन्त ऊंचा सुमेरु पर्वत उस मानस पद्मकी कर्णिका स्वरूप है, जगत्-प्रभु प्रजापति उसके बीच निवास करते हुए सब लोगोंकी सृष्टि करते हैं। (३६–३८)

शान्तिपर्वमें १८२ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १८३ अध्याय।

भरद्वाज बोले, हे द्विजसत्तम! मेरुके बीच निवास करते हुए सर्वशक्तिमान् ब्रह्मा किस प्रकार विविध प्रजाकी सृष्टि करते हैं, उसे वर्णन करिये। भृगु बोले, मानसने पहिले मनसे विविध प्रजाकी सृष्टि की थी; जीवोंकी रक्षाके लिये पहिले जलकी सृष्टि हुई, जो कि सब जीवोंका प्राण स्वरूप है; जिससे सब प्रजाकी बढती होती और जिसे परि-

पृथिवी पर्वता मेघा मूर्तिमन्तश्च येऽपरे।
सर्वं तद्वारुणं ज्ञेयमापस्तस्तम्भिरे यतः ॥ ४ ॥

भरद्वाज उवाच— कथं सलिलमुत्पन्नं कथं चैवाग्निमारुतौ।
कथं वा मेदिनी सृष्टेत्यत्र मे संशयो महान् ॥ ५ ॥

भृगुरुवाच— ब्रह्मकल्पे पुरा ब्रह्मन्ब्रह्मर्षीणां समागमे।
लोकसंभवसंदेहः समुत्पन्नो महात्मनाम् ॥ ६ ॥
तेऽतिष्ठन्ध्यानमालम्ब्य मौनमास्थाय निश्चलाः।
त्यक्ताहाराः पवनपा दिव्यं वर्षशतं द्विजाः ॥ ७ ॥
तेषां ब्रह्ममयी वाणी सर्वेषां श्रोत्रमागमत्।
दिव्या सरस्वती तत्र संबभूव नभस्तलात् ॥ ८ ॥
पुरा स्तिमितमाकाशमनन्तमचलोपमम्।
नष्टचन्द्रार्कपवनं प्रसुप्तमिव संबभौ ॥ ९ ॥
ततः सलिलमुत्पन्नं तमसीवापरं तमः।
तस्माच्च सलिलोत्पीडादुदतिष्ठत मारुतः ॥ १० ॥

त्याग करनेसे सब कोई नष्ट हुआ करते हैं; उसही जलसे यह समस्त जगत् घिरा हुआ है। पृथ्वी, पर्वत, बादल और मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जो सब विग्रहविशिष्ट वस्तु हैं, वे सबही जल सम्बन्धी हैं; क्यों कि इसे जानना चाहिये कि, जलही घन होकर पृथ्वी आदि रूपसे परिणत हुआ है। (१-४)

भरद्वाज बोले, किस प्रकार जल उत्पन्न हुआ, किस तरह अग्नि और वायु प्रकट हुए, पृथ्वीकी भी किस प्रकार उत्पत्ति हुई? इस विषयमें मुझे अत्यन्त सन्देह है। भृगु बोले, हे ब्रह्मन्! पहिले समय सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्मर्षियोंका एक स्थानमें समागम हुआ; उन लोगोंके अन्तःकरणमें सर्वलोक उत्पत्तिविषयक सन्देह उत्पन्न हुआ था। उन सब ब्राह्मणोंने निश्चल और निराहारी होकर वायुभक्षण करते हुए मौनी होके तथा ध्यान अवलम्बन करके दैव परिमाणसे एकसौ वर्ष पर्यन्त वहां निवास किया। अनन्तर उनके हृदयाकाशमें दिव्य-सरस्वती प्रकट हुई; ब्रह्ममयी वाणी सबके ही श्रवणगोचर हुई। सृष्टिके पहिले यह अनन्त आकाश अचलकी तरह निश्चल था, चन्द्रमा, सूर्य और वायुका सम्पर्क नहीं था, इससे यह प्रसुप्तकी भांति प्रकाशित होता था। तमोराशिके बीच दूसरे अन्धकारके प्रवेशकी तरह उस आकाशसे

यथा भाजनमच्छिद्रं निःशब्दमिव लक्ष्यते।
तच्चाम्भसा पूर्यमाणं सशब्दं कुरुतेऽनिलः ॥ ११ ॥
तथा सलिलसंरुद्धे नभसोन्ते निरन्तरे।
भित्त्वाऽर्णवतलं वायुः समुत्पतति घोषवान् ॥ १२ ॥
स एष चरते वायुरर्णवोत्पीडसंभवः।
आकाशस्थानमासाद्य प्रशान्तिं नाधिगच्छति ॥ १३ ॥
तस्मिन्वाय्वम्बुसङ्घर्षे दीप्ततेजा महाबलः।
प्रादुरभूदूर्ध्वशिखः कृत्वा निस्तिमिरं नभः ॥ १४ ॥
अग्निः पवनसंयुक्तः खं समाक्षिपते जलम्।
सोऽग्निर्मारुतसंयोगाद्घनत्वमुपपद्यते ॥ १५ ॥
तस्याकाशे निपतितः स्नेहस्तिष्ठति योऽपरः।
स सङ्घातत्वमापन्नो भूमित्वमनुगच्छति ॥ १६ ॥
रसानां सर्वगन्धानां स्नेहानां प्राणिनां तथा।
भूमिर्योनिरिह ज्ञेया यस्यां सर्वं प्रसूयते ॥ १७ ॥ [६७४१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे मानसभूतोत्पत्तिकथने त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८३ ॥

भरद्वाज उवाच— त एते धातवः पञ्च ब्रह्मा यानसृजत्पुरा।

जल उत्पन्न हुआ, जल संघर्षसे वायु प्रकट हुआ। (५-१०)

छिद्ररहित पात्र निःशब्द जान पडता है, परन्तु जैसे जलपूर्ण वायु उसे शब्दयुक्त करता है, वैसेही जलसे पूर्ण-निरवकाश आकाशके बीच शब्दयुक्त वायु सागर तलको भेदते हुए उत्पन्न होता है। उसही जलसंघर्षणसे उत्पन्न हुआ यह वायु बह रहा है; आकाशको आश्रय करनेकी अवधिसे कभी प्रशान्त नहीं होता। वायु और जलके संघर्षणसे दीप्ततेज उर्द्ध्वशिखा महाबल अग्नि आकाश-मण्डलको प्रकाशित करती हुई प्रकट हुई और वायुके संयोगसे जल और आकाशको एकत्र करके घनीभूत हुई। अग्निके आकाशसे गिरते रहने पर उसका जो स्नेहभाग था, वही घनीभूत होकर पृथ्वीरूपसे परिणत हुआ। भूमि ही समस्त रस, गन्ध और प्राणियोंकी योनि है, भूमिसे ही सब उत्पन्न होती हैं। (११—१७)

शान्तिपर्वमें १८३ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १८४ अध्याय

भरद्वाज बोले, प्रजापतिने जो पहिले

आवृता यैरिमे लोका महाभूताभिसंज्ञिताः ॥ १ ॥
यदासृजत्सहस्राणि भूतानां स महामतिः ।
पञ्चानामेव भूतत्वं कथं समुपपद्यते ॥ २ ॥

भृगुरुवाच— अमितानां महाशब्दो यान्ति भूतानि संभवम् ।
ततस्तेषां महाभूतशब्दोऽयमुपपद्यते ॥ ३ ॥
चेष्टा वायुः खमाकाशमूष्माग्निः सलिलं द्रवः ।
पृथिवी चात्र सङ्घातः शरीरं पाञ्चभौतिकम् ॥ ४ ॥
इत्येतैः पञ्चभिर्भूतैर्युक्तं स्थावरजङ्गमम् ।
श्रोत्रं घ्राणं रसः स्पर्शो दृष्टिश्चेन्द्रियसंज्ञिताः ॥ ५ ॥

भरद्वाज उवाच— पञ्चभिर्यदि भूतैस्तु युक्ताः स्थावरजङ्गमाः ।
स्थावराणां न दृश्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः ॥ ६ ॥
अनूष्मणामचेष्टानां घनानां चैव तत्त्वतः ।
वृक्षाणां नोपलभ्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः ॥ ७ ॥
न शृण्वन्ति न पश्यन्ति न गन्धरसवेदिनः ।
न च स्पर्शं विजानन्ति ते कथं पाञ्चभौतिकाः ॥ ८ ॥

भूतोंकी सृष्टि की थी और जिसके जरिये ये सब लोक घिरे हुए हैं, उनका महाभूत नामसे प्रसिद्ध होनेका क्या कारण है। और उन महाबुद्धिमान् ब्रह्माने जब सहस्रों प्राणियोंकी सृष्टि की है; तब आकाश आदि पांचकी ही महाभूत नामसे प्रसिद्धी क्यों हुई ? (१-२)

भृगु बोले, परिमित पदार्थके पहले महत् शब्दका योग होता है और अपरिमित पदार्थही भूत नामसे प्रसिद्ध हुआ करते हैं, इस ही कारण आकाश आदिकोंका महाभूत नाम युक्तियुक्त होता है। चेष्टात्मक वायु, श्रोत्रात्मक आकाश, उष्णात्मक अग्नि, द्रवमय जल, और अस्थिमांसमय कठिनात्मक पृथ्वी इन पञ्चभूतोंके संयोगसे शरीर उत्पन्न होता है; स्थावर जङ्गम सब पदार्थही इन पञ्चभूतोंसे संयुक्त हैं; कान, नाक, जीभ, त्वचा और नेत्र इन पांचोंका नाम इन्द्रिय है। (३-५)

भरद्वाज बोले, स्थावर जङ्गम सब पदार्थ ही यदि पञ्चभूतोंसे संयुक्त हैं, तो वृक्षादि स्थावर शरीरोंमें पञ्चभूत क्यों नहीं दीखते। ऊष्माभावनिबन्धन निराग्नि और चलनेसे रहित होनेसे चेष्टा हीन प्रकृत रूपसे निबिड संयोगविशिष्ट वृक्षोंके शरीरमें पञ्चभूत नहीं दीख पडते। जिन्हें देखने, सुनने, सूंघने,

अद्रवत्वादनग्नित्वादभूमित्वादवायुतः ।
आकाशस्याप्रमेयत्वाद्वृक्षाणां नास्ति भौतिकम् ॥ ९ ॥

भृगुरुवाच— घनानामपि वृक्षाणामाकाशोऽस्ति न संशयः ।
तेषां पुष्पफलव्यक्तिर्नित्यं समुपपद्यते ॥ १० ॥
ऊष्मतो म्लायते वर्णं त्वक् फलं पुष्पमेव च ।
म्लायते शीर्यते चापि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते ॥ ११ ॥
वाय्वग्न्यशनिनिर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्यते ।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः ॥ १२ ॥
वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्वतश्चैव गच्छति ।
न ह्यदृष्टेश्च मार्गोऽस्ति तस्मात्पश्यन्ति पादपाः ॥१३॥
पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैर्धूपैश्च विविधैरपि ।
अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः॥१४॥
पादैः सलिलपानाच्च व्याधीनां चापि दर्शनात् ।
व्याधिप्रतिक्रियत्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे ॥ १५ ॥

चलने और स्पर्श करनेकी शक्ति नहीं है, वे किस प्रकार पाञ्चभौतिक होंगे। जो द्रव पदार्थ नहीं हैं, जिनमें अग्नि, भूमि और वायु नहीं है तथा जिनमें आकाश नहीं मालूम होता; उन वृक्षोंमें भौतिकत्व सम्भव नहीं हो सकता। (६-९)

भृगु बोले, वृक्षोंके निविडसंयोग-विशिष्ट होने पर भी उनमें निःसन्देह आकाश है, क्यों कि सदाही उनमें फूल और फल प्रकाशित होते हैं, उष्णताके कारण उनके त्वचा, फल, पुष्प और और पत्ते मलिन होते हैं; इससे अग्निके रहनेकी असम्भावना नहीं है। वृक्ष-समूह ग्लानियुक्त और शीर्ण होते हैं, इससे उनमें अवश्यही स्पर्शात्मक वायु है। अग्नि, वायु और वज्रके शब्दसे वृक्षोंके फल, फूल गिरते हैं, इससे जबकि श्रोत्रसे शब्दका ज्ञान होता है, तब अवश्य ही वे सब सुनते हैं। जबकि लता वृक्षोंमें लपटती और सब ओर गमन किया करती है, तब वृक्षोंको अवश्यही दर्शन-शक्तिसे युक्त कहना पडेगा; क्यों कि दर्शन शक्तिसे हीनको गमन करनेकी सम्भावना नहीं रहती। पवित्र और अपवित्र गन्ध और अनेक तरहकी धूप सब वृक्ष रोगरहित और पुष्पित हुआ करते हैं, इससे वे अवश्यही घ्राणशक्तिसे युक्त हैं; जडसे जलको आकर्षण, व्याधि और उसकी प्रतिक्रिया-दर्शन-निबन्धनसे

वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्ध्वं जलमाददेत्।
तथा पवनसंयुक्तः पादैः पिबति पादपः　॥ १६ ॥
सुखदुःखयोश्च ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात्।
जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते　॥ १७ ॥
तेन तज्जलमादत्तं जरयत्यग्निमारुतौ।
आहारपरिणामाच्च स्नेहो वृद्धिश्च जायते　॥ १८ ॥
जङ्गमानां च सर्वेषां शरीरे पञ्च धातवः।
प्रत्येकशः प्रभिद्यन्ते यैः शरीरं विचेष्टते　॥ १९ ॥
त्वक्च मांसं तथाऽस्थीनि मज्जा स्नायुश्च पञ्चमम्।
इत्येतदिह सङ्घातं शरीरे पृथिवीमयम्　॥ २० ॥
तेजो ह्यग्निस्तथा क्रोधश्चक्षुरूष्मा तथैव च।
अग्निर्जरयते यच्च पञ्चाग्नेयाः शरीरिणः　॥ २१ ॥
श्रोत्रं घ्राणं तथाऽऽस्यं च हृदयं कोष्ठमेव च।
आकाशात्प्राणिनामेते शरीरे पञ्च धातवः　॥ २२ ॥
श्लेष्मा पित्तमथ स्वेदो वसा शोणितमेव च।

यह स्वीकार करना पडेगा, कि वृक्षोंमें चलनेकी शक्ति है। वक्त्र, उत्पल-मृणालसे जैसे लोग ऊपरको जल उठाते हैं, वैसेही वृक्ष वायुसे संयुक्त होकर मूलके जरिये जल पीते हैं। वृक्षोंको सुख दुःखका ज्ञान है और कटनेसे फिर उत्पत्ति होती है, इससे देखता हूं, कि उनमें जीवन है; इसलिये यह नहीं कह सकते कि वृक्षोंमें चैतन्यता नहीं है। (१०--१७)

वृक्ष जो जल खींचता है, अग्नि और वायु उसे जीर्ण किया करते हैं; उनके आहारके परिमाण अनुसार स्निग्धताकी भी वृद्धि होती है। सब जङ्गम पदार्थोंके शरीरमें पञ्चभूत संयुक्त हैं, जिनके जरिये सब शरीरमें चेष्टा उत्पन्न होती है, वह सब हर एकमें प्रकाशित हुआ करता है। त्वचा, मांस, हड्डी, मज्जा और स्नायु, ये पांचों पार्थिव पदार्थ संहतरूपसे शरीरमें विद्यमान हैं; प्राणियोंमें अग्निस्वरूप तेज, क्रोध, नेत्र, उष्मा और जठराग्नि जो कि सब भक्ष्य वस्तुओंको परिपाक करती है, ये पांचो आग्नेय पदार्थ हैं। कान, नाक, मुख, हृदय और कोठे अर्थात् अन्न आदिके स्थान, ये पांचो प्राणियोंके शरीरमें आकाशसे उत्पन्न हुए हैं। कफ, पित्त, पसीना, चर्बी और रुधिर, ये पांचों जलके

इत्यापः पञ्चधा देहे भवन्ति प्राणिनां सदा ॥ २३ ॥
प्राणात्प्रणीयते प्राणी व्यानाद्व्यायच्छते तथा ।
गच्छत्यपानोऽधश्चैव समानो हृद्यवस्थितः ॥ २४ ॥
उदानादुच्छ्वसिति च प्रतिभेदाच्च भाषते ।
इत्येते वायवः पञ्च चेष्टयन्तीह देहिनम् ॥ २५ ॥
भूमेर्गन्धगुणान्वेत्ति रसं चाद्भ्यः शरीरवान् ।
ज्योतिषा चक्षुषा रूपं स्पर्शं वेत्ति च वाहिना॥ २६ ॥
गन्धः स्पर्शो रसो रूपं शब्दश्चात्र गुणाः स्मृताः ।
तस्य गन्धस्य वक्ष्यामि विस्तराभिहितान् गुणान्॥२७॥
इष्टश्चानिष्टगन्धश्च मधुरः कटुरेव च ।
निर्हारी संहतः स्निग्धो रूक्षो विशद एव च ॥ २८ ॥
एवं नवविधो ज्ञेयः पार्थिवो गन्धविस्तरः ।
ज्योतिः पश्यति चक्षुर्भ्यां स्पर्शं वेत्ति च वायुना॥२९॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसश्चापि गुणाः स्मृताः ।
रसज्ञानं तु वक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ॥ ३० ॥
रसो बहुविधः प्रोक्त ऋषिभिः प्रथितात्मभिः ।

अंश प्राणियोंके शरीरमें सदा स्थित रहते हैं। प्राणी लोग प्राणवायुके आसरे गमन आदि कार्य करते, व्यानवायुको अवलम्बन करके बलसाध्य कार्यों के लिये तैयार होते हैं, अपान वायु अधोगमन करता है, समान वायु हृदयमें स्थित रहता है और उदान वायुसे उच्छ्वास, उरु, कण्ठ और शिर स्थानको भेदकर शब्द उच्चारण होता है।(१८-२५)

ये पांचो प्रकारकी वायु इसी भांति प्राणियोंकी अंगचालन आदि चेष्टा सिद्ध करती है। भूमिसे गन्ध, जलसे रस, तेजोमय नेत्रसे रूप और वायुसे स्पर्शज्ञान हुआ करता है। गन्ध, स्पर्श, रस, रूप और शब्द, ये पृथ्वीके पांच गुण हैं; उसके बीच विस्तारपूर्वक गन्धका नव प्रकार गुण कहता हूं, सुनो। इष्ट, अनिष्ट, मधुर, कटु, दूरगामी, स्निग्ध, रूखा और विशद, ये नव प्रकार पार्थिव पदार्थोंके बीच गुण हैं। (२५—२८)

नेत्रसे पृथ्वी आदिका रूप देखा जाता है, त्वक् इन्द्रियसे स्पर्शज्ञान उत्पन्न होता है। शब्द, स्पर्श, रूप और रस, ये चारों जलके गुण हैं, तिसमें जिस तरह रसज्ञान हुआ करता है, उसे

मधुरो लवणस्तिक्तः कषायोऽम्लः कटुस्तथा ॥ ३१ ॥
एष षड्विधविस्तारो रसो वारिमयः स्मृतः।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च त्रिगुणं ज्योतिरुच्यते ॥ ३२ ॥
ज्योतिः पश्यति रूपाणि रूपं च बहुधा स्मृतम्।
ह्रस्वो दीर्घस्तथा स्थूलश्चतुरस्रोऽणुवृत्तवान् ॥ ३३ ॥
शुक्लः कृष्णस्तथा रक्तः पीतो नीलारुणस्तथा।
कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छिलो मृदुदारुणः ॥ ३४ ॥
एवं षोडशविस्तारो ज्योतीरूपगुणः स्मृतः।
शब्दस्पर्शौ च विज्ञेयौ द्विगुणो वायुरित्युत ॥ ३५ ॥
वायव्यस्तु गुणः स्पर्शः स्पर्शश्च बहुधा स्मृतः।
उष्णः शीतः सुखो दुःखः स्निग्धो विशद एव च॥३६॥
तथा खरो मृदू रूक्षो लघुर्गुरुतरोऽपि च।
एवं द्वादशधा स्पर्शो वायव्यो गुण उच्यते ॥ ३७ ॥
तत्रैकगुणमाकाशं शब्द इत्येव तत्स्मृतम्।
तस्य शब्दस्य वक्ष्यामि विस्तारं विविधात्मकम्॥३८॥
षड्ज ऋषभगान्धारौ मध्यमो धैवतस्तथा।
पञ्चमश्चापि विज्ञेयस्तथा चापि निषादवान् ॥ ३९ ॥
एष सप्तविधः प्रोक्तो गुण आकाशसम्भवः।

कहता हूं सुनो। विख्यात महर्षियोंने रसको अनेक प्रकारका कहा है; मीठा, खारा, तीखा, कषैला, खट्टा और कडुवा, ये छः तरहके रस जलमय कहके प्रसिद्ध हैं। शब्द, स्पर्श और रूप, ये तीनों अग्निके गुण हैं; ज्योतिके जरिये वस्तुका रूप देखा जाता है। रूप अनेक प्रकारका है, ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चतुरस्र, गोलाकार, सफेद, काला, लाल नीला, पीला, अरुण, कठिन, चिकना, श्लक्ष्ण, पिच्छिल, मृदु और दारुण, ये सोलह तरहके रूपके गुण ज्योतिमय कहके विख्यात हैं। शब्द और स्पर्श, ये दोनों वायुके गुण हैं, उसमेंसे स्पर्श अनेक प्रकारका है। गर्म, ठण्डा, सुखदायक, दुःखदायक, स्निग्ध, विशद, कडा, कोमल, श्लक्ष्ण, लघु और गुरु ये ग्यारह प्रकार वायुके गुण हैं। (२९—३७)

आकाशका गुण केवल शब्द है; उस शब्दके अनेक भेद हैं, उसे विस्तारपूर्वक कहता हूं, सुनो। षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, धैवत, पञ्चम और निषाद

ऐश्वर्येण तु सर्वत्र स्थितोऽपि पटहादिषु ॥ ४० ॥
मृदङ्गभेरीशङ्खानां स्तनयित्नो रथस्य च ।
यः कश्चिच्छ्रूयते शब्दः प्राणिनोऽप्राणिनोऽपि वा ।
एतेषामेव सर्वेषां विषये संप्रकीर्तितः ॥ ४१ ॥
एवं बहुविधाकारः शब्द आकाशसम्भवः ।
आकाशजं शब्दमाहुरेभिर्वायुगुणैः सह ॥ ४२ ॥
अव्याहतैश्चेतयते न वेत्ति विषमस्थितैः ।
आप्याय्यन्ते च ते नित्यं धातवस्तैस्तु धातुभिः ॥४३॥
आपोऽग्निर्मारुतश्चैव नित्यं जाग्रति देहिषु ।
मूलमेते शरीरस्य व्याप्य प्राणानिह स्थिताः ॥४४॥[६७८५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे चतुरशीत्यधिकशततोऽध्यायः ॥१८४॥

भरद्वाज उवाच— पार्थिवं धातुमासाद्य शारीरोऽग्निः कथं प्रभो ।
अवकाशविशेषेण कथं वर्तयतेऽनिलः ॥ १ ॥
भृगुरुवाच— वायोर्गतिमहं ब्रह्मन् कथयिष्यामि तेऽनघ ।

ये सात प्रकारके गुण आकाशसे उत्पन्न होते हैं; ये सब शब्द व्यापकभावसे सर्वत्र रहनेपर भी पटह आदि वाद्य-यन्त्रोंमें विशेषरूपसे मालूम हुआ करते हैं। मृदंग, भेरी, शङ्ख आदि वाद्ययन्त्र, बादल, रथ, प्राणी वा अप्राणी, जिनमें जो कुछ शब्द सुन पड़ते हैं, वे सब इन सातों स्वरोंके अन्तर्गत कहके वर्णित हुआ करते हैं। इसी भांति आकाशसे प्रकट हुए शब्दका अनेक प्रकार रूप है, पण्डित लोग आकाशसे शब्दकी उत्पत्ति कहा करते हैं। ये सब शब्द स्पर्शसे प्रतिहत होकर बीच तरङ्गकी तरह उत्पन्न होते हैं और विषम अवस्थामें रहनेसे वे मालूम नहीं होते। देहारम्भक त्वक् आदि, प्राण और इन्द्रियोंके जरिये प्रथमसे ही बढ़ते रहते हैं। जल, अग्नि और वायु सदा देहधारियोंमें जागृत हैं, यही शरीरके मूल हैं, पञ्च-प्राणोंको अवलम्बन करके इस शरीरमें निवास करते हैं। (३८-४४)

शान्तिपर्वमें १८४ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १८५ अध्याय।

भरद्वाज बोले, हे भगवन्! शरीरमें स्थित अग्नि इस पाञ्चभौतिक देहको अवलम्बन करते हुए किस प्रकार निवास करती है और वायुही किस प्रकार आकाश विशेषके जरिये सब शारीरिक

प्राणिनामनिलो देहान् यथा चेष्टयते बली ॥ २ ॥
श्रितो मूर्धानमग्निस्तु शरीरं परिपालयन् ।
प्राणो मूर्धनि चाग्नौ च वर्तमानो विचेष्टते ॥ ३ ॥
स जन्तुः सर्वभूतात्मा पुरुषः स सनातनः ।
मनो बुद्धिरहंकारो भूतानि विषयश्च सः ॥ ४ ॥
एवं त्विह स सर्वत्र प्राणेन परिचाल्यते ।
पृष्ठतस्तु समानेन स्वां स्वां गतिमुपाश्रितः ॥ ५ ॥
बस्तिमूलं गुदं चैव पावकं समुपाश्रितः ।
वहन्मूत्रं पुरीषं चाप्यपानः परिवर्तते ॥ ६ ॥
प्रयत्ने कर्मणि बले य एकस्त्रिषु वर्तते ।
उदान इति तं प्राहुरध्यात्मविदुषो जनाः ॥ ७ ॥
सन्धिष्वपि च सर्वेषु संनिविष्टस्तथाऽनिलः ।
शरीरेषु मनुष्याणां व्यान इत्युपदिश्यते ॥ ८ ॥
धातुष्वग्निस्तु विततः समानेन समीरितः ।

चेष्टाओंको समाधान किया करता है । भृगु बोले, हे ब्रह्मन् ! मैं तुम्हारे समीप वायुकी गतिका विषय कहता हूं, वायु जिस प्रकार प्राणियोंकी शारीरिक चेष्टा समाधान करता है, उसका विषय सुनो। अग्नि मस्तकमें निवास करके शरीरको पालती हुई शारीरिक चेष्टाओंको समाधान करती है और प्राणवायु मस्तक और अग्नि दोनोंमें वर्त्तमान रहके शरीरके गमन आदि कार्योंको सिद्ध किया करता है । वह प्राणही सर्वभूतमय, सनातन पुरुष है; मन, बुद्धि, अहङ्कार सब जीव और शब्द स्पर्शरूपी विषयोंके स्वरूप, आन्तरिक विज्ञान और बाह्य इन्द्रिय आदि प्राणसेही परिचालित होती हैं । अनन्तर समान वायुके जरिये इन्द्रिय आदि निज निज गतिको अवलम्बन करती हैं । (१-५)

अपानवायु जठराग्निको अवलम्बन करके मूत्राशय और पुरीषाशयमें स्थित असित पीत वस्तुओंको परिपाक करके मूत्र और पुरीषरूपसे परिणत करता है। गमन आदिके कार्य, उसके अनुकूल चेष्टा और बोझा ढोनेकी सामर्थ, इन तीनों विषयोंमें जो वायु वर्त्तमान रहती है, अध्यात्मवित् पुरुष उसे उदान वायु कहा करते हैं । मनुष्योंके शरीरकी सब सन्धियोंमें जो वायु संयुक्त है उसे व्यान वायु कहा जाता है । त्वक् आदिमें फैली हुई जठराग्नि समान

रसान्धातूंश्च दोषांश्च वर्तयन्नवतिष्ठते ॥ ९ ॥
अपानप्राणयोर्मध्ये प्राणापानसमाहितः।
समन्वितस्त्वधिष्ठानं सम्यक्पचति पावकः ॥ १० ॥
आस्यं हि पायुपर्यन्तमन्ते स्याद्गुदसंज्ञितम्।
स्रोतस्तस्मात्प्रजायन्ते सर्वस्रोतांसि देहिनाम् ॥ ११ ॥
प्राणानां सन्निपाताच्च सन्निपातः प्रजायते।
ऊष्मा चाग्निरिति ज्ञेयो योऽन्नं पचति देहिनाम्॥१२॥
अग्निवेगवहः प्राणो गुदान्ते प्रतिहन्यते।
स ऊर्ध्वमागम्य पुनः समुत्क्षिपति पावकम् ॥ १३ ॥
पक्वाशयस्त्वधो नाभ्यामूर्ध्वमामाशयः स्थितः।
नाभिमध्ये शरीरस्य सर्वे प्राणाश्च संस्थिताः ॥ १४ ॥
प्रस्थिता हृदयात्सर्वे तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा।
वहन्त्यन्नरसान्नाड्यो दश प्राणप्रचोदिताः ॥ १५ ॥
एष मार्गोऽथ योगानां येन गच्छन्ति तत्पदम्।

वायुसे सञ्चालित होकर रस, धातु, रुधिर और पित्त आदिकी परिणति किया करती है, यह जठराग्नि नाभीके नीचे स्थित होकर अपनी ऊर्ध्वगतिको प्राणके मध्यस्थलमें स्थित करके उसकी सहायतासे अन्न आदि परिपाक करती है। (९-१०)

मुखसे पांवपर्यन्त एक प्रवाहवान् स्रोत है, उसके शेषमें गुह्य स्थान है। उस स्रोतके चारों ओरसे देहके बीच असंख्य नाडी विस्तीर्ण होरही हैं। प्राणवायुकी सहायतासे उसकी सहचर जठराग्निका समागम हुआ करता है; उस जठराग्निका नाम ऊष्मा है; यही देहधारियोंके भुक्त अन्न आदिको परिपाक करती है। जठराग्निके वेगको बढानेवाला प्राणवायु पांवतक आके प्रतिघातको प्राप्त होता है। तब वह फिर ऊपरको आके जठराग्निको सब तरहसे उत्क्षिप्त करता है। नाभीके नीचे पक्वाशय अर्थात् पक्वअन्न आदिकोंका स्थान है और ऊपरके हिस्सेमें आमाशय स्थित है; शरीरके मध्य स्थलमें समस्त प्राण स्थित होरहा है। (११—१४)

प्राण आदि पञ्च वायु और नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनञ्जय नाम पञ्चवायु, इन दश प्रकारके वायुके सहारे चलकर सब नाडियें तिर्यग्, ऊर्ध्व और अधोभाग हृदय प्रदेशमें प्रस्थान करती हुई अन्नके रसोंको ढोया करती

जितक्लमाः समा धीरा मूर्धन्यात्मानमादधन् ॥ १६ ॥
एवं सर्वेषु विहितः प्राणापानेषु देहिनाम् ।
तस्मिन्समिध्यते नित्यमग्निः स्थाल्यामिवाहितः ॥१७॥ ६८०२

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८५ ॥

भरद्वाज उवाच—यदि प्राणयते वायुर्वायुरेव विचेष्टते ।
श्वसित्याभाषते चैव तस्माज्जीवो निरर्थकः ॥ १ ॥
यदूष्मभाव आग्नेयो वह्निना पच्यते यदि ।
अग्निर्जरयते चैतत्तस्माज्जीवो निरर्थकः ॥ २ ॥
जन्तोः प्रमीयमाणस्य जीवो नैवोपलभ्यते ।
वायुरेव जहात्येनमूष्मभावश्च नश्यति ॥ ३ ॥
यदि वायुमयो जीवः संश्लेषो यदि वायुना ।
वायुमण्डलवद्दृश्यो गच्छेत्सह मरुद्गणैः ॥ ४ ॥
संश्लेषो यदि वातेन यदि तस्मात्प्रणश्यति ।

हैं। मुखसे पांवतक जो स्रोत है, वही योगियोंके योगका पथ है; क्लान्ति-विजयी सुख दुःखको समान जाननेवाले वीर लोग मस्तकस्थित सहस्र दल पद्ममें सुषुम्ना नाडीके जरिये इसही मार्गमें आत्माको धारण करते हुए परम पद लाभ करते हैं। स्थालीमें रखी हुई बाह्य अग्निकी तरह देहधारियोंकी बुद्धि, मन, कर्मेन्द्रिय और प्राण अपानके जरिये समर्पित जठराग्नि सदा प्रदीप्त हुआ करती है। (१४-१७)

शान्तिपर्वमें १८५ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १८६ अध्याय।

भरद्वाज बोले, प्राणवायुही यदि प्राणियोंको जीवित और चेष्टायुक्त करती है और प्राणकी सहायतासेही यदि सब जीव श्वास छोडते और वार्त्तालाप किया करते हैं, तब जीव स्वीकार करनेका कुछ प्रयोजन नहीं है, और अग्निका गुण उष्ण भाव है, उस अग्निके जरिये ही यदि अन्न आदि परिपाक होते और अग्निही यदि सब वस्तुओंको जीर्ण करती है, तब जीव निरर्थक है, मरे हुए जन्तुओंमें जीव नहीं प्राप्त होता, वायु ही उसे परित्याग करता और उसका ऊष्म भाव नष्ट होजाता है, यदि जीव वायुमय होता अथवा वायुके सहित संश्लिष्ट रहता, तो वायुचक्रकी तरह दीख वायुकी तरह विगत हो सकता है। (१—४)

महार्णवविमुक्तत्वादन्यत्सलिलभाजनम् ॥ ५ ॥
कूपे वा सलिलं दद्यात्प्रदीपं वा हुताशने।
क्षिप्रं प्रविश्य नश्येत यथा नश्यत्यसौ तथा ॥ ६ ॥
पञ्चधारणके ह्यस्मिन् शरीरे जीवितं कुतः।
तेषामन्यतराभावाच्चतुर्णां नास्ति संशयः ॥ ७ ॥
नश्यन्त्यापो ह्यनाहाराद्वायुरुच्छ्वासनिग्रहात्।
नश्यते कोष्ठभेदात्खमग्निर्नश्यत्यभोजनात् ॥ ८ ॥
व्याधिव्रणपरिक्लेशैर्मेदिनी चैव शीर्यते।
पीडितेऽन्यतरे ह्येषां सङ्घातो याति पञ्चधा ॥ ९ ॥
तस्मिन्पञ्चत्वमापन्ने जीवः किमनुधावति।
किं वेदयति वा जीवः किं शृणोति ब्रवीति च॥ १० ॥
एषा गौः परलोकस्थं तारयिष्यति मामिति।
यो दत्त्वा म्रियते जन्तुः सा गौः कं तारयिष्यति॥११॥
गौश्च प्रतिग्रहीता च दाता चैव समं यदा।

जैसे पत्थरमें बंधा हुआ तुंबीफल जलमें डूब जाता है और बन्धनसे छूटनेपर ऊपर आया करता है, वैसेही जीव यदि वातप्रधान संघातसे संश्लिष्ट रहे; तो संघातनाशसे वह भी प्रनष्ट होगा। जैसे कूएंके बीच सलिलान्तर और अग्निके बीच प्रकाश प्रवेश करते ही नष्ट होता है, वैसेही वायुमण्डल विशिष्ट जीव भी नष्ट हो सकता है। इस पाञ्चभौतिक शरीरमें जीवन कहां है। पञ्चभूतोंमेंसे एकका अभाव होनेसे ही अन्य चारोंका एकत्र संग्रह नहीं होता। अनाहारके कारण समस्त जल, उच्छ्वासनिग्रहनिबन्धनसे वायु, वात आदिसे कोष्ठ निरुद्ध होनेपर आकाश और अभोजनके कारण अग्नि नष्ट हुआ करती है; (५—८)

व्याधिसे पराक्रम नष्ट होनेपर पार्थिव अंश शीर्ण हो जाता है; इसके बीच अन्यतर पीडित होनेसे भौतिक संघात पञ्चत्वको प्राप्त होते हैं; पञ्चभौतिक शरीर पञ्चत्वको प्राप्त होनेपर जीव किसका अनुसरण करेगा, किन विषयोंका ज्ञान करता है। "परलोकगमन करनेपर यह गऊ मेरा उद्धार करेगी" इस उद्देश्यसे गऊ दान करनेपर कोई पुरुषके मरनेसे वह गऊ फिर किसका उद्धार करेगी। गऊ दान लेनेवाला और दाता, सभी जीव समान भावसे इस जगतमें मृत्युको प्राप्त होते हैं;

इहैव विलयं यान्ति कुतस्तेषां समागमः ॥ १२ ॥
विहगैरुपभुक्तस्य शैलाग्रात्पतितस्य च ।
अग्निना चोपयुक्तस्य कुतः संजीवनं पुनः ॥ १३ ॥
छिन्नस्य यदि वृक्षस्य न मूलं प्रतिरोहति ।
बीजान्यस्य प्रवर्तन्ते मृतः क्व पुनरेष्यति ॥ १४ ॥
बीजमात्रं पुरा सृष्टं यदेतत्परिवर्तते ।
मृता मृताः प्रणश्यन्ति बीजाद्बीजं प्रवर्तते॥ १५ ॥ [६८१७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे जीवस्वरूपाक्षेपे षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१८६॥

भृगुरुवाच— न प्रणाशोऽस्ति जीवस्य दत्तस्य च कृतस्य च ।
याति देहान्तरं प्राणी शरीरं तु विशीर्यते ॥ १ ॥
न शरीराश्रितो जीवस्तस्मिन्नष्टे प्रणश्यति ।
समिधामिव दग्धानां यथाग्निर्दृश्यते तथा ॥ २ ॥

भरद्वाज उवाच- अग्नेर्यथा तथा तस्य यदि नाशो न विद्यते ।
इन्धनस्योपयोगान्ते स चाग्निर्नोपलभ्यते ॥ ३ ॥
नश्यतीत्येव जानामि शान्तमग्निमनिन्धनम् ।

तब फिर उन लोगोंका समागम कहां। पक्षियोंसे उपभुक्त, पहाडकी शिखरसे गिरे और अग्निसे जले हुए पुरुषोंमें पुनर्जीवन कहां। जबकि कटे हुए वृक्षोंकी जड फिर उत्पन्न नहीं होती, केवल उसके बीज उत्पन्न हुआ करते हैं; तब मरा हुआ पुरुष कहांसे पुनरागमन करेगा। पहिले बीजमात्र उत्पन्न हुआ था; जो इस समय भी परिवर्त्तित होता है। मरणधर्मसे युक्त प्राणी लोग मरके प्रनष्ट होते हैं; बीजसे बीजही प्रवर्त्तित हुआ करता है। (९-१५)

शान्तिपर्वमें १८६ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १८७ अध्याय।

भृगु बोले, हे महर्षि ! जीवका विनाश नहीं होता; प्राणी देहान्तरमें गमन करते हैं, शरीरही नष्ट होता है। जैसे लकडियोंके जलनेसे अग्नि विद्यमान रहती है, वैसेही शरीरके नष्ट होनेपर शरीराश्रित जीव कभी नष्ट नहीं होता। भरद्वाज बोले, हे महात्मन् ! यदि अग्निकी तरह जीवका विनाश नहीं होता यही आपको सम्मत है, तब काष्ठके जलनेपर अग्नि अदृश्य क्यों होती है। इससे बोध होता है, कि

गतिर्यस्य प्रमाणं वा संस्थानं वा न विद्यते ॥ ४ ॥

भृगुरुवाच- सन्निधानुपयोगान्ते यथाऽग्निर्नोपलभ्यते।
आकाशानुगतत्वाद्धि दुर्ग्राह्यो हि निराश्रयः ॥ ५ ॥
तथा शरीरसंत्यागे जीवो ह्याकाशवत्स्थितः।
न गृह्यते तु सूक्ष्मत्वाद्यथा ज्योतिर्न संशयः ॥ ६ ॥
प्राणान् धारयते ह्यग्निः स जीव उपधार्यताम्।
वायुसन्धारणो ह्यग्निर्नश्यत्युच्छ्वासनिग्रहात् ॥ ७ ॥
तस्मिन्नष्टे शरीराग्नौ ततो देहमचेतनम्।
पतितं याति भूमित्वमयनं तस्य हि क्षितिः ॥ ८ ॥
जङ्गमानां हि सर्वेषां स्थावराणां तथैव च।
आकाशं पवनोऽन्वेति ज्योतिस्तमनुगच्छति।
तेषां त्रयाणामेकत्वाद् द्वयं भूमौ प्रतिष्ठितम् ॥ ९ ॥
यत्र खं तत्र पवनस्तत्राग्निर्यत्र मारुतः।
अमूर्तयस्ते विज्ञेया मूर्तिमन्तः शरीरिणाम् ॥ १० ॥

जैसे अग्नि काष्ठ न मिलनेसे बुझ जाती है; उसी प्रकार जीव भी नष्ट हुआ करता है। जिसकी गति, प्रमाण वा संस्थान कुछ भी नहीं रहता, उसे विद्यमान वस्तु कहके किस प्रकार विवेचना की जावे। (१-४)

भृगु बोले, यह ठीक है कि काष्ठोंके जल जानेपर अग्निकी प्राप्ति नहीं होती; परन्तु जैसे अग्नि निराश्रय होकर आकाशके अनुगत होनेसे दुर्ज्ञेय हुआ करती है, वैसे ही शरीरके नष्ट होनेपर जीव आकाशकी तरह स्थिति करता है; जीव अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे ज्योतिवाले पदार्थोंकी भांति निःसन्देह इन्द्रियगोचर नहीं होता। विज्ञानरूपी अग्नि प्राणोंको धारण करती है इसलिये उसेही जीव रूपसे जानो। यह अग्नि वायुके सहित निवास करती है और उच्छ्वास वायुके निग्रह-निबन्धनसे नष्ट होती है, उस शरीराग्निके नष्ट होनेसे देह चेतनारहित हुआ करता है, और गिरके पृथ्वीमें लीन होजाती है, पृथ्वी ही शरीरके निवासका स्थान है। स्थावर और जङ्गम समस्त पदार्थनिष्ठ वायु आकाशके अनुगत होता है, अग्नि वायुका अनुगमन किया करती है। आकाश, वायु और अग्नि, इन तीनोंको एकताके कारण भूमिमें ये तीनों एकत्रित वा जल स्थित करता है। जहांपर आकाश; वहांही वायु है और

भरद्वाज उवाच— यद्यग्निमारुतौ भूमिः खमापश्च शरीरिषु ।
जीवः किंलक्षणस्तत्रेत्येतदाचक्ष्व मेऽनघ ॥ ११ ॥
पञ्चात्मके पञ्चरतौ पञ्चविज्ञानचेतने ।
शरीरे प्राणिनां जीवं वेत्तुमिच्छामि यादृशम् ॥ १२ ॥
मांसशोणितसङ्घाते मेदःस्नाय्वस्थिसञ्चये ।
भिद्यमाने शरीरे तु जीवो नैवोपलभ्यते ॥ १३ ॥
यद्यजीवं शरीरं तु पञ्चभूतसमन्वितम् ।
शारीरे मानसे दुःखे कस्तां वेदयते रुजम् ॥ १४ ॥
शृणोति कथितं जीवः कर्णाभ्यां न शृणोति तत् ।
महर्षे मनसि व्यग्रे तस्माज्जीवो निरर्थकः ॥ १५ ॥
सर्वं पश्यति यद् दृश्यं मनोयुक्तेन चक्षुषा ।
मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ॥ १६ ॥
न पश्यति न चाघ्राति न शृणोति न भाषते ।
न च स्पर्शरसौ वेत्ति निद्रावशगतः पुनः ॥ १७ ॥

जहां वायु है वहांही अग्नि स्थित रहती है; ये तीनोंही अदृश्य हैं, केवल देहधारियोंके सम्बन्धमें दृश्य हुआ करते हैं। (५-१०)

भरद्वाज बोले, हे महात्मन् ! यदि आकाश, वायु, जल, अग्नि और भूमि ये पञ्चभूतही देहधारियोंमें वर्तमान हैं; तो इनके बीच जीव किस प्रकार है, यही आप मेरे समीप वर्णन करिये। पञ्चभूतात्मक, पंच विषयोंमें रत, पञ्च इन्द्रिय और चेतनतायुक्त प्राणियोंके शरीरमें जीव जिस प्रकार निवास करता है उसे मैं जाननेकी अभिलाषा करता हूं। मांस, रुधिर, मेद, स्नायु और हड्डियोंसे युक्त शरीरके नष्ट होनेपर जीव की उपलब्धि नहीं होती। पञ्चभूतोंसे युक्त शरीर यदि जीवरहित हो, तो शारीरिक वा मानसिक दुःख उपस्थित होनेपर कौन उस क्लेशको अनुभव करेगा ? हे महर्षि ! जीव दोनों कानोंसे वचन सुनता है; परन्तु मन विषयान्तरमें व्यग्र रहनेसे, वह उसे सुननेमें समर्थ नहीं होता; इसलिये जीव निरर्थक है। (११-१५)

जीव सावधान होनेपर नेत्रसे सब दृश्य वस्तुओंको देखता है पर मन व्याकुल होनेपर नेत्रोंसे देखकर भी नहीं देख सकता। जीव निद्राके वशमें होनेसे देखने, सुनने, सूंघने और बोलनेमें समर्थ नहीं होता तथा स्पर्शज्ञान और रस

हृष्यति क्रुद्ध्यते कोऽत्र शोचत्युद्विजते च कः ।
इच्छति ध्यायति द्वेष्टि वाचमीरयते च कः ॥ १८ ॥
भृगुरुवाच—न पञ्चसाधारणमत्र किंचिच्छरीरमेको वहतेऽन्तरात्मा ।
स वेत्ति गन्धांश्च रसान् श्रुतीश्च स्पर्शं च रूपं च गुणांश्च येऽन्ये ॥ १९॥
पञ्चात्मके पञ्चगुणप्रदर्शी स सर्वगात्रानुगतोऽन्तरात्मा ।
स वेत्ति दुःखानि सुखानि चात्र तद्विप्रयोगात्तु न वेत्ति देहः॥२०॥
यदा न रूपं न स्पर्शो नोष्मभावश्च पावके ।
तदा शान्ते शरीराग्नौ देहत्यागे न नश्यति ॥ २१ ॥
आपोमयमिदं सर्वमापो मूर्तिः शरीरिणाम् ।
तत्रात्मा मानसो ब्रह्मा सर्वभूतेषु लोककृत् ॥ २२ ॥
आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः ।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः ॥ २३ ॥

का ज्ञानभी नहीं हो सकता। इस शरीरके बीच कौन प्रसन्न होता, कौन क्रुद्ध होता है, कौन शोक करता और कौन व्याकुल होता है, कौन इच्छा करता कौन चिन्ता करता, कौन द्वेष करता है कौन वाक्य उच्चारण करता है? आप मुझसे उसेही कहिये। भृगु बोले, हे ब्रह्मन्! मन पञ्चभूतोंसे पृथक् नहीं है। इससे मनके जरिये शारीरिक क्रियाका निर्वाह नहीं होता। एकमात्र अन्तरात्माही स्थूल और सूक्ष्म शरीरके कार्योंका निर्वाह करता है; अन्तरात्माही शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस और दर्शन आदि सब विषयोंको जानता है। (१६-१९)

वह अन्तरात्माही पाञ्चभौतिक शरीरमें पञ्चगणोंसे युक्त मनका द्रष्टा है और मनके जरिये सब शरीरके अनुगत होकर सुख दुःखोंका अनुभव करता है। अन्तरात्मा जब देहसे पृथक् होता है तब भौतिक शरीर कुछ भी अनुभव करनेमें समर्थ नहीं होता है। शरीराग्निके शान्त होनेपर जब कि दर्शन स्पर्शन और ऊष्मभाव कुछ भी नहीं रहता तब शरीर नष्ट होता है, जीवका कदापि विनाश नहीं होता। दृश्यमान समस्त संसार जलमय है, जलही देहधारियोंकी मूर्त्ति है; जलके बीचही चित् स्वरूप मानस ब्रह्मा निवास करते हैं, वेही सर्व भूतोंकी सृष्टि किया करते हैं। आत्मा जब प्राकृत गुणों अर्थात् इन्द्रिय और मनसे संयुक्त होता है तब उसे क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीव कहा जाता है और जब वह उन गुणोंसे रहित होता है, तब

आत्मानं तं विजानीहि सर्वलोकहितात्मकम् ।
तस्मिन्यः संश्रितो देहे ह्यब्बिन्दुरिव पुष्करे ॥ २४ ॥
क्षेत्रज्ञं तं विजानीहि नित्यं लोकहितात्मकम् ।
तमो रजश्च सत्त्वं च विद्धि जीवगुणानिमान् ॥ २५ ॥
सचेतनं जीवगुणं वदन्ति स चेष्टते चेष्टयते च सर्वम् ।
अतः परं क्षेत्रविदो वदन्ति प्रावर्तयद्यो भुवनानि सप्त ॥ २६ ॥
न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे मिथ्यैतदाहुर्मृत इत्यबुद्धाः ।
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ॥ २७ ॥
एवं सर्वेषु भूतेषु गूढश्चरति संवृतः ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया तत्त्वदर्शिभिः॥२८॥
तं पूर्वाऽपररात्रेषु युञ्जानः सततं बुधः ।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यत्यात्मानमात्मनि॥ २९ ॥
चित्तस्य हि प्रसादेन हित्वा कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमानन्त्यमश्नुते ॥ ३० ॥
मानसोऽग्निः शरीरेषु जीव इत्यभिधीयते ।

परमात्मा स्वरूपसे वर्णित हुआ करता है; इसलिये तुम सर्वलोकोंके सुख स्वरूप आत्माको मालूम करो। जो पद्मके बीच जलकी बूंद समान शरीरके बीच स्थित होरहा है, उसेही सदा लोक सुखात्मक क्षेत्रज्ञ कहके जानना चाहिये। सत्त्व, रज और तम येही जीवके तीन गुण हैं। (२०-२५)

पण्डित लोग जीवके गुणको सचेतन कहा करते हैं। वे आत्माके प्रभावसे चेष्टायुक्त होकर सब कार्योंमें तत्पर हुआ करते हैं। आत्मज्ञ पुरुष इस जीवसे परमात्माको परमश्रेष्ठ कहा करते हैं; उसनेही सप्त भुवनकी सृष्टि की है। शरीरके नष्ट होनेसे जीवका नाश नहीं होता; " जीव मर गया "—यह वचन मूर्ख लोग कहा करते हैं। शरीरके पञ्चत्व प्राप्त होनेपर जीव दूसरे शरीरमें गमन करता है; आत्मा इसी प्रकार सर्वभूतोंमें संवृत रहके गूढभावसे विचरण करता है; तत्वदर्शी लोग परमसूक्ष्म बुद्धिके जरिये उसे देखनेमें समर्थ होते हैं। विद्वान् पुरुष पूर्व और अपर रात्रिमें रत तथा लघु आहार करते हुए पवित्रचित्त होके आत्माके जरिये आत्माको अवलोकन करते हैं। प्रसन्नतासे शुभाशुभ कर्मोंको त्यागकर शुद्धचित्त और आत्मनिष्ठ होनेसे मनुष्य

सृष्टिः प्रजापतेरेषा भूताध्यात्मविनिश्चये ॥ ३१ ॥ [६८४८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे जीवस्वरूपनिरूपणे सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥

भृगुरुवाच— असृजद् ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन्।
आत्मतेजोभिनिर्वृत्तान् भास्कराग्निसमप्रभान्॥ १ ॥
ततः सत्यं च धर्मं च तपो ब्रह्म च शाश्वतम्।
आचारं चैव शौचं च स्वर्गाय विदधे प्रभुः ॥ २ ॥
देवदानवगन्धर्वा दैत्यासुरमहोरगाः।
यक्षराक्षसनागाश्च पिशाचा मनुजास्तथा ॥ ३ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम।
ये चान्ये भूतसङ्घानां वर्णास्तांश्चापि निर्ममे ॥ ४ ॥
ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः।
वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा ॥ ५ ॥

भरद्वाज उवाच- चातुर्वर्ण्यस्य वर्णेन यदि वर्णो विभिद्यते।
सर्वेषां खलु वर्णानां दृश्यते वर्णसङ्करः ॥ ६ ॥

अनन्त सुख भोग करनेमें समर्थ होता है। जरायुज आदि शरीरोंमें अग्निकी तरह प्रकाशमान जो पुरुष है वही जीव नामसे विख्यात है, उसहीसे प्रजापतिकी यह समस्त सृष्टि हुआ करती है। (२६-३१)

शान्तिपर्वमें १८७ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १८८ अध्याय।

भृगु बोले, हे द्विजसत्तम ! पहिले ब्रह्माने अपने तेजसे सूर्य और अग्निके समान प्रकाशयुक्त मरीचि आदि ब्रह्मनिष्ठ प्रजापतियोंको उत्पन्न किया था। अनन्तर उन्होंने सुखके लिये सत्य, धर्म, तपस्या, शाश्वत, वेद, पवित्रता और आचारका विधान किया; देवता, दानव, गन्धर्व, दैत्य, असुर, महोरग, यक्ष, राक्षस, नाग, पिशाच, मनुष्य और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इनके अतिरिक्त सब भूतोंके सत्व, रज और तमोगुणसे युक्त जो सब वर्ण हैं, उनकी भी सृष्टि की थी। ब्राह्मणोंका सफेद, क्षत्रियोंका लाल, वैश्योंका पीला और शूद्रोंका काला वर्ण हुआ करता है। (१—५)

भरद्वाज बोले, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारों वर्णोंकी जातिके जरिये यदि वर्णभेद हो, तो सब जातिकाही वर्णसंकर दृष्टिगोचर हो सकता है।

काम: क्रोधो भयं लोभ: शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रम: ।
सर्वेषां न: प्रभवति कस्माद्वर्णो विभिद्यते ॥ ७ ॥
स्वेदमूत्रपुरीषाणि श्लेष्मा पित्तं सशोणितम् ।
तनु: क्षरति सर्वेषां कस्माद्वर्णो विभज्यते ॥ ८ ॥
जङ्गमानामसङ्ख्येया: स्थावराणां च जातय: ।
तेषां विविधवर्णानां कुतो वर्णविनिश्चय: ॥ ९ ॥

भृगुरुवाच— न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥ १० ॥
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णा: क्रोधना: प्रियसाहसा: ।
त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजा: क्षत्रतां गता: ॥ ११ ॥
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीता: कृष्युपजीविन: ।
स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गता: ॥ १२ ॥
हिंसानृतप्रिया लुब्धा: सर्वकर्मोपजीविन: ।
कृष्णा: शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजा: शूद्रतां गता: ॥ १३ ॥
इत्येतै: कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गता: ।

काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, क्षुधा और श्रम सबमें समान भावसे सम्भव होता; इसलिये किस प्रकारसे वर्ण विभिन्न होगा । पसीना, पुरीष, मूत्र, कफ, पित्त और रुधिर सब शरीरोंसे गिरता रहता है; इससे किस प्रकार वर्णविभाग हो सकता है । अनेक स्थावर और जङ्गम जातिके वर्ण कई प्रकारके हैं; उन सब विभिन्न जातियोंके वर्ण किस तरह निर्णय किये जा सकेंगे । (६—९)

भृगु बोले, सब वर्णोंमें विशेष नहीं है, यह सब जगत् पहिले ब्रह्माके जरिये उत्पन्न होके ब्राह्मणमय था, फिर कर्मके अनुसार विविध वर्ण हुए हैं । जो सब ब्राह्मण कामभोगमें अनुरक्त, तीक्ष्ण-भाव, क्रोधी, साहसी, स्वधर्मत्यागी और लोहिताङ्ग थे, वेही क्षत्रियत्वको प्राप्त हुए हैं । जो लोग गौओंसे जीविका निर्वाह करते हुए कृषिजीवी हुए हैं, और स्वधर्मका अनुष्ठान नहीं करते, उन्हीं पीतवर्णवाले ब्राह्मणोंने वैश्यत्व-लाभ किया है; और जो सब ब्राह्मण हिंसा तथा मिथ्या कर्ममें रत, सर्वकर्मोप-जीवी कृष्णवर्ण और पवित्रतासे परिभ्रष्ट थे, वेही शूद्र हुए हैं । इस सब कर्मोंसे पृथक् किये गये ब्राह्मण लोगोंने ही वर्णान्तरमें गमन किया है ।

धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥ १४ ॥
इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात्त्वज्ञानतां गताः ॥ १५ ॥
ब्राह्मणा ब्रह्मतन्त्रस्थास्तपस्तेषां न नश्यति।
ब्रह्म धारयतां नित्यं व्रतानि नियमांस्तथा ॥ १६ ॥
ब्रह्म चैव परं सृष्टं ये न जानन्ति तेऽद्विजाः।
तेषां बहुविधास्त्वन्यास्तत्र तत्र हि जातयः ॥ १७ ॥
पिशाचा राक्षसाः प्रेता विविधा म्लेच्छजातयः।
प्रनष्टज्ञानविज्ञानाः स्वच्छन्दाचारचेष्टिताः ॥ १८ ॥
प्रजा ब्राह्मणसंस्काराः स्वकर्मकृतनिश्चयाः।
ऋषिभिः स्वेन तपसा सृज्यन्ते चापरे परैः ॥ १९ ॥
आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाक्षयाव्यया।
सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा ॥ २० ॥ [६८६८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे वर्णविभागकथने अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८८ ॥

भरद्वाज उवाच- ब्राह्मणः केन भवति क्षत्रियो वा द्विजोत्तम।

लोगोंके यज्ञक्रिया आदि धर्म सदा प्रतिषिद्ध नहीं हैं। ब्राह्मणोंके चारों वर्णोंके विभक्त होनेपर भी सबको ही वेदमें अधिकार है, केवल जो लोग भोगके कारण ज्ञानहीन हुए उन शूद्रोंको वेदमें अधिकार नहीं है; इसे विधाताने कहा है। (१०-१५)

जो सब ब्राह्मण वेदोक्त कर्मोंका अनुष्ठान किया करते हैं और सदा व्रत तथा नियम धारण करते हुए वेदाध्ययन करते हैं, उनकी तपस्या नष्ट नहीं होती। जो लोग ब्रह्माके कहे हुए परम श्रेष्ठ वेदके अनभिज्ञ हैं; वे लोग ब्राह्मण नहीं हैं; बहुतसी जाति उनके समान हैं। पिशाच, राक्षस, प्रेत और अनेक प्रकारकी म्लेच्छ जाति ज्ञान विज्ञानसे रहित होकर स्वेच्छाचारी होके कार्य किया करती है। प्राचीन महर्षियोंने निज तपोबलसे वेदविहित संस्कारमें रत, स्वकर्मोंमें निश्चय करनेवाली और भी दूसरे प्रजासमूहको उत्पन्न किया है; आदि देव विधाताकी सृष्टि वेदमूलक अक्षय तथा अव्यय है और मानसी सृष्टि योगानुष्ठानपरायण हुआ करती है। (१६-२०)

शान्तिपर्वमें १८८ अध्याय समाप्त।

वैश्यः शूद्रश्च विप्रर्षे तद् ब्रूहि वदतां वर ॥ १ ॥

भृगुरुवाच— जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः ।
वेदाध्ययनसंपन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः ॥ २ ॥
शौचाचारस्थितः सम्यग्विघसाशी गुरुप्रियः ।
नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते ॥ ३ ॥
सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा ।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ ४ ॥
क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसङ्गतः ।
दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते ॥ ५ ॥
वणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः ।
वेदाध्ययनसंपन्नः स वैश्य इति संज्ञितः ॥ ६ ॥
सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः ।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः ॥ ७ ॥
शूद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते ।

शान्तिपर्वमें १८९ अध्याय ।

भरद्वाज बोले, हे वक्तृवर द्विजोत्तम विप्रर्षि ! किन कर्मोंसे ब्राह्मण होता है, क्या करनेसे क्षत्रिय हुआ करता है और किस तरहके कार्योंसे वैश्य तथा शूद्र होते हैं ? आप उसे वर्णन करिये। भृगु बोले, जातकर्म संस्कारसे जो संस्कारयुक्त और पवित्र हुए हैं और जिन्होंने वेदाध्ययन किया है; प्रतिदिन सन्ध्या, स्नान, जप, होम, देवपूजा, आतिथ्य, वा बलि वैश्वदेव, इन षट् कर्मोंको किया करते हैं, पवित्रता और आचारसे युक्त पूर्णरीतिसे विघसाशी, गुरुजनोंके प्रियपात्र, नित्यव्रती और सत्यपरायण हैं, उन्हेंही ब्राह्मण कहा जाता है, जिनमें सत्य, दान, अद्रोह, अनृशंसता, दया, लज्जा और तपस्या है, वेही ब्राह्मण होते हैं। जो युद्ध आदि हिंसाकार्य किया करते हैं, वेदाध्ययनमें अनुरक्त होते और ब्राह्मणोंको अर्थदान तथा प्रजासमूहसे धनग्रहण करते हैं, उन्हें ही क्षत्रिय कहा जाता है। (१-५)

जो लोग कृषि और पशुपालन करते दान करनेमें अनुरक्त रहते, पवित्रता और वेदाध्ययनसे युक्त हैं, वेही वैश्य कहाजाते हैं। जो पुरुष सदा सब वस्तुओंके भक्षणमें ही अनुरक्त, सब कर्मोंके करनेमें आसक्त, वेदज्ञानसे रहित, अपवित्र, और अनाचारी उसेही शूद्र कहते हैं।

न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥ ८ ॥
सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः ।
एतत्पवित्रं ज्ञानानां तथा चैवात्मसंयमः ॥ ९ ॥
वार्यौ सर्वात्मना तौ हि श्रेयोघातार्थमुच्छ्रितौ ॥१०॥
नित्यं क्रोधाच्छ्रियं रक्षेत्तपो रक्षेच्च मत्सरात् ।
विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः ॥ ११ ॥
यस्य सर्वे समारम्भा निराशीर्बन्धना द्विज ।
त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी च स बुद्धिमान्॥१२॥
अहिंस्रः सर्वभूतानां मैत्रायणगतश्चरेत् ।
परिग्रहान्परित्यज्य भवेद् बुद्ध्या जितेन्द्रियः ।
अशोकं स्थानमातिष्ठेदिह चामुत्र चाभयम् ॥ १३ ॥
तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना ।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना ॥ १४ ॥
इन्द्रियैर्गृह्यते यद्यत्तत्तद्व्यक्तमिति स्थितिः ।

ब्राह्मणका लक्षण यदि शूद्रमें दीखे तो वैसा शूद्र भी शूद्र नहीं है और ब्राह्मण में यदि उसके लक्षण न हों, तो उसे ब्राह्मण नहीं कहा जाता । सब उपायोंसे क्रोध और लोभका निग्रह तथा आत्म-संयम ही ज्ञानका पवित्र लक्षण है । क्रोध और लोभ कल्याण नष्ट करनेकोही उत्पन्न हुआ करते हैं; इसलिये उन्हें निवारण करना उचित है । सदा साव-धान होके क्रोधसे श्री, मत्सरसे तप-स्या, मान तथा अपमानसे विद्या और प्रमादसे आत्मकी रक्षा करनी उचित है । (९-११)

हे द्विजश्रेष्ठ ! जिन्हें सब कर्मोंमें कामना नहीं है, और दान विषयमें जिनकी समस्त सम्पत्ति समर्पित हुई है, उसेही त्यागशील और बुद्धिमान् कहा जाता है । सब भूतोंकी हिंसा न करके सबके विषयमें मित्र भाव दिखाते हुए भ्रमण करे, परिजनोंको बुद्धिपूर्वक त्यागके जितेन्द्रिय होवे, शोकरहित स्थान अर्थात् आत्मामें निवास करे तो इस लोक और परलोकमें किसी भयकी सम्भावना न होवे । सदा तपस्यामें रत, दान्त मौनव्रतावलम्बी संयतात्मा, अजित, काम आदिको जय करनेके अभिलाषी और सङ्गके कारण पुत्र कलत्र आदिमें आसक्तिरहित होना योग्य है । (१२-१४)

इन्द्रियोंसे जिन वस्तुओंका ज्ञान

अव्यक्तमिति विज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ १५ ॥
अविस्रम्भे न गन्तव्यं विस्रम्भे धारयेन्मनः।
मनः प्राणे निगृह्णीयात् प्राणं ब्रह्मणि धारयेत्॥ १६ ॥
निर्वेदादेव निर्वाणं न च किंचिद्विचिन्तयेत्।
सुखं वै ब्राह्मणो ब्रह्म निर्वेदेनाधिगच्छति ॥ १७ ॥
शौचेन सततं युक्तः सदाचारसमन्वितः।
सानुक्रोशश्च भूतेषु तद् द्विजातिषु लक्षणम् ॥१८ ॥ [६८८६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे वर्णस्वरूपकथने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८९ ॥

भृगुरुवाच— सत्यं ब्रह्म तपः सत्यं सत्यं विसृजते प्रजाः।
सत्येन धार्यते लोकः स्वर्गं सत्येन गच्छति ॥ १ ॥
अनृतं तपसो रूपं तमसा नीयते ह्यधः।
तमोग्रस्ता न पश्यन्ति प्रकाशं तमसा वृताः ॥ २ ॥
स्वर्गः प्रकाश इत्याहुर्नरकं तम एव च।

हुआ करता है, उसेही व्यक्त कहते हैं और इसे जानना उचित है, कि सूक्ष्म शरीरगोचर अतीन्द्रिय पदार्थही अव्यक्त है। गुरु और वेद वचनमें विश्वास न रहनेसे परम पदार्थ नहीं मिलता; इसलिये विश्वासमें चित्त स्थिर करना उचित है। प्राण उपाधिक "तुम" इस पदके अर्थ गोचर जीवात्मामें मन समर्पण करो और जीवात्माको परब्रह्ममें अर्पण करो। वैराग्यसेही निर्वाणपद मिलता है, योगियोंको ध्यातृ ध्यानादिके सिवाय दूसरी कोई चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। ब्राह्मण लोग वैराग्यसे सहजमें ही परब्रह्मको पाते हैं। सदा पवित्रता, सदाचार और सब भूतोंमें यथायुक्त व्यवहारही ब्राह्मणके लक्षण है। (१५—१८)

शान्तिपर्वमें १८९ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १९० अध्याय।

भृगु बोले, वेदज्ञानसे सत्यस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त किया जाता है, स्वधर्मानुष्ठानरूपी तपस्याही सत्य है; सत्यनेही प्रजासमूहको उत्पन्न किया है; सत्यसेही ये सब लोक स्थित हैं, और सत्यसेही लोग स्वर्गमें जाते हैं। सत्यके विपरीत, वेदाचारसे पृथक्, यथेष्ट आचरणको मिथ्या कहते हैं, वह अज्ञान स्वरूप है; अज्ञानसेही तमोग्रस्त लोगोंकी अधोगति होती है; अज्ञानसे घिरे हुए लोग स्वर्गदर्शन करनेमें समर्थ नहीं होते। पण्डित

सत्यानृतं तदुभयं प्राप्यते जगतीचरैः ॥ ३ ॥
तत्राप्येवंविधा लोके वृत्तिः सत्यानृते भवेत्।
धर्माधर्मौ प्रकाशश्च तमो दुःखं सुखं तथा ॥ ४ ॥

तत्र यत्सत्यं स धर्मो यो धर्मः स प्रकाशो यः प्रकाशस्तत्सुखमिति, तत्र यदनृतं सोऽधर्मो योऽधर्मस्तत्तमो यत्तमस्तद् दुःखमिति ॥५॥

अत्रोच्यते— शारीरैर्मानसैर्दुःखैः सुखैश्चाप्यसुखोदयैः।
लोकसृष्टिं प्रपश्यन्तो न मुह्यन्ति विचक्षणाः ॥ ६ ॥
तत्र दुःखविमोक्षार्थं प्रयतेत विचक्षणः।
सुखं ह्यनित्यं भूतानामिह लोके परत्र च ॥ ७ ॥
राहुग्रस्तस्य सोमस्य यथा ज्योत्स्ना न भासते।
तथा तमोऽभिभूतानां भूतानां नश्यते सुखम् ॥ ८ ॥

तत्खलु द्विविधं सुखमुच्यते शारीरं मानसं च। इह खल्वमुष्मिंश्च लोके वस्तुं प्रवृत्तयः सुखार्थमभिधीयन्ते न ह्यतः परं त्रिवर्गफलं विशिष्टतरमस्ति स एव काम्यो गुणविशेषो धर्मार्थगु-

---

लोग देवताओंके निवासस्थान स्वर्गको प्रकाशमय और तिर्यग् जातिके निवासस्थान नरकको अन्धकारमय कहा करते हैं। भूलोक वासी जीव सत्य और मिथ्या दोनोंही प्राप्त करते हैं। (१-३)

लोकमें सत्य और मिथ्याके विषयमें इस प्रकार व्यवहार होता है, कि धर्म और अधर्म, उजाला और अन्धेरा, सुख और दुःख; उसके बीच जो सत्य है, वही धर्म है, जो धर्म है वही प्रकाश है, और जो प्रकाश है वही सुख है, जो मिथ्या है वही अधर्म है, जो अधर्म है वही अन्धेरा है, जो अन्धकार है वही दुःख है। इस विषयमें यही कहता हूं; कि बुद्धिमान् लोग शारीरिक और मानसिक सुख दुःख तथा असुखोदयसे परिपूरित लोकसृष्टिको देखकर मोहित नहीं होते। बुद्धिमान् पुरुष दुःख नष्ट होनेके लिये यत्नवान् होवें। इस लोक और परलोकमें प्राणियोंका सुख नित्य नहीं है। (४-७)

जैसे राहुसे ग्रस्त चन्द्रमाकी किरण प्रकाशित नहीं होती, वैसेही अज्ञानयुक्त जीवोंके सुख भी अन्तर्हित हुआ करते हैं। वह सुख दो प्रकारका है। शारीरिक और मानसिक; लोकमें सुखके लिये ही दृष्ट फलोंकी प्रवृत्ति अभिहित होती है, सुखसे बढके त्रिवर्गफल और कुछ भी नहीं है। सुखही आत्माका गुणविशेष है, सुखहीके लिये धर्म और

णारम्भस्तद्धेतुरस्योत्पत्तिः सुखप्रयोजनार्थ आरम्भः॥ ९ ॥

भरद्वाज उवाच- यदेतद्भवताऽभिहितं सुखानां परमा स्थितिरिति न तदुपगृह्णीमो न ह्येषामृषीणां महति स्थितानामप्राप्य एष काम्यो गुणविशेषो न चैनमभिलषन्ति च तपसि श्रूयते त्रिलोककृद्ब्रह्मा प्रभुरेकाकी तिष्ठति। ब्रह्मचारी न कामसुखेष्वात्मानमवदधाति। अपि च भगवान् विश्वेश्वर उमापतिः काममभिवर्तमानमनङ्गत्वेन शममनयत्। तस्माद् ब्रूमो न तु महात्मभिरयं प्रतिगृहीतो न त्वेषां तावद्विशिष्टो गुणविशेष इति। नैतद्भगवतः प्रत्येमि भगवता तूक्तं सुखान्न परमस्तीति लोकप्रवादो हि द्विविधः फलोदयः सुकृतात्सुखमवाप्यते दुष्कृताद्दुःखमिति ॥१०॥

भृगुरुवाच—अत्रोच्यते-अनृतात्खलु तमः प्रादुर्भूतं ततस्तमोग्रस्ता अधर्ममेवानुवर्तन्ते न धर्मम्। क्रोधलोभहिंसाऽनृतादिभिरवच्छन्ना न खल्वस्मिँल्लोके नामुत्र सुखमाप्नुवन्ति। विविधव्याधिरुजोपतापैरवकीर्यन्ते। वधबन्धनप-

अर्थमें प्रवृत्ति होती है; धर्म और अर्थसेही सुखकी उत्पत्ति हुआ करती है, सब कार्यही सुखके लिये आरंभ किये जाते हैं। (८-९)

भरद्वाज बोले, हे ब्रह्मन्! आपने कहा, सुखही परम पदार्थ है परन्तु मैं ऐसा नहीं विचारता। आपने सुखको ही आत्माका गुण विशेष कहा है, परन्तु योगनिष्ठ ऋषि लोग इसकी अभिलाषा नहीं करते। सुनता हूं, कि त्रिलोकविधाता प्रभु ब्रह्मा ब्रह्मचारी होकर अकेले ही तपमें निष्ठावान् रहते हैं। वह कभी कामसुखमें आत्मसमाधान नहीं करते और जगत्के ईश्वर भगवान् भवानीपतिने सम्मुख आये हुए रतिपतिको अनङ्गभावसे शान्त किया था। इन सब प्रमाणोंको देखकर कहता हूं, कि महानुभाव पुरुष कामसुखमें आसक्त नहीं होते और वह आत्माका गुणविशेष नहीं है; मैं आपके इस वचनमें विश्वास नहीं कर सकता, आपने कहा "सुखसे बढके परम वस्तु और कुछ भी नहीं है," फलोदययुक्त लोकप्रवाद दो प्रकारका है, पहला सुकृत; उससे सुखलाभ होता है, दूसरा दुष्कृत उससे दुःख प्राप्त हुआ करता है। (१०)

भृगु बोले, इस विषयमें मैं अपना अभिप्राय कहता हूं, अज्ञानसे अन्धकार उत्पन्न होता है वेही तमोग्रस्त लोग क्रोध, लोभ, हिंसा और मिथ्यासे परिपूरित होकर अधर्मका आचरण किया करते हैं, धर्ममार्गमें कदापि नहीं विचरते, वे लोग इस लोक और परलोकमें

रिक्लेशादिभिश्च क्षुत्पिपासाश्रमकृतैरुपतापैरुपतप्यन्ते। वर्षवातात्युष्णा-
तिशीतकृतैश्च प्रतिभयैः शारीरैर्दुःखैरुपतप्यन्ते। बन्धुधनविनाशविप्रयो-
गकृतैश्च मानसैः शोकैरभिभूयन्ते जरामृत्युकृतैश्चान्यैरिति ॥ ११ ॥
यस्त्वेतैः शारीरमानसैर्दुःखैर्न संस्पृश्यते स सुखं वेद। न चैते दोषाः
स्वर्गे प्रादुर्भवन्ति तत्र खलु भवन्ति ॥ १२ ॥

सुसुखः पवनः स्वर्गे गन्धश्च सुरभिस्तथा।
क्षुत्पिपासा श्रमो नास्ति न जरा न च पापकम् ॥१३॥
नित्यमेव सुखं स्वर्गे सुखं दुःखमिहोभयम्।
नरके दुःखमेवाहुः सुखं तत्परमं पदम् ॥ १४ ॥
पृथिवी सर्वभूतानां जनित्री तद्विधा स्त्रियः।
पुमान् प्रजापतिस्तत्र शुक्रं तेजोमयं विदुः ॥ १५ ॥
इत्येतल्लोकनिर्माणं ब्रह्मणा विहितं पुरा।
प्रजाः समनुवर्तन्ते स्वैः स्वैः कर्मभिरावृताः ॥१६॥ [६९०२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि
भृगुभरद्वाजसंवादे नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥

सुख नहीं पाते। अनेक व्याधि,रोग और उपतापसे परिपूरित, वध, बन्धन, क्लेश, भूख, प्यास और श्रमजनित उपतापसे उत्तप्त और वर्षा, वायु, गर्मी,सर्दीके कारण शारीरिक दुःखोंसे सन्तापित तथा बान्धव, धनके विनाश,विप्रयोग जानते, मानस दुःख वा जरा मरण जनित शोकोंसे परिपूरित हुआ करते हैं। (११)

जो लोग समस्त शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे संस्पृष्ट नहीं हैं; वेही सुख अनुभव करनेमें समर्थ होते हैं, स्वर्गमें इन सब दोषोंकी उत्पत्ति नहीं है; वहां सुख स्पर्श सुरभि वायु सदा बहा करती है, भूख, प्यास और श्रम नहीं है; जरा और पापका सम्पर्क नहीं है, स्वर्गमें नित्य सुख है और इस लोकमें सुख दुःख दोनोंही हैं। निरव-च्छिन्न दुःखही नरक है; इसलिये पण्डित लोग सुखकोही परम पदार्थ कहा करते हैं। पृथ्वी उन जीवोंकी माता है, स्त्रियां उसके समान हैं, पुरुष प्रजापतिके समान है, उसमें तेजमय शुक्र है। पहिले समयमें प्रजापति ब्रह्माने इसही प्रकार स्त्री पुरुषोंके सह-योगसे लोक सृष्टिका विधान किया है। प्रजा निज निज कर्मोंमें आवृत रहके उत्पन्न हुआ करती है। (१२-१६)

शान्तिपर्वमें १९० अध्याय समाप्त।

भरद्वाज उवाच- दानस्य किं फलं प्राहुर्धर्मस्य चरितस्य च ।
तपसश्च सुतप्तस्य स्वाध्यायस्य हुतस्य वा ॥ १ ॥
भृगुरुवाच- हुतेन शाम्यते पापं स्वाध्यायैः शान्तिरुत्तमा ।
दानेन भोगानित्याहुस्तपसा स्वर्गमाप्नुयात् ॥ २ ॥
दानं तु द्विविधं प्राहुः परत्रार्थमिहैव च ।
सद्भ्यो यद्दीयते किंचित्तत्परत्रोपतिष्ठते ॥ ३ ॥
असद्भ्यो दीयते यत्तु तद्दानमिह भुज्यते ।
यादृशं दीयते दानं तादृशं फलमश्नुते ॥ ४ ॥
भरद्वाज उवाच—किं कस्य धर्माचरणं किं वा धर्मस्य लक्षणम् ।
धर्मः कतिविधो वाऽपि तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ ५ ॥
भृगुरुवाच- स्वधर्माचरणे युक्ता ये भवन्ति मनीषिणः ।
तेषां स्वर्गफलावाप्तिर्योऽन्यथा स विमुह्यते ॥ ६ ॥
भरद्वाज उवाच- यदेतच्चातुराश्रम्यं ब्रह्मर्षिविहितं पुरा ।
तेषां स्वे स्वे समाचारास्तान्मे वक्तुमिहार्हसि ॥ ७ ॥

शान्तिपर्वमें १९१ अध्याय ।

भरद्वाज बोले, हे भगवन् ! पुराने लोगोंने दान, धर्म, आचार, उत्तम रीतिसे की हुई तपस्या स्वाध्याय और होमके फलको किस प्रकार कहा है ? भृगु बोले, होमसे पापकी शान्ति होती है, स्वाध्यायसे परम श्रेष्ठ शान्तिसुख मिलता है। दानसे भोग और तपस्यासे सुखप्राप्ति हुआ करती है; यही प्राचीन लोगोंके मत है । पण्डित लोग दानको दो प्रकारसे कहा करते हैं; पहिला पारलौकिक दूसरा ऐहिक । साधुओंको जो कुछ दान किया जाता है । परलोक में उसका फल भोग हुआ करता है और दुष्टोंको जो कुछ दान किया जाता है, इस लोकमें उसका फलभोग हुआ करता है । मनुष्य जैसा दान करता है वैसाही फल-भोग भी किया करता है । (१-४)

भरद्वाज बोले, कौनसे अधिकारियोंको कैसा धर्माचरण करना चाहिये, धर्मका क्या लक्षण है और वह कितने प्रकारका है ? इसेही वर्णन करना आपको उचित है। भृगु बोले, जो बुद्धिमान् पुरुष धर्माचरणमें नियुक्त होते हैं । उन्हें स्वर्ग फल प्राप्त होता है और जो लोग विपरीत आचरण करते हैं । वे मोहित होते हैं । भरद्वाज बोले, पहिले समयमें ब्रह्माने जिन चारों आश्रमोंका विधान किया है आप उन सब

भृगुरुवाच— पूर्वमेव भगवता ब्रह्मणा लोकहितमनुतिष्ठता धर्मसंरक्षणार्थमाश्रमाश्चत्वारोऽभिनिर्दिष्टाः। तत्र गुरुकुलवासमेव प्रथममाश्रममुदाहरन्ति। सम्यगत्र शौचसंस्कारनियमव्रतविनियतात्मा उभे संध्ये भास्कराग्निदैवतान्युपस्थाय विहाय तन्द्र्यालस्ये गुरोरभिवादनवेदाभ्यासश्रवणपवित्रीकृतान्तरात्मा त्रिषवणमुपस्पृश्य ब्रह्मचर्याग्निपरिचरणगुरुशुश्रूषानित्यभिक्षाभैक्ष्यादिसर्वनिवेदितान्तरात्मा गुरुवचननिर्देशानुष्ठानाप्रतिकूलो गुरुप्रसादलब्धस्वाध्यायतत्परः स्यात् ॥ ८ ॥ भवति चात्र श्लोकः-गुरुं यस्तु समाराध्य द्विजो वेदमवाप्नुयात्।

तस्य स्वर्गफलावाप्तिः सिध्यते चास्य मानसमिति ॥ ९ ॥

गार्हस्थ्यं खलु द्वितीयमाश्रमं वदन्ति। तस्य समुदाचारलक्षणं सर्वमनुव्याख्यास्यामः। समावृत्तानां सदाचाराणां सहधर्मचर्यफलार्थिनां गृहाश्रमो विधीयते। धर्मार्थकामावाप्तिर्ह्यत्र त्रिवर्गसाधनमपेक्ष्यागर्हितेन कर्मणा धनान्यादाय स्वाध्यायोपलब्धप्रकर्षेण वा ब्रह्मर्षिनिर्मितेन वा

आश्रम वासियोंका व्यवहार वर्णन करिये। (५-७)

भृगु बोले, सब लोकोंके हित करनेवाले भगवान् ब्रह्माने पहिले धर्मरक्षाके निमित्त चार आश्रमोंका निर्देश किया था। उसके बीच गुरुकुलमें निवासरूपी ब्रह्मचर्य पहला आश्रम कहा जाता है। इस आश्रममें पूरी रीतिसे पवित्रता, संस्कार, व्रत, नियम, दोनों सन्ध्यामें सूर्य और अग्निकी उपासना, तन्द्रा और आलस त्यागके गुरुको प्रणाम करना; वेदाभ्यास और वेद सुनके चित्तको पवित्र करना; त्रिकाल-स्नान करके [illegible] अग्नि परिचर्या करते हुए गुरुसेवा है; वहां सुख भिक्षा करनी होती है। वहा करती है, [illegible] प्राप्त हुई सब वस्तु अन्तरात्माको समर्पण करके गुरु-वचन निर्दिष्ट अनुष्ठानके अनुकूल होकर गुरुकी कृपासे प्राप्त हुए स्वाध्यायमें रत होना पडता है। इस विषयमें यह श्लोक है, कि जो ब्राह्मण पूर्णरीतिसे गुरुकी सेवा करके वेदज्ञान लाभ करता है, उसकी स्वर्गफलकी प्राप्ति और मनकामना सिद्ध होती है। (८-९)

गार्हस्थ्यको दूसरा आश्रम कहते हैं; उसके यथा उचित व्यवहारोंके लक्षण आगे कहता हूं। जिनका गुरुकुलमें वास समाप्त हो चुका है, जो भार्याके सहित धर्माचरणके फलकी इच्छा करते हैं, उन्हीं सब सदाचारी पुरुषोंके लिये गृहस्थाश्रम विहित है। इस आश्रममें धर्म, अर्थ, काम, यह त्रिवर्ग प्राप्त हुआ

अद्रिसारगतेन वा। हव्यकव्यनियमाभ्यासदैवतप्रसादोपलब्धेन वा धनेन गृहस्थो गार्हस्थ्यं वर्तयेत्। तद्धि सर्वाश्रमाणां मूलमुदाहरन्ति। गुरुकुलनिवासिनः परिव्राजका ये चान्ये संकल्पितव्रतनियमधर्मानुष्ठायिनस्तेषामप्यत एव भिक्षाबलिसंविभागाः प्रवर्तन्ते ॥ १० ॥

वानप्रस्थानां च द्रव्योपस्कार इति प्रायशः खल्वेते साधवः साधुपथ्यौदनाः स्वाध्यायप्रसङ्गिनस्तीर्थाभिगमनदेशदर्शनार्थं पृथिवीं पर्यटन्ति तेषां प्रत्युत्थानाभिगमनाभिवादनानसूयवाक्प्रदानसुखशक्त्यासनसुखशयनाभ्यवहारसत्क्रिया चेति ॥ ११ ॥ भवति चात्र श्लोकः—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥ १२ ॥

अपि चात्र यज्ञक्रियाभिर्देवताः प्रीयन्ते निवापेन पितरो विद्याभ्यासश्रवणधारणेन ऋषयः। अपत्योत्पादनेन प्रजापतिरिति ॥ १३ ॥ श्लोकौ चात्र भवतः—

करता है। अनिन्दित कर्मोंसे धन उपार्जन अथवा वेदपाठ वा दक्षिणासे प्राप्त हुआ धन, वा ब्रह्मर्षियोंकी भाँति उञ्छवृत्ति, अथवा खानसे लाया हुआ धन, वा हव्य-कव्य प्रदानसे दैवकी कृपासे प्राप्त हुए धनसे गृहस्थ, गार्हस्थ्य आश्रम निर्वाह करे। पण्डित लोग इस आश्रमको सब आश्रमोंका मूल कहा करते हैं। क्या गुरुकुलमें निवास करनेवाले ब्रह्मचारी, क्या परिव्राजक, क्या दूसरे सङ्कल्पित व्रत नियम धर्मके अनुष्ठान करनेवाले पुरुष; और सबके ही इस आश्रममें भिक्षा, अतिथिसत्कार और पुत्र आदिकोंका प्रतिपालन हुआ करता है। १०

वानप्रस्थ लोगोंके लिये फल मूल आदि सम्पादन गृहस्थाश्रममें ही मिलता है। ये सब साधु लोग सुन्दर, पथ्य वस्तुओंका भोजन करके वेदपाठमें अनुरक्त होते हैं, ये लोग तीर्थगमन और विविध देश दर्शनके निमित्त पृथ्वीपर भ्रमण करते हैं। उन्हें देखते ही उठके सम्मुख आना, असूयारहित होके वचन कहना, सुखासन, सुखशय्या और भोजनकी सामग्री दान करके सत्कार करना उचित है। इस विषयमें यह श्लोक है, 'कि जिसके गृहसे आशाके भङ्ग होनेपर अतिथि लौट जाता है वह उसे निज दुष्कृत देकर उसके सञ्चित पुण्यका ग्रहण करके गमन करता है।' गार्हस्थ्य आश्रममें यज्ञकर्मसे देवता, पितृतर्पणसे पितर, विद्याके अभ्यास श्रवण और धारणासे ऋषि, और पुत्र उत्पन्न

वात्सल्यात्सर्वभूतेभ्यो वाच्याः श्रोत्रसुखा गिरः।
परितापोपघातश्च पारुष्यं चात्र गर्हितम् ॥ १४ ॥
अवज्ञानमहंकारो दम्भश्चैव विगर्हितः।
अहिंसा सत्यमक्रोधः सर्वाश्रमगतं तपः ॥ १५ ॥

अपि चात्र माल्याभरणवस्त्राभ्यङ्गनित्योपभोगनृत्यगीतवादित्रश्रुतिसुखनयनाभिरामदर्शनानां प्राप्तिर्भक्ष्यभोज्यलेह्यपेयचोष्याणामभ्यवहार्याणां विविधानामुपभोगः स्वविहारसंतोषः कामसुखावाप्तिरिति ॥ १६ ॥

त्रिवर्गगुणनिर्वृत्तिर्यस्य नित्यं गृहाश्रमे।
स सुखान्यनुभूयेह शिष्टानां गतिमाप्नुयात् ॥ १७ ॥
उञ्छवृत्तिर्गृहस्थो यः स्वधर्माचरणे रतः।
त्यक्तकामसुखारम्भः स्वर्गस्तस्य न दुर्लभः ॥ १८ ॥ [६९२०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९१ ॥

भृगुरुवाच — वानप्रस्थाः खल्वपि धर्ममनुसरन्तः पुण्यानि तीर्थानि नदीप्र-

करनेसे प्रजापति प्रसन्न होते हैं। (११—१३)

इस विषयमें दो श्लोक हैं; कि इस आश्रममें सब लोगोंका ही स्नेहयुक्त, श्रवणसुखदायक वचन कहना उचित है और परिताप पीडादान, पारुष्य, अवज्ञा, अहंकार और दम्भ अत्यन्त निन्दित है। अहिंसा, सत्यवचन और क्रोधहीनता सब आश्रमोंमें ही तपस्या स्वरूप है। गार्हस्थ्यआश्रममें माला, आभूषण और वस्त्रधारण, तैलमर्दन, नित्य उपभोगके योग्य नृत्य, गीत, वाद्य आदि सुनना, नेत्रको प्रसन्न करने योग्य दर्शनीय वस्तुओंको देखना, भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय और चोष्य आदि विविध खाद्य वस्तुओंके उपभोगसे विहार सन्तोष और काम सुखकी प्राप्ति होती है। गृहाश्रममें रहकर जिनकी सदा धर्म, अर्थ, काम, इन त्रिवर्गोंके सहित सत्त्व, रज और तमोगुणकी कृतार्थता होती है, वे इस लोकमें सब सुखोंका अनुभव करके शिष्ट पुरुषोंकी गतिको प्राप्त होते हैं। जो गृहस्थ उञ्छवृत्ति होकर भी स्वधर्माचरणमें रत रहता है और कामसुख तथा सब कर्मोंको त्यागता है, उसके विषयमें स्वर्ग दुर्लभ नहीं है। (१४-१८)

शान्तिपर्वमें १९१ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १९२ अध्याय

भृगु बोले, वानप्रस्थाश्रमी लोग

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्य.
१ आदिपर्व	(१ से ११)	११	११२५	६) छः रु.	१।)
२ सभापर्व	(१२ " १५)	४	३५६	२॥) अढाई	।॥)
३ वनपर्व	(१६ " ३०)	१५	१५३८	८) आठ	१॥)
४ विराटपर्व	(३१ " ३३)	३	३०६	२) दो	॥
५ उद्योगपर्व	३४ " ४२	९	९५३	५) पांच	१।)
६ भीष्मपर्व	(४३ " ५०)	८	८००	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	(५१ " ६४)	१४	१३६४	५।) साढेसात	१।)
८ कर्णपर्व	(६५ " ७०)	६	६३७	३॥ साढेतीन	।॥)
९ शल्यपर्व	(७१ " ७४)	४	४३५	२॥) अढाई	।॥
१० सौप्तिकपर्व	(७५)	१	१०४	।॥ बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	(७६)	१	१०८	।॥) " "	।)
१२ शान्तिपर्व ।					
राजधर्मपर्व	(७७ " ८३)	७	६९४	४ चार	।।
आपद्धर्मपर्व	८४ " ८५)	२	२३२	१॥ डेढ	॥
मोक्षधर्मपर्व	(८६ " ९६)	११	११००	६) छः	१।)
१३ अनुशासन	(९७ " १०७	११	१०७६	६) छः	१।)
१४ आश्वमेधिक	(१०८ " १११)	४	४००	२॥) अढाई	॥)
१५ आश्रमवासिक	११२)	१	१४८	१) एक	।)
१६-१७-१८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहण।	(११३)	१	१०८	१) एक	।

सूचना—ये सब पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री-स्वाध्याय मंडल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

REGISTERED NO. B. 1819

महाभारत

भाषा-भाष्य-समेत

संपादक-श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल, औंध, जि. सातारा

संपूर्ण महाभारत तैयार है ।

मूल्य ।

सजिल्द ६५) डा० व्य० अलग

बिनाजिल्द ६०) " " "

मंत्री—स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि. सातारा)

१२ अंकोंका मूल्य म. आ. से. ६) और वी.पी. से ७) विदेशके लिये ८)

स्रवणानि सुविविक्तेष्वरण्येषु मृगमहिषवराहशार्दूलवनगजाकीर्णेषु तपस्यन्तोऽनुसंचरन्ति त्यक्तग्राम्यवस्त्राभ्यवहारोपभोगा वन्यौषधिफलमूलपर्णपरिमितविचित्रनियताहाराः स्थानासनिनो भूमिपाषाणसिकताशर्करावालुकाभस्मशायिनः काशकुशचर्मवल्कलसंवृताङ्गाः केशश्मश्रुनखरोमधारिणो नियतकालोपस्पर्शना अस्कन्दितकालबलिहोमानुष्ठायिनः समित्कुशकुसुमापहारसंमार्जनलब्धविश्रामाः शीतोष्णवर्षपवनविष्टम्भविभिन्नसर्वत्वचो विविधनियमोपयोगचर्यानुष्ठानविहितपरिशुष्कमांसशोणितत्वगस्थिभूता धृतिपराः सत्त्वयोगाच्छरीराण्युद्वहन्ते ॥ १ ॥

यस्त्वेतां नियतश्चर्यां ब्रह्मर्षिविहितां चरेत् ।
स दहेदग्निवद्दोषान् जयेल्लोकांश्च दुर्जयान् ॥ २ ॥

परिव्राजकानां पुनराचारः। तद्यथा विमुच्याग्निधनकलत्रपरिबर्हणं सङ्गेष्वात्मनः स्नेहपाशानवधूय परिव्रजन्ति समलोष्टाश्मकाञ्चनास्त्रिवर्गप्रवृत्तेष्वस-

धर्मका अनुसरण करके मृग, महिष वराह, शार्दूल और जङ्गली हाथियोंसे युक्त निर्जन वनमें तपस्या करते हुए नदी और झरनेमें तथा पुण्य तीर्थोंमें विचरें। ये लोग ग्राम्य वस्त्र, आहार और उपभोग परित्याग करके सदा वनकी औषधी, फल, मूल और पत्रोंको परिमित रीतिसे आहार किया करें। पृथ्वीही उनका आसन है, भूमि, पत्थर, सिकता शर्करा, बालुका और भस्म ही उनकी शय्या है, काश, कुश, चर्म और वल्कल ही उनके अङ्गके वस्त्र हैं। ये लोग केश, श्मश्रु, नख और लोम धारण करते, यथासमय स्नान करते, पूजा और होमके समयको अतिक्रम नहीं करते। समित् कुश और फूल चुनने तथा सम्मार्जनके समयमेंही विश्राम लाभ करते हैं; सर्दी, गर्मी, वर्षा और वायुको खेलवाडकी तरह सहते रहते, इन लोगोंके सब शरीरका चमडा विभिन्न होजाता है। विविध नियम पञ्चाग्निसाधन आहारसङ्कोच और तीर्थपर्यटनके कारणसे इन लोगोंका मांस, रुधिर, चमडा और हड्डी पर्यन्त सूख जाती है; ये लोग सत्त्वगुण अवलम्बन करके धैर्यशाली होकर शरीर धारण करते हैं। (१)

जो लोग इस ब्रह्मर्षिविहित व्रतका सदा आचरण करते हैं, वे अग्निकी तरह दोषोंको जलाकर दुर्जय लोगोंको जय करते हैं। परिव्राजकोंका यही आचार है, कि वे लोग अग्नि, वित्त, कलत्र और शय्या आदि भोगसामग्रियोंके उपभोगसे आत्माको विरत करके स्नेह-

क्तबुद्धयोऽरिमित्रोदासीनानां तुल्यदर्शनाः स्थावरजरायुजाण्डजस्वेदजो-
द्भिजानां भूतानां वाङ्मनःकर्मभिरनभिद्रोहिणोऽनिकेताः पर्वतपुलिन-
वृक्षमूलदेवतायतनान्यनुचरन्तो वासार्थमुपेयुर्नगरं ग्रामं वा नगरे प-
ञ्चरात्रिकाः ग्रामे चैकरात्रिकाः प्रविश्य च प्राणधारणार्थं द्विजातीनां भ-
वनान्यसङ्कीर्णकर्मणामुपतिष्ठेयुः पात्रपतितायाचितभैक्ष्याः कामक्रोध-
दर्पलोभमोहकार्पण्यदम्भपरिवादाभिमानहिंसानिवृत्ता इति ॥ ३ ॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः— अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः ।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥ ४ ॥

कृत्वाऽग्निहोत्रं स्वशरीरसंस्थं शारीरमग्निं स्वमुखे जुहोति ।
विप्रस्तु भैक्ष्योपगतैर्हविर्भिश्चिताग्निनां स व्रजते हि लोकम् ॥ ५ ॥

मोक्षाश्रमं यश्चरते यथोक्तं शुचिः सुसंकल्पितमुक्तबुद्धिः ।
अनिन्धनं ज्योतिरिव प्रशान्तं स ब्रह्मलोकं श्रयते मनुष्यः ॥ ६ ॥

पाशोंको त्यागकर संन्यासधर्म ग्रहण करते हैं; वे लोग सुवर्ण, लोष्ठ तथा पत्थरमें समदृष्टि होते हैं; धर्म अर्थ और काम, इन त्रिवर्गोंमें असंसक्त-बुद्धि; शत्रु, मित्र और उदासीनके विषयमें समदृष्टि, स्थावर, जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज आदि भूतोंके विषयमें मन, वचन और कर्मसे कभी अनिष्ट आचरण नहीं करते; वे लोग गृहमें निवास नहीं करते; पर्वत, पुलिन, वृक्षमूल और देवालयोंमें घूमते हुए वास करनेके लिये गांव अथवा नगरमें उपस्थित होते हैं। वे लोग नगरमें पांच रात्रि और गांवमें केवल एक रात्रि निवास किया करते हैं। नगर वा गांवमें पहुंचके असंकीर्ण कर्मवाले द्विजातियोंके गृहपर प्राण-धारणके निमित्त उपस्थित होते हैं। पात्रमें पडी, विना मांगी भीख ग्रहण करते हैं; काम, क्रोध, दर्प, लोभ, मोह, कृपणता दम्भ, परिवाद अभिमान और हिंसा रहित होते हैं। (२—३)

इस विषयमें ये सब श्लोक हैं कि जो लोग मौनव्रत अवलम्बन करके सब भूतोंको अभय दान करते हुए भ्रमण करते हैं, सब जीवोंसे कभी उन्हें भय नहीं उत्पन्न होता। निज शरीरमें स्थित प्राण आदि पञ्च वायुको अग्निहोत्र-विधान करके जो ब्राह्मण अग्निकी भांति प्रकाशमान जीवको परमात्मामें आहुति-प्रदान करते हैं, वे भिक्षासे प्राप्त हवि-के जरिये अवश्य चिताग्निके परम लोकोंमें गमन करते हैं। जो उत्तम रीतिसे संकल्पित युक्त बुद्धि और पवित्र

भरद्वाज उवाच — अस्माल्लोकात्परो लोकः श्रूयते नोपलभ्यते ।
तमहं ज्ञातुमिच्छामि तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ ७ ॥

भृगुरुवाच— उत्तरे हिमवत्पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते ।
पुण्यः क्षेम्यश्च काम्यश्च स परो लोक उच्यते ॥ ८ ॥
तत्र ह्यपापकर्माणः शुचयोऽत्यन्तनिर्मलाः ।
लोभमोहपरित्यक्ता मानवा निरुपद्रवाः ॥ ९ ॥
स स्वर्गसदृशो देशस्तत्र ह्युक्ताः शुभा गुणाः ।
काले मृत्युः प्रभवति स्पृशन्ति व्याधयो न च ॥१० ॥
न लोभः परदारेषु स्वदारनिरतो जनः ।
नान्योऽन्यं बध्यते तत्र द्रव्येषु च न विस्मयः ।
परो ह्यधर्मो नैवास्ति सन्देहो नापि जायते ॥ ११ ॥
कृतस्य तु फलं तत्र प्रत्यक्षमुपलभ्यते ।
पानासनाशनोपेताः प्रासादभवनाश्रयाः ॥ १२ ॥

होकर यथा रीतिसे मोक्षाश्रम अवलम्बन करते हैं, वे द्विजाति अनिन्धन अग्निकी तरह प्रशान्त ब्रह्मलोकमें निवास किया करते हैं। (४-६)

भरद्वाज बोले, हे भगवन्! ऐसा सुना जाता है, कि इस लोकके अनन्तर परलोक है, परन्तु यह जाना नहीं जाता, कि वह कैसा है; इस लिये मैं उसे जाननेकी इच्छा करता हूं आप कृपा करके मेरे समीप उसे वर्णन करिये। भृगु बोले, हे ब्रह्मन्! उत्तर दिशाकी ओर सब गुणोंसे रमणीय, पवित्र हिमालय पर्वतकी बगलमें पुण्य और कल्याणकारी जो सब सुन्दर देश हैं, उन्हेंही परलोक कहा जाता है। वहांपर कोई मनुष्य पापकर्म नहीं करते, सदा पवित्र और अत्यन्त निर्मल हुआ करते हैं; लोभ मोहको परित्याग करते और उपद्रवहीन होते हैं। वह देश स्वर्गके समान शुभगुणोंसे युक्त है, वहां यथासमय पर मृत्यु होती है, समस्त व्याधि मनुष्योंको स्पर्श नहीं कर सकती। (७-१०)

वहांके सब लोग निज स्त्रियोंमें रत रहते, कभी पराई स्त्रीके विषयमें लोभ नहीं करते। द्रव्यसंचय लाभके लिये लोभके कारण आपसमें नष्ट नहीं होते। विशेष करके वहां अधर्म नहीं है, किसीको किसी विषयमें सन्देह नहीं होता, वहां किये हुए कार्योंका फल प्रत्यक्ष प्राप्त होता है; कोई कोई समस्त काम्य वस्तुओंसे युक्त होकर विविध पान

सर्वकामैर्वृता केचिद्धेमाभरणभूषिताः ।
प्राणधारणमात्रं तु केषांचिदुपपद्यते ॥ १३ ॥
श्रमेण महता केचित्कुर्वन्ति प्राणधारणम् ।
इह धर्मपराः केचित्केचिन्नैकृतिका नराः ।
सुखिता दुःखिताः केचिन्निर्धना धनिनोऽपरे ॥ १४ ॥
इह श्रमो भयं मोहः क्षुधा तीव्रा च जायते ।
लोभश्चार्थकृतो नृणां येन मुह्यन्त्यपण्डिताः ॥ १५ ॥
इह वार्ता बहुविधा धर्माधर्मस्य कारिणः ।
यस्तद्वेदोभयं प्राज्ञः पाप्मना न स लिप्यते ॥ १६ ॥
सोपधं निकृतिः स्तेयं परीवादो ह्यसूयिता ।
परोपघातो हिंसा च पैशुन्यमनृतं तथा ॥ १७ ॥
एतानासेवते यस्तु तपस्तस्य प्रहीयते ।
यस्त्वेतान्नाचरेद्विद्वांस्तपस्तस्य प्रवर्धते ॥ १८ ॥
इह चिन्ता बहुविधा धर्माधर्मस्य कर्मणः ।
कर्मभूमिरियं लोके इह कृत्वा शुभाशुभम्
शुभैः शुभमवाप्नोति तथाऽशुभमथान्यथा ॥ १९ ॥

आसन और भोजनकी सामग्रियोंसे युक्त सुन्दर अट्टालिका आश्रय करके उसे सुवर्णादिकोंसे विभूषित करते; किसी किसीका केवल प्राणधारण सम्पन्न होता है। इस लोकमें कोई धर्म परायण और कोई पापनिष्ठ, कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई निर्द्धन और कोई धनवान् हुआ करते हैं। (११—१४)

इस लोकमें श्रम, भय, मोह और तीव्र क्षुधा उत्पन्न होती है, जिस अर्थके जरिये पण्डित लोग भी मोहित होते हैं, मनुष्योंको उस ही अर्थके लिये लोभ उत्पन्न होता है। इस विषयपर धर्माधर्मके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी वार्त्ता हुआ करती है; जो बुद्धिमान् मनुष्य उन सब वार्तोंको जानते हैं, वे पाप पंकमें लिप्त नहीं होते। जो दम्भके सहित अभिमान, स्तेय, परिवाद, असूया, परपीडन, हिंसा, पिशुनता और मिथ्या आचरण करते हैं, उनकी तपस्या नष्ट होती है और जो विद्वान् पुरुष इन सबका आचरण नहीं करते, उनकी तपस्याकी वृद्धि हुआ करती है। इस लोकमें धर्मा-धर्म कर्मोंका अनेक भांतिसे विचार हुआ करता है। इस लोकमें यह पृथ्वी कर्म-भूमि है, यहांपर शुभाशुभ कर्म करनेसे

इह प्रजापतिः पूर्वं देवाः सर्षिगणास्तथा।
इष्ट्वेष्टतपसः पूता ब्रह्मलोकमुपाश्रिताः ॥ २० ॥
उत्तरः पृथिवीभागः सर्वपुण्यतमः शुभः।
इहस्थास्तत्र जायन्ते ये वै पुण्यकृतो जनाः ॥ २१ ॥
यदि सत्कारमृच्छन्ति तिर्यग्योनिषु चापरे।
क्षीणायुषस्तथा चान्ये नश्यन्ति पृथिवीतले ॥ २२ ॥
अन्योऽन्यभक्षणासक्ता लोभमोहसमन्विताः।
इहैव परिवर्तन्ते न ते यान्त्युत्तरां दिशम् ॥ २३ ॥
ये गुरूपर्युपासन्ते नियता ब्रह्मचारिणः।
पन्थानं सर्वलोकानां विजानन्ति मनीषिणः ॥ २४ ॥
इत्युक्तोऽयं मया धर्मः संक्षिप्तो ब्रह्मनिर्मितः।
धर्माधर्मौ हि लोकस्य यो वै वेत्ति स बुद्धिमान् ॥२५॥
भीष्म उवाच— इत्युक्तो भृगुणा राजन् भरद्वाजः प्रतापवान्।
भृगुं परमधर्मात्मा विस्मितः प्रत्यपूजयत् ॥ २६ ॥
एष ते प्रसवो राजन् जगतः संप्रकीर्तितः।

शुभ कर्मोंसे शुभफल और अशुभ कर्मों से अशुभ फल प्राप्त होता है। १५-१९

पहिले प्रजापतिने देवताओं और ऋषियोंके सहित इस लोकमें यज्ञ और तपस्या करके पवित्र होकर परम पुण्यसे प्राप्त ब्रह्मलोकको प्राप्त किया था। पृथ्वीका उत्तर भाग अत्यन्त पुण्ययुक्त और शुभमय है; इस लोकमें जो सब पुरुष पुण्यकार्य करते हैं वे लोग दूसरी बार वहांपर उत्पन्न हुआ करते हैं। दूसरे लोग तिर्यग् योनिमें सत्कार लाभकी इच्छा करके परमायुको क्षय करते हुए इस पृथ्वीपर नष्ट होते हैं, कितने ही लोभमोहसे युक्त और परस्पर भक्षणमें आसक्त होकर इस लोकमें ही रूपान्तरोंमें परिणत होते हैं; वे लोग उत्तर दिशामें स्थित परलोकमें गमन नहीं करते (२०-२३)

जो सब विद्वान् पुरुष सदा ब्रह्मचर्यमें रत रहके गुरुसेवा करते हैं, वे लोग सब लोकोंकी गति मालूम करते हैं। मैंने ब्रह्मनिर्मित यह संक्षिप्त धर्म विषय कहा, जो लोगोंके धर्म और अधर्मके विषयको जानते हैं, वेही बुद्धिमान् हैं। भीष्म बोले, परम धर्मशील प्रतापवान् भरद्वाज महर्षिने भृगुसे इतनी कथा सुनके विस्मययुक्त चित्तसे उनकी पूजा की थी। हे महाप्राज्ञ महाराज!

निखिलेन महाप्राज्ञ किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥२७॥[६९४७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे द्विनवत्यधिक शततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

युधिष्ठिर उवाच- आचारस्य विधिं तात प्रोच्यमानं त्वयाऽनघ।
श्रोतुमिच्छामि धर्मज्ञ सर्वज्ञो ह्यसि मे मतः ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— दुराचारा दुर्विचेष्टा दुष्प्राज्ञाः प्रियसाहसाः।
असन्तस्त्विति विख्याताः सन्तश्चाचारलक्षणाः॥ २ ॥
पुरीषं यदि वा मूत्रं ये न कुर्वन्ति मानवाः।
राजमार्गे गवां मध्ये धान्यमध्ये च ते शुभाः ॥ ३ ॥
शौचमावश्यकं कृत्वा देवतानां च तर्पणम्।
धर्ममाहुर्मनुष्याणामुपस्पृश्य नदीं तरेत् ॥ ४ ॥
सूर्यं सदोपतिष्ठेत न च सूर्योदये स्वपेत्।
सायं प्रातर्जपेत्सन्ध्यां तिष्ठन् पूर्वां तथेतराम् ॥ ५ ॥
पञ्चार्द्रो भोजनं भुञ्ज्यात्प्राङ्मुखो मौनमास्थितः।
न निन्द्यादन्नभक्ष्यांश्च स्वादु स्वादु च भक्षयेत् ॥ ६ ॥

यही मैंने तुमसे विस्तारके सहित जगत्की उत्पत्तिका वृत्तान्त कहा है, फिर क्या सुननेकी इच्छा करते हो? (२४-२७)

शान्तिपर्वमें १९२ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १९३ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पापरहित धर्मज्ञ पितामह! मैं आपके कहे हुए आचरणकी विधि सुननेकी इच्छा करता हूं; आप सर्वज्ञ हैं, यह मुझे अविदित नहीं है। भीष्म बोले, जो लोग दुराचारी दुष्टचेष्टायुक्त और प्रिय साहसी हैं, वेही दुष्ट कहके विख्यात हैं; परन्तु आचार ही साधुओंका लक्षण है। जो लोग राजमार्ग, गोष्ठ और धान्यके बीच मल मूत्र परित्याग नहीं करते, वेही शुद्ध आचारसे युक्त हैं। आवश्यक शौच और देवताओंका तर्पण करके जलस्पर्श करके नदीमें स्नान करे; प्राचीन लोगोंने इसे ही मनुष्योंका धर्म कहा है। (१-४)

सदा सूर्यकी उपासना करे, सूर्यके उदय होनेपर कभी न सोवे; सन्ध्या और सबेरेके समय पूर्व और पश्चिम मुख होकर सन्ध्याके उपलक्षमें स्वगृह्योक्त मन्त्रके सहित सावित्रीका पूजन करे। पूर्वकी ओर होकर मौनभावसे दोनों पैर, दोनों हाथ और मुख धोकर

आर्द्रपाणिः समुत्तिष्ठेन्नार्द्रपादः स्वपेन्निशि ।
देवर्षिर्नारदः प्राह एतदाचारलक्षणम् ॥ ७ ॥
शुचिं देशमनड्वाहं देवगोष्ठं चतुष्पथम् ।
ब्राह्मणं धार्मिकं चैत्यं नित्यं कुर्यात्प्रदक्षिणम् ॥ ८ ॥
अतिथीनां च सर्वेषां प्रेष्याणां स्वजनस्य च ।
सामान्यं भोजनं भृत्यैः पुरुषस्य प्रशस्यते ॥ ९ ॥
सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं वेदनिर्मितम् ।
नान्तरा भोजनं दृष्टमुपवासी तथा भवेत् ॥ १० ॥
होमकाले तथा जुह्वनृतुकाले तथा व्रजन् ।
अनन्यस्त्रीजनः प्राज्ञो ब्रह्मचारी तथा भवेत् ॥ ११ ॥
अमृतं ब्राह्मणोच्छिष्टं जनन्या हृदयं कृतम् ।
तज्जनाः पर्युपासन्ते सत्यं सन्तः समासते ॥ १२ ॥
लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी तु यो नरः ।

भोजन करे, भक्ष्य अन्न आदिकी निन्दा न करे, सुस्वादु वस्तुओंका स्वाद लेते हुए भोजन करे, भोजनके अनन्तर हाथ धोके उठे; रातमें भींगे पैरसे न सोवे; देवऋषि नारदने इसी प्रकार आचारका लक्षण कहा है। यज्ञ आदि पवित्र स्थान, वृषभ, देवता, गऊ, चौपाये, धर्मात्मा ब्राह्मण और चैत्य आदि देवस्थानको देखकर प्रदक्षिणा करे। सब प्रकारसे अतिथि, स्वजन और सेवकोंके सहित समान रीतिसे भोजन करना गृहस्थोंके लिये प्रशंसनीय है। (८—९)

मनुष्योंको दिन और रात्रिमें भोर और सन्ध्याके मध्यान्हकालमें भोजन करनाही देवनिर्दिष्ट है; सबेरे और सन्ध्याके समय भोजन करना मना है इसी तरह यथासमयमें जो लोग भोजन नहीं करते, उन्हें उपवासका फल नहीं मिलता, होमके समय होमकारी और एकपत्नीक होकर ऋतुकालमें स्त्रीसे सहवास करनेवाले बुद्धिमान् मनुष्य ब्रह्मचारी समान होते हैं। ब्राह्मणोंके भोजनसे बचे हुए अन्नको जननीके हृदय समान हितकर और अमृत रूपसे ऋषियोंने वर्णन किया है; इससे सब लोग सब तरहसे उनकी उपासना करें; साधु लोग आहारशुद्धिसे सत्वशुद्धि लाभ करते हुए सत्य स्वरूप परब्रह्मको पाते हैं। (१०-१२)

यज्ञकी वेदी बनानेके लिये जो मनुष्य ढेलोंको मर्दते और तृण काटते

नित्योच्छिष्टः शंकुशुको नेहायुर्विन्दते महत् ॥ १३ ॥
यजुषा संस्कृतं मांसं निवृत्तो मांसभक्षणात् ।
न भक्षयेद्वृथामांसं पृष्ठमांसं च वर्जयेत् ॥ १४ ॥
स्वदेशे परदेशे वा अतिथिं नोपवासयेत् ।
काम्यकर्मफलं लब्ध्वा गुरूणामुपपादयेत् ॥ १५ ॥
गुरुभ्य आसनं देयं कर्तव्यं चाभिवादनम् ।
गुरूनभ्यर्च्य युज्यन्ते आयुषा यशसा श्रिया ॥ १६ ॥
नेक्षेतादित्यमुद्यन्तं न च नग्नां परस्त्रियम् ।
मैथुनं सततं धर्म्यं गुह्ये चैव समाचरेत् ॥ १७ ॥
तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचिः ।
सर्वमार्यकृतं चौक्ष्यं वालसंस्पर्शनानि च ॥ १८ ॥
दर्शने दर्शने नित्यं सुखप्रश्नमुदाहरेत् ।
सायं प्रातश्च विप्राणां प्रदिष्टमभिवादनम् ॥ १९ ॥

तथा नखसे छेदन करते हुए यज्ञसे बचे हुए मांसको भक्षण करते हैं; जिनके पिता, पितामह आदि किसीने सोमपान नहीं किया, वैसे ब्राह्मण यदि सदा सोमपान करते और जो काम मोहके वशमें होकर अस्थिर होते हैं, वैसे मनुष्य इस लोकमें दीर्घ परमायु नहीं पाते। यजुर्वेद जाननेवाले अध्वर्यु मांसभक्षण-से निवृत्त होकर यज्ञके संस्कृत मांसको भी परित्याग करें, दूसरे वृथा मांसको त्याग दें और श्राद्धसे शिष्ट मांस-भोजन भी निषिद्ध है। गृहस्थ लोग स्वदेश और परदेशमें कभी अतिथिको भूखा न रखें; भिक्षा आदि काम्य कर्मोंके फल अन्न आदि मिलनेपर पिता, माता आदि गुरुजनोंके समीप उसे उप-स्थित करें; बड़े लोगोंको आसन देना और प्रणाम करना उचित है। मनुष्य लोग गुरुजनोंकी पूजा करके परमायु यश और सम्पत्तिसे युक्त होते हैं। (१३-१६)

उदयशील सूर्यका दर्शन न करें; वस्त्ररहित स्त्रीकी ओर देखना उचित नहीं है। निज स्त्रीसे ऋतुकालमें धर्म-मैथुन निर्जन स्थानमें करना योग्य है। सब तीर्थोंके बीच रहस्यही उत्तम तीर्थ है, पवित्र पदार्थोंमें अग्नि परम पवित्र है; आर्य पुरुषोंके आचरित सब विषयही श्रेष्ठ हैं; गोपूंछको स्पर्श आदि कार्यभी पवित्र कहके वर्णित हैं। ब्राह्मणोंको जब देखे तभी उनसे सुखप्रश्न करे, सन्ध्या और सबेरेके समय ब्राह्मणोंको प्रणाम करना कर्तव्य कर्म कहा गया है। देव-

देवागारे गवां मध्ये ब्राह्मणानां क्रियापथे ।
स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥ २० ॥
सायं प्रातश्च विप्राणां पूजनं च यथाविधि ।
पण्यानां शोभते पण्यं कृषीणां बाध्यते कृषिः ।
बहुकारं च सस्यानां वाह्ये वाहो गवां तथा ॥ २१ ॥
संपन्नं भोजने नित्यं पानीये तर्पणं तथा ।
सुश्रृतं पायसे ब्रूयाद्यवाग्वां कृसरे तथा ॥ २२ ॥
श्मश्रुकर्मणि संप्राप्ते क्षुते स्नानेऽथ भोजने ।
व्याधितानां च सर्वेषामायुष्यमभिनन्दनम् ॥ २३ ॥
प्रत्यादित्यं न मेहेत न पश्येदात्मनः शकृत् ।
सह स्त्रियाऽथ शयनं सह भोज्यं च वर्जयेत् ॥ २४ ॥
त्वंकारं नामधेयं च ज्येष्ठानां परिवर्जयेत् ।
अवराणां समानानामुभयेषां न दुष्यति ॥ २५ ॥
हृदयं पापवृत्तानां पापमाख्याति वैकृतम् ।

स्थान, गौओंके बीच, ब्राह्मणोंके श्रौत-स्मार्त कर्मोंके अनुष्ठान वेदपाठ और भोजनके समय दहिना हाथ उठावे अर्थात् उपवीतयुक्त होवे । (१७-२०)

जैसे श्रेष्ठ पण्यकी वस्तु, उत्तम खेती कर्म और धान्य आदि शस्योंके निमित्त तत्पर रहनेसे प्रत्यक्ष फल दीखता है, वैसे ही सबेरे और सन्ध्याके समय विधिपूर्वक ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे दिव्य स्त्री और अन्नपान आदि प्राप्ति स्वरूप अभिलषित फल मिलता है । भोजनकी सामग्री दी जानेपर दाता कहे "सम्पन्न है," दान लेनेवाला "सुसम्पन्न है" ऐसा वचन उच्चारण करे । और पीनेकी वस्तु दान करनेके समय दाता "तर्पण" और दान लेनेवाला "सुतर्पण" ऐसा वचन उच्चारण करे । पायस यवान्न और कृसर दानके समय दाता 'सुश्रृत' यह वचन कहे । (२१—२२)

श्मश्रुकर्म क्षुत, स्नान और भोजन करने तथा पीडित पुरुषोंको देखनेसे 'आयुकी वृद्धि होवे' कहके अभिनन्दन करे; सूर्यके सम्मुख देखना उचित नहीं, स्त्रियोंके सङ्ग एकत्र सोना और एकत्र भोजन न करे । बडे लोगोंको "तुम" कहके वार्ता न करे; समान और छोटे पुरुषको "तुम" कहना दोषयुक्त नहीं है । पापियोंका अन्तःकरणही उनके किये हुए पाप कर्मोंका प्रकाश कर देता है अर्थात् उनके मुख और

ज्ञानपूर्वं विनश्यन्ति गूहमाना महाजने ॥ २६ ॥
ज्ञानपूर्वकृतं पापं छादयत्यबहुश्रुतः ।
नैनं मनुष्याः पश्यन्ति पश्यन्त्येव दिवौकसः ॥२७॥
पापेनापिहितं पापं पापमेवानुवर्तते ।
धर्मेणापिहितो धर्मो धर्ममेवानुवर्तते ।
धार्मिकेण कृतो धर्मो धर्ममेवानुवर्तते ॥ २८ ॥
पापं कृतं न स्मरतीह मूढो विवर्तमानस्य तदेति कर्तुः ।
राहुर्यथा चन्द्रमुपैति चापि तथाऽबुधं पापमुपैति कर्म ॥ २९ ॥
आशया संचितं द्रव्यं दुःखेनैवोपभुज्यते ।
तद् बुधा न प्रशंसन्ति मरणं न प्रतीक्षते ॥ ३० ॥
मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
तस्मात्सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत् ॥ ३१ ॥
एक एव चरेद्धर्मं नास्ति धर्मे सहायता ।
केवलं विधिमासाद्य सहायः किं करिष्यति ॥ ३२ ॥

नेत्रविकार आदिसे भीतरी मनके भाव प्रकाशित हुआ करते हैं। जो लोग महाजनोंके समीप जानके अपने पापकर्मोंको छिपाते हैं, वे अवश्यही नष्ट होते हैं। (२३—२६)

मूर्ख लोग किये हुए पापोंको जान कर छिपाया करते हैं। मनुष्योंके न देख सकनेपर भी देवता लोग उसे देखते हैं, पापसे छिपा हुआ पापकर्म पापहीका अनुगमन करता है; धर्मके जरिये छिपा हुआ धर्म धर्मका ही अनुसरण किया करता है, धर्मात्माओंके आचरित धर्म धर्मका ही अनुसरण करते हैं। इस लोकमें मूढ पुरुष अपने किये हुए पापोंको स्मरण नहीं करते, परन्तु शास्त्रीय इतिकर्त्तव्यताविमूढ पुरुषोंके निकट वह पाप उपस्थित होता है। जैसे राहु चन्द्रमाके निकटवर्ती होता है, वैसेही पापकर्म मूढ मनुष्योंका आश्रय करता है। (२७-२९)

आशाके जरिये सञ्चित वस्तु अत्यन्त दुःखसे उपयुक्त होती है, ज्ञानवान् मनुष्य उसकी प्रशंसा नहीं करते; मृत्यु कभी किसीकी प्रतीक्षा नहीं करती। विद्वान् पुरुष सब जीवोंके मानसको ही धर्म कहा करते हैं; इससे मनसे सब जीवोंके मङ्गलका आचरण करे। अकेला ही धर्माचरण करे, धर्मसाधन विषयमें किसीके सहायताकी अपेक्षा न करे; धर्मरहित मानसमें विधिलाभ-

धर्मो योनिर्मनुष्याणां देवानाममृतं दिवि ।
प्रेत्यभावे सुखं धर्माच्छश्वत्तैरुपभुज्यते ॥ ३३ ॥ [६९८०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भीष्मयुधिष्ठिरसंवादे आचारविधौ त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—अध्यात्मं नाम यदिदं पुरुषस्येह चिन्त्यते ।
यदध्यात्मं यथा चैतत्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
कुतः सृष्टमिदं विश्वं ब्रह्मन् स्थावरजङ्गमम् ।
प्रलये कथमभ्येति तन्मे वक्तुमिहार्हसि ॥ २ ॥

भीष्म उवाच- अध्यात्ममिति मां पार्थ यदेतदनुपृच्छसि ।
तद्व्याख्यास्यामि ते तात श्रेयस्करतमं सुखम् ॥ ३ ॥
सृष्टिप्रलयसंयुक्तमाचार्यैः परिदर्शितम् ।
यज्ज्ञात्वा पुरुषो लोके प्रीतिं सौख्यं च विन्दति ।
फललाभश्च तस्य स्यात्सर्वभूतहितं च तत् ॥ ४ ॥

पूर्वक सहायता मिलनेसे क्या होगा। धर्म ही मनुष्योंकी उत्पत्ति और प्रलयका कारण है; धर्म ही सुरपुरमें देवताओंका अमृत है, मनुष्य लोग परलोकमें जानेपर अपूर्व देह पाके धर्मसे ही निरन्तर परम सुख भोगते हैं। (३०—३३)

शान्तिपर्वमें १९३ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें १९४ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! चित्तको अवलम्बन करके जो योगधर्म चिन्तनीय हुआ करता है उसे अध्यात्म कहते हैं यह सामान्यरीतिसे मुझे मालूम है, परन्तु वह अध्यात्म क्या है और किस प्रकारका है। आप मुझसे उसे ही कहिये। हे ब्रह्मवित्! वह स्थावर-जङ्गमात्मक संसार किससे उत्पन्न हुआ है, और प्रलयकालमें किसमें जाके लीन होता है। इस समय मेरे समीप उसे ही वर्णन करना योग्य है। (१–२)

भीष्म बोले, हे तात पृथापुत्र! तुम जो मुझसे अध्यात्म विषय पूछते हो, वह तुम्हारे लिये कल्याणकारी और सुखदायक है। इसलिये मैं उस विषयको वर्णन करता हूं, पहिले समयके आचार्योंने परमात्माको सृष्टि, स्थिति और प्रलयके कारण स्वरूप कहके वर्णन किया है। इस लोकमें मनुष्य जिसे जानकर प्रसन्न और सुखी होते तथा सर्व कामका प्राप्ति रूपी फल लाभ किया करते हैं, उस अध्यात्म-ज्ञानसे आत्महितकर विषय दूसरा कुछ भी

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
महाभूतानि भूतानां सर्वेषां प्रभवाप्ययौ ॥ ५ ॥
यतः सृष्टानि तत्रैव तानि यान्ति पुनः पुनः ।
महाभूतानि भूतेभ्यः सागरस्योर्मयो यथा ॥ ६ ॥
प्रसार्य च यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः ।
तद्वद्भूतानि भूतात्मा सृष्टानि हरते पुनः ॥ ७ ॥
महाभूतानि पञ्चैव सर्वभूतेषु भूतकृत् ।
अकरोत्तेषु वैषम्यं तत्तु जीवो न पश्यति ॥ ८ ॥
शब्दः श्रोत्रं तथा खानि त्रयमाकाशयोनिजम् ।
वायोः स्पर्शस्तथा चेष्टा त्वक्चैव त्रितयं स्मृतम् ॥९॥
रूपं चक्षुस्तथा पाकस्त्रिविधं तेज उच्यते ।
रसः क्लेदश्च जिह्वा च त्रयो जलगुणाः स्मृताः॥ १० ॥
घ्रेयं घ्राणं शरीरं च एते भूमिगुणास्त्रयः ।
महाभूतानि पञ्चैव षष्ठं च मन उच्यते ॥ ११ ॥
इन्द्रियाणि मनश्चैव विज्ञानान्यस्य भारत ।

नहीं है । ईश्वर ही सर्वमय है; पृथिवी वायु, आकाश, जल, और अग्नि इन पांचोंको महाभूत कहते हैं; परमात्मा ही इन पांचों भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयका कारण है । (३-५)

जैसे लहर समुद्रसे ही उत्पन्न होकर उसहीमें लीन होती हैं, वैसे ही पृथिवी आदि महाभूत आनन्दस्वरूप अधिष्ठान परब्रह्मसे उत्पन्न होकर बार बार उसहीमें लीन होते हैं । जैसे कछुआ अपने अंगोंको फैलाकर फिर उन्हें समेट लेता है वैसे ही सर्वभूतमय आत्मा सब भूतोंको उत्पन्न करके फिर उनका संहार करता है । प्राणियोंकी सृष्टि करनेवाले ईश्वरने सब भूतोंके शरीर आदिमें पञ्चमहाभूतोंको स्थापित किया है और स्थापित करके उनमें वैषम्यभाव कर दिया है, शरीर आदिकोंमें आत्माभिमानी जीव उसे नहीं देखता। शब्द, श्रोत्र और छिद्र ये तीनों आकाशयोनिज हैं, स्पर्श, चेष्टा और त्वचा, ये तीनों वायुयोनिज हैं; नेत्र, रूप और अन्न आदिके परिपाकस्थान ये तीनों विषय अग्निसे प्रकट हुए हैं; घ्रेय, घ्राण और शरीर, ये तीनों भूमिके गुण से उत्पन्न हुए हैं; पांच महाभूत हैं; मनको छठवां गिनते हैं । (६-११)

हे भरतकुलप्रदीप ! सब इन्द्रियें

सप्तमी बुद्धिरित्याहुः क्षेत्रज्ञः पुनरष्टमः ॥ १२ ॥
चक्षुरालोचनायैव संशयं कुरुते मनः ।
बुद्धिरध्यवसानाय क्षेत्रज्ञः साक्षिवत् स्थितः ॥ १३ ॥
ऊर्ध्वं पादतलाभ्यां यदर्वाक्चोर्ध्वं च पश्यति ।
एतेन सर्वमेवेदं विद्ध्यभिव्याप्तमन्तरम् ॥ १४ ॥
पुरुषैरिन्द्रियाणीह वेदितव्यानि कृत्स्नशः ।
तमो रजश्च सत्वं च तेऽपि भावास्तदाश्रिताः ॥ १५ ॥
एतां बुद्ध्वा नरो बुद्ध्या भूतानामागतिं गतिम् ।
समवेक्ष्य शनैश्चैव लभते शममुत्तमम् ॥ १६ ॥
गुणैर्नेनीयते बुद्धिर्बुद्धिरेवेन्द्रियाण्यपि ।
मनःषष्ठानि भूतानि तदभावे कुतो गुणाः ॥ १७ ॥
इति तन्मयमेवैतत्सर्वं स्थावरजङ्गमम् ।
प्रलीयते चोद्भवति तस्मान्निर्दिश्यते तथा ॥ १८ ॥
येन पश्यति तच्चक्षुः शृणोति श्रोत्रमुच्यते ।

और मन विज्ञान कहके वर्णित हुआ करते हैं। बुद्धि इनकी सातवीं श्रेणीमें है; साक्षी स्वरूप क्षेत्रज्ञ आठवां कहा जाता है । नेत्र आदि इन्द्रियोंसे विषयोंकी आलोचना करके मन सन्देह करता है, निश्चय करनेवाली चित्तवृत्तिका नाम बुद्धि है; क्षेत्रज्ञ साक्षीकी तरह निवास करता है । पैरके तलुएसे ऊर्ध्वस्थित शरीरके ऊपर और नीचे सब स्थलोंमें साक्षी चैतन्य व्यापक भावसे निवास करता है, बाहरी हिस्सेमें जो कुछ दृश्यमान शून्य स्थान हैं, वह साक्षी चैतन्यसे परिव्याप्त हैं। सब इन्द्रियें मन और बुद्धि आदिकी सब तरहसे पुरुषोंको परीक्षा करनी उचित है। तम, रज और सत्वगुण भी इन्द्रियोंके आश्रित हैं; मनुष्य बुद्धिशक्तिके प्रभावसे जीवों-की इसी प्रकार उत्पत्ति और लयके विषयको विचारकर धीरे धीरे परम शान्ति लाभ करते हैं । (१२-१६)

तम आदि गुणोंके जरिये बुद्धि बार बार विषयोंमें उपस्थित हुआ करती है; इसलिये बुद्धिही षष्ठेन्द्रिय मन स्वरूप है । बुद्धिके अभावमें सत्वादि गुणोंके सत्ताकी सम्भावना नहीं होती; इसी प्रकार ये स्थावर जङ्गम सब बुद्धिमय हैं, बुद्धि नाश होनेपर सब नष्ट होते हैं, और बुद्धिके प्रभावसे ही सब उत्पन्न हुआ करते हैं; इसही कारण वेदमें समस्त बुद्धिमय कहा गया है। बुद्धि

जिघ्रति घ्राणमित्याहू रसं जानाति जिह्वया ॥ १९ ॥
त्वचा स्पर्शयते स्पर्शं बुद्धिर्विक्रियते सकृत्।
येन प्रार्थयते किंचित्तदा भवति तन्मनः ॥ २० ॥
अधिष्ठानानि बुद्धेर्हि पृथगर्थानि पञ्चधा।
इन्द्रियाणीति यान्याहुस्तान्यदृश्योऽधितिष्ठति॥ २१ ॥
पुरुषे तिष्ठती बुद्धिस्त्रिषु भावेषु वर्तते।
कदाचिल्लभते प्रीतिं कदाचिदनुशोचति ॥ २२ ॥
न सुखेन न दुःखेन कदाचिदपि वर्तते।
एवं नराणां मनसि त्रिषु भावेष्ववस्थिता ॥ २३ ॥
सेयं भावात्मिका भावांस्त्रीनेतानतिवर्तते।
सरितां सागरो भर्ता महावेलामिवोर्मिमान् ॥ २४ ॥
अतिभावगता बुद्धिर्भावे मनसि वर्तते।
प्रवर्तमानं तु रजस्तद्भावमनुवर्तते ॥ २५ ॥
इन्द्रियाणि हि सर्वाणि प्रवर्तयति सा तदा।

जिस द्वारसे देखती है, उसे नेत्र कहते हैं, जिससे सुनती, उसे कान कहते हैं, जिससे सूंघती उसका नाम नाक है, जिससे रसका ज्ञान करती, उसे जिह्वा कहते हैं और त्वचासे स्पर्शका ज्ञान होता है। बुद्धि एक ही बार विकृत होती है, जब वह किसी विषयकी कामना करती है, तब उसे मन कहा जाता है, बुद्धिके पांच निवासस्थान हैं, इन पांचोंको पञ्च इन्द्रिय अर्थात् बुद्धिके रहनेसे नेत्र आदि इन्द्रिय रूप आदिका दर्शन करती हैं। बुद्धिसे अदृश्य चिदात्मा प्रागुक्त इन्द्रियोंमें निवास करता है। (१७-२१)

पुरुषाधिष्ठित बुद्धि सत्त्व, रज, तम इन तीनों भावोंसे वर्त्तमान रहती है; इस हीसे कभी प्रीतिलाभ करती, कभी दुःख पाती है, कभी सुख तथा दुःख किसीमें भी लिप्त नहीं होती। मनुष्योंके मनमें इसी प्रकार बुद्धि तीनों भावोंमें निवास किया करती है। नदियोंको पूर्ण करनेवाले तरङ्गमालायुक्त समुद्रकी वीचिमालासे जैसे सब नदियां तिरोहित होती हैं, वैसेही सुख, दुःख, मोह आदि सर्वभाव स्वरूपी बुद्धि सुख, दुःख, मोह आदिको अतिक्रम किया करती है। (२२—२४)

बुद्धि सुख दुःख आदिसे अतिक्रान्त होकर सत्तामात्र मनोवृत्तिको अवलम्बन करके निवास करती है; शेषमें उत्थानके

ततः सत्त्वं तमोभावः प्रीतियोगात्प्रवर्तते ॥ २६ ॥
प्रीतिः सत्त्वं रजः शोकस्तमो मोहस्तु ते त्रयः।
ये ये च भावा लोकेऽस्मिन् सर्वेष्वेतेषु वै त्रिषु॥ २७॥
इति बुद्धिगतिः सर्वा व्याख्याता तव भारत।
इन्द्रियाणि च सर्वाणि विजेतव्यानि धीमता॥ २८॥
सत्त्वं रजस्तमश्चैव प्राणिनां संश्रिताः सदा।
त्रिविधा वेदना चैव सर्वसत्त्वेषु दृश्यते ॥ २९॥
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति भारत।
सुखस्पर्शः सत्त्वगुणो दुःखस्पर्शो रजोगुणः।
तमोगुणेन संयुक्तौ भवतो व्यावहारिकौ ॥ ३०॥
तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत्।
वर्तते सात्त्विको भाव इत्याचक्षीत तत्तथा ॥ ३१॥
अथ यद् दुःखसंयुक्तमप्रीतिकरमात्मनः।
प्रवृत्तं रज इत्येव तन्न संरभ्य चिन्तयेत् ॥ ३२॥
अथ यन्मोहसंयुक्तमव्यक्तविषयं भवेत्।

समय प्रवर्त्तमान रज बुद्धिका अनुगमन किया करता है; तब वैसी बुद्धि इन्द्रियोंको प्रवर्त्तित करती है प्रीतिस्वरूपी सत्त्वात्मिका बुद्धि विषयोंके यथार्थ ज्ञानको सिद्ध करती है; रजोगुण शोकात्मक और तमोगुण मोहस्वरूप कहके वर्णित हुए हैं। हे भारत! इस लोकमें इन्हीं सत्त्व, रज, तम, तीनों भावोंमें शम, दम, काम, क्रोध, भय, विषय आदि जो सब भाव वर्त्तमान हैं, वे सभी बुद्धिके आश्रय हैं; यह मैंने तुम्हारे समीप व्याख्या की है, और बुद्धिमान् पुरुषोंको इन्द्रिय जीतना उचित है, इसे भी विस्तारपूर्वक कहा है। (२५-२८)

सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण सदा प्राणियोंमें स्थित होरहे हैं, और सात्विकी, राजसी तथा तामसी, ये तीन प्रकारकी पीडा भी सब प्राणियोंमें दीख पडती हैं। सत्त्वगुण सुखयुक्त और रजोगुण दुःखयुक्त है, ये दोनों तमोगुणके सहित मिलकर व्यावहारिक हुआ करते हैं। शरीर और मनको जो प्रीतियुक्त हुआ करती है, उसे सात्विकभाव कहा जाता है, और जो आत्माको अप्रसन्न करनेवाला तथा दुःखमिश्रित है, वह रजोरूपसे प्रवृत्त है, दुःखकी खोजके कारण भययुक्त होके उस

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ ३३ ॥
प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः सुखं संशान्तचित्तता ।
कथंचिदभिवर्तन्त इत्येते सात्त्विका गुणाः ॥ ३४ ॥
अतुष्टिः परितापश्च शोको लोभस्तथाक्षमा ।
लिङ्गानि रजसस्तानि दृश्यन्ते हेत्वहेतुभिः ॥ ३५ ॥
अवमानस्तथा मोहः प्रमादः स्वप्नतन्द्रिता ।
कथंचिदभिवर्तन्ते विविधास्तामसा गुणाः ॥ ३६ ॥
दूरगं बहुधागामि प्रार्थनासंशयात्मकम् ।
मनः सुनियतं यस्य स सुखी प्रेत्य चेह च ॥ ३७ ॥
सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरेतदन्तरं पश्य सूक्ष्मयोः ।
सृजते तु गुणानेक एको न सृजते गुणान् ॥ ३८ ॥
मशकोदुम्बरौ वाऽपि संप्रयुक्तौ यथा सदा ।
अन्योऽन्यमेतौ स्यातां च संप्रयोगस्तथा तयोः ॥ ३९ ॥
पृथग्भूतौ प्रकृत्या तौ संप्रयुक्तौ च सर्वदा ।

विषयकी चिन्ता न करे। दूसरे जो मोहयुक्त अव्यक्त विषय, अप्रतर्क्य और अविज्ञेय है। उसे ही, तमोगुण कहके निश्चय करे। प्रहर्ष, प्रीति, आनन्द, सुख और शान्तचित्तता आदि सात्त्विक गुण कदाचित् प्राप्त हुआ करते हैं। (२९-३४)

अप्रसन्नता, परिताप, शोक, लोभ और क्षमा, ये सब रजोगुणके लक्षण कभी कारण कभी अकारणसे ही दीख पड़ते हैं। अपमान, मोह, प्रमाद, स्वप्न और तन्द्रा, इस प्रकारके विविध तामस-गुण कदाचित् उपस्थित होते हैं। दूर भागनेवाला, विविध कार्योंमें शीघ्रतासे जानेवाला, 'दो' ऐसा दीन वचन कहनेको तैयार, और सदा संदेह करनेवाला मन भी जिन्होंने स्वाधीन किया है, वे मनुष्य इस लोक तथा परलोकमें सुखी होते हैं। सूक्ष्म बुद्धि और साक्षी चैतन्य क्षेत्रज्ञके इस महत् अन्तरको देखो, तप्तायःपिण्डवत् इतरेतर अविचार निबन्धन बुद्धि, अहङ्कार आदि सब गुणोंको उत्पन्न करती है; साक्षी चैतन्य स्वयं निर्लिप्त रहके कुछ भी उत्पन्न नहीं करता; बुद्धिके सब कार्यों-को देखता है। (३५-३८)

मशक और उदुम्बर जैसे सदा संप्रयुक्त हैं, वैसे ही बुद्धि और क्षेत्रज्ञ सदा परस्पर संप्रयुक्त होते हैं। जैसे जल और मछली सदा संयुक्त हैं, वैसेही

यथा मत्स्यो जलं चैव संप्रयुक्तौ तथैव तौ ॥ ४० ॥
न गुणा विदुरात्मानं स गुणान्वेत्ति सर्वशः ।
परिद्रष्टा गुणानां तु संसृष्टान्मन्यते यथा ॥ ४१ ॥
इन्द्रियैस्तु प्रदीपार्थं कुरुते बुद्धिसप्तमैः ।
निर्विचेष्टैरजानद्भिः परमात्मा प्रदीपवत् ॥ ४२ ॥
सृजते हि गुणान् सत्त्वं क्षेत्रज्ञः परिपश्यति ।
संप्रयोगस्तयोरेष सत्वक्षेत्रज्ञयोर्ध्रुवः ॥ ४३ ॥
आश्रयो नास्ति सत्वस्य क्षेत्रज्ञस्य च कश्चन ।
सत्त्वं मनः संसृजते न गुणान्वै कदाचन ॥ ४४ ॥
रश्मींस्तेषां स मनसा यदा सम्यङ् नियच्छति ।
तदा प्रकाशतेऽस्यात्मा घटे दीपो ज्वलन्निव ॥ ४५ ॥
त्यक्त्वा यः प्राकृतं कर्म नित्यमात्मरतिर्मुनिः ।
सर्वभूतात्मभूतस्मात्स गच्छेदुत्तमां गतिम् ॥ ४६ ॥

बुद्धि और क्षेत्रज्ञ निरन्तर संयुक्त रहने-पर भी स्वभावके जरिये पृथग्भूत हुआ करते हैं। अहङ्कार आदि गुण आत्मा-को जाननेमें समर्थ नहीं होते, परन्तु आत्मा सब गुणोंको ही जानता है। क्षेत्रज्ञ पुरुष देह, अहंकार आदिका द्रष्टा होकर भी अविद्याके कारण "मैं गौर मैं काण, मैं सुखी, मैं कर्त्ता" इत्यादि अभिमान किया करता है। परमात्मा घटाच्छन्न दीपककी भांति निश्चेष्ट और ज्ञानहीन पञ्च इन्द्रिय, मन और बुद्धिके जरिये विषयोंको प्रकाशित करता है। (३९-४२)

बुद्धि अहंकार आदिकी सृष्टि करती है; क्षेत्रज्ञ उसे पूर्ण रीतिसे देखा करता है; इसलिये बुद्धि और आत्माका सम्बन्ध अनादिसिद्ध है। आत्मा असङ्ग और निर्गुण है, इसहीसे बुद्धिका आश्रय नहीं है, और स्वयं निज महिमासे निवास करता है; इसलिये बुद्धि और आत्माका आपसमें आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध नहीं है। बुद्धि मनकी सृष्टि करती है, परन्तु मूलभूत तीनों गुण कदापि उससे नहीं उत्पन्न हुए हैं; इससे मनकी सृष्टि आरंभ करके बुद्धिका कार्य प्रवर्त्तित हुआ करता है। घडेके बीच जलते हुए दीपककी भांति अब आत्मा मनसे इन्द्रियवृत्तियोंको पूर्ण रीतिसे नियमित करता है, उस ही समय वह बुद्धिके निकट प्रकाशित होता है। (४३—४५)

जो लोग स्वाभाविक कर्म संन्याससे

यथा वारिचरः पक्षी सलिलेन न लिप्यते।
एवमेव कृतप्रज्ञो भूतेषु परिवर्तते ॥ ४७ ॥
एवंस्वभावमेवैतत्स्वबुद्ध्या विहरेन्नरः।
अशोचन्नप्रहृष्यंश्च समो विगतमत्सरः ॥ ४८ ॥
स्वभावयुक्त्या युक्तस्तु स नित्यं सृजते गुणान्।
ऊर्णनाभिर्यथा सूत्रं विज्ञेयास्तन्तुवद्गुणाः ॥ ४९ ॥
प्रध्वस्ता न निवर्तन्ते निवृत्तिर्नोपलभ्यते।
प्रत्यक्षेण परोक्षं तदनुमानेन सिद्ध्यति ॥ ५० ॥
एवमेकेऽध्यवस्यन्ति निवृत्तिरिति चापरे।
उभयं संप्रधार्यैतद्व्यवस्येत यथामति ॥ ५१ ॥
इतीमं हृदयग्रन्थिं बुद्धिभेदमयं दृढम्।
विमुच्य सुखमासीत न शोचेच्छिन्नसंशयः ॥ ५२ ॥

सदा आत्मरत, मननशील और सब भूतोंके आत्मरूप होते हैं, उन्हें उत्तम गति प्राप्त होती है। जैसे हंस आदि चलचर पक्षी जलमें भ्रमण करके उसमें लिप्त नहीं होते, वैसे ही कृतबुद्धि पुरुष सब भूतोंमें स्थिति किया करते हैं। मनुष्योंका यह स्वभाव ही है, कि वे निज बुद्धिबलके सहारे शोकरहित, अप्रहृष्ट, मत्सररहित और सब भूतोंमें समदर्शी होकर विहार करते हैं। जैसे ऊर्णनाभ निमित्त और उपादान होकर सूत बनाती है, वैसेही स्वभाव-योग-युक्त विद्वान् पुरुष देहेन्द्रियादिकोंसे अभेदज्ञानजनित पररूपता परित्याग करके भूतभौतिक गुणोंको उत्पन्न किया करते हैं; इसलिये सत्त्वादि गुणोंको धागेके समान जानना चाहिये। (४६-४९)

गुणोंके प्रध्वस्त होनेपर निवृत्ति नहीं होती; प्रत्यक्षमें निवृत्तिकी प्राप्ति नहीं होती; इसलिये वह परोक्ष विषय अनुमानसे सिद्ध होता है। अनेक जीववादी पुरुष व्यवहारके अनुरोधसे इसही प्रकार निश्चय करते हैं; एक जीववादी बुद्धिमान् पुरुष निवृत्तिको ही अज्ञानकृत प्रपञ्च कहा करते हैं। ऊपर कहे हुए दोनों विषयोंकी आलो-चना करके निज बुद्धिके अनुसार ध्यानसे प्रत्यक्ष करे। इसही प्रकार जलते हुए लोहेकी तरह बुद्धि और क्षेत्रज्ञके पर-स्पर मेलके कारण क्षेत्रज्ञमें बुद्धि-धर्म दुःख आदि और बुद्धिमें क्षेत्रज्ञके धर्म सत्त्व चित्तत्व आदि दीख पडते हैं। तत्वजिज्ञासु मनुष्य इस बुद्धिभेदमय दृढ हृदयग्रन्थि छुडाकर सुखसे निवास

मालिनाः प्राप्नुयुः सिद्धिं यथा पूर्णां नदीं नराः।
अवगाह्य सुविद्वांसो विद्धि ज्ञानमिदं तथा ॥ ५३ ॥
महानद्या हि पारज्ञस्तप्यते न तदन्यथा।
न तु तप्यति तत्त्वज्ञः फले ज्ञाते तरत्युत ॥ ५४ ॥
एवं ये विदुराध्यात्मं केवलं ज्ञानमुत्तमम् ॥ ५५ ॥
एतां बुद्ध्वा नरः सर्वां भूतानामागतिं गतिम्।
अवेक्ष्य च शनैर्बुद्ध्या लभते शमनन्ततः ॥ ५६ ॥
त्रिवर्गो यस्य विदितः प्रेक्ष्य यश्च विमुञ्चति।
अन्विष्य मनसा युक्तस्तत्त्वदर्शी निरुत्सुकः ॥ ५७ ॥
न चात्मा शक्यते द्रष्टुमिन्द्रियैश्च विभागशः।
तत्र तत्र विसृष्टैश्च दुर्वार्यैश्चाकृतात्मभिः ॥ ५८ ॥
एतद् बुद्ध्वा भवेद् बुद्धः किमन्यद् बुद्धलक्षणम्।

किया करते हैं, संशयोंके कट जानेपर फिर वे शोक प्रकाश नहीं करते। जैसे विशिष्ट विद्यायुक्त पुरुष पवित्र नदमें स्नान करके सिद्धिलाभ करते हैं, वैसेही मलिन मनुष्य विज्ञान अवलम्बन करके सिद्धि लाभ किया करते हैं; इसलिये इस जगत्में ज्ञानके समान पवित्र पदार्थ दूसरा कुछ भी नहीं है। (५०-५३)

जो लोग महानदीके पार जानेका उपाय जानते हैं, वे उसके निमित्त शोक नहीं करते; और जो लोग उस विषयमें अनभिज्ञ हैं, वे उस विषयमें शोकित हुआ करते हैं; तत्वज्ञ पुरुष कदापि परितापित नहीं होते, उपाय जाननेसे वे पार होते, हैं। इसी प्रकार जो लोग हृदयाकाशमें निर्विषय श्रेष्ठ ज्ञानकी आलोचना करते हैं, वे कृतार्थ होते हैं। मनुष्य जीवोंकी यह उत्पत्ति और लयके विषयोंको जानके बुद्धिसे धीरे धीरे आलोचना करके अनन्त सुख भोग करते हैं। धर्म, अर्थ, काम ये त्रिवर्ग नाशवान् हैं, यह जिन्हें विदित है, किये हुए कार्य अर्थात् कामसुख आदि अनित्य हैं, यह जानके जो लोग उन्हें परित्याग करते हैं, वे श्रवण मननके जरिये निश्चय करके ध्याननिष्ठ और तत्वदर्शी होकर आत्मदर्शनसे ही सब कामना लाभ करके निरुत्सुक रहते हैं। (५४—५७)

अकृतबुद्धि मनुष्योंकी अनिवार्य और रूप रस आदि निज निज विषयोंमें विभागके अनुसार निविष्ट इन्द्रियोंके जरिये आत्माका दर्शन नहीं किया जासकता। मनुष्य इसे जानके बोध-

विज्ञाय तद्धि मन्यन्ते कृतकृत्या मनीषिणः ॥ ५९ ॥
न भवति विदुषां ततो भयं यदविदुषां सुमहद्भयं भवेत् ।
नहि गतिरधिकाऽस्ति कस्यचित्सति हि गुणे प्रवदन्त्यतुल्यताम् ॥६०॥
यः करोत्यनभिसन्धिपूर्वकं तच्च निर्णुदति यत्पुरा कृतम् ।
नाप्रियं तदुभयं कुतः प्रियं तस्य तज्जनयतीह सर्वतः ॥ ६१ ॥
लोकमातुरमसूयते जनस्तस्य तज्जनयतीह सर्वतः ॥ ६२ ॥
लोक आतुरजनान्विरावितंस्तत्तदेव बहु पश्य शोचतः ।
तत्र पश्य कुशलानशोचतो ये विदुस्तदुभयं पदं सताम् ॥६३॥ [७०४३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि
अध्यात्मकथने चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥

भीष्म उवाच— हन्त वक्ष्यामि ते पार्थ ध्यानयोगं चतुर्विधम् ।

युक्त होते, इससे बढके बोधका लक्षण और कौनसा है? मनीषी पुरुष इसे ही जानके अपनेको कृतकृत्य समझते हैं। रस्सीमें सर्पभ्रम आदि जिस अज्ञानसे मूर्ख पुरुषोंको महत् संसारदुःख हुआ करता है, विद्वान् मनुष्योंको उससे भयकी सम्भावना नहीं होती। मैंने जो कहा है, कि मुक्ति ही सबकी गति है, उससे बढके किसीके विषयमें और उपाय कुछ नहीं है; तब शम, दम आदि गुणोंकी प्रधानतासे मुक्तिकी अतुल्यता होती है; ऐसा प्राचीन लोग कहा करते हैं। (५८-६०)

जो निष्काम होकर कर्म करते हैं, उन निष्काम कर्म करनेवालोंके कर्म पूर्वके किये हुए दोषोंको नष्ट करते हैं; पूर्वकृत अथवा वर्त्तमानके किये हुए कर्म ज्ञानी कर्त्ताको प्रिय वा अप्रिय नहीं होते। परीक्षक मनुष्य काम, क्रोध आदि व्यसनोंसे जर्जरीकृत लोगोंको धिक्कार प्रदान करते हैं; वह धिक्कार इस लोकमें आतुर पुरुषोंको निन्दित कर रखता है और परलोकमें उसे तिर्यग् योनिमें उत्पन्न करता है; जनसमाजमें पूर्णरीतिसे अभिनिवेशपूर्वक देखो, आतुर लोग मरे हुए स्त्री पुत्रादिकोंके निमित्त अत्यन्त शोक प्रकाश करते हैं, और जो लोग सार असार विवेकमें निपुण हैं, वे उस विषयमें शोकरहित होकर निवास करते हैं; इससे जो लोग क्रममुक्ति और सद्योमुक्ति इन दोनों विषयोंको जानते हैं, वेही ज्ञानियोंके गमन करने योग्य पद प्राप्त करते हैं। (६१-६३)

शान्तिपर्वमें १९४ अध्याय समाप्त।

यं ज्ञात्वा शाश्वतीं सिद्धिं गच्छन्तीह महर्षयः ॥ १ ॥
यथा स्वनुष्ठितं ध्यानं तथा कुर्वन्ति योगिनः ।
महर्षयो ज्ञानतृप्ता निर्वाणगतमानसाः ॥ २ ॥
नावर्तन्ते पुनः पार्थ मुक्ताः संसारदोषतः ।
जन्मदोषपरिक्षीणाः स्वभावे पर्यवस्थिताः ॥ ३ ॥
निर्द्वन्द्वा नित्यसत्त्वस्था विमुक्ता नियमास्थिताः ।
असङ्गान्यविवादीनि मनःशान्तिकराणि च ॥ ४ ॥
तत्र ध्यानेन संश्लिष्टमेकाग्रं धारयेन्मनः ।
पिण्डीकृत्येन्द्रियग्राममासीनः काष्ठवन्मुनिः ॥ ५ ॥
शब्दं न विन्देच्छ्रोत्रेण स्पर्शं त्वचा न वेदयेत् ।
रूपं न चक्षुषा विद्याज्जिह्वया न रसांस्तथा ॥ ६ ॥
घ्रेयाण्यपि च सर्वाणि जह्याद्ध्यानेन योगवित् ।
पञ्चवर्गप्रमाथीनि नेच्छेच्चैतानि वीर्यवान् ॥ ७ ॥
ततो मनसि संगृह्य पञ्चवर्गं विचक्षणः ।

शान्तिपर्वमें १९५ अध्याय ।

भीष्म बोले, हे पृथापुत्र ! मैंने तुमसे आत्मतत्व विषय कहे, अब उसके जाननेका उपाय चार प्रकारके ध्यानयोगका विषय कहूंगा; महर्षि लोग इसे जानके इस लोकमें शाश्वती कीर्त्ति प्राप्त करते हैं। ध्यान जिस प्रकारसे भली भांति अनुष्ठित हो, योगी लोग वैसाही किया करते हैं। हे पार्थ ! ज्ञानसे तृप्त निर्वाणनिष्ठ चित्तवाले महर्षि लोग संसारके दोषोंसे छूटकर फिर लौटके संसारमें नहीं आते; वे लोग जन्मदोषसे रहित होके आत्मस्वरूपमें निवास करते हैं; वे सर्दी, गर्मी, आदि क्लेशोंके सहनेवाले सदा स्वप्रकाशमें स्थित, लोभ आदिसे रहित, निष्परिग्रह और शौच, सन्तोष आदि विषयोंमें निष्ठावान् होते हैं; स्त्रियोंमें आसक्तिहीन, प्रतिपक्षरहित, मनके शान्तिकारी स्थानमें इन्द्रियोंको एकत्रित कर, काष्ठकी भांति बैठके और मननशील होकर ध्यानके जरिये संश्लिष्ट मनको एकाग्र रूपसे धारण करते हैं। योगी पुरुष कानसे शब्दग्रहण, त्वचासे स्पर्शज्ञान, नेत्रसे रूप और जीभसे रस मालूम नहीं करते और ध्यानके जरिये सब ध्येय विषयोंको परित्याग करते हैं। योगबलशाली पुरुष श्रोत्र आदि पञ्च इन्द्रियोंको प्रमथन करनेवाले इन शब्द आदि विषयोंकी कामना नहीं करते। (१-७)

समाद्ध्यान्मनो भ्रान्तमिन्द्रियैः सह पञ्चभिः ॥ ८ ॥
विसञ्चारि निरालम्बं पञ्चद्वारं चलाचलम् ।
पूर्वं ध्यानपथे धीरः समाद्ध्यान्मनोऽन्तरा ॥ ९ ॥
इन्द्रियाणि मनश्चैव यदा पिण्डीकरोत्ययम् ।
एष ध्यानपथः पूर्वो मया समनुवर्णितः ॥ १० ॥
तस्य तत्पूर्वसंरुद्धमात्मनः षष्ठमान्तरम् ।
स्फुरिष्यति समुद्भ्रान्ता विद्युदम्बुधरे यथा ॥ ११ ॥
जलबिन्दुर्यथा लोलः पर्णस्थः सर्वतश्चलः ।
एवमेवास्य चित्तं च भवति ध्यानवर्त्मनि ॥ १२ ॥
समाहितं क्षणं किंचिद्ध्यानवर्त्मनि तिष्ठति ।
पुनर्वायुपथं भ्रान्तं मनो भवति वायुवत् ॥ १३ ॥
अनिर्वेदो गतक्लेशो गततन्द्रिरमत्सरी ।
समाद्ध्यात्पुनश्चेतो ध्यानेन ध्यानयोगवित् ॥ १४ ॥
विचारश्च विवेकश्च वितर्कश्चोपजायते ।

शेषमें बुद्धिमान् योगी मनमें श्रोत्र आदि पञ्चवर्गोंको निगृहीत करके, पांचो इन्द्रियोंके सहित मिलकर भ्रान्त मनको स्थिर करते हैं। धीर योगी पहले विषयोंमें भ्रमणशील देहादि अवलम्बन-शून्य पञ्चद्वार और चञ्चल मनको ध्यानपथसे हृदयाकाशमें स्थित करें। इन्द्रियोंके सहित मनको पिण्डीकृत करता है, यह ध्यानपथ मुख्य रीतिसे मेरे जरिये वर्णित हुआ है। जैसे घूमती हुई बिजली बादलोंके निकट स्फूर्ति-युक्त हुआ करती है वैसेही वह मन, बुद्धि और पंच इन्द्रिय यह सप्ताङ्ग स्वरूप आत्माका षष्ठांश मन ध्यानके समयमें भी स्फुरित हुआ करता है। (८-११)

जैसे कमलके पत्तेपर स्थित चपल जलबिन्दु सब तरहसे चंचल रहता है, ध्यानमार्गमें वर्त्तमान योगीका चित्त पहले वैसे ही तरह हुआ करता है। मन ध्यानपथमें स्थिर होकर क्षणभर स्थित रहता है, फिर वायुमार्गको पाके अनेक प्रकारके रूप दिखाते हुए वायुकी भांति भ्रमण किया करता है। ध्यानयोगके जाननेवाले योगी निर्वेदशून्य, क्लेशरहित, आलस और मत्सरताहीन होकर, ध्यानके जरिये फिर चित्तको स्थिर करते हैं। (१२-१४)

समाधि करनेमें उद्यत मननशील मनुष्योंके मनमें अधिकारभेदसे ध्यानके

मुनेः समादधानस्य प्रथमं ध्यानमादितः ॥ १५ ॥
मनसा क्लिश्यमानस्तु समाधानं च कारयेत् ।
न निर्वेदं मुनिर्गच्छेत्कुर्यादेवाऽऽत्मनो हितम् ॥ १६ ॥
पांसुभस्मकरीषाणां यथा वै राशयश्चिताः ।
सहसा वारिणा सिक्ता न यान्ति परिभावनम् ॥ १७ ॥
किंचित्स्निग्धं यथा च स्याच्छुष्कचूर्णमभावितम् ।
क्रमशस्तु शनैर्गच्छेत्सर्वं तत्परिभावनम् ॥ १८ ॥
एवमेवेन्द्रियग्रामं शनैः संपरिभावयेत् ।
संहरेत्क्रमशश्चैव स सम्यक् प्रशमिष्यति ॥ १९ ॥
स्वयमेव मनश्चैवं पञ्चवर्गं च भारत ।
पूर्वं ध्यानपथे स्थाप्य नित्ययोगेन शाम्यति ॥ २० ॥

पहिले विचार, विवेक और वितर्क उपस्थित होता है; उसमेंसे पहले अधिकारियोंके अन्तःकरणमें मनसे कल्पित पीताम्बर आदि विग्रहोंमें जो चित्तका प्रणिधान होता उसे विचार करते हैं, इस विचारसे आलम्बन स्वरूप स्थूल विग्रहके एक एक अंशको परित्याग कर ध्येय वस्तुके एक अवयवभूत चरण आदिको विचारते विचारते विवेक उपस्थित होता है। उस विवेकके जरिये ईश्वरस्वरूपसे चिन्तितव्य मूर्त्तिका जडस्वभाव दूर होकर चेतनमात्रकी उत्पत्ति हुआ करती है। इसी प्रकार विवेकसे निर्गुण परब्रह्म विषयका ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिये मननशील मनुष्य मनके जरिये क्लेशित होकर भी समाधि किया करते हैं, वे कदापि निर्वेद प्राप्त नहीं होते, अपने हित कार्यमेंही नियुक्त रहते हैं। (१५-१६)

जैसे पांशु, भस्म और शुष्क गोमयसे संचित चिता सहसा जलसे भीगनेपर पहिले उनका कैसा रूप था, उसकी कल्पना नहीं की जाती, और शुष्कचूर्ण पदार्थ अल्पस्नेहके कारण पहिले अभिभावित रहके फिर बहुत समय तक जलसे क्लिन्न होकर क्रमसे मूर्त्ताकार धारण किया करते हैं, वैसे ही इन्द्रियोंको धीरे धीरे मूर्त्याकारमें योजित और क्रमशः संहार करे; जो ऐसा करते हैं वेही सम्यक् रूपसे प्रशान्त होसकते हैं, हे भारत ! स्वयं बुद्धि, मन और पंच इन्द्रियोंको सदा अभ्यस्तयोगके जरिये पहले ध्यानमार्गमें स्थापित करके दग्धेन्धन अग्निकी तरह आप भी शान्त होवे, अर्थात् ब्रह्माकार चित्तवृत्ति दूसरी समस्त वृत्तियोंको प्रशान्त करती हुई

न तत्पुरुषकारेण न च दैवेन केनचित्।
सुखमेष्यति तत्तस्य यदेवं संयतात्मनः ॥ २१ ॥
सुखेन तेन संयुक्तो रंस्यते ध्यानकर्मणि।
गच्छन्ति योगिनो ह्येवं निर्वाणं तन्निरामयम् ॥२२॥[७०९५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि ध्यानयोगकथने पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—चातुराश्रम्यमुक्तं ते राजधर्मास्तथैव च।
नानाश्रयाश्च बहव इतिहासाः पृथग्विधाः ॥ १ ॥
श्रुतास्त्वत्तः कथाश्चैव धर्मयुक्ता महामते।
सन्देहोऽस्ति तु कश्चिन्मे तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ २ ॥
जापकानां फलावाप्तिं श्रोतुमिच्छामि भारत।
किं फलं जपतामुक्तं क्व वा तिष्ठन्ति जापकाः ॥ ३ ॥
जप्यस्य च विधिं कृत्स्नं वक्तुमर्हसि मेऽनघ।
जापका इति किं चैतत्साङ्ख्ययोगक्रियाविधिः ॥ ४ ॥
किं यज्ञविधिरेवैष किमेतज्जप्यमुच्यते।

निर्माल्यकी भांति स्वयं शान्त हुआ करता है। सर्वाङ्गयुक्त सार्वभौमपद आदि ऐहिक सुख और हिरण्यगर्भ आदि पारलौकिक सुख निरुद्ध चित्तवाले योगीके सुखके समान नहीं है। योगी लोग उस ही परम सुखसे युक्त होकर ध्यान कार्यमें अनुरक्त रहते हैं, वे लोग इसी प्रकार निरामय निर्वाण पद लाभ किया करते हैं। (१७—२२)

शान्तिपर्वमें १९५ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १९६ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे बुद्धिमान्! आपके कहे हुए चारों आश्रमोंके हितकर धर्म, राजधर्म, विभिन्न प्रकार अनेक विषयोंके इतिहासों और धर्मयुक्त सब कथा मैंने सुनी अब मुझे किसी विषयमें सन्देह है, आप उस विषयमें उपदेश दान करनेके उपयुक्त हैं। हे भारत! मैं जापकोंके फलप्राप्ति विषयको सुननेकी अभिलाषा करता हूं। हे पापरहित! शास्त्रमें जापक लोगोंके लिये कैसा फल वर्णित है? जापक लोग कहां निवास करते हैं, जपकी भी कैसी विधि है। आप यह सब मेरे समीप वर्णन करिये। "जापक" इस शब्दके जरिये वेदान्त-विचार, अथवा चित्तवृत्तिनिरोध वा कर्म, इस सबका प्रकाश अर्थात् विचार-युक्त कर्म और आचार वर्णित हुआ

एतन्मे सर्वमाचक्ष्व सर्वज्ञो ह्यसि मे मतः ॥ ५ ॥
भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यमस्य यत्पुरा वृत्तं कालस्य ब्राह्मणस्य च ॥ ६ ॥
साङ्ख्ययोगौ तु यावुक्तौ मुनिभिर्मोक्षदर्शिभिः।
संन्यास एव वेदान्ते वर्तते जपनं प्रति।
वेदवादाश्च निर्वृत्ताः शान्ता ब्रह्मण्यवस्थिताः ॥ ७ ॥
साङ्ख्ययोगौ तु यावुक्तौ मुनिभिः समदर्शिभिः।
मार्गौ तावप्युभावेतौ संश्रितौ न च संश्रितौ ॥ ८ ॥
यथा संश्रयते राजन् कारणं चात्र वक्ष्यते।
मनःसमाधिरत्रापि तथेन्द्रियजयः स्मृतः ॥ ९ ॥
सत्यमग्निपरीचारो विविक्तानां च सेवनम्।
ध्यानं तपो दमः क्षान्तिरनसूया मिताशनम् ॥ १० ॥

करता है, अथवा यह ब्रह्मयज्ञविधि-रूपसे कहा जाता है। यह सब मेरे समीप वर्णन करिये, आपको मैं सर्वज्ञ समझता हूं। (१—५)

भीष्म बोले, पहिले समयमें यम और किसी ब्राह्मणसे आपसमें जो वार्त्ता हुई थी, प्राचीन लोग इस विषयमें उस ही पुराने इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं। मोक्षदर्शी महर्षियोंने जिसे सांख्य और योग कहा है, उसके बीच सांख्यमें जप क्रिया त्यागका विषय ही वर्णित हुआ है; क्यों कि सांख्य मतके अनुयायी सब वेदान्तवचन परब्रह्म-पर्यवसन्न हैं; वे सब उपासना आदि विधिपर नहीं हैं तब सब वेदवाक्य निवृत्तिप्रधान, शान्त और ब्रह्मपरायण हैं। प्रमाणान्तरोंसे न मालूम होनेयोग्य ब्रह्मात्मैक्यज्ञानरूप कैवल्य पदलाभके कारण वेदान्तवाक्य जपकी उपेक्षा नहीं करते। दूसरे शुभदर्शी मुनियोंके जरिये जो सांख्य और योगरूपसे कहे गये हैं, वे दोनों मार्ग ही जप विषयमें संश्रित और असंश्रित हुआ करते हैं। (६-८)

हे महाराज! ऊपर कहे हुए दोनों मार्ग जिस प्रकार जपके सङ्ग संयुक्त होते हैं, उसका कारण कहता हूं। इन दोनों विषयोंमें मनके निग्रह और इन्द्रियजयकी आवश्यकता होती है। सत्य कहना, अग्नि परिचर्या, शुद्ध आहार और निर्जन स्थानमें निवास, ध्येयाकारप्रत्ययप्रवाह लक्षण ध्यान, विषयोंके दोषदर्शन (आलोचना) रूपी तपस्या, वशमें की हुई इन्द्रियोंकी तत्व-

विषयप्रतिसंहारो मितजल्पस्तथा शमः।
एष प्रवर्तको यज्ञो निवर्तकमथो शृणु ॥ ११ ॥
यथा निवर्तते कर्म जपतो ब्रह्मचारिणः।
एतत्सर्वमशेषेण यथोक्तं परिवर्तयेत् ॥ १२ ॥
निवृत्तं मार्गमासाद्य व्यक्ताव्यक्तमनाश्रयम् ॥ १३ ॥
कुशोच्चयनिषण्णः सन् कुशहस्तः कुशैः शिखी।
कुशैः परिवृतस्तस्मिन्मध्ये छन्नः कुशैस्तथा ॥ १४ ॥
विषयेभ्यो नमस्कुर्याद्विषयान्न च भावयेत्।
साम्यमुत्पाद्य मनसा मनस्येव मनो दधत् ॥ १५ ॥
तद्धिया ध्यायति ब्रह्म जपन्वै संहितां हिताम्।
संन्यस्यत्यथ वा तां वै समाधौ पर्यवस्थितः ॥ १६ ॥
ध्यानमुत्पादयत्यत्र संहिताबलसंश्रयात्।

प्रतिपत्तियोग्यतारूपी दम, क्षान्ति, अनसूयता, परिमित भोजन, काम आदि विषयोंको जीतना, परिमित वचन और निगृहीत मनका विक्षेपहीनतारूपी शम, ये सब सकाम पुरुषोंके स्वर्गादिजनक जपके अङ्गभूत धर्म हुआ करते हैं। अब जापकके कर्मनिवृत्ति लक्षण मोक्ष धर्म कहता हूं सुनो। (९-११)

जप करनेवाले ब्रह्मचारीका कर्म जिस प्रकार निवृत्त होता है, उसे प्रदर्शित करता हूं। मनःसमाधि आदि जिन सब विषयोंको पहिले विशेष रीतिसे कहा है निष्काम अनुष्ठानसे स्थूल सूक्ष्म निर्विषय शुद्ध चिन्मात्र निवृत्तिमार्गको अवलम्बन करके उन सबका परिवर्त्तन करे। कदम्बपुष्पसमान हृदयपिण्ड स्पर्श करते हुए मूलसे ब्रह्माण्ड आवरण करके स्थिति करता है; उसी प्रकार जापक योगी अधस्तात् कुश बिछावें, हाथमें कुश धारण करें; शिखाको कुशोंसे परिपूरित करें और चारों ओर कुशोंसे परिपूरित होकर कुशमें ही निवास करें, बाहरी और भीतरी चिन्ता परित्याग करें; मनके जरिये जीव ब्रह्मकी ऐक्यता सिद्ध करके मनसेही मनका प्रविलापन करें। (१२—१५)

वे सावित्री संहिता जप करते हुए जीव-ब्रह्मके ऐक्यज्ञानसे परब्रह्मका ध्यान किया करते हैं, अथवा चित्तकी स्थिरता होनेपर वे निश्चल भावसे सावधान होकर पूर्वोक्त संहिता परित्याग करते हैं। वे शुद्धचित्त, जितेन्द्रिय, द्वेषरहित और परब्रह्मके पानेके इच्छु-

शुद्धात्मा तपसा दान्तो निवृत्तद्वेषकामवान् ॥ १७ ॥
अरागमोहो निर्द्वन्द्वो न शोचति न सज्जते ।
न कर्ता कारणानां च न कार्याणामिति स्थितिः ॥ १८ ॥
न चाहंकारयोगेन मनः प्रस्थापयेत्क्वचित् ।
न चार्थग्रहणे युक्तो नावमानी न चाक्रियः ॥ १९ ॥
ध्यानक्रियापरो युक्तो ध्यानवान् ध्याननिश्चयः ।
ध्याने समाधिमुत्पाद्य तदपि त्यजति क्रमात् ॥ २० ॥
स वै तस्यामवस्थायां सर्वत्यागकृतः सुखम् ।
निरिच्छस्त्यजति प्राणान्ब्राह्मीं संविशते तनुम् ॥ २१ ॥
अथ वा नेच्छते तत्र ब्रह्मकायनिषेवणम् ।
उत्क्रामति च मार्गस्थो नैव क्वचन जायते ॥ २२ ॥
आत्मबुद्ध्या समास्थाय शान्तीभूतो निरामयः ।
अमृतं विरजः शुद्धमात्मानं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥ [७०८८]

इति श्रीमहा० मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९६ ॥

क होकर विचारके जरिये संहितावल अवलम्बन करनेसे ध्येयाकारप्रत्यय-प्रवाहरूप ध्यान उत्पन्न करते हैं, राग-मोहसे रहित और सुख दुःख आदि द्वन्द्वहीन होकर किसी विषयमें शोक नहीं करते और किसी विषयमें आसक्त भी नहीं होते। ऐसे जापक अपनेको कर्म-कर्त्ता वा कर्मफलभोक्ता नहीं समझते और अहङ्कारयोगसे मनको किसी कर्मके कर्तृत्व वा कर्मफलभोक्तृत्वमें प्रस्थापित नहीं करते, वे अर्थग्रहण करनेमें आसक्त, अभिमानी और क्रिया-रहित नहीं होते, वे ध्याननिष्ठ समाधि-विशिष्ट होकर ध्यानसे तत्त्वनिश्चय किया करते हैं। वे लोग ध्यान अवल-म्बन करके चित्तकी एकाग्रताको उत्पन्न करते हुए धीरे धीरे उस अवलम्बनको भी परित्याग करते हैं। (१६-२०)

वे उस ही अवस्थामें सर्वत्यागी निर्बीजसमाधिस्थ योगीके प्रत्यगानन्द-स्वरूप सुख अनुभव करते हैं। जो लोग अणिमा आदि योगफलोंमें निस्पृह होकर लोकान्तर गति साधन लिङ्ग शरीर परित्याग करते हैं, वे सुख स्वरूप ब्राह्म शरीरमें प्रविष्ट होते हैं, अथवा यदि वे ब्रह्मस्वरूप सुखमें स्थिति कर-नेकी इच्छा न करें, तो देवयान मार्गमें निवास करते हुए फिर संसारमें जन्म नहीं लेते वे योगी इच्छानुसार मोक्षमार्ग वा ब्रह्मलोकमें गमन करनेमें समर्थ होते

युधिष्ठिर उवाच—गतीनामुत्तमप्राप्तिः कथिता जापकेष्विह।
एकैवैषा गतिस्तेषामुत यान्त्यपरामपि ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— शृणुष्वावहितो राजन् जापकानां गतिं विभो।
यथा गच्छन्ति निरयाननेकान्पुरुषर्षभ ॥ २ ॥
यथोक्तपूर्वं पूर्वं यो नानुतिष्ठति जापकः।
एकदेशक्रियश्चात्र निरयं स च गच्छति ॥ ३ ॥
अवमानेन कुरुते न प्रीयति न हृष्यति।
ईदृशो जापको याति निरयं नात्र संशयः ॥ ४ ॥
अहंकारकृतश्चैव सर्वे निरयगामिनः।
परावमानी पुरुषो भविता निरयोपगः ॥ ५ ॥
अभिध्यापूर्वकं जप्यं कुरुते यश्च मोहितः।
यत्रास्य रागः पतति तत्र तत्रोपपद्यते ॥ ६ ॥
अथैश्वर्यप्रवृत्तेषु जापकस्तत्र रज्यते।

हैं; वे तत्वदर्शनसे रजोगुणहीन अमृत अवलम्बन करके शान्त और जरा-मरणसे रहित होकर पवित्र परमात्माको पाते हैं। (२१-२३) [७०८८]

शान्तिपर्वमें १९६ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १९७ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! आपने जापकोंको योगसिद्धिप्राप्तिके जरिये जरामरणहीनता, इच्छानुसार शरीर-त्याग, ब्रह्मलोकगमन और कैवल्य-प्राप्ति विषय कहे, परन्तु उन लोगोंकी यह एकही प्रकारकी गति है, अथवा वे लोग दूसरी भांति गति लाभ किया करते हैं? भीष्म बोले, हे नरश्रेष्ठ महाराज! जापक लोग जिस प्रकार अनेक प्रकारके निरयोंमें गमन किया करते हैं; उसे तुम सावधान होकर सुनो। जो जापक पहिले पूर्वोक्त आचरण नहीं करते, वे अपूर्णमनोरथ होकर निरयमें गमन किया करते हैं। जो अश्रद्धाके सहित जप करते और उससे प्रसन्न वा हर्षित नहीं होते, वैसे जापक निःसन्देह निरयमें गमन करते हैं। जो लोग अहङ्कारपूर्वक जप करते और दूसरेकी अवज्ञा करते हैं, वैसे जापक पुरुष अवश्यही निरयगामी होते हैं। (१-५)

जो पुरुष मोहित होकर फलाभिसन्धि-पूर्वक जप करते हैं उन्हें जैसे कर्ममें प्रीति होती है, वैसे फलको भोगनेके लिये उसे उसहीके अनुरूप शरीर प्राप्त हुआ करता है। अणिमा आदि ऐश्वर्य-भोगप्रवृत्तिके वशमें होकर जो जापक

स एव निरयस्तस्य नासौ तस्मात्प्रमुच्यते ॥ ७ ॥
रागेण जापको जप्यं कुरुते तत्र मोहितः ।
यत्रास्य रागः पतति तत्र तत्रोपपद्यते ॥ ८ ॥
दुर्बुद्धिरकृतप्रज्ञश्चले मनसि तिष्ठति ।
चलामेव गतिं याति निरयं वा नियच्छति ॥ ९ ॥
अकृतप्रज्ञको बालो मोहं गच्छति जापकः ।
स मोहान्निरयं याति तत्र गत्वाऽनुशोचति ॥ १० ॥
दृढग्राही करोमीति जाप्यं जपति जापकः ।
न संपूर्णो न संयुक्तो निरयं सोऽनुगच्छति ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच— अनिवृत्तं परं यत्तदव्यक्तं ब्रह्मणि स्थितम् ।
तद्भूतो जापकः कस्मात्स शरीरमिहाविशेत् ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच— दुष्प्रज्ञानेन निरया बहवः समुदाहृताः ।
प्रशस्तं जापकत्वं च दोषाश्चैते तदात्मकाः ॥ १३ ॥ [७१०१]

इति श्रीमहाभारते मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९७ ॥

उसमें अनुरक्त होते हैं, वह अनुराग ही उनके लिये निरयस्वरूप है; फिर वे उससे कदापि नहीं छूट सकते। ऐश्वर्य-विषयक रागसे मोहित होकर जो जापक जप करते हैं, उन्हें जिस विषयमें अनुराग उत्पन्न होता है; उसे भोगनेके निमित्त उन्हें उसहीके अनुरूप शरीर धारण करके जन्म लेना पडता है। जो भोगासक्तचित्त सब भोगोंके दुरन्तत्वमें ज्ञानरहित और चञ्चलचित्तसे निवास करते हैं वे जापक चपलगति लाभ करते हैं अथवा निरयमें गमन किया करते हैं यह बुद्धि समयको अतिक्रम करके जा रही है, प्रमादके कारण उसका निश्चय नहीं होता है। (६–९)

इस विषयमें मूर्ख बाल स्वभाववाले जापक मोहको प्राप्त होते और उसही मोहके कारण नरकमें गमन करते हैं, वहां जाके शोक किया करते हैं। जो पुरुष दृढ निश्चय करके जप करनेमें प्रवृत्त होता है, और वह अविरक्त होकर बलपूर्वक भोगोंको त्यागते हुए जपकी समाप्ति करनेमें समर्थ नहीं होता, वह अन्तमें निरयगामी हुआ करता है। युधिष्ठिर बोले, जो वस्तु अनागन्तुक कहके स्वभावसे ही अनिवृत्त और मन-वचनसे अगोचर होकर प्रणवके बीच स्थित है, जापक उस ही ब्रह्मस्वरूपको पाके किस कारण इस संसारमें शरीर धारण करता है? भीष्म बोले, हे राजन्!

युधिष्ठिर उवाच- कीदृशं निरयं याति जापको वर्णयस्व मे।
कौतूहलं हि राजन्मे तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— धर्मस्यांशप्रसूतोऽसि धर्मिष्ठोऽसि स्वभावतः।
धर्ममूलाश्रयं वाक्यं शृणुष्वावहितोऽनघ ॥ २ ॥
अमूनि यानि स्थानानि देवानां परमात्मनाम्।
नानासंस्थानवर्णानि नानारूपफलानि च ॥ ३ ॥
दिव्यानि कामचारीणि विमानानि सभास्तथा।
आक्रीडा विविधा राजन् पद्मिन्यश्चैव काञ्चनाः ॥ ४ ॥
चतुर्णां लोकपालानां शुक्रस्याथ बृहस्पतेः।
मरुतां विश्वदेवानां साध्यानामश्विनोरपि ॥ ५ ॥
रुद्रादित्यवसूनां च तथाऽन्येषां दिवौकसाम्।
एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः ॥ ६ ॥

सकाम बुद्धिके कारण बहुतेरे निरय पूर्ण रीतिसे उदाहृत हुए हैं। जापकोंका धर्म अत्यन्त श्रेष्ठ है; परन्तु राग आदि सब दोष-दुष्ट अज्ञानस्वरूप हैं, उस ही लिये विविध गति हुआ करती है। (१०—१३) [७१०१]

शान्तिपर्वमें १९७ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १९८ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! जापक पुरुष किस प्रकारके निरयोंमें गमन करते हैं, उसे आप मेरे समीप वर्णन करिये। शुभ कर्म करनेवाले पुरुष भी अशुभ निरयको पाते हैं, इसे सुनके मुझे अत्यन्त कौतूहल उत्पन्न होरहा है, इस लिये आपको यह विषय वर्णन करना उचित है। भीष्म बोले, हे पापरहित! तुम धर्मके अंशसे उत्पन्न हुए हो स्वयं स्वभावसे ही धर्मिष्ठ हो; इस लिये सावधान होकर इस धर्मानुगत वचनको सुनो। (१—२)

हे राजन्! महाबुद्धि देवताओंके इन सब स्थानोंको जिसे कहता हूं, वे परमात्माके स्थानसे भिन्न नहीं हैं। इन सब स्थानोंमें दिव्य देहोंके रूप सफेद, पीले तथा अनेक तरहके फल दिखाई देते हैं; दिव्यकामचारी विमान, सभा और विविध क्रीडास्थान दीखते और सुवर्णके कमल फूलते हैं। (३ ४)

हे तात! इन्द्र आदि चारों लोकपाल, देवगुरु, शुक्राचार्य, मरुद्गण, विश्वदेव, साध्य, दोनों अश्विनीकुमार, रुद्र, आदित्य और वसुगण तथा दूसरे सुरपुरवासी देवताओंके इन सब आश्रयस्थानोंको निरय कहते हैं,

अभयं चानिमित्तं च न तत्क्लेशसमावृतम् ।
द्वाभ्यां मुक्तं त्रिभिर्मुक्तमष्टाभिस्त्रिभिरेव च ॥ ७ ॥
चतुर्लक्षणवर्जं तु चतुष्कारणवर्जितम् ।
अप्रहर्षमनानन्दमशोकं विगतक्लमम् ॥ ८ ॥
कालः संपद्यते तत्र कालस्तत्र न वै प्रभुः ।
स कालस्य प्रभू राजन् स्वर्गस्यापि तथेश्वरः ॥ ९ ॥
आत्मकेवलतां प्राप्तस्तत्र गत्वा न शोचति ।
ईदृशं परमं स्थानं निरयास्ते च तादृशाः ॥ १० ॥
एते ते निरयाः प्रोक्ताः सर्व एव यथातथम् ।
तस्य स्थानवरस्येह सर्वे निरयसंज्ञिताः ॥ ११ ॥ [७११२]

इति श्रीमहाभारते शान्ति० मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः १९८

वह स्थान भयसे रहित है, क्योंकि वहां अविद्या, अहङ्कार, राग, द्वेष आदि क्लेशों की सम्भावना नहीं है, अर्थात् आसक्ति हीनताके कारण वहां आगन्तुकको भयकी भी सम्भावना नहीं होती । वह स्थान प्रिय और अप्रिय इन दोनों पदार्थोंसे मुक्त है; प्रिय अप्रियके कारणभूत तीनों गुणोंसे रहित है, भूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, कर्म, वासना, वायु और अविद्या, इन अष्टपुरीसे परित्यक्त है; ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता इन त्रिपुटियोंसे मुक्त है; क्योंकि वह दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान इन चारों लक्षणोंसे रहित है; अर्थात् वह स्थान रूप आदिसे रहित होनेसे प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। गुण-जाति-क्रियाही-हीनताप्रयुक्त शब्दज्ञानगोचर नहीं है । (५—८)

असङ्गत्वके कारण अनुमानके अनुगत नहीं है; सर्वसाक्षित्वनिबन्धन बुद्धिसे भी नहीं जाने जाते । इसके अतिरिक्त ऊपर कहे स्थान प्रागुक्त दर्शन आदि चारों कारणोंसे रहित प्रहर्ष और आनन्द-हीन, विशोक और क्लम विवर्जितरूपसे प्रसिद्ध हैं । अखण्डभावसे स्थित काल वहांपर भूत, भविष्य, वर्त्तमान आदि व्यवहारोंका कारण होकर उत्पन्न होता है । काल संयम वहां प्रभुता नहीं कर सकता अर्थात् वह वस्तु आदि अन्तसे रहित है । हे राजन् ! जो कालका प्रभु और स्वर्गका ईश्वर है, जो जापक उस आत्माके सहित ऐक्यलाभ करता है, वह उक्त स्थानमें जाके शोकरहित होता है । ऐसे स्थान परम श्रेष्ठ हैं, पहिले कहे हुए सब निरयस्थान भी उनके समान हैं । परन्तु यह हमने तुमसे ज्योंके त्यों सब निरयोंके विषय यथार्थ

युधिष्ठिर उवाच— कालमृत्युयमानां ते इक्ष्वाकोर्ब्राह्मणस्य च।
विवादो व्याहृतः पूर्वं तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
इक्ष्वाकोः सूर्यपुत्रस्य यद्वृत्तं ब्राह्मणस्य च ॥ २ ॥
कालस्य मृत्योश्च तथा यद्वृत्तं तन्निबोध मे।
यथा स तेषां संवादो यस्मिन्स्थानेऽपि चाभवत् ॥३॥
ब्राह्मणो जापकः कश्चिद्धर्मवृत्तो महायशाः।
षडङ्गविन्महाप्राज्ञः पैप्पलादिः स कौशिकः ॥ ४ ॥
तस्यापरोक्षं विज्ञानं षडङ्गेषु बभूव ह।
वेदेषु चैव निष्णातो हिमवत्पादसंश्रयः ॥ ५ ॥
सोऽन्त्यं ब्राह्मं तपस्तेपे संहितां संयतो जपन्।
तस्य वर्षसहस्रं तु नियमेन तथा गतम् ॥ ६ ॥

कहे; ऊपर कहे हुए मनोहर परम श्रेष्ठ स्थानोंसे निकृष्ट भावसे निरय नाम सब स्थान प्रसिद्ध हैं। (८-११) [७११२]

शान्तिपर्वमें १९८ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १९९ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! परमायुको नष्ट करनेवाले काल, प्राण वियोजक मृत्यु और पुण्य-पापके फल देनेवाले यमराजके सम्मुख सूर्यवंशीय राजा इक्ष्वाकु और किसी ब्राह्मणसे विवाद हुआ था, आपने इस उपाख्यानके पहले इसकी चर्चा की थी; इसलिये अब उसे स्पष्ट रीतिसे वर्णन करना उचित है। भीष्म बोले, सूर्यवंशमें उत्पन्न हुए इक्ष्वाकु और ब्राह्मणके सम्बन्धमें जो विवाद हुआ था, प्राचीन लोग उसही पुराने इतिहासका इस विषयमें उदाहरण दिया करते हैं, काल और मृत्युके सन्मुखमें जो घटना हुई थी और जिस स्थानमें जिस प्रकार उन लोगोंकी वार्त्ता हुई थी, वह मुझसे सुनो। (१-३)

धर्माचारी, महायशस्वी, मन्त्राध्ययन परायण कोई जापक ब्राह्मण था। वह महाबुद्धिमान् विप्र शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, वेदके इन छहों अंगोंको जानता था; वह कौशिकगोत्रीय पिप्पलादका पुत्र था, षडङ्ग विषयमें उसे अपरोक्ष विज्ञान हुआ था। वह वेदनिष्ठ था और हिमालयके प्रत्यन्त पर्वतका आश्रय करके निवास करता था। उसने सावधान होके सावित्री संहिताका जप करते हुए स्वधर्मानुष्ठान रूपी अत्यन्त उत्तम तपस्या की थी। इसी प्रकार नियम

स देव्या दर्शितः साक्षात् प्रीताऽस्मीति तदा किल।
जप्यमावर्तयंस्तूष्णीं न स तां किंचिदब्रवीत् ॥ ७ ॥
तस्यानुकम्पया देवी प्रीता समभवत्तदा।
वेदमाता ततस्तस्य तज्जप्यं समपूजयत् ॥ ८ ॥
समाप्तजप्यस्तूत्थाय शिरसा पादयोस्तदा।
पपात देव्या धर्मात्मा वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ९ ॥
दिष्ट्या देवि प्रसन्ना त्वं दर्शनं चागता मम।
यदि चापि प्रसन्नाऽसि जप्ये मे रमतां मनः ॥ १० ॥
सावित्र्युवाच— किं प्रार्थयसि विप्रर्षे किं चेष्टं करवाणि ते।
प्रब्रूहि जपतां श्रेष्ठ सर्वं तत्ते भविष्यति ॥ ११ ॥
इत्युक्तः स तदा देव्या विप्रः प्रोवाच धर्मवित्।
जप्यं प्रति ममेच्छेयं वर्धत्विति पुनः पुनः ॥ १२ ॥
मनसश्च समाधिर्मे वर्धताहरहः शुभे।
तत्तथेति ततो देवी मधुरं प्रत्यभाषत ॥ १३ ॥
इदं चैवापरं प्राह देवी तत्प्रियकाम्यया।

पूर्वक उसके सहस्र वर्ष व्यतीत हुए, तब सावित्रीदेवीने "मैं प्रसन्न हुई हूं" ऐसा वचन कहके उसे दर्शन दिया। ब्राह्मण मौनभावसे मन्त्रका जप करते हुए देवीसे कुछ न बोला। वेदमाता गायत्री उसके विषयमें उस समय कृपा करके अत्यन्त प्रसन्न हुई; और उसके जप-मन्त्रकी अधिक प्रशंसा करने लगीं। (४-८)

धर्मात्मा ब्राह्मणने जप समाप्त होनेपर उठके देवीके चरणोंपर गिरके उन्हें प्रणाम किया और यह वचन कहा कि, हे देवी! भाग्यसे ही आपने प्रसन्न होकर मुझे दर्शन दिया है। हे भगवती! आप यदि मेरे ऊपर प्रसन्न हुई हों, तो आपकी कृपासे मेरा मन सदा जपमें ही रत रहे। सावित्री बोली, हे जापकश्रेष्ठ विप्रर्षि! तुम क्या प्रार्थना करते हो? मैं तुम्हारा कौनसा अभिलषित विषय सिद्ध करूं, उसे कहो; तुम जो मांगोगे, वह सब सिद्ध होगा। देवीने जब ऐसे वचन कहे, तब वह धर्म जाननेवाला ब्राह्मण बोला, हे देवी! मेरी यह अभिलाषा जपमेंही सदा बढती रहे। हे शुभे! मेरे मनकी एकाग्रता भी दिन दिन वृद्धिको प्राप्त होवे। अनन्तर देवीने मधुर भावसे "वही होगा" ऐसा वचन कहा। (९-१३)

निरयं नैव याता त्वं यत्र याता द्विजर्षभाः ॥ १४ ॥
यास्यसि ब्रह्मणः स्थानमनिमित्तमनिन्दितम् ।
साधये भविता चैतद्यत्त्वयाऽहमिहार्थिता ॥ १५ ॥
नियतो जप चैकाग्रो धर्मस्त्वां समुपैष्यति ।
कालो मृत्युर्यमश्चैव समायास्यन्ति तेऽन्तिकम् ॥१६॥
भविता च विवादोऽत्र तव तेषां च धर्मतः ।

भीष्म उवाच— एवमुक्त्वा भगवती जगाम भवनं स्वकम् ॥ १७ ॥
ब्राह्मणोऽपि जपन्नास्ते दिव्यं वर्षशतं तथा ।
सदा दान्तो जितक्रोधः सत्यसंधोऽनसूयकः ॥ १८ ॥
समाप्ते नियमे तस्मिन्नथ विप्रस्य धीमतः ।
साक्षात्प्रीतस्तदा धर्मो दर्शयामास तं द्विजम्॥ १९ ॥

धर्म उवाच— द्विजाते पश्य मां धर्ममहं त्वां द्रष्टुमागतः ।
जप्यस्यास्य फलं यत्तत्संप्राप्तं तच मे शृणु ॥ २० ॥
जिता लोकास्त्वया सर्वे ये दिव्या ये च मानुषाः ।
देवानां निलयान्साधो सर्वानुत्क्रम्य यास्यसि ॥ २१ ॥

फिर देवीने उसकी प्रियकामनासे यह भी कहा, जिस स्थानमें मुख्यामुख्य ब्राह्मण लोग गमन किया करते हैं, तुम्हें उस क्षयशील स्वर्गमें न जाना पड़ेगा; तुम आवागमनसे रहित होकर ब्रह्मलोकमें गमन करोगे; अब मैं निज स्थानपर जाती हूं। तुमने मेरे समीप जो प्रार्थना की है वही होगी; तुम सावधान और एकाग्रचित्त होकर जप करो; धर्म स्वयं तुम्हारे निकट आवेगा और काल, मृत्यु तथा यम भी तुम्हारे समीप आगमन करेंगे। इसही स्थानमें उन लोगोंके साथ तुम्हारा धर्मविवाद होगा। भीष्म बोले, भगवती सावित्री ऐसा कहके अपने स्थानपर चली गई। (१४-१७)

इधर ब्राह्मण भी सदा दान्त, जित-क्रोध, सत्यप्रतिज्ञ और असूयारहित होकर जप करते हुए देव परिमाणसे एकसौ वर्ष बिताने लगा। अनन्तर उस बुद्धिमान् ब्राह्मणके जपका नियम समाप्त होनेपर उस समय धर्मने स्वयं प्रसन्न होकर उसे दर्शन दिया। धर्म बोले, हे द्विजवर! मेरी ओर देखो मैं धर्म हूं, तुम्हें देखनेको आया हूं, तुम जो जप करते हो, उसका फल इस समय मुझसे सुनो। हे साधु! जो सब दिव्य वा मनुष्य लोक हैं, तुमने उन सबको जय किया है; तुम देवताओंके सब

प्राणत्यागं कुरु मुने गच्छ लोकान्यथेप्सितान्।
त्यक्त्वाऽऽत्मनः शरीरं च ततो लोकानवाप्स्यसि ॥२२॥

ब्राह्मण उवाच— किं नु लोकैर्हि मे धर्म गच्छ त्वं च यथासुखम्।
बहुदुःखसुखं देहं नोत्सृजेयमहं विभो ॥ २३ ॥

धर्म उवाच— अवश्यं भोः शरीरं ते त्यक्तव्यं मुनिपुङ्गव।
स्वर्गमारोह भो विप्र किं वा वै रोचतेऽनघ ॥ २४ ॥

ब्राह्मण उवाच— न रोचये स्वर्गवासं विना देहमहं विभो।
गच्छ धर्म न मे श्रद्धा स्वर्गं गन्तुं विनाऽऽत्मना॥२५॥

धर्म उवाच— अलं देहे मनः कृत्वा त्यक्त्वा देहं सुखी भव।
गच्छ लोकानरजसो यत्र गत्वा न शोचसि ॥ २६ ॥

ब्राह्मण उवाच— रमे जपन् महाभाग किं नु लोकैः सनातनैः।
सशरीरेण गन्तव्यं मया स्वर्गं न वा विभो ॥ २७ ॥

धर्म उवाच— यदि त्वं नेच्छसे त्यक्तुं शरीरं पश्य वै द्विज।
एष कालस्तथा मृत्युर्यमश्च त्वामुपागताः ॥ २८ ॥

स्थानोंको अतिक्रम करके गमन करोगे। हे मुनिवर! इस समय तुम प्राण छोडके निज अभिलषित लोकमें गमन करो; तुम अपना शरीर त्यागनेपर सब परलोक प्राप्त करोगे। (१८-२२)

ब्राह्मण बोला, हे धर्म! मुझे परलोकप्राप्तिसे क्या प्रयोजन है, आप सुखसे गमन करिये, हे विभु! मैं बहुतसे सुखदुःखमिश्रित शरीरको परित्याग न करूंगा। धर्म बोले, हे मुनिपुङ्गव! तुम्हें अवश्य शरीर त्यागना योग्य है। हे पापरहित ब्राह्मण! तुम स्वर्गमें गमन करो, अथवा जो अभिलाषा हो वह कहो। ब्राह्मण बोला, हे धर्म! मैं विना शरीरके स्वर्गमें वास करनेकी इच्छा नहीं करता। हे विभो! मुझे शरीरके विना स्वर्गमें गमन करनेकी श्रद्धा नहीं है; आप निज स्थान पर जाइये। धर्म बोले तुम शरीरमें मन न लगाओ, शरीर त्यागके सुखी होजाओ; रजोगुणसे रहित लोकोंमें गमन करो; जहांपर जाके शोक रहित होगे। (२३-२६)

ब्राह्मण बोला, हे महाभाग! मैं जपसाधनमें अनुरक्त हूं, मुझे सनातन लोकसे क्या प्रयोजन है, हे विभो! मैं शरीरके सहित यदि स्वर्ग लोकमें जा सकूं, तो अच्छाही है; नहीं तो कुछ प्रयोजन नहीं है। धर्म बोले, हे द्विजवर! तुम यदि शरीर न त्यागोगे, तो देखो तुम्हारे समीप ये यम, मृत्यु और काल

भीष्म उवाच- अथ वैवस्वतः कालो मृत्युश्च त्रितयं विभो।
ब्राह्मणं तं महाभागमुपगम्येदमब्रुवन् ॥ २९ ॥
यम उवाच- तपसोऽस्य सुतप्तस्य तथा सुचरितस्य च।
फलप्राप्तिस्तव श्रेष्ठा यमोऽहं त्वामुपब्रुवे ॥ ३० ॥
काल उवाच- यथावदस्य जप्यस्य फलं प्राप्तमनुत्तमम्।
कालस्ते स्वर्गमारोढुं कालोऽहं त्वामुपागतः ॥ ३१ ॥
मृत्युरुवाच- मृत्युं मां विद्धि धर्मज्ञ रूपिणं स्वयमागतम्।
कालेन चोदितो विप्र त्वामितो नेतुमद्य वै ॥ ३२ ॥
ब्राह्मण उवाच- स्वागतं सूर्यपुत्राय कालाय च महात्मने।
मृत्यवे चाथ धर्माय किं कार्यं करवाणि वः ॥ ३३ ॥
भीष्म उवाच— अर्घ्यं पाद्यं च दत्त्वा स तेभ्यस्तत्र समागमे।
अब्रवीत्परमप्रीतः स्वशक्त्या किं करोमि वः ॥ ३४ ॥
तस्मिन्नेवाथ काले तु तीर्थयात्रामुपागतः।

उपस्थित हुए। भीष्म बोले, हे राजन्! अनन्तर सूर्य-नन्दन यम, काल और मृत्यु, ये तीनों उस महाभाग ब्राह्मणके समीप उपस्थित होके क्रमसे अपना अभिप्राय कहने लगे। यम बोले, हे ब्राह्मण! मैं यम हूं, स्वयं तुम्हारे समीप आके कहता हूं, कि तुम्हारे इस बहुत समयसे अनुष्ठित तपस्या और सुचरितके उत्तम फलप्राप्तिका समय हुआ है। (२७-३०)

काल बोला, मैं काल हूं, तुम्हारे समीप आया हूं, तुमने इस जपका उत्तम फल विधिपूर्वक प्राप्त किया है; इस समय तुम्हारा स्वर्गमें जानेका समय हुआ है। मृत्यु बोली, हे धर्मज्ञ! मैं मृत्यु मूर्त्तिमान् होकर स्वयं तुम्हारे निकट आई हूं। तुम मुझे मालूम करो। हे विप्र! आज तुम्हें इस स्थानसे लेजानेके वास्ते मैं कालसे प्रेरित हुई हूं। ब्राह्मण बोला, हे सूर्यपुत्र यम! महात्मन् काल,–हे मृत्यु!–हे धर्म! आप लोगोंने सुखसे आगमन किया है न? इस समय मैं आप लोगोंके किस कार्यका अनुष्ठान करूं। भीष्म बोले, अनन्तर वह ब्राह्मण आये हुए यम आदिको पाद्य अर्घ्य देकर उन लोगोंके वहांपर समागमसे प्रसन्न होकर बोला, मैं निज शक्तिके अनुसार आप लोगोंका कौनसा प्रिय कार्य सिद्ध करूं? (३१-३४)

हे राजन्! ब्राह्मण ऐसाही वचन कह रहा था, उसही समय जिस स्थानमें वे सब एकत्रित हुए थे, वहां तीर्थयात्रा-

इक्ष्वाकुरगमत्तत्र समेता यत्र ते विभो ॥ ३५ ॥
सर्वानेव तु राजर्षिः संपूज्याऽथ प्रणम्य च।
कुशलप्रश्नमकरोत्सर्वेषां राजसत्तमः ॥ ३६ ॥
तस्मै सोऽथासनं दत्त्वा पाद्यमर्घ्यं तथैव च।
अब्रवीद्ब्राह्मणो वाक्यं कृत्वा कुशलसंविदम् ॥ ३७ ॥
स्वागतं ते महाराज ब्रूहि यद्यदिहेच्छसि।
स्वशक्त्या किं करोमीह तद्भवान्प्रब्रवीतु माम्॥ ३८ ॥

राजोवाच- राजाऽहं ब्राह्मणश्च त्वं यदा षट्कर्मसंस्थितः।
दददानि वसु किंचित्ते प्रथितं तद्वदस्व मे ॥ ३९ ॥

ब्राह्मण उवाच- द्विविधा ब्राह्मणा राजन् धर्मश्च द्विविधः स्मृतः।
प्रवृत्ताश्च निवृत्ताश्च निवृत्तोऽहं प्रतिग्रहात् ॥ ४० ॥
तेभ्यः प्रयच्छ दानानि ये प्रवृत्ता नराधिप।
अहं न प्रतिगृह्णामि किमिष्टं किं ददामि ते।
ब्रूहि त्वं नृपतिश्रेष्ठ तपसा साधयामि किम् ॥ ४१ ॥

राजोवाच— क्षत्रियोऽहं न जानामि देहीति वचनं क्वचित्।
प्रयच्छ युद्धमित्येवंवादिनः स्मो द्विजोत्तम ॥ ४२ ॥

प्रसङ्गसे घूमते हुए सूर्यवंशीय राजा इक्ष्वाकु आके उपस्थित हुए। अनन्तर नृपसत्तम इक्ष्वाकुने उन लोगोंकी पूजा की और सबसेही कुशल प्रश्न किया। ब्राह्मण उस अभ्यागत राजाको पाद्य, अर्घ्य और आसन देकर कुशल पूंछके बोला, हे महाराज! आप सुखसे आये हैं न? इस स्थानमें जो इच्छा हो, उसे कहिये मैं निज शक्तिके अनुसार क्या करूं; आप उसकी आज्ञा करिये। (३५-३८)

राजा बोला, मैं क्षत्रिय हूं, आप षट्-कर्मशाली ब्राह्मण हैं, इसलिये आपको कुछ धन दान करूं, कहिये इस विषयमें आपका क्या अभिप्राय है? ब्राह्मण बोला, हे राजन्! प्रवृत्त और निवृत्त भेदसे ब्राह्मण दो प्रकारके हैं, धर्म भी दो प्रकारके हैं, इसमेंसे मैं प्रतिग्रहसे निवृत्त हूं। हे नरनाथ! जो प्रतिग्रहणमें प्रवृत्त हो, आप उन्हेंही धन दान करिये; मैं कुछ भी दान न लूंगा। हे राजन्! आप क्या इच्छा करते हैं, उसे कहिये। मैं तपस्यासे आपका कौनसा कार्य सिद्ध करूं? राजा बोला, हे द्विजवर! मैं क्षत्रिय हूं, 'देहि' यह वचन कभी नहीं कहता, 'युद्ध दान करो' ऐसाही वचन कहा करता हूं। (३९-४२)

ब्राह्मण उवाच- तुष्यासि त्वं स्वधर्मेण तथा तुष्टा वयं नृप।
अन्योऽन्यस्यान्तरं नास्ति यदिष्टं तत्समाचर ॥ ४३ ॥
राजोवाच- स्वशक्त्याहं ददानीति त्वया पूर्वमुदाहृतम्।
याचे त्वां दीयतां मह्यं जप्यस्यास्य फलं द्विज ॥ ४४ ॥
ब्राह्मण उवाच— युद्धं मम सदा वाणी याचतीति विकत्थसे।
न च युद्धं मया सार्धं किमर्थं याचसे पुनः ॥ ४५ ॥
राजोवाच- वाग्वज्रा ब्राह्मणाः प्रोक्ताः क्षत्रिया बाहुजीविनः।
वाग्युद्धं तदिदं तीव्रं मम विप्र त्वया सह ॥ ४६ ॥
ब्राह्मण उवाच- सैवाऽद्यापि प्रतिज्ञा मे स्वशक्त्या किं प्रदीयताम्।
ब्रूहि दास्यामि राजेन्द्र विभवे सति मा चिरम् ॥४७॥
राजोवाच- यत्तद्वर्षशतं पूर्णं जप्यं वै जपता त्वया।
फलं प्राप्तं तत्प्रयच्छ मम दित्सुर्भवान् यदि ॥ ४८ ॥
ब्राह्मण उवाच- परमं गृह्यतां तस्य फलं यज्जपितं मया।

ब्राह्मण बोला, हे नृपवर! हम लोग जैसे स्वधर्मसे सन्तुष्ट रहते हैं, आप भी उसी प्रकार निज धर्मसे परितुष्ट होंगे; इसलिये हम लोगोंमें परस्पर भेद नहीं है; इस समय आप इच्छानुसार आचरण करिये। राजा बोला, हे द्विजवर! पहले आपने "निज शक्तिके अनुसार दान करूंगा" ऐसा वचन कहा है; इसलिये मैं आपके समीप प्रार्थना करता हूं, कि आप मुझे इस जपका फल दान करिये। ब्राह्मण बोला, आपने इस प्रकार अपनी बडाई की थी, कि "मेरा मन सदा युद्धकी प्रार्थना किया करता है;" परन्तु तुम्हारे साथ मुझसे युद्धकी संभावना नहीं है, तब किस लिये प्रार्थना करते हो? राजा बोला, ब्राह्मणोंका वचन ही वज्रस्वरूप है और क्षत्रिय बाहुजीवी कहके वर्णित हुए हैं। हे विप्र! इसलिये आपके साथ मेरा यह कठोर वचनयुद्ध होरहा है। (४३-४६)

ब्राह्मण बोला, "मैं निज शक्तिके अनुसार क्या प्रदान करूं," -पहिले जो ऐसी प्रतिज्ञा की थी, इस समय भी वह प्रतिज्ञा है। हे राजेन्द्र! इससे मेरा जो कुछ विभव है, उसके अनुसार मैं क्या दान करूं? उसेही कहिये, विलम्ब न करिये। राजा बोला, आपने एक सौ वर्षतक जप करके जो फल पाया है, यदि मुझे दान करनेकी इच्छा करते हैं, तो उसेही दान करिये। ब्राह्मण बोला, हे महाराज! यह उत्तम वचन है, मैंने जपसे जो फल पाया

अर्धं त्वमविचारेण फलं तस्य ह्यवाप्नुहि ॥ ४९ ॥
अथ वा सर्वमेवेह मामकं जापकं फलम् ।
राजन्प्राप्नुहि कामं त्वं यदि सर्वमिहेच्छसि ॥ ५० ॥

राजोवाच- कृतं सर्वेण भद्रं ते जप्यं यद्याचितं मया ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि किं च तस्य फलं वद॥५१॥

ब्राह्मण उवाच- फलप्राप्तिं न जानामि दत्तं यज्जपितं मया ।
अयं धर्मश्च कालश्च यमो मृत्युश्च साक्षिणः ॥ ५२ ॥

राजोवाच— अज्ञातमस्य धर्मस्य फलं किं मे करिष्यति ।
फलं ब्रवीषि धर्मस्य न चेज्जप्यकृतस्य माम् ।
प्राप्नोतु तत्फलं विप्रो नाहमिच्छे ससंशयम् ॥ ५३ ॥

ब्राह्मण उवाच— नाददेऽपरवक्तव्यं दत्तं चास्य फलं मया ।
वाक्यं प्रमाणं राजर्षे ममाद्य तव चैव हि ॥ ५४ ॥
नाभिसन्धिर्मया जप्ये कृतपूर्वः कदाचन ।
जप्यस्य राजशार्दूल कथं वेत्स्याम्यहं फलम् ॥ ५५ ॥
ददस्वेति त्वया चोक्तं ददानीति मया तथा ।

है,आप विचार न करके उसे ग्रहण करिये; आप उसका आधा फल पावेंगे,यदि आप पूरे फलकी इच्छा करें,तो मेरे जपका सब फल पावेंगे। राजा बोला, मैंने जो आप के जपका सब फल मांगा है, उससे मुझे प्रयोजन नहीं है। आप सुखी रहिये, मैं जाता हूं;परन्तु आपके जपका फल क्या है; वही मुझसे कहिये। ब्राह्मण बोला, मैंने जो जप किया है और आपको दान किया है, उससे क्या फल प्राप्त हुआ है, वह मैं कुछ भी नहीं जानता। ये धर्म, काल, यम और मृत्यु, इस विषयके साक्षी हैं। राजा बोला, इस धर्मका फल अज्ञात रहनेसे मुझे क्या फल होगा। इस जपके फलको यदि आप मुझसे न कहें, तो इस फलको आपही पावें मैं संशयके सहित फललाभ करनेकी इच्छा नहीं करता। (४७-५३)

ब्राह्मण बोला, हे राजर्षि! दूसरेसे जो कहना होता है और मैंने जो फल दान किया है; उसे अब फिर ग्रहण नहीं करूंगा; इस समय तुम्हारा और मेरा वचनही इस विषयमें प्रमाण है। मैंने पहले जप विषयमें कभी कुछ अभिसन्धि नहीं की है, हे नृपश्रेष्ठ! इसलिये मैं जपका फल किस प्रकार जानूं? आपने 'दान करो' ऐसा वचन कहा, मैंने भी 'दान किया' यह वचन कहा

न वाचं दूषयिष्यामि सत्यं रक्ष स्थिरो भव ॥ ५६ ॥
अथैवं वदतो मेऽद्य वचनं न करिष्यसि।
महानधर्मो भविता तव राजन्मृषा कृतः ॥ ५७ ॥
न युक्तं तु मृषा वाणी त्वया वक्तुमरिन्दम।
तथा मयाऽप्यभिहितं मिथ्या कर्तुं न शक्यते॥ ५८ ॥
संश्रुतं च मया पूर्वं ददानीत्यविचारितम्।
तद्गृह्णीष्वाविचारेण यदि सत्ये स्थितो भवान् ॥ ५९ ॥
इहागम्य हि मां राजन् जाप्यं फलमयाचथाः।
तन्मे निसृष्टं गृह्णीष्व भव सत्ये स्थिरोऽपि च ॥ ६० ॥
नायं लोकोऽस्ति न परो न च पूर्वान् स तारयेत्।
कुत एव जनिष्यांस्तु मृषावादपरायणः ॥ ६१ ॥
न यज्ञफलदानानि नियमास्तारयन्ति हि।
यथा सत्यं परे लोके तथेह पुरुषर्षभ ॥ ६२ ॥
तपांसि यानि चीर्णानि चरिष्यन्ति च यत्तपः।
शतैः शतसहस्रैश्च तैः सत्यान्न विशिष्यते ॥ ६३ ॥

है। और इस समय अपना वचन दूषित नहीं कर सकूंगा; आप स्थिर होके सत्य की रक्षा करिये। हे राजन्! मैं इसी प्रकार कहता हूं, इससे यदि मेरा वचन न मानोगे, तो तुम्हें मिथ्या वचनके कारण महान् अधर्म होगा। हे शत्रुनाशन! जैसे आपको मिथ्या कहना उचित नहीं है, वैसेही मैंने भी जो कुछ कहा है, उसे भी मिथ्या करना योग्य नहीं है। (५४-५८)

मैंने पहिले अविचारित चित्तसे "दान किया" कहके अङ्गीकार किया है, इसलिये यदि आप सत्यपथमें स्थित हों, तो विचार न करके मेरे दिये हुए फलको ग्रहण करिये। हे राजन्! आपने इस स्थानमें आके मुझसे जपका फल मांगा, मैंने आपको उसे दान किया है, इससे आप ग्रहण करिये और सत्य पथमें स्थित होइये; मिथ्या वचन कहने वाले मनुष्योंको इस लोक तथा परलोकमें सुख नहीं मिलता; जब कि वह पूर्व पुरुषोंका ही उद्धार करनेमें समर्थ नहीं है, तब किस प्रकार उत्पन्न हुए सन्तानपरम्पराका कल्याण साधन करेगा? हे पुरुषश्रेष्ठ! जैसा इस लोक और परलोकमें सत्य लोगोंके निस्तारका कारण है; यज्ञफल, दान और सब नियम वैसे नहीं हैं। मनुष्यने सौ हजार वर्ष-

सत्यमेकाक्षरं ब्रह्म सत्यमेकाक्षरं तपः ।
सत्यमेकाक्षरो यज्ञः सत्यमेकाक्षरं श्रुतम् ॥ ६४ ॥
सत्यं वेदेषु जागर्ति फलं सत्ये परं स्मृतम् ।
सत्याद्धर्मो दमश्चैव सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ ६५ ॥
सत्यं वेदास्तथाङ्गानि सत्यं विद्यास्तथा विधिः ।
व्रतचर्या तथा सत्यमोङ्कारः सत्यमेव च ॥ ६६ ॥
प्राणिनां जननं सत्यं सत्यं सन्ततिरेव च ।
सत्येन वायुरभ्येति सत्येन तपते रविः ॥ ६७ ॥
सत्येन चाग्निर्दहति स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः ।
सत्यं यज्ञस्तपो वेदाः स्तोभा मन्त्राः सरस्वती ॥६८॥
तुलामारोपितो धर्मः सत्यं चैवेति नः श्रुतम् ।
समकक्षां तुलयतो यतः सत्यं ततोऽधिकम् ॥ ६९ ॥
यतो धर्मस्ततः सत्यं सर्वं सत्येन वर्धते ।
किमर्थमनृतं कर्म कर्तुं राजंस्त्वमिच्छसि ॥ ७० ॥
सत्ये कुरु स्थिरं भावं मा राजन्ननृतं कृथाः ।

तक जो तपस्या की है और करेगा उसका फल सत्यफलकी तरह उसे उत्तम फलभागी नहीं कर सकता। (५९-६३)

सत्य ही अविनाशी ब्रह्म, सत्य ही अक्षय तपस्या है; सत्य ही केवल सदा फल देनेवाला यज्ञ है, सत्य ही नित्य वेद-स्वरूप है, तीनों वेदोंमें सत्य ही प्रकाश-मान होरहा है। सत्यका फल सबसे श्रेष्ठ है, ऋषियोंने ऐसा ही कहा है, सत्यसे ही धर्म और इन्द्रियजयरूपी दमगुण प्राप्त होता है। सत्यसे ही सब प्रतिष्ठित हैं। सत्य ही वेद और वेदाङ्ग स्वरूप है। सत्य ही विद्या और विधि स्वरूप है, सत्य ही ब्रह्मचर्य और सत्य ही ओंकार स्वरूप है; प्राणियोंकी उत्पत्ति और विस्तृति सत्यस्वरूप है। सत्यके कारण वायु बहता है, सूर्य तपता है, अग्नि जलाती है, सत्यसे ही स्वर्ग प्रतिष्ठित है। सत्य ही यज्ञ, तपस्या, वेद, सामोच्चारण वर्ण, मन्त्र और सरस्वती स्वरूप है। (६४-६८)

सुना गया है, तुल्यता जाननेके वास्ते सत्य और धर्म तुलादण्डपर रखे गये थे, समान भावसे परिमाण करनेके समय जिधर सत्य था, उधर ही अधिक हुआ; जहांपर धर्म वहां ही सत्य है, हे महाराज! इससे आप किस निमित्त अपने वचनको मिथ्या करनेकी इच्छा

कस्मात्त्वमनृणं वाक्यं देहीति कुरुषेऽशुभम् ॥ ७१ ॥
यदि जप्यफलं दत्तं मया नेच्छसि वै नृप ।
धर्मेभ्यः संपरिभ्रष्टो लोकाननु चरिष्यसि ॥ ७२ ॥
संश्रुत्य यो न दित्सेत याचित्वा यश्च नेच्छति ।
उभावानृतिकावेतौ न मृषा कर्तुमर्हसि ॥ ७३ ॥

राजोवाच— योद्धव्यं रक्षितव्यं च क्षत्रधर्मः किल द्विज ।
दातारः क्षत्रियाः प्रोक्ता गृह्णीयां भवतः कथम् ॥७४॥

ब्राह्मण उवाच-- न च्छन्दयामि ते राजन्नापि ते गृहमाव्रजम् ।
इहाऽऽगम्य तु याचित्वा न गृह्णीषे पुनः कथम् ॥७५॥

धर्म उवाच-- अविवादोऽस्तु युवयोर्वित्तं मां धर्ममागतम् ।
द्विजो दानफलैर्युक्तो राजा सत्यफलेन च ॥ ७६ ॥

स्वर्ग उवाच- स्वर्गं मां विद्धि राजेन्द्र रूपिणं स्वयमागतम् ।
अविवादोऽस्तु युवयोरुभौ तुल्यफलौ युवाम् ॥ ७७ ॥

करते हैं। हे राजन्! अपना अन्तःकरण सत्यमें स्थिर कीजिये, मिथ्या आचरणमें अनुरक्त न होइये। आपने "देहि" कहके उसे अशुभ और मिथ्या क्यों कहा? हे महाराज! यदि आप मेरे दिये हुए जपके फलको ग्रहण करनेकी इच्छा न करेंगे, तो सब धर्मसे भ्रष्ट होकर निकृष्ट लोकोंमें विचरेंगे। जो अङ्गीकार करके देनेकी इच्छा नहीं करते और जो मांगके दान लेनेसे विमुख होते हैं; वे दोनों ही मिथ्याचारी होते हैं; इसलिये आप अपने वचनको मिथ्या नहीं कर सकते। (६९-७३)

राजा बोला; हे द्विजवर! युद्ध और प्रजापालन करना क्षत्रियोंका धर्म है, तथा क्षत्रिय लोग ही दाता कहके वर्णित हुए हैं; इसलिये मैं आपके समीपसे कैसे दान ले सकूंगा? ब्राह्मण बोला, हे राजन्! मैं तुम्हारे घरपर नहीं गया और 'ग्रहण करो, कहके बार बार आग्रहके सहित प्रार्थना भी नहीं की; आप ही मेरे समीप आके मांगकर अब क्यों ग्रहण करनेमें पराङ्मुख होरहे हैं? धर्म बोले, तुम दोनोंके विवादका निबटारा होवे, तुम दोनोंको विदित हो कि मैं धर्म इस स्थानमें आया हूं। ब्राह्मण दानफलसे और राजा सत्यफलसे संयुक्त होवें। (७४-७६)

स्वर्ग बोला, हे राजेन्द्र तुम्हें विदित हो कि मैं स्वर्ग स्वयं मूर्त्तिमान् होके आया हूं, तुम दोनोंका विवाद मिट जावे, तुम दोनों ही समानफलभागी

राजोवाच— कृतं स्वर्गेण मे कार्यं गच्छ स्वर्ग यथागतम् ।
विप्रो यदीच्छते गन्तुं चीर्णं गृह्णातु मे फलम् ॥ ७८ ॥
ब्राह्मण उवाच— बाल्ये यदि स्यादज्ञानान्मया हस्तः प्रसारितः ।
निवृत्तलक्षणं धर्ममुपासे संहितां जपन् ॥ ७९ ॥
निवृत्तं मां चिराद्राजन्विप्रलोभयसे कथम् ।
स्वेन कार्यं करिष्यामि त्वत्तो नेच्छे फलं नृप ॥ ८० ॥
तपःस्वाध्यायशीलोऽहं निवृत्तश्च प्रतिग्रहात् ।
राजोवाच— यदि विप्र विसृष्टं ते जप्यस्य फलमुत्तमम् ।
आवयोर्यत्फलं किंचित्सहितं नौ तदस्त्विह ॥ ८१ ॥
द्विजाः प्रतिग्रहे युक्ता दातारो राजवंशजाः ।
यदि धर्मः श्रुतो विप्र सहैव फलमस्तु नौ ॥ ८२ ॥
मा वा भूत्सह भोज्यं नौ मदीयं फलमाप्नुहि ।
प्रतीच्छ मत्कृतं धर्मं यदि ते मय्यनुग्रहः ॥ ८३ ॥
भीष्म उवाच— ततो विकृतवेषौ द्वौ पुरुषौ समुपस्थितौ ।

हुए हो । राजा बोला, स्वर्गके साथ मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है । हे स्वर्ग ! जहां तुम्हारी इच्छा हो, वहां जाओ ब्राह्मण यदि स्वर्गमें जानेकी इच्छा करे, तो मेरे आचरित पुण्यफलको ग्रहण करे । (७७-७८)

ब्राह्मण बोला, बालक अवस्थामें यदि अज्ञानके वशमें होकर मैंने ग्रहण करनेके वास्ते हाथ पसारा हो, तो नहीं कह सकता; परन्तु ज्ञान होनेपर आज तक मैं सावित्री संहिता जप करते हुए निवृत्तिलक्षण धर्मकी उपासना करता हूं । हे राजन् ! मैं बहुत समयसे प्रतिग्रहसे निवृत्त हूं, इसलिये मुझे आप क्यों लोभ दिखाते हैं । हे नृपवर ! मैं तपस्या और स्वाध्यायमें रत और प्रतिग्रहसे निवृत्त हूं; इसलिये स्वयं ही अपना कार्य करूंगा आपके निकट कुछ फल ग्रहण करनेका अभिलाषी नहीं हूं । राजा बोला, हे विप्रवर ! आपके परमश्रेष्ठ जपका फल यदि विसृष्ट हुआ हो, तब हम दोनोंका जो कुछ फल है, वह इस स्थानमें एकत्रित होवे । (७९-८१)

ब्राह्मण दान लेनेवाले और राजवंशमें उत्पन्न क्षत्रिय दाता कहके विख्यात हैं । हे विप्र ! वेदोक्त धर्म सत्य हो, तो हम दोनोंका फल एकत्रित होवे यद्यपि हम लोगोंका एकत्र भोजन न हो, तोभी आप मेरे फलको पावें । यदि मेरे ऊपर आपकी कृपा हुई हो, तो

गृहीत्वाऽन्योन्यमावेष्ट्य कुचैलावूचतुर्वचः ॥ ८४ ॥
न मे धारयसीत्येको धारयामीति चापरः ।
इहास्ति नौ विवादोऽयमयं राजाऽनुशासकः ॥ ८५ ॥
सत्यं ब्रवीम्यहमिदं न मे धारयते भवान् ।
अनृतं वदसीह त्वमृणं ते धारयाम्यहम् ॥ ८६ ॥
तावुभौ सुभृशं तप्तौ राजानमिदमूचतुः ।
परीक्ष्य त्वं यथा स्यावो नावामिह विगर्हितौ ॥ ८७ ॥
विरूप उवाच— धारयामि नरव्याघ्र विकृतस्येह गोः फलम् ।
ददतश्च न गृह्णाति विकृतो मे महीपते ॥ ८८ ॥
विकृत उवाच— न मे धारयते किंचिद्विरूपोऽयं नराधिप ।
मिथ्या ब्रवीत्ययं हि त्वां सत्याभासं नराधिप ॥ ८९ ॥
राजोवाच— विरूप किं धारयते भवानस्य ब्रवीतु मे ।
श्रुत्वा तथा करिष्येऽहमिति मे धीयते मनः ॥ ९० ॥

आप मेरे किये हुए धर्मका फल ग्रहण करिये । भीष्म बोले, अनन्तर मैले वस्त्र और बुरे रूपवाले दो पुरुष वहांपर उपस्थित हुए । उनमेंसे एकका नाम विरूप दूसरेका नाम विकृत था; वे दोनों एक दूसरेको घेरके पकडकर यह वचन कहने लगे। (८२—८४)

एक पुरुष बोला, "तुमने मुझसे ऋण नहीं लिया है," दूसरा बोला, "मैं अवश्यही तुम्हारे निकट ऋणी हूं," इस समय हम दोनोंमें यह विवाद होरहा है; इसलिये यह राजा इसका विचार करे। मैं सत्यही कहता हूं, "तुमने मुझसे ऋण नहीं लिया है," परन्तु तुम यह मिथ्या कहते हो, कि "मैं ऋणी हूं," वे दोनों ऐसेही वचनसे अत्यन्त दुःखित होके राजाके निकट जाके बोले कि, हे महाराज ! हम लोग इस विषयमें जिस भांतिसे निन्दित न होवें, आप उसही प्रकार परीक्षा करिये । (८५—८७)

विरूप बोला, हे नरश्रेष्ठ महाराज ! मैंने इस समय इस विकृतके गऊ दानका फल ऋण किया है; परन्तु मैं ऋण चुकानेमें प्रवृत्त हूं, तो भी विकृत उसे नहीं लेता है । विकृत बोला, हे नरनाथ ! इस विरूपने मुझसे कुछ भी ऋण नहीं लिया है, यह आपसे सत्यके समान भावसे मिथ्या कह रहा है। राजा बोला, हे विरूप ! तुमने इसके निकट क्या ऋण लिया है, वह मुझसे कहो, मैं सुनके उसका विचार करूंगा;

विरूप उवाच— शृणुष्वावहितो राजन् यथैतद्धारयाम्यहम्।
विकृतस्यास्य राजर्षे निखिलेन नराधिप ॥ ९१ ॥
अनेन धर्मप्राप्त्यर्थं शुभा दत्ता पुराऽनघ।
धेनुर्विप्राय राजर्षे तपःस्वाध्यायशीलिने ॥ ९२ ॥
तस्याश्चायं मया राजन् फलमभ्येत्य याचितः।
विकृतेन च मे दत्तं विशुद्धेनान्तरात्मना ॥ ९३ ॥
ततो मे सुकृतं कर्म कृतमात्मविशुद्धये।
गावौ च कपिले क्रीत्वा वत्सले बहुदोहने ॥ ९४ ॥
ते चोञ्छवृत्तये राजन्मया समुपवर्जिते।
यथाविधि यथाश्रद्धं तदस्याहं पुनः प्रभो ॥ ९५ ॥
इहाद्यैव गृहीत्वा तु प्रयच्छे द्विगुणं फलम्।
एवं स्यात्पुरुषव्याघ्र कः शुद्धः कोऽत्र दोषवान् ॥९६॥
एवं विवदमानौ स्वस्त्वामिहाऽभ्यागतौ नृप।
कुरु धर्ममधर्मं वा विनये नौ समादध ॥ ९७ ॥
यदि नेच्छति मे दानं यथा दत्तमनेन वै।

यही मेरे अन्तःकरणमें जंच रहा है। (८८—९०)

विरूप बोला, हे महाराज! मैं जिस प्रकार इस विकृतके निकट ऋणी हुआ हूं, वह सब वृत्तान्त आप सावधान होकर सुनिये। हे पापरहित राजऋषि! इन्होंने पहिले धर्मप्राप्तिके लिये तप और स्वाध्यायशील किसी ब्राह्मणको एक शुभलक्षणवाली गऊ दान की थी हे राजन्! मैंने इनके समीप आके उस गऊ दानका फल मांगा, इन्होंने भी शुद्ध चित्तसे मुझे वह फल दान किया था। हे राजन्! अनन्तर मैंने आत्मशुद्धिके निमित्त सुकृत कर्म किया और बहुतसा दूध देनेवाली बछडायुक्त दो कपिला गऊ खरीदके यथाविधि श्रद्धापूर्वक इस उञ्छवृत्तिको दोनों गऊ प्रदान की। हे पुरुषप्रवर! इस लोकमें लेकर जो उसही समय दूना फल देता है, वैसा दाता और प्रतिदाता इन दोनोंमेंसे इस समय कौन निर्दोषी और कौन दोषी होगा? हे महाराज! इसी प्रकार विवाद करते हुए हम दोनों आपके निकट आये हैं आप धर्म वा अधर्मसे विचार करके हम लोगोंको शिक्षा दीजिये। (९१-९७)

इन्होंने मुझे जिस प्रकार दान किया है, वैसेही यदि मेरे दानको यह स्वीकार

भवानत्र स्थिरो भूत्वा मार्गे स्थापयिताऽद्य नौ ॥९८॥

राजोवाच— दीयमानं न गृह्णासि ऋणं कस्मात्त्वमद्य वै।
यथैव तेऽभ्यनुज्ञातं तथा गृह्णीष्व मा चिरम् ॥ ९९ ॥

विकृत उवाच— धारयामीत्यनेनोक्तं ददानीति तथा मया।
नाऽयं मे धारयत्यद्य गच्छतां यत्र वाञ्छति ॥ १००॥

राजोवाच— ददतोऽस्य न गृह्णासि विषमं प्रतिभाति मे।
दण्ड्यो हि त्वं मम मतो नास्त्यत्र खलु संशयः॥१०१॥

विकृत उवाच— मयाऽस्य दत्तं राजर्षे गृह्णीयां तत्कथं पुनः।
काममत्रापराधो मे दण्डमाज्ञापय प्रभो ॥ १०२॥

विरूप उवाच— दीयमानं यदि मया नेषिष्यसि कथंचन।
नियंस्यति त्वां नृपतिरयं धर्मानुशासकः ॥ १०३ ॥

विकृत उवाच— स्वं मया याचितेनेह दत्तं कथमिहाद्य तत्।
गृह्णीयां गच्छतु भवानभ्यनुज्ञां ददानि ते ॥ १०४ ॥

ब्राह्मण उवाच— श्रुतमेतत्त्वया राजन्नयोः कथितं द्वयोः।

न करें, तो आप सावधान चित्तसे विचार करके हम लोगोंको सत्पथमें स्थापित करनेमें समर्थ होइये। राजा बोला, हे विकृत! तुम पहिले दिये हुए ऋणके लेनेमें क्यों विमुख होरहे हो? तुम्हारा जैसा ज्ञान हो, उसके अनुसार ग्रहण करनेमें देरी मत करो। विकृत बोला, यह कहते हैं, "मैं ऋणी हूं" परन्तु मैं कहता हूं, दान किया है। इससे यह पुरुष इस समय मेरे समीप ऋणी नहीं है, इसकी जहां इच्छा हो, वहां जावे। राजा बोला, यह पुरुष दे रहा है, तोभी तुम नहीं लेते हो, यह मुझे विषम बोध होता है; मेरे मतमें निःसन्देह तुम्हीं दण्डनीय हो। (९८-१०१)

विकृत बोला, हे राजऋषि! मैंने इसे जो दान किया है, उसे, फिर किस प्रकार ले सकता हूं? इसमें मेरा अपराध हो, तो अवश्यही आप दण्ड की आज्ञा करिये। विरूप बोला, हे विकृत! मेरे दिये हुए धनको ग्रहण करना यदि तुम अङ्गीकार न करोगे, तो धर्मके नियमके अनुसार यह शासनकर्त्ता राजा तुम्हें शासन करेगा। विकृत बोला, मैंने मांगने पर तुम्हें जो धन दान किया है, इस समय उसे किस प्रकार ग्रहण कर सकता हूं। जो हो, मैं तुम्हें आज्ञा करता हूं, तुम निज स्थान पर जाओ। (१०२-१०४)

प्रतिज्ञातं मया यत्ते तद्गृहाणाविचारितम् ॥ १०५ ॥

राजोवाच— प्रस्तुतं सुमहत्कार्यमनयोर्गह्वरं यथा ।
जापकस्य दृढीकारः कथमेतद्भविष्यति ॥ १०६ ॥
यदि तावन्न गृह्णामि ब्राह्मणेनापवर्जितम् ।
कथं न लिप्येयमहं पापेन महताऽद्य वै ॥ १०७ ॥
तौ चोवाच स राजर्षिः कृतकार्यौ गमिष्यथः ।
नेदानीं मामिहासाद्य राजधर्मो भवेन्मृषा ॥ १०८ ॥
स्वधर्मः परिपाल्यस्तु राज्ञामिति विनिश्चयः ।
विप्रधर्मश्च गहनो मामनात्मानमाविशत् ॥ १०९ ॥

ब्राह्मण उवाच— गृहाण धारयेऽहं च याचितं संश्रुतं मया ।
न चेद्ग्रहीष्यसे राजन् शापिष्ये त्वां न संशयः॥११०॥

राजोवाच— धिग्राजधर्मं यस्यायं कार्यस्येह विनिश्चयः ।
इत्यर्थं मे ग्रहीतव्यं कथं तुल्यं भवेदिति ॥ १११ ॥
एष पाणिरपूर्वं मे निक्षेपार्थं प्रसारितः ।

ब्राह्मण बोला, हे राजन् ! इन दोनोंने जो कहा, उसे तुमने सुना; इस समय मैंने आपको जो प्रदान करनेकी प्रतिज्ञा की है, आप विचार न करके उसे ग्रहण करिये । राजा बोला, इन लोगोंका कार्य जैसा गूढ है, यह महत् कार्य भी उसी भांति प्रस्तुत हुआ है। इस जापकके वचनकी दृढता किस प्रकार सिद्ध होगी; यदि ब्राह्मणकी दी हुई वस्तु ग्रहण न करूं तो अवश्य ही आज महापापमें लिप्त हूंगा। अनन्तर वह राजर्षि विरूप और विकृतसे बोले, तुम लोग कृतकार्य होके गमन करो; इस समय राजधर्म मेरे समीप रहके मिथ्या न होगा। यह निश्चय है, कि राजाओंको सब तरहसे अवश्य स्वधर्म पालन करना चाहिये, मैं अत्यन्त अनात्मज्ञ हूं, इस समय विप्रधर्म मुझमें उपस्थित हुआ है। (१०५—१०९)

ब्राह्मण बोला, हे राजन्! आपने जो मांगा है उसे ग्रहण कीजिये और मैंने भी जो अङ्गीकार किया है उसे धारण करूं। आप यदि जांचके ग्रहण न करेंगे, तो मैं निःसंदेह शाप दूंगा। राजा बोला, जिसके कार्यका ऐसा निश्चय है, उस राजधर्मको धिक्कार है। इस समय विप्रधर्म और राजधर्म दोनों किस प्रकार समान होंगे, इसेही जाननेके लिये मुझे ग्रहण करना उचित होता है। मेरा जो हाथ पहिले ग्रहण करनेके वास्ते नहीं

यन्मे धारयसे विप्र तदिदानीं प्रदीयताम् ॥ ११२ ॥

ब्राह्मण उवाच— संहितां जपता यावान् गुणः कश्चित्कृतो मया।
तत्सर्वं प्रतिगृह्णीष्व यदि किंचिदिहास्ति मे ॥ ११३ ॥

राजोवाच— जलमेतन्निपतितं मम पाणौ द्विजोत्तम।
सममस्तु सहैवास्तु प्रतिगृह्णातु वै भवान् ॥ ११४ ॥

विरूप उवाच— कामक्रोधौ विद्धि नौ त्वमाबाभ्यां कारितो भवान्।
सहेति च यदुक्तं ते समा लोकास्तवास्य च ॥ ११५ ॥
नायं धारयते किंचिज्जिज्ञासा त्वत्कृते कृता।
कालो धर्मस्तथा मृत्युः कामक्रोधौ तथा युवाम्॥११६॥
सर्वमन्योऽन्यनिष्कर्षे निघृष्टं पश्यतस्तव।
गच्छ लोकान् जितान् स्वेन कर्मणा यत्र वाञ्छसि ॥११७॥

भीष्म उवाच— जापकानां फलावाप्तिर्मया ते संप्रदर्शिता।
गतिः स्थानं च लोकाश्च जापकेन यथा जिताः॥११८॥
प्रयाति संहिताध्यायी ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्।

पसारा गया, इस समय वही हाथ दान लेनेके लिये पसारा जा रहा है। इससे, हे विप्र! आप मेरे निकट जो ऋणी है, इस समय उसे प्रदान करिये। (११०-११२)

ब्राह्मण बोला, मैंने सावित्री संहिता जप करते हुए जो कुछ फल उपार्जन किया है, वह सब आप ग्रहण करिये। राजा बोला, हे द्विजवर! मेरे करतलमें यह जल पड़ा हुआ है, यह दोनोंके सम्बन्धमें समान हो और एकत्र मिलित हो, आप प्रतिग्रह करिये। विरूप बोला, हम काम और क्रोध दोनों इस स्थानमें आये हैं, हमने ही आपके निकट विचारकी प्रार्थना की थी। आपने जो कहा है कि "समान होवे," उससे आपके और इसके सब पुण्यलोक तुल्य होंगे, आपकेही लिये यह कुछ ऋणी नहीं है, मैंने यह विषय पूछा था। काल, धर्म, मृत्यु; काम, क्रोध और आप दोनों पुरुष, सब तुम्हारे सन्मुखमें ही परीक्षित हुए। इस समय निज कर्मके जरिये विजित लोकोंके बीच जिस स्थान में जानेकी इच्छा हो, वहां जाइये। (११३—११७)

भीष्म बोले, जापकोंकी फलप्राप्ति और गम्य स्थान तुम्हारे समीप प्रदर्शित किया और जापकोंके जरिये जिस प्रकार सब लोक विजित होते हैं, वह भी कहा है जो जापक सावित्री संहिता अध्ययन

अथ वाऽग्निं समायाति सूर्यमाविशतेऽपि वा ॥ ११९ ॥
स तैजसेन भावेन यदि तत्र रमत्युत ।
गुणांस्तेषां समाधत्ते रागेण प्रतिमोहितः ॥ १२० ॥
एवं सोमे तथा वायौ भूम्याकाशशरीरगः ।
सरागस्तत्र वसति गुणांस्तेषां समाचरन् ॥ १२१ ॥
अथ तत्र विरागी स गच्छति त्वथ संशयम् ।
परमव्ययमिच्छन्स तमेवाविशते पुनः ॥ १२२ ॥
अमृताच्चामृतं प्राप्तः शान्तीभूतो निरात्मवान् ।
ब्रह्मभूतः स निर्द्वन्द्वः सुखी शान्तो निरामयः॥१२३॥
ब्रह्मस्थानमनावर्तमेकमक्षरसंज्ञकम् ।
अदुःखमजरं शान्तं स्थानं तत्प्रतिपद्यते ॥ १२४ ॥
चतुर्भिर्लक्षणैर्हीनं तथा षड्भिः सषोडशैः ।
पुरुषं तमतिक्रम्य आकाशं प्रतिपद्यते ॥ १२५ ॥
अथ नेच्छति रागात्मा सर्वं तदधितिष्ठति ।

करते हैं, वह परमपद पाके ब्रह्माके लोक अथवा अग्निलोकमें गमन किया करते हैं, वा सूर्य लोकमें प्रवेश करते हैं। यदि वे उन सूर्यादि लोकोंमें प्रकाशमय रूपमें अनुरक्त रहें, तो रागमोहित होकर सूर्य आदिकी तरह प्रकाश आदि गुण अवलम्बन करते हैं और चन्द्रलोक, वायुलोक, भूलोक और आकाशमें उसके अनुरूप शरीर धारण करके उन लोकोंमें जो जो गुण हैं, उसहीका आचरण करते हुए रागयुक्त होकर वहां निवास करते हैं। यदि वहां पर वे रागरहित होकर संशययुक्त हों, तो ब्रह्मलोकसे श्रेष्ठ अक्षय लोकको इच्छा करते हुए उसमेंही प्रविष्ट होते हैं। (११८—१२२)

निष्काम, अहङ्काररहित जापक लोग अमृतसे भी अमृत हैं, अर्थात् कैवल्य नाम मुख्य मोक्षस्थान प्राप्त करके सुख दुःख आदि द्वंद्वहीन नित्य सुखी, शान्त, निरामय ब्रह्मस्वरूप होकर पुनरावृत्तिसे रहित अद्वितीय अक्षरसंज्ञक दुःख और जराहीन शुद्ध शान्तिमय ब्रह्मलोकमें गमन करते हैं। अनन्तर वे वहांपर प्रत्यक्ष आदि चारोंप्रमाणोंसे रहित भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा, मृत्यु लक्षणसे रहित, प्राण आदि पञ्चवायु, दशों इन्द्रियों और मन, इन षोडश विकारोंसे मुक्त, उस कारणस्वरूप ब्रह्मको अतिक्रम करके उपाधिरहित

यच्च प्रार्थयते तच्च मनसा प्रतिपद्यते ॥ १२६ ॥
अथ वा चेक्षते लोकान्सर्वान्निरयसंज्ञितान् ।
निस्पृहः सर्वतो मुक्तस्तत्र वै रमते सुखम् ॥ १२७ ॥
एवमेषा महाराज जापकस्य गतिर्यथा ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमर्हसि ॥१२८॥ [७२४०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—किमुत्तरं तदा तौ स्म चक्रतुस्तस्य भाषिते ।
ब्राह्मणो वाऽथवा राजा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
अथ वा तौ गतौ तत्र यदेतत्कीर्तितं त्वया ।
संवादो वा तयोः कोऽभूत्किं वा तौ तत्र चक्रतुः॥ २ ॥
भीष्म उवाच— तथेत्येवं प्रतिश्रुत्य धर्मं संपूज्य च प्रभो ।
यमं कालं च मृत्युं च स्वर्गं संपूज्य चार्हतः ॥ ३ ॥
पूर्वं ये चापरे तत्र समेता ब्राह्मणर्षभाः ।
सर्वान्संपूज्य शिरसा राजानं सोऽब्रवीद् द्विजः॥ ४ ॥

चैतन्यमात्र परब्रह्मको पाते हैं, अथवा यदि वे सकाम होकर सर्वमय कारण-स्वरूप लाभकी इच्छा न करें, अर्थात् तदभिमानी हों तब वे मनही मन जो इच्छा करें, उसेही पावें। इसके अति-रिक्त वे निरयनाम सब लोकोंको देखते और सर्व शङ्कासे विमुक्त होकर वहां परम सुखके साथ विराजते हैं। हे महा-राज ! यह जपसे जापकोंकी गति विस्तारपूर्वक कही फिर किस विषयको सुननेकी इच्छा करते हो?(१२३-१२८)

शान्तिपर्वमें १९९ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २०० अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! उस समय उस विरूपका वचन सुनके जापक ब्राह्मण अथवा राजाने क्या उत्तर दिया? आप मुझसे वही कहिये, अथवा सद्यो-मुक्ति, क्रममुक्ति और लोकान्तरप्राप्ति इन तीनों विषयोंको जो आपने कहा है, उसके बीच वे लोग कहां गये; उन लोगोंकी वहां जानेपर क्या वार्त्ता हुई और उन्होंने वहां जाके क्या किया ? उसे वर्णन करिये। भीष्म बोले, हे महा-राज ! अनन्तर वह ब्राह्मण ऐसाही होवे, यह वचन कहके पहले धर्म, यम, काल, मृत्यु, और स्वर्गका पूर्णरीतिसे सत्कार किया, फिर वहांपर जो सब मुख्य ब्राह्मण उपस्थित हुए थे, शिर

फलेनानेन संयुक्तो राजर्षे गच्छ मुख्यताम् ।
भवता चाभ्यनुज्ञातो जपेयं भूय एव ह ॥ ५ ॥
वरश्च मम पूर्वं हि दत्तो देव्या महाबल ।
श्रद्धा ते जपतो नित्यं भवत्विति विशांपते ॥ ६ ॥
राजोवाच— यद्येवमफला सिद्धिः श्रद्धा च जपितुं तव ।
गच्छ विप्र मया सार्धं जापकं फलमाप्नुहि ॥ ७ ॥
ब्राह्मण उवाच—कृतः प्रयत्नः सुमहान्सर्वेषां सन्निधाविह ।
सह तुल्यफलावावां गच्छावो यत्र नौ गतिः ॥ ८ ॥
व्यवसायं तयोस्तत्र विदित्वा त्रिदशेश्वरः ।
सह देवैरुपययौ लोकपालैस्तथैव च ॥ ९ ॥
साध्याश्च विश्वे मरुतो वाद्यानि सुमहान्ति च ।
नद्यः शैलाः समुद्राश्च तीर्थानि विविधानि च ॥ १० ॥
तपांसि संयोगविधिर्वेदा स्तोमाः सरस्वती ।
नारदः पर्वतश्चैव विश्वावसुर्हहा हुहूः ॥ ११ ॥
गन्धर्वश्चित्रसेनश्च परिवारगणैर्युतः ।

झुकाकर उनकी पूजा करके राजासे बोला, हे राजर्षि ! आप इस फलसे संयुक्त होकर प्रधानता लाभ करिये, मैं भी आपकी सम्मतिके अनुसार फिर जप करनेमें नियुक्त होऊं। हे महाबली नरनाथ ! पहिले सावित्री देवीने मुझे यह वर दिया है, कि "जप विषयमें तुम्हारी सदा श्रद्धा रहे।" (१-६)

राजा बोला, हे विप्र ! मुझे जपका फल दान करनेसे यदि आपकी सिद्धि निष्फल हुई हो और जप करनेमें ही यदि आपकी श्रद्धा हो; तो मेरे सङ्ग चलिये, जपफल दान करनेके पुण्यसेही आप जपका फल पावेंगे। ब्राह्मण बोला, इस स्थानमें सबके समीप मैंने आपको जपका फल देनेके लिये अत्यन्त प्रयत्न किया; इस समय हम दोनों समान रीतिसे तुल्य फलभागी होकर जहां हमारी गति होगी वहां गमन करेंगे। अनन्तर त्रिदशेश्वर उनका ऐसा निश्चय जानके लोकपाल और देवताओंके सहित वहां उपस्थित हुए। (७-९)

साध्यगण, मरुद्गण, विश्वगण, सुमहत्, समस्त वाद्य, नदी, पर्वत, समुद्र और विविध तीर्थ, तपस्या, योग-विधि जीव ब्रह्मकी एकताप्रतिपादक सब वेद, सामगान पूरणार्थ (हायि हावु आदि) सब अक्षर, नारद, पर्वत विश्वाव-

नागाः सिद्धाश्च मुनयो देवदेवः प्रजापतिः ॥ १२ ॥
विष्णुः सहस्रशीर्षश्च देवोऽचिन्त्यः समागमत् ।
अवाद्यन्तान्तरिक्षे च भेर्यस्तूर्याणि वा विभो ॥ १३ ॥
पुष्पवर्षाणि दिव्यानि तत्र तेषां महात्मनाम् ।
ननृतुश्चाप्सरःसङ्घास्तत्र तत्र समन्ततः ॥ १४ ॥
अथ स्वर्गस्तथा रूपी ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत् ।
संसिद्धस्त्वं महाभागस्त्वं च सिद्धस्तथा नृप ॥ १५ ॥
अथ तौ सहितौ राजन्नन्योऽन्यविधिना ततः ।
विषयप्रतिसंहारमुभावेव प्रचक्रतुः ॥ १६ ॥
प्राणापानौ तथोदानं समानं व्यानमेव च ।
एवं तौ मनसि स्थाप्य दधतुः प्राणयोर्मनः ॥ १७ ॥
उपस्थितकृतौ तौ च नासिकाग्रमधो भ्रुवोः ।
भ्रुकुट्या चैव मनसा शनैर्धारयतस्तदा ॥ १८ ॥
निश्चेष्टाभ्यां शरीराभ्यां स्थिरदृष्टी समाहितौ ।
जितात्मानौ तथाऽऽधाय मूर्धन्यात्मानमेव च ॥ १९ ॥

सु, हाहा, हूहू और परिवारके सहित चित्रसेन गन्धर्व, नाग, सिद्ध, मुनि, देवदेव, प्रजापति और अचिन्त्य सहस्रशीर्ष विष्णु वहां उपस्थित हुए। आकाशमें भेरी और तूर्यवाद्य होने लगा। वहांपर उन महानुभावोंके ऊपर फूलोंकी वर्षा होने लगी, चारों ओर अप्सरा नृत्य करने लगीं। अनन्तर मूर्तिमान् स्वर्ग ब्राह्मणसे बोला, हे महाराज! आपने सब तरहसे सिद्धि लाभ की है,— महाराज! तुम भी सिद्ध हुए हो। हे राजन्! वे दोनोंही परस्परके उपकारके जरिये एक समयमेंही रूप आदि विषयोंसे नेत्र आदि इन्द्रियोंको प्रतिसंहार करनेमें प्रवृत्त हुए। (१०—१६)

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान, इन वायुओंको हृदयमें स्थापित करके एकीभूत प्राण और अपान वायुमें मनको धारण किया। अनन्तर उन्होंने प्राण और अपानको, उनके निवासस्थल उदरमें स्थापित करके पद्मासन होकर भृकुटीके नीचे नासिकाका अग्रभाग देखते हुए भृकुटीके बीच मनके सहित प्राण और अपान वायुको क्रमसे धारण किया, इसी प्रकार उन्होंने चित्तजय करके चेष्टारहित दोनों शरीरोंके जरिये स्थिरदृष्टि और समाहित होकर प्राणके सहित चित्तको मस्तकमें स्थापित करके

तालुदेशमथोद्दाल्य ब्राह्मणस्य महात्मनः।
ज्योतिर्ज्वाला सुमहती जगाम त्रिदिवं तदा ॥ २० ॥
हाहाकारस्तथा दिक्षु सर्वेषां सुमहानभूत्।
तज्ज्योतिः स्तूयमानं स्म ब्रह्माणं प्राविशत्तदा ॥२१॥
ततः स्वागतमित्याह तत्तेजः प्रपितामहः।
प्रादेशमात्रं पुरुषं प्रत्युद्गम्य विशां पते ॥ २२ ॥
भूयश्चैवापरं प्राह वचनं मधुरं तदा।
जापकैस्तुल्यफलता योगानां नात्र संशयः ॥ २३ ॥
योगस्य तावदेतेभ्यः प्रत्यक्षं फलदर्शनम्।
जापकानां विशिष्टं तु प्रत्युत्थानं समाहितम् ॥ २४ ॥
उष्यतां मयि चेत्युक्त्वाऽचेतयत्सततं पुनः।
अथास्यं प्रविवेशास्य ब्राह्मणो विगतज्वरः ॥ २५ ॥
राजाऽप्येतेन विधिना भगवन्तं पितामहम्।
यथैव द्विजशार्दूलस्तथैव प्राविशत्तदा ॥ २६ ॥
स्वयम्भुवमथो देवा अभिवाद्य ततोऽब्रुवन्।
जापकानां विशिष्टं तु प्रत्युत्थानं समाहितम् ॥ २७ ॥

धारण किया। अनन्तर उस महात्मा ब्राह्मणका ब्रह्मरन्ध्र विदीर्ण होके एक बहुत बडी ज्योतिशिखा निकलके स्वर्ग लोकमें गई। उस समय सब दिशाओंमें सब जीवोंके बीच महान् हाहाकार होने लगा। वह प्रशंसनीय ज्योति उस समय ब्रह्मशरीरमें प्रविष्ट हुई। (१७-२१)

हे महाराज! पितामह ब्रह्मा उस ज्योतिके प्रवेशके समय उठे और स्वागत प्रश्न करके मधुर वचनसे बोले, कि योगियोंका फल निःसन्देह जापक लोगोंके समान है। जापकोंसे योगियों-का फलदर्शन प्रत्यक्ष है; परन्तु जाप-कोंके पक्षमें यही विशेष है, कि उन्हें देखतेही उठना विहित हुआ है। अनन्तर ब्रह्मा उस ब्राह्मणसे बोले, "तुम मुझमें सदा वास करो" ऐसा कहके फिर उसे सचेतन किया। अनन्तर उस ब्राह्मणने आनन्दित होके ब्रह्माके मुखमें प्रवेश किया। जिस प्रकार ब्राह्मण ब्रह्माके शरीरमें प्रविष्ट हुआ, राजाने भी उसही विधिसे भगवान् पितामहके शरीरमें उसी समय प्रवेश किया। अनन्तर देवता लोग ब्रह्माको प्रणाम करके बोले, जापकोंको देखतेही उठके खडा होना विशेष रूपसे विहित है; जापकके लिये

जापकार्थमयं यत्नो यदर्थं वयमागताः ।
कृतपूजाविमौ तुल्यौ त्वया तुल्यफलाविमौ ॥ २८ ॥
योगजापकयोर्दृष्टं फलं सुमहदद्य वै ।
सर्वांल्लोकानतिक्रम्य गच्छेतां यत्र वाञ्छितम् ॥ २९ ॥
ब्रह्मोवाच— महास्मृतिं पठेद्यस्तु तथैवानुस्मृतिं शुभाम् ।
तावप्येतेन विधिना गच्छेतां मत्सलोकताम् ॥ ३० ॥
यश्च योगे भवेद्भक्तः सोऽपि नास्त्यत्र संशयः ।
विधिनाऽनेन देहान्ते मम लोकानवाप्नुयात् ।
साधये गम्यतां चैव यथा स्थानानि सिद्धये ॥ ३१ ॥
भीष्म उवाच— इत्युक्त्वा स तदा देवस्तत्रैवान्तरधीयत ।
आमन्त्र्य च ततो देवा ययुः स्वं स्वं निवेशनम् ॥ ३२ ॥
ते च सर्वे महात्मानो धर्मं सत्कृत्य तत्र वै ।
पृष्ठतोऽनुययू राजन्सर्वे सुप्रीतचेतसः ॥ ३३ ॥
एतत्फलं जापकानां गतिश्चैषा प्रकीर्तिता ।

ही सबका इस प्रकार प्रयत्न हुआ है और हम भी इसही कारण इस स्थानमें उपस्थित हुए हैं; यह ब्राह्मण और राजा समान फलभागी हैं, इसलिये आपने इन दोनों तुल्य पुरुषोंका समान सत्कार किया है। (२२-२८)

योगी और जापकका महत् फल आज देखा गया। इस समय ये लोग सब स्थानोंको अतिक्रम करके जहां इच्छा हो, वहां गमन करें। राजा बोला, जो शिक्षा आदि वेदाङ्गस्वरूप महास्मृति शास्त्र अध्ययन करते और जो मनु आदि प्रणीत शुभफल देनेवाली मनुस्मृति आदि पाठ किया करते हैं, वे भी इसी विधिके अनुसार हमारे समान लोकोंमें गमन कर सकते हैं। जो योग विषयमें अनुरक्त रहते हैं, वे भी शरीर त्यागने पर इस ही रीतिसे हमारे समान लोकोंको पाते है, इसमें सन्देह नहीं है। इस समय मैं जाता हूं। तुम लोग भी सिद्धिके अनुसार यथास्थानमें गमन करो। (२९-३१)

भीष्म बोले, हे राजन्! प्रजापति उस समय ऐसाही कहके उसही स्थानमें अन्तर्हित हुए। अनन्तर देवता लोग भी परस्पर आमन्त्रण करके निज निज स्थान पर गये। यम आदि महानुभावोंने अत्यन्त प्रसन्न होके धर्मका सत्कार करके उनके पीछे पीछे गमन किया। हे महाराज! जापकोंके फल और गतिका

यथाश्रुतं महाराज किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ३४ ॥[७२७४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने द्विशततमोऽध्यायः ॥ २०० ॥

युधिष्ठिर उवाच—किं फलं ज्ञानयोगस्य वेदानां नियमस्य च
भूतात्मा च कथं ज्ञेयस्तन्मे ब्रूहि पितामह॥ १ ॥

भीष्म उवाच- अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मनोः प्रजापतेर्वादं महर्षेश्च बृहस्पतेः ॥ २ ॥

प्रजापतिं श्रेष्ठतमं प्रजानां देवर्षिसङ्घप्रवरो महर्षिः ।
बृहस्पतिः प्रश्नमिमं पुराणं पप्रच्छ शिष्योऽथ गुरुं प्रणम्य ॥ ३ ॥
यत्कारणं यत्र विधिः प्रवृत्तो ज्ञाने फलं यत्प्रवदन्ति विप्राः ।
यन्मन्त्रशब्दैरकृतप्रकाशं तदुच्यतां मे भगवन्यथावत् ॥ ४ ॥
यचार्थशास्त्रागममन्त्रविद्भिर्यज्ञैरनेकैरथ गोप्रदानैः ।
फलं महद्भिर्यदुपास्यते च किं तत्कथं वा भविता क वा तत् ॥ ५ ॥
मही महीजाः पवनोऽन्तरिक्षं जलौकसश्चैव जलं दिवं च ।

विषय जैसा सुना है, वैसा ही तुम्हारे समीप वर्णन किया; फिर किस विषयको सुननेकी इच्छा करते हो ? (३२-३४)

शान्तिपर्वमें २०० अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें २०१ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! ज्ञान-युक्त योग, सब वेदों और अग्निहोत्र आदि नियमोंका क्या फल है ? और जीवको किस प्रकार जाने ? आप मुझसे वही कहिये । भीष्म बोले, प्राचीन लोग इस विषयमें प्रजापति मनु और महर्षि बृहस्पतिके संवादयुक्त इस पुराने इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं । देवर्षिओंमें मुख्य बृहस्पतिने शिष्य-भाव स्वीकार करके प्रजापतियोंमें श्रेष्ठ मनुको गुरु समझके उन्हें प्रणाम करके यह प्राचीन प्रश्न पूछा कि, हे भगवन् जो इस जगत्का कारण है, जिसके निमित्त कर्मकाण्डकी विधि प्रचालित हुई है, जिसे जाननेसे परमफलकी प्राप्ति होती है, ऐसा ब्राह्मण लोग कहा करते हैं; वेदोक्त मन्त्र जिसे प्रकाश नहीं कर सकते, आप विधिपूर्वक उसका वर्णन करिये । (१-४)

धर्म, अर्थ, काम यह त्रिवर्ग शास्त्र और वेद मन्त्रोंके जाननेवाले ब्राह्मण लोग अनेक प्रकारके महत् यज्ञ और गोदानके जरिये जिसकी उपासना किया करते हैं, वह वस्तु कैसी है ?

दिवौकसश्चापि यतः प्रसूतास्तदुच्यतां मे भगवन्पुराणम् ॥ ६ ॥
ज्ञानं यतः प्रार्थयते नरो वै ततस्तदर्था भवति प्रवृत्तिः ।
न चाप्यहं वेद परं पुराणं मिथ्याप्रवृत्तिं च कथं नु कुर्याम् ॥ ७ ॥
ऋक्सामसङ्घांश्च यजूंषि चापिच्छन्दांसि नक्षत्रगतिं निरुक्तम् ।
अधीत्य च व्याकरणं सकल्पं शिक्षां च भूतप्रकृतिं न वेद्मि ॥ ८ ॥
स मे भवान् शंसतु सर्वमेतत्सामान्यशब्दैश्च विशेषणैश्च ।
स मे भवान् शंसतु तावदेतज्ज्ञाने फलं कर्मणि वा यदस्ति ॥ ९ ॥
यथा च देहाच्च्यवते शरीरी पुनः शरीरं च यथाऽभ्युपैति ।
मनुरुवाच·यद्यत्प्रियं यस्य सुखं तदाहुस्तदेव दुःखं प्रवदन्त्यनिष्टम् ॥१०॥
इष्टं च मे स्यादितरच्च न स्यादेतत्कृते कर्मविधिः प्रवृत्तः ।
इष्टं त्वनिष्टं च न मां भजेतेत्येतत्कृते ज्ञानविधिः प्रवृत्तः ॥ ११ ॥
कामात्मकाश्छन्दसि कर्मयोगा एभिर्विमुक्तः परमश्नुवीत ।

किस प्रकार उसकी प्राप्ति होती है। और वह कहां है; हे भगवन्! महीमण्डल, स्थावर और जङ्गम, वायु, आकाश, जल, जलचर जीव, स्वर्ग और स्वर्गवासी लोग जिससे उत्पन्न हुए हैं, आप मेरे समीप उसही पुराण पुरुष का विषय वर्णन करिये। मनुष्य जिस विषयमें ज्ञानकी इच्छा करते हैं, ज्ञानसे उसे उसके निमित्त प्रवृत्ति हुआ करती है, मैं उस पुरातन पुरुषको नहीं जानता, तब उसे जाननेके लिये किस प्रकार मिथ्या प्रवृत्ति करनेमें प्रवृत्त होऊं। मैं ऋक्, साम और सम्पूर्ण यजुर्वेद, छन्द, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा, कल्प और व्याकरण, यह सब विद्या पढके भी आकाश आदिके उपादान कारण आत्मा को जानने में समर्थ न हुआ। (५—८)

आप सामान्य और विशेष शब्दोंसे उस विषयका उपदेश करिये। आत्माको जाननेसे क्या फल होता है। कर्म करनेसेही कौनसा फल मिलता है; आत्मा शरीरसे जिस प्रकार पृथक् होता है, और फिर जिस प्रकार शरीरमें स्थित होता है, आप यह सब वर्णन करिये। मनु बोले, प्राचीन लोग ऐसा कहा करते हैं, कि जो जिसे प्रिय है उसे उसहीसे सुख है, जिसे जो अप्रिय है, वही उसका दुःख है। "मेरी भलाई हो और कुछ बुराई न हो," इसही लिये मनुष्य कर्म करनेमें प्रवृत्त हुआ करते हैं; "मेरी भलाई बुराई कुछ न हो," इसही निमित्त लोग ज्ञानके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होते हैं। (९–११)

नानाविधे कर्मपथे सुखार्थी नरः प्रवृत्तो निरयं प्रयाति ।
बृहस्पतिरुवाच-इष्टं त्वनिष्टं च सुखासुखे च साऽऽशीस्त्वचच्छन्दति कर्मभिश्च १२
मनुरुवाच--एभिर्विमुक्तः परमाविवेश एतत्कृते कर्मविधिः प्रवृत्तः ।
कामात्मकांश्छन्दति कर्मयोग एभिर्विमुक्तः परमाददीत ॥ १३ ॥
आत्मादिभिः कर्मभिरिध्यमानो धर्मे प्रवृत्तो द्युतिमान्सुखार्थी ।
परं हि तत्कर्मपथादपेतं निराशिषं ब्रह्म परं ह्यवैति ॥ १४ ॥
प्रजाः सृष्टा मनसा कर्मणा च द्वावेवैतौ सत्पथौ लोकजुष्टौ ।
दृष्टं कर्म शाश्वतं चान्तवच्च मनस्त्यागः कारणं नान्यदस्ति॥ १५ ॥
स्वेनात्मना चक्षुरिव प्रणेता निशात्यये तमसा संवृतात्मा ।
ज्ञानं तु विज्ञानगुणेन युक्तं कर्माशुभं पश्यति वर्जनीयम् ॥ १६ ॥

वेदमें कहे हुए सब कर्म कामप्रधान कहके निर्दिष्ट हुए हैं, जो लोग उन सब कर्मोंसे मुक्त होते हैं, वे परम सुख भोग करते हैं । सुखकी इच्छा करनेवाले मनुष्य अनेक प्रकारके कर्मपथमें प्रवृत्त होके स्वर्ग अथवा नरकमें गमन किया करते हैं । बृहस्पति बोले, अभिलषित सुख ही ग्राह्य है, अनभिलषित दुःखही त्याज्य है,-ऐसीही इच्छा अभिलाषा करनेवालोंको सब कर्मोंसे प्रलोभित किया करती है । मनु बोले, स्वर्ग आदि प्राप्तिरूप सुखसे निमित्त अश्वमेध आदि यज्ञोंका अनुष्ठान हुआ करता है । जो लोग उन कर्मफलोंसे मुक्त हुए हैं, उन्होंनेही परम पुरुषमें प्रवेश किया है। सब कर्मकाण्ड सकाम मनुष्योंकोही प्रलोभन प्रदर्शित करते हैं, जो निष्काम होते हैं, वे परमार्थ ग्रहण करते हैं । (१२—१३)

इसलिये मनुष्य ब्रह्मज्ञानके ही वास्ते सब कर्मोंका अनुष्ठान करें, क्षुद्र फलोंके लिये कर्मानुष्ठान उत्तम नहीं है । धर्ममें प्रवृत्त मोक्षसुखकी इच्छा करनेवाले मनुष्य चित्तशुद्धि आदि कर्मोंसे राग आदि दोषोंके रहित होनेके कारण आइनेकी तरह प्रकाशमान होकर कर्म पथसे अत्यन्त अगोचर निष्काम परब्रह्मको पाते हैं । जीव मन और कर्मसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये मन और धर्म संसार-प्रद होनेपर भी सर्वलोकसेवित सत्पथ स्वरूप अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिके उपाय हुए हैं । वेदविहित कर्म मोक्षके कारण होने पर भी उनका फल बहुत कम है, मनसे क्रियमाण कर्मफलका त्यागही मोक्षके विषयमें कारण है, दूसरा कुछ भी नहीं है । (१४-१५)

जैसे नेत्र रूपी नायक रात्रिके बीतने पर अन्धकारसे रहित होकर त्यागने

सर्पान्कुशाग्राणि तथोदपानं ज्ञात्वा मनुष्याः परिवर्जयन्ति ।
अज्ञानतस्तत्र पतन्ति केचिज्ज्ञाने फलं पश्य यथा विशिष्टम् ॥१७॥
कृत्स्नस्तु मन्त्रो विधिवत्प्रयुक्तो यज्ञा यथोक्तास्त्विह दक्षिणाश्च ।
अन्नप्रदानं मनसः समाधिः पञ्चात्मकं कर्मफलं वदन्ति ॥ १८ ॥
गुणात्मकं कर्म वदन्ति वेदास्तस्मान्मन्त्रो मन्त्रपूर्वं हि कर्म ।
विधिर्विधेयं मनसोपपत्तिः फलस्य भोक्ता तु तथा शरीरी ॥ १९ ॥
शब्दाश्च रूपाणि रसाश्च पुण्याः स्पर्शाश्च गन्धाश्च शुभास्तथैव ।
नरो न संस्थानगतः प्रभुः स्यादेतत्फलं सिद्ध्यति कर्मलोके॥ २० ॥
यद्यच्छरीरेण करोति कर्म शरीरयुक्तः समुपाश्नुते तत् ।
शरीरमेवायतनं सुखस्य दुःखस्य चाप्यायतनं शरीरम् ॥ २१ ॥
वाचा तु यत्कर्म करोति किंचिद्वाचैव सर्वं समुपाश्नुते तत् ।
मनस्तु यत्कर्म करोति किंचिन्मनःस्थ एवायमुपाश्नुते तत् ॥ २२॥

योग्य कांटे आदिको स्वयं देखता है, वैसेही ज्ञान विवेक गुणसे संयुक्त होकर त्यागने योग्य अशुभ कर्मोंको देखता रहता है। जैसे कोई कोई मनुष्य सांप कुशाग्र और कूएंको जानके उन्हें परित्याग करते हैं, वैसेही कोई कोई अज्ञानके कारण उनके ऊपर गिरते हैं, इसलिये ज्ञानमें जो विशेष फल है, वह इस उदाहरणसे ही देखो। विधिपूर्वक प्रयोग किये गये मन्त्र, यथोक्त यज्ञ, दक्षिणादान, अन्नप्रदान और देवताके ध्यानमें मनकी एकाग्रता, ज्ञानपूर्वक किये गये इन पांचों विषयोंको प्राचीन लोग फलवत् कर्म कहा करते हैं। वेद सब कर्मोंको सात्विक, राजसिक और तामसिक कहा करता है, इससे मन्त्र भी त्रिगुणात्मक हैं; क्यों कि मन्त्रपूर्वक कर्मही सिद्ध होते हैं। सात्विक आदि भेदोंसे विधि भी तीन प्रकार की है; मनके जरिये फलकी उत्पत्ति हुआ करती है और फलभोक्ता देहधारी भी तीनों गुणोंके भेदसे सुखी, दुःखी और मूढ भेदसे तीन प्रकारका हुआ करता है। (१६-१९)

शब्द, स्पर्श, रूप, पवित्र रस और शुभगन्ध आदि कर्मफलोंसे प्राप्त होने योग्य स्वर्ग आदि लोक सिद्ध होते हैं। मनुष्य शरीर धारण करनेसे ही ज्ञान फलका अधिकारी नहीं होता; ज्ञानका फल, कर्मसे प्राप्य स्वर्ग आदि लोक ही सिद्ध हुआ करता है। शरीरसे जो कर्म करता है, शरीरयुक्त होकर जीव उस ही कर्मका फल भोग किया करता है; क्यों कि अकेला शरीर ही केवल सुखका

यथा यथा कर्मगुणं फलार्थी करोत्ययं कर्मफले निविष्टः ।
तथा तथाऽयं गुणसंप्रयुक्तः शुभाशुभं कर्मफलं भुनक्ति ॥ २३ ॥
मत्स्यो यथा स्रोत इवाभिपाती तथा कृतं पूर्वमुपैति कर्म ।
शुभे त्वसौ तुष्यति दुष्कृते तु न तुष्यते वै परमः शरीरी ॥२४॥
यतो जगत्सर्वमिदं प्रसूतं ज्ञात्वाऽऽत्मवन्तो व्यतियान्ति यत्तत् ।
यन्मन्त्रशब्दैरकृतप्रकाशं तदुच्यमानं शृणु मे परं यत् ॥ २५ ॥
रसैर्विमुक्तं विविधैश्च गन्धैरशब्दमस्पर्शमरूपवच्च ।
अग्राह्यमव्यक्तमवर्णमेकं पञ्च प्रकारान्ससृजे प्रजानाम् ॥ २६ ॥
न स्त्री पुमान्नापि नपुंसकं च न सन्न चासत्सदसच्च तन्न ।
पश्यन्ति यद्ब्रह्मविदो मनुष्यास्तदक्षरं न क्षरतीति विद्धि॥ २७ ॥[७३०१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०१ ॥

स्थान और शरीरही केवल दुःखका आश्रय है। वचनसे जो कुछ कर्म करता है, जीव वाक्यके सहित उन सब फलोंको भोग किया करता है; मनसे जो कुछ कर्म करता है। जीव मनके सहितही उन कर्मफलोंको भोग किया करता है। जीव कर्मफलमें रत और फलकी इच्छा करके जिस प्रकार जो जो गुणयुक्त कर्म करता है, उन्हीं गुणोंसे संयुक्त होकर उनही शुभाशुभ कर्मफलोंका भोग करता है। (२०-२३)

जलके सोतेमें पडी हुई मछलीकी तरह जीव पूर्वकृत कर्मोंको प्राप्त हुआ करता है; उसके बीच शुभ कर्मोंमें सन्तुष्ट और अशुभकर्मोंसे असन्तुष्ट होता है। जिससे यह सब जगत् उत्पन्न हुआ है, जिसे जानके चित्तको जीतनेवाले योगी लोग जगत्को अतिक्रम करके गमन करते हैं, मन्त्रवर्ण जिसे प्रकाश नहीं कर सकते, उस परम पदार्थका विषय कहता हूं, सुनो। जो स्वयं रसहीन, और विविध गन्धसे रहित है; जो शब्द, स्पर्श और रूप, इन तीनोंसे युक्त नहीं है; जो इन्द्रियोंसे अगोचर, अव्यक्त, वर्णहीन और एक मात्र है; जिसने प्रजासमूहके प्रयोजनके निमित्त पांच प्रकार रस आदिकी सृष्टि की है, वह न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसकही है, वह न सत् है, न असत् है और सदसत् भी नहीं है; ब्रह्मवित् मनुष्य जिसे ज्ञाननेत्रसे देखते हैं, उसे ही क्षयरहित अक्षय पुरुष जानो। (२४-२७)

शान्तिपर्वमें २०१ अध्याय समाप्त ।

मनुरुवाच— अक्षरात्खं ततो वायुस्ततो ज्योतिस्ततो जलम्।
जलात्प्रसूता जगती जगत्यां जायते जगत् ॥ १ ॥
एतैः शरीरैर्जलमेव गत्वा जलाच्च तेजः पवनोऽन्तरिक्षम्।
खाद्वै निवर्तन्ति न भाविनस्ते मोक्षं च ते वै परमाप्नुवन्ति ॥ २ ॥
नोष्णं न शीतं मृदु नापि तीक्ष्णं नाम्लं कषायं मधुरं न तिक्तम्।
न शब्दवन्नापि च गन्धवत्तन्न रूपवत्तत्परमस्वभावम् ॥ ३ ॥
स्पर्शं तनुर्वेद रसं च जिह्वा घ्राणं च गन्धाञ्छ्रवणौ च शब्दान्।
रूपाणि चक्षुर्न च तत्परं यद् गृह्णन्त्यनध्यात्मविदो मनुष्याः ॥ ४ ॥
निवर्तयित्वा रसनां रसेभ्यो घ्राणं च गन्धाच्छ्रवणौ च शब्दात्।
स्पर्शात्त्वचं रूपगुणात्तु चक्षुस्ततः परं पश्यति स्वं स्वभावम् ॥ ५ ॥
यतो गृहीत्वा हि करोति यच्च यस्मिंश्च तामारभते प्रवृत्तिम्।

शान्तिपर्वमें २०२ अध्याय।

मनु बोले, माया-सहाय अक्षर पुरुष-से आकाश उत्पन्न होता है, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी उत्पन्न होती है और पृथ्वीसे स्थावर-जङ्गमयुक्त समस्त जगत् उत्पन्न हुआ करता है। अन्तमें सब शरीरधारी स्थावरजङ्गमात्मक इन सम्पूर्ण पार्थिव शरीरोंके जरिये लवणकी भांति पहिले जलमें लीन होते, जलसे अग्नि, अग्निसे वायु और वायुसे आकाशमें जाके निर्वृति लाभ करते हैं। जो लोग मुमुक्षु, होते हैं, वे परम मोक्ष प्राप्त करते हैं, दूसरे लोग फिर आकाशसे लौट आते हैं। मोक्षका आश्रय परमात्मा न ठण्डा है, न गर्म है, न कोमल है, न कठोर है, न खट्टा है, न कषैला है; न मीठा है, न तीखा है, न वह शब्दयुक्त है, न गन्धविशिष्ट है और न वह परम स्वभाव परमात्मा रूपवान् है। अनात्मज्ञ मनुष्य सर्वशरीर-व्यापि त्वक्से स्पर्शज्ञान, जीभसे रस, नाकसे गन्ध, कानसे शब्दका ज्ञान करते और नेत्रसे रूप दर्शन किया करते हैं; परन्तु इस परम पुरुषको नहीं जान सकते। (१—४)

मनुष्य रसोंसे जिह्वा, गन्धसे नासिका, शब्दसे कान, स्पर्शसे त्वचा और रूपसे नेत्रको निवृत्त करनेपर स्व-भाव आत्माका दर्शन करनेमें समर्थ होता है। जो कर्त्ता जो ज्ञान वा कर्मसे जो प्राप्त होता है, उसहीके लिये जिस देश वा समयमें निमित्तभूत सुख वा दुःखमें उसके अनुकूल यत्न आरंभ करते और आरंभ करके अदृष्ट अथवा ईश्वरेच्छा अवलम्बन करके उस आरम्भ

यस्मिंश्च यथेन च यश्च कर्ता यत्कारणं ते समुदायमाहुः ॥ ६ ॥
यद्वाऽप्यभूद्व्यापकं साधकं च यन्मन्त्रवत्स्थास्यति चापि लोके ।
यः सर्वहेतुः परमात्मकारी तत्कारणं कार्यमतो यदन्यत् ॥ ७ ॥
यथा हि कश्चित्सुकृतैर्मनुष्यः शुभाशुभं प्राप्नुतेऽथाविरोधात् ।
एवं शरीरेषु शुभाशुभेषु स्वकर्मजैर्ज्ञानमिदं निबद्धम् ॥ ८ ॥
यथा प्रदीप्तः पुरतः प्रदीपः प्रकाशमन्यस्य करोति दीप्यन् ।
तथेह पञ्चेन्द्रियदीपवृक्षा ज्ञानप्रदीप्ताः परवन्त एव ॥ ९ ॥
यथा च राज्ञो बहवो ह्यमात्याः पृथक् प्रमाणं प्रवदन्ति युक्ताः ।
तद्वच्छरीरेषु भवन्ति पञ्च ज्ञानैकदेशाः परमः स तेभ्यः ॥ १० ॥
यथार्चिषोऽग्नेः पवनस्य वेगो मरीचयोऽर्कस्य नदीषु चापः ।

कार्यके दर्शन-गमन आदि कार्योंको सिद्ध किया करते हैं, मुनि लोग उन सबकोही कारण कहते हैं; इस लिये कर्ता, कर्म, करण, देश, काल, सुख दुःख, प्रवृत्ति, यत्न, गमन आदि क्रिया अनुराग और अदृष्ट आदि सबका जो कारण है, उस चिन्मात्रको स्वभाव कहा जाता है। (५—६)

जो ईश्वरस्वरूपसे सर्वव्यापी और जो जीवरूपसे व्याप्त तथा कार्यसाधक है, जो नित्य परमात्मा अकेला सब भूतोंमें निवास करता है। जलमें चन्द्रमाकी परछाईंके समान जो एक होकर भी अनेक दीखता है; इस मन्त्रार्थके समान जो सदा जगत्में निवास करता है, जो सबका कारण है; जो अद्वितीय होके भी आपही सब कार्य कर रहा है वही कारणपदवाच्य है; उसके अतिरिक्त सब पदार्थ ही कार्य हैं। जैसे मनुष्य पूर्ण रीतिसे किये हुए पुण्य पापके जरिये शुभाशुभ पदार्थका फल पाता है, वैसे ही यह स्वभाव नामक परम कारण ज्ञान निज पुण्य पापकर्मोंके कारण शरीरमें फंसा करता है। जैसे दीपक अग्रभागकी सब वस्तुओंको प्रकाश करता है, वैसे ही पञ्चेन्द्रिय स्वरूप दीपक ज्ञानसे जलकर बाहरी सब वस्तुओंको प्रकाशित किया करते हैं। (७—९)

जैसे राजाके पृथक् पृथक् बहुतसे अमात्य एकत्रित होकर कार्यनिर्णयके लिये प्रमाण निर्देश किया करते हैं, वैसे ही शरीरके बीच पांचों इन्द्रिय अलग अलग होने पर भी ज्ञानके अनुगत होतीं हैं; इसलिये ज्ञानस्वरूप इन्द्रियोंसे भी श्रेष्ठ है। जैसे अग्निकी अर्चि, पवनका वेग सूर्यकी किरण और नादियोंके जल आते जाते तथा चलते हैं,

गच्छन्ति चायान्ति च संचरन्त्यतस्तद्वच्छरीराणि शरीरिणां तु॥ ११॥
यथा च कश्चित्परशुं गृहीत्वा धूमं न पश्येज्ज्वलनं च काष्ठे।
तद्वच्छरीरोदरपाणिपादं छित्वा न पश्यन्ति ततो यदन्यत्॥ १२॥
तान्येव काष्ठानि यथा विमथ्य धूमं च पश्येज्ज्वलनं च योगात्।
तद्वत्सबुद्धिः सममिन्द्रियात्मा बुद्धिं परं पश्यति तं स्वभावम्॥१३॥
यथाऽऽत्मनोऽङ्गं पतितं पृथिव्यां स्वप्नान्तरे पश्यति चात्मनोऽन्यत्।
श्रोत्रादियुक्तः समनाः सबुद्धिर्लिङ्गात्तथा गच्छति लिङ्गमन्यत्॥१४॥
उत्पत्तिवृद्धिव्ययसंनिपातैर्न युज्यतेऽसौ परमः शरीरी।
अनेन लिङ्गेन तु लिङ्गमन्यद्गच्छत्यदृष्टः फलसंनियोगात् ॥ १५॥
न चक्षुषा पश्यति रूपमात्मनो न चापि संस्पर्शमुपैति किंचित्।
न चापि तैः साधयते तु कार्यं ते तं न पश्यन्ति स पश्यते तान्॥१६॥
यथा समीपे ज्वलतोऽनलस्य संतापजं रूपमुपैति कश्चित्।

शरीरधारियोंका शरीर भी उसही प्रकार है। जैसे कोई मनुष्य कुल्हाडा लेकर काठको काटनेसे उसमें धूंआ वा अग्नि कुछ भी नहीं देखता, वैसे ही शरीरसे उदर और हाथ पांव आदि काटनेसे उसके अतिरिक्त दूसरी कोई भी वस्तु दिखलाई नहीं देती। उन सब काठोंके मथनेसे जैसे धूंआं और अग्नि दृष्टिगोचर होते हैं, वैसे ही उत्तम बुद्धिवाले विद्वान् पुरुष योगसे इन्द्रिय और बुद्धिमें ऐक्यज्ञान करते हुए उस कारणस्वरूप स्वभावका दर्शन करते हैं। (१०-१३)

जैसे मनुष्य सपनेमें पृथ्वीपर पडे हुए निज अङ्गको अपनेसे पृथक् देखता है। वैसे ही कान आदि दशों इन्द्रियः इस पञ्चप्राणयुक्त अत्यन्त बुद्धिमान् मनुष्य स्थूल शरीरसे देहान्तररूपी लिङ्गशरीरमें गमन किया करता है। आत्माकी उत्पत्ति, वृद्धि, ह्रास और मृत्यु नहीं हैं; सुख दुःखप्रद कर्म सम्बन्धके कारण यह आत्मा अलक्षित होकर स्थूल शरीरसे लिङ्गशरीरमें गमन करता है। मनुष्य नेत्रसे आत्माका रूप नहीं देख सकते, किसी प्रकार उसे स्पर्श करनेमें समर्थ नहीं होते; नेत्र आदि इन्द्रियोंसे कोई कार्य सिद्ध नहीं कर सकते, इन्द्रियें भी उसे देखनेमें समर्थ नहीं हैं; परन्तु वह उनको देखता है। जैसे निकटवर्ती अयःपिण्ड जलती हुई अग्निके सन्तापजनित रूपको प्राप्त होता है, यथार्थमें वह जलाना और पिंगलत्व आदि दूसरे गुण तथा रूपको धारण नहीं करता, वैसेही शरीरमें आत्माका रूप चैतन्य मात्र दृष्टिगोचर

न चापरं रूपगुणं बिभर्ति तथैव तद् दृश्यति रूपमस्य ॥ १७ ॥
तथा मनुष्यः परिमुच्य कायमदृश्यमन्यद्विशते शरीरम् ।
विसृज्य भूतेषु महत्सु देहं तदाश्रयं चैव बिभर्ति रूपम् ॥ १८ ॥
खं वायुमग्निं सलिलं तथोर्वीं समन्ततोऽभ्याविशते शरीरी ।
नानाश्रयाः कर्मसु वर्तमानाः श्रोत्रादयः पञ्च गुणान् श्रयन्ते॥१९॥
श्रोत्रं खतो घ्राणमथो पृथिव्यास्तेजोमयं रूपमथो विपाकः ।
जलाश्रयं तेज उक्तं रसं च वाय्वात्मकः स्पर्शकृतो गुणश्च ॥ २० ॥
महत्सु भूतेषु वसन्ति पञ्च पञ्चेन्द्रियार्थाश्च तथेन्द्रियेषु ।
सर्वाणि चैतानि मनोऽनुगानि बुद्धिं मनोऽन्वेति मतिः स्वभावम्॥२१॥
शुभाशुभं कर्म कृतं यदन्यत्तदेव प्रत्याददते स्वदेहे ।

होता है; यथार्थमें देह चेतन नहीं है। तथापि जैसे लोहगत चतुष्कोन आदि अग्निमें मालूम होते हैं, वैसेही देहसे दुःख आदि आत्मामें मालूम हुआ करते हैं। (१४-१७)

जैसे मनुष्य शरीर छोडके दूसरे अदृश्य शरीरमें प्रवेश करता है, वैसे ही आत्मा पञ्च महाभूतोंका परित्याग करके देहान्तरके आश्रय अमूर्त्त रूपको धारण किया करती है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीमें सब तरहसे आत्मा स्थित है, कान आदि पञ्च इन्द्रिय अनेक गुणोंको अवलम्बन कर कर्मोंमें वर्त्तमान रहके शब्द आदि गुणोंका आश्रय किया करतीं हैं। श्रवणेन्द्रिय आकाशके शब्द गुणका आश्रय करती है, घ्राणेन्द्रिय पृथ्वीके गन्ध गुणको अवलम्बन करती है, दर्शनेन्द्रिय रूप ग्रहण करनेमें समर्थ होती है। जीभ जलाश्रय रसको अवलम्बन करती है स्पर्श इन्द्रिय वायुमय स्पर्श गुणका आश्रय किया करती है, अर्थात् कान आदि पांचों इन्द्रियें शब्द आदि वासनाके सहित कार्यमें रत होतीं हैं। पांचों इन्द्रियोंसे विज्ञेय शब्द आदि, पञ्च महाभूतों और पांचों इन्द्रियोंमें निवास किया करते हैं। आकाश आदि महाभूत और इन्द्रियां मनके अनुगत होतीं हैं, मन बुद्धिका अनुगामी हुआ करता है और बुद्धि स्वभावका अनुसरण करती है; इसलिये यह सिद्ध होता है, कि विषयोंका कारण इन्द्रिय, इन्द्रियोंका कारण मन, मनका कारण बुद्धि और बुद्धिका कारण चिदात्मा है। (१८-२१)

निज कर्मोंसे प्राप्त हुए नवीन शरीरमें ऐहिक और पूर्वजन्मके जो कुछ शुभाशुभ कर्म रहते हैं, इन्द्रियां उन्हें

मनोऽनुवर्तन्ति परावराणि जलौकसः स्रोत इवानुकूलम् ॥ २२ ॥
चलं यथा दृष्टिपथं परैति सूक्ष्मं महद्रूपमिवाभिभाति।
स्वरूपमालोचयते च रूपं परं तथा बुद्धिपथं परैति ॥ २३ ॥ [७३२४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०२ ॥

मनुरुवाच— यदिन्द्रियैस्तूपहितं पुरस्तात्प्राप्तान्गुणान्संस्मरते चिराय।
तेष्विन्द्रियेषूपहतेषु पश्चात्स बुद्धिरूपः परमः स्वभावः ॥ १ ॥
यथेन्द्रियार्थान्युगपत्समन्तान्नावेक्षते कृत्स्नमतुल्यकालम्।
तथा चलं संचरते स विद्वांस्तस्मात्स एकः परमः शरीरी ॥ २ ॥

भी फिर ग्रहण करती हैं। जैसे नौका अनुकूल स्रोतके अनुगत होती है, वैसे ही पूर्व संस्कारके कारण उत्तरोत्तर शरीरोंके क्रियमाण कर्म मनका अनुवर्त्तन किया करते हैं। जैसे भ्रान्तिज्ञानसे अस्थिर वस्तुतत्व मालूम होता है, सूक्ष्म पदार्थ मन भी वैसे ही महत्-रूपकी तरह प्रकाशित हुआ करता है। जैसे दर्पण मुखके प्रतिबिम्बको मुख-स्वरूपसे दर्शन कराता है, वैसे ही अज्ञानकल्पित बुद्धिरूपी आइना एक-मात्र प्रत्येक पदार्थकी आलोचना कराया करता है; इसलिये भ्रान्तिके अनादि होनेपर भी तत्वज्ञानके जरिये उसमें बाधा होती है; बाधा होनेसे फिर दूसरी बार उसके उठनेकी सम्भावना नहीं रहती; इससे भ्रान्तिज्ञान दूर करनेके निमित्त तत्वज्ञानके प्राप्त करनेमें अत्यन्त यत्न करना उचित है। (२२-२३)

शान्तिपर्वमें २०२ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २०३ अध्याय।

मनु बोले, मनके सहित इन्द्रियोंके जरिये उपहित जीव चैतन्य है, वह पहिले अनेक अनुभूत विषयोंको स्मरण करता है, अर्थात् बाल्यकालमें मैंने यह अनुभव किया था, इस प्रकारके मनो-रथके समय विषयेन्द्रियसन्निकर्ष आदिके अभाव निबन्धनसे ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञातृ वासनायुक्त बुद्धि ही सर्वात्मताको प्राप्त होकर साक्षी चैतन्यके जरिये प्रकाशित होती है। अन्तमें इन्द्रियां विलीन होनेपर ज्ञानस्वरूप परमात्माके रूपमें निवास करतीं हैं; इसलिये यह अङ्गीकार करना पडेगा, कि बुद्धिसे स्वतन्त्र चैतन्यस्वरूप आत्मा अवश्य है। जो साक्षी चैतन्य जब एक समय, अस मय और अनेक समयमें निकटवर्ती शब्द आदि इन्द्रिय विषयोंकी उपेक्षा न करके प्रकाश किया करता है, तब वह साक्षी परस्पर व्यभिचारी तीनों

रजस्तमः सत्त्वमथो तृतीयं गच्छत्यसौ स्थानगुणान्विरूपान् ।
तथेन्द्रियाण्याविशते शरीरी हुताशनं वायुरिवेन्धनस्थम् ॥ ३ ॥
न चक्षुषा पश्यति रूपमात्मनो न पश्यति स्पर्शनमिन्द्रियेन्द्रियम् ।
न श्रोत्रलिङ्गं श्रवणेन दर्शनं तथा कृतं पश्यति तद्विनश्यति ॥४॥
श्रोत्रादीनि न पश्यन्ति स्वं स्वमात्मानमात्मना ।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वज्ञस्तानि पश्यति ॥ ५ ॥
यथा हिमवतः पार्श्वं पृष्ठं चन्द्रमसो यथा ।
न दृष्टपूर्वं मनुजैर्न च तन्नास्ति तावता ॥ ६ ॥
तद्वद्भूतेषु भूतात्मा सूक्ष्मो ज्ञानात्मवानसौ ।
अदृष्टपूर्वश्चक्षुर्भ्यां न चासौ नास्ति तावता ॥ ७ ॥

अवस्थाओंमें भ्रमण करता है इससे एक मात्र चैतन्य जीव ही परम श्रेष्ठ है । (१-२)

काठमें स्थित अग्नि काठको जलाती है जैसे वायु उस काठका जलानेवाला न होकर भी केवल अग्निको उद्दीपन किया करता है, वैसेही इन्द्रियनिष्ठ बुद्धि ही इन्द्रियजनित सुख दुःख आदि भोग करती है; चैतन्य उस बुद्धिको सचेतन कर रखता है; परन्तु इन्द्रिय-जनित सुख दुःखोंको नहीं भोगता । इस ही दृष्टान्तके अनुसार सत्त्व, रज, तम गुणात्मक जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों बुद्धिस्थानोंके परस्पर विरुद्ध होनेपर भी साक्षी चैतन्य उनमें जिस प्रकार निवास करता है, वैसे ही इन्द्रिय आदि भी स्थित हुआ करती हैं । नेत्रसे आत्माको देखा नहीं जाता और इन्द्रि-योंके बीच जिसमें स्पर्शशक्ति है, उससे भी आत्माको स्पर्श नहीं किया जा सकता; आत्मा शब्दरहित है, इसलिये शब्दके जरिये भी वह नहीं जाना जाता; इससे जिस इन्द्रिय वा मनके जरिये आत्माको जाना जाता है, वह भी परिणाममें विनष्ट होती है । (३-४)

कान आदि इन्द्रियें जब आपही अपनेको नहीं देख सकतीं तब सर्वज्ञ, सर्वदर्शी आत्माको किस प्रकार देखेंगी। दृश्य और द्रष्टा, इस अभेद रूपसे जो सर्वज्ञ होकर सभी देख रहा है,और सब विषयोंको जानता है, वह आत्मा ही इन्द्रियोंको देखता है । आत्माके इन्द्रि-योंसे अगोचर होनेसे उसके अस्तित्व विषयमें संशय नहीं किया जासकता; क्यों कि हिमालय पर्वत और चन्द्रलो-कके पृष्ठभाग कभी मनुष्योंको नहीं दीखते, तो यह नहीं कहा जासकता, कि वे नहीं हैं; इसलिये सब भूतोंमें

पश्यन्नपि यथा लक्ष्म जगत्सोमे न विन्दति।
एवमस्ति न चोत्पन्नं न च तन्न परायणम् ॥ ८ ॥
रूपवन्तमरूपत्वादुदयास्तमने बुधाः।
धिया समनुपश्यन्ति तद्गताः सवितुर्गतिम् ॥ ९ ॥
तथा बुद्धिप्रदीपेन दूरस्थं सुविपश्चितः।
प्रत्यासन्नं निनीषन्ति ज्ञेयं ज्ञानाभिसंहितम् ॥ १० ॥
न हि खल्वनुपायेन कश्चिदर्थोऽभिसिद्ध्यति।
सूत्रजालैर्यथा मत्स्यान् बध्नन्ति जलजीविनः ॥ ११ ॥
मृगैर्मृगाणां ग्रहणं पक्षिणां पक्षिभिर्यथा।

चैतन्यरूपसे स्थित सूक्ष्म ज्ञानस्वरूप आत्मा पहिले कभी किसीको दृष्टिगोचर नहीं हुआ, तोभी ऐसा नहीं कह सकते, कि वह नहीं है। (५-७)

दर्पणसमान चन्द्रमण्डलमें जगत्‌की परछाईंको कलङ्क रूपसे देखकर जैसे मनुष्य यह अनुभव नहीं कर सकते, कि यह जगत्‌ही चन्द्र मण्डलमें दीख पडता है, वैसे ही आत्मज्ञान है, वह अस्मत्प्रत्ययके विषय और प्रत्यगात्म-रूपसे प्रसिद्ध होनेसे अपरोक्ष है; इस-लिये न वह अत्यन्त अविषय है, और न उत्पन्न ज्ञान है; इससे वह आत्म-ज्ञानही परम निवृत्तिका स्थान है, इसे जानके भी मनुष्य बुद्धिदोषसे उसे देखकर भी नहीं देखता। पण्डित लोग स्थूलदृष्टिसे रूपवान् वृक्षोंकी आदि अन्तमें अर्थात् उत्पत्तिके पहिले और विनाशके बाद रूपहीनतानिबन्धन बुद्धिबलसे रूपहीन रीतिसे देखते हैं; क्यों कि आदि और अन्तमें जो वस्तु नहीं रहती, वर्त्तमानमें भी वह वैसीही है; इससे जो लोग इस प्रकार देखते हैं; वे लोग दूरत्वदोषनिबन्धन प्रत्य-क्षके जरिये अगृह्यमाण सूर्यकी गतिको देशान्तरप्राप्तिरूपी कारणसे अनुमान-के सहारे अवलोकन करते हैं। इसी प्रकार दृश्यमान पदार्थोंका असत्व और अदृश्यमान वस्तुओंका अस्तित्व सिद्ध हुआ करता है। (८-९)

जैसे दूरदेशवर्ती सूर्यकी गतिका अनुमान किया जाता है, वैसेही अत्यन्त धीर लोग दूरस्थित, ज्ञानसे मालूम होने योग्य ज्ञेय आत्माको बुद्धिरूपी दीप-कके सहारे देखते हैं, और उसे निकट-वर्त्ती करनेमें प्रवृत्तिके वशमें हुआ करते हैं। विना उपाय किये कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, जैसे जलजन्तुजीवी मछुवाहे शणके सूतसे बने हुए जालके जरिये मछलियोंको बांधते हैं, सजातीय हरिनके

गजानां च गजैरेव ज्ञेयं ज्ञानेन गृह्यते ॥ १२ ॥
अहिरेव ह्यहेः पादान् पश्यतीति हि नः श्रुतम् ।
तद्वन्मूर्तिषु मूर्तिस्थं ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यति ॥ १३ ॥
नोत्सहन्ते यथा वेत्तुमिन्द्रियैरिन्द्रियाण्यपि ।
तथैवेह परा बुद्धिः परं बोध्यं न पश्यति ॥ १४ ॥
यथा चन्द्रो ह्यमावास्यामलिङ्गत्वान्न दृश्यते ।
न च नाशोऽस्य भवति तथा विद्धि शरीरिणम् ॥१५॥
क्षीणकोशो ह्यमावास्यां चन्द्रमा न प्रकाशते ।
तद्वन्मूर्तिविमुक्तोऽसौ शरीरी नोपलभ्यते ॥ १६ ॥
यथाकाशान्तरं प्राप्य चन्द्रमा भ्राजते पुनः ।
तद्वल्लिङ्गान्तरं प्राप्य शरीरी भ्राजते पुनः ॥ १७ ॥
जन्म वृद्धिः क्षयश्चास्य प्रत्यक्षेणोपलभ्यते ।
सा तु चान्द्रमसी वृत्तिर्न तु तस्य शरीरिणः ॥ १८ ॥

सहारे हरिनोंको, पक्षीसे पक्षियोंको और हाथीसे हाथी पकडे जाते हैं, वैसे ही ज्ञानसे ज्ञेय आत्माको जाना जासकता है । मैंने सुना है, कि सांपही सांपका पांव देखता है, वैसेही स्थूल देहके बीच लिङ्गशरीरमें रहनेवाले ज्ञेय आत्माको ज्ञानके सहारेही देखा जाता है । जैसे इन्द्रियोंके जरिये इन्द्रियोंको जाननेके लिये कोई भी उत्साह नहीं करता, वैसे ही चरम बुद्धिवृत्ति शुद्ध बोध्य आत्माका दर्शन करनेमें समर्थ नहीं होती । (१०-१४)

जैसे अमावस्यामें सूर्यके सहवासके कारण उपाधिरहित चन्द्रमण्डल नहीं दीखता, परन्तु दृष्टिगोचर न होनेसे जैसे चन्द्रमाके नाशकी सम्भावना नहीं है, शरीरधारी जीवको भी वैसाही जानो। जैसे अमावस्यामें क्षीणावरण चन्द्रमा प्रकाशित नहीं होता वैसेही वृत्तिविमुक्त जीवकी प्राप्ति नहीं होती । जैसे पूर्णमासीको फिर चन्द्रमाका प्रकाश होता है, वैसेही जीव शरीरान्तरमें जाके फिर प्रकाशमान हुआ करता है । चन्द्र-मण्डलकी तरह जन्म, वृद्धि और क्षय, जो कि प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं, वह शरीरकाही धर्म है, जीवका नहीं । उत्पत्ति, वृद्धि और अवस्थाके परिमाणके अनुसार शरीरका भेद होनेपर भी "वह पुरुष यही है," इसी प्रकार जैसे शरीरके ऐक्य विषयमें प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न होती है, वैसे ही अमावस्यामें अदृश्य चन्द्र-माही फिर मूर्त्तिमान् हुआ हुआ, "वही

उत्पत्तिवृद्धिवयसा यथा स इति गृह्यते।
चन्द्र एव त्वमावास्यां तथा भवति मूर्तिमान् ॥ १९ ॥
नोपसर्पद्विमुञ्चद्वा शशिनं दृश्यते तमः।
विसृजंश्चोपसर्पंश्च तद्वत्पश्य शरीरिणम् ॥ २० ॥
यथा चन्द्रार्कसंयुक्तं तमस्तदुपलभ्यते।
तद्वच्छरीरसंयुक्तः शरीरीत्युपलभ्यते ॥ २१ ॥
यथा चन्द्रार्कनिर्मुक्तः स राहुर्नोपलभ्यते।
तद्वच्छरीरनिर्मुक्तः शरीरी नोपलभ्यते ॥ २२ ॥
यथा चन्द्रो ह्यमावास्यां नक्षत्रैर्युज्यते गतः।
तद्वच्छरीरनिर्मुक्तः फलैर्युज्यति कर्मणः ॥ २३ ॥ [७३४७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०३ ॥

मनुरुवाच— यथा व्यक्तमिदं शेते स्वप्ने चरति चेतनम्।

चन्द्रमा प्रकाशित होरहा है'-ऐसा ही ज्ञान हुआ करता है; इसलिये बाल्य आदि अवस्थान्तरप्राप्तिनिबन्धनसे देहान्तर प्राप्त होनेपर भी शरीर चन्द्रमाकी भांति एक ही है। (१५—१९)

जैसे देखा जाता है, कि अन्धकार चन्द्रमण्डलको स्पर्श करने वा परित्याग करनेमें समर्थ नहीं होता, जीव भी वैसाही है; शरीर और जीवका परस्पर सम्बन्ध न मालूम होनेपर तीनों कालोंमें भी उसका सम्भव नहीं है। शरीरके साथ आत्माका सम्बन्ध रहनेसे ही वह प्रकाशित है। चन्द्रमा और सूर्यके सहित जैसे संयोगके कारण राहुको जाना जाता है, वैसे ही जड शरीरके साथ संयुक्त होनेसे चैतन्यसरूप आत्माको शरीर कहके मालूम किया जाता है। जैसे चन्द्रमा और सूर्यके सम्पर्कसे रहित होनेसे राहु मालूम नहीं होता, वैसेही शरीरसे रहित होनेपर जीवकी उपलब्धि नहीं की जासकती। जैसे चन्द्रमा अमावस्या तिथिमें गमन करनेसे नक्षत्रोंके सहित संयुक्त होता है, वैसेही शरीरसे छुटा हुआ जीव कर्मफल-भूत शरीरान्तरमें संयुक्त हुआ करता है; देहके अभावसे आत्माका अभाव नहीं होता, वह शरीरान्तर अवलम्बन किया करता है। (२०—२३)

शान्तिपर्वमें २०३ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २०४ अध्याय

मनु बोले, शरीरके सहित आत्माका सम्बन्ध अपरिहार्य है, इसे सुनकर

ज्ञानमिन्द्रियसंयुक्तं तद्वत्प्रेत्य भवाभवौ ॥ १ ॥
यथाम्भसि प्रसन्ने तु रूपं पश्यति चक्षुषा।
तद्वत्प्रसन्नेन्द्रियत्वाज्ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यति ॥ २ ॥
स एव लुलिते तस्मिन् यथा रूपं न पश्यति।
तथेन्द्रियाकुलीभावे ज्ञेयं ज्ञाने न पश्यति ॥ ३ ॥
अबुद्धिरज्ञानकृता अबुद्ध्याऽऽकृष्यते मनः।
दुष्टस्य मनसः पञ्च संप्रदुष्यन्ति मानसाः ॥ ४ ॥
अज्ञानतृप्तो विषयेष्ववगाढो न तृप्यते।
अदृष्टवच्च भूतात्मा विषयेभ्यो निवर्तते ॥ ५ ॥
तर्षच्छेदो न भवति पुरुषस्येह कल्मषात्।
निवर्तते तदा तर्षः पापमन्तगतं यदा ॥ ६ ॥

मुमुक्षु पुरुषोंके अन्तःकरणमें उद्वेगका सञ्चार हो सकता है; इसलिये उसके निवृत्तिसाधन योगका विषय कहता हूं सुनो। स्वप्नावस्थामें जैसे इन्द्रियोंके सहित इस स्थूल शरीरके निद्रित होनेपर चेतनमात्र विचरण किया करता है उस ही प्रकार सुषुप्तिकालमें इद्रिय संयुक्त करके ज्ञानमात्र निवास करता है, यही संसार और मोक्षका निदर्शन अर्थात् जैसे सुषुप्तिकालमें इन्द्रियोंके सहित लिङ्ग शरीरके निद्रित होनेपर भी केवल ज्ञान स्थिति करता है, मोक्ष अवस्थामें भी वैसे ही ज्ञानमात्र स्थिति किया करता है। जैसे निर्मल जलमें नेत्रके सहारे रूप दीखता है, वैसेही इन्द्रियोंके प्रसन्न होनेपर ज्ञेय आत्माको ज्ञानके सहारे देखा जाता है, अर्थात् इन्द्रियोंको जय करनेसे आत्मज्ञान उत्पन्न होनेपर मनुष्य उसहीके जरिये विमुक्त होसकता है। (१—२)

जलके चञ्चल होनेसे जैसे उसमें रूप दर्शन सम्भव नहीं होता, वैसेही इन्द्रियोंको बिना वशमें किये बुद्धिसे ज्ञेय आत्मा नहीं जानी जाती। अज्ञानसे अविद्या उत्पन्न होती है, अविद्यासे मन राग आदि विषयोंमें आक्रान्त होता है, मनके दूषित होनेपर मनःप्रधान कान आदि इन्द्रियें भी दूषित हुआ करतीं हैं; विषयोंमें अत्यन्त मग्न, मोहपूर्ण मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता, जीव अदृष्टके सहित शब्दादि विषयभोगके निमित्त मरके फिर जन्म लेता है। (३-५)

इस लोकमें पापके कारण पुरुषोंकी तृष्णा नष्ट नहीं होती, जब पाप नष्ट होता है, तभी तृष्णा निवृत्त हुआ करती है। विषयोंके

विषयेषु तु संसर्गाच्छाश्वतस्य तु संश्रयात् ।
मनसा चान्यथा काङ्क्षन्परं न प्रतिपद्यते ॥ ७ ॥
ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः ।
यथाऽऽदर्शतले प्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ ८ ॥
प्रसृतैरिन्द्रियैर्दुःखी तैरेव नियतैः सुखी ।
तस्मादिन्द्रियरूपेभ्यो यच्छेदात्मानमात्मना ॥ ९ ॥
इन्द्रियेभ्यो मनः पूर्वं बुद्धिः परतरा ततः ।
बुद्धेः परतरं ज्ञानं ज्ञानात्परतरं महत् ॥ १० ॥
अव्यक्तात्प्रसृतं ज्ञानं ततो बुद्धिस्ततो मनः ।
मनः श्रोत्रादिभिर्युक्तं शब्दादीन् साधु पश्यति ॥ ११ ॥
यस्तांस्त्यजति शब्दादीन् सर्वाश्च व्यक्तयस्तथा ।
विमुञ्चेत्प्राकृतान्ग्रामांस्तान्मुक्त्वाऽमृतमश्नुते ॥ १२ ॥
उद्यन्हि सविता यद्वत्सृजते रश्मिमण्डलम् ।

संसर्गसे नित्यत्वके संश्रयनिबन्धन मनके सहारे सुख दुःख साधन दोनों उपायोंकी विपरीतताके कारण मनुष्य परम पदार्थ नहीं प्राप्त कर सकता। पाप कर्मोंके नष्ट होनेसे मनुष्यको ज्ञान उत्पन्न होता है, तब मनुष्य निर्मल दर्पणतलकी भांति आत्मासे ही आत्माका दर्शन करता है; इन्द्रियोंके विषयोंमें अनुगत होनेसे मनुष्य उसहीके जरिये दुःखभागी होता है और निगृहीत इन्द्रियोंसे सुखी हुआ करता है; इसलिये इन्द्रियोंके विषयोंसे आपही अपनेको नियमित करे अर्थात् इन्द्रियोंको संयम करके आत्माको निगृहीत करना उचित है। (६-९)

इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि, बुद्धिसे जीव और जीवसे परमात्मा परमश्रेष्ठ है। शुद्ध चिन्मात्र अव्यक्तसे ज्ञान प्रकट होता है, ज्ञानसे बुद्धि और बुद्धिसे मन उत्पन्न हुआ करता है। वह मन श्रोत्रादि इन्द्रियोंके सहित संयुक्त होकर शब्द आदि विषयोंको भली भांति अनुभव करता है। जो लोग उन शब्दादि विषयों और हृदयाकाशमें भासमान शब्द आदिके आश्रयभूत आकाशादिको परित्याग करनेमें समर्थ होते हैं, और प्रकृतिसे समुत्थित ग्रामकी भांति अन्तःकरण पथिकके आश्रयस्थान स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरको परित्याग करते हैं, वे ही केवल सुख भोग कर सकते हैं। (१०-१२)

जैसे सूर्य उदय होनेके समय किर-

स एवास्तमपागच्छंस्तदेवात्मनि यच्छति ॥ १३ ॥
अन्तरात्मा तथा देहमाविश्येन्द्रियरश्मिभिः ।
प्राप्येन्द्रियगुणान्पञ्च सोऽस्तमावृत्य गच्छति ॥ १४ ॥
प्रणीतं कर्मणा मार्गं नीयमानः पुनः पुनः ।
प्राप्नोत्ययं कर्मफलं प्रवृत्तं धर्ममाप्तवान् ॥ १५ ॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ १६ ॥
बुद्धिः कर्मगुणैर्हीना यदा मनसि वर्तते ।
तदा संपद्यते ब्रह्म तत्रैव प्रलयं गतम् ॥ १७ ॥
अस्पर्शनमशृण्वानमनास्वादमदर्शनम् ।
अघ्राणमवितर्कं च सत्त्वं प्रविशते परम् ॥ १८ ॥
मनस्याकृतयो मग्ना मनस्त्वभिगतं मतिम् ।

णमाला उत्पन्न करता है और अस्त होनेके समय उन सब किरणोंको अपने में ही संहार करता है। वैसे ही अन्तरात्मा शरीरमें प्रकट होके इन्द्रियरूपी किरणोंके जरिये पञ्च इन्द्रियोंके भोग्य विषय रूप आदिको भोग करते हुए अस्तरूपी स्वरूपमें निवास किया करता है। जीव अपने किये हुए कर्मोंसे नीयमान होकर बार बार शरीर धारण किया करता है; प्रारब्ध कर्मोंके फलको भोगनेके लिये प्रवृत्तिप्रधान पुण्य और पापकर्मोंका फल प्राप्त होता है। विषयभोगसे रहित जीवका विषयाभिलाष विशेष रूपसे निवृत्त होता है, परन्तु उसकी वासनाका रस निवृत्त नहीं होता, जिन्होंने परमात्माका दर्शन करके समस्त कामनाका फल पाया है। उनकी ही वासना क्षय हुआ करती है। (१३-१६)

जब बुद्धि विषयासक्तिसे रहित होकर मनःप्रधान "त्वं" पदार्थमें अर्थात् "अस्मिता" मात्रमें निवास करती है, तब मन भी ब्रह्ममें लीन होकर ब्रह्मत्व लाभ किया करता है। जो स्पर्श इन्द्रियसे रहित होनेसे स्पर्शन क्रियाका आश्रय नहीं है, श्रवणेन्द्रियसे हीन होनेसे श्रवण आदि क्रियासे रहित है, नेत्रेन्द्रियसे रहित होनेसे दर्शन क्रियाका अनाश्रय है, घ्राणेन्द्रियसे रहित होनेसे आघ्राणका आश्रय नहीं है और जो अनुमानसे अगम्य है, उसही परमात्मामें बुद्धि प्रवेश किया करती है। मनके सङ्कल्पजनित घट पट आदि सब बाह्यवस्तु मनमें निमग्न होती हैं, मन बुद्धिमें

मतिस्त्वभिगता ज्ञानं ज्ञानं चाभिगतं परम् ॥ १९ ॥
इन्द्रियैर्मनसः सिद्धिर्न बुद्धिं बुध्यते मनः।
न बुद्धिर्बुद्ध्यते व्यक्तं सूक्ष्मं त्वेतानि पश्यति॥ २०॥ [७३६७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २०४॥

मनुरुवाच— दुःखोपघाते शारीरे मानसे चाप्युपस्थिते।
यस्मिन्न शक्यते कर्तुं यत्नस्तं नानुचिन्तयेत् ॥ १ ॥
भैषज्यमेतद्दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।
चिन्त्यमानं हि चाभ्येति भूयश्चापि प्रवर्तते ॥ २ ॥
प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः।
एतद्विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥ ३ ॥
अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसञ्चयः।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत्तत्र न पण्डितः ॥ ४ ॥
न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति।

लीन हुआ करता है, बुद्धि चैतन्यस्वरूप जीवमें लयको प्राप्त करती है और जीव परब्रह्ममें मिलित होजाता है। इन्द्रियोंके जरिये मनकी सिद्धिलाभ नहीं होती मन बुद्धिको नहीं जान सकता, बुद्धि व्यक्त जीवको जाननेमें समर्थ नहीं होती; परन्तु सूक्ष्मस्वरूप चिदात्मा इन सबकोही देखता है। (१७-२०)

शान्तिपर्वमें २०४ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २०५ अध्याय।

मनु बोले, शारीरिक वा मानसिक जिन दुःखरूपी विघ्नोंके उपस्थित होनेपर योगसाधनमें यत्न नहीं किया जा सकता, वैसी दुःखविषयक चिन्ता न करे अर्थात् चिन्ता न करके ही वैसे दुःखोंको त्यागना उचित है; ऐसे दुःखोंकी चिन्ता न करना ही उसके विनाशका महौषध है; दुःखकी चिन्ता करते रहनेसेही वह आके उपस्थित होता है और उपस्थित होनेपर बार बार बढता रहता है। बुद्धिसे मानसिक और औषधिसे शारीरिक दुःखोंका नाश करे; विज्ञानका सामर्थ्य यही है—कि दुःखशान्ति किया करता है; इसलिये इसे जानके कोई बालकके समान व्यवहार न करे। रूप, यौवन, जीवन, द्रव्यसञ्चय, आरोग्य और प्रियसहवास, ये सब ही अनित्य हैं; इससे पण्डित पुरुष उन विषयोंकी आकांक्षा न करें। सब जनपदवासी साधारण लोगोंको जो

अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम् ॥ ५ ॥
सुखाद्बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः ।
स्निग्धस्य चेन्द्रियार्थेषु मोहान्मरणमप्रियम् ॥ ६ ॥
परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः ।
अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न ते शोचन्ति पण्डिताः॥ ७ ॥
दुःखमर्था हि युज्यन्ते पालने न च ते सुखम् ।
दुःखेन चाधिगम्यन्ते नाशमेषां न चिन्तयेत् ॥ ८ ॥
ज्ञानं ज्ञेयाभिनिर्वृत्तं विद्धि ज्ञानगुणं मनः ।
प्रज्ञाकरणसंयुक्तं ततो बुद्धिः प्रवर्तते ॥ ९ ॥
यदा कर्मगुणोपेता बुद्धिर्मनसि वर्तते ।
तदा प्रज्ञायते ब्रह्म ध्यानयोगसमाधिना ॥ १० ॥
सेयं गुणवती बुद्धिर्गुणेष्वेवाभिवर्तते ।

दुःख हुआ करता है, उसके लिये इकबारगी शोक करना उचित नहीं है; यदि प्रतिकारका उपाय देखा जाय, तो दुःखके लिये शोक न करके उसके प्रतिकारमें प्रवृत्त होना उचित है । (१-५)

जीवित अवस्थामें सुखसे अधिक निःसन्देह दुःखही उपस्थित होता है । इन्द्रियोंके निमित्त सुख भोगमें अनुरक्त मनुष्योंको मोहके कारण मरना अप्रिय मालूम होता है । जो मनुष्य सुख दुःख दोनोंको त्यागता है, वह परब्रह्मके अत्यन्त निकटवर्त्ती होता है । जिन सब पण्डितोंने परब्रह्मकी समीपता लाभ की है, वे कभी शोक नहीं करते । सब अर्थ दुःखयोग कर देते हैं, अर्थपालनसे भी सुखसम्पत्ति नहीं होती, बहुत दुःखसे अर्थ प्राप्त हुआ करता है, तोभी मनुष्य अर्थनाशकी चिन्ता नहीं करता। ज्ञानस्वरूप परब्रह्म अहङ्कार आदि घटपट पर्यन्त बाह्य वस्तुके सहित अभेदरूपसे अविद्याके सहारे अभिहित होता है; इस लिये कनकका धर्म कटककी भांति है, मनको ज्ञानका धर्म जानना चाहिये वह मन जब ज्ञानेन्द्रियके सहित संयुक्त होता है, तब विषयाकार बुद्धि वृत्तिरूपसे प्रकाशित हुआ करती है, जबतक बुद्धि कर्मके निमित्त संसारके सहित सम्मिलित होकर जननात्मक चित्तवृत्तिमें निवास करती है, तबतक ध्येयाकारप्रत्यय सन्तति युक्त समाधिके सहारे परब्रह्मको जाननेमें समर्थ होती है । (६-१०)

पहाडके शिखरसे जल निकलनेकी

अपराद्भिर्निःसृत्य गिरेः शृङ्गादिवोदकम् ॥ ११ ॥
यदा निर्गुणमाप्नोति ध्यानं मनसि पूर्वजम् ।
तदा प्रज्ञायते ब्रह्म निकषं निकषे यथा ॥ १२ ॥
मनस्त्वपहृतं पूर्वमिन्द्रियार्थनिदर्शकम् ।
न समक्षगुणापेक्षि निर्गुणस्य निदर्शकम् ॥ १३ ॥
सर्वाण्येतानि संवार्य द्वाराणि मनसि स्थितः ।
मनस्येकाग्रतां कृत्वा तत्परं प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥
यथा महान्ति भूतानि निवर्तन्ते गुणक्षये ।
तथेन्द्रियाण्युपादाय बुद्धिर्मनसि वर्तते ॥ १५ ॥
यदा मनसि सा बुद्धिर्वर्ततेऽन्तरचारिणी ।
व्यवसायगुणोपेता तदा संपद्यते मनः ॥ १६ ॥
गुणवद्भिर्गुणोपेतं यदा ध्यानगुणं मनः ।
तदा सर्वान् गुणान् हित्वा निर्गुणं प्रतिपद्यते ॥ १७ ॥

तरह ये इन्द्रियादियुक्त बुद्धि अज्ञानसे प्रकट होके रूप आदि विषयोंमें वर्त्तमान रहती हैं; और अज्ञान नाश होनेके समय अज्ञानके कारण ध्यानसे निर्गुण परमात्माके निकटवर्त्ती होती है, उस समय कसौटी स्थित सुवर्णकी रेखाके समान बुद्धि ब्रह्मको विशेषरूपसे जान सकती है। मन इन्द्रियोंके विषय रूप आदिका प्रदर्शक होकर पहले अखण्ड प्रकाशके जरिये तिरोभूत होता है, अन्तमें इन्द्रियोंके विषयोंकी अपेक्षा न करके रूप आदिसे रहित, निर्गुण ईश्वरका प्रदर्शक हुआ करता है। जीव सब इन्द्रियद्वारोंको विधानपूर्वक सङ्कल्पमात्र मनमें निवास करता है, फिर सङ्कल्पकोभी बुद्धिमें लीन करके एकाग्रताके सहारे परब्रह्मको पाता है। जैसे अपञ्चीकृतभूतसंज्ञक शब्दतन्मात्र आदिके सुषुप्ति कालमें क्षय होनेपर पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत विनष्ट होते हैं वैसे ही अहंकारमें फंसी हुई बुद्धि निज कार्य इन्द्रियोंको ग्रहण करके मनमें लय होती है, वह अहंकारचारिणी बुद्धि निश्चयात्मिका होकर जब मनमें निवास करती है, तब वह लवणोदक वा मधुर जलकी भांति अथवा रूपान्तर प्राप्त कुण्डलके स्वर्णत्व सदृश मनही हुआ करता है। (११-१६)

ध्यानके जरिये सर्व उत्कर्षशाली अहंकारात्मक मन जब रूप आदि विशिष्ट विषयोंके सहित सत्त्वादिगुण युक्त होता है, तब सर्व-गुणात्मक अव्यक्तको

अव्यक्तस्येह विज्ञाने नास्ति तुल्यं निदर्शनम् ।
यत्र नास्ति पदन्यासः कस्तं विषयमाप्नुयात् ॥ १८ ॥
तपसा चानुमानेन गुणैर्जात्या श्रुतेन च ।
निनीषेत्परमं ब्रह्म विशुद्धेनान्तरात्मना ॥ १९ ॥
गुणहीनो हि तं मार्गं बहिः समनुवर्तते ।
गुणाभावात्प्रकृत्या वा निस्तर्क्यं ज्ञेयसंमितम् ॥२०॥
नैर्गुण्याद्ब्रह्म चाप्नोति सगुणत्वान्निवर्तते ।
गुणप्रचारिणी बुद्धिर्हुताशन इवेन्धने ॥ २१ ॥
यथा पञ्च विमुक्तानि इन्द्रियाणि स्वकर्मभिः ।
तथा हि परमं ब्रह्म विमुक्तं प्रकृतेः परम् ॥ २२ ॥
एवं प्रकृतितः सर्वे प्रवर्तन्ते शरीरिणः ।
निवर्तन्ते निवृत्तौ च स्वर्गं चैवोपयान्ति च ॥ २३ ॥
पुरुषः प्रकृतिर्बुद्धिर्विषयाश्चेन्द्रियाणि च ।
अहंकारोऽभिमानश्च समूहो भूतसंज्ञकः ॥ २४ ॥

अवलम्बन करके निर्गुण परब्रह्मको प्राप्त हुआ करता है । अव्यक्त न सत् है, न असत् है; इसलिये उसके विज्ञान विषयमें प्रकृत प्रमाण नहीं है । जिसे वचन से भी नहीं कहा जा सकता । कौन पुरुष वैसे विषयको प्राप्त करनेमें समर्थ होगा । इससे आलोचनासे ध्यानजनित साक्षात्कार, मनन नामक बुद्धिका अनुसन्धान, शम, दम आदि गुणागुण, जातिके अनुसार स्वधर्म प्रतिपालन और वेदान्त वाक्य सुननेसे शुद्ध अन्तःकरणके जरिये परब्रह्मको जाननेकी इच्छा करे । परमात्मा गुणरहित है, इसलिये उसके प्राप्तिके उपायको भी बाहरमें गुणहीन भावसे अनुसरण करे; वह स्वाभाविक निर्गुण है, इससे वह तर्कके जरिये नहीं जाना जाता । काष्ठमें स्थित अग्निकी भांति विषयोंमें गमन करनेवाली बुद्धिके विषयहीन होनेपर परब्रह्मकी प्राप्ति होती है, विषययुक्त होनेसे ब्रह्मके सन्निधानसे निवृत्ति लाभ किया करती है । जैसे सुषुप्ति कालमें इन्द्रियां निज निज कर्मोंसे रहित हुआ करती हैं, वैसे ही परमात्मा प्रकृतिसे अत्यन्त विमुक्त होरहा है । (१७-२२)

इसी प्रकार प्रकृतिसे चिदाभास संज्ञक सब जीव कर्मफलके अनुसार उत्पन्न और विनष्ट होते हैं, कालक्रमसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर वे स्वर्गमें गमन करते हैं । जीव, प्रकृति, बुद्धि,

एतस्याद्या प्रवृत्तिस्तु प्रधानात्संप्रवर्तते ।
द्वितीया मिथुनव्यक्तिमविशेषान्नियच्छति ॥ २५ ॥
धर्मादुत्कृष्यते श्रेयस्तथाऽश्रेयोऽप्यधर्मतः ।
रागवान्प्रकृतिं ह्येति विरक्तो ज्ञानवान् भवेत् ॥२६॥ [७३९३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि
मनुबृहस्पतिसंवादे पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०५ ॥

मनुरुवाच— यदा तैः पञ्चभिः पञ्च युक्तानि मनसा सह ।
अथ तद्द्रक्ष्यते ब्रह्म मणौ सूत्रमिवार्पितम् ॥ १ ॥
तदेव च यथा सूत्रं सुवर्णे वर्तते पुनः ।
मुक्तास्वथ प्रवालेषु मृन्मये राजते तथा ॥ २ ॥
तद्वद्गोऽश्वमनुष्येषु तद्वद्धस्तिमृगादिषु ।
तद्वत्कीटपतङ्गेषु प्रसक्तात्मा स्वकर्मभिः ॥ ३ ॥
येन येन शरीरेण यद्यत्कर्म करोत्ययम् ।
तेन तेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥ ४ ॥

सब विषय, इन्द्रियां, अहङ्कार और अभिमान, इन सबका अवश्य विनाश होता है, इसीसे इनकी भूत संज्ञा हुई है। अप्राकृत अव्यक्तसे पहिले इन भूतोंकी सृष्टि हुआ करती है, अनन्तर बीजांकुर-न्यायके अनुसार पञ्चमहाभूत रूप विशेष पदार्थ पञ्चतन्मात्र, एकादश इन्द्रिय और अहंकार प्रकृतिके जरिये अभिव्यक्त होते हैं। धर्मसे उत्तम कल्याण और अधर्मसे अकल्याण हुआ करता है; रागवान् पुरुष लयके समय प्रकृतिको प्राप्त होते और विरक्त मनुष्य ज्ञानवान् होके विमुक्त होते हैं। (२३-२६)

शान्तिपर्वमें २०५ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें २०६ अध्याय ।

मनु बोले, जिस समय पञ्च इन्द्रिय शब्द आदि विषयों और मनके सहित संयुक्त होकर निगृहीत होती हैं, तब धागेमें पड़ी हुई मणियोंकी तरह ब्रह्म का दर्शन करनेमें समर्थ हुआ करती हैं। जैसे सूत सुवर्ण मालाके बीच वर्त्तमान रहता है, वैसे ही मुक्ता, प्रवाल, मृण्मय और रजतमय मालामें भी उपस्थित है; इसी दृष्टान्तके अनुसार जीव निज कर्मफलद्वारा गऊ, घोडे, मनुष्य, हाथी, मृग, कीट और पतङ्ग आदिमें आसक्त हुआ करता है। जीव जिन जिन शरीरोंसे जो जो यज्ञ आदि कर्म करता है, उसही शरीरसे उन कर्म-

यथा ह्येकरसा भूमिरोषध्यर्थानुसारिणी ।
तथा कर्मानुगा बुद्धिरन्तरात्मानुदर्शिनी ॥ ५ ॥
ज्ञानपूर्वा भवेल्लिप्सा लिप्सापूर्वाऽभिसन्धिता ।
अभिसन्धिपूर्वकं कर्म कर्ममूलं ततः फलम् ॥ ६ ॥
फलं कर्मात्मकं विद्यात्कर्म ज्ञेयात्मकं तथा ।
ज्ञेयं ज्ञानात्मकं विद्याज्ज्ञानं सदसदात्मकम् ॥ ७ ॥
ज्ञानानां च फलानां च ज्ञेयानां कर्मणां तथा ।
क्षयान्ते यत्फलं विद्याज्ज्ञानं ज्ञेयप्रतिष्ठितम् ॥ ८ ॥
महद्धि परमं भूतं यत्प्रपश्यन्ति योगिनः ।
अबुधास्तं न पश्यन्ति ह्यात्मस्थं गुणबुद्धयः ॥ ९ ॥
पृथिवीरूपतो रूपमपामिह महत्तरम् ।
अद्भ्यो महत्तरं तेजस्तेजसः पवनो महान् ॥ १० ॥
पवनाच्च महद्व्योम तस्मात्परतरं मनः ।
मनसो महती बुद्धिर्बुद्धेः कालो महान्स्मृतः ॥ ११ ॥
कालात्स भगवान् विष्णुर्यस्य सर्वमिदं जगत् ।

फलोंको भोग किया करता है। जैसे एकरसा भूमि सब ओषधियोंकी प्रयोजन-अनुसारिणी होती है, वैसे ही कर्मानुगामिनी बुद्धि अन्तरात्माको दर्शन करती है। (१-५)

बुद्धिपूर्वक लिप्सा होती है, लिप्सा होनेसे अभिसन्धि उत्पन्न होती है, अभिसन्धि पूर्वक कर्म और कर्ममुलक फल हुआ करता है, इसलिये फलको कर्मात्मक, कर्मको ज्ञेयात्मक, ज्ञेय वस्तुको ज्ञानात्मक और ज्ञानको चित् और जड रूपसे सदसदात्मक जाने। चित् और जडग्रन्थिरूप ज्ञान, देहरूप फल, बुद्धि रूप ज्ञेय और सञ्चित कर्मोंके नष्ट होनेपर जो फल हुआ करता है, वही दिव्य फल और ज्ञेय वस्तुमें प्रतिष्ठित ज्ञानस्वरूप है। योगी लोग जिसे देखते हैं, वह नित्य सिद्ध महत्तत्त्वही परम श्रेष्ठ है, विषयासक्त बुद्धिवाले मूर्ख मनुष्य उस बुद्धिस्थ महत् पदार्थको देखनेमें समर्थ नहीं होते। (६—९)

पृथ्वीके रूपसे जलका रूप बडा है, जलसे अग्नि महत् है, अग्निसे पवन महान् है, पवनसे आकाश बृहत् है, मन उससे भी श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि बडी है, बुद्धिसे काल महान् हुआ करता है, कालसे वह भगवान् विष्णु बडे हैं; यह

नादिर्न मध्यं नैवान्तस्तस्य देवस्य विद्यते ॥ १२ ॥
अनादित्वादमध्यत्वादनन्तत्वाच्च सोऽव्ययः।
अत्येति सर्वदुःखानि दुःखं ह्यन्तवदुच्यते ॥ १३ ॥
तद्ब्रह्म परमं प्रोक्तं तद्धाम परमं पदम्।
तद्गत्वा कालविषयाद्विमुक्ता मोक्षमाश्रिताः ॥ १४ ॥
गुणेष्वेते प्रकाशन्ते निर्गुणत्वात्ततः परम्।
निवृत्तिलक्षणो धर्मस्तथाऽऽनन्त्याय कल्पते ॥ १५ ॥
ऋचो यजूंषि सामानि शरीराणि व्यपाश्रिताः।
जिह्वाग्रेषु प्रवर्तन्ते यत्नसाध्याऽविनाशिनः ॥ १६ ॥
न चैवमिष्यते ब्रह्म शरीराश्रयसम्भवम्।
न यत्नसाध्यं तद्ब्रह्म नादिमध्यं न चान्तवत् ॥ १७ ॥
ऋचामादिस्तथा साम्नां यजुषामादिरुच्यते।
अन्तश्चादिमतां दृष्टो न त्वादिर्ब्रह्मणः स्मृतः ॥ १८ ॥
अनादित्वादनन्तत्वात्तदनन्तमथाव्ययम्।

समस्त जगत् जिसने बनाया है उस देवका आदि मध्य और अन्त कुछ भी नहीं है। वह भगवान् अनादि, मध्यहीन और अनन्त हैं। इसही कारण वह अव्यय अर्थात् अपक्षय रहित है, उन्होंने सब दुःखोंको अतिक्रम किया है। दुःखही ज्ञातृज्ञेय विभागवत् अन्तयुक्त कहके वर्णित हुआ है। जो हो, वह भगवान् परब्रह्म कहके वर्णित हुआ है, उनका आश्रयही परम पद है; इसे जानकर अनित्य दुःखमय कालके विषयसे विमुक्त पुरुष मुक्ति अवलम्बन किया करते हैं। ये सब शुद्ध चिदात्मस्वरूप पुरुष प्रमाण प्रमेय व्यवहाररूप गुणोंमें प्रकाश लाभ करते हैं; और परब्रह्म निर्गुणत्व निबन्धन प्रागुक्त सब गुणोंसे परम श्रेष्ठ है; शम, दम, उपरमादिरूप निवृत्तिलक्षण निर्विकल्पक धर्म मालूम होनेपर मोक्ष हुआ करती है। (१०—१५)

ऋक्, यजु और समस्त सामवेद लिङ्गशरीरको आश्रय करके जिह्वाग्रमें वर्त्तमान रहते हैं, ये यत्नसाध्य होके भी विनाशी होते हैं; परन्तु ब्रह्म शरीर अवलम्बन करके उत्पन्न होनेपर भी यत्नसाध्य नहीं है; क्यों कि उसका आदि मध्य और अन्त नहीं है। ऋक्, यजु और साम आदि सबकी आदि कही हुई है और जिनकी आदि है, उनका अन्त भी देखा जाता है, परन्तु

अव्ययत्वाच्च निर्दुःखं द्वन्द्वाभावस्ततः परम् ॥ १९ ॥
अदृष्टतोऽनुपायाच्च प्रतिसन्धेश्च कर्मणः ।
न तेन मर्त्याः पश्यन्ति येन गच्छन्ति तत्पदम् ॥२०॥
विषयेषु च संसर्गाच्छाश्वतस्य च दर्शनात् ।
मनसा चान्यदाकाङ्क्षन् परं न प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥
गुणान्यदिह पश्यन्ति तदिच्छन्त्यपरे जनाः ।
परं नैवाभिकाङ्क्षन्ति निर्गुणत्वाद्गुणार्थिनः ॥ २२ ॥
गुणैर्यस्त्ववरैर्युक्तः कथं विद्यात्परान्गुणान् ।
अनुमानाद्धि गन्तव्यं गुणैरवयवैः परम् ॥ २३ ॥
सूक्ष्मेण मनसा विद्मो वाचा वक्तुं न शक्नुमः ।
मनो हि मनसा ग्राह्यं दर्शनेन च दर्शनम् ॥ २४ ॥
ज्ञानेन निर्मलीकृत्य बुद्धिं बुद्ध्या मनस्तथा ।

ब्रह्मकी आदि किसीने भी स्मरण नहीं की है । ब्रह्मका आदि अन्त नहीं है, इसीसे वह अव्यय और अनन्त है; अव्यय होनेसेही उसमें दुःख नहीं है, और दुःख न रहनेसेही उसे मान अपमान आदि कुछ भी नहीं है । जिस मार्गसे परब्रह्मके समीप गमन किया जा सकता है । मनुष्य लोग अदृष्ट, अनुपाय और कर्मके प्रतिबन्धन निबन्धनसे उस मार्गको देखनेमें समर्थ नहीं होते । (१९-२०)

विषयोंके संसर्ग और योगस्थलस्थित योगीके संकल्पमात्रसे उपस्थित पदार्थोंके दर्शननिबन्धनसे अविरक्त योगी मनही मन योगैश्वर्यसुखका अभिलाष करते हुए परब्रह्मका दर्शन नहीं कर सकता । दूसरे लोग विषय दर्शन करनेसे ही उसे उपभोग करनेकी अभिलाषा करते हैं; इसलिये विषयाभिलाषी लोग परब्रह्मको निर्विषय कहके उसे जाननेकी इच्छा नहीं करते । जो पुरुष मूढताके कारण बाह्य विषयोंमें अत्यन्त आसक्त होता है, वह योगियोंको प्राप्त होने योग्य विषयको कैसे प्राप्त कर सकता है । इसलिये धुंएके जरिये अग्निका अनुमान करनेकी तरह सत्यकामत्व आदि आन्तरिक गुणोंके सहारे अनुमानसे परब्रह्मको जानना योग्य है, हम लोग ध्याननिर्मल शुद्धबुद्धिके जरिये परब्रह्मको जान सकते हैं; परंतु वचनसे उसे कहनेमें समर्थ नहीं होते; क्योंकि उपादान दृश्यके अभेदके कारण विषयाकारसे परिणत दर्शनका दर्शनसे ज्ञान उत्पन्न होता है । ब्रह्माकार

मनसा चेन्द्रियग्राममक्षरं प्रतिपद्यते ॥ २५ ॥
बुद्धिप्रहीणो मनसा समृद्धो निराशिषं निर्गुणमभ्युपैति।
परं त्यजन्तीह विलोड्यमाना हुताशनं वायुरिवेन्धनस्थम् ॥ २६ ॥
गुणादाने विप्रयोगे च तेषां मनः सदा बुद्धिपरावराभ्याम्।
अनेनैव विधिना संप्रवृत्तो गुणापाये ब्रह्म शरीरमेति ॥ २७ ॥
अव्यक्तात्मा पुरुषो व्यक्तकर्मा सोऽव्यक्तत्वं गच्छति ह्यन्तकाले।
तैरेवायं चेन्द्रियैर्वर्धमानैर्ग्लायद्भिर्वा वर्ततेऽकामरूपः ॥ २८ ॥
सर्वैरयं चेन्द्रियैः संप्रयुक्तो देहं प्राप्तः पञ्चभूताश्रयः स्यात्।
नासामर्थ्याद्गच्छति कर्मणेह हीनस्तेन परमेणाव्ययेन ॥ २९ ॥

चित्तवृत्तिरूप ज्ञानके जरिये शरीर आदिमें आत्मभ्रमके निमित्त कलुषित बुद्धिको निर्मल अर्थात् सब संशयोंसे रहित करके बुद्धिके जरिये मन और मनके सहारे इन्द्रियोंको निर्मल करके क्षयरहित चैतन्यमात्र परब्रह्मका दर्शन प्राप्त हुआ करता है। (२१–२५)

ध्यानपरिपाकसमुत्थित बुद्धिहीन मनुष्य विचारात्मक मनके सहारे समृद्ध अर्थात् श्रवणमननविशिष्ट अप्राप्त-प्रार्थनारहित, निर्गुण आत्माको प्राप्त होते और जैसे वायु काष्ठान्तर्गत अग्निको उद्दीपित न करके उसे परित्याग करती है, वैसेही अप्राप्तप्रार्थनाके जरिये व्याकुलचित्त मनुष्य लोग आत्माको जाननेमें असमर्थ होकर उसे परित्याग करते हैं। सब विषयोंके आत्मामें लीन होनेपर मन बुद्धिसे भी श्रेष्ठ ब्रह्मको जाननेमें समर्थ हो जाता है; और पृथक् रूपसे सब विषयोंका ज्ञान होनेपर मन सब समयमें ही बुद्धि कल्पित ब्रह्मलोक पर्यन्त ऐश्वर्य और अनैश्वर्य प्राप्तिका निमित्त हुआ करता है। इसलिये आत्मामें सब विषयोंके प्रविलापनविधानसे जो लोग प्रवृत्त होते हैं, वे सब विषयोंके नष्ट होनेसे ब्रह्म-शरीरमें लीन होते हैं। मन वचन से अगोचर अव्यक्त पुरुष निर्लिप्त होकर भी देहादि उपाधि सम्बन्ध निबन्धन कर्मसमवायीकी भांति दीखता है, फिर अन्त समयमें वह अव्यक्तत्व प्राप्त हुआ करता है। यह आत्मा बुद्धिशील ग्लानियुक्त प्रसिद्ध इन्द्रियोंके सहित असंस्पृष्ट रहके संस्पृष्टकी तरह स्वशरीरमें निवास करता है, यह चिदाभास सब इन्द्रियोंके सहित संयुक्त तथा लिङ्गशरीर पाके स्थूल देहाकारसे परिणत पञ्च भूतोंका आश्रय करता है; परन्तु विश्वभूत अव्यय अन्तर्यामीके सम्पर्कसे हीन होनेपर असामर्थ्यके कारण

पृथ्व्या नरः पश्यति नान्तमस्या ह्यन्तश्चास्या भविता चेति विद्धि ।
परं नयन्तीह विलोड्यमानं यथा प्लवं वायुरिवार्णवस्थम् ॥ ३० ॥
दिवाकरो गुणमुपलभ्य निर्गुणो यथा भवेदपगतरश्मिमण्डलः ।
तथा ह्यसौ मुनिरिह निर्विशेषवान् स निर्गुणं प्रविशति ब्रह्म चाव्ययम् ३१
अनागतं सुकृतवतां परां गतिं स्वयंभुवं प्रभवनिधानमव्ययम् ।
सनातनं यदमृतमव्ययं ध्रुवं निचाय्य तत्परममृतत्वमश्नुते॥३२॥ ७४६५
इति श्रीमहाभारते० शान्ति० मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे षडधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२०६

युधिष्ठिर उवाच— पितामह महाप्राज्ञ पुण्डरीकाक्षमच्युतम् ।
कर्तारमकृतं विष्णुं भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥ १ ॥
नारायणं हृषीकेशं गोविन्दमपराजितम् ।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छामि केशवम् ॥ २ ॥
भीष्म उवाच— श्रुतोऽयमर्थो रामस्य जामदग्न्यस्य जल्पतः ।

गमन आदि कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता। (२६—२९)

मनुष्य इस पृथ्वीका अन्त देखनेमें समर्थ नहीं होते, परन्तु यह जाना जाता है, कि इसका अन्त अवश्य ही है। जैसे समुद्रकी नौका वायुके सहारे इधर उधर डगमगाकर वायुके जरिये ही किनारे लगती है; वैसे ही कर्मके जरिये उह्यमान संसारसागरमें जीवको सब कर्म ही चित्तशुद्धि आदि उपायके सहारे परम पारमें उतार देते हैं। जैसे सूर्यकिरणोंके जरिये जगद्व्यापित्व गुण प्राप्त करके अन्त समयमें किरण-मण्डलके नष्ट होनेपर निर्गुण होता है, वैसे ही जीव इस लोकमें मननशील और सुख दुःखमें निर्विशेष होकर गुणरहित अव्यय ब्रह्ममें प्रवेश करता है। मनुष्य संसारमण्डलमें पुनरावृत्ति-रहित, सुकृतशालियोंकी परमगति, जगत्की उत्पत्ति और प्रलयके कारण, अविनाशी, आदि, मध्य और अन्त-रहित, अपरिणामी, विचलनविवर्जित, स्वयम्भू परब्रह्मका दर्शन करके परम मोक्ष पाता है। (३०—३२)

शान्तिपर्वमें २०६ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २०७ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भरतश्रेष्ठ महा-प्राज्ञ पितामह! आकाश आदि पञ्चभूतोंकी उत्पत्ति और लयके कारण, कार्य मात्रके कर्त्ता, उत्पत्तिरहित, सर्वव्यापी, देहधर्म जरा आदिसे अपराजित, पृथ्वी-पालक, इन्द्रियविजयी, समुद्रके जलमें शयन करनेवाले पुण्डरीकलोचन केश-वका स्वरूप मैं प्रकृत रूपसे सुननेकी

नारदस्य च देवर्षेः कृष्णद्वैपायनस्य च ॥ ३ ॥
असितो देवलस्तात वाल्मीकिश्च महातपाः ।
मार्कण्डेयश्च गोविन्दे कथयन्त्यद्भुतं महत् ॥ ४ ॥
केशवो भरतश्रेष्ठ भगवानीश्वरः प्रभुः ।
पुरुषः सर्वमित्येव श्रूयते बहुधा विभुः ॥ ५ ॥
किं तु यानि विदुर्लोके ब्राह्मणाः शार्ङ्गधन्वनि ।
महात्मनि महाबाहो शृणु तानि युधिष्ठिर ॥ ६ ॥
यानि चाहुर्मनुष्येन्द्र ये पुराणविदो जनाः ।
कर्माणि त्विह गोविन्दे कीर्तयिष्यामि तान्यहम् ॥७॥
महाभूतानि भूतात्मा महात्मा पुरुषोत्तमः ।
वायुर्ज्योतिस्तथा चापः खं च गां चान्वकल्पयत् ॥८॥
स सृष्ट्वा पृथिवीं चैव सर्वभूतेश्वरः प्रभुः ।
अप्स्वेव भवनं चक्रे महात्मा पुरुषोत्तमः ॥ ९ ॥
सर्वतेजोमयस्तस्मिन् शयानः पुरुषोत्तमः ।
सोऽग्रजं सर्वभूतानां सङ्कर्षणमकल्पयत् ॥ १० ॥
आश्रयं सर्वभूतानां मनसेतीह शुश्रुम ।

इच्छा करता हूं। (१-२)

भीष्म बोले, हे तात युधिष्ठिर ! जमदग्निपुत्र राम, महर्षि नारद और कृष्णद्वैपायनके मुखसे मैंने इस विषयको सुना था। असित, देवल, महातपस्वी वाल्मीकि और मार्कण्डेय मुनि श्रीकृष्णके विषयमें उत्तम, महत् और अद्भुत कथा कहा करते हैं। हे भरतश्रेष्ठ ! षडैश्वर्यपूर्ण सर्वव्यापी केशव ही अन्तर्यामी रूपसे सबके नियन्ता है, वह विभुही सर्वमय पुरुष है, यह अनेक प्रकारसे सुना जाता है; परन्तु लोकके बीच ब्राह्मण लोग महात्मा माधवके जिन सब कार्योंको जानते हैं, वह अनन्त होने पर भी उसमेंसे कुछ माहात्म्य कहता हूं सुनो। हे राजन् ! पुराण जाननेवाले पुरुष गोविन्दके जिन सब कर्मोंको कहा करते हैं, इस समय मैं उसेही कहूंगा। सर्वभूतमय महात्मा पुरुषोत्तमने वायु, अग्नि, जल, आकाश और पृथ्वी इन पञ्चमहाभूतोंकी सृष्टि की है। (३-८)

उस सर्वभूतेश्वर महानुभाव प्रभु पुरुषोत्तमने पृथ्वीकी सृष्टि करके जलके बीच शयन किया था। मैंने सुना है, सर्वतेजोमय पुरुषोत्तमने जलके बीच शयन करके सब जीवोंके आश्रय तथा

स धारयति भूतानि उभे भूतभविष्यती ॥ ११ ॥
ततस्तस्मिन्महाबाहौ प्रादुर्भूते महात्मनि ।
भास्करप्रतिमं दिव्यं नाभ्यां पद्ममजायत ॥ १२ ॥
स तत्र भगवान्देवः पुष्करे भ्राजयन् दिशः ।
ब्रह्मा समभवत्तात सर्वभूतपितामहः ॥ १३ ॥
तस्मिन्नपि महाबाहौ प्रादुर्भूते महात्मनि ।
तमसा पूर्वजो जज्ञे मधुर्नाम महासुरः ॥ १४ ॥
तमुग्रमुग्रकर्माणमुग्रं कर्म समास्थितम् ।
ब्रह्मणोऽपचितिं कुर्वन् जघान पुरुषोत्तमः ॥ १५ ॥
तस्य तात वधात्सर्वे देवदानवमानवाः ।
मधुसूदनमित्याहुर्ऋषभं सर्वसात्वताम् ॥ १६ ॥
ब्रह्माऽनुससृजे पुत्रान् मानसान् दक्षसप्तमान् ।
मरीचिमत्र्यङ्गिरसं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ॥ १७ ॥
मरीचिः कश्यपं तात पुत्रमग्रजमग्रजः ।
मानसं जनयामास तैजसं ब्रह्मवित्तमम् ॥ १८ ॥
अङ्गुष्ठात्ससृजे ब्रह्मा मरीचेरपि पूर्वजम् ।

सर्वभूतोंके अग्रज अहंकारको मनके सहित उत्पन्न किया; वह अहंकार ही सर्वभूतों तथा भूत भविष्यत् दोनोंकोही धारण कर रहा है। हे महाबाहो ! अनन्तर उस महानुभाव प्रकट होनेपर भगवान्की नाभीसे सूर्यके समान एक दिव्य पद्म उत्पन्न हुआ। हे तात ! सब लोकोंके पितामह भगवान् ब्रह्मा सब दिशाओंको प्रकाशित करते हुए उसही कमलसे उत्पन्न हुए। हे महाबाहो ! उस महात्मा ब्रह्माके उत्पन्न होनेपर तमोगुणसे प्रथम कार्यभूत योगविघातक मधु नाम महासुरने जन्म लिया, वह प्रचण्डमूर्ति और उग्र कर्म करनेवाला महासुर ब्रह्माको मारनेके वास्ते उद्यत हुआ, तब चिदात्मा पुरुषोत्तमने ब्रह्माकी उन्नति साधन करते हुए उस दानवका वध किया। (९-१५)

उस असुरके वध करनेके कारण उसही समयसे सब देवता, दानव, और मनुष्य लोग योगियोंमें श्रेष्ठ भगवान्को "मधुसूदन" कहा करते हैं। अनन्तर ब्रह्माने मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और दक्ष, इन सात मानसपुत्रोंको उत्पन्न किया। हे तात ! अग्रज मरीचिने कश्यप नाम ज्येष्ठ मानस

सोऽभवद्ब्रह्मश्रेष्ठ दक्षो नाम प्रजापतिः ॥ १९ ॥
तस्य पूर्वमजायन्त दश तिस्रश्च भारत ।
प्रजापतेर्दुहितरस्तासां ज्येष्ठाऽभवद्दितिः ॥ २० ॥
सर्वधर्मविशेषज्ञः पुण्यकीर्तिर्महायशाः ।
मारीचः कश्यपस्तासां सर्वासामभवत्पतिः ॥ २१ ॥
उत्पाद्य तु महाभागस्तासामवरजा दश ।
ददौ धर्माय धर्मज्ञो दक्ष एव प्रजापतिः ॥ २२ ॥
धर्मस्य वसवः पुत्रा रुद्राश्चामिततेजसः ।
विश्वेदेवाश्च साध्याश्च मरुत्वन्तश्च भारत ॥ २३ ॥
अपराश्च यवीयस्यस्ताभ्योऽन्याः सप्तविंशतिः ।
सोमस्तासां महाभागः सर्वासामभवत्पतिः ॥ २४ ॥
इतरास्तु व्यजायन्त गन्धर्वांस्तुरगान् द्विजान् ।
गाश्च किंपुरुषान्मत्स्यानुद्भिज्जांश्च वनस्पतीन् ॥ २५ ॥
आदित्यानदितिर्जज्ञे देवश्रेष्ठान्महाबलान् ।
तेषां विष्णुर्वामनोऽभूद्गोविन्दश्चाभवत्प्रभुः ॥ २६ ॥
तस्य विक्रमणाच्चापि देवानां श्रीर्व्यवर्धत ।

पुत्र उत्पन्न किया। हे भारत! ब्रह्माने अंगूठेसे मरीचि नामक जिस जेठ पुत्रको उत्पन्न किया था, उनसे भी जो अधिक तेजस्वी और ब्रह्मवित् हुए, उन्हींका नाम दक्ष प्रजापति हुआ। हे भारत! उन दक्ष प्रजापतिके पहिले तेरह कन्या उत्पन्न हुईं, उनके बीच दिति सबसे जेठी है। सब धर्मोंको विशेष रूपसे जाननेवाले पवित्र कीर्त्ति महा यशस्वी मरीचि-पुत्र कश्यप उन सबकेही स्वामी हुए। महाभाग धर्मज्ञ दक्ष प्रजापतिने उक्त कन्याओंके अतिरिक्त और दश कन्या उत्पन्न करके धर्मको प्रदान की। हे भारत! वसुगण, अत्यन्त तेजस्वी रुद्रगण विश्वदेव साध्य और मरुद्गण धर्मके पुत्र हैं। (१६-२३)

प्रजापति दक्षके उक्त तेईस कन्याओंके अतिरिक्त और सत्ताईस कन्या उत्पन्न हुईं, महाभाग चन्द्रमाने उन सबका ही पाणिग्रहण किया। कश्यपकी दूसरी स्त्रियोंने गन्धर्व तुरग, पशु, पक्षी, किम्पुरुष, मत्स्य उद्भिज्ज और वनस्पतियोंको प्रसव किया। अदितिसे महाभाग देवताओंने जन्म ग्रहण किया, भगवान् विष्णु वामनरूप धारण करके उन लोगोंके नियन्ता हुए। उनके विक्रमके

दानवाश्च पराभूता दैतेयी चासुरी प्रजा ॥ २७ ॥
विप्रचित्तिप्रधानांश्च दानवानसृजद्दनुः ।
दितिस्तु सर्वानसुरान्महासत्वानजीजनत् ॥ २८ ॥
अहोरात्रं च कालं च यथर्तु मधुसूदनः ।
पूर्वाह्णं चापराह्णं च सर्वमेवानुकल्पयत् ॥ २९ ॥
प्रध्याय सोऽसृजन्मेघांस्तथा स्थावरजङ्गमान् ।
पृथिवीं सोऽसृजद्विश्वां सहितां भूरितेजसा ॥ ३० ॥
ततः कृष्णो महाभागः पुनरेव युधिष्ठिर ।
ब्राह्मणानां शतं श्रेष्ठं मुखादेवासृजत्प्रभुः ॥ ३१ ॥
बाहुभ्यां क्षत्रियशतं वैश्यानामूरुतः शतम् ।
पद्भ्यां शूद्रशतं चैव केशवो भरतर्षभ ॥ ३२ ॥
स एवं चतुरो वर्णान् समुत्पाद्य महातपाः ।
अध्यक्षं सर्वभूतानां धातारमकरोत्स्वयम् ॥ ३३ ॥
वेदविद्याविधातारं ब्रह्माणममितद्युतिम् ।
भूतमातृगणाध्यक्षं विरूपाक्षं च सोऽसृजत् ॥ ३४ ॥
शासितारं च पापानां पितृणां समवर्तिनम् ।
असृजत्सर्वभूतात्मा निधिपञ्च धनेश्वरम् ॥ ३५ ॥

प्रभावसे देवताओंकी श्रीवृद्धि और दितिपुत्र असुर तथा दनुनन्दन दानवोंकी पराजय हुई थी। दनुने विप्रचित्ति आदि दानवोंको उत्पन्न किया; दितिसे महाबलवान् असुरोंने जन्म ग्रहण किया। मधुसूदन विष्णुने ऋतुके अनुसार दिन रात्रिका विभाग, पूर्वाह्ण और अपराह्ण आदि उत्पन्न किया, उन्होंने आलोचना करके बादल और स्थावरजङ्गम जीवोंसे युक्त अखण्ड भूमण्डलकी सृष्टि की। (२४-३०)

हे भरत-श्रेष्ठ युधिष्ठिर! अनन्तर महाभाग प्रभु मधुसूदनने फिर मुखसे अनगिनत ब्राह्मण, भुजासे असंख्य क्षत्रिय, ऊरुसे सैकडों वैश्य और दोनों पावोंसे बहुतसी शूद्र जाति उत्पन्न की। वह महातपस्वी भगवान् इसी प्रकार चारों वर्णोंको स्वयं उत्पन्न करके विधाताको सर्वभूतोंके अध्यक्ष पदपर अभिषिक्त किया। उन्होंनेही वेदविद्या-विधाता अमित तेजस्वी ब्रह्माको और सब भूतों तथा मातृगणोंके अध्यक्ष विरूपाक्षको उत्पन्न किया था। सर्व-भूतात्मा मधुसूदनने पापात्मा पुरुषोंके

यादसामसृजन्नाथं वरुणं च जलेश्वरम् ।
वासवं सर्वदेवानामध्यक्षमकरोत्प्रभुः ॥ ३६ ॥
यावद्यावदभूच्छ्रद्धा देहं धारयितुं नृणाम् ।
तावत्तावदजीवंस्ते नासीद्यमकृतं भयम् ॥ ३७ ॥
न चैषां मैथुनो धर्मो बभूव भरतर्षभ ।
सङ्कल्पादेव चैतेषामपत्यमुपपद्यते ॥ ३८ ॥
ततस्त्रेतायुगे काले संस्पर्शाज्जायते प्रजा ।
न ह्यभून्मैथुनो धर्मस्तेषामपि जनाधिप ॥ ३९ ॥
द्वापरे मैथुनो धर्मः प्रजानामभवन्नृप ।
तथा कलियुगे राजन् द्वन्द्वमापेदिरे जनाः ॥ ४० ॥
एष भूतपतिस्तात स्वध्यक्षश्च तथोच्यते ।
निरपेक्षांश्च कौन्तेय कीर्तयिष्यामि तच्छृणु ॥ ४१ ॥
दक्षिणापथजन्मानः सर्वे नरवरान्ध्रकाः ।
गुहाः पुलिन्दाः शबराश्चूचुका मद्रकैः सह ॥ ४२ ॥
उत्तरापथजन्मानः कीर्तयिष्यामि तानपि ।

शासन करनेवाले प्रेतराजको, निधि-रक्षाके लिये कुबेरको और जलजन्तुओंके स्वामी वरुणको उत्पन्न किया; तथा इन्द्रको सब देवताओंके अध्यक्ष पदपर नियुक्त किया। मनुष्योंको देहधारणके निमित्त जिन्हें जैसी अभिलाषा थी, वे उस ही प्रकार जीवित रहते थे; उन लोगोंको यमका भय नहीं था। (३१-३७)

हे भरतश्रेष्ठ! उस समय उन लोगोंमें मैथुन धर्म नहीं था, संकल्पसेही सन्तान उत्पन्न होती थी। हे प्रजानाथ! अनन्तर त्रेतायुगमें स्त्रीपुरुषोंके परस्पर स्पर्शसे सन्तान उत्पन्न होते थे, उन लोगोंमें भी मैथुनधर्म नहीं था। हे राजन्! फिर द्वापरयुगमें प्रजाके बीच मैथुनधर्म प्रवृत्त हुआ और कलियुगमें मनुष्य द्वन्द्वरूपसे मिलित हुए हैं। हे तात नरश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र! यह भगवान् ही भूतपति और सर्वाध्यक्ष रूपसे वर्णित हुए हैं। जो लोग गृह न बनाकर उदासीन भावसे निवास करते थे, अब उनका विषय कहता हूं सुनो। दक्षिणापथमें उत्पन्न हुए समस्त अन्ध्रक, गुह उपाधिधारी चाण्डाल जातिविशेष, पुलिन्द, शबर, चूचुक और मद्रकजाति के लोग पहिले उदासीनभावसे निवास करते थे। दूसरे जो लोग उत्तर ओर उत्पन्न हुए थे, उनका भी विषय कहता

यौनकाम्बोजगान्धाराः किराता बर्बरैः सह ॥ ४३ ॥
एते पापकृतस्तात चरन्ति पृथिवीमिमाम् ।
श्वपाकबलगृध्राणां सधर्माणो नराधिप ॥ ४४ ॥
नैते कृतयुगे तात चरन्ति पृथिवीमिमाम् ।
त्रेताप्रभृति वर्धन्ते ते जना भरतर्षभ ॥ ४५ ॥
ततस्तस्मिन्महाघोरे सन्ध्याकाल उपस्थिते ।
राजानः समसज्जन्त समासाद्येतरेतरम् ॥ ४६ ॥
एवमेष कुरुश्रेष्ठ प्रादुर्भूतो महात्मना ।
देवं देवर्षिराचष्ट नारदः सर्वलोकदृक् ॥ ४७ ॥
नारदोऽप्यथ कृष्णस्य परं मेने नराधिप ।
शाश्वतत्वं महाबाहो यथावद्भरतर्षभ ॥ ४८ ॥
एवमेष महाबाहुः केशवः सत्यविक्रमः ।
अचिन्त्यः पुण्डरीकाक्षो नैष केवलमानुषः ॥ ४९ ॥ [७४७४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सर्वभूतोत्पत्तिकथने सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०७ ॥

युधिष्ठिर उवाच—के पूर्वमासन्पतयः प्रजानां भरतर्षभ ।

हूं सुनो । यवन, काम्बोज, गान्धार, किरात और बर्बरजाति, ये सब पापाचारी होकर इस पृथ्वीपर भ्रमण किया करते हैं । (३८-४४)

हे नरनाथ ! इन लोगोंके धर्म चाण्डाल, कौए और गिद्धोंके समान हैं । हे तात भरतश्रेष्ठ ! ये लोग सत्ययुगमें इस भूमण्डलपर विचरण नहीं करते थे, त्रेतायुगसे ये लोग वृद्धिशील हुए हैं । अनन्तर त्रेता और द्वापर युगके महाघोर सन्धिकाल उपस्थित होनेपर राजा लोग परस्पर मिलित होकर सन्धिविग्रहमें अत्यन्त आसक्त हुए थे । हे कुरुवर ! महात्मा विष्णु नित्यसिद्ध होनेपर भी इस ही प्रकार उत्पन्न हुए थे । सर्व-लोकदर्शी देवर्षि नारदने भगवान् विष्णुके विषयमें इसही प्रकार कहा है । हे भरतश्रेष्ठ महाबाहु नरनाथ ! महर्षि नारदने भी श्रीकृष्णके परम नित्यत्वको माना है । यह महाबाहु सत्यविक्रम पुण्डरीकाक्ष केशव इस ही प्रकार अचिन्तनीय है; ये साधारण मनुष्य नहीं हैं । (४४-४९)

शान्तिपर्वमें २०७ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें २०८ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे भरतश्रेष्ठ ! पहिले

के चर्षयो महाभागा दिक्षु प्रत्येकशः स्मृताः ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— श्रूयतां भरतश्रेष्ठ यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
प्रजानां पतयो येऽस्मिन् दिक्षु ये चर्षयः स्मृताः॥ २ ॥
एकः स्वयम्भूर्भगवानाद्यो ब्रह्मा सनातनः।
ब्रह्मणः सप्त वै पुत्रा महात्मानः स्वयम्भुवः ॥ ३ ॥
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
वसिष्ठश्च महाभागः सदृशो वै स्वयम्भुवा ॥ ४ ॥
सप्त ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सर्वानेव प्रजापतीन् ॥ ५ ॥
अत्रिवंशसमुत्पन्नो ब्रह्मयोनिः सनातनः।
प्राचीनबर्हिर्भगवांस्तस्मात्प्राचेतसो दश ॥ ६ ॥
दशानां तनयस्त्वेको दक्षो नाम प्रजापतिः।
तस्य द्वे नामनी लोके दक्षः क इति चोच्यते ॥ ७ ॥
मरीचेः कश्यपः पुत्रस्तस्य द्वे नामनी स्मृते।
अरिष्टनेमिरित्येके कश्यपेत्यपरे विदुः ॥ ८ ॥
अत्रेश्चैवौरसः श्रीमान् राजा सोमश्च वीर्यवान्।
सहस्रं यश्च दिव्यानां युगानां पर्युपासिता ॥ ९ ॥

कौन कौनसे प्रजापति थे, और कौन कौनसे महाभाग प्रत्येक ऋषि किन किन दिशाओंमें वास करते थे। (१)

भीष्म बोले, हे भरतश्रेष्ठ ! इस लोकमें जो लोग प्रजापति थे और जो सब ऋषि जिन दिशाओंमें वास करते थे, यह विषय जो कि तुम मुझसे पूछते हो, उसे सुनो। एकमात्र आदि पुरुष भगवान् ब्रह्मा स्वयम्भू और सनातन है; उन महात्मा स्वयम्भू ब्रह्माके सात पुत्र हुए, उनका नाम मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और स्वयम्भूके समान महाभाग वसिष्ठ, ये सातों प्रजापति कहके पुराणमें वर्णित हुए हैं। इनके अनन्तर जो सब प्रजापति थे, उनका विषय कहता हूं। अत्रिवंशमें सनातन ब्रह्मयोनि भगवान् प्राचीनबर्हि उत्पन्न हुए थे, उनसे दश प्रचेता उत्पन्न हुए; दक्ष नाम प्रजापति उन दशोंके एकमात्र पुत्र हैं, लोकके बीच उनका दक्ष और कश्यप यह दो नाम कहे गये हैं। (२–७)

मरीचिके पुत्र कश्यप हैं, उनका दो नाम है कोई कोई उन्हें अरिष्टनेमि और

अर्यमा चैव भगवान् ये चास्य तनया विभो ।
एते प्रदेशाः कथिता भुवनानां प्रभावनाः ॥ १० ॥
शशबिन्दोश्च भार्याणां सहस्राणां दशाच्युत ।
एकैकस्यां सहस्रं तु तनयानामभूत्तदा ॥ ११ ॥
एवं शतसहस्राणि दश तस्य महात्मनः ।
पुत्राणां च न ते कंचिदिच्छन्त्यन्यं प्रजापतिम् ॥१२॥
प्रजामाचक्षते विप्राः पुराणाः शाशबिन्दवीम् ।
स वृष्णिवंशप्रभवो महावंशः प्रजापतेः ॥ १३ ॥
एते प्रजानां पतयः समुद्दिष्टा यशस्विनः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि देवांस्त्रिभुवनेश्वरान् ॥ १४ ॥
भगोंऽशश्चार्यमा चैव मित्रोऽथ वरुणस्तथा ।
सविता चैव धाता च विवस्वांश्च महाबलः ॥ १५ ॥
त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते ।
इत्येते द्वादशादित्याः कश्यपस्यात्मसम्भवाः ॥ १६ ॥
नासत्यश्चैव दस्रश्च स्मृतौ द्वावश्विनावपि ।
मार्तण्डस्यात्मजावेतावष्टमस्य महात्मनः ॥ १७ ॥

कोई कश्यप कहते हैं । जिन्होंने दिनके परिमाणसे सहस्र युग पर्यन्त उपासना की थी, वह वीर्यवान् श्रीमान् राजा सोम अत्रिके औरस पुत्र हैं। भगवान् अर्यमा आदि जो सब कश्यपके पुत्र हैं, वे सबही जगत्स्रष्टा और आज्ञापयिता हैं। हे अच्युत ! शशबिन्दुके दश हजार भार्या थीं, उन एक एक भार्यासे एक एक हजार पुत्र उत्पन्न हुए थे; इसही प्रकार उस महात्माके एक लाख सन्तान हुई। उन्होंने उन पुत्रोंके अतिरिक्त दूसरे किसीको भी प्रजापति करनेकी इच्छा नहीं की । प्राचीन ब्राह्मण लोग प्रजा-समूहको शाशबिन्दवी कहा करते हैं; प्रजापतिके उस महावंशसे वृष्णिवंश उत्पन्न हुआ है। ये सब यशस्वी पुरुष प्रजापति रूपसे वर्णित हुए हैं। इसके अनन्तर जो सब देवता लोग त्रिभुवनके ईश्वर हैं, उनका विषय कहता हूं सुनो। (८-१४)

भग, अंश, अर्यमा, मित्र, वरुण, सविता, धाता, महाबल, विवस्वान्, त्वष्टा; पूषा, इन्द्र और विष्णु, ये द्वादश आदित्य कश्यपके पुत्र हैं । दोनों अश्विनीकुमार नासत्य और दस्र नामसे वर्णित होते हैं, ये महात्मा अष्टम

ते च पूर्वं सुराश्चेति द्विविधाः पितरः स्मृताः।
त्वष्टुश्चैवात्मजः श्रीमान् विश्वरूपो महायशाः ॥१८॥
अजैकपादहिर्बुध्न्यो विरूपाक्षोऽथ रैवतः।
हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्च सुरेश्वरः ॥ १९ ॥
सावित्रश्च जयन्तश्च पिनाकी चापराजितः।
पूर्वमेव महाभागा वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ २० ॥
एत एवंविधा देवा मनोरेव प्रजापतेः।
ते च पूर्वं सुराश्चेति द्विविधाः पितरः स्मृताः ॥ २१ ॥
शीलयौवनतस्त्वन्यस्तथाऽन्यः सिद्धसाध्ययोः।
ऋभवो मरुतश्चैव देवानां चोदितो गणः ॥ २२ ॥
एवमेते समाम्नाता विश्वेदेवास्तथाऽश्विनौ।
आदित्याः क्षत्रियास्तेषां विशश्च मरुतस्तथा ॥ २३ ॥
अश्विनौ तु स्मृतौ शूद्रौ तपस्युग्रे समास्थितौ।
स्मृतास्त्वङ्गिरसो देवा ब्राह्मणा इति निश्चयः॥ २४ ॥
इत्येतत्सर्वदेवानां चातुर्वर्ण्यं प्रकीर्तितम्।
एतान्वै प्रातरुत्थाय देवान्यस्तु प्रकीर्तयेत् ॥ २५ ॥
स्वजादन्यकृताच्चैव सर्वपापात्प्रमुच्यते।

मार्त्तण्डके पुत्र हैं। पहिले वे लोग और विविध देवता लोग भी पितृगण कहके वर्णित हुए हैं। महायशस्वी श्रीमान् विश्वरूप त्वष्टाके पुत्र हैं। अज, एकपाद, अहिर्बुध्न्य, विरूपाक्ष, रैवत, बहुरूप हर, सुरेश्वर, त्र्यम्बक, सावित्र, जयन्त और अपराजित पिनाकी, ये सब महाभाग पहले अष्टवसु कहके वर्णित हुए हैं। इसी प्रकार सब देवता प्रजापति मनुके पुत्र हैं; ये लोग पहिले देवता और पितृगण, इस दो प्रकारके रूपसे निर्दिष्ट हुए हैं, सिद्ध और साध्य, इन दोनोंके बीच एक शीलनिबन्धन, दूसरे यौवनके कारण ऋतुगण और मरुद्गण नामसे देवताओंके आदिगण कहके गिने गये हैं। (१५—२२)

येही विश्वदेवगण और दोनों अश्विनीतनय वर्णित हुए; उनके बीच आदित्यगण क्षत्रिय, मरुद्गण वैश्य और उग्र तपस्यामें अभिनिविष्ट दोनों अश्विनीकुमार शूद्र रूपसे स्मृत हुए हैं, और यह निश्चित है, कि अङ्गिराके पुत्र देवता लोग ब्राह्मण हैं; यही सब देवताओंके चातुर्वर्ण्य कहे गये। जो लोग

यवक्रीतोऽथ रैभ्यश्च अर्वावसुपरावसू ॥ २६ ॥
औशिजश्चैव कक्षीवान् बलश्चाङ्गिरसः स्मृतः।
ऋषिर्मेधातिथेः पुत्रः कण्वो बर्हिषदस्तथा ॥ २७ ॥
त्रैलोक्यभावनास्तात प्राच्यां सप्तर्षयस्तथा।
उन्मुचो विमुचश्चैव स्वस्त्यात्रेयश्च वीर्यवान् ॥ २८ ॥
प्रमुचश्चेध्मवाहश्च भगवांश्च दृढव्रतः।
मित्रावरुणयोः पुत्रस्तथाऽगस्त्यः प्रतापवान् ॥ २९ ॥
एते ब्रह्मर्षयो नित्यमास्थिता दक्षिणां दिशम्।
उषङ्गुः कवषो धौम्यः परिव्याधश्च वीर्यवान् ॥ ३० ॥
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः।
अत्रेः पुत्रश्च भगवांस्तथा सारस्वतः प्रभुः ॥ ३१ ॥
एते चैव महात्मानः पश्चिमामाश्रिता दिशम्।
आत्रेयश्च वसिष्ठश्च काश्यपश्च महानृषिः ॥ ३२ ॥
गौतमोऽथ भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ कौशिकः।
तथैव पुत्रो भगवानृचीकस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥
जमदग्निश्च सप्तैते उदीचीमाश्रिता दिशम्।
एते प्रतिदिशं सर्वे कीर्तितास्तिग्मतेजसः ॥ ३४ ॥

प्रातःकालमें उठकर इन सब देवताओंके नाम लेते, वे स्वकृत वा अन्यकृत सब पापोंसे छूट जाते हैं; यवक्रीत, रैभ्य, अर्वावसु, परावसु, औशिज, कक्षीवान् और बल, ये कई एक अंगिराके पुत्र हैं; महर्षि कण्व और बर्हिषद मेधातिथिके पुत्र हैं। (२३—२७)

हे तात! त्रैलोक्यभावन सप्तर्षि लोग पूर्वदिशामें निवास करते हैं। उन्मुच, विमुच, वीर्यवान् स्वस्त्यात्रेय, प्रमुच, दृढव्रत, भगवान् इध्मवाह और मित्रावरुणके पुत्र प्रतापवान् अगस्त्य, ये सब ब्रह्मर्षि लोग सदा दक्षिण दिशामें वास किया करते हैं। उषंगु, कवष, धौम्य, वीर्यवान् परिव्याध, महर्षि एकत, द्वित, त्रित और अत्रिके पुत्र भगवान् निग्रहानुग्रहसमर्थ सारस्वत, ये सब महात्मा पश्चिम दिशामें निवास करते हैं। (२८-३२)

आत्रेय, वसिष्ठ, महर्षि काश्यप, गौतम, भरद्वाज, कुशिक पुत्र विश्वामित्र और महात्मा ऋचीकके पुत्र भगवान् जमदग्नि, ये सातों ऋषि उत्तर दिशाका आश्रय कर रहे हैं। जिस दिशामें जो

साक्षिभूता महात्मानो भुवनानां प्रभावनाः ।
एवमेते महात्मानः स्थिताः प्रत्येकशो दिशम् ॥ ३५ ॥
एतेषां कीर्तनं कृत्वा सर्वपापात्प्रमुच्यते ।
यस्यां यस्यां दिशि ह्येते तां दिशं शरणं गतः ॥३६॥
मुच्यते सर्वपापेभ्यः स्वस्तिमांश्च गृहान्व्रजेत् ॥३७॥ [७५११]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि
दिशास्वस्तिकं नाम अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०८ ॥

युधिष्ठिर उवाच- पितामह महाप्राज्ञ युधि सत्यपराक्रम ।
श्रोतुमिच्छामि कार्त्स्न्येन कृष्णमव्ययमीश्वरम् ॥ १ ॥
यच्चास्य तेजः सुमहद्यच्च कर्म पुरा कृतम् ।
तन्मे सर्वं यथातत्त्वं ब्रूहि त्वं पुरुषर्षभ ॥ २ ॥
तिर्यग्योनिगतो रूपं कथं धारितवान्प्रभुः ।
केन कार्यनिसर्गेण तमाख्याहि महाबल ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच— पुराऽहं मृगयां यातो मार्कण्डेयाश्रमे स्थितः ।
तत्रापश्यं मुनिगणान् समासीनान्सहस्रशः ॥ ४ ॥

लोग निवास कर रहे हैं, वे सब तीक्ष्ण-तेजस्वी ऋषि लोग वर्णित हुए। ये सबही जगत्की सृष्टि करनेमें समर्थ महात्मा और साक्षी स्वरूप हैं, इसही प्रकार ये महात्मा लोग प्रत्येक दिशाओंका आश्रय करके स्थित हैं। मनुष्य इन लोगोंका नाम लेनेसे सब पापोंसे छूट जाते हैं; ये लोग जिस जिस दिशामें निवास कर रहे हैं, मनुष्य उसही दिशाके शरणागत होनेसे सब पापोंसे मुक्त और स्वस्तिमान् होकर निज गृहमें लौटते हैं। (३२-३७)

शान्तिपर्वमें २०८ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २०९ अध्याय

युधिष्ठिर बोले, हे सत्यपराक्रमी महा प्राज्ञ पितामह ! मैं अव्यय ईश्वर श्रीकृष्णका माहात्म्य विस्तारके सहित सुननेकी इच्छा करता हूं। हे पुरुषप्रवर! श्रीकृष्णका जैसा रूप, महत् तेज और जिस प्रकार इनके पूर्वकृत कर्म हैं, वह सब आप प्रकृत रूपसे वर्णन करिये। हे महाबल ! भगवान्ने तिर्यग्योनिमें अवतार लेके किन कार्योंके निमित्त कैसा रूप धारण किया था, उसे भी आप वर्णन कीजिये। (१-३)

भीष्म बोले, पहले समयमें मैंने मृगयाके निमित्त यात्रा करके मार्कण्डेय मुनिके आश्रममें निवास किया था, वहां

ततस्ते मधुपर्केण पूजां चक्रुरथो मयि।
प्रतिगृह्य च तां पूजां प्रत्यनन्दमृषीनहम् ॥ ५ ॥
कथैषा कथिता तत्र कश्यपेन महर्षिणा।
मनःप्रह्लादिनीं दिव्यां तामिहैकमनाः शृणु ॥ ६ ॥
पुरा दानवमुख्या हि क्रोधलोभसमन्विताः।
बलेन मत्ताः शतशो नरकाद्या महासुराः ॥ ७ ॥
तथैव चान्ये बहवो दानवा युद्धदुर्मदाः।
न सहन्ते स्म देवानां समृद्धिं तामनुत्तमाम् ॥ ८ ॥
दानवैरर्द्यमानास्तु देवा देवर्षयस्तथा।
न शर्म लेभिरे राजन् विशमानास्ततस्ततः ॥ ९ ॥
पृथिवीमार्तरूपां ते समपश्यन् दिवौकसः।
दानवैरभिसंस्तीर्णां घोररूपैर्महाबलैः ॥ १० ॥
भारार्तामपहृष्टां च दुःखितां संनिमज्जतीम्।
अथादितेयाः संत्रस्ता ब्रह्माणमिदमब्रुवन् ॥ ११ ॥
कथं शक्ष्यामहे ब्रह्मन्दानवैरभिमर्दनम्।
स्वयम्भूस्तानुवाचेदं निसृष्टोऽत्र विधिर्मया ॥ १२ ॥

उपस्थित होके सहस्रों मुनियोंको बैठे हुए देखा। अनन्तर उन्होंने मधुपर्कसे मेरा अतिथिसत्कार किया; मैंने उनके उस सत्कारको ग्रहण करके ऋषियोंको प्रणाम किया। उस ही स्थानमें महर्षि कश्यपके जरिये चित्त प्रसन्न करनेवाली यह दिव्य कथा कही गई थी, तुम एकाग्रचित्त होकर उस कथाको सुनो। पहिले समयमें क्रोध लोभसे युक्त बल-दर्पित नरक आदि सैकडों दानवश्रेष्ठ सब महासुर और दूसरे युद्धदुर्मद बहुतेरे दानव लोग देवताओंकी परम समृद्धि देखकर असहिष्णु हुए थे। (४—८)

हे राजन्! देवता और देवर्षि लोग दानवोंसे पीडित होकर इधर उधर स्थित होनेपर भी सुखलाभ करनेमें समर्थ नहीं हुए। देवताओंने घोररूप महाबलवान् दानवोंसे परिपूरित पृथ्वीको अत्यन्त पीडित देखा। पृथ्वीको उस समय भारसे अत्यन्त आक्रान्त, अप्रहृष्ट और दुःखित होकर डूबती हुई देखकर अदितिनन्दन देवता लोग अत्यन्त भयभीत होकर ब्रह्माके निकट जाके यह वचन बोले, हे ब्रह्मन्! हम लोग दानवोंका दारुण पीडन किस प्रकार

ते वरेणाभिसंपन्ना बलेन च मदेन च।
नावबुध्यन्ति संमूढा विष्णुमव्यक्तदर्शनम् ॥ १३ ॥
वराहरूपिणं देवमधृष्यममरैरपि।
एष वेगेन गत्वा हि यत्र ते दानवाधमाः ॥ १४ ॥
अन्तर्भूमिगता घोरा निवसन्ति सहस्रशः।
शमयिष्यति तच्छ्रुत्वा जहृषुः सुरसत्तमाः ॥ १५ ॥
ततो विष्णुर्महातेजा वाराहं रूपमास्थितः।
अन्तर्भूमिं संप्रविश्य जगाम दितिजान्प्रति ॥ १६ ॥
दृष्ट्वा च सहिताः सर्वे दैत्याः सत्त्वममानुषम्।
प्रसह्य तरसा सर्वे संतस्थुः कालमोहिताः ॥ १७ ॥
ततस्ते समभिद्रुत्य वराहं जगृहुः समम्।
संक्रुद्धाश्च वराहं तं व्यकर्षन्त समन्ततः ॥ १८ ॥
दानवेन्द्रा महाकाया महावीर्यबलोच्छ्रिताः।
नाशक्नुवंश्च किंचित्ते तस्य कर्तुं तदा विभो ॥ १९ ॥
ततोऽगच्छन्विस्मयं ते दानवेन्द्रा भयं तथा।

सहेंगे? (९-१२)

स्वयम्भू ब्रह्मा देवताओंका वचन सुनके उन लोगोंसे बोले, हे देवता लोगों! मैंने इस विषयमें विधि प्रदान की है; वरके प्रभावसे बलसे मतवाले अत्यन्त मूढ दानव लोग देवताओंके भी अधर्षणीय वराहरूपी भगवान् अव्यक्तदर्शन विष्णुको नहीं जानते, वे सब सहस्रों महाघोर अधम दानवलोग भूमिके अन्तर्गत होकर जिस स्थानमें वास कर रहे हैं, ये वराहरूपी विष्णु वेगके प्रभावसे वहां जाके उन सब दानवोंका संहार करेंगे। देवता लोग ब्रह्माका ऐसा वचन सुनके परम हर्षित हुए। (१३-१५)

अनन्तर महातेजस्वी विष्णु वराहमूर्त्ति धारण करके भूगर्भमें प्रवेश करके दितिपुत्रोंकी ओर दौडे। कालमोहित दैत्य लोग बलपूर्वक सहसा इकट्ठे होकर उस अमानुष सत्वको देखकर स्थिरभावसे खडे रहे। अनन्तर उन सब लोगोंने एक वारही क्रुद्ध होकर सम्मुख आके उस वराहको धारण किया और चारों ओर खींचने लगे। हे राजन्! महावीर्यबलसे उन्मत्त वे सब महाकाय दानवेन्द्रगण उस समय उसका कुछ भी न कर सके। अन्तमें वे सब दानवेन्द्रगण भयभीत और विस्मित हुए

संशयं गतमात्मानं मेनिरे च सहस्रशः ॥ २० ॥
ततो देवाधिदेवः स योगात्मा योगसारथिः।
योगमास्थाय भगवांस्तदा भरतसत्तम ॥ २१ ॥
विननाद महानादं क्षोभयन् दैत्यदानवान्।
सन्नादिता येन लोकाः सर्वाश्चैव दिशो दश ॥ २२ ॥
तेन सन्नादशब्देन लोकानां क्षोभ आगमत्।
संत्रस्ताश्च भृशं लोके देवाः शक्रपुरोगमाः ॥ २३ ॥
निर्विचेष्टं जगच्चापि बभूवातिभृशं तदा।
स्थावरं जङ्गमं चैव तेन नादेन मोहितम् ॥ २४ ॥
ततस्ते दानवाः सर्वे तेन नादेन भीषिताः।
पेतुर्गतासवश्चैव विष्णुतेजःप्रमोहिताः ॥ २५ ॥
रसातलगतश्चापि वराहस्त्रिदशद्विषाम्।
खुरैर्विदारयामास मांसमेदोस्थिसञ्चयान् ॥ २६ ॥
नादेन तेन महता सनातन इति स्मृतः।
पद्मनाभो महायोगी भूताचार्यः स भूतराट् ॥ २७ ॥
ततो देवगणाः सर्वे पितामहमुपाद्रवन्।
तत्र गत्वा महात्मानमूचुश्चैव जगत्पतिम् ॥ २८ ॥

तथा सहस्र बार अपनेको संशययुक्त समझा। (१६—२०)

हे भरतसत्तम! अनन्तर योगसहाय योगात्मा देवोंके देव भगवान्‌ने योग अवलम्बन करके दैत्यदानवोंको क्षोभित करते हुए ऊंचे स्वरसे निनाद किया, उस शब्दसे सब लोक और दशों दिशा अनुनादित हुई उस शब्दसे सब लोगोंके अन्तःकरणमें क्षोभ उत्पन्न हुआ; इन्द्र आदि देवता लोग अत्यन्त भयभीत हुए; स्थावरजङ्गमात्मक समस्त जगत् उस शब्दसे मोहित होकर अत्यन्तही निश्चेष्ट हुआ। अनन्तर सब दानव लोग उसही शब्दसे भीत, विष्णुके तेजसे विमोहित और चेतनारहित होकर गिर पडे, वराहरूपी भगवान्‌ने रसातल में जाकर भी खुरसे देवताओंके शत्रु दानवोंका मांस, मेद और अस्थियोंको विदारण किया। वह भूतराट् भूताचार्य, महायोगी, पद्मनाभ, विष्णु उस महानादसे सदा भक्तोंके ऊपर कृपा करनेके लिये चेष्टा करते हैं, इसहीसे सनातन नामसे वर्णित हुए हैं। अनन्तर सब देवताओंने जगत्पतिसे कहा, हे देव!

नादोऽयं कीदृशो देव नैतं विद्म वयं प्रभो।
कोऽसौ हि कस्य वा नादो येन विह्वलितं जगत्॥२९॥
देवाश्च दानवाश्चैव मोहितास्तस्य तेजसा।
एतस्मिन्नन्तरे विष्णुर्वाराहं रूपमास्थितः।
उदतिष्ठन्महाबाहो स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ ३० ॥

पितामह उवाच—निहत्य दानवपतीन् महावर्ष्मा महाबलः।
एष देवो महायोगी भूतात्मा भूतभावनः ॥ ३१ ॥
सर्वभूतेश्वरो योगी मुनिरात्मा तथाऽऽत्मनः।
स्थिरीभवत कृष्णोऽयं सर्वविघ्नविनाशनः ॥ ३२ ॥
कृत्वा कर्मातिसाध्वेतदशक्यममितप्रभः।
समायातः स्वमात्मानं महाभागो महाद्युतिः ॥ ३३ ॥
पद्मनाभो महायोगी महात्मा भूतभावनः।
न सन्तापो न भीः कार्या शोको वा सुरसत्तमाः॥३४॥
विधिरेष प्रभावश्च कालः संक्षयकारकः।
लोकान्धारयता तेन नादो मुक्तो महात्मना ॥ ३५ ॥
स एष हि महाबाहुः सर्वलोकनमस्कृतः।

हे प्रभो! यह निनाद कैसा है, हम इसे जाननेमें समर्थ नहीं हैं, यह क्या शब्द है। यह किसका शब्द है, जिससे जगत् विह्वल होरहा है। (२१-२९)

सब देवता और दानव इस शब्दके प्रभावसे मोहित होरहे हैं। हे महाबाहो इतनेही समयमें वराहरूपधारी विष्णु महर्षियोंसे स्तुतियुक्त होकर रसातलसे उत्थित हुए, पितामह बोले, यह महाकाय, महाबल, महायोगी, भूतात्मा, भूतभावन, सर्वभूतेश्वर, आत्माके भी आत्मा, मननशील दानवारि कृष्णने मुख्य मुख्य दानवोंका वध करके सब विघ्नोंका नाश किया है; इससे तुम सब कोई स्थिर हो जाओ। यह अपरिमित प्रभावयुक्त, महाद्युति, महाभाग, महायोगी, भूतभावन, महात्मा पद्मनाभ दूसरे से न होने योग्य, साधु, कार्य सिद्ध करके स्व-स्वभावसे समागत हुए हैं। हे सुरसत्तमगण! इसलिये तुम लोगोंको शोक, सन्ताप अथवा भय करनेकी आवश्यकता नहीं है। येही विधि, येही प्रभाव और यही संक्षयकारक काल स्वरूप हैं; इन्हीं महानुभाव भगवान्ने सब लोकोंको धारण करते हुए शब्द किया था; सब भूतोंके आदिभूत, सब

अच्युतः पुण्डरीकाक्षः सर्वभूतादिरीश्वरः ॥ ३६ ॥ [७१४७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अन्तर्भूमिविक्रीडनं नाम नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०९ ॥

युधिष्ठिर उवाच- योगं मे परमं तात मोक्षस्य वद भारत।
तमहं तत्त्वतो ज्ञातुमिच्छामि वदतां वर ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
संवादं मोक्षसंयुक्तं शिष्यस्य गुरुणा सह ॥ २ ॥
कश्चिद्ब्राह्मणमासीनमाचार्यमृषिसत्तमम्।
तेजोराशिं महात्मानं सत्यसन्धं जितेन्द्रियम् ॥ ३ ॥
शिष्यः परममेधावी श्रेयोऽर्थी सुसमाहितः।
चरणावुपसंगृह्य स्थितः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ ४ ॥
उपासनात्प्रसन्नोऽसि यदि वै भगवन्मम।
संशयो मे महान्कश्चित्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि।
कुतश्चाहं कुतश्च त्वं तत्सम्यग्ब्रूहि यत्परम् ॥ ५ ॥
कथं च सर्वभूतेषु समेषु द्विजसत्तम।

लोकोंके नमस्कृत यह महाबाहु पुण्डरीकाक्ष अच्युत ईश्वर यही विद्यमान हैं। (३०-३६)

शान्तिपर्वमें २०९ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २१० अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भारत! आप मेरे समीप मोक्ष-विषयके परमयोगको वर्णन करिये। हे वक्तृवर! मैं उक्त विषयको यथार्थ रीतिसे जाननेकी इच्छा करता हूं। (१)

भीष्म बोले, गुरुके सहित शिष्यका मोक्षवाक्य संयुक्त जो वार्त्तालाप हुआ था, प्राचीन लोग उस पुराने इतिहासका इस विषयमें प्रमाण दिया करते हैं। परम मेधावी अत्यन्त सावधान किसी शिष्यने तेजस्वी सत्यसन्ध जितेन्द्रिय ऋषिसत्तम महानुभाव सुखसे बैठे हुए किसी आचार्य ब्राह्मणका चरण छूके हाथ जोडके खडा होकर कहा। हे भगवन्! यदि आप मेरी उपासनासे प्रसन्न हुए हों, तो मुझे जो कुछ महा संशय है, मेरे समीप उस विषयको वर्णन करना आपको उचित है। हे द्विजसत्तम! मैं किस उपादान और कौन निमित्त कारणसे उत्पन्न हुआ हूं, आप भी किस उपादान वा निमित्त कारणसे उत्पन्न हुए हैं? उस परम कारणके स्वरूपको पूर्ण रीतिसे कहिये

सम्यग्वृत्ता निवर्तन्ते विपरीताः क्षयोदयाः ॥ ६ ॥
वेदेषु चापि यद्वाक्यं लौकिकं व्यापकं च यत्।
एतद्विद्वन् यथातत्त्वं सर्वं व्याख्यातुमर्हसि ॥ ७ ॥
गुरुरुवाच— शृणु शिष्य महाप्राज्ञ ब्रह्मगुह्यमिदं परम्।
अध्यात्मं सर्वविद्यानामागमानां च यद्वसु ॥ ८ ॥
वासुदेवः परमिदं विश्वस्य ब्रह्मणो मुखम्।
सत्यं ज्ञानमथो यज्ञस्तितिक्षा दम आर्जवम् ॥ ९ ॥
पुरुषं सनातनं विष्णुं यं तं वेदविदो विदुः।
स्वर्गप्रलयकर्तारमव्यक्तं ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १० ॥
तदिदं ब्रह्म वार्ष्णेयमितिहासं शृणुष्व मे।
ब्राह्मणो ब्राह्मणैः श्राव्यो राजन्यः क्षत्रियैस्तथा ॥११॥
वैश्यो वैश्यैस्तथा श्राव्यः शूद्रः शूद्रैर्महामनाः।
माहात्म्यं देवदेवस्य विष्णोरमिततेजसः ॥ १२ ॥
अर्हस्त्वमसि कल्याणं वार्ष्णेयं शृणु यत्परम्।
कालचक्रमनाद्यन्तं भावाभावस्वलक्षणम् ॥ १३ ॥
त्रैलोक्यं सर्वभूतेशो चक्रवत्परिवर्तते।

और उपादान कारण पञ्चभूतोंके समान होनेपर भी किस लिये क्षय और उदय विषम रूपसे दीख पडता है। वेद और लोकमें जो व्याप्यव्यापक भावसे वर्त्तमान है, आप वह सब विषय प्रकृत रूपसे वर्णन करिये। (२—७)

गुरु बोला, हे महाप्राज्ञ शिष्य! सर्व विद्या और समस्त आगमोंकी जो सम्पत्ति है, जो वेदके बीच परम गुह्य भावसे वर्णित है, वह अध्यात्म विषय कहता हूं सुनो। भगवान् वासुदेव सब वेदोंके आदिभूत प्रणव हैं; वेही सत्य, ज्ञान, यज्ञ, तितिक्षा और आर्जव स्वरूप हैं। वेद जाननेवाले पण्डित लोग जिस सनातन पुरुषको विष्णु कहके जानते हैं, वही सृष्टि और प्रलयके कर्त्ता अव्यक्त शाश्वत ब्रह्म हैं; उसही ब्रह्मने वृष्णिवंशमें अवतार लिया है, इस विषयका इतिहास मुझसे सुनो। अपरिमित तेजसे युक्त देवदेव विष्णुका माहात्म्य ब्राह्मण लोग ब्राह्मणोंको, क्षत्रिय लोग क्षत्रियोंको, वैश्य वैश्योंको और महामना शूद्र शूद्रोंको सुनावें। तुम परम कल्याणकारी कृष्णके उपाख्यानको सुननेके योग्य पात्र हो, इसलिये उसे सुनो।। (८–१२)

यत्तदक्षरमव्यक्तममृतं ब्रह्म शाश्वतम्
वदन्ति पुरुषव्याघ्र केशवं पुरुषर्षभम् ॥ १४ ॥
पितॄन्देवानृषींश्चैव तथा वै यक्षराक्षसान् ।
नागासुरमनुष्यांश्च सृजते परमोऽव्ययः ॥ १५ ॥
तथैव वेदशास्त्राणि लोकधर्मांश्च शाश्वतान् ।
प्रलयं प्रकृतिं प्राप्य युगादौ सृजते पुनः ॥ १६ ॥
यथर्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥१७॥
अथ यद्यद्यदा भाति कालयोगाद्युगादिषु ।
तत्तदुत्पद्यते ज्ञानं लोकयात्राविधानजम् ॥ १८ ॥
युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥ १९ ॥
वेदविद्वेद भगवान् वेदाङ्गानि बृहस्पतिः ।

हे पुरुषप्रवर ! आदि और अन्तहीन जो परम श्रेष्ठ कालचक्र है, उसे ही पण्डित लोग अक्षय, अव्यय, अमृत, शाश्वत, ब्रह्म, चैतन्यरश्मिके जरिये सर्वव्यापी अन्नमय आदि पञ्च पुरुषोंसे श्रेष्ठ कहा करते हैं । उत्पत्ति और प्रलय लक्षण इस त्रैलोक्य चक्रारूढ पिपीलिकाकी भांति वह सर्वभूतेश्वरमें सब तरहसे वर्त्तमान हैं । उस परिणामरहित परम पुरुषने फिर सृष्टिके आरम्भमें महदादि कार्योंके लयस्थान प्रकृतिको निर्माण करके पितरगण, देवता, ऋषि, यक्ष, राक्षस, पन्नग, असुर, और मनुष्योंको उत्पन्न किया है, तथा वेदशास्त्र और शाश्वत लोकधर्मका विधान किया है । जैसे ऋतुकाल पर्यायक्रमसे अनेक प्रकार ऋतुचिन्ह दीख पडते हैं, अर्थात् प्रतिवर्ष वसन्तकालमें आमके वृक्ष, ग्रीष्मकालमें मल्लिका और वर्षाके समय कदम्बके वृक्ष नियमपूर्वक फूलते हैं, वैसे ही युगके आरम्भमें जीवसमूह अपने अपने पूर्वलक्षणोंको धारण किया करते हैं, आदि युगमें कालसम्पर्कके कारण जो जो प्रकाशित होता है, लोकयात्राविधानके लिये वही ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है । पूर्वयुगमें जो कुछ था, युगके आरम्भमें महर्षियोंने पहले स्वयम्भूकी आज्ञानुसार तपस्याके सहारे इतिहासके सहित उन्हीं सब वेदोंको प्राप्त किया था । (१३-१९)

वेद जाननेवाले, भगवान् ब्रह्मदेव और बृहस्पतिने सब वेदाङ्गोंको जाना

भार्गवो नीतिशास्त्रं तु जगाद जगतो हितम् ॥२०॥
गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्।
देवर्षिचरितं गार्ग्यः कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम् ॥ २१ ॥
न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः।
हेत्वागमसदाचारैर्यदुक्तं तदुपास्यताम् ॥ २२ ॥
अनाद्यं तत्परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः।
एकस्तद्वेद भगवान् धाता नारायणः प्रभुः ॥ २३ ॥
नारायणादृषिगणास्तथा मुख्याः सुराऽसुराः।
राजर्षयः पुराणाश्च परमं दुःखभेषजम् ॥ २४ ॥
पुरुषाधिष्ठितान् भावान् प्रकृतिः सूयते यदा।
हेतुयुक्तमतः पूर्वं जगत्संपरिवर्तते ॥ २५ ॥
दीपादन्ये यथा दीपाः प्रवर्तन्ते सहस्रशः
प्रकृतिः सूयते तद्वदानन्त्यान्नापचीयते ॥ २६ ॥
अव्यक्तात्कर्मजा बुद्धिरहंकारं प्रसूयते।
आकाशं चाप्यहंकाराद्वायुराकाशसम्भवः ॥ २७ ॥

था; असुराचार्य भार्गवने जगत्के हितकेलिये नीतिशास्त्र कहा, महर्षि नारदने गन्धर्वविद्या, भरद्वाजने धनुर्विद्या, गर्गने देवर्षिचरित और कृष्णात्रेयने चिकित्साशास्त्र जाना था। ऋषियोंने परस्पर विवादमान होकर जो न्याय, सांख्य, पातञ्जल, वैशेषिक, वेदान्त और मीमांसा दर्शन बनाये हैं, उनके बीच युक्ति, वेद और प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे ऋषियोंके जरिये जो ब्रह्म वर्णित हुआ है, उसकी ही उपासना करनी चाहिये। देवता वा ऋषि लोग उस आदिकारणसे रहित परब्रह्मको नहीं जानते थे, सर्व शक्तिमान् जगद्विधाता एकमात्र नारायण ही उसे जानते थे। नारायणसे ऋषियों और मुख्य मुख्य सुरासुरों तथा प्राचीन राजर्षियोंने उस दुःखराशिके महौषध स्वरूप परब्रह्मको जाना था। (२०—२४)

जब प्रकृति पुरुषके आलोचित महदादि कार्योंके प्रसवोन्मुखी होती है उसके पहले धर्माधर्मयुक्त जगत् सब तरहसे वर्त्तमान रहता है। जैसे तैलवर्ती आदि कारणसे एक दीपकसे सहस्रों दीपक प्रज्वलित हुआ करते हैं, वैसे ही प्रकृति पूर्वादृष्टयुक्त महदादि कार्य उत्पन्न करती है। अहङ्कारसे शब्द तन्मात्र आकाश, आकाशसे वायु; वायुसे

वायोस्तेजस्ततश्चाप अद्‌भ्योऽथ वसुधोद्गता ।
मूलप्रकृतयो ह्यष्टौ जगदेतास्ववस्थितम् ॥ २८ ॥
ज्ञानेन्द्रियाण्यतः पञ्च पञ्च कर्मेन्द्रियाण्यपि ।
विषयाः पञ्च चैकं च विकारे षोडशं मनः ॥ २९ ॥
श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं ज्ञानेन्द्रियाण्यथ ।
पादौ पायुरुपस्थश्च हस्तौ वाक्कर्मणी अपि ॥ ३० ॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ।
विज्ञेयं व्यापकं चित्तं तेषु सर्वगतं मनः ॥ ३१ ॥
रसज्ञाने तु जिह्वेयं व्याहृते वाक् तथोच्यते ।
इन्द्रियैर्विविधैर्युक्तं सर्वं व्यक्तं मनस्तथा ॥ ३२ ॥
विद्यात्तु षोडशैतानि दैवतानि विभागशः ।
देहेषु ज्ञानकर्तारमुपासीनमुपासते ॥ ३३ ॥
तद्वत्सोमगुणा जिह्वा गन्धस्तु पृथिवीगुणः ।
श्रोत्रं नभोगुणं चैव चक्षुरग्नेर्गुणस्तथा ।
स्पर्शं वायुगुणं विद्यात्सर्वभूतेषु सर्वदा ॥ ३४ ॥

अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई है। ये आठों मूल प्रकृति हैं, जगत् इन सबमें ही स्थित है। पुरुषाधिष्ठित अष्ट मूलप्रकृतिसे पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्च विषय और एकमात्र मन उत्पन्न होता है, इन षोडश पदार्थोंको षोडश विकार कहते हैं। कान, त्वचा, नेत्र, जीभ और नासिका, ये पांचों ज्ञानेन्द्रिय हैं। पद, पायु, उपस्थ, हाथ और वागिंद्रिय ये पांचों कर्मेन्द्रिय हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, ये पांचों ज्ञानेन्द्रियके विषय हैं। चित्त इन सबमें व्यापकभावसे स्थित है और मन उन शब्द आदि समस्त विषयोंमें श्रोत्रादिरूपसे स्थित होरहा है इसे जानना योग्य है। (२९-३१)

रस ज्ञानके विषयमें यह मनही जिह्वास्वरूप होता है और शब्दप्रयोग विषयमें मन ही वागिंद्रियस्वरूप हुआ करता है, मन विविध इन्द्रियोंके सहित संयुक्त होकर महदादि घट पर्यन्त सब व्यक्त पदार्थोंका स्वरूपत्व लाभ करता है। दशों इन्द्रिय मन और पञ्चभूत इन षोडश पदार्थोंको विभागके अनुसार देवता कहके जाने। मनुष्य शरीरके बीच अध्यासीन ज्ञानकर्ताकी उपासना किया करते हैं। जलका कार्य जिह्वा, पृथ्वीका कार्य नासिका, आकाशका

मनः सत्त्वगुणं प्राहुः सत्त्वमव्यक्तजं तथा।
सर्वभूतात्मभूतस्थं तस्माद् बुध्येत बुद्धिमान् ॥ ३५ ॥
एते भावा जगत्सर्वं वहन्ति सचराचरम्।
श्रिता विरजसं देवं यमाहुः प्रकृतेः परम् ॥ ३६ ॥
नवद्वारं पुरं पुण्यमेतैर्भावैः समन्वितम्।
व्याप्य शेते महानात्मा तस्मात्पुरुष उच्यते ॥ ३७ ॥
अजरः सोऽमरश्चैव व्यक्ताऽव्यक्तोपदेशवान्।
व्यापकः सगुणः सूक्ष्मः सर्वभूतगुणाश्रयः ॥ ३८ ॥
यथा दीपः प्रकाशात्मा ह्रस्वो वा यदि वा महान्।
ज्ञानात्मानं तथा विद्यात्पुरुषं सर्वजन्तुषु ॥ ३९ ॥
श्रोत्रं वेदयते वेद्यं स शृणोति स पश्यति।
कारणं तस्य देहोऽयं स कर्ता सर्वकर्मणाम् ॥ ४० ॥

कार्य कान, अग्निका कार्य नेत्र और वायुका कार्य त्वचा है, इन्हें सब भूतोंमें सर्वदा विद्यमान जानना चाहिये। (३२-३४)

पण्डित लोग मनको सत्वका कार्य कहा करते हैं; सत्व प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ है परन्तु सब भूतोंके आत्मभूत ईश्वरमें उपाधि रूपसे निवास करता है; इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य उस विषयका ज्ञान किया करते हैं। ये सब सत्व आदि पदार्थ स्थावरजङ्गमात्मक जगत्को आश्रयपूर्वक धारण कर रहे हैं, जो देव प्रकृतिसे भी परम श्रेष्ठ है, पण्डित लोग उसे सर्व प्रवृत्तिरहित कूटस्थ कहा करते हैं। शब्द आदि विषयोंसे युक्त, ज्ञानेन्द्रियपञ्चक, बुद्धि, मन, देह और प्राण इस नवद्वार पवित्र पुर आक्रमण करके जीवात्मा शयन कर रहा है, इसही कारण उसे पुरुष कहा जाता है। वह अजर और अमर है, वेद उसे मूर्त और अमूर्त, इन दोनों रूपोंसे वर्णन किया करते हैं; वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञत्वादि गुणोंसे युक्त है। वह सूक्ष्म और सब भूतों तथा सत्वादि गुणोंका आश्रय है। (३५-३८)

उपाधिके कारण ह्रस्वही हो, वा महान् ही होवे; पर जैसे दीपक बाह्य पदार्थोंको प्रकाशित किया करता है, ज्ञानस्वरूप पुरुषको भी सब जीवोंमें उसही प्रकार जानो। जिसके रहनेसे कान शब्द सुननेमें समर्थ होते हैं, वही सुनता और वही देखता है, यह शरीर उन शब्दादिज्ञानका निमित्त कारण मात्र है, वही सब कर्मोंका कर्ता है।

अग्निर्दारुगतो यद्वद्भिन्ने दारौ न दृश्यते।
तथैवात्मा शरीरस्थोऽयोगे नैवानुदृश्यते ॥ ४१ ॥
अग्निर्यथा ह्युपायेन मथित्वा दारु दृश्यते।
तथैवात्मा शरीरस्थो योगेनैवात्र दृश्यते ॥ ४२ ॥
नदीष्वापो यथा युक्ता यथा सूर्ये मरीचयः।
सन्ततत्वाद्यथा यान्ति तथा देहाः शरीरिणाम्॥४३ ॥
स्वप्नयोगे यथैवात्मा पञ्चेन्द्रियसमायुतः।
देहमुत्सृज्य वै याति तथैवात्मोपलभ्यते ॥ ४४ ॥
कर्मणा बाध्यते रूपं कर्मणा चोपलभ्यते।
कर्मणा नीयतेऽन्यत्र स्वकृतेन बलीयसा ॥ ४५ ॥
स तु देहाद्यथा देहं त्यक्त्वाऽन्यं प्रतिपद्यते।
तथाऽन्यं संप्रवक्ष्यामि भूतग्रामं स्वकर्मजम् ॥ ४६ ॥[७५९३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१० ॥

भीष्म उवाच— चतुर्विधानि भूतानि स्थावराणि चराणि च।

काठमें छिपी हुई अग्नि जैसे काठके काटनेसे नहीं दीखती, वैसेही शरीरमें रहनेवाली आत्माको देह विदीर्ण करनेपर भी नहीं देखा जाता। उपायके सहारे जैसे काठकी मथनेसे उसमेंसे अग्नि दीख पडती है, वैसेही योगरूप उपायके जरिये शरीरस्थ आत्माको इस शरीरसेही देखा जा सकता है; जैसे नदियोंमें जल और सूर्यमण्डलमें किरण सदा संयुक्त रहती हैं, वैसे ही जीवोंके शरीर आत्माके सहित संयुक्त हैं, योगाभावसे देहसम्बन्ध विच्छिन्न नहीं होता। (३९-४३)

पंच इन्द्रिय युक्त स्वप्न—कालकी भांति मरनेके अनन्तर शरीर त्यागके देहान्तरमें गमन करता है; यह शास्त्रदृष्टिके सहारे मालूम हुआ करता है। जीव पहले अपने किये हुए बलवान् कर्मोंसे प्रेरित होकर जन्म लेता है, और कर्मोंसे ही देहान्तरमें गमन किया करता है। जैसे मनुष्य शरीर त्यागके एक शरीरके अनन्तर दूसरा शरीर पाता है, वैसेही निज कर्मके अनुसार जन्म लेनेवाले दूसरे जीव भी एक शरीरसे देहान्तरमें गमन करते हैं, इसे फिर कहूंगा। (४४-४६)

शान्तिपर्वमें २१० अध्याय समाप्त।

अव्यक्तप्रभवान्याहुरव्यक्तनिधनानि च ।
अव्यक्तलक्षणं विद्यादव्यक्तात्मात्मकं मनः ॥ १ ॥
यथाऽश्वत्थकणीकायामन्तर्भूतो महाद्रुमः ।
निष्पन्नो दृश्यते व्यक्तमव्यक्तात्सम्भवस्तथा ॥ २ ॥
अभिद्रवत्ययस्कान्तमयो निश्चेतनं यथा ।
स्वभावहेतुजा भावा यद्वदन्यदपीदृशम् ॥ ३ ॥
तद्वद्व्यक्तजा भावाः कर्तुः कारणलक्षणाः ।
अचेतनाश्चेतयितुः कारणादभिसंहताः ॥ ४ ॥
न भूर्न खं द्यौर्भूतानि नर्षयो न सुराऽसुराः ।
नान्यदासीदृते जीवमासेदुर्न तु संहनम् ॥ ५ ॥

शान्तिपर्वमें २११ अध्याय।

भीष्म बोले, पण्डित लोग स्थावर-जङ्गमात्मक चार प्रकारके उत्पन्न हुए जीवोंको अव्यक्तप्रभव और अव्यक्त-निधन कहा करते हैं, अर्थात् जीवोंकी देहान्तरप्राप्ति और पूर्वदेहका वियोग गृहसे गृहान्तरमें गमनकी तरह विस्पष्ट नहीं है। आत्मा अव्यक्त है, मन उस ही अव्यक्त आत्माका स्वरूप है, अर्थात् दूसरे चन्द्रमाकी भांति आत्मामेंही कल्पित है, इससे मनका लक्षण भी विस्पष्ट नहीं है; इसलिये यह जानना चाहिये, कि मन कल्पित उत्पत्ति निधन और अव्यक्त है। जैसे अश्वत्थ बीजके अन्तर्गत अत्यन्त छोटे अंशके बीच बृहत् वृक्ष अन्तर्भूत रहता है। फिर कुछ समयके लिये वह व्यक्त रूपसे दीखता है, अव्यक्तसे दृश्य वस्तु मात्रका सम्भव भी वैसाही है। जैसे अचेतन लोहा अयस्कान्त अर्थात् चुम्बक पत्थरकी ओर दौडता है, वैसेही पूर्व संस्कारके कारण कर्मजनित धर्माधर्म तथा अज्ञान आदि भी अभिव्यक्त शरीरके अनुगत हुआ करते हैं। (१—३)

प्रागुक्त न्यायके अनुसार अविद्या-जनित काम, कर्मवासना, देह और इन्द्रिय आदि अचेतन पदार्थ सब तरहसे संहत होकर कारण स्वरूप चेतयिता परब्रह्मका कारणत्व लक्ष्य किया करते हैं, और कारण रूप परब्रह्मके निकटसे सत्व, चित्त्व और आनन्दत्व आदि आत्मधर्म सब तरहसे शरीरमें सङ्गत होते अर्थात् देहान्तर प्राप्ति होनेपर आत्मानात्मगुण-समूह पहलेकी भांति संहत हुआ करते हैं। भूमि, आकाश, स्वर्ग, भूतगण, सब प्राण, शम और काम आदि अथवा इन सबके अतिरिक्त दूसरे कोई पदार्थ जगत्की उत्पत्तिके पहिले कुछ भी न थे,

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्य.
१ आदिपर्व	(१ से ११)	११	११२५	६) छः रु.	१।)
२ सभापर्व	(१२ " १५)	४	३५६	२॥) अढाई	॥।
३ वनपर्व	(१६ " ३०)	१५	१५३८	८) आठ	१॥
४ विराटपर्व	(३१ " ३३	३	३०६	२) दो	॥
५ उद्योगपर्व	(३४ " ४२	९	९५३	५) पांच	१।)
६ भीष्मपर्व	(४३ " ५०)	८	८००	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	(५१ " ६४)	१४	१३६४	७॥ साढेसात	१।)
८ कर्णपर्व	(६५ " ७०)	६	६३७	३॥ साढेतीन	॥)
९ शल्यपर्व	(७१ " ७४)	४	४३५	२॥) अढाई	॥।
१० सौप्तिकपर्व	(७५	१	१०४	॥। बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	(७६)	१	१०८	॥।) " "	।)
१२ शान्तिपर्व।					
राजधर्मपर्व	(७७ " ८३)	७	६९४	४ चार	।।)
आपद्धर्मपर्व	८४ " ८५)	२	२३२	१॥ डेढ	॥)
मोक्षधर्मपर्व	(८६ " ९६)	११	११००	६) छः	१।)
१३ अनुशासन	(९७ " १०७	११	१०७६	६) छः	१।)
१४ आश्वमेधिक	(१०८ " १११)	४	४००	२॥) अढाई	॥)
१५ आश्रमवासिक	११२	१	१४८	१) एक	।)
१६-१७ १८ मौसल, महाप्रास्थानिक,					
स्वर्गारोहण।	(११३)	१	१०८	१) एक	।)

सूचना—ये सब पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो डाकव्यय माफ करेंगे, अन्यथा प्रत्येक ६० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री-स्वाध्याय मंडल, औंध (जि० सातारा).

मुद्रक और प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

REGISTERED NO. B. 1819

अङ्क ८८ [शांतिपर्व अंक १२]

महाभारत

भाषा-भाष्य-समेत

संपादक-श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल, औंध, जि. सातारा

संपूर्ण महाभारत तैयार है।

मूल्य।

सजिल्द ६५) डा० व्य० अलग

बिना जिल्द ६०) " " "

मंत्री—स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि. सातारा)

१२ अंकोंका मूल्य म. आ. से. ६) और वी.पी. से ७) विदेशके लिये ८)

पूर्वं नित्यं सर्वगतं मनोहेतुमलक्षणम् ।
अज्ञानकर्म निर्दिष्टमेतत्कारणलक्षणम् ॥ ६ ॥
तत्कारणैर्हि संयुक्तं कार्यसंग्रहकारकम् ।
येनैतद्वर्तते चक्रमनादिनिधनं महत् ॥ ७ ॥
अव्यक्तनाभं व्यक्तारं विकारपरिमण्डलम् ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं चक्रं स्निग्धाक्षं वर्तते ध्रुवम् ॥ ८ ॥
स्निग्धत्वात्तिलवत्सर्वं चक्रेऽस्मिन्पीड्यते जगत् ।
तिलपीडैरिवाक्रम्य भोगैरज्ञानसम्भवैः ॥ ९ ॥
कर्म तत्कुरुते तर्षादहंकारपरिग्रहात् ।
कार्यकारणसंयोगे स हेतुरुपपादितः ॥ १० ॥

अन्तमें भी अज्ञान उपाधि संहत जीवमें सङ्गत होनेमें समर्थ न होंगे अर्थात् भूमि आदि सब पदार्थ नित्यसिद्ध जीव के सहित कभी सङ्गत नहीं हो सकते । अनादि, नित्य, सर्वगत, मनके कारण, अनिर्वचनीय आत्माको जो मनुष्य पशु आदि शरीरोंमें तादात्म्य प्रतीति हुआ करती है, वह मायाकार्य कहके वेदमें वर्णित है । (४—६)

जीव पूर्ववासनाके वशमें होकर कर्म-में प्रवृत्त होता है, वासनासे कर्म और कर्मसे वासना, यह जो सदा प्रवहमान अनादिनिधन महत् चक्र संग्रहके जरिये वर्त्तमान है, जीव स्वरूप आत्मा वासना समूहमें संयुक्त होकर उन कार्योंको संग्रह कर रहा है । अव्यक्त बुद्धिवासना समूह जिसकी नाभी अर्थात् नाभीकी भांति अन्तरङ्ग, व्यक्त देहेन्द्रिय आदि जिसके अर अर्थात् नाभी और नेमिके सन्धानकारक काष्ठोंकी तरह बहिरङ्ग, ज्ञान, क्रिया आदि विकार जिसकी नेमि अर्थात् नेमिकी भांति व्यापक, रञ्जना-त्मक रजोगुण जिसका अक्ष अर्थात् पहियेकी तरह चलनेवाला है, वही जन्ममरणप्रवाहरूप, संघातचक्र क्षेत्र-ज्ञके जरिये अधिष्ठित होकर अविचलित रूपसे वर्त्तमान है । (७—८)

जैसे तिलको पेरनेवाले तेली लोग प्रीतिपूर्वक तिलोंको चक्रके बीच पेरते हैं, वैसेही सब दुःखभोग रजोगुणके आक्रमण निबन्धनसे इस संघातचक्र में आक्रमण करके अज्ञानसे समस्त जगज्जनोंको निष्पीडन कर रहा है । वह संघातस्वरूप चक्र फलतृष्णाके कारण अभिमानसे परिगृहीत होकर कर्म करता है, कार्य और कारण, इन दोनोंके संयोग उपस्थित होनेसे वह कार्य ही कारणरूपसे समर्थित होता है ।

नाभ्येति कारणं कार्यं न कार्यं कारणं तथा।
कार्याभ्यक्तेन करणे कालो भवति हेतुमान् ॥ ११ ॥
हेतुयुक्ताः प्रकृतयो विकाराश्च परस्परम्।
अन्योऽन्यमभिवर्तन्ते पुरुषाधिष्ठिताः सदा ॥ १२ ॥
राजसैस्तामसैर्भावैश्च्युतो हेतुबलान्वितः।
क्षेत्रज्ञमेवानुयाति पांसुर्वातेरितो यथा ॥ १३ ॥
न च तैः स्पृश्यते भावैर्न ते तेन महात्मना।
सरजस्कोऽरजस्कश्च नैव वायुर्भवेद्यथा ॥ १४ ॥
तथैतदन्तरं विद्यात्सत्त्वक्षेत्रज्ञयोर्बुधः।
अभ्यासात्स तथा युक्तो न गच्छेत्प्रकृतिं पुनः ॥१५॥
सन्देहमेतमुत्पन्नमच्छिनद्भगवानृषिः।

रसरीमें सर्पभ्रमकी भांति कार्यकारणकी विषमसत्तासे कारणमें कार्य और कार्यमें कारण प्रवेश संघटित नहीं होता। कार्योंके अभिव्यक्त निमित्त अदृष्टादि सहाययुक्त काल ही हेतु रूपसे समर्थ हुआ करता है। (९-११)

कर्मयुक्त पहले कही हुई अष्ट प्रकृति और षोडश विकार पुरुषके अधिष्ठानसे सदा संहत हुए रहते हैं। जैसे वायुके जरिये धूलि उडती है, वैसे ही पूर्व देहसे विभ्रष्ट जीव, राजस वा तामस संस्कार-युक्त और कर्म तथा पूर्व प्रज्ञासे संयुक्त होकर क्षेत्रज्ञको लक्ष्य करते हुए लोका-न्तरमें गमन किया करता है। जैसे नीरजस्क वायु सरजस्क नहीं होता, रज, सत्त्व, तमोगुणसे देहेन्द्रियभूत सूक्ष्म भावनिवह पूर्वोक्त कर्म और पूर्व प्रज्ञा आदि आत्माको स्पर्श करनेमें समर्थ नहीं होतीं। महान् आत्मकर्तृ कभी उक्त सब भाव स्पृष्ट नहीं होते अर्थात् जैसे रजोहीन वायुमें सरजस्कत्व की भ्रान्ति हुआ करती है, आत्मामें देह आदि सङ्ग भी उसही प्रकार के कार्य हैं। (१२-१४)

विद्वान् पुरुष वायु और धूलिके पृथग्भाव की तरह जीव का पृथक् भाव जानकर भी देहादिके आत्माके सहित आत्माके तादात्म ज्ञानके अभ्या-सके कारण शुद्ध स्वरूप आत्मको जान-नेमें समर्थ नहीं है। आत्मा विभु होकर भी स्वभावमें बद्ध इत्यादि रूपसे उत्पन्न हुए सब सन्देह "पुरुष असङ्ग" इत्यादि मन्त्रवर्णसे विच्छिन्न हुए आत्मा देहातिरिक्त है इसे जानके भी साम्राज्य कामी राजा जैसे राजसूय यज्ञके जरिये शरीरमें कृत्रिम मूर्धाभिषिक्त लक्षणकी

तथा वार्त्तां समीक्षेत कृतलक्षणसंमिताम् ॥ १६ ॥
बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते पुनः ॥ १७ ॥ [७६१०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २११ ॥

भीष्म उवाच— प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो यथा समुपलभ्यते ।
तेषां विज्ञाननिष्ठानामन्यत्तत्त्वं न रोचते ॥ १ ॥
दुर्लभा वेदविद्वांसो वेदोक्तेषु व्यवस्थिताः ।
प्रयोजनमहत्त्वात्तु मार्गमिच्छन्ति संस्तुतम् ॥ २ ॥
सद्भिराचरितत्वात्तु वृत्तमेतदगर्हितम् ।
इयं सा बुद्धिरभ्येत्य यया याति परां गतिम् ॥ ३ ॥
शरीरवानुपादत्ते मोहात्सर्वान्परिग्रहान् ।
क्रोधलोभादिभिर्भावैर्युक्तो राजसतामसैः ॥ ४ ॥
नाशुद्धमाचरेत्तस्मादभीप्सन्देहयापनम् ।

अपेक्षा करते हैं, वैसेही मुमुक्षु मनुष्य विद्या साधनके समय कर्त्तृत्वादि विशेषणकी अपेक्षा करते हैं, किन्तु समय पर उसे परित्याग किया करते हैं। जैसे अग्निमें जले हुए बीज फिर नहीं जमते, वैसेही अविद्या आदि क्लेशोंके ज्ञान रूपी अग्निसे जलनेपर आत्मा फिर शरीर ग्रहण नहीं करती। (१५-१७)

शान्तिपर्वमें २११ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २१२ अध्याय।

भीष्म बोले, जिस प्रकार कर्मनिष्ठ मनुष्योंको प्रवृत्तिलक्षण धर्म अभिलषित है, वैसेही विज्ञाननिष्ठ पुरुषोंको विज्ञानके अतिरिक्त दूसरे विषयोंमें रुचि नहीं होती। वेदोक्त अग्निहोत्र आदि कार्य और शम, दम आदि विषयोंमें निष्ठावान् वेदविद्याशाली पुरुष अत्यन्त दुर्लभ हैं, अत्यन्त बुद्धिमान् पुरुष महत् प्रयोजनके कारण स्वर्ग और मोक्ष, इन दोनोंके बीच श्रेष्ठ मोक्षकीही कामना किया करते हैं। कर्मत्यागरूप व्यवहार साधुओंके आचरित कहके गर्हित नहीं हैं, निवृत्ति लक्षणवाली बुद्धिको अवलम्बन करनेसे मनुष्य मोक्ष पाते हैं। शरीराभिमानी मनुष्य मोहके कारण रजोगुण और तमोगुण जनित क्रोध लोभ आदिके सहित संयुक्त होकर सब विषयोंको ग्रहण किया करता है; इसलिये जो लोग शरीरके सङ्ग सम्बन्धकी अभिलाष करें उन्हें अशुद्ध

कर्मणा विवरं कुर्वन्न लोकानाप्नुयाच्छुभान् ॥ ५ ॥
लोहयुक्तं यथा हेम विपक्वं न विराजते।
तथाऽपक्वकषायाख्यं विज्ञानं न प्रकाशते ॥ ६ ॥
यश्चाधर्मं चरेल्लोभात्कामक्रोधावनुप्लवन्।
धर्म्यं पन्थानमाक्रम्य सानुबन्धो विनश्यति ॥ ७ ॥
शब्दादीन्विषयांस्तस्मान्न संरागादयं व्रजेत्।
क्रोधो हर्षो विषादश्च जायन्ते ह परस्परात् ॥ ८ ॥
पञ्चभूतात्मके देहे सत्त्वे राजसतामसे।
कमभिष्टुवते चायं कं वाऽक्रोशति किं वदन् ॥ ९ ॥
स्पर्शरूपरसाद्येषु सङ्गं गच्छन्ति बालिशाः।
नावगच्छन्ति विज्ञानादात्मानं पार्थिवं गुणम् ॥१०॥
मृन्मयं शरणं यद्वन्मृदैव परिलिप्यते।
पार्थिवोऽयं तथा देहो मृद्विकारान्न नश्यति ॥ ११ ॥
मधु तैलं पयः सर्पिर्मांसानि लवणं गुडः।

आचरण करना उचित नहीं है। कर्मके जरिये आत्मज्ञानका द्वार बनाते हुए मनुष्य कर्मजनित स्वर्ग आदि शुभ लोकोंके सुखसम्भोगको स्वीकार न करे। (१—५)

जैसे लोहमिश्रित पाकहीन सुवर्ण शोभित नहीं होता, वैसेही जिस पुरुषने राग आदि दोषोंको जय नहीं किया, उसमें विज्ञान प्रकाशित नहीं होता। जिस पुरुषने धर्मपथको अवलम्बन करके काम क्रोधका अनुसरण करते हुए लोभके वशमें होकर अधर्म आचरण करता है, वह मूलके सहित विनष्ट होता है, इसलिये धर्मपथको अवलम्बन करनेवाले मनुष्य रागादिविषयके कारण शब्द स्पर्श आदि विषयोंमें आसक्त न होवें। क्रोध, हर्ष और विषाद, रज, सत्व और तमोगुणसे उत्पन्न हुआ करते हैं; सत्त्व, रज और तमोगुणके कार्यभूत पञ्चभूतात्मक शरीरमें जीव किसकी क्या कहके स्तुति करेगा। मूढ लोगही स्पर्श रूप, रस आदि विषयोंमें आसक्त हुआ करते हैं, वे उलटी बुद्धिके कारण देहको पृथ्वीका विकार नहीं समझते। (६—१०)

जैसे महीमय गृह मृत्तिकासे लिप्त होता है, वैसेही यह पार्थिव शरीर मट्टीके विकार अन्नादिका उपयोग करके जीवित रहता है। मधु, तेल, दूध, घृत अनेक प्रकारके मांस, नमक, गुड अनेक

धान्यानि फलमूलानि मृद्विकाराः सहाम्भसा॥ १२ ॥
यद्वत्कान्तारमातिष्ठन्नौत्सुक्यं समनुव्रजेत् ।
ग्राम्यमाहारमादद्यादस्वाद्वपि हि यापनम् ॥ १३ ॥
तद्वत्संसारकान्तारमातिष्ठन् श्रमतत्परः ।
यात्रार्थमद्यादाहारं व्याधितो भेषजं यथा ॥ १४ ॥
सत्यशौचार्जवत्यागैर्वर्चसा विक्रमेण च ।
क्षान्त्या धृत्या च बुद्ध्या च मनसा तपसैव च ॥१५॥
भावान्सर्वानुपावृत्तान् समीक्ष्य विषयात्मकान् ।
शान्तिमिच्छन्नदीनात्मा संयच्छेदिन्द्रियाणि च ॥१६॥
सत्त्वेन रजसा चैव तमसा चैव मोहिताः ।
चक्रवत्परिवर्तन्ते ह्यज्ञानाज्जन्तवो भृशम् ॥ १७ ॥
तस्मात्सम्यक्परीक्षेत दोषानज्ञानसम्भवान् ।
अज्ञानप्रभवं दुःखमहङ्कारं परित्यजेत् ॥ १८ ॥
महाभूतानीन्द्रियाणि गुणाः सत्त्वं रजस्तमः ।
त्रैलोक्यं सेश्वरं सर्वमहंकारे प्रतिष्ठितम् ॥ १९ ॥

तरहके धान्य और फल, मूल, सजल मृत्तिकाके विकारमात्र हैं। जैसे कान्तारवासी सन्यासी मिष्टान्नादिके भोजनमें अनुराग न करके देहयात्रा निर्वाहके निमित्त अस्वादिष्ट ग्राम्य आहार किया करते हैं, वैसेही संसारकान्तारवासी मनुष्य परिश्रममें तत्पर होकर वेद आदि श्रवण निर्वाहके निमित्त रोगीके औषध सेवन करनेकी तरह आहार करे, इन्द्रियोंकी प्रीतिकरी वस्तुको भोजन करनेमें अनुरक्त न होवे। (११—१४)

यथार्थ वचन, अन्तर्बाह्य शौच, सरलता, वैराग्य, अध्ययनजनित तेज, मनको जय करनेमें पराक्रम, सन्तोष, क्षमा, वेद सुननेसे, बुद्धि और मनके जरिये क्रियमाण साधु और असाधु आलोचना रूपी तपस्याके सहारे सब विषयमय भावोंको अवलोकन करके उदारचित्त होकर शान्तिकी इच्छा करते हुए इन्द्रियोंको संयत करे। सब जन्तु सत्व, रज और तमोगुणसे मोहित होके अज्ञानके वशमें होकर चक्रकी तरह भ्रमण किया करते हैं; इसलिये अज्ञान सम्भव दोषोंकी पूर्ण रीतिसे परीक्षा करके अज्ञानप्रभव दुःख, अहंकारको परित्याग करे। सब महाभूत, इन्द्रियां, सत्व, रज, तम, गुण, जीवके

यथेह नियतः कालो दर्शयत्यार्तवान् गुणान् ।
तद्वद्भूतेष्वहंकारं विद्यात्कर्मप्रवर्तकम् ॥ २० ॥
संमोहकं तमो विद्यात्कृष्णमज्ञानसम्भवम् ।
प्रीतिदुःखनिबद्धांश्च समस्तांस्त्रीनथो गुणान् ॥ २१ ॥
सत्त्वस्य रजसश्चैव तमसश्च निबोध तान् ।
प्रसादो हर्षजा प्रीतिरसन्देहो धृतिः स्मृतिः ॥
एतान् सत्त्वगुणान् विद्यादिमान् राजसतामसान् ॥२२॥
कामक्रोधौ प्रमादश्च लोभमोहौ भयं क्लमः ।
विषादशोकावरतिर्मानदर्पावनार्यता ॥ २३ ॥
दोषाणामेवमादीनां परीक्ष्य गुरुलाघवम् ।
विमृशेदात्मसंस्थानमेकैकमनुसन्ततम् ॥ २४ ॥
युधिष्ठिर उवाच- के दोषा मनसा त्यक्ताः के बुद्ध्या शिथिलीकृताः ।
के पुनः पुनरायान्ति के मोहादफला इव ॥ २५ ॥
केषां बलाबलं बुद्ध्या हेतुभिर्विमृशेद् बुधः ।

सहित तीनों लोक और कर्म अहंकारमें प्रतिष्ठित है, अर्थात् ये सब अहंकार-कल्पित हैं। (१५-१९)

जैसे इस लोकमें नियमित काल ऋतुगुणको प्रदर्शित करता है, वैसेही अहंकारको भी भूतगुणमें कर्मप्रवर्त्तक जानो। अहंकारकी तरह अप्रकाश अज्ञान-सम्भव तमोगुण सम्मोहजनक, सत्व-गुण प्रीति जनक और रजोगुण दुःख-जनक है, इसी प्रकार तीनों गुणोंको जानना योग्य है। सत्व, रज और तमो-गुणके कार्यभूत विशेष गुणोंको सुनो। प्रसाद, हर्षजनित प्रीति, असन्देह, धृति और स्मृति, इन सबको सत्त्वगुण जाने; और काम, क्रोध, प्रमाद, लोभ, मोह, भय, क्लम, विषाद, शोक, अनुराग, अभिमान, दर्प, अनार्यता, इन्हें राजस और तामस गुण जानना चाहिये। इस ही प्रकार दोषोंके गौरव और लाघवकी परीक्षा करके अपनेमें इनके बीच कौन कौनसे दोष हैं, कौन दोष नष्ट हुए हैं और कौनकौनसे दोष बाकी हैं, उन्हें एक एक करके सदा आलोचना करे। (२०—२४)

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! प्राचीन मुमुक्षु मनुष्योंने किन किन दोषोंको मनसे परित्याग किया था, किन किन दोषोंको बुद्धिबलसे शिथिल किया था; कौन कौनसे दोष अपरिहार्य हैं, कौन कौनसे दोष उपस्थित होकर भी निष्फल

एष मे संशयस्तात तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच— दोषैर्मूलादवच्छिन्नैर्विशुद्धात्मा विमुच्यते।
विनाशयति सम्भूतमयस्मयमयो यथा।
तथा कृतात्मा सहजैर्दोषैर्नश्यति तामसैः ॥ २७ ॥
राजसं तामसं चैव शुद्धात्मकमकल्मषम्।
तत्सर्वं देहिनां बीजं सत्त्वमात्मवतः समम् ॥ २८ ॥
तस्मादात्मवता वर्ज्यं रजश्च तम एव च।
रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तं सत्त्वं निर्मलतामियात् ॥ २९ ॥
अथ वा मन्त्रवद् ब्रूयुरात्मादानाय दुष्कृतम्।

होते हैं, और विद्वान् पुरुष किन किन दोषोंके बलाबलकी बुद्धि और युक्तिके सहारे आलोचना करें? इस विषयमें मुझे सन्देह उत्पन्न हुआ है, इसलिये आप मेरे समीप उस विषयको वर्णन करिये। (२५—२६)

भीष्म बोले, शुद्ध चित्तवाले मनुष्य मूलच्छेदनके सहित दोषोंका नाश करें। जैसे वास्यधारा लोहनिगडको काटके स्वयं विनष्ट होती है, वैसेही ध्यान संस्कृता बुद्धि सहज तामस दोषोंसे उत्पन्न हुई वस्तुमात्रकाही विनाश करते हुए स्वयं नष्ट हुआ करती है। राजस, तामस और कामरहित शुद्धात्मक, सत्व, ये सब गुण शरीरधारियोंके देह-प्राप्ति विषयमें बीज स्वरूप हैं; परन्तु जितचित्त लोगोंकी ब्रह्मप्राप्तिका उपाय सत्वमात्र है; इसलिये चित्तविजयी मनुष्योंको रजोगुण और तमोगुण त्यागना उचित है। रजोगुण और तमोगुणसे निर्मुक्त बुद्धिही निर्मलताको प्राप्त होती है। (२७-२९)

अथवा बुद्धि वशीकरण निमित्त विहित मन्त्रयुक्त यज्ञादि कर्मोंको कोई कोई दुष्कृति कहा करते हैं, अर्थात् यज्ञादि कर्मोंमें जीवहिंसा रहनेसे वह दुरदृष्टविधायक कहके किसी किसी मतावलम्बी मनुष्योंने उसे निन्दित कार्य रूपसे गिना है, यथार्थमें वे मन्त्र युक्त कार्यही वैराग्यके निमित्त हुआ करते हैं और शुद्ध धर्म स्वरूप दम आदिकी रक्षाके विषयमें यज्ञादिही धर्म रूपसे विहित है; यज्ञादिके अतिरिक्त पशुहिंसाही अनर्थका कारण हुआ करती है, विधिविहित हिंसामें वैसी अनर्थहेतुता न रहनेपर भी यदि हिंसासे कुछ बुराई उत्पन्न हो, तो वह सामान्य प्रायश्चितसे दूर की जाती है। जिसका यज्ञ आदिकोंसे बहुतसा पुण्यसञ्चय हुआ है, उसका थोडा पाप प्रायश्चित्तसे

स वै हेतुरनादाने शुद्धधर्मानुपालने ॥ ३० ॥
रजसाऽधर्मयुक्तानि कार्याण्यपि समाप्नुते ।
अर्थयुक्तानि चात्यर्थं कामान् सर्वांश्च सेवते ॥ ३१ ॥
तमसा लोभयुक्तानि क्रोधजानि च सेवते ।
हिंसाविहाराभिरतस्तन्द्रीनिद्रासमन्वितः ॥ ३२ ॥
सत्त्वस्थः सात्त्विकान् भावान् शुद्धान्पश्यति संश्रितः ।
स देही विमलः श्रीमान् श्रद्धाविद्यासमन्वितः ॥३३॥ [७५४३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१२ ॥

भीष्म उवाच— रजसा साध्यते मोहस्तमसा भरतर्षभ ।
क्रोधलोभौ भयं दर्प एतेषां सादनाच्छुचिः ॥ १ ॥
परमं परमात्मानं देवमक्षयमव्ययम् ।
विष्णुमव्यक्तसंस्थानं विदुस्तं देवसत्तमम् ॥ २ ॥
तस्य मायापिनद्धाङ्गा नष्टज्ञाना विचेतसः ।

दूर हो सकता है सुखसमुद्रमें मग्न मनुष्य अल्पदुःख सहनेमें अवश्यही समर्थ हुआ करते हैं। (३०)

हिंसाविहारमें सदा अनुरक्त, तन्द्रा और निद्रायुक्त मनुष्य रजोगुणके जरिये अर्थयुक्त कार्योंको प्राप्त करते और समस्त कामोंकी सेवा करते तथा तमोगुणके सहारे लोभयुक्त क्रोधज कार्यों-को सेवन किया करते हैं। सत्त्वगुणावलम्बी श्रद्धा और विद्यायुक्त पवित्र चित्तवाले श्रीमान् मनुष्य बुद्धिसे सात्त्विक भावको आलोचना किया करते हैं; इसलिये वैदिक कर्मोंमें काम, क्रोध आदिके हेतुभूत राजस और तामस भाव परित्याग है, और सात्त्विक भाव अवश्य सेवन करने योग्य हैं। (३१-३३)

शान्तिपर्वमें २१२ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २१३ अध्याय।

भीष्म बोले, हे भरतश्रेष्ठ! रज और तमोगुणसे आत्मासे भिन्न आत्मज्ञान स्वरूप मोह उत्पन्न होता है, मोहसे क्रोध, लोभ, भय और दर्प प्रकट होते हैं, इन सबको नष्ट करतेही मनुष्योंका अन्तःकरण शुद्ध होता है। प्राचीन लोग अविनाशी ह्रासहीन सर्वाश्रय देवसत्तम पञ्चकोशातीत अव्यक्त, विभु परमात्माको विष्णु कहके जानते थे, अब भी शुद्धचित्तवाले पुरुष उसे वैसाही जानते हैं। (१—२)

उसही विष्णुकी मायासे जिनकी

मानवा ज्ञानसंमोहात्ततः क्रोधं प्रयान्ति वै ॥ ३ ॥
क्रोधात्काममवाप्याथ लोभमोहौ च मानवाः ।
मानदर्पावहंकारमहंकारात्ततः क्रियाः ॥ ४ ॥
क्रियाभिः स्नेहसम्बन्धात्स्नेहाच्छोकमनन्तरम् ।
सुखदुःखक्रियारम्भाजन्माजन्मकृतक्षणाः ॥ ५ ॥
जन्मतो गर्भवासं तु शुक्रशोणितसम्भवम् ।
पुरीषमूत्रविक्लेदं शोणितप्रभवाविलम् ॥ ६ ॥
तृष्णाभिभूतस्तैर्बद्धस्तानेवाभिपरिप्लवन् ।
संसारतन्त्रवाहिन्यस्तत्र बुद्ध्येत योषितः ॥ ७ ॥
प्रकृत्याः क्षेत्रभूतास्ता नराः क्षेत्रज्ञलक्षणाः ।
तस्मादेवाविशेषेण नरोऽनीयाद्विशेषतः ॥ ८ ॥
कृत्या ह्येता घोररूपा मोहयन्त्यविचक्षणान् ।
रजस्यन्तर्हिता मूर्तिरिन्द्रियाणां सनातनी ॥ ९ ॥
तस्मात्तदात्मकाद्रागाद्बीजाज्जायन्ति जन्तवः ।

इन्द्रियां विकृत हुई हैं, वे सब मनुष्य ज्ञानभ्रष्ट हैं; इसलिये कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेकसे रहित होकर बुद्धिकी विपरीततासे विक्षिप्तचित्त होते हैं; विक्षिप्तचित्तता क्रोधका धर्म है; क्रोधसे काम उत्पन्न होता है, कामसे धीरे धीरे लोभ, मोह, अभिमान, उच्छृङ्खलता और अहंकार प्राप्त होता है; अहंकारसे जननादि सब कार्य स्वीकार किये जाते हैं, जननादि क्रियासे स्नेहसम्बन्ध उत्पन्न होता है, स्नेह होनेसे ही अन्तमें शोक उत्पन्न हुआ करता है और जन्ममरणलक्षण सुख दुःख कार्यका आरम्भ होता है। जन्मके कारण शुक्र शोणितसे उत्पन्न, पुरीष, मूत्र, क्लेदयुक्त शोणित समूहमें आविल गर्भवास हुआ करता है। उस समय जीव तृष्णामें फंसके और क्रोध आदिसे बद्ध होकर उससे पार होनेके लिये योषिद्गणको संसार पटका कारण समझता है। (३-७)

स्त्रियां स्वाभाविक ही सन्तानोत्पत्तिके क्षेत्रभूत हैं, पुरुष क्षेत्रज्ञ हैं, इससे मनुष्य यत्नपूर्वक स्त्रियोंका संसर्ग परित्याग करे। शत्रुको मारनेके लिये मन्त्रमयी शक्तिकी तरह घोररूपिणी ये स्त्रियेंही मूर्ख लोगोंको मोहित करती हैं, इन्द्रियोंके जरिये कल्पित यह सनातनी मूर्ति मृत्तिकाके बीच घडेकी भांति सूक्ष्मरूपसे रजोगुणमें अन्तर्हित होरही है; इस लिये तृष्णात्मक रागरूप

स्वदेहजानस्वसंज्ञान् यद्वदङ्गात्कृमींस्त्यजेत् ॥
स्वसंज्ञानस्वकांस्तद्वत्सुतसंज्ञान् कृमींस्त्यजेत् ॥ १० ॥
शुक्रतो रसतश्चैव देहाज्जायन्ति जन्तवः ।
स्वभावात्कर्मयोगाद्वा तानुपेक्षेत बुद्धिमान् ॥ ११ ॥
रजस्तमसि पर्यस्तं सत्त्वं च रजसि स्थितम् ।
ज्ञानाधिष्ठानमव्यक्तं बुद्ध्यहंकारलक्षणम् ॥ १२ ॥
तद्बीजं देहिनामाहुस्तद्बीजं जीवसंज्ञितम् ।
कर्मणा कालयुक्तेन संसारपरिवर्तनम् ॥ १३ ॥
रमत्ययं यथा स्वप्ने मनसा देहवानिव ।
कर्मगर्भैर्गुणैर्देही गर्भे तदुपलभ्यते ॥ १४ ॥
कर्मणा बीजभूतेन चोद्यते यद्यदिन्द्रियम् ।
जायते तदहंकाराद्रागयुक्तेन चेतसा ॥ १५ ॥
शब्दरागाच्छ्रोत्रमस्य जायते भावितात्मनः ।
रूपरागात्तथा चक्षुर्घ्राणं गन्धजिघृक्षया ॥ १६ ॥

बीजसे सब जन्तु उत्पन्न होते हैं। जैसे पुरुष स्वदेहज, मनुष्य संज्ञारहित अनाप्त यूकजातीय कीटोंको, परित्याग किया करते हैं, वैसे ही मनुष्य नामधारी, अनाप्त, सुतसंज्ञक कीडोंको परित्याग करे। रेत और स्वेदरूप स्नेहहेतुसे स्वभाव वा कर्म योग निबन्धनसे जन्तुगण देहसे उत्पन्न होते हैं, बुद्धिमान् पुरुष उनकी उपेक्षा करे। प्रवृत्ति और प्रकाशात्मक रजोगुण, सत्वगुण; अज्ञानात्मक तमोगुणमें लीन हुआ करते हैं, उसही अज्ञानका निवासस्थल ज्ञानमें अज्ञान अध्यस्त होकर बुद्धि और अहङ्कारका ज्ञापक होता है। बुद्धिमान् लोग ज्ञानमें अध्यस्त उस अज्ञानको ही देहधारियोंका बीज कहा करते हैं और उस बीजका ही नाम देही है। वह देही कालके अनुसार कर्मसे इस संसारमें सब प्रकारसे वर्त्तमान है। (८–१३)

जैसे जीव सपनेमें देहधारीकी भांति मनही मन क्रीडा करता है, वैसेही कर्म गर्भ गुणके जरिये जननीके जठरमें क्रीडा करता है। मांसपिण्डमय शरीरमें जीव प्रकट होके पूर्ववासनासे जिन जिन विषयोंको स्मरण करता है, रागयुक्त चित्तसे अहङ्कारके जरिये उनकी उन्हीं विषयोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। आत्मरूपसे उत्पन्न हुए जीवके शब्दवासनाके कारण श्रवणेन्द्रिय, रूपवासनासे दर्शनेन्द्रिय,

स्पर्शने त्वक्तथा वायुः प्राणापानव्यपाश्रयः ।
व्यानोदानौ समानश्च पञ्चधा देहयापनम् ॥ १७ ॥
सञ्जातैर्जायते गात्रैः कर्मजैर्ब्रह्मणा वृतः ।
दुःखाद्यन्तैर्दुःखमध्यैर्नरः शारीरमानसैः ॥ १८ ॥
दुःखं विद्यादुपादानादभिमानाच्च वर्धते ।
त्यागात्तेभ्यो निरोधः स्यान्निरोधज्ञो विमुच्यते ॥१९॥
इन्द्रियाणां रजस्येव प्रलयप्रभवावुभौ ।
परीक्ष्य संचरेद्विद्वान्यथावच्छास्त्रचक्षुषा ॥ २० ॥
ज्ञानेन्द्रियाणीन्द्रियार्थान्नोपसर्पन्त्यतर्षुलम् ।
हीनैश्च करणैर्देही न देहं पुनरर्हति ॥ २१ ॥ [७३६४]

इति श्रीमहा० मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१३॥

भीष्म उवाच— अत्रोपायं प्रवक्ष्यामि यथावच्छास्त्रचक्षुषा ।
तत्त्वज्ञानाच्चरन् राजन् प्राप्नुयात्परमां गतिम् ॥ १ ॥

गन्ध ग्रहणकी इच्छासे घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शवासनासे त्वगिन्द्रिय उत्पन्न होती है, और जीवकी देहयात्रा निर्वाहके निमित्त प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान, ये पञ्चवायु शरीरको आश्रय करती हैं। मनुष्य शरीर और मानस दुःखके आदि, मध्य और अन्तके सहित पूरी तरहसे निष्पन्न श्रोत्रादि युक्त शरीरसे पूरित होकर जन्म ग्रहण किया करता है । गर्भमें देह और इन्द्रिय आदिका अङ्गीकार तथा उत्पन्न होनेके अनन्तर अभिमानसे देहकी तरह दुःखकी वृद्धि होती है, और मरनेके अनन्तर भी दुःख वर्द्धित हुआ करता है। इन सब कारणोंसे दुःखका निरोध करना उचित है जो दुःखको रोकना जानते हैं, वे मुक्त होते हैं। (१४-१९)

रजोगुणसे ही इन्द्रियोंकी उत्पत्ति और प्रलय हुआ करती है अर्थात् रजोरूप प्रवृत्ति निरोधके जरिये इन्द्रिय-निरोधके कारण दुःखकी शान्ति होती है । विद्वान् पुरुष शास्त्र दृष्टिसे विधिपूर्वक इसकी परीक्षा करके संसारमें विचरें । ज्ञानेन्द्रिय सब इन्द्रियोंके विषयोंको प्राप्त होनेपर भी तृष्णारहित पुरुषके निकट नहीं जा सकती। इन्द्रियोंके क्षीण होनेपर जीव फिर देह संसर्ग ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं होता। २०-२१

शान्तिपर्वमें २१३ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें २१४ अध्याय

भीष्म बोले, हे राजन् ! मैं शास्त्र दर्शनके सहारे यथाक्रमसे इन्द्रियजय

सर्वेषामेव भूतानां पुरुषः श्रेष्ठ उच्यते।
पुरुषेभ्यो द्विजानाहुर्द्विजेभ्यो मन्त्रदर्शिनः ॥ २ ॥
सर्वभूतात्मभूतास्ते सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः।
ब्राह्मणा वेदशास्त्रज्ञास्तत्त्वार्थगतनिश्चयाः ॥ ३ ॥
नेत्रहीनो यथा ह्येकः कृच्छ्राणि लभतेऽध्वनि।
ज्ञानहीनस्तथा लोके तस्माज्ज्ञानविदोऽधिकाः ॥ ४ ॥
तांस्तानुपासते धर्मान् धर्मकामा यथागमम्।
न त्वेषामर्थसामान्यमन्तरेण गुणानिमान् ॥ ५ ॥
वाग्देहमनसां शौचं क्षमा सत्यं धृतिः स्मृतिः।
सर्वधर्मेषु धर्मज्ञा ज्ञापयन्ति गुणाञ्छुभान् ॥ ६ ॥
यदिदं ब्रह्मणो रूपं ब्रह्मचर्यमिति स्मृतम्।
परं तत्सर्वधर्मेभ्यस्तेन यान्ति परां गतिम् ॥ ७ ॥
लिङ्गसंयोगहीनं यच्छब्दस्पर्शविवर्जितम्।
श्रोत्रेण श्रवणं चैव चक्षुषा चैव दर्शनम् ॥ ८ ॥

विषयका उपाय कहूंगा, उसे जानके मनुष्य दम आदिका अनुष्ठान करनेसे परम गति पावेंगे। सब जीवोंके बीच मनुष्यको श्रेष्ठ कहा जाता है, मनुष्योंके बीच ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं; द्विजोंके बीच मन्त्र जाननेवाले ब्राह्मणको श्रेष्ठ कहते हैं, वेदशास्त्र जाननेवाले ब्राह्मणोंने सर्व भूतोंके आत्मभूत सर्वज्ञ सर्वदर्शी और यथार्थ वस्तुके निश्चयको जाना है, इसी से वे सबसे श्रेष्ठ हैं। जैसे नेत्रहीन मनुष्य अकेले अत्यन्त क्लेश पाता है, वैसेही ज्ञानहीन मनुष्य भी इस संसारमें अनेक दुःख पाते हैं। इसलिये ब्रह्मवित् पुरुष ही सबसे श्रेष्ठ हैं। (१-४)

धर्मकी इच्छा करनेवाले मनुष्य शास्त्रके अनुसार इष्टापूर्त्त आदि धर्मोंकी उपासना किया करते हैं, परन्तु ये लोग इन सब धर्मोंके फलस्वरूप मोक्षाख्य निरतिशय धर्मके अतिरिक्त पीछे कहे हुए गुणोंकी उपासना नहीं करते, धर्मज्ञ लोग प्रवृत्ति निवृत्ति स्वरूप सब धर्मोंमें ही वाक्य, शरीर और मनकी पवित्रता, क्षमा, सत्य, धृति और स्मृति, इन सबको शुभ गुण कहा करते हैं। ब्रह्मचर्य जो कि ब्रह्मका रूप कहके स्मृत हुआ है, वही सब कर्मोंसे श्रेष्ठ है; क्यों कि मनुष्य उससे परम गति पाता है। जो पञ्चप्राण मन, बुद्धि और दशों इन्द्रिय इस सतरह अवयवात्मक लिङ्गशरीरके संयोगसे रहित है, जो शब्द

वाक्संभाषाप्रवृत्तं यत्तन्मनः परिवर्जितम् ।
बुध्या चाध्यवसीयीत ब्रह्मचर्यमकल्मषम् ॥ ९ ॥
सम्यग्वृत्तिर्ब्रह्मलोकं प्राप्नुयान्मध्यमः सुरान् ।
द्विजाग्र्यो जायते विद्वान् कन्यसीं वृत्तिमास्थितः ॥१०॥
सुदुष्करं ब्रह्मचर्यमुपायं तत्र मे शृणु ।
संप्रदीप्तमुदीर्णं च निगृह्णीयाद् द्विजो रजः ॥ ११ ॥
योषितां न कथा श्राव्या न निरीक्ष्या निरम्बराः ।
कथंचिद्दर्शनादासां दुर्बलानां विशेद्रजः ॥ १२ ॥
रागोत्पन्नश्चरेत्कृच्छ्रं महार्तिः प्रविशेदपः ।
मग्नः स्वप्ने च मनसा त्रिर्जपेदघमर्षणम् ॥ १३ ॥
पाप्मानं निर्दहेदेवमन्तर्भूतरजोमयम् ।
ज्ञानयुक्तेन मनसा सन्ततेन विचक्षणः ॥ १४ ॥

और स्पर्शहीन है, जिसे कानसे सुना नहीं जाता, और नेत्रसे देखा नहीं जाता, वही शुद्ध अनुभव स्वरूप परब्रह्म है; निर्विकल्प अवस्थाके सहारे उस परब्रह्मको जान सकते हैं। (५-८)

और वाक्शक्ति जिसे कहनेमें समर्थ नहीं है, जो विषयेन्द्रियोंसे रहित होकर केवल मनमें निवास करता है, वह पापस्पर्शसे रहित सविकल्पक अवस्थाके सहारे जानने योग्य ब्रह्मको श्रवण मनन युक्त बुद्धिसे निश्चय करे। जो पूर्ण रीतिसे ब्रह्मचर्य कर सकते हैं, वे मोक्ष लाभ करते हैं, मध्यम भावसे ब्रह्मचर्य करनेवाले मनुष्य सत्य लोकमें गमन करते हैं और जो लोग कनीयसी वृत्ति अवलम्बन करते हैं; वे ब्राह्मण विद्वान् होते हैं। ब्रह्मचर्य अत्यन्त दुष्कर व्रत है, इसलिये उस विषयमें जो उपाय है वह मेरे समीप सुनो। ब्रह्मचारी ब्राह्मण उत्पन्न और संवर्द्धित काम, क्रोध आदिको निग्रह करे; योषित्सम्बन्धीय कथाको न सुने, वस्त्रहीन स्त्रियोंकी ओर न देखे, स्त्रियोंके तनिक भी दर्शनसे अतिथि होनेपर अजितेन्द्रिय मनुष्योंके अन्तःकरणमें राग उत्पन्न हुआ करता है। (९-१२)

स्त्रियोंके विषयमें अनुराग उत्पन्न होनेपर कृच्छ्र व्रतका आचरण करे अर्थात् तीन दिन सबेरे, तीन दिन शामको और तीन दिन अयाचित भोजन करे; फिर तीन दिनतक, अनाहारी रहे, तीन दिन जलके बीच प्रवेश करे। सपनेमें यदि वीर्य स्खलित हो, तो जलमें डूबके मनही मन तीन बार अघमर्षण

कुणपामेध्यसंयुक्तं यद्वदच्छिद्रबन्धनम्।
तद्वद्देहगतं विद्यादात्मानं देहबन्धनम् ॥ १५ ॥
वातपित्तकफाद्रक्तं त्वङ्मांसं स्नायुमस्थि च।
मज्जां देहं शिराजालैस्तर्पयन्ति रसा नृणाम् ॥ १६ ॥
दश विद्याद्धमन्योऽत्र पञ्चेन्द्रियगुणावहाः।
याभिः सूक्ष्माः प्रतायन्ते धमन्योऽन्याः सहस्रशः ॥१७॥
एवमेताः शिरा नद्यो रसोदा देहसागरम्।
तर्पयन्ति यथाकालमापगा इव सागरम् ॥ १८ ॥
मध्ये च हृदयस्यैका शिरा तत्र मनोवहा।
शुक्रं सङ्कल्पजं नृणां सर्वगात्रैर्विमुञ्चति ॥ १९ ॥
सर्वगात्रप्रतायिन्यस्तस्या ह्यनुगताः शिराः।
नेत्रयोः प्रतिपद्यन्ते वहन्त्यस्तैजसं गुणम् ॥ २० ॥
पयस्यन्तर्हितं सर्पिर्यद्वन्निर्मथ्यते खजैः।
शुक्रं निर्मथ्यते तद्वद्देहसङ्कल्पजैः खजैः ॥ २१ ॥
स्वप्नेऽप्येवं यथाऽभ्येति मनः सङ्कल्पजं रजः।

मन्त्रका जप करें। बुद्धिमान् ब्रह्मचारी इसी प्रकार ज्ञानयुक्त श्रेष्ठ मनके जरिये अन्तर्भूत रजोमय पापोंको एकबारही जला दे। जैसे शरीरके भीतर मलवाहिनी नाडी दृढरूपसे बन्धी है, वैसेही शरीरके बीच आत्माको देहबन्धनसे दृढबद्ध जाने। (१३-१५)

सब रस नाडियोंके जरिये मनुष्योंके वात, पित्त, कफ, रक्त, त्वचा, मांस, नसें, हड्डी और मज्जायुक्त देहकी तृप्ति करते हैं इस शरीरमें पञ्च इन्द्रियोंके निज निज विषयोंको ग्रहण करनेवाली दश नाडी हैं, उनसे दूसरी सहस्रों नाडियोंका सम्बन्ध है। जैसे वर्षाकालमें नदियां समुद्रको पूर्ण करती हैं, वैसे ही ये सब रसरूपी जलसे युक्त नाडीरूपी नदियां देहसमुद्रको तृप्त किया करती हैं। हृदयके बीच एक मनोवहा नाडी है, वह नाडी मनुष्योंके सर्वशरीरसे संकल्पजनित शुक्रको चलाकर उपस्थकी ओर लाती है। सब शरीरको सन्तापित करनेवाली नाडियां उस मनोवहा नाडीके अनुगत होकर तेजस गुणको ढोती हुई दोनों नेत्रोंके निकटवर्त्ती होती है। (१६-२०)

जैसे दूधके बीच स्थित मक्खन मथानीसे मथा जाता है, वैसेही देहके सङ्कल्प और इन्द्रियजनित स्त्रियोंके

शुक्रं सङ्कल्पजं देहात् सृजत्यस्य मनोवहा ॥ २२ ॥
महर्षिर्भगवानत्रिर्वेद तच्छुक्रसम्भवम् ।
त्रिबीजमिन्द्रदैवत्यं तस्मादिन्द्रियमुच्यते ॥ २३ ॥
ये वै शुक्रगतिं विदुर्भूतसङ्करकारिकाम् ।
विरागा दग्धदोषास्ते नाप्नुयुर्देहसम्भवम् ॥ २४ ॥
गुणानां साम्यमागम्य मनसैव मनोवहम् ।
देहकर्मा नुदन्प्राणानन्तकाले विमुच्यते ॥ २५ ॥
भविता मनसो ज्ञानं मन एव प्रजायते ।
ज्योतिष्मद्विरजो नित्यं मन्त्रसिद्धं महात्मनाम् ॥ २६ ॥
तस्मात्तदभिघाताय कर्म कुर्यादकल्मषम् ।
रजस्तमश्च हित्वेह यथेष्टां गतिमाप्नुयात् ॥ २७ ॥
तरुणाधिगतं ज्ञानं जरादुर्बलतां गतम् ।
विपक्वबुद्धिः कालेन आदत्ते मानसं बलम् ॥ २८ ॥

दर्शन तथा स्पर्शनसे शुक्र मथित हुआ करता है। सपनेमें योषित-संग न रहने पर भी जब मन स्त्रीविषयक संकल्पसे अनुराग लाभ करता है, तब मनोवहा नाडीके जरिये देहसे संकल्पके कारण शुक्र झरने लगता है। महर्षि अत्रि भगवान् उस शुक्रके उत्पत्ति विषयको विशेषरूपसे जानते हैं; अन्नरस, मनोवहा नाडी और संकल्प, ये तीनों शुक्रके बीज हैं, और इन्द्र इनका अधिष्ठाता है, इसही निमित्त इन्हें इन्द्रिय कहते हैं। जो लोग जीवोंके शुक्रके उद्रेकके कारण अनुलोम और प्रतिलोम गमनसे सङ्करकारिणी गतिका विषय विचार करते हैं, वे विचारपूर्वक विराग और वासनाहीन होकर पुनर्जन्म नहीं पाते। (२१-२४)

जो लोग शरीरके निर्वाहके लिये कर्म किया करते हैं, वे मनके सहारेही सुषुम्ना नाडीमार्गसे योगबलसे तीनों गुणोंकी समता लाभ करके अन्तकालमें जीवन परित्याग करके मुक्त होते हैं। विज्ञानमय मनका ज्ञान होगा क्योंकि मनही सब विषयाकारसे जन्म ग्रहण करता है। महात्माओंके प्रणव मन्त्रके उपासना-सिद्ध मन नित्य रजोगुण-रहित और ज्योतिष्मान् है; इसलिये उस मनके विनाशके लिये पापरहित निवृत्तिलक्षण धर्मका अनुष्ठान करना उचित है। इस लोकमें रजोगुण और तमोगुणको परित्याग करनेसे मनुष्य इच्छानुसार गति लाभ किया करते हैं,

सुदुर्गमिव पन्थानमतीत्य गुणबन्धनम् ।
यथा पश्येत्तथा दोषानतीत्यामृतमश्नुते ॥ २९ ॥ [७६९३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१४ ॥

भीष्म उवाच— दुरन्तेष्विन्द्रियार्थेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः ।
ये त्वसक्ता महात्मानस्ते यान्ति परमां गतिम् ॥ १ ॥
जन्ममृत्युजरादुःखैर्व्याधिभिर्मानसक्लमैः ।
दृष्ट्वेव सन्ततं लोकं घटेन्मोक्षाय बुद्धिमान् ॥ २ ॥
वाङ्मनोभ्यां शरीरेण शुचिः स्यादनहंकृतः ।
प्रशान्तो ज्ञानवान् भिक्षुर्निरपेक्षश्चरेत्सुखम् ॥ ३ ॥
अथवा मनसः सङ्गं पश्येद्भूतानुकम्पया ।
तत्राप्युपेक्षां कुर्वीत ज्ञात्वा कर्मफलं जगत् ॥ ४ ॥
यत्कृतं स्याच्छुभं कर्म पापं वा यदि वाऽश्नुते ।
तस्माच्छुभानि कर्माणि कुर्याद्वा बुद्धिकर्मभिः ॥ ५ ॥
अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतेषु चार्जवम् ।

तरुण अवस्थामें जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह जरा अवस्थामें निर्बल होजाता है, जो कच्चीबुद्धिवाले मनुष्य कालक्रमसे संकल्पको संहार करते हैं, वे दुर्गम मार्गकी भांति देहेन्द्रिय बन्धनको अतिक्रम करके दोष दर्शनके अनुसार उसे परित्याग कर अमृत भोग किया करते हैं। (२५-२९)

शान्तिपर्वमें २१४ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें २१५ अध्याय ।

भीष्म बोले, दुःखदायक इन्द्रिय-विषयोंमें अनुरक्त मनुष्य अवसन्न हुआ करते हैं, और जो सब महात्मा उस विषयमें अनासक्त रहते हैं, वे परम गति पाते हैं; बुद्धिमान् मनुष्य सब लोगोंको जन्म, मृत्यु, जरा, दुःख और आधिव्याधिसे युक्त देखकर मोक्षसाधनमें यत्नवान् होवें। ज्ञानवान् मनुष्य मन, वचन और शरीरसे पवित्र रहके अहंकाररहित, प्रशान्त और निरपेक्ष होकर भिक्षा करते हुए अनायासही विचरें। जीवोंके ऊपर सदाके कारण यदि मनके बन्धनको देखें, तो जगत्‌को कर्मफलभोगका निमित्त जानके उस विषयमें भी उपेक्षा करें। (१-४)

जो कुछ पुण्य वा पापकर्म किया जाता है, उसकाही फलभोग करना पडता है; इसलिये मन, वचन और

क्षमा चैवाऽप्रमादश्च यस्यैते स सुखी भवेत् ॥ ६ ॥
तस्मात्समाहितं बुद्धया मनो भूतेषु धारयेत् ।
यश्चैतं परमं धर्मं सर्वभूतसुखावहम् ॥ ७ ॥
दुःखान्निःसरणं वेद सर्वज्ञः स सुखी भवेत् ।
तस्मात्समाहितं बुद्धया मनो भूतेषु धारयेत् ॥ ८ ॥
नापध्यायेन्न स्पृहयेन्नाबद्धं चिन्तयेदसत् ।
अथामोघप्रयत्नेन मनो ज्ञाने निवेशयेत् ।
वाचामोघप्रयासेन मनोज्ञं तत्प्रवर्तते ॥ ९ ॥
विवक्षता च सद्वाक्यं धर्मं सूक्ष्ममवेक्षता ।
सत्यां वाचमहिंस्रां च वदेदनपवादिनीम् ॥ १० ॥
कल्कापेतामपरुषामनृशंसामपैशुनाम् ।
ईदृगल्पं च वक्तव्यमविक्षिप्तेन चेतसा ॥ ११ ॥
वाक्प्रबद्धो हि संसारो विरागाद्व्याहरेद्यदि ।
बुद्ध्याप्यनुगृहीतेन मनसा कर्म तामसम् ॥ १२ ॥

कर्मसे शुभ कर्मोंको सिद्ध करें। अहिंसा, सत्यवचन, सर्व भूतोंके विषयमें सरल व्यवहार, क्षमा और सावधानता, ये सब जिनमें विद्यमान हैं, वेही सुखी होते हैं, इससे शास्त्रालोचनासे पवित्र बुद्धिके जरिये मन स्थिर करके सर्वभूतोंमें धारणा करे। जो सब प्राणियोंके सुखदायक इस अहिंसा आदि परम धर्मको दुःखरहित जानते हैं, वे सर्वज्ञ पुरुषही सुखी होते हैं; इसलिये शास्त्रसे शुद्ध हुई बुद्धिके जरिये मनको स्थिर करके सर्वभूतोंमें धारणा करे; दूसरेके अनिष्टका विचार न करे, अपने अयोग्य राज्य आदिकी अभिलाषा न करे, नष्ट वा भावी स्त्रीपुत्रादिके लिये चिन्ता न करे; अव्यर्थ प्रयत्नके सहित मनको ज्ञानसाधन और श्रवण मनन आदि विषयोंमें लगावे। वेदान्त वाक्य सुनने और अमोघ परिश्रमके सहारे वही मन उस समय आत्मस्वरूपके निकटवर्ती होगा। (५-९)

सत्य वचन कहनेकी अभिलाषा करनेवाले सूक्ष्मदर्शी पुरुष हिंसारहित अपवादहीन सत्य वचन कहें। अविक्षिप्त चित्तवाले पुरुषोंको शठता और निष्ठुरता त्यागके अनृशंस वा पिशुनतारहित अल्प वचन कहना भी उचित है। सब ऐहिक विषय वचनसे ही बद्ध हैं, वैराग्यके कारण यदि कुछ कहना पडे, तो प्रसन्न मन और बुद्धिके जरिये अपने

रजोभूतैर्हि करणैः कर्मणि प्रतिपद्यते।
स दुःखं प्राप्य लोकेऽस्मिन्नरकायोपपद्यते।
तस्मान्मनोवाक्शरीरैराचरेद्धैर्यमात्मनः ॥ १३ ॥
प्रकीर्णमेषभारं हि यद्वद्धार्येत दस्युभिः।
प्रतिलोमां दिशं बुद्ध्वा संसारमबुधास्तथा ॥ १४ ॥
तमेव च यथा दस्युः क्षिप्त्वा गच्छेच्छिवां दिशम्।
तथा रजस्तमःकर्माण्युत्सृज्य प्राप्नुयाच्छुभम् ॥ १५ ॥
निःसन्दिग्धमनीहो वै मुक्तः सर्वपरिग्रहैः।
विविक्तचारी लघ्वाशी तपस्वी नियतेन्द्रियः ॥ १६ ॥
ज्ञानदग्धपरिक्लेशः प्रयोगरतिरात्मवान्।
निष्प्रचारेण मनसा परं तदधिगच्छति ॥ १७ ॥
धृतिमानात्मवान् बुद्धिं निगृह्णीयादसंशयम्।

हिंसा आदिक तामस कर्मोंको प्रकाश करें, क्यों कि पुण्य वा पाप निज मुख-से प्रकाशित करनेसे नष्ट हुआ करते हैं। (१०-१२)

मनुष्य प्रवृत्ति परतन्त्र इन्द्रियोंके जरिये कर्ममें प्रवृत्त होनेपर इस लोकमें महादुःख पाकर अन्त समय नरकमें गमन करते हैं, इसलिये मन, वचन और शरीरसे जिस प्रकार आत्माको धीरज हो वैसा ही आचरण करें। जैसे चुराये हुए मांसभार ढोनेवाले चोर जानेके मार्गोंको राजपुरुषोंके जरिये रुकनेकी आशङ्कासे मांसके बोझको त्यागके प्रति-कूल दिशामें गमन करके बन्धनसे अपनी रक्षा करते हैं, वैसेही मूर्ख मनुष्य कर्मभार ढोते हुए कामादिके सम्मुख होकर संसार भयसे कामादिको त्यागने-पर बन्धनसे छूटते हैं। जैसे चोर लोग चोरीकी वस्तुओंको परित्याग करके बाधारहित दिशामें गमन करते हैं, वैसे ही मनुष्य रजोगुण और रजोगुणके सब कार्योंको त्यागके सुखलाभ किया करते हैं। (१३-१५)

जो चेष्टारहित, सर्वसङ्गविमुक्त निर्जन स्थानमें वास करनेवाले, थोडा भोजन करनेवाले, तपस्वी और संयते-न्द्रिय हैं, ज्ञानसे जिनके सब क्लेश भस्म होगये हैं, जो योगाङ्गोंके अनुष्ठान विष-यमें अनुरक्त हैं, वेही बुद्धिमान् मनुष्य चित्तवृत्तिनिरोधके जरिये अवश्यही परम पद पाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। धैर्यशाली बुद्धिमान् मनुष्य "मैं ब्रह्म हूं" इस वचनके निमित्त बुद्धिवृत्तिको निःसन्देह रूपसे निग्रह करें, बुद्धिके

मनो बुद्ध्या निगृह्णीयाद्विषयान्मनसाऽऽत्मनः ॥ १८ ॥
निगृहीतेन्द्रियस्यास्य कुर्वाणस्य मनो वशे ।
देवतास्तत्प्रकाशन्ते हृष्टा यान्ति तमीश्वरम् ॥ १९ ॥
ताभिः संयुक्तमनसो ब्रह्म तत्संप्रकाशते ।
शनैश्चापगते सत्त्वे ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २० ॥
अथवा न प्रवर्तेत योगतन्त्रैरुपक्रमेत् ।
येन तन्त्रयतस्तन्त्रवृत्तिः स्यात्तत्तदाचरेत् ॥ २१ ॥
कणकुल्माषपिण्याकशाकयावकसक्तवः ।
तथा मूलफलं भैक्ष्यं पर्यायेणोपयोजयेत् ॥ २२ ॥
आहारनियमं चैव देशे काले च सात्त्विकम् ।
तत्परीक्ष्यानुवर्तेत तत्प्रवृत्त्यनुपूर्वकम् ॥ २३ ॥
प्रवृत्तं नोपरुन्धेत शनैराग्निमिवेन्धयेत् ।
ज्ञानान्वितं तथा ज्ञानमर्कवत्संप्रकाशते ॥ २४ ॥

जरिये संकल्पात्मक मन और मनसे मन-रूपी शब्दादि विषयोंको निग्रह करनेमें यत्नवान् होवें; और जो इन्द्रियोंको निगृहीत तथा मनको वशमें करता है, इन्द्रियां उसके समीप प्रकाशित होतीं और आनन्दित होके उस योगीश्वरमें प्रवेश करती हैं। (१६–१९)

इस सब इन्द्रियोंके सङ्ग जिसका मन संयुक्त हुआ है, उसके समीप वह पर-ब्रह्म प्रकाशित होता है और उन सब इन्द्रियोंके अपगत होनेपर सत्वमात्रमें स्थित आत्मा ब्रह्मरूपसे कल्पित हुआ करता है। अथवा योगी यदि योगै-श्वर्यसे आत्माको न जान सके, तो चित्तवृत्ति-निरोध आदि मुख्य योगत-न्त्रोंके सहारे उसे जाननेका उपाय करें। योगका अनुष्ठान करते करते जिस प्रकार चित्तवृत्ति शुद्ध होवे, उसका ही आचरण करना उचित है। योगी पुरुष केवल योगैश्वर्यको ही उपजीव्य न करके पर्यायक्रमसे भिक्षासे प्राप्त हुए चावलों-के किनके, पक्व माष, तिलकल्क, अनेक तरहके शाक, यवधानका चूर्ण, सत्तू, और फलमूल आदि भोजन करके जीवन धारण करें; देशकालके अनुसार उसमें भी जैसे नियमकी प्रवृत्ति हो, परीक्षा करके उसमें अनुवर्तन करना योग्य है। (२० — २३)

प्रारब्ध कर्मोंको अन्तरायके जरिये उपरोध करना उचित नहीं, अग्निकी भांति धीरे धीरे ज्ञानको उद्दीपन करना चाहिये, ज्ञानसे प्रदीप्त ज्ञानस्वरूप पर-

ज्ञानाधिष्ठानमज्ञानं त्रीँल्लोकानधितिष्ठति ।
विज्ञानानुगतं ज्ञानमज्ञानेनापकृष्यते ॥ २५ ॥
पृथक्त्वात्संप्रयोगाच्च नासूयुर्वेद शाश्वतम् ।
स तयोरपवर्गज्ञो वीतरागो विमुच्यते ॥ २६ ॥
वयोऽतीतो जरामृत्यू जित्वा ब्रह्म सनातनम् ।
अमृतं तदवाप्नोति यत्तदक्षरमव्ययम् ॥ २७ ॥ [७७१०]

इति श्रीमहाभा० मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२१५॥

भीष्म उवाच— निष्कल्मषं ब्रह्मचर्यमिच्छता चरितुं सदा ।
निद्रा सर्वात्मना त्याज्या स्वप्नदोषानवेक्षता ॥ १ ॥
स्वप्ने हि रजसा देही तमसा चाभिभूयते ।
देहान्तरमिवापन्नश्चरत्यपगतस्पृहः ॥ २ ॥
ज्ञानाभ्यासाज्जागरणं जिज्ञासार्थमनन्तरम् ।
विज्ञानाभिनिवेशात्तु स जागर्त्यनिशं सदा ॥ ३ ॥
अत्राह कोन्वयं भावः स्वप्ने विषयवानिव ।

ब्रह्म सूर्यकी तरह प्रकाशित होता है ज्ञानाधिष्ठान अज्ञान जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों कालोंमें स्थित रहता है, और बुद्धिके अनुगत ज्ञान अज्ञानसे अर्थात् आत्मभिन्न आत्मरूप विपर्ययसे आवृत हुआ करता है। आत्मा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओंसे अतीत होनेपर भी असूयु पुरुष पृथक्त्व और संप्रयुक्तत्व निबन्धनसे आत्माको दूषित करते हुए उसे जाननेमें समर्थ नहीं होते, वे लोग पृथक्त्वको अपृथक्त्व सीमा जानके रागरहित होनेसे मुक्त होसकते हैं। कालविजयी मनुष्य जरा मृत्युको जीतके अव्यय अविनाशी अमृतस्वरूप सनातन ब्रह्मको जान सकते हैं। (२४-२७)

शान्तिपर्वमें २१५ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २१६ अध्याय।

भीष्म बोले, जो निष्काम ब्रह्मचर्य आचरण करनेकी सदा अभिलाष किया करते हैं, उन स्वप्नदोषदर्शी योगियोंको सब प्रकारकी निद्रा परित्याग करना योग्य है, क्यों कि जीव स्वप्नकालमें रजोगुण और तमोगुणसे युक्त होता है, तथा निस्पृह होकर देहान्तर प्राप्त होनेकी तरह आचरण किया करता है। ज्ञानाभ्यासनिबन्धन जाननेके लिये पहले वह स्मरण हुआ करता है। अनन्तर विज्ञानमें अभिनिवेशके कारण योगी पुरुष सदा जागृत रहते हैं। इस विषयमें

प्रलीनैरिन्द्रियैर्देही वर्तते देहवानिव ॥ ४ ॥
अत्रोच्यते यथा ह्येतद्वेद योगेश्वरो हरिः ।
तथैतदुपपन्नार्थं वर्णयन्ति महर्षयः ॥ ५ ॥
इन्द्रियाणां श्रमात्स्वप्नमाहुः सर्वगतं बुधाः ।
मनसस्त्वप्रलीनत्वात्तत्तदाहुर्निदर्शनम् ॥ ६ ॥
कार्यव्यासक्तमनसः सङ्कल्पो जाग्रतो ह्यपि ।
यद्वन्मनोरथैश्वर्यं स्वप्ने तद्वन्मनोगतम् ॥ ७ ॥
संसाराणामसङ्ख्यानां कामात्मा तदवाप्नुयात् ।
मनस्यन्तर्हितं सर्वं स वेदोत्तमपूरुषः ॥ ८ ॥
गुणानामपि यद्यत्कर्मणा चाप्युपस्थितम् ।
तत्तच्छंसन्ति भूतानि मनो यद्भावितं यथा ॥ ९ ॥

कोई कोई यह वितर्क किया करते हैं, कि स्वप्नकालमें जीव यथार्थमें विषय-युक्त न होकर भी जो विषयविशिष्टकी तरह दीखता है, और प्रलीन इन्द्रियोंके सहित देहवान्की भांति वर्तमान रहता है, इसका क्या भाव है ? इस विषयके सिद्धान्तपक्षमें प्राचीन लोग कहा करते हैं, योगेश्वर हरि ही स्वप्नके यथार्थ तत्व को जानते हैं, और वह जिस प्रकार जानते हैं, उसेही युक्तिसंगत मानके महर्षि लोग वर्णन किया करते हैं। पण्डित लोग कहते हैं, इन्द्रियोंके श्रमसे सर्वप्राणि प्रसिद्ध स्वप्न हुआ करता है; स्वप्नकालमें इन्द्रियोंको उपरति होनेपर भी संकल्पस्वभाव मनका विश्राम नहीं होता, इसलिये स्वप्न विषयमें वही प्रसिद्ध प्रमाण है, यह फिर प्रकाशित होता है। (१—६)

जाग्रत् अवस्थामें कार्योंमें आसक्त चित्तवाले मनुष्योंका जैसा संकल्प होता है, वैसाही स्वप्नकालमें मनोगत मनोरथ ऐश्वर्य भोग हुआ करता है, इसलिये मनोरथवृत्तिकी तरह स्वप्नवृत्ति भी शरीरका संकल्पमात्र है, तब जाग्रत् अवस्थामें इन्द्रियोंके जरिये विक्षेपके कारण पूर्ण रूपसे विषयज्ञान नहीं होता, स्वप्नमें उसके अभावविशेष रूपसे विषय ज्ञान हुआ करता है, इसमें इतनाही विशेष है। पूर्वके अनन्त जन्मोंके संस्कारोंसे विषयासक्त चित्तवाला पुरुष उस स्वप्न आदि ऐश्वर्योंको भोग करता और वह उत्तम पुरुष मनमें अन्तर्हित सब विषयोंको प्रकाशित किया करता है। (७—८)

सत्व, रज और तमोगुणमेंसे जो गुण पूर्व कर्मके जरिये उपस्थित होते हैं, वही

ततस्तमुपसर्पन्ति गुणा राजसतामसाः।
सात्त्विका वा यथायोगमानन्तर्यफलोदयम् ॥ १० ॥
ततः पश्यन्त्यसम्बुद्ध्या वातपित्तकफोत्तरान्।
रजस्तमोगतैर्भावैस्तदप्याहुर्दुरत्ययम् ॥ ११ ॥
प्रसन्नैरिन्द्रियैर्यद्यत्संकल्पयति मानसम्।
तत्तत्स्वप्नेऽप्युपगते मनो हृष्यन्निरीक्षते ॥ १२ ॥
व्यापकं सर्वभूतेषु वर्त्ततेऽप्रतिघं मनः।
आत्मप्रभावात्तं विद्यात्सर्वा ह्यात्मनि देवताः ॥१३॥
मनस्यन्तर्हितं द्वारं देहमास्थाय मानुषं।
यद्यत्सदसदव्यक्तं स्वपित्यस्मिन्निदर्शनं ॥
सर्वभूतात्मभूतस्थं तमध्यात्मगुणं विदुः ॥ १४ ॥
लिप्सेत मनसा यश्च सङ्कल्पादैश्वरं गुणम्।

गुण कर्मसे संस्कृत मनको यथाविद् गणोंके आकार आदि स्वप्नमें नियुक्त करता है; फिर रूप दर्शनके अनन्तरही जिस प्रकार सुख आदिके अनुभव होते हैं, उसहीके अनुसार राजस, तामस और समस्त सात्त्विकभाव उस पुरुषके निकट उपस्थित हुआ करते हैं। अनन्तर पुरुष अज्ञानसे राजस और तामस भावके जरिये वात, पित्त और कफ-प्रधान शरीरका दर्शन करता है, पूर्व वासनाकी प्रबलताके कारण, वह देहदर्शन, पुरुषके विषयमें योगके अतिरिक्त अपरिहार्य है, ऐसा प्राचीन लोग कहा करते हैं। मन प्रसन्न इन्द्रियोंके सहित जिन जिन विषयोंका सङ्कल्प करता है, स्वप्न समय उपस्थित होनेपर मनोदृष्टि होकर उन्हीं विषयोंको देखा करता है। (९-१२)

मन उपादानके कारण सर्वभूतोंमें व्यापक और प्रतिघातरहित होकर वर्त्तमान है, वह अपने प्रभावसेही आत्माको जान सकता है, आत्मामेंही आकाश आदि सब भूत प्रतिष्ठित हैं। स्वप्न दर्शनका द्वारभूत स्थूल देह मनमें अन्तर्हित होता है, सदसदात्मक साक्षी स्वरूप मन उसही शरीरको अवलम्बन करके उसहीमें सोता है, और आत्मामें जाके प्रवेश करता है, सर्वभूतोंका आत्म भूत अहंकार आत्मामें प्रतिबिंब रूपसे निवास करता है, इसलिये पण्डित लोग आत्माको अहंकार गुणसे अस्पृष्ट समझते हैं; परन्तु सुषुप्तिकालमें साक्षी चैतन्यके शुद्ध अवस्थामें निवास करनेसे अहंकार आदि सब लयको प्राप्त होते हैं। मनके

आत्मप्रसादं तं विद्यात्सर्वा ह्यात्मनि देवताः ॥१५॥
एवं हि तपसा युक्तमर्कवत्तमसः परम्।
त्रैलोक्यप्रकृतिर्देही तमसोऽन्ते महेश्वरः ॥ १६ ॥
तपो ह्यधिष्ठितं देवैस्तपोघ्नमसुरैस्तमः।
एतद्देवासुरैर्गुप्तं तदाहुर्ज्ञानलक्षणम् ॥ १७ ॥
सत्त्वं रजस्तमश्चेति देवासुरगुणान्विदुः।
सत्त्वं देवगुणं विद्यादितरावासुरौ गुणौ ॥ १८ ॥
ब्रह्म तत्परमं ज्ञानममृतं ज्योतिरक्षरम्।
ये विदुर्भावितात्मानस्ते यान्ति परमां गतिम् ॥ १९ ॥
हेतुमच्छक्यमाख्यातुमेतावज्ज्ञानचक्षुषा।
प्रत्याहारेण वा शक्यमक्षरं ब्रह्म वेदितुम् ॥ २० ॥ [७७४०]

इति श्रीमहाभारते० शान्ति० वार्ष्णेयाध्यात्मकथने षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१६ ॥

सहारे सङ्कल्पसे जो लोग ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि ऐहिक गुणोंके अन्यतमकी अभिलाषा करते हैं, वे चित्तप्रसाद-जनित शुद्ध मनको वैसाही जानें, मनमें ही आकाश आदि निवास करते हैं। इसही प्रकार विषय आदिकी आलोच-नारूपी तपयुक्त मन अर्ककी तरह अज्ञान अन्धकारके पारमें निवास किया करता है। (१३—१६)

देहधारी जीव त्रैलोक्य प्रकृतिका कारण ब्रह्मरूप और वह जीव ही कार-णीभूत अज्ञानके नष्ट होनेपर महेश्वर अर्थात् शुद्ध ब्रह्म भूत है। देवता लोग अग्निहोत्र आदि तपस्याके अधिष्ठान और असुर लोग तपोघ्न अन्धकार अर्थात् दम्भ दर्प आदिके अवलम्बन हैं। रज और तमोमय देवासुरोंके निमित्त प्रजापतिने इस ज्ञानस्वरूप परब्रह्मको गुप्त कर रखा है। पण्डित लोग कहा करते हैं, सत्त्व, रज और तमोगुण देवता तथा असुरोंमें विद्यमान हैं, उनमेंसे सत्त्वको देवगुण और रज तमको असुरगुण जानना चाहिये। जो सब पवित्र चित्तवाले मनुष्य सात्विक और असात्विक भावोंसे श्रेष्ठ, ज्ञान-स्वरूप, अमृतस्वरूप, स्वप्रकाश और सर्वव्यापी परब्रह्मको जानते हैं; वे परम गति पाते हैं। तत्वदर्शी पुरुष ईश्वर सगुण वा निर्गुण है, इसे ही युक्तियुक्त रूपसे कह सकते हैं और सब विषयोंसे इन्द्रियोंको खींचकर अक्षर ब्रह्मको जान-नेमें समर्थ होते हैं। (१६—२०)

शान्तिपर्वमें २१६ अध्याय समाप्त।

भीष्म उवाच— न स वेद परं ब्रह्म यो न वेद चतुष्टयम्।
व्यक्ताव्यक्तं च यत्तत्वं संप्रोक्तं परमर्षिणा ॥ १ ॥
व्यक्तं मृत्युमुखं विद्यादव्यक्तममृतं पदम्।
प्रवृत्तिलक्षणं धर्ममृषिर्नारायणोऽब्रवीत् ॥ २ ॥
तत्रैवावस्थितं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
निवृत्तिलक्षणं धर्ममव्यक्तं ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ३ ॥
प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं प्रजापतिरथाब्रवीत्।
प्रवृत्तिः पुनरावृत्तिर्निवृत्तिः परमा गतिः ॥ ४ ॥
तां गतिं परमामेति निवृत्तिपरमो मुनिः।
ज्ञानतत्त्वपरो नित्यं शुभाऽशुभनिदर्शकः ॥ ५ ॥
तदेवमेतौ विज्ञेयावव्यक्तपुरुषावुभौ।
अव्यक्तपुरुषाभ्यां तु यत्स्यादन्यन्महत्तरम् ॥ ६ ॥
तं विशेषमवेक्षेत विशेषेण विचक्षणः।
अनाद्यन्तावुभावेतावलिङ्गौ चाप्युभावपि ॥ ७ ॥

शान्तिपर्वमें २१७ अध्याय।

भीष्म बोले, परम ऋषि नारायणके जरिये व्यक्त और अव्यक्त भावसे जिसका तत्व वर्णित हुआ है, जो लोग स्वप्न, सुषुप्ति और सगुण निर्गुण ब्रह्म-भावको नहीं जानते, वे उस परब्रह्मको नहीं जान सकते। जन्म ग्रहण करके मृत्युके मुखमें पडनाही व्यक्त है और मोक्षपदको अव्यक्त जानना चाहिये; परम ऋषि नारायणने यह कहा है, कि देहेन्द्रिय अहङ्कारादिका निवृत्तिल-क्षण धर्म ही अव्यक्त शाश्वत ब्रह्म है। (१—२)

उस ब्रह्ममें स्थावरजङ्गमात्मक सब जगत् स्थित है, प्रजापतिने प्रवृत्तिलक्षण धर्मका विषय कहा है, पुनरावृत्तिका नाम प्रवृत्ति और परम गतिको निवृत्ति कहते हैं; निवृत्तिपरायण मननशील मनुष्य उस ही परम गतिको पाते हैं; जो लोग मुक्ति और संसारको निश्चय रूपसे देखनेकी अभिलाषा करते हैं, वे सदा आत्मतत्व विचारमें अनुरक्त होवें; वक्ष्यमाण रीतिसे प्रकृति और पुरुष इन दोनोंको जो जानना उचित है, प्रकृति और पुरुषसे भिन्न महत् ईश्वर है, बुद्धिमान पुरुष विशेष रूपसे क्लेशादि-कोंसे अपरामृष्ट उस परमात्माको देखें इस प्रकृति और पुरुषकी आदि और अन्त नहीं है, तथा इन दोनोंको प्रमाणान्तरोंके जरिये नहीं जाना जा

उभौ नित्यावविचलौ महद्भ्यश्च महत्तरौ।
सामान्यमेतदुभयोरेवं ह्यन्यद्विशेषणम् ॥ ८ ॥
प्रकृत्या सर्गधर्मिण्या तथा त्रिगुणधर्मया।
विपरीतमतो विद्यात् क्षेत्रज्ञस्य स्वलक्षणम् ॥ ९ ॥
प्रकृतेश्च विकाराणां द्रष्टारमगुणान्वितम्।
अग्राह्यौ पुरुषावेतावलिङ्गत्वादसंहतौ ॥ १० ॥
संयोगलक्षणोत्पत्तिः कर्मणा गृह्यते यथा।
करणैः कर्मनिर्वृत्तिः कर्ता यद्यद्विचेष्टते ॥
कीर्त्यते शब्दसंज्ञाभिः कोऽहमेषोऽप्यसाविति ॥ ११ ॥
उष्णीषवान्यथा वस्त्रैस्त्रिभिर्भवति संवृतः।
संवृतोऽयं तथा देही सत्त्वराजसतामसैः ॥ १२ ॥
तस्माच्चतुष्टयं वेद्यमेतैर्हेतुभिरावृतम्।

सकता। ये दोनों ही नित्य अविचलित और महत्से भी महत् हैं, दोनोंके इस ही प्रकार सामर्थ्य कहे गये, अब इनका वैधर्म्य विषय कहता हूं। (७-८)

सृष्टिकार्यसे व्याप्त त्रिगुणात्मिका प्रकृतिसे पुरुषका विपरीत लक्षण जानने अर्थात् पुरुष सृष्टिकार्यमें निर्लिप्त और निर्गुण है, वह निर्गुण होनेसे प्रकृति तथा महदादि विकारोंके कार्योंको देखता है, पर स्वयं दृश्य नहीं है। क्षेत्रज्ञ अर्थात् पुरुष और ईश्वर दोनोंही चिद्रूप हैं; इसलिये ज्ञापक गुणादि विरहित और अत्यन्त विविक्त होनेसे उसे नहीं जाना जा सकता। जो अविद्याके जरिये कर्म-जनित बुद्धि गृहीत होती है, वह अविद्या ही ज्ञान ज्ञेय सम्बन्धमें ज्ञापक आविर्भाव लाभ करके कर्त्तव्य रूपसे इन्द्रिय आदिके जरिये जिन जिन कार्योंको करती है, उसही योनिबद्ध कर्मोंके सहित संयुक्त हुआ कर्त्ता है और यह कर्त्ता व्यवहारमें तृतीय होनेपर भी परमार्थ ज्ञान स्वरूप होता है, शब्द प्रत्ययसे कौन हूं, ये कौन हैं इत्यादि व्यवहार मात्र होते हैं। जैसे कर्णने अपनेको कौन्तेय न जानकर सूर्यसे पूछा, कि कौन्तेय कौन है? शेषमें सूर्यके कहनेसे अपनेको ही कौन्तेय जाना था, वैसेही अज्ञानी लोग "ब्रह्म कौन है?" ऐसाही पूछा करते हैं, ज्ञानवान् पुरुष "मैंही ब्रह्म हूं" ऐसा ही जानते हैं। (९-११)

जैसे उष्णीषयुक्त पुरुष तीनों वस्त्रोंसे परिपूरित होता है, वैसे ही यह देही सात्विक, राजसिक और तामसिक भावोंसे परिपूरित हुआ करता है; इस-

यथासंज्ञो ह्ययं सम्यगन्तकाले न मुह्यति ॥ १३ ॥
श्रियं दिव्यामभिप्रेप्सुर्वर्ष्मवान्मनसा शुचिः ।
शारीरैर्नियमैरुग्रैश्चरेन्निष्कल्मषं तपः ॥ १४ ॥
त्रैलोक्यं तपसा व्याप्तमन्तर्भूतेन भास्वता ।
सूर्यश्च चन्द्रमाश्चैव भासतस्तपसा दिवि ॥ १५ ॥
प्रकाशस्तपसो ज्ञानं लोके संशब्दितं तपः ।
रजस्तमोघ्नं यत्कर्म तपसस्तत्स्वलक्षणम् ॥ १६ ॥
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।
वाङ्मनोनियमः सम्यक् मानसं तप उच्यते ॥ १७ ॥
विधिज्ञेभ्यो द्विजातिभ्यो ग्राह्यमन्नं विशिष्यते ।
आहारनियमेनास्य पाप्मा शाम्यति राजसः ॥ १८ ॥
वैमनस्यं च विषये यान्त्यस्य करणानि च ।
तस्मात्तन्मात्रमादद्याद्यावदत्र प्रयोजनम् ॥ १९ ॥

लिये पहले कहे हुए अनादि अनन्तत्व, चिज्जडता, असंहतत्व और कर्तृत्व इन चारों कारणोंसे प्रकृति पुरुषके साधर्म्य वैधर्म्य, और जीव तथा ईश्वरके साधर्म्य, वैधर्म्य, इन चारोंको जानना उचित है। जो लोग उक्तविध ज्ञानको अतिक्रम नहीं करते, वे सिद्धान्तके समयमें मोहित नहीं होते। जो लोग हृदयाकाशमें स्थित ब्राह्मी श्रीकी कामना करते हैं, वे अन्तर्बाह्यमें पवित्र होकर शौच, सन्तोष, तपस्या, वेदाध्ययन और ईश्वर-प्रणिधान आदिक शारीरिक तथा मानस नियमोंके जरिये निष्काम योगका आचरण करें। (१२-१४)

प्रकाशयुक्त अन्तर्भूत योगबलके सहारे तीनों लोक व्याप्त हो रहे हैं; योग-बलके जरिये हृदयाकाशमें सूर्य और चन्द्रमा प्रकाशित हुआ करते हैं; योग-का विकासही ज्ञानका कारण है, यह लोकमें विख्यात है, कि योगी लोग सनातन भगवान्‌का दर्शन करते हैं। जो कर्म रज और तमोगुणका नाशक है, वही योगका असाधारण लक्षण है। ब्रह्मचर्य और अहिंसाको शारीरिक योग कहा जाता है, और वचन तथा मनको पूर्ण रीतिसे निग्रह करना मानस योग कहके वर्णित हुआ करता है। विधि जाननेवाले द्विजातियोंके समीपसे अन्न ग्रहण करनाही योगियोंके विषयमें श्रेष्ठ है, आहारनियमके जरिये राजस पाप शान्त हो जाते हैं। युक्त अन्न खाने-वालोंकी इन्द्रियें शब्द आदि विषयोंमें

अन्तकाले बलोत्कर्षाच्छनैः कुर्यादनातुरः।
एवं युक्तेन मनसा ज्ञानं यदुपपद्यते ॥ २० ॥
रजोवर्ज्योऽप्ययं देही देहवाञ्छब्दवच्चरेत्।
कार्यैरव्याहतमतिर्वैराग्यात्प्रकृतौ स्थितः ॥ २१ ॥
आदेहादप्रमादाच्च देहान्ताद्विप्रमुच्यते।
हेतुयुक्तः सदा सर्गो भूतानां प्रलयस्तथा ॥ २२ ॥
परप्रत्ययसर्गे तु नियतिर्नानुवर्तते।
भावान्तप्रभवप्रज्ञा आसते ये विपर्ययम् ॥ २३ ॥
धृत्या देहान्धारयन्तो बुद्धिसंक्षिप्तचेतसः।
स्थानेभ्यो ध्वंसमानाश्च सूक्ष्मत्वात्तानुपासते ॥ २४ ॥
यथागमं च गत्वा वै बुद्ध्या तन्नैव बुद्ध्यते।

वैमनस्य अर्थात् वैराग्य लाभ करती हैं, इसलिये जबतक आहारका प्रयोजन हो, तबतक अन्न ग्रहण करना चाहिये। इसही प्रकार योगयुक्त मनके जरिये धीरे धीरे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, अन्तकालमें पुण्यक्षेत्रमें वास करते हुए अत्यन्त यत्नके सहित उसही ज्ञानको सिद्ध करें। (१५–२०)

यह जीव बाह्येन्द्रिय-प्रवृत्तिसे रहित और समाधिसमयमें स्थूल शरीरको परित्याग करके भी देहवान् होके शब्दादिविशिष्ट सूक्ष्म शरीरसे विचरता है, अनन्तर कार्योंके जरिये अव्याहत-चित्त और वैराग्यके कारण सूक्ष्म भोगसे भी निस्पृह होकर प्रकृतिमेंही लय होजाते हैं। देह त्यागके समयसेही असावधानता आदिके अभाव निबन्धनसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरकी बाधाके सबब जीव तत्क्षणही मुक्त होता है, मूल अज्ञानका नाश न होनेसे जीवोंके जन्म मृत्यु हुआ करते हैं। शुद्ध ब्रह्मके साक्षात्कारविषयमें धर्माधर्म अनुसरण नहीं करते; जो लोग आत्मासे भिन्न आत्मज्ञान क्रिया करते हैं, उनकी बुद्धि महदादि पदार्थोंके नाश और उदयकी आलोचना करती है, वे मोक्ष साधनमें समर्थ नहीं होते। योगी लोग आसन आदिके स्खलनके सहारे देह धारण करते हुए बुद्धिके जरिये मनको सब विषयोंसे हटाके नेत्र आदि इन्द्रिय-गोलकोंसे प्रच्युत प्राण और इन्द्रिय आदिकी सूक्ष्मताके कारण उनकी आ-त्मस्वरूपसे उपासना करते हैं। २१-२४

योगशोधित बुद्धिवाले कोई मनुष्य आगमोंके अनुसार अर्थात् इन्द्रियोंसे विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है,

देहान्तं कश्चिदन्वास्ते भावितात्मा निराश्रयम् ॥२५॥
युक्तं धारणया सम्यक् सतः केचिदुपासते ।
अभ्यस्यन्ति परं देवं विद्युत्संशब्दिताक्षरम् ॥ २६ ॥
अन्तकाले ह्युपासन्ते तपसा दग्धकिल्बिषाः ।
सर्व एते महात्मानो गच्छन्ति परमां गतिम् ॥ २७ ॥
सूक्ष्मं विशेषणं तेषामवेक्षेच्छास्त्रचक्षुषाम् ।
देहान्तं परमं विद्याद्विमुक्तमपरिग्रहम् ॥ २८ ॥
अन्तरिक्षादन्यतरं धारणासक्तमानसम् ।
मर्त्यलोकाद्विमुच्यन्ते विद्यासंसक्तचेतसः ॥ २९ ॥
ब्रह्मभूता विरजसस्ततो यान्ति परां गतिम् ।
एवमेकायनं धर्ममाहुर्वेदविदो जनाः ॥ ३० ॥
यथाज्ञानमुपासन्तः सर्वे यान्ति परां गतिम् ।
कषायवर्जितं ज्ञानं येषामुत्पद्यतेऽचलम् ।

इत्यादि वेदवचनके अनुसार चरम सीमामें निज महिमासे प्रतिष्ठित परब्रह्मको बुद्धिके जरिये जानके शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे उसमें एकाग्रचित्त हुआ करते हैं। कोई कोई धारणाके विषय मूर्त ब्रह्म कृष्ण, विष्णु, आदिके सहित तादात्म्य-सम्बन्धसे अथवा सेव्य-सेवकभावसे निरुद्ध आत्माकी उपासना करते हैं। दूसरे लोग उपनिषत्प्रसिद्ध बिजलीके प्रकाशकी तरह सकृत्प्रकाशित परिणामहीन निर्गुण परब्रह्मका बार बार अनुभव किया करते हैं। अविमुक्त उपासनासे जिनके पाप जल गये हैं, वे अन्तकालमें ब्रह्मत्व लाभ करते हैं, और वेही सब महानुभाव उपासक लोग परम गति पाते हैं। सोपाधिक ब्रह्मके व्यावर्तक विशेषणको शास्त्रदृष्टिके सहारे हेयरूपसे देखे। अन्यक्त ही ब्रह्मका चरम विशेषण है, उसे स्थूल देहके अध्यासरहित और अपरिग्रह अर्थात् सर्व आसक्तिसे विमुक्त जाने। धारणासक्त मानस योगीके हृदयाकाशसे आरम्भ करके उससे पृथक् सूत्रात्मा रूपसे मालूम करे। जिन लोगोंका चित्त परब्रह्म स्वरूपमें संयुक्त हुआ है वे मर्त्यलोकसे विमुक्त होते और ब्रह्मस्वरूप होकर परम गति पाते हैं। (२५–२९)

वेद जाननेवाले पुरुष इसी प्रकार धर्मको ब्रह्मप्राप्तिका एकमात्र उपाय कहा करते हैं। चाहे कोई किसी प्रकारसे जानके ईश्वरकी उपासना क्यों न करें, सभी परम गति प्राप्त किया करते हैं।

यान्ति तेऽपि पराँल्लोकान् विमुच्यन्ते यथाबलम् ॥३१॥
भगवन्तमजं दिव्यं विष्णुमव्यक्तसंज्ञितम् ।
भावेन यान्ति शुद्धा ये ज्ञानतृप्ता निराशिषः ॥ ३२ ॥
ज्ञात्वाऽऽत्मस्थं हरिं चैव न निवर्तन्ति तेऽव्ययाः ।
प्राप्य तत्परमं स्थानं मोदन्तेऽक्षरमव्ययम् ॥ ३३ ॥
एतावदेतद्विज्ञानमेतदस्ति च नास्ति च ।
तृष्णाबद्धं जगत्सर्वं चक्रवत्परिवर्तते ॥ ३४ ॥
बिसतन्तुर्यथैवायमन्तस्थः सर्वतो बिसे ।
तृष्णातन्तुरनाद्यन्तस्तथा देहगतः सदा ॥ ३५ ॥
सूच्या सूत्रं यथा वस्त्रे संसारयति वायकः ।
तद्वत्संसारसूत्रं हि तृष्णासूच्या निबध्यते ॥ ३६ ॥
विकारं प्रकृतिं चैव पुरुषं च सनातनम् ।
यो यथावद्विजानाति स वितृष्णो विमुच्यते ॥ ३७ ॥
प्रकाशं भगवानेतदृषिर्नारायणोऽमृतम् ।

जिन्हें, रागादिरहित अचल अर्थात् दृढ शास्त्रीय और परोक्ष ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वे श्रेष्ठ लोकोंमें गमन करते और वैराग्यके अनुसार मुक्त होते हैं। आशाहीन ज्ञानतृप्त और पवित्रचित्तवाले योगी लोग सब ऐश्वर्योंसे युक्त, जन्मरहित, अव्यक्तसंज्ञक, दिव्यधाम-स्थित सर्वव्यापी ब्रह्मके निकटवर्ती हुआ करते हैं। वे अविनाशी महानुभाव पुरुष हरिको शरीरस्थ पञ्चकोशके अन्तर्गत जानके फिर दूसरी बार उससे निवृत्त नहीं होते; वे लोग उस अव्यय, अविनश्वर परमधाम पाके निरवच्छिन्न आनन्द अनुभव करते हैं। रस्सीमें सर्पभ्रमकी तरह यह जगत् है वा नहीं इत्यादि रूपसे अनिर्वचनीय जगत्का मिथ्यापन जानना उचित है; परन्तु समस्त जगत् तृष्णामें बद्ध होकर चक्रकी तरह परिवर्त्तित होता है। (३०-३४)

जैसे मृणालसूत्र कमलके डांडीके बीच सर्वत्र वर्त्तमान रहता है, वैसेही आदि और अन्तरहित तृष्णाके तागे सदा देहमें विद्यमान हैं। जैसे सीनेवाला सुईके सहारे वस्त्रोंमें तागा चलाता है, वैसेही तृष्णासूचीसे संसारसूत्र निबद्ध होरहा है। जो लोग महदादि विकाररूप कार्यमें ही मूल कारण प्रकृति और कार्यनिर्लिप्त सनातन पुरुषको विधिपूर्वक जानते हैं, वेही तृष्णारहित पुरुष मुक्त होते हैं। जगत्की गति भगवान् नारा-

भूतानामनुकम्पार्थं जगाद जगतो गतिः ॥ ३८ ॥ [७७१८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१७ ॥

युधिष्ठिर उवाच— केन वृत्तेन वृत्तज्ञ जनको मिथिलाधिपः।
जगाम मोक्षं मोक्षज्ञो भोगानुत्सृज्य मानुषान् ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
येन वृत्तेन धर्मज्ञः स जगाम महत्सुखम् ॥ २ ॥
जनको जनदेवस्तु मिथिलायां जनाधिपः।
और्ध्वदेहिकधर्माणामासीद्युक्तो विचिन्तने ॥ ३ ॥
तस्य स्म शतमाचार्या वसन्ति सततं गृहे।
दर्शयन्तः पृथग्धर्मान्नानाश्रमनिवासिनः ॥ ४ ॥
स तेषां प्रेत्यभावे च प्रेत्यजातौ विनिश्चये।
आगमस्थः स भूयिष्ठमात्मतत्त्वे न तुष्यति ॥ ५ ॥
तत्र पञ्चशिखो नाम कापिलेयो महामुनिः।

यण ऋषिने जीवोंके ऊपर कृपा करके इस मोक्षसाधन विषयको स्पष्ट करके कहा है। (३५—३८)

शान्तिपर्वमें २१७ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २१८ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे व्यवहारदर्शिन्! मिथिलापति जनकवंशीय मोक्षवित् जनदेवने किस प्रकारके व्यवहारोंके जरिये मनुष्योंके भोगने योग्य भोगोंको परित्याग करके मुक्तिलाभ की थी? (१)

भीष्म बोले, व्यवहारदर्शी जनदेवने जिस प्रकार व्यवहारके सहारे मोक्ष लाभ की थी, उस विषयमें प्राचीन लोग यह पुराना इतिहास कहा करते हैं। मिथिलानगरीमें प्रजानाथ जनदेव शरीर त्यागनेके अनन्तर जिस प्रकार निर्गुण ब्रह्म प्राप्ति होती है, उस ही प्रकार धर्म विषयोंकी चिन्तामें तत्पर थे। उनके स्थानमें अनेक प्रकारके उपासनामार्गप्रदर्शक और लोकायत पाखण्डियोंके तिरस्कार करनेवाले सैकडों आचार्य सदा निवास करते थे। उन सब पाखण्डिओंके बीच कोई कोई देहनाशनिबन्धनसे आत्माका नाश स्वीकार करते थे, कोई शरीरको ही अविनाशी कहके स्थिर करते थे, इसही प्रकार विविध विषयोंमें ऐक्यमत न रहने तथा परलोक, पुनर्जन्म और आत्मतत्त्व विषयमें विशेष निश्चय न होनेसे वह शास्त्रदर्शी राजा उन लोगोंके विषयोंमें विशेष

परिधावन्महीं कृत्स्नां जगाम मिथिलामथ ॥ ६ ॥
सर्वसंन्यासधर्माणां तत्त्वज्ञानविनिश्चये ।
सुपर्यवसितार्थश्च निर्द्वन्द्वो नष्टसंशयः ॥ ७ ॥
ऋषीणामाहुरेकं तं यं कामानावृतं नृषु ।
शाश्वतं सुखमत्यन्तमन्विच्छन्तं सुदुर्लभम् ॥ ८ ॥
यमाहुः कपिलं साङ्ख्याः परमर्षिं प्रजापतिम् ।
स मन्ये तेन रूपेण विस्मापयति हि स्वयम् ॥ ९ ॥
आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम् ।
पञ्चस्रोतसि यः सत्रमास्ते वर्षसहस्रिकम् ॥ १० ॥
यत्र चासीनमागम्य कापिलं मण्डलं महत् ।
पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः ॥ ११ ॥
पञ्चज्ञः पञ्चकृत्पञ्चगुणः पञ्चशिखः स्मृतः ।
पुरुषावस्थमव्यक्तं परमार्थं न्यवेदयत् ॥ १२ ॥
इष्टसत्रेण संपृष्टो भूयश्च तपसाऽऽसुरिः ।

रूपसे सन्तुष्ट नहीं था। (२-५)

अनन्तर कपिलापुत्र पञ्चशिख नाम महामुनि समस्त पृथ्वी पर्यटन कर एकत्र वास न करके उस मिथिला नगरीमें उपस्थित हुए। वह समस्त संन्यासधर्मके तत्वज्ञाननिश्चय विषयके जो सब प्रयोजन हैं, उन्हें पूर्ण रीतिसे निर्णय कर सकते थे; उन्हें सुख, दुःख आदि कुछ न था और सब संशय नष्ट हुए थे। पण्डित लोग उन्हें ऋषियोंमें अद्वितीय कहते थे, वे यदृच्छाक्रमसे मनुष्योंके बीच निवास करते और अत्यन्त दुर्लभ नित्यसुखकी खोजमें तत्पर रहते थे। सांख्य मतावलम्बी दार्शनिक पण्डित लोग जिसे परम ऋषि प्रजापति कपिल कहा करते हैं, बोध होता है, वेही पञ्चशिख रूपसे लोगोंको विस्मययुक्त करते थे। प्राचीन लोग जिसे आसुरीके प्रथम पुत्र और चिरजीवी कहते हैं; जिन्होंने हजार वर्ष सम्पाद्य मानस यज्ञका अनुष्ठान किया था, जिन्होंने आसुरीके निकट समासीन कपिल मतावलम्बी मुनिमण्डलीके समीप उपस्थित होकर अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय पञ्चपुरुष जिसमें निवास करता है और जिन्होंने स्वयं हाथ और मस्तक आदि अवयवोंसे रहित कहके अव्यक्त और अबाध्यत्वनिबन्धन परमार्थ स्वरूप उस परब्रह्म विषयक ज्ञानका विस्तार किया था। (६-१२)

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्व्यक्तिं बुबुधे देवदर्शनः ॥ १३ ॥
यत्तदेकाक्षरं ब्रह्म नानारूपं प्रदृश्यते ।
आसुरिर्मण्डले तस्मिन्प्रतिपेदे तदव्ययम् ॥ १४ ॥
तस्य पञ्चशिखः शिष्यो मानुष्याः पयसा भृतः ।
ब्राह्मणी कपिला नाम काचिदासीत्कुटुम्बिनी ॥१५॥
तस्याः पुत्रत्वमागम्य स्त्रियाः स पिबति स्तनौ ।
ततः स कापिलेयत्वं लेभे बुद्धिं च नैष्ठिकीम् ॥ १६ ॥
एतन्मे भगवानाह कापिलेयस्य सम्भवम् ।
तस्य तत्कापिलेयत्वं सर्ववित्त्वमनुत्तमम् ॥ १७ ॥
सामान्यं जनकं ज्ञात्वा धर्मज्ञो ज्ञानमुत्तमम् ।
उपेत्य शतमाचार्यान्मोहयामास हेतुभिः ॥ १८ ॥
जनकस्त्वभिसंरक्तः कापिलेयानुदर्शनात् ।
उत्सृज्य शतमाचार्यान्पृष्ठतोऽनुजगाम तम् ॥ १९ ॥
तस्मै परमकल्याय प्रणताय च धर्मतः ।

जिन्होंने आत्मज्ञानके निमित्त आसुरीके निकट बार बार प्रश्न किया था, उससे आसुरीने शरीर और जीवकी स्पष्टता समझके दिव्यदृष्टि लाभ की थी; वेद और लोकमें प्रसिद्ध जो एकमात्र अविनाशी ब्रह्म अनेक रूपसे दीखता है, आसुरीने उस ही मुनिमण्डलीके बीच उस अव्यय पुरुषको जाना था। पञ्चशिख उस ही आसुरीके शिष्य थे वह किसी मानुषीका दूध पीकर वर्द्धित हुए थे। कपिलानामी कोई कुटुम्बिनी ब्राह्मणी थी, वह उसहीका पुत्रत्व स्वीकार करके उसके स्तनका दूध पीते थे, उसहीसे उनका कापिलेय नाम हुआ और उन्होंने नैष्ठिकी बुद्धि लाभ की। भगवान् मार्कण्डेयने इसही प्रकार मेरे समीप उनकी उत्पत्ति, कापिलेय नामका कारण और असाधारण सर्वज्ञत्वका विषय कहा था। (१३-१७)

धर्मज्ञ पञ्चशिखसे परमश्रेष्ठ ज्ञानलाभ करके मिथिलाधिपतिके आचार्योंकी सम बुद्धि जानके युक्तिधाराकी वर्षाके सहारे सैकडों आचार्योंको मोहित किया। राजा कापिलेयको देखनेसे ही उनपर भक्तिके कारण अनुरक्त होकर पूर्वोक्त आचार्योंको परित्याग करके उनहीके अनुगामी हुए। (१८—१९)

महर्षि पञ्चशिख धर्मपूर्वक विनययुक्त और तत्त्वज्ञानके उपदेश धारण करनेमें

अब्रवीत्परमं मोक्षं यत्तत्साङ्ख्येऽभिधीयते ॥ २० ॥
जातिनिर्वेदमुक्त्वा स कर्मनिर्वेदमब्रवीत् ।
कर्मनिर्वेदमुक्त्वा च सर्वनिर्वेदमब्रवीत् ॥ २१ ॥
यदर्थं धर्मसंसर्गः कर्मणां च फलोदयः ।
तमनाश्वासिकं मोहं विनाशि चलमध्रुवम् ॥ २२ ॥
दृश्यमाने विनाशे च प्रत्यक्षे लोकसाक्षिके ।
आगमात्परमस्तीति ब्रुवन्नपि पराजितः ॥ २३ ॥
अनात्मा ह्यात्मनो मृत्युः क्लेशो मृत्युर्जरामयः ।
आत्मानं मन्यते मोहात्तदसम्यक् परं मतम् ॥ २४ ॥
अथ चेदेवमप्यस्ति यल्लोके नोपपद्यते ।
अजरोऽयममृत्युश्च राजाऽसौ मन्यते यथा ॥ २५ ॥
अस्ति नास्तीति चाप्येतत्तस्मिन्नसति लक्षणे ।
किमधिष्ठाय तद् ब्रूयाल्लोकयात्राविनिश्चयम् ॥ २६ ॥

अत्यन्त समर्थ उस मिथिलापतिसे सांख्यशास्त्रमें कहे हुए परम मोक्षका विषय कहने लगे; उन्होंने पहले उनके समीप जन्मविषयक सब दोषोंको प्रदर्शित करके यागादि कर्मोंके दोष कहे और यागादि कर्मोंके दोष कहके ब्रह्मलोक पर्यन्त सब लोकोंके दोष वर्णन किये । जिसके लिये कर्मकी सृष्टि और सब कर्मोंके फलकी आकांक्षा होती है, वह अविश्वसनीय मोह विनाशी अस्थिर और सत्य वा असत् रूपसे निश्चित नहीं है, यह भी कहा । (२०-२२)

लोकायत नास्तिकोंका यह मत है, कि सर्वलोकसाक्षी देहरूपी आत्माका नाश प्रत्यक्ष दीखनेपर भी शास्त्रप्रमाणके कारण देहसे पृथक् आत्मा है, ऐसा जो वादी कहा करता है, वह पराजित होता है । आत्माका मृत्युस्वरूप नाश और दुःख,जरा,रोग आदि से आंशिक नाश है; जैसे गृहके निर्बल अवयवोंके धीरे धीरे नष्ट होनेपर गृह नष्ट होता है, वैसेही इन्द्रिय आदिके विनाशके जरिये शरीरकाही नाश हुआ करता है । ऐसा होनेपर भी जो लोग मोहके वशमें होकर आत्माको देहसे पृथक् अन्य पदार्थ समझते हैं, उन लोगोंका मत समीचीन नहीं है । 'लोकमें जो नहीं है' यह यदि सिद्ध हो, तो बन्दीगण जो राजाको अजर अमर कहके स्तुति किया करते हैं, वह भी सिद्ध हो सकता है । असत् पदार्थ है, वा नहीं, ऐसा

प्रत्यक्षं ह्येनयोर्मूलं कृतान्तैतिह्ययोरपि ।
प्रत्यक्षेणागमो भिन्नः कृतान्तो वा न किंचन ॥ २७ ॥
यत्र यत्राऽनुमानेऽस्मिन्कृतं भावयतोऽपि च ।
नान्यो जीवः शरीरस्य नास्तिकानां मते स्थितः ॥२८॥
रेतो वटकणीकायां घृतपाकाधिवासनम् ।
जातिः स्मृतिरयस्कान्तः सूर्यकान्तोऽम्बुभक्षणम् ॥२९॥
प्रेतीभूतेऽत्ययश्चैव देवताद्युपयाचनम् ।

संशय उपस्थित होनेपर मनुष्य कौनसा कारण अवलम्बन करके लोकयात्राका निश्चय करेगा ? अनुमान और शास्त्र-प्रमाणका मूल प्रत्यक्ष है, उस प्रत्यक्षके जरिये शास्त्र बाधित हुआ करता है और अनुमान तुच्छ प्रमाण है; देहसे पृथक् स्वतन्त्र आत्मा नहीं है; इस विषयकी चिन्ता करनी वृथा है, नास्तिकोंके मतमें जीव शरीरसे स्वतन्त्र नहीं है । (२२—२८)

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, इन चारों भूतोंका संयोग होनेपर जैसे वट बीजके क्षुद्र भागके बीच पत्ते, फूल, फल, छाल, रूप और रस आदि अन्तर्हित रहते हैं, वैसेही रेत " वीर्य " के बीच मन, बुद्धि, अहंकार चित्त, शरीरका रूप और गुण आदि अन्तर्हित रह के उत्पन्न होते हैं, अथवा जैसे एक-मात्र गोभुक्त तृणोदकसे विभिन्न स्वभाव दूध और घी उत्पन्न होता है, अथवा अनेक वस्तुओंसे मिला हुआ कल्कके दो तीन रात्रि पकनेपर जैसे उसमेंसे मदशक्ति उत्पन्न हुआ करती है, वैसेही पहले कहे हुए चारों तत्वोंके संयोगसे रेतसे चैतन्य उत्पन्न होता है । जैसे दो काष्ठोंके घिसनेसे अग्नि प्रकट होती है, वैसेही चारों भूतोंके संयोगसे उसका प्रकाशक चैतन्य जन्म ग्रहण किया करता है । जड पदार्थोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति असम्भव नहीं है, तार्किक मतसे आत्मा और मन जड होनेपर भी दोनोंके संयोगके कारण जैसे स्मरणादि-रूप ज्ञान उत्पन्न होता है, इस विषयमें भी वही प्रमाण है । जैसे अयस्कान्त-मणि लोहेको आकर्षण करती है, वैसे ही उक्त रूपसे उत्पन्न हुआ चैतन्य इन्द्रियोंको चलाया करता है । जैसे सूर्यकान्तके संयोगद्वारा सूर्यकिरणसे अग्नि प्रकट होती है, वैसेही भोक्तृत्व और अग्निका जलशोषकत्व संघातके जरियेही सिद्ध होता है; इसलिये देहसे पृथक् जीव नहीं है, यह युक्तिसङ्गत है । (२९)

लोकायत नास्तिकोंका जो युक्ति-

मृते कर्मनिवृत्तिश्च प्रमाणमिति निश्चयः ॥ ३० ॥
नन्वेते हेतवः सन्ति ये केचिन्मूर्तिसंस्थिताः ।
अमूर्तस्य हि मूर्तेन सामान्यं नोपपद्यते ॥ ३१ ॥
अविद्याकर्मचेष्टानां केचिदाहुः पुनर्भवे ।
कारणं लोभमोहौ तु दोषाणां तु निषेवणम् ॥ ३२ ॥

युक्त मत वर्णित हुआ, वह अत्यन्त दूषित है, क्यों कि शरीरके मृत होनेपर भी आत्माका विनाश नहीं होता; देहसे अतिरिक्त आत्माके अस्तित्वमें यही प्रमाण है, कि यदि देह चेतन हो, तो मृत शरीरमें भी चैतन्यकी प्राप्ति हो सकती है, जब कि ऐसा नहीं दीखता है, तब चैतन्य अवश्यही देहधर्म नहीं है। जिसके वर्त्तमान रहनेसे शरीर नष्ट नहीं होता और जिसके न रहनेपर देह नष्ट होता है, वह अवश्यही शरीरसे स्वतन्त्र है; और लोकायत नास्तिक लोग शीतज्वरकी निवृत्तिके लिये मन्त्रप्रतिपाद्य देवताके निकट प्रार्थना किया करते हैं, वह देवता यदि भूतमयी हो, तो घट पट आदिकी तरह दृष्टिगोचर होसके, परन्तु लोकान्तरगमन करने योग्य सूक्ष्म शरीरको स्वीकार न करनेसे उनके मतमें देवताकी सिद्धिही सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त जिस समय जो शरीर भूतान्तरमें आविष्ट होता है, उस समय उस शरीरकी पीडासे देहका मुख्य अधिष्ठाता पीडित नहीं होता; परन्तु जो आविष्ट हुआ है, उसेही उस देहके अभिमाननिबन्धनसे पीडा हुआ करती है, आविष्टके अपगमसे मुख्य शरीरही बाधित होता है; इसलिये दृष्ट-विरोधके कारण देहको आत्मा नहीं कहा जाता; मृत होनेपर कर्मकी निवृत्ति होती है, इससे कृत कर्मोंका नाश और अकृत कर्मोंके आगमरूप दोषको विशिष्ट रूपसे स्वीकार करना होता है, अर्थात् जिस शरीरसे जो दोष करता है उस देहके नष्ट होनेपर उसके किये हुए कर्म भी नष्ट होते हैं, और नवीन शरीर उत्पन्न होनेपर अकृत कर्मोंका फल भोग हुआ करता है, इससे लोकायतिक मत अत्यन्तही युक्तिविरहित है। मूर्त पदार्थसे अमूर्त ज्ञानकी उत्पत्ति होनेपर पृथ्वी आदि चारों भूतोंसे आकाशकी उत्पत्ति होसकती है; इसलिये अमूर्त्तके सहित मूर्त्तकी सदृशता कभी सम्भव नहीं है। (३०—३१)

सौगत-मतावलम्बी नास्तिक लोग अविद्या, कर्म, वासना, लोभ, मोह और दोषनिषेवणको पुनर्जन्मका कारण कहा करते हैं। वे लोग लोकायत नास्तिकों-

अविद्यां क्षेत्रमाहुर्हि कर्मबीजं तथा कृतम् ।
तृष्णासञ्जननं स्नेह एष तेषां पुनर्भवः ॥ ३३ ॥
तस्मिन् गूढे च दग्धे च भिन्ने मरणधर्मिणि ।
अन्योऽस्माज्जायते देहस्तमाहुः सत्वसङ्क्षयम् ॥३४॥
यदा स्वरूपतश्चान्यो जातितः शुभतोऽर्थतः ।
कथमस्मिन्स इत्येवं सर्वं वा स्यादसंहितम् ॥ ३५ ॥
एवं सति च का प्रीतिर्दानविद्यातपोबलैः ।

के अभिमत चारों भूतोंके बाह्यसङ्घातसे आध्यात्मिक संघातरूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्काराख्य, पञ्चस्कन्धात्मक ऐहिक और पारलौकिक व्यवहारास्पद जीव स्वीकार करते हैं; इसलिये उनके मतमें देहके नाशसेही आत्म विनाशरूप दोषकी सम्भावना नहीं है। यद्यपि ये लोग दूसरेकी तरह स्थिर भोक्ता वा प्रशासिता चेतन स्वीकार नहीं करते हैं, तोभी अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम, रूप, षडायतन अर्थात् चित्तका आश्रय शरीर, स्पर्श, पीडा, तृष्णा, उपादान, जन्म, जाति, जरा, मृत्यु, शोक, परिदेवना, दुःख और मनस्ताप, इन अठारहों दोषोंको कभी कभी संक्षेपसे कभी विस्तारके सहित वर्णन किया करते हैं। ये लोग घटीयन्त्रकी भांति आवर्त्तमान होकर संघातको स्वाश्रयत्व रूपसे अधिक्षेप करते हैं; उसीही संघातोत्पत्तिके कारण लोकयात्रानिर्वाह होनेसे स्थिर आत्माकी सत्ताको स्वीकार नहीं करते। (३२)

उनके मतमें पूर्वकृत कर्म और तृष्णाजननस्नेह, अविद्या क्षेत्र शरीरके बार बार उत्पत्तिका बीज और कारण रूपसे वर्णित हुआ है। उस अविद्या आदि कलापके सुषुप्ति प्रलयके संस्कारस्वरूपमें निमित्तभूत होके स्थिति करने और एकमात्र मरणधर्मयुक्त देहके जलने वा नष्ट होनेपर अविद्या आदिसे दूसरा शरीर उत्पन्न होता है, सौगत लोग इसेही सत्वसंक्षय अर्थात् मोक्ष कहा करते हैं। (३३-३४)

इस विषयमें यही आपत्ति है, कि मुक्ति होनेपर भी क्षणिक विज्ञान आदिके स्वरूप, जाति, पाप-पुण्य और बन्ध मोक्षसे जबकि पृथकत्व होता है, तब किस प्रकार इस विज्ञानसे वह विज्ञान प्रत्यभिज्ञान होसकता है। एक पुरुष मुमुक्षु, दूसरा साधनाविष्ट है और अन्य पुरुष मुक्त हुआ, यह अत्यन्त ही असंगत वचन है। ऐसा होनेसे दान, विद्या, तपस्या और बलके निमित्त लोगोंकी प्रवृत्ति न होती; क्यों कि एक

यदस्याचरितं कर्म सर्वमन्यत्प्रपद्यते ॥ ३६ ॥
अपि ह्ययमिहैवान्यैः प्राकृतैर्दुःखितो भवेत्।
सुखितो दुःखितो वाऽपि दृश्यादृश्यविनिर्णयः ॥३७॥
तथा हि मुसलैर्हन्युः शरीरं तत्पुनर्भवेत्।
पृथग्ज्ञानं यदन्यच्च येनैतन्नोपपद्यते ॥ ३८ ॥
ऋतुसंवत्सरौ तिष्यः शीतोष्णेऽथ प्रियाप्रिये।
यथाऽतीतानि पश्यन्ति तादृशः सत्वसङ्क्षयः ॥३९॥
जरयाऽभिपरीतस्य मृत्युना च विनाशिना।
दुर्बलं दुर्बलं पूर्वं गृहस्येव विनश्यति ॥ ४० ॥
इन्द्रियाणि मनो वायुः शोणितं मांसमस्थि च।
आनुपूर्व्या विनश्यन्ति स्वं धातुमुपयान्ति च ॥ ४१ ॥

पुरुषके दानादि कर्मोंके अनुष्ठान करनेपर फलभोगके समय उसके अभावमें दूसरे फल भोग करने लगे यह कभी सम्भव नहीं है। (३५-३६)

यह सम्भव होनेसे एकके पुण्यसे दूसरे सुखी और दूसरेके पापसे अन्य पुरुष दुःखी हो सकते हैं; इसलिये ऐसे दृश्य विषयोंके जरिये अदृश्य विषयोंका निर्णय करना युक्तिसंगत नहीं होता है। एकका ज्ञान दूसरेके ज्ञानके समान नहीं होता; इसलिये जिसमें वैजात्यके जरिये ये सब दोष उत्पन्न न हों, उसके लिये यदि क्षणिकविज्ञानवादी नास्तिक लोग ज्ञानधाराकी सजातीयता कहनेकी इच्छा करें, तब उत्पाद्यमान सदृश ज्ञानका उपादान क्या है? इस प्रश्नका उत्तर देनेके पहिले ज्ञानको वे लोग सिद्धान्तपक्षमें निक्षेप करनेमें समर्थ नहीं हैं, क्यों कि उन लोगोंके मनमें ज्ञानका क्षणिकत्व निबन्धन उत्तर ज्ञानके उत्पादन विषयमें समर्थ नहीं है। यदि उस ज्ञानकाही नाश हो, तो मुसलके जरिये नष्ट हुए शरीरसे दूसरा शरीर उत्पन्न होसके। (३७—३८)

ऋतु, संवत्सर, युग सर्दी, गर्मी, प्रिय और अप्रिय आदि जैसे अतीत होके फिर उत्पन्न होते देखे जाते हैं, वैसेही ज्ञानधाराकी अनन्तताके कारण ऋतु आदिकी भांति मोक्ष बार बार आगत और निवृत्त होती है, इसलिये क्षणिकविज्ञानवाद अनेक दोषोंसे ग्रस्त होनेसे युक्तिसंगत नहीं है। जरा और मृत्युके जरिये आक्रान्त अनित्य धर्माश्रय दुर्बल शरीर गृहकी भांति नष्ट होता है। (३९-४०)

इन्द्रियां, मन, प्राण, मांस, रुधिर,

लोकयात्राविघातश्च दानधर्मफलागमे ।
तदर्थं वेदशब्दाश्च व्यवहाराश्च लौकिकाः ॥ ४२ ॥
इति सम्यङ् मनस्येते बहवः सन्ति हेतवः ।
एतदस्तीदमस्तीति न किंचित्प्रतिदृश्यते ॥ ४३ ॥
तेषां विमृशतामेव तत्तत्समभिधावताम् ।
क्वचिन्निविशते बुद्धिस्तत्र जीर्यति वृक्षवत् ॥ ४४ ॥
एवमर्थैरनर्थैश्च दुःखिताः सर्वजन्तवः ।
आगमैरपकृष्यन्ते हस्तिपैर्हस्तिनो यथा ॥ ४५ ॥
अर्थांस्तथाऽत्यन्तसुखावहांश्च लिप्सन्त एते बहवो विशुष्काः ।
महत्तरं दुःखमनुप्रपन्ना हित्वाऽऽमिषं मृत्युवशं प्रयान्ति ॥ ४६ ॥
विनाशिनो ह्यध्रुवजीवितस्य किं बन्धुभिर्मित्रपरिग्रहैश्च ।
विहाय यो गच्छति सर्वमेव क्षणेन गत्वा न निवर्तते च ॥ ४७ ॥
भूव्योमतोयानलवायवोऽपि सदा शरीरं प्रतिपालयन्ति ।

हड्डी आदि आनुपूर्विक नष्ट असंमिलित हुआ करती हैं, लोकयात्रामें व्याघात और दानधर्मादि फलकी अप्राप्ति होनेपर उसही कारणसे आत्मसुखार्थ सब लौकिक और वैदिक व्यवहार भी नष्ट होते हैं। मनमें अनेक प्रकारके तर्क उत्पन्न हुआ करते हैं; तर्क उत्पन्न होने पर युक्तिके सहारे देहसे पृथक् दूसरा कौन आत्मरूपसे निर्द्धारण किया जासकता है। जो लोग अभिनिवेशपूर्वक विचार करते हैं, उनकी बुद्धि किसी अनिर्वचनीय वस्तुमें निविष्ट होती है, निविष्ट होनेपर उसमें ही वृक्षकी तरह जीर्ण हुआ करती है। इसही प्रकार इष्ट और अनिष्टके जरिये सब जन्तु ही दुःखित होरहे हैं। जैसे हाथीवान हाथियोंको आकर्षण करता है, वैसे ही दुःखोपहत जीवसमूह शास्त्रके जरिये वशीभूत हुआ करते हैं। (४१-४५)

बहुतेरे मनुष्य अत्यन्त सुखयुक्त विषयोंकी अभिलाष करके शुष्क होते हैं; अन्तमें महत् दुःख भोगते हुए विषयपरित्याग करके मृत्युके वशमें हुआ करते हैं। जिसका अवश्य ही विनाश होगा और जीवनका निश्चय नहीं है, उसे बन्धु बान्धव और विभिन्न परिवार समूहका क्या प्रयोजन है। जो सबको परित्याग करके गमन करते हैं, वे क्षणकालके बीच लोकान्तरमें पहुंचके फिर दूसरी बार नहीं लौटते। पृथ्वी, आकाश, जल, अग्नि और वायु, ये पञ्चभूत सदा शरीरका प्रतिपालन करते

इतीदमालक्ष्य रतिः कुतो भवेद्विनाशिनोऽप्यस्य न शर्म विद्यते ॥४८॥
इदमनुपधि वाक्यमच्छलं परमनिरामयमात्मसाक्षिकम् ।
नरपतिरभिवीक्ष्य विस्मितः पुनरनुयोक्तुमिदं प्रचक्रमे ॥ ४९ ॥ [७८२७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पञ्चशिखवाक्ये पाषण्डखण्डनं नाम अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१८॥

भीष्म उवाच— जनको जनदेवस्तु ज्ञापितः परमर्षिणा ।
पुनरेवानुपप्रच्छ साम्पराये भवाभवौ ॥ १ ॥
जनक उवाच- भगवन्यदि न प्रेत्य संज्ञा भवति कस्यचित् ।
एवं सति किमज्ञानं ज्ञानं वा किं करिष्यति ॥ २ ॥
सर्वमुच्छेदनिष्ठं स्यात्पश्य चैतद् द्विजोत्तम ।
अप्रमत्तः प्रमत्तो वा किं विशेषं करिष्यति ॥ ३ ॥
असंसर्गो हि भूतेषु संसर्गो वा विनाशिषु ।
कस्मै क्रियेत कल्प्येत निश्चयः कोऽत्र तत्त्वतः ॥ ४ ॥
भीष्म उवाच— तमसा हि प्रतिच्छन्नं विभ्रान्तमिव चातुरम् ।

है, इसलिये इस पञ्चभूतात्मक शरीरके तत्त्वको जाननेसे किसमें अनुराग होगा? इस विनाशी शरीरमें तनिक भी सुख नहीं है। राजा जनदेवने यह भ्रम-प्रमादसे रहित अकपट आत्मसाक्षी वचन सुनके विस्मययुक्त होकर फिर पूर्वपक्ष करनेकी इच्छा की। (४६—४९)

शान्तिपर्वमें २१८ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २१९ अध्याय।

भीष्म बोले, जनकवंशीय जनदेवने पञ्चशिखका वचन सुनके मरनेके अनन्तर फिर जन्म और मोक्ष होती है वा नहीं। फिर उस विषयमें प्रश्न किया। (१)

जनकदेव बोले, हे भगवन्! यदि मरनेके बाद किसीको सुषुप्ति वा मूर्च्छा-वस्थाकी तरह विशेष विज्ञान न रहे, तो ज्ञान वा अज्ञानमें कुछ विशेष नहीं रह सकता। हे द्विजोत्तम! देखिये यम और नियम आदि सभी आत्मनाश-पर्यवसायी अर्थात् आत्मनाश होनेसे ही सब नियमादि नष्ट हुआ करते हैं; इस-लिये चाहे मनुष्य प्रमत्त हो वा अप्रमत्त ही हो, उसमें विशेष क्या है। मोक्ष होनेसे यदि दिव्याङ्गना आदिका संसर्ग होनेपर भी वह स्वर्गादिकी तरह विनाशी हो, तब किस निमित्त कर्म करें और क्रियमाण कार्यकी घटना ही किस प्रकार होगी, इस विषयमें यथार्थ रूपसे क्या निश्चय है। (२-४)

पुनः प्रशमयन्वाक्यैः कविः पञ्चशिखोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥
उच्छेदनिष्ठा नेहास्ति भावनिष्ठा न विद्यते।
अयं ह्यपि समाहारः शरीरेन्द्रियचेतसाम्।
वर्त्तते पृथगन्योऽन्यमप्यपाश्रित्य कर्मसु ॥ ६ ॥
धातवः पञ्च भूतेषु खं वायुर्ज्योतिषो धरा।
ते स्वभावेन तिष्ठन्ति वियुजन्ते स्वभावतः ॥ ७ ॥
आकाशो वायुरूष्मा च स्नेहो यश्चापि पार्थिवः।
एष पञ्चसमाहारः शरीरमपि नैकधा ॥ ८ ॥
ज्ञानमूष्मा च वायुश्च त्रिविधः कार्यसङ्ग्रहः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च स्वभावश्चेतना मनः।

भीष्म बोले, अतिक्रान्तदर्शी महर्षि पञ्चशिखने अज्ञानाच्छन्न विभ्रान्त आतुरकी भांति राजाको फिर वचनसे धीरज देके कहने लगे। इस संसारमें देहनाश होनेसेही पर्यवसान नहीं होता और देह विशेषके नाश होनेसे जो शेष हुआ, वह भी नहीं है; परन्तु अविद्याके सहारे आत्मामें आरोपित बुद्धि और इन्द्रिय आदि केवल रस्सीमें सर्पभ्रमकी तरह मालूम होती है, ऐसे अनर्थकी निवृत्ति और कण्ठमें पडे हुए विस्मृत कण्ठहारकी भांति स्वरूपानन्दकी प्राप्ति होनेसे ही कृतकृत्यता हुआ करती है। यह प्रत्यक्ष दृश्यमान देह, इन्द्रियों और चित्तके मिलनजनित संघातसे एक दूसरेका आश्रय करके कार्यमें वर्तमान रहता है। जिसमें सब कार्य लीन होते हैं, उसे उपादान कहते हैं, वह उपादान पांच प्रकारका है; जल, आकाश, अग्नि, वायु और पृथ्वी; सांख्य मतके अनुसार ये पांचो उपादान स्वभावसे ही स्थिति करते हैं और स्वभावसे ही पृथक् हो जाते हैं। (५-७)

ये आकाश आदि पांचो उपादान संयुक्त होकर शरीराकारसे परिणत हुआ करते हैं, अर्थात् शरीरके अन्तर्गत जो आकाशका भाग है वही आकाश है; जो प्राण है वही वायु है; जो ऊष्मा है वही अग्नि है, जो रक्तरस आदि स्नेहवत् पदार्थ हैं वही जल और जो अस्थि आदि कठिन पदार्थ हैं वही पार्थिव अंश हैं; यह शरीर जरायुज आदि भेदोंसे अनेक प्रकारका है। ज्ञान, जठराग्नि और प्राण ये त्रिविधपदार्थ सर्वकर्मसंग्राहक हैं; इन्द्रिय और इन्द्रियोंके शब्द स्पर्श आदि विषयप्रकाशक स्वरूप स्वभाव है, घटाकार वृत्ति चेतना, संकल्पादि रूप मन है, यही

प्राणापानौ विकारश्च धातवश्चात्र निःसृताः ॥ ९ ॥
श्रवणं स्पर्शनं जिह्वा दृष्टिर्नासा तथैव च ।
इन्द्रियाणीति पञ्चैते चित्तपूर्वं गता गुणाः ॥ १० ॥
तत्र विज्ञानसंयुक्ता त्रिविधा चेतना ध्रुवा ।
सुखदुःखेति यामाहुरदुःखामसुखेति च ॥ ११ ॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च मूर्तयः ।
एते ह्यामरणात्पञ्च षड् गुणा ज्ञानसिद्धये ॥ १२ ॥
तेषु कर्मविसर्गश्च सर्वतत्त्वार्थनिश्चयः ।
तमाहुः परमं शुक्रं बुद्धिरित्यव्ययं महत् ॥ १३ ॥
इमं गुणसमाहारमात्मभावेन पश्यतः ।
असम्यग्दर्शनैर्दुःखमनन्तं नोपशाम्यति ॥ १४ ॥
अनात्मेति च यद् दृष्टं तेनाहं न ममेत्यपि ।

ज्ञानके कार्य हैं, वायुके कार्य प्राण आदि पञ्चवायु हैं, खाने और पीनेकी वस्तुओंको परिपाकके जरिये इन्द्रियादिका उपचय करना जठराग्निका कार्य है। इससे ज्ञान, अग्नि और वायुसे इन्द्रिय आदि प्रकट हुई हैं। कान, त्वचा, जीभ, नेत्र और नासिका, ये पांचों इन्द्रिय चित्तगत गुण लाभ किया करती हैं। सुख, दुःख, सुखाभाव और दुःखाभाव स्वरूपी विज्ञानयुक्त चेतनावृत्ति विषयोंकी उपादेयत्व, हेयत्व और उपेक्षणीयत्व भेदसे तीन प्रकारकी है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, ये पांचों विषय मूर्त्तिके सहित संयुक्त होकर मृत्युकाल पर्यन्त ज्ञान सिद्धिके निमित्त षड्-विषय कहके प्रसिद्ध हुआ करते हैं। (८-१२)

कान आदि इन्द्रियोंसे संन्यास निबन्धनसे जिन सब विषयोंमें अर्थनिश्चय होता है, उसेही पण्डित लोग मोक्षका बीज और मोक्षप्रदत्व हेतु अव्यय महत् बुद्धि कहा करते हैं। इन आत्मातिरिक्त विषयोंको जो लोग आत्मभावसे देखते हैं, उनका असम्यक् दर्शनसे अनन्त दुःख शान्त नहीं होता "यही" इत्यादि रूपसे जो दीखता है, वह आत्मा नहीं है, क्यों कि दृश्य वस्तु कभी द्रष्टाकी आत्मा नहीं होसकती। इस कारण 'मैं और मेरा' इत्यादि वचन भी सिद्ध नहीं होते; तब अहंकार देहेन्द्रिय आदि जो आत्मामें अभेद रूपसे मालूम होती हैं, वह सीपमें रौप्यबुद्धिके समान भ्रममात्र है। "यही मैं अन्धा हूं, मैं गौरवर्ण हूं" इत्यादि वचनमें जब आत्माका

वर्तते किमधिष्ठाना प्रसक्ता दुःखसन्ततिः ॥ १५ ॥
अत्र सम्यग्वचो नाम त्यागशास्त्रमनुत्तमम्।
शृणु यत्तव मोक्षाय भाष्यमाणं भविष्यति ॥ १६ ॥
त्याग एव हि सर्वेषां युक्तानामपि कर्मणाम्।
नित्यं मिथ्याविनीतानां क्लेशो दुःखवहो मतः ॥१७॥
द्रव्यत्यागे तु कर्माणि भोगत्यागे व्रतान्यपि।
सुखत्यागे तपो योगं सर्वत्यागे समापना ॥ १८ ॥
तस्य मार्गोऽयमद्वैधः सर्वत्यागस्य दर्शितः।
विप्रहाणाय दुःखस्य दुर्गतिस्त्वन्यथा भवेत् ॥ १९ ॥
पञ्च ज्ञानेन्द्रियाण्युक्त्वा मनःषष्ठानि चेतसि।
बलषष्ठानि वक्ष्यामि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि तु ॥ २० ॥
हस्तौ कर्मेन्द्रियं ज्ञेयमथ पादौ गतीन्द्रियम्।
प्रजनानन्दयोः शेफो निसर्गे पायुरिन्द्रियम् ॥ २१ ॥

सम्बन्ध नहीं है, तुम "मेरे पुत्र, मेरी स्त्री," ये सब वचन भी मिथ्या हैं; इसलिये जो दुःखसन्तति मालूम हो रही है, उसका अवलम्ब क्या है, क्योंकि आत्मा असङ्ग और अहंकार मिथ्या है, इससे रस्सीमें सर्पभ्रमकी भांति निराधिष्ठान दुःखसन्तति भी अवश्यही अहङ्कारकी तरह सत्य नहीं है; अब जो वक्ष्यमाण त्यागप्रधान शास्त्र तुम्हारे मुक्ति विषयमें निमित्त होगा, वह परमश्रेष्ठ सांख्यशास्त्र सुनो। (१२-१६)

मुक्तिके लिये सदा उद्यत पुरुषोंको सब कर्म और विभव आदिको परित्याग करनाही नित्यकर्म है, और जो लोग त्यागको स्वीकार न करके शान्तिपरायण होते हैं, पण्डित लोग उन लोगोंके अविद्या आदि क्लेशोंको दुःखदायक समझते हैं। सुखकी सामग्रियोंको परित्याग करनेसे सब कर्म सिद्ध होते हैं, भोग त्याग करनेसे व्रतकी सिद्धि हुआ करती है, सुख त्याग करनेसे तपस्या और योगोपदेश प्राप्त हो सकता है, और समस्त परित्याग करनेसे त्यागकी पराकाष्ठा हुई। दुःखोंको नाश करनेके लिये उस सर्वत्यागका द्वैधरहित मार्ग प्रदर्शित होता है। त्याग स्वीकार न करनेसे दुर्गति हुआ करती है। बुद्धिमें विद्यमान मनके सहित पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंका विषय कहके प्राणके सहित पञ्च कर्मेन्द्रियोंका विषय कहता हूं। (१७-२०)

दोनों हाथ कर्मेन्द्रिय, दोनों पाव गमनेन्द्रिय और शिश्न सन्तानोत्पादन

वाक्च शब्दविशेषार्थमिति पञ्चान्वितं विदुः।
एवमेकादशैतानि बुद्ध्याऽऽशु विसृजेन्मनः ॥ २२ ॥
कर्णौ शब्दश्च चित्तं च त्रयः श्रवणसङ्ग्रहे।
तथा स्पर्शे तथा रूपे तथैव रसगन्धयोः ॥ २३ ॥
एवं पञ्च त्रिका ह्येते गुणास्तदुपलब्धये।
येनायं त्रिविधो भावः पर्यायात्समुपस्थितः ॥ २४ ॥
सात्त्विको राजसश्चापि तामसश्चापि ते त्रयः।
त्रिविधा वेदना येषु प्रसूताः सर्वसाधनाः ॥ २५ ॥
प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः सुखं संशान्तचित्तता।
अकुतश्चित्कुतश्चिद्वा चिन्तितः सात्त्विको गुणः ॥२६॥
अतुष्टिः परितापश्च शोको लोभस्तथाऽक्षमा।
लिङ्गानि रजसस्तानि दृश्यन्ते हेत्वहेतुतः ॥ २७ ॥
अविवेकस्तथा मोहः प्रमादः स्वप्नतन्द्रिता।

तथा आनन्दजननेन्द्रिय, पायु पुरीष (मल) परित्याग आदिकी इन्द्रिय और जिह्वा शब्दविशेष उच्चारणकी इन्द्रिय है, मन इन पांचों कर्मेन्द्रियोंमें संयुक्त है। इस ही प्रकार मनके सहित कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां इन ग्यारहोंको बुद्धिके सहारे शीघ्रही परित्याग करे; मनको परित्याग कर सकनेसे ही विषययुक्त कर्मेन्द्रियां परित्यक्त होती हैं; और बुद्धिको परित्याग करनेसे ही मनके सहित ज्ञानेन्द्रियोंका परित्याग सिद्ध हुआ करता है। शब्दक्रियाको सिद्ध करनेके लिये दोनों कान करण, शब्द विषय, और चित्त कर्तृ रूपसे कहा जाता है; स्पर्श, रूप, रस और गन्धका विषय भी इसही प्रकार है। इसी भांति शब्दादि विषयोंकी अभिव्यक्तिके लिये सत्व आदि तीनों गुण, सब विषय और कारणको समनस्क करे, जो अनुभवकी अभिव्यक्तिके निमित्त सात्विक राजसिक और तामसिक भाव पर्यायक्रमसे उपस्थित होते हैं, वह अनुभव ही प्रहर्ष आदि सब सात्विक प्रभृति कार्योंका साधन किया करता है। २१-२५

प्रहर्ष, प्रीति, आनन्द, सुख और शान्त—चित्तता, ये सब सात्त्विक गुण वैराग्यके कारण वा स्वाभाविक ही चित्तसे उत्पन्न होते हैं। असन्तोष, परिताप, शोक, लोभ और क्षमाहीनता, ये सब रजोगुणके चिन्ह हैं, कभी कारणसे और कभी विना कारणसे ही दिखाई देते हैं। अविवेक, मोह, प्रमाद,

कथंचिदपि वर्तन्ते विविधास्तामसा गुणाः ॥ २८ ॥
अत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।
वर्तते सात्त्विको भाव इत्यपेक्षेत तत्तथा ॥ २९ ॥
यत्त्वसन्तोषसंयुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
प्रवृत्तं रज इत्येवं ततस्तदपि चिन्तयेत ॥ ३० ॥
अथ यन्मोहसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ ३१ ॥
श्रोत्रं व्योमाश्रितं भूतं शब्दः श्रोत्रं समाश्रितः
नोभयं शब्दविज्ञाने विज्ञानस्येतरस्य वा ॥ ३२ ॥
एवं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चेति पञ्चमी ।
स्पर्शे रूपे रसे गन्धे तानि चेतो मनश्च तत् ॥ ३३ ॥

स्वप्न और तन्द्रा आदि विविध तामस-गुण कारण वा बिना कारणसे ही वर्त्तमान रहते हैं। जो शरीर और मनको प्रीतियुक्त करे, उसेही सात्विक गुण समझना चाहिये। जो विषय आत्माके असन्तोष और अप्रीतिकर हैं, उन्हें ही रजोगुणसे उत्पन्न हुए समझना चाहिये, और शरीर वा मनसे जो मोहयुक्त होके मालूम होता है, उसेही अवितर्क्य और अविज्ञेय, तमोगुणका कार्य निश्चय करे। (२६—३१)

आकाशके आश्रित श्रोत्र आकाशसे भिन्न नहीं हैं और श्रोत्राश्रित शब्द भी परस्परके सम्बन्धसे आकाशसे स्वतन्त्र नहीं होसकता, जब ऐसा हुआ, तब शब्दज्ञान होनेपर आकाश और श्रोत्र ये दोनों ही विज्ञानके विषय नहीं होते, क्यों कि जिसे शब्दज्ञान होता है, उसे शब्दज्ञानके समयमेंही श्रोत्र और आकाश विषयका ज्ञान समान नहीं होसकता, इससे ऐसा निश्चय नहीं है, कि श्रोत्र और आकाश अज्ञात ही रहे। एकका विज्ञान होनेसे दूसरेका ज्ञान नहीं होता, यह वचन कभी भी युक्तिसङ्गत नहीं है। श्रोत्र और आकाशसे शब्द कभी स्वतन्त्र नहीं होसकता। इसलिये श्रोत्रादिके प्रविलापनसे शब्द और आकाश आदिका प्रविलापन युक्तियुक्त है; शब्द और आकाशादि स्मरणात्मक चित्त स्वरूप है; चित्त भी अध्यवसायात्मक मनसे भिन्न नहीं, इस लिये मनके लीन होनेसे सभी लीन होते हैं। (३२)

इसी प्रकार त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, स्पर्श, रूप, रस और गन्धके सहित अभिन्न होकर चित्तभी मनःस्व-

स्वकर्मयुगपद्भावो दशस्वेतेषु तिष्ठति ।
चित्तमेकादशं विद्धि बुद्धिर्द्वादशमी भवेत् ॥ ३४ ॥
तेषामयुगपद्भाव उच्छेदो नास्ति तामसे ।
आस्थितो युगपद्भावो व्यवहारः स लौकिकः ॥ ३५ ॥
इन्द्रियाण्यपि सूक्ष्माणि दृष्ट्वा पूर्वश्रुतागमात् ।
चिन्तयन्नानुपर्येति त्रिभिरेवान्वितो गुणैः ॥ ३६ ॥
यत्तमोऽपहतं चित्तमाशु संहारमध्रुवम् ।
करोत्युपरमं काये तदाहुस्तामसं बुधाः ॥ ३७ ॥
यद्यदागमसंयुक्तं न कृच्छ्रमनुपश्यति ।
अथ तत्राप्युपादत्ते तमोऽव्यक्तमिवानृतम् ॥ ३८ ॥

रूप होता है; मनके लय होनेसे ये सब लीन होते हैं। इन्द्रियोंके विषय सुनना, छूना, देखना आदि कार्य एक समयमें ही सिद्ध होनेसे पंचज्ञानेन्द्रिय और पंच कर्मेन्द्रिय, इन दशोंके अनुगत मन ग्यारहवां होकर स्थिति करता है और बुद्धि ऊपर कही हुई दशों इन्द्रिय तथा ग्यारहवें मनकी अनुगत होकर बारहवें रूपमें निवास किया करती है, जो लोग यह अङ्गीकार करते हैं, कि एक समयमें अनेक ज्ञान नहीं होता, उनका अनुभव युक्तिविरुद्ध है; क्यों कि गङ्गाजलमें शरीरका अर्द्धभाग डूबनेपर आधे हिस्समें सूर्यकिरणकी गर्मी और आधे भागमें शीतता दोनों ही स्पष्ट मालूम होती हैं। प्रागुक्त पंचज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, मन और बुद्धि इन बारहोंको युगपत् भाव न होनेपर भी निद्रा रूप तमोमय सुषुप्ति-कालमें भी आत्माका नाश नहीं है, आत्माका अयोगपद्यही वास्तवतत्व है, युगपद्भाव केवल सपनेकी भांति ज्ञानकृत है; इसलिये आत्माका जो युगपद्भाव है, वह लौकिक व्यवहार मात्र है। पारमार्थिक नहीं है। (३३-३५)

समदर्शी पुरुष पूर्वानुभव वासनासे सूक्ष्म इन्द्रियोंके विषय सङ्गकी चिन्ता करते हुए सत्व, रज और तमोगुणसे युक्त होकर कामनाके अनुसार निज शरीरमें विचरते हैं। जो तमोगुणसे अभिभूत और जो प्रवृत्ति प्रकाशात्मक आत्माको शीघ्र ही संसार करके पहले कहे हुए युगपद्भावको अनिश्चित नाश करता है, पण्डित लोग उसेही तामस सुख कहा करते हैं। वह अज्ञानप्रधान तामससुख इस शरीरमेंही सुषुप्तिकालमें मालूम हुआ करता है; जो सुख आनन्द स्वरूप परब्रह्म इत्यादि वेदबोधित रूपसे विख्यात है उसमें तनिक भी द्वैत सुखन

एवमेव प्रसङ्ख्यातः स्वकर्मप्रत्ययो गुणः।
कथंचिद्वर्तते सम्यक्केषांचिद्वा निवर्तते ॥ ३९ ॥
एतदाहुः समाहारं क्षेत्रमध्यात्मचिन्तकाः।
स्थितो मनसि यो भावः स वै क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥४० ॥
एवं सति क उच्छेदः शाश्वतो वा कथं भवेत्।
स्वभावाद्वर्तमानेषु सर्वभूतेषु हेतुतः ॥ ४१ ॥
यथार्णवगता नद्यो व्यक्तीर्जहति नाम च।
नदाश्च तानि यच्छन्ति तादृशः सत्वसङ्क्षयः ॥४२॥
एवं सति कुतः संज्ञा प्रेत्यभावे पुनर्भवेत्।

दीख पडने और अव्यक्त अनृत तमोगुणकी सत्ता न रहनेपर भी उसका अस्तित्व उपपन्न होता है। (३७-३८)

इन अहंकार आदिकोंकी घटपट पर्यन्त दृश्यमान भोग्य वस्तुओंके निज कर्मके कारण उत्पत्ति प्रख्यात हुआ करती है। कोई कोई अविद्यायुक्त पुरुषोंका अज्ञान वज्रपंजरकी तरह वर्द्धित होता है, और कोई कोई विद्वान् पुरुषोंके समीप वह अज्ञान तीनों कालोंमें भी आगमन करनेमें समर्थ नहीं होता। अध्यात्म विचारमें तत्पर पण्डित लोग संघात बीजभूत मनके बीच जो सत्ता है, उसे ही क्षेत्रज्ञ कहा करते हैं। अनादि अविद्या कर्मसे सत्य और मिथ्याका आत्म और आत्मभिन्न एकत्रीकरण निबन्धन व्यवहारमें वर्त्तमान चतुर्विध भूतोंके बीच शाश्वत आत्मा किस प्रकार नाशयुक्त होसकता है। आत्मा सर्वव्यापी नित्य पदार्थ है, उस का कभी नाश नहीं हो सकता; इसलिये पहिले जो आत्माके नाश विषयमें शंका हुई थी उसका कोई अवलम्बन नहीं है। (३९—४१)

जैसे नद और नदियें समुद्रमें मिलकर अपने नाम और रूपको त्यागके सागर जलमें लीन होती हैं, वैसेही महदादि घटपट पर्यन्त बाह्य वस्तुरूपी सब स्थूल पदार्थ उत्पत्तिकी विपरीतताके अनुसार सूक्ष्मभूतोंमें लयको प्राप्त हुआ करते हैं, और सूक्ष्मभूत विशुद्ध कारणस्वरूपमें लीन होते हैं, इसेही सत्वसंक्षय कहा जाता है। इसही प्रकार देहरूप उपाधियुक्त जीव सब तरहसे आइनेके मुखकी भांति गृह्यमाण होनेपर और उपाधिके नष्ट होनेपर उसका किसी प्रकार भी ज्ञान नहीं होसकता, और ज्ञान न होनेपर भी जैसे दर्पणके अभावसे मुखका नाश नहीं होता, वैसे ही उपाधिके न रहनेपर भी आत्माके नाशकी

जीवे च प्रतिसंयुक्ते गृह्यमाणे च सर्वतः ॥ ४३ ॥
इमां च यो वेद विमोक्षबुद्धिमात्मानमन्विच्छति चाप्रमत्तः।
न लिप्यते कर्मफलैरनिष्टैः पत्रं बिसस्येव जलेन सिक्तम् ॥ ४४ ॥
दृढैर्हि पाशैर्बहुभिर्विमुक्तः प्रजानिमित्तैरपि दैवतैश्च।
यदा ह्यसौ सुखदुःखे जहाति मुक्तस्तदाग्र्यां गतिमेत्यलिङ्गः ॥४५॥
श्रुतिप्रमाणागममङ्गलैश्च शेते जरामृत्युभयादभीतः।
क्षीणे च पुण्ये विगते च पापे ततो निमित्ते च फले विनष्टे ॥
अलेपमाकाशमलिङ्गमेवमास्थाय पश्यन्ति महत्यसक्ताः ॥ ४६ ॥
यथोर्णनाभिः परिवर्तमानस्तन्तुक्षये तिष्ठति पात्यमानः।
तथा विमुक्तः प्रजहाति दुःखं विध्वंसते लोष्ट इवाद्रिमृच्छन् ॥ ४७ ॥
यथा रुरुः शृङ्गमथो पुराणं हित्वा त्वचं वाप्युरगो यथा च।
विहाय गच्छत्यनवेक्षमाणस्तथा विमुक्तो विजहाति दुःखम् ॥ ४८ ॥

शङ्का करनी किसी प्रकार भी सम्भावित नहीं है। जो अप्रमत्त होकर इसी प्रकार मुक्तिका उपाय अवलम्बन करके आत्मध्यानमें तत्पर होते हैं, वे जलसे भींगे हुए कमलपत्रके समान अनिष्टकारी कर्मफलोंसे लिप्त नहीं होते। (४२-४४)

जो अपत्यस्नेह और दैवीकर्म निमित्त अनेक प्रकारके दृढ पाशोंसे मुक्त हुए हैं, वे जिस समय सुख दुःख परित्याग करते हैं, उस समय पञ्चप्राण, मन, बुद्धि और दशों इन्द्रिय इन सत्रह अवयवात्मक लिङ्गशरीरसे रहित होते तथा मुक्त होकर परम गति पाते हैं। मनुष्य श्रुति प्रमाण "तत्त्वमसि" वाक्य और वेद शास्त्रोंमें कहे हुए मङ्गल साधन शमदम आदिके सहारे जरा मृत्यु के भयसे रहित होकर निवास करते हैं। पुण्य और पाप तथा मोहका कारण सुख दुःख नष्ट होनेपर आसक्तिरहित साधक लोग हृदयाकाशमें स्थित सगुण ब्रह्मको अवलम्बन करके अन्तमें निरवयव निर्लिप्त आत्माको अस्मितामात्र बुद्धि तत्त्वसे देखते हैं। जैसे ऊर्णनाभि कीट तंतुमय गृहमें वर्त्तमान रहके निवास करता है, वैसेही अविद्याके वशीभूत जीव कर्म तन्तुमय गृहमें वास किया करते हैं। जैसे पांसुपिण्ड वेगपूर्वक पत्थरपर गिरनेसे चूर होजाता है, उसही प्रकार जीव मुक्त होके दुःखोंको परित्याग किया करता है। (४५-४७)

जैसे रुरु नाम हरिणविशेष पुराने सींगोंको त्यागके और सर्प निज केंचुली परित्याग करके अलक्षित भावसे गमन करते हैं, वैसेही जीव मुक्त होकर

द्रुमं यथा वाप्युदके पतन्तमुत्सृज्य पक्षी निपतत्यसक्तः ।
तथा ह्यसौ सुखदुःखे विहाय मुक्तः परार्द्ध्यां गतिमेत्यलिङ्गः ॥ ४९॥
अपि च भवति मैथिलेन गीतं नगरमुपाहितमग्निनाऽभिवीक्ष्य ।
न खलु मम हि दह्यतेऽत्र किंचित्स्वयमिदमाह किल स्म भूमिपालः॥५०
इदममृतपदं निशम्य राजा स्वयमिह पञ्चशिखेन भाष्यमाणम् ।
निखिलमभिसमीक्ष्य निश्चितार्थः परमसुखी विजहार वीतशोकः ॥५१॥
इमं हि यः पठति मोक्षनिश्चयं महीपते सततमवेक्षते तथा ।
उपद्रवान्नानुभवत्यदुःखितः प्रमुच्यते कपिलमिवैत्य मैथिलः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पञ्चशिखवाक्यं नाम एकोनविंशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१९ ॥ [७८७९]

युधिष्ठिर उवाच—किं कुर्वन्सुखमाप्नोति किं कुर्वन्दुःखमाप्नुयात् ।
किं कुर्वन्निर्भयो लोके सिद्धश्चरति भारत ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— दममेव प्रशंसन्ति वृद्धाः श्रुतिसमाधयः ।

दुःखोंको परित्याग किया करता है। जैसे जलमें गिरे हुए वृक्षको परित्याग करके पक्षी असक्त होके उड जाते हैं, वैसेही जीव सुख दुःखको परित्याग करते हुए लिङ्गशरीरसे रहित और विमुक्त होकर परम गति लाभ किया करता है, मिथिलाधिपति जनकने सारे नगरको जलते हुए देखकर कहा था, कि इस अग्निदाहसे मेरा कुछ भी नहीं जलता है। राजा जनदेवने पञ्चशिख आचार्यके कहे हुए अमृत समान वचन को सुनकर सबकी पर्यालोचना करके अर्थनिश्चय करते हुए परम सुखी और शोकरहित होकर विहार किया था। हे महाराज! जो लोग इस मोक्षनिश्चय विषयका सदा पाठ और अर्थके अनुसार पर्यालोचना करते हैं वह दुःखसे रहित होते और किसी उपद्रवको अनुभव नहीं करते और जैसे जनकवंशीय जनदेव पञ्चशिख आचार्यके शरणागत होकर मुक्त हुए थे, इस मोक्षनिश्चय विषयको पर्यालोचना करनेवाले पुरुष भी उस ही प्रकार मुक्तिलाभ करनेमें समर्थ होते हैं। (४८—५२)

शान्तिपर्वमें २१९ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २२० अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भारत! इस लोकमें मनुष्य किन कर्मोंके करनेसे सुखलाभ करता है। किन कर्मोंको करनेसे दुःखभागी होता और किस प्रकारके कर्मोंको करते हुए सिद्ध पुरुषोंकी तरह निर्भय होकर विचरता है? (१)

सर्वेषामेव वर्णानां ब्राह्मणस्य विशेषतः ॥ २ ॥
नादान्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपपद्यते ।
क्रिया तपश्च सत्यं च दमे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ३ ॥
दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं दम उच्यते ।
विपाप्मा निर्भयो दान्तः पुरुषो विन्दते महत् ॥ ४ ॥
सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखं च प्रतिबुद्ध्यते ।
सुखं लोके विपर्येति मनश्चास्य प्रसीदति ॥ ५ ॥
तेजो दमेन ध्रियते तन्न तीक्ष्णोऽधिगच्छति ।
अमित्रांश्च बहून्नित्यं पृथगात्मनि पश्यति ॥ ६ ॥
क्रव्याद्भ्य इव भूतानामदान्तेभ्यः सदा भयम् ।
तेषां विप्रतिषेधार्थं राजा सृष्टः स्वयम्भुवा ॥ ७ ॥
आश्रमेषु च सर्वेषु दम एव विशिष्यते ।
यच्च तेषु फलं धर्मे भूयो दान्ते तदुच्यते ॥ ८ ॥
तेषां लिङ्गानि वक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ।

भीष्म बोले, वेददर्शी वृद्ध लोग बाह्येन्द्रियनिग्रहरूपी दमगुणकी ही प्रशंसा किया करते हैं, सब वर्णोंमें विशेष करके ब्राह्मणके पक्षमें दम गुण ही परम श्रेष्ठ है। अदान्त पुरुषोंकी यथा रीतिसे क्रियासिद्धि पूर्ण नहीं होती। तपस्या और सत्य कहनेका नाम क्रिया है, वे सब क्रिया ही दमगुणमें प्रतिष्ठित होरही हैं; दमगुण तेजकी वृद्धि करता है, दमकोही पण्डित लोग पवित्र कहा करते हैं; पापरहित निर्भय दान्त पुरुष महत् सुखभोग करते हैं। दान्त पुरुष ही परम सुखसे सोते हैं, परम सुखसे जाग्रत हुआ करते हैं और अनायास ही जनसमाजमें विचरते हैं, उनका मन भी सदा प्रसन्न रहता है। (२-५)

दमगुणके जरिये तेज बढता है, तामस प्रकृतिवाले पुरुष उसमें अधिकार नहीं कर सकते। दान्त पुरुष काम आदि शत्रुओंको शरीरमें सदा पृथक् देखते हैं, जैसे बाघ आदि हिंसक जन्तुओंसे जीवोंको सदा भय हुआ करता है, वैसेही अदान्त पुरुषोंसे मनुष्योंको सदा ही भय होता है। उन अदान्तोंको शासन करनेके लिये विधाताने राजाको उत्पन्न किया है। सब आश्रमोंके बीच दमगुण ही श्रेष्ठ है, सब आश्रमोंमें धर्मोपार्जनसे जो फल हुआ करता है, दान्त पुरुषोंमें उससे भी अधिक फल दीखता है, ऐसा प्राचीन

अकार्पण्यमसंरम्भः सन्तोषः श्रद्धानता ॥ ९ ॥
अक्रोध आर्जवं नित्यं नातिवादोऽभिमानिता ।
गुरुपूजाऽनसूया च दया भूतेष्वपैशुनम् ॥ १० ॥
जनवादमृषावादस्तुतिनिन्दाविवर्जनम् ।
साधुकामश्च स्पृहयेन्नायतिं प्रत्ययेषु च ॥ ११ ॥
अवैरकृत्सूपचारः समो निन्दाप्रशंसयोः ।
सुवृत्तः शीलसंपन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मवान्प्रभुः ॥ १२ ॥
प्राप्य लोके च सत्कारं स्वर्गं वै प्रेत्य गच्छति ।
दुर्गमं सर्वभूतानां प्रापयन्मोदते सुखी ॥ १३ ॥
सर्वभूतहिते युक्तो न स्म यो द्विषते जनम् ।
महाह्रद इवाक्षोभ्यः प्रज्ञातृप्तः प्रसीदति ॥ १४ ॥
अभयं यस्य भूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः ।
नमस्यः सर्वभूतानां दान्तो भवति बुद्धिमान् ॥ १५ ॥
न हृष्यति महत्यर्थे व्यसने च न शोचति ।

लोग कहा करते हैं। अब जिसे दम कहते हैं, उसका स्वरूप कहता हूं। (६-९)

अदीनता, अभिनिवेश, सन्तोष, श्रद्धानता, अक्रोध, सरलता, सदा अलौकिक अर्थ कहना, राज आदिकी वार्त्ता कहनी, गुरुपूजा, अनसूया, सब भूतोंमें दया और अखलता, लोकापवाद, मिथ्या वचन तथा स्तुति निन्दाका परित्याग ही दमगुणका लक्षण है। जो मोक्षार्थी होकर सुख दुःख आदिके अनुभव विषयमें उत्तर कालमें स्पृहा नहीं करते, जो वैर करनेवाले नहीं हैं और शठतारहित होकर समादर किया करते हैं; निन्दा और प्रशंसामें जिन्हें समज्ञान है; वे सच्चरित्र, सदाचारयुक्त, प्रसन्नचित्त बुद्धिमान् मनुष्य इस लोकमें सत्कार लाभ करके अन्तकालमें स्वर्गमें जाते हैं और सर्वभूतोंसे दुर्लभ अन्नादि लाभ करते हुए सुखी और आनन्दित होते हैं। (९-१३)

जो सब भूतोंके हितकर विषयमें रत होकर किसीसे भी द्वेष नहीं करते, महाहृदकी भांति अक्षोभ्य वे प्रज्ञातृप्त मनुष्य प्रसन्न होते हैं। सब प्राणियोंसे जिसे भय नहीं है और जिससे सब भूतोंको भी भयकी सम्भावना नहीं रहती वेही बुद्धिमान्, दान्त पुरुष सब प्राणियोंके नमस्य होते हैं। जो बहुतसे धन पानेपर भी हर्षित नहीं होते और विपद उपस्थित होनेपर भी शोक नहीं

स वै परिमितप्रज्ञः स दान्तो द्विज उच्यते ॥ १६ ॥
कर्मभिः श्रुतसंपन्नः सद्भिराचरितः शुचिः ।
सदैव दमसंयुक्तस्तस्य भुङ्क्ते महाफलम् ॥ १७ ॥
अनसूया क्षमा शान्तिः सन्तोषः प्रियवादिता ।
सत्यं दानमनायासो नैष मार्गो दुरात्मनाम् ॥ १८ ॥
कामक्रोधौ च लोभश्च परस्येर्ष्या विकत्थना ।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः॥ १९ ॥
विक्रम्य घोरे तमसि ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
कालाकाङ्क्षी चरेल्लोकान्निरपाय इवात्मवान् ॥२०॥ [७८९९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि दमप्रशंसायां विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२० ॥

युधिष्ठिर उवाच— द्विजातयो व्रतोपेता यदिदं भुञ्जते हविः ।
अन्नं ब्राह्मणकामाय कथमेतत्पितामह ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— अवेदोक्तव्रतोपेता भुञ्जानाः कार्यकारिणः ।

करते, उन्हीं परिमितप्रज्ञ दान्त पुरुषोंको ब्राह्मण कहा जाता है । जो शास्त्रज्ञानसे युक्त होकर भी कर्मानुष्ठान करते हैं, साधुओंके आचरित पथमें निवास करते हुए पवित्र हुआ करते हैं, और सदाही बाह्येन्द्रियनिग्रहमें रत रहते हैं, उन्हें महत् फलका भोग प्राप्त होता है । (१४-१७)

अनसूया, क्षमा, शान्ति, सन्तोष, प्रियवादिता, सत्य, दान और अनायास यह दुरात्माओंका मार्ग नहीं है । काम, क्रोध, लोभ, दूसरेके विषयमें ईर्षा और अपनी बडाई करनीही दुरात्माओंको स्पृहणीय है । ब्रह्मचारी मनुष्य काम और क्रोधको वशमें करके जितेन्द्रिय होवे । संशितव्रती ब्राह्मण घोर तपस्याचरणरूपी विक्रम प्रकाश करके कालकी आकांक्षा करते हुए अपायविरहित और सन्तोषयुक्त होकर सब लोकोंमें विचरण किया करते हैं । (१८-२०)

शान्तिपर्वमें २२० अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें २२१ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! यज्ञदीक्षित और मन्त्रदीक्षित ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोग देवताओंकी बलिसे बचे हुए भक्षणीय मांस और मद्य आदिको जो स्वर्ग वा पुत्रादिकी कामनासे भक्षण किया करते हैं, वह उचित है, वा नहीं ? (१)

भीष्म बोले, हे धर्मराज ! जो लोग

वेदोक्तेषु च भुञ्जाना व्रतलुब्धा युधिष्ठिर ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच- यदिदं तप इत्याहुरुपवासं पृथग्जनाः ।
एतत्तपो महाराज उताहो किं तपो भवेत् ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच— मासपक्षोपवासेन मन्यन्ते यत्तपो जनाः ।
आत्मतन्त्रोपघातस्तु न तपस्तत्सतां मतम् ॥ ४ ॥
त्यागश्च सन्नतिश्चैव शिष्यते तप उत्तमम् ।
सदोपवासी स भवेद्ब्रह्मचारी सदा भवेत् ॥ ५ ॥
मुनिश्च स्यात्सदा विप्रो दैवतं च सदा भवेत् ।
कुटुम्बिको धर्मकामः सदाऽस्वप्नश्च भारत ॥ ६ ॥
अमांसादी सदा च स्यात्पवित्रश्च सदा भवेत् ।
अमृताशी सदा च स्याद्दैवतातिथिपूजकः ॥ ७ ॥
विघसाशी सदा च स्यात्सदा चैवातिथिव्रतः ।
श्रद्दधानः सदा च स्याद्देवताद्विजपूजकः ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच- कथं सदोपवासी स्याद् ब्रह्मचारी कथं भवेत् ।

वेदविहित व्रताचरण न करके अभक्ष्य मांस आदि भोजन करते हैं, वे इस लोकमेंही पतित होते हैं, और जो लोग दीक्षा लेके फलानुरागी होकर वैध मांस आदि भक्षण करते हैं, वे यज्ञ आदिसे स्वर्ग फल भोग करके भोगके समाप्त होनेपर पतित हुआ करते हैं। (२)

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! साधारण लोग जो देहपीडाकर उपवासको तपस्या कहा करते हैं, क्या यही तपस्या है, अथवा दूसरे प्रकारकी कोई तपस्या है ? (३)

भीष्म बोले, साधारण लोग जो ऐसा समझते हैं, कि एक महीना वा एक पक्ष उपवास करनेसे तपस्या होती है, आत्मविद्याकी विघ्न स्वरूप वह तपस्या साधुसम्मत नहीं है। भूतोंको कष्ट देनाही पाप है और भूतोंको सुख देनाही श्रेष्ठ तपस्या है, जो लोग इसी प्रकार तपस्या किया करते हैं, परिवार समूहके सहित सदा वर्तमान रहने पर भी उन्हें उपवासी और ब्रह्मचारी कहा जाता है। हे भारत ! कुटुम्बयुक्त ब्राह्मण धर्मकाम होने पर सदा मुनि वा देवतुल्य हो सकते हैं, और वे स्वप्नरहित अमांसाशी सदा पवित्र अमृताशी, देवता और अतिथियोंकी पूजा करनेवाले, विघसाशी, अतिथिव्रती, श्रद्धावान् और सदा देवताकी भांति अतिथिपूजक

विघसाशी कथं च स्यात्सदा चैवातिथिव्रतः ॥ ९ ॥
भीष्म उवाच— अन्तरा प्रातराशं च सायमाशं तथैव च।
सदोपवासी स भवेद्यो न भुङ्क्तेऽन्तरा पुनः ॥ १० ॥
भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति वै द्विजः।
ऋतवादी भवेन्नित्यं ज्ञाननित्यश्च यो नरः ॥ ११ ॥
न भक्षयेद्वृथा मांसममांसाशी भवत्यपि।
दाननित्यः पवित्रश्च अस्वप्नश्च दिवाऽस्वपन् ॥ १२ ॥
भृत्यातिथिषु यो भुङ्क्ते भुक्तवत्सु सदा सदा।
अमृतं केवलं भुङ्क्ते इति विद्धि युधिष्ठिर ॥ १३ ॥
अभुक्तवत्सु नाश्नानः सततं यस्तु वै द्विजः।
अभोजनेन तेनास्य जितः स्वर्गो भवत्युत ॥ १४ ॥
देवताभ्यः पितृभ्यश्च भृत्येभ्योऽतिथिभिः सह।
अवशिष्टं तु योऽश्नाति तमाहुर्विघसाशिनम् ॥ १५ ॥
तेषां लोका ह्यपर्यन्ताः सदने ब्रह्मणा सह।

होते हैं। (४-८)

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! ब्राह्मण किस प्रकार सदा उपवासी होते हैं, किस प्रकार ब्रह्मचारी हो सकते हैं, किस प्रकार भोजन करनेसे विघसाशी होते हैं? (९)

भीष्म बोले, दिन और रात्रिकालमें भोजनके विहित समयमें भोजनसे भिन्न जो लोग भोजन नहीं करते, वेही सदा उपवासी होते हैं; जो ब्राह्मण केवल ऋतुकालमेंही भार्यासङ्ग करते हैं, उन्हें-ही ब्रह्मचारी कहा जाता है; जो सदा ज्ञानमें रत रहते वेही सत्यवादी होते हैं। देवता और पितरोंके भोगसे बचे हुए मांसके अतिरिक्त जो वृथा मांस भक्षण नहीं करते, उन्हें अमांसाशी कहा जाता है। जो सदा दानमें रत रहते, वेही पवित्र होते हैं; जो दिनमें नहीं सोते; उन्हें अस्वप्न कहा जाता है। हे धर्मराज! प्रतिदिन सेवकों और अतिथि-योंके भोजन करनेके अनन्तर जो लोग भोजन करते हैं, उन्हें ही केवल अमृताशी जानो। (१०-१३)

अतिथि आदिके भूखे रहनेपर सदा जो भूखे रहते हैं, उनका उसही अनशन व्रतसे स्वर्गलोक जय होता है। देवता, पितर, अतिथि और सेवकोंसे बचे हुए अन्नको जो लोग भोजन करते हैं। उन्हेंही पण्डित लोग विघसाशी कहा करते हैं। इन सब ब्राह्मणोंके शुभ

उपस्थिताश्चाप्सरोभिः परियान्ति दिवौकसः ॥ १६ ॥
देवताभिश्च ये सार्धं पितृभ्यश्चोपभुञ्जते।
रमन्ते पुत्रपौत्रैश्च तेषां गतिरनुत्तमा ॥ १७ ॥ [७९१६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अमृतप्राश्निको नाम एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२१ ॥

युधिष्ठिर उवाच– यदिदं कर्म लोकेऽस्मिन् शुभं वा यदि वाऽशुभम्।
पुरुषं योजयत्येव फलयोगेन भारत ॥ १ ॥
कर्ताऽस्ति तस्य पुरुष उताहो नेति संशयः।
एतदिच्छामि तत्त्वेन त्वत्तः श्रोतुं पितामह ॥ २ ॥
भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रह्लादस्य च संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ ३ ॥
असक्तं धूतपाप्मानं कुले जातं बहुश्रुतम्।
अस्तब्धमनहङ्कारं सत्त्वस्थं समये रतम् ॥ ४ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिं दान्तं शून्यागारनिवासिनम्।
चराचराणां भूतानां विदितप्रभवाव्ययम् ॥ ५ ॥

लोकोंकी सीमा नहीं है, इनके गृहमें ब्रह्मा और अप्सराओंके सहित देवता लोग उपस्थित हुआ करते हैं। जो देवताओं और पितरोंके सहित अन्नादि उपभोग करते हैं, वे पुत्रपौत्रोंके सहित आनन्दित होते हैं और उन लोगोंकी सबसे श्रेष्ठ उत्तम गति हुआ करती है। (१४–१७)

शान्तिपर्वमें २२१ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २२२ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भरतसत्तम पितामह! इसलोकमें शुभ वा अशुभ कर्म जो कि अवश्यही पुरुषोंको फलभागी करते हैं, पुरुष उन शुभाशुभ कर्मोंका कर्त्ता होता है, वा नहीं; उस विषयमें मुझे सन्देह है, इसलिये आपके समीप इस विषयको यथार्थ रूपसे सुननेकी इच्छा करता हूं। (१–२)

भीष्म बोले, हे धर्मराज! इस विषयमें प्राचीन लोग प्रह्लाद और इन्द्रके संवादयुक्त इस पुराने इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं। किसी समय फलकी अभिलाषासे रहित पापहीन, बहुशास्त्रदर्शी, निरालसी, निरहङ्कारी, सत्वगुणावलम्बी, निज योग्य शम दम आदि गुणोंमें अनुरक्त स्तुति निन्दामें तुल्यबुद्धि दान्त, सूने गृहमें बैठे हुए, जिन्होंने स्थावर जङ्गम सब जीवोंकी

अक्रुध्यन्तमहृष्यन्तमप्रियेषु प्रियेषु च ।
काञ्चने वाऽथ लोष्टे वा उभयोः समदर्शनम् ॥ ६ ॥
आत्मनि श्रेयसि ज्ञाने धीरं निश्चितनिश्चयम् ।
परावरज्ञं भूतानां सर्वज्ञं समदर्शनम् ॥ ७ ॥
शक्रः प्रह्लादमासीनमेकान्ते संयतेन्द्रियम् ।
बुभुत्समानस्तत्प्रज्ञामभिगम्येदमब्रवीत् ॥ ८ ॥
यैः कश्चित्संमतो लोके गुणैः स्यात्पुरुषो नृषु ।
भवत्यनपगान् सर्वांस्तान्गुणान् लक्षयामहे ॥ ९ ॥
अथ ते लक्ष्यते बुद्धिः समा बालजनैरिह ।
आत्मानं मन्यमानः सन् श्रेयः किमिह मन्यसे ॥१०॥
बद्धः पाशैश्च्युतः स्थानाद् द्विषतां वशमागतः ।
श्रिया विहीनः प्रह्लाद शोचितव्ये न शोचसि ॥११॥
प्रज्ञालाभात्तु दैतेय उताहो धृतिमत्तया ।
प्रह्लाद सुस्थरूपोऽसि पश्यन् व्यसनमात्मनः ॥१२॥
इति सञ्चोदितस्तेन धीरो निश्चितनिश्चयः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा स्वां प्रज्ञामनुवर्णयन् ॥ १३ ॥

उत्पत्ति और प्रलयके कारण परमात्माको जाना है; जो अप्रिय विषयसे क्रुद्ध और प्रिय विषयलाभमें हर्षित नहीं होते, सुवर्ण और मट्टीके ढेलेमें जिसकी समदृष्टि है, जिन्होंने आनन्दरूप चिन्मात्र आत्म-विषयका कुतर्कानभिभूत होकर निश्चय किया है और जीवोंके बीच श्रेष्ठ हिरण्यगर्भ अपकृष्ट कीट आदि पर्यन्त जाना है, जो सर्वज्ञ समदर्शी और संयतेन्द्रिय हैं, उस एकान्तमें बैठे हुए प्रह्लादके समीप इन्द्र उपस्थित होके उनके बुद्धिकी परीक्षा करनेकी इच्छासे यह वचन बोले, हे प्रह्लाद ! इस लोकमें जिन गुणोंके रहनेसे लोगोंके बीच पुरुष सबसे ही सम्मत होता है, सब स्थिर गुण तुममें दीखते हैं और तुम्हारी बुद्धि बालककी भांति राग द्वेषसे रहित दीख पडती है । (३-१०)

तुम आत्माको मनन करते हुए आत्मज्ञानका श्रेष्ठ साधन क्या समझते हो ? हे प्रह्लाद ! तुम पाशबद्ध स्थानच्युत और श्रीहीन होनेपर भी शोचनीय विषयमें शोक नहीं करते हो । हे दैत्यवंशप्रसूत प्रह्लाद ! तुम बुद्धिलाभ वा सन्तोषसेही अपनी विपद देखकर भी स्वस्थचित्त हो रहे हो, निश्चितबुद्धि

प्रह्लाद उवाच— प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च भूतानां यो न बुध्यते ।
तस्य स्तम्भो भवेद्बाल्यान्नास्ति स्तम्भोऽनुपश्यतः ॥१४॥
स्वभावात्संप्रवर्तन्ते निवर्तन्ते तथैव च ।
सर्वे भावास्तथाऽभावाः पुरुषार्थो न विद्यते ॥ १५ ॥
पुरुषार्थस्य चाभावे नास्ति कश्चित्र कारकः ।
स्वयं न कुर्वतस्तस्य जातु मानो भवेदिह ॥ १६ ॥
यस्तु कर्तारमात्मानं मन्यते साध्वसाधु वा ।
तस्य दोषवती प्रज्ञा अतत्त्वज्ञेति मे मतिः ॥ १७ ॥
यदि स्यात्पुरुषः कर्ता शक्रात्मश्रेयसे ध्रुवम् ।
आरम्भास्तस्य सिद्ध्येयुर्न तु जातु पराभवेत् ॥ १८॥
अनिष्टस्य हि निर्वृत्तिरनिवृत्तिः प्रियस्य च ।

धैर्यशाली प्रह्लाद देवराजका ऐसा वचन सुनके निज प्रज्ञा वर्णन करते हुए मनोहर वचनसे कहने लगे। (१०-१३)

प्रह्लाद बोले, जो जीवोंकी प्रवृत्ति और निवृत्ति गतिको नहीं जानते अर्थात् पुरुषोंके भोग और अपवर्ग साधनके निमित्त अनुलोम प्रतिलोम परिणामवती मूलप्रकृतिमें जिन्हें आत्मभिन्न ज्ञान नहीं है, आत्मामें बुद्धिधर्म कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि आरोपित करनेवाले उन पुरुषोंकी बुद्धि मूढताके कारण स्तम्भित होती है, और जिसे जीवब्रह्ममें ऐक्यज्ञान है; उसकी बुद्धि स्तम्भित नहीं होती। भाव और अभाव सब पदार्थोंमें स्वभावसेही प्रवृत्त और निवृत्त होता है अर्थात् जैसे बछडा उत्पन्न होनेके पहलेही गौवोंके रुधिरपूरित स्तनमें दूध उत्पन्न होता है, उस समय उसके प्रवर्तक वात्सल्य न रहनेपर भी जैसे स्वाभाविक क्षीरोत्पत्ति होती है, वैसे ही सब पदार्थ स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं, उनमें प्रवर्त्तककी अपेक्षा नहीं है; इसलिये पुरुषार्थका भी प्रयोजन नहीं है। (१४-१५)

यदि पुरुषार्थ अथवा भोग और अपवर्ग न रहे, तब कोई जगत्कर्त्ताकी आवश्यकता नहीं होती है; इसलिये आत्मा यदि अकर्त्ता हो तो इस शरीरमें "मैं" यह अभिमान अविद्यासे स्वयं उत्पन्न हो सकता है। जो पुरुष साधु वा असाधु होते आत्माको कर्त्ता समझे, मुझे बोध होता है उसकी दोषवती बुद्धि तत्त्वपथको नहीं जान सकती। हे देवेश! यदि पुरुषही कर्त्ता हो, तो उसके आत्मकल्याणके निमित्त अवश्यही सब कार्य सिद्ध हों, और पुरुष कदापि पराभूत न

लक्ष्यते यतमानानां पुरुषार्थस्ततः कुतः ॥ १९ ॥
अनिष्टस्याभिनिर्वृत्तिमिष्टसंवृत्तिमेव च ।
अप्रयत्नेन पश्यामः केषांचित्तत्स्वभावतः ॥ २० ॥
प्रतिरूपतराः केचिद् दृश्यन्ते बुद्धिमत्तराः ।
विरूपेभ्योऽल्पबुद्धिभ्यो लिप्समाना धनागमम् ॥२१॥
स्वभावप्रेरिताः सर्वे निविशन्ते गुणा यदा ।
शुभाशुभास्तदा तत्र कस्य किं मानकारणम् ॥ २२ ॥
स्वभावादेव तत्सर्वमिति मे निश्चिता मतिः ।
आत्मप्रतिष्ठा प्रज्ञा वा मम नास्ति ततोऽन्यथा॥ २३ ॥
कर्मजं त्विह मन्यन्ते फलयोगं शुभाशुभम् ।
कर्मणां विषयं कृत्स्नमहं वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ २४ ॥
यथा वेदयते कश्चिदोदनं वायसो वदन् ।
एवं सर्वाणि कर्माणि स्वभावस्यैव लक्षणम् ॥ २५ ॥

होवे । जब कि हितके वास्ते यत्नवान् मनुष्योंकी अनिष्ट सिद्धि और अर्थनिरोध दीखता है, तब किसलिये पुरुषार्थ स्वीकार किया जासकता है । (१६-१९)

अदृष्टकी अनुकूलता न रहनेपर यदि कार्यमें व्याघात हो, तब आत्महितमें यत्नवान् मनुष्योंके अनिष्ट अदृष्टकी उत्पत्ति युक्तिसङ्गत नहीं है, क्यों कि भोक्तृत्व और कर्तृत्व निश्चयसे एक में रहता है ऐसा नियम नहीं है। ईश्वर और काल स्वभावकाही नामान्तर है क्योंकि कोई कोई पुरुषके प्रयत्न न रहनेपर भी स्वाभाविक अनिष्टसिद्धि और इष्टतिरोधान होते दीख पडता है। कोई कोई केवल स्वरूप बनाके कोई कोई अत्यन्त बुद्धियुक्त होकर अल्पबुद्धि कुरूप लोगोंसे धनलाभ की इच्छा करते हुए दिखाई देते हैं। जब कि सुख दुःख आदि सब शुभाशुभ गुण स्वभावप्रेरित होकर पुरुषोंमें निविष्ट होते हैं, तब मैं सुखी हूं, मैं कर्ता हूं, मैं भोक्ता हूं, इत्यादि अभिमानके कारण कुछ भी नहीं हैं । (१९-२२)

सुख दुःख आदि सब विषय स्वाभाविक हुआ करते हैं, ऐसा मेरे मनमें निश्चय है और क्या कहूं, मेरे मतमें युक्ति और आत्मज्ञान स्वभावसे स्वतन्त्र नहीं है । इस लोकमें कर्मजनित शुभाशुभ फल भोग प्राप्त हुआ करता है, इसे सब कोई स्वीकार करते हैं, इसलिये अब मैं सब कर्मोंका विशेष विवरण कहता हूं सुनो। जैसे अन्नभक्षक वायस

विकारानेव यो वेद न वेद प्रकृतिं पराम् ।
तस्य स्तम्भो भवेद्बाल्यान्नास्ति स्तम्भोऽनुपश्यतः ॥२६॥
स्वभावभाविनो भावान् सर्वानेवेह निश्चयात् ।
बुद्ध्यमानस्य दर्पो वा मानो वा किं करिष्यति ॥२७॥
वेदधर्मविधिं कृत्स्नं भूतानां चाप्यनित्यताम् ।
तस्माच्छक्र न शोचामि सर्वं ह्येवेदमन्तवत् ॥ २८ ॥
निर्ममो निरहङ्कारो निराशीर्मुक्तबन्धनः ।
स्वस्थो व्यपेतः पश्यामि भूतानां प्रभवाप्ययौ ॥२९ ॥
कृतप्रज्ञस्य दान्तस्य वितृष्णस्य निराशिषः ।
नायासो विद्यते शक्र पश्यतो लोकमव्ययम् ॥ ३० ॥
प्रकृतौ च विकारे च न मे प्रीतिर्न च द्विषे ।
द्वेष्टारं च न पश्यामि यो मामद्य ममायते ॥ ३१ ॥

उसे प्रकाश करना जानता है, वैसेही सब कर्म स्वभावकेही असाधारण धर्म हैं, अर्थात् सब कर्मही स्वभावको प्रकाश करते हैं। जैसे तागे पटके कारण होने से तन्तुनिष्ठ शुक्लादि गुण पटगत विचित्रतामें कारण होते हैं, वैसेही स्वभावही जन्मादि मात्रका हेतु है। (२३-२५)

जो पुरुष धर्माधर्म आदि सब विकारोंको जानते हैं, और त्रिगुणमयी प्रकृति से श्रेष्ठ उपादान प्रकृति अर्थात् ब्रह्मको नहीं जानते, उन कर्म और प्रकृतिके भेददर्शी पुरुषोंमें मूढतासे जडता हुआ करती है, और जो दोनोंकी ऐक्यता अवलोकन करते हैं, उनमें जडता नहीं होती, स्वभावसे उत्पन्न हुए सब पदार्थोंको जिन्होंने निश्चय रूपसे जाना है, दर्प वा अभिमान उनका क्या करेगा। हे देवराज! मैं सब धर्म, विधि और सब भूतोंकी अनित्यता विशेष रूपसे जानता हूं, सब वस्तुही अनित्य हैं, इसही निमित्त शोक नहीं करता। (२६—२८)

मैं ममताहीन, निरहङ्कार, वासनारहित, बन्धनसे मुक्त, स्वरूप और देह आदिमें अनभिमानके कारण स्वरूपमें अप्रच्युत होकर जीवोंकी उत्पत्ति और प्रलयके कारण परब्रह्मको अवलोकन करता हूं। हे शक्र! जो लोग शुद्धबुद्धि जितेन्द्रिय, परितृप्त और वासनारहित होकर आत्मविद्याके सहारे सब विषयोंको देखते हैं, उन्हें कुछ क्लेश नहीं है। विश्वकर्त्री प्रकृति वा धर्माधर्मके फल सुख दुःखमें मुझे प्रीति वा द्वेष नहीं है; मैं इस समय किसी को भी

नोर्ध्वं नावाङ् न तिर्यक्च न क्वचिच्छक्र कामये ।
न हि ज्ञेये न विज्ञाने न ज्ञाने कर्म विद्यते ॥ ३२ ॥

शक्र उवाच— येनैषा लभ्यते प्रज्ञा येन शान्तिरवाप्यते ।
प्रब्रूहि तमुपायं मे सम्यक्प्रह्लाद पृच्छतः ॥ ३३ ॥

प्रह्लाद उवाच— आर्जवेनाप्रमादेन प्रसादेनात्मवत्तया ।
वृद्धशुश्रूषया शक्र पुरुषो लभते महत् ॥ ३४ ॥
स्वभावाल्लभते प्रज्ञां शान्तिमेति स्वभावतः ।
स्वभावादेव तत्सर्वं यत्किंचिदनुपश्यसि ॥ ३५ ॥
इत्युक्तो दैत्यपतिना शक्रो विस्मयमागमत् ।
प्रीतिमांश्च तदा राजंस्तद्वाक्यं प्रत्यपूजयत् ॥ ३६ ॥
स तदाऽभ्यर्च्य दैत्येन्द्रं त्रैलोक्यपतिरीश्वरः ।
असुरेन्द्रमुपामन्त्र्य जगाम स्वं निवेशनम् ॥ ३७ ॥ [७९५३]

इति श्रीमहाभारते०शान्ति०शक्रप्रह्लादसंवादो नाम द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२२॥

द्रेष्टा नहीं देखता हूं और पुत्र, मित्र आदिकी भांति ममता करनेवाले किसी पुरुषको भी अवलोकन नहीं करता हूं। हे इन्द्र ! मैं कभी स्वर्ग, पाताल, अथवा मर्त्यलोककी कामना नहीं करता, ऐसा नहीं कह सकते, ज्ञानके विषय विज्ञान अर्थात् बुद्धितत्त्वमें और आत्मा स्वरूप चिदात्मामें कुछ सुख नहीं है, आत्मा धर्माधर्म और उसके फल सुख दुःखका आश्रय नहीं है, इसही लिये मैं कुछ कामना नहीं करता, केवल ज्ञानसे तृप्त होकर निवास करता हूं। (२९-३२)

इन्द्र बोले, हे प्रह्लाद ! मैं पूछता हूं, कि जिस उपायसे ऐसा ज्ञान और शान्ति लाभ हो उसे तुम यथार्थ रीतिसे मेरे समीप वर्णन करो। प्रह्लाद बोले, हे सुरराज ! सरलता, सावधानता, प्रसन्नता जितेन्द्रियता और वृद्धोंकी सेवासे पुरुष मोक्ष लाभ करनेमें समर्थ होता है। पुरुष स्वभावसेही ज्ञान लाभ करता है, और स्वभावसेही शान्ति प्राप्त होती है; आप जो कुछ देखते हैं, वे सब स्वाभाविकही सिद्ध होते हैं। हे महाराज ! दैत्यपति प्रह्लादने जब ऐसा कहा, तब त्रिलोकेश्वर देवराज विस्मययुक्त हुए और उस समय वह प्रसन्न होकर प्रह्लादके वचनका समादर करके उनका सत्कार और आमन्त्रण करके निज स्थानपर चले गये। (३३-३७)

शान्तिपर्वमें २२२ अध्याय समाप्त।

युधिष्ठिर उवाच— यया बुद्ध्या महीपालो भ्रष्टश्रीर्विचरेन्महीम्।
कालदण्डविनिष्पिष्टस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
वासवस्य च संवादं बलेर्वैरोचनस्य च ॥ २ ॥
पितामहमुपागम्य प्रणिपत्य कृताञ्जलिः।
सर्वानेवासुरान् जित्वा बलिं पप्रच्छ वासवः ॥ ३ ॥
यस्य स्म ददतो वित्तं न कदाचन हीयते।
तं बलिं नाधिगच्छामि ब्रह्मन्नाचक्ष्व मे बलिम् ॥ ४ ॥
स वायुर्वरुणश्चैव स रविः स च चन्द्रमाः।
सोऽग्निस्तपति भूतानि जलं च स भवत्युत ॥ ५ ॥
तं बलिं नाधिगच्छामि ब्रह्मन्नाचक्ष्व मे बलिम्।
स एव ह्यस्तमयते स स्म विद्योतते दिशः ॥ ६ ॥
स वर्षति स्म वर्षाणि यथाकालमतन्द्रितः।
तं बलिं नाधिगच्छामि ब्रह्मन्नाचक्ष्व मे बलिम् ॥ ७ ॥

शान्तिपर्वमें २२३ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! राजा जैसी बुद्धिके सहारे विपद्ग्रस्त और श्रीभ्रष्ट होकर महीमण्डलमें विचरते हैं; आप मेरे समीप उस विषयको वर्णन करिये। भीष्म बोले, प्राचीन लोग इस विषयमें विरोचनपुत्र बलि और देवराज इन्द्रके संवादयुक्त इस पुराने इतिहासको कहा करते हैं। देवराज इन्द्रने सब असुरोंको जीतके सर्वलोकपितामह ब्रह्माके पास जाके प्रणाम करनेके अनन्तर हाथ जोड़के बलिका विषय पूछा। (१–३)

इन्द्र बोले, हे ब्रह्मन्! सदा धन दान करनेपर भी जिसका धन कभी नहीं घटता, मैं उस बलिको नहीं जानता; इसलिये आप उस बलिका विषय वर्णन करिये। वह बलिही वायु, बलिही वरुण, बलिही सूर्य, बलिही चन्द्रमा और बलिही अग्नि होकर सब जीवोंको ताप देता है, तथा वह बलिही जल-स्वरूप हुआ करता है, मैं उस बलिको नहीं जानता। हे ब्रह्मन्! इसलिये आप मेरे समीप उस बलिका विषय वर्णन करिये। वह बलिही अस्तमय होता है, बलिही सब दिशाओंको प्रकाशित करता है, बलिही अतन्द्रित होकर यथाकालमें जलकी वर्षा किया करता है। हे ब्रह्मन्! मैं उस बलिको नहीं जानता इसलिये आप मेरे समीप उसका विषय वर्णन करिये। (४–७)

ब्रह्मोवाच— नैतत्ते साधु मघवन्यदेनमनुपृच्छसि ।
पृष्टस्तु नानृतं ब्रूयात्तस्माद्वक्ष्यामि ते बलिम् ॥ ८ ॥
उष्ट्रेषु यदि वा गोषु खरेष्वश्वेषु वा पुनः ।
वरिष्ठो भविता जन्तुः शून्यागारे शचीपते ॥ ९ ॥
शक्र उवाच— यदि स्म बलिना ब्रह्मन् शून्यागारे समेयिवान् ।
हन्यामेनं न वा हन्यां तद्ब्रह्मन्ननुशाधि माम् ॥ १० ॥
ब्रह्मोवाच— मा स्म शक्र बलिं हिंसीर्न बलिर्वधमर्हति ।
न्यायस्तु शक्र प्रष्टव्यस्त्वया वासव काम्यया ॥ ११ ॥
भीष्म उवाच— एवमुक्तो भगवता महेन्द्रः पृथिवीं तदा ।
चचारैरावतस्कन्धमधिरुह्य श्रिया वृतः ॥ १२ ॥
ततो ददर्श स बलिं खरवेषेण संवृतम् ।
यथाऽऽख्यातं भगवता शून्यागारकृतालयम् ॥ १३ ॥
शक्र उवाच— खरयोनिमनुप्राप्तस्तुषभक्षोऽसि दानव ।
इयं ते योनिरधमा शोचस्याहो न शोचसि ॥ १४ ॥
अदृष्टं बत पश्यामि द्विषतां वशमागतम् ।

ब्रह्मा बोले, हे इन्द्र ! तुम जो बलिका विषय पूछते हो, वह तुम्हारे पक्षमें कल्याणकारी नहीं है, तब पूछनेपर झूठ न कहना चाहिये, इसही लिये मैं तुम्हारे निकट बलिका विषय वर्णन करता हूं। हे शचीश्वर ! ऊंट, बैल, गधे और घोडोंमेंसे कोई एक रूप धरके सूने स्थानमें जा वरिष्ठ होकर वास करे, वही बलि है। इन्द्र बोले, हे ब्रह्मन् ! यदि मैं सूने स्थानमें बलिके साथ मिलूं, तो उसे मारूंगा; वा नहीं ? उस विषयमें आप मुझे आज्ञा करिये। ब्रह्मा बोले, हे इन्द्र ! तुम बलिकी हिंसा न करना, बलि वध्य नहीं है। हे देवराज! तुम इच्छानुसार बलिके निकट नीति पूछना। (८-११)

भीष्म बोले, जब भगवान् ब्रह्माने महेन्द्रसे ऐसा कहा, तब वह उसही समय ऐरावतपर चढके शोभायुक्त होकर पृथ्वीमण्डलपर विचरने लगे, अनन्तर भगवान् पितामहने जिस प्रकार कहा था, उसके अनुसार ही उन्होंने सून स्थानमें स्थित खरवेषधारी बलिको अवलोकन किया। इन्द्र उसे देखकर बोले, हे दानव ! तुम खरयोनिमें प्राप्त होकर तुष भक्षण कर रहे हो, इस अधम योनिमें प्राप्त होनेसे तुम्हें दुःख होता है, वा नहीं ? मैं देखता हूं,

श्रिया विहीनं मित्रैश्च भ्रष्टवीर्यपराक्रमम् ॥ १५ ॥
यत्त्वयानसहस्रैस्त्वं ज्ञातिभिः परिवारितः ।
लोकान्प्रतापयन्सर्वान्यास्यस्मानवितर्कयन् ॥ १६ ॥
त्वन्मुखाश्चैव दैतेया व्यतिष्ठंस्तव शासने ।
अकृष्टपच्या च मही तवैश्वर्ये बभूव ह ॥ १७ ॥
इदं च तेऽद्य व्यसनं शोचस्याहो न शोचसि ।
यदातिष्ठः समुद्रस्य पूर्वकूले विलेलिहन् ॥ १८ ॥
ज्ञातीन् विभजतो वित्तं तदाऽऽसीत्ते मनः कथम् ।
यत्ते सहस्रसमिता ननृतुर्देवयोषितः ॥ १९ ॥
बहूनि वर्षपूगानि विहारे दीप्यतः श्रिया ।
सर्वाः पुष्करमालिन्यः सर्वाः काञ्चनसप्रभाः ॥ २० ॥
कथमद्य तदा चैव मनस्ते दानवेश्वर ।
छत्रं तवासीत्सुमहत्सौवर्णं रत्नभूषितम् ॥ २१ ॥
ननृतुस्तत्र गन्धर्वाः षट् सहस्राणि सप्तधा ।
यूपस्तवासीत्सुमहान्यजतः सर्वकाञ्चनः ॥ २२ ॥
यत्राददः सहस्राणि अयुतानां गवां दश ।

तुम्हारा अदृष्ट शत्रुओंके वशीभूत, श्रीहीन, मित्ररहित, भ्रष्टवीर्य और नष्टपराक्रम हुआ है। तुम जो स्वजनोंमें घिरकर सब लोगोंको परितापित करते हुए हम लोगोंको अग्राह्य करके सहस्रों भांतिके यानोंके जरिये गमन करते थे, दैत्यलोग तुम्हारे सुखापेक्षी होकर तुम्हारे ही शासनमें निवास करते थे, पृथ्वीमें तुम्हारे ही ऐश्वर्यसे विना जोते ही शस्य उत्पन्न होते थे; अब तुम समुद्रके पूर्व किनारे में वास करते हो इससे तुम्हें जो दुःख होता है, उसके लिये तुम शोक करते हो, वा नहीं? (१२-१८)

पहले जब तुम स्वजनोंको धन बांट देते थे, उस समय तुम्हारा मन कैसा हुआ था। अनेक वर्ष पर्यन्त, श्रीयुक्त रहके जब तुम विहार करते थे, उस समय पुष्कर मालिनी सुवर्णके समान रूपवाली सहस्रों सुरकामिनी तुम्हारे समीप उपस्थित होकर नृत्य करती थीं। हे दानवेश्वर! तुम्हारा मन उस समयमें कैसा था और इस समयमें ही किस प्रकार है? पहले तुम्हारा महत् रत्नोंसे भूषित सुवर्णमय छत्र था; उस समय तुम्हारे समीप छः हजार गन्धर्व सात प्रकार नृत्य करते थे। (१९-२२)

अनन्तरं सहस्रेण तदाऽऽसीद्दैत्य का मतिः ॥ २३ ॥
यदा च पृथिवीं सर्वां यजमानोऽनुपर्यगाः ।
शम्याक्षेपेण विधिना तदाऽऽसीत्किं नु ते हृदि ॥२४॥
न ते पश्यामि भृङ्गारं नच्छत्रं व्यजनेन च ।
ब्रह्मदत्तां च ते मालां न पश्याम्यसुराधिप ॥ २५ ॥
बलिरुवाच— न त्वं पश्यसि भृङ्गारं नच्छत्रं व्यजनेन च ।
ब्रह्मदत्तां च मे मालां न त्वं द्रक्ष्यसि वासव ॥ २६ ॥
गुहायां निहितानि त्वं मम रत्नानि पृच्छसि ।
यदा मे भविता कालस्तदा त्वं तानि द्रक्ष्यसि ॥२७॥
न त्वेतदनुरूपं ते यशसो वा कुलस्य च ।
समृद्धार्थोऽसमृद्धार्थं यन्मां कत्थितुमिच्छसि ॥ २८ ॥
न हि दुःखेषु शोचन्ते न प्रहृष्यन्ति चर्द्धिषु ।
कृतप्रज्ञा ज्ञानतृप्ताः क्षान्ताः सन्तो मनीषिणः ॥ २९ ॥
त्वं तु प्राकृतया बुद्ध्या पुरंदर विकत्थसे ।

तुमने जब यज्ञ किये थे उस समय तुम्हारे सब यज्ञयूप सुवर्णमय थे; जिस यज्ञमें तुमने पहिले दश अयुत अनन्तर दश हजार और उसके बाद सहस्र गोदान किया था, हे दैत्यराज ! उस समय तुम्हारी बुद्धि किस प्रकार थी। जब तुमने यज्ञ करनेमें रत होकर सब पृथ्वीमण्डलको यज्ञकार्यमें अपर्याप्त समझके उसे परित्याग करके गमन किया था; उस समय तुम्हारे अन्तःकरणमें कैसे भाव उदय हुए थे? हे असुरेश्वर! अब तुम्हारे सुवर्णमय जलपात्र, छत्र और दोनों चामर नहीं दीखते हैं, तथा ब्रह्माने तुम्हें जो माला प्रदान की थी, उसे नहीं देखता हूं। (२२-२५)

बलि बोले, हे इन्द्र ! तुम मेरे छत्र, चामर और सुवर्णमय जलपात्र नहीं देखते हो; मेरे सब रत्न मूलप्रकृतिके बीच अन्तर्हित होरहे हैं, इसहीसे तुम उस विषयको पूछते हो; जब मेरा समय होगा, तब तुम मेरे उक्त रत्नोंको देखोगे। इस समय तुम समृद्धियुक्त और मैं असमृद्ध हूं, इसलिये तुम जो मेरे समीप बडाई करते हो, वह तुम्हारी कीर्त्ति और कुलके अनुरूप नहीं है। बुद्धिमान, ज्ञानतृप्त, क्षमाशील, साधु, मनीषी पुरुष दुःखके समय शोक नहीं करते और समृद्धिकालमें भी हर्षित नहीं होते। हे पुरन्दर ! तुम तुच्छ बुद्धिके कारण ऐसा वचन कहते हो। जब तुम मेरे समान

यदाऽहमिव भावी स्यात्तदा नैवं वदिष्यसि ॥३०॥ [७२८३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बलिवासवसंवादो नाम त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२३ ॥

भीष्म उवाच— पुनरेव तु तं शक्रः प्रहसन्निदमब्रवीत्।
निःश्वसन्तं यथा नागं प्रव्याहाराय भारत ॥ १ ॥

शक्र उवाच— यत्तद्यानसहस्रेण ज्ञातिभिः परिवारितः।
लोकान्प्रतापयन्सर्वान्यास्यस्मानवितर्कयन् ॥ २ ॥
दृष्ट्वा सुकृपणां चेमामवस्थामात्मनो बले।
ज्ञातिमित्रपरित्यक्तः शोचस्याहो न शोचसि ॥ ३ ॥
प्रीतिं प्राप्यातुलां पूर्वं लोकांश्चात्मवशे स्थितान्।
विनिपातमिमं बाह्यं शोचस्याहो न शोचसि ॥ ४ ॥

बलिरुवाच— अनित्यमुपलक्ष्येह कालपर्यायधर्मतः।
तस्माच्छक्र न शोचामि सर्वं ह्येवेदमन्तवत् ॥ ५ ॥
अन्तवन्त इमे देहा भूतानां च सुराधिप।
तेन शक्र न शोचामि नापराधादिदं मम ॥ ६ ॥
जीवितं च शरीरं च जात्यैव सह जायते।

होगे, तब ऐसा न कह सकोगे। (२९-३०)

शान्तिपर्वमें २२३ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २२४ अध्याय

भीष्म बोले, हे भरतकुलप्रदीप! बलि जब प्रत्युत्तर देनेके लिये सर्पकी तरह गर्जने लगा, तब देवराज हंसके फिर उससे यह वचन बोले। इन्द्र बोले, हे बलिराज! तुम जो स्वजनोंके बीच घिरके सब लोगोंको परितापित और हम लोगोंकी अवज्ञा करते हुए सहस्र प्रकारके यानोंसे गमन करते थे, इस समय उन स्वजनोंसे और मित्रोंसे परित्यक्त होकर अपनी यह अत्यन्त दीन-दशा देखकर शोक करते हो, वा नहीं? पहले अतुलप्रीति लाभ करके तथा सब लोकोंको अपने वशमें रखके इस समय यह बाह्य विनिपात लाभ करके दुःखित होते हो, वा नहीं? (१-४)

बलि बोले, हे देवराज! इस जगत्में कालक्रमसे सब वस्तु अनित्य होती हैं, उसे देखकर मैं किसी विषयमें शोक नहीं करता; क्यों कि जगत्में जो कुछ है, वह सभी विनश्वर है। हे सुरराज! जीवोंके इन सब शरीरोंका अन्त होगा, इसहीसे मैं किसी विषयमें शोक नहीं करता; मैं यह नहीं कहता, कि

उभे सह विवर्धेते उभे सह विनश्यतः ॥ ७ ॥
नहीदृशमहं भावमवशः प्राप्य केवलम्।
यद्येवमभिजानासि का व्यथा मे विजानतः ॥ ८ ॥
भूतानां निधनं निष्ठा स्रोतसामिव सागरः।
नैतत्सम्यग्विजानन्तो नरा मुह्यन्ति वज्रधृक् ॥ ९ ॥
ये त्वेवं नाभिजानन्ति रजोमोहपरायणाः।
ते कृच्छ्रं प्राप्य सीदन्ति बुद्धिर्येषां प्रणश्यति ॥ १० ॥
बुद्धिलाभात्तु पुरुषः सर्वं तुदति किल्विषम्।
विपाप्मा लभते सत्त्वं सत्त्वस्थः संप्रसीदति ॥ ११ ॥
ततस्तु ये निवर्तन्ते जायन्ते वा पुनः पुनः।
कृपणाः परितप्यन्ते तैरथैरभिचोदिताः ॥ १२ ॥
अर्थसिद्धिमनर्थं च जीवितं मरणं तथा।
सुखदुःखफले चैव न द्वेष्मि न च कामये ॥ १३ ॥
हतं हन्ति हतो ह्येव यो नरो हन्ति कंचन।

मेरी यह दशा मेरे अपराधसे ही हुई है। जीवन और शरीर एक ही समयमें उत्पन्न होते हैं, दोनों एकत्र वर्धित और एकत्र ही विनष्ट हुआ करते हैं। मैं ऐसा शरीर पाके केवल अवश हुआ हूं, सो मत समझो; मैं इस विषयके तत्त्वोंको जानता हूं और जाननेसे ही मुझे किसी विषयमें क्लेश नहीं है। जैसे प्रवाह समुद्रमें जाके लीन होता है, वैसे ही जीवोंकी मृत्यु होनेसे ही निष्पत्ति हुई। हे वज्रधर! जो लोग इसे पूरी रीतिसे जानते हैं, वे सब मनुष्य शोक नहीं करते और जो लोग रजोगुणसे ग्रस्त और मोहयुक्त होकर इस विषयमें मूर्ख रहते हैं, और जिनकी बुद्धि नष्ट होजाती है वेही कृच्छ्रताको प्राप्त होके दुःखित हुआ करते हैं। (५-१०)

मनुष्य ज्ञानलाभसेही सब पापोंको खण्डन करता है। पापरहित मनुष्य सत्त्वगुण लाभ किया करता है, सत्त्वगुण अवलम्बन करनेवाले मनुष्य पूर्ण रूपसे प्रसन्न होते हैं। जो लोग सत्त्वगुणसे निवृत्त होते हैं, वे बार बार जन्म ग्रहण किया करते हैं, और काम आदिके वशमें होकर जन्म, जरा प्रभृति विविध दुःखोंको भोगते हुए दीन भावसे परिताप करते हैं। मैं कामादि विषय सिद्धि, अनर्थ, जीवन, मरण, सुख और दुःखके फलमें द्वेष और कामना नहीं करता। निर्जीव शरीरकाही नाश होता

उभौ तौ न विजानीतो यश्च हन्ति हतश्च यः ॥१४ ॥
हत्वा जित्वा च मघवन् यः कश्चित्पुरुषायते ।
अकर्ता ह्येव भवति कर्ता ह्येव करोति तत् ॥ १५ ॥
को हि लोकस्य कुरुते विनाशप्रभवावुभौ ।
कृतं हि तत्कृतेनैव कर्ता तस्यापि चापरः ॥ १६ ॥
पृथिवी ज्योतिराकाशमापो वायुश्च पञ्चमः ।
एतद्योनीनि भूतानि तत्र का परिवेदना ॥ १७ ॥
महाविद्योऽल्पविद्यश्च बलवान् दुर्बलश्च यः ।
दर्शनीयो विरूपश्च सुभगो दुर्भगश्च यः ॥ १८ ॥
सर्वं कालः समादत्ते गम्भीरः स्वेन तेजसा ।
तस्मिन्कालवशं प्राप्ते का व्यथा मे विजानतः ॥ १९ ॥
दग्धमेवानुदहति हतमेवानुहन्यते ।
नश्यते नष्टमेवाग्रे लब्धव्यं लभते नरः ॥ २० ॥

है, जीवका कदापि नाश नहीं होता। जो मनुष्य जिस किसी जीवका वध करता है, वह अर्थात् "मैं हन्ता हूं," ऐसा अभिमानी पुरुष भी मरता है, जो मारता है, और जो मरता है, वे दोनोंही कौन कर्त्ता है, उसे नहीं जानते। (११-१४)

हे इन्द्र! मारके वा जय करके जो कोई पुरुष पुरुषत्व प्रकाशित करता है, वास्तवमें वह कर्त्ता नहीं है, जो कर्त्ता है, वही उस कार्यको किया करता है। लोकोंकी उत्पत्ति और नाशका कर्त्ता कौन है, ऐसा संशय उपस्थित होनेपर उस समय यह बोध होता है, कि उत्पत्तियुक्त मनही उसे सिद्ध करता है; परन्तु मनका भी दूसरा कर्ता है। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और अग्नि ये पांचों जीवोंकी उत्पत्तिके विषयमें कारण हैं; इसलिये उस विषयमें शोक करनेकी क्या आवश्यकता है। चाहे मनुष्य विविध विद्यासे युक्त हो, अथवा अविद्वान् ही हो; बलवान् हो वा निर्बल ही होवे; सुन्दर हो, वा कुरूपही हो; सुभग हो अथवा दुर्भगही होवे, अत्यन्त गम्भीर काल निज तेजके सहारे सबकोही संग्रह कर रहा है, जब कि जानता हूं, किसीभी कालके वशीभूत होते हैं, तब मुझे किसी विषयमें दुःख नहीं है। जब कालस्वरूप ईश्वर पहले जलाता है, तब अग्नि पीछे भस्म करती है; ईश्वरके जरिये मृत शरीरको मनुष्य पीछे नष्ट किया करता है। (१५-२०)

नास्य द्वीपः कुतः पारो नावारः संप्रदृश्यते।
नान्तमस्य प्रपश्यामि विधेर्दिव्यस्य चिन्तयन् ॥२१॥
यदि मे पश्यतः कालो भूतानि न विनाशयेत्।
स्यान्मे हर्षश्च दर्पश्च क्रोधश्चैव शचीपते ॥ २२ ॥
तुषभक्षं तु मां ज्ञात्वा प्रविविक्तजने गृहे।
बिभ्रतं गार्दभं रूपमागत्य परिगर्हसे ॥ २३ ॥
इच्छन्नहं विकुर्यां हि रूपाणि बहुधात्मनः।
विभीषणानि यानीक्ष्य पलायेथास्त्वमेव मे ॥ २४ ॥
कालः सर्वं समादत्ते कालः सर्वं प्रयच्छति।
कालेन विहितं सर्वं मा कृथाः शक्र पौरुषम् ॥ २५ ॥
पुरा सर्वं प्रव्यथितं मयि क्रुद्धे पुरन्दर।
अवैमि त्वस्य लोकस्य धर्मं शक्र सनातनम् ॥ २६ ॥
त्वमप्येवमवेक्षस्व माऽऽत्मना विस्मयं गमः।
प्रभवश्च प्रभावश्च नात्मसंस्थः कदाचन ॥ २७ ॥

ईश्वर जिसे पहले नष्ट करता है, वही पीछे नष्ट होता है; ईश्वर जो दान करता है, मनुष्य उसही प्राप्त होनेवाले विषयको पाता है; इस पुण्य पापसे रहित कालरूपी विधाताका पार नहीं है, इससे परम्पार भी दृष्टिगोचर नहीं होता; मैं चिन्ता करनेपर भी कालका अन्त नहीं देखता, हे शचीपति! मेरे प्रत्यक्षमें यदि काल सब भूतोंका नाश न करता, तो अवश्यही मुझे हर्ष, दर्प और क्रोध हो सकता। मैं गर्दभरूप धरके निर्जन स्थानमें तुषभक्षण करता हूं, उसे जानके तुम आके मेरी निन्दा करते हो; परन्तु जिन सब भयानक रूपोंको देखकर तुम भी भागनेका मार्ग देखने लगते हो, मैं इच्छा करनेसे अनायासही वैसे अनेक प्रकारके भयङ्कर रूप धारण कर सकता हूं। हे शक्र! कालही सबका संहार करता है, कालही सब प्रदान करता है, सभी कालका विधान है; इसलिये तुम पौरुष प्रकाश मत करो। हे पुरन्दर! जब मैं पहले क्रुद्ध हुआ था, उस समय सचराचर समस्त लोक व्यथित हुए थे; हे शक्र! इससे मैंने इस जगत्की ह्रास, वृद्धि रूप सनातन धर्मको विशेष रूपसे जाना है; तुम इसे जाननेसे स्वयंही विस्मययुक्त होगे ऐश्वर्य और ऐश्वर्यका आविष्कार कदापि अपने अधीन नहीं है। (२०—२७)

कौमारमेव ते चित्तं तथैवाद्य यथा पुरा।
समवेक्षस्व मघवन् बुद्धिं विन्दस्व नैष्ठिकीम् ॥ २८ ॥
देवा मनुष्याः पितरो गन्धर्वोरगराक्षसाः।
आसन्सर्वे मम वशे तत्सर्वं वेत्थ वासव ॥ २९ ॥
नमस्तस्यै दिशेऽप्यस्तु यस्यां वैरोचनो बलिः।
इति मामभ्यपद्यन्त बुद्धिमात्सर्यमोहिताः ॥ ३० ॥
नाहं तदनुशोचामि नात्मभ्रंशं शचीपते।
एवं मे निश्चिता बुद्धिः शास्तुस्तिष्ठाम्यहं वशे ॥३१ ॥
दृश्यते हि कुले जातो दर्शनीयः प्रतापवान्।
दुःखं जीवन्सहामात्यो भवितव्यं हि तत्तथा ॥ ३२॥
दौष्कुलेयस्तथा मूढो दुर्जातः शक्र दृश्यते।
सुखं जीवन्सहामात्यो भवितव्यं हि तत्तथा ॥ ३३ ॥
कल्याणी रूपसंपन्ना दुर्भगा शक्र दृश्यते।
अलक्षणा विरूपा च सुभगा दृश्यते परा ॥३४॥
नैतदस्मत्कृतं शक्र नैतच्छक्र त्वया कृतम्।

हे मघवन्! कौमार अवस्थामें तुम्हारा चित्त जैसा था, इस समय भी वैसा ही है, उसे देखकर तुम नैष्ठिक बुद्धि लाभ करो। हे वासव! तुम सब जानतेही हो, कि देव मनुष्य पितर, गन्धर्व, राक्षस, और सर्प भी मेरे वशमें थे। "वैरोचन बलि जिस दिशामें है, उस दिशाकोही नमस्कार है," बुद्धि मत्सरतासे मोहित मनुष्य मुझे ऐसाही समझते थे। हे शचीपति! इस समय मैं उसके लिये वा आत्मभ्रंशके निमित्त शोक नहीं करता; मेरी बुद्धिमें यही निश्चय हुआ है कि मैं ईश्वरके वशमें निवास करता हूं। (२८–३१)

हे शक्र! जब देखता हूं, सत्कुलमें उत्पन्न हुए, सुन्दर रूपवाले, प्रतापवान् मनुष्य दुःखसे जीवन बिता रहे हैं, तब कहना पडेगा, कि उनका भवितव्य वैसाही है और नीचवंशमें उत्पन्न हुए अत्यन्त मूढ अशुभजन्मा मनुष्य कुटुम्बके सहित परम सुखसे जीवनयात्राका निर्वाह कर रहे हैं, उनकीभी भवितव्यता वैसी ही है। हे वासव! देखा जाता है, उत्तम लक्षणशाली सुन्दरतायुक्त स्त्रियां दुर्भगा होती हैं और कुलक्षणसे युक्त कुरूपवाली स्त्री भी सुभगा होती है। हे वज्रधर! तुम इस प्रकार समृद्धियुक्त होरहे हो और मैं ऐसी अवस्थामें

यत्त्वमेवंगतो वज्रिन् यच्चाप्येवंगता वयम् ॥ ३५ ॥
न कर्म भविताप्येतत्कृतं मम शतक्रतो।
ऋद्धिर्वाऽप्यथ वा नर्द्धिः पर्यायकृतमेव तत् ॥ ३६ ॥
पश्यामि त्वां विराजन्तं देवराजमवस्थितम्।
श्रीमन्तं द्युतिमन्तं च गर्जमानं ममोपरि ॥ ३७ ॥
एवं नैव न चेत्कालो मामाक्रम्य स्थितो भवेत्।
पातयेयमहं त्वाद्य सवज्रमपि मुष्टिना ॥ ३८ ॥
न तु विक्रमकालोऽयं शान्तिकालोऽयमागतः।
कालः स्थापयते सर्वं कालः पचति वै तथा ॥ ३९ ॥
मां चेदभ्यागतः कालो दानवेश्वरपूजितम्।
गर्जन्तं प्रतपन्तं च कमन्यं नागमिष्यति ॥ ४० ॥
द्वादशानां तु भवतामादित्यानां महात्मनाम्।
तेजांस्येकेन सर्वेषां देवराज धृतानि मे ॥ ४१ ॥
अहमेवोद्वहाम्यापो विसृजामि च वासव।
तपामि चैव त्रैलोक्यं विद्योताम्यहमेव च ॥ ४२ ॥

पड़ा हूं, यह तुम्हारा भी कृत नहीं है, और मेरा भी कृत नहीं है। हे देवराज! तुमने ऐसी समृद्धिके लिये कोई कर्म नहीं किये और मैंने भी ऐसी अवस्थाके निमित्त कोई कर्म नहीं किया है, समृद्धि वा असमृद्धि कालक्रमसे हुआ करती है। (३२—३५)

तुम श्रीमान्, द्युतिमान् और देवराज होकर विराजते हुए मेरे विषयमें गर्ज रहे हो, परन्तु काल मुझे यदि आक्रमण न किये होता और मैं इस प्रकार गधे-का रूप धारण न किये होता, तो इस ही समय मुष्टिप्रहारसे तुम्हें वज्रके सहित गिरा सकता। जो हो, यह विक्रम प्रकाश करनेका समय नहीं है, शान्ति-काल उपस्थित हुआ है; कालही सबको स्थापित करता है, कालही सबको पकाया करता है। मैंने दानवोंका राजा और पूजनीय होकर सबके विषयमें तर्जन गर्जन और प्रताप प्रकाश किया था; काल यदि मेरे निकट आया, तो और किसके समीप न जायगा। (३७-४०)

हे देवराज मैंने अकेलेही तुम्हारे महानुभाव द्वादश आदित्योंके तेजको धारण किया था, मैंनेही मेघरूप धरके जलकी वर्षा करता था, मैंही सूर्यरूप धरके तीनों लोकोंको सन्तापित और विद्योतित करता था, मैंही तीनों लोकोंकी

संरक्षामि विलुम्पामि ददाम्यहमथाददे ।
संयच्छामि नियच्छामि लोकेषु प्रभुरीश्वरः ॥ ४३ ॥
तदद्य विनिवृत्तं मे प्रभुत्वममराधिप ।
कालसैन्यावगाढस्य सर्वं न प्रतिभाति मे ॥ ४४ ॥
नाहं कर्ता न चैव त्वं नान्यः कर्ता शचीपते ।
पर्यायेण हि भुज्यन्ते लोकाः शक्र यदृच्छया ॥ ४५ ॥
मासमासार्धवेश्मानमहोरात्राभिसंवृतम् ।
ऋतुद्वारं वायुमुखमायुर्वेदविदो जनाः ॥ ४६ ॥
आहुः सर्वमिदं चिन्त्यं जनाः केचिन्मनीषया ।
अस्याः पञ्चैव चिन्तायाः पर्येष्यामि च पञ्चधा ॥४७॥
गम्भीरं गहनं ब्रह्म महत्तोयार्णवं यथा ।
अनादिनिधनं चाहुरक्षरं क्षरमेव च ॥ ४८ ॥

रक्षा करता था, और इच्छा करनेसेही नष्ट कर सकता था, मैंही दान और प्रदान करता था, मैंही सबको स्थिर और नियमित करता था; तीनों लोकोंके बीच मैंही सबके निग्रहानुग्रहमें समर्थ, शासनकर्त्ता था। हे देवराज! इस समय मेरा वह प्रभुत्व निवृत्त हुआ है, मैं कालसैन्यसे आक्रान्त हुआ हूं, इसलिये वह सब मुझे अब मालूम नहीं होता है। हे शचीपति! मैं कर्त्ता नहीं हूं, और तुम भी कर्त्ता नहीं हो तथा दूसरे कोई भी कर्त्ता नहीं हैं। सब लोक स्वभावसेही कालक्रमसे पालित और संहृत होरहे हैं। मास और पक्षही जिसके अधिष्ठान, जो अहोरात्रिके जरिये सब तरहसे परिपूरित होरहा है, वसन्त आदि ऋतुओंमें ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंके सहारे जिसे जाना जाता है, वही एकमात्र, निर्विषय, ध्यानगम्य कालको वेद जाननेवाले पुरुष ब्रह्म कहा करते हैं। (४१-४६)

कोई कोई बुद्धिबल अवलम्बन करके इस समस्त कालात्मक जगत्को ब्रह्मरूपसे विचारनेको कहते हैं। इस चिन्ताके पांच विषय हैं; अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय कोश, ये प्रत्येक वाम वा दक्षिण पार्श्व, शिर, मध्यदेश और पश्चाद्भाग इन पञ्च-अवयवविशिष्ट हैं, ऐसा श्रुतिसे जाना जाता है। पण्डित लोग कहा करते हैं, पारावाररहित समुद्रके समान ब्रह्म अत्यन्त गम्भीर वा अगम अर्थात् तर्कसे अगम्य है, और शास्त्रके अनुसार मालूम होनेपर

सत्त्वेषु लिङ्गमाविश्य निर्लिङ्गमपि तत्स्वयम् ।
मन्यन्ते ध्रुवमेवैनं ये जनास्तत्त्वदर्शिनः ॥ ४९ ॥
भूतानां तु विपर्यासं कुरुते भगवानिति ।
न ह्येतावद्भवेद्गम्यं न यस्मात्प्रभवेत्पुनः ॥ ५० ॥
गतिं हि सर्वभूतानामगत्वा क गमिष्यसि ।
यो धावता न हातव्यस्तिष्ठन्नपि न हीयते ॥ ५१ ॥
तमिन्द्रियाणि सर्वाणि नानुपश्यन्ति पञ्चधा ।
आहुश्चैनं केचिदग्निं केचिदाहुः प्रजापतिम् ॥ ५२ ॥
ऋतून् मासार्धमासांश्च दिवसांश्च क्षणांस्तथा ।
पूर्वाह्णमपराह्णं च मध्याह्नमपि चापरे ॥ ५३ ॥
मुहूर्तमपि चैवाहुरेकं सन्तमनेकधा ।

भी अत्यन्त दुःखसे उसमें प्रवेश किया जाता है । उसका न आदि है, न अन्त है; वह जीवरूपसे अक्षर अर्थात् निर्विशेष वस्तु है, और जैसे शुक्ति स्वयं रजत रूपसे जन्मनाशरहित हुआ करती है, वैसेही जन्मनाशसे रहित होके भी जगत् रूपसे क्षर अर्थात् विनश्वर हैं । (४७-४८)

वह स्वयं उपाधिरहित है, परन्तु बुद्धितत्वमें प्रवेश करके सोपाधिक होता है, तत्त्वदर्शी लोग उसे उपाधिधर्म स्पर्श रहित समझते हैं और चैतन्यरूपसे परिणत पञ्चमहाभूत सम्बन्धीय सत्, चित्, आनन्द और अनन्तके विपरीत धर्म, अनृत, जड, दुःख और परिच्छिन्नाख्य दुर्गमत्व भगवान् भी अविद्याके जरिये आत्मामें समझा करते हैं; परन्तु ये अविद्यासे प्रकाशित दुःख आदि आत्माके गम्य नहीं हैं । ब्रह्मा, रुद्र अथवा विष्णु आदि अन्य कोई भी जिसका प्रभु नहीं है वही आत्माका स्वरूप है, इससे आत्मासे बढके दूसरा अधिपति कोई भी नहीं है । (४९-५०)

हे इन्द्र ! सब भूतोंकी जो गति होती है, उसे प्राप्त न करके तुम कहां जाओगे ? भागनेपर भी उसे परित्याग नहीं किया जा सकता और स्थित रहनेपर भी वह परित्यक्त नहीं होती । इन्द्रियें इस आत्माको देखनेमें समर्थ नहीं हैं, कोई इस आत्माको अग्नि कहा करते हैं, कर्मपरायण मनुष्य इस आत्माको सर्वकर्मसमर्पणीय प्रजापति समझते हैं । आत्माके एक होनेपर भी लोग उसे ऋतु, महीना, पक्ष, दिवस, क्षण, पूर्वाह्ण, अपराह्ण, मध्यान्ह और मुहूर्तादि भेदसे अनेक प्रकार कहा करते

तं कालमिति जानीहि यस्य सर्वमिदं वशे ॥ ५४ ॥
बहूनीन्द्रसहस्राणि समतीतानि वासव ।
बलवीर्योपपन्नानि यथैव त्वं शचीपते ॥ ५५ ॥
त्वामप्यतिबलं शक्र देवराजं बलोत्कटम् ।
प्राप्ते काले महावीर्यः कालः संशमयिष्यति ॥ ५६ ॥
य इदं सर्वमादत्ते तस्माच्छक्र स्थिरो भव !
मया त्वया च पूर्वैश्च न स शक्योऽतिवर्तितुम् ॥५७॥
यामेतां प्राप्य जानीषे राज्यश्रियमनुत्तमाम् ।
स्थिता मयीति तन्मिथ्या नैषा ह्येकत्र तिष्ठति ॥५८॥
स्थिता हीन्द्रसहस्रेषु त्वद्विशिष्टतमेष्वियम् ।
मां च लोला परित्यज्य त्वामगाद्विबुधाधिप ॥ ५९ ॥
मैवं शक्र पुनः कार्षीः शान्तो भवितुमर्हसि ।
त्वामप्येवंविधं ज्ञात्वा क्षिप्रमन्यं गमिष्यति ॥६०॥ [८०४३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बलिवासवसंवादे चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२४ ॥

हैं। हे देवराज ! यह स्थावरजङ्गमात्मक समस्त जगत् जिसके वशमें है, उसे ही कालरूपसे मालूम करो। (५१-५४)

हे शचीपति ! तुम्हारे समान बलवीर्यसे युक्त कई हजार इन्द्र गुजर गये, तुम प्रबल बलदर्पित देवताओंके राजा हुए हो; परन्तु समय उपस्थित होनेपर महाबलवान् काल तुम्हें शान्तिके स्थानमें भेजेगा। हे शक्र ! जो काल इन सबको संहार कर रहा है, तुम उसका भय करके स्थिर रहो, मैं अथवा तुम तथा पूर्व पुरुषोंमेंसे कोई भी कालको अतिक्रम करनेमें समर्थ नहीं है। यह जो तुम उत्तम राज्यश्री लाभ करके "राज्यश्री मुझमेंही है," ऐसा समझ रहे हो, वह मिथ्या है; क्यों कि यह राज्यलक्ष्मी एक स्थानमें निवास नहीं करती। हे देवराज ! यह चपला राज्यलक्ष्मी तुमसे भी श्रेष्ठ हजारों इन्द्रोंके निकट और मेरे समीप निवास करती थी; अब मुझे छोडके तुम्हें अवलम्बन किया है; हे देवेश ! इससे तुम फिर ऐसा अहङ्कार मत करना; तुम्हें अवश्य शान्त होना चाहिये। चपला राज्यलक्ष्मी तुम्हें भी इसही प्रकार अहंकारी जानके शीघ्रही दूसेरेके निकट गमन करेगी। (५५-६०)

शान्तिपर्वमें २२४ अध्याय समाप्त।

भीष्म उवाच— शतक्रतुरथापश्यद्बलेर्दीप्तां महात्मनः ।
स्वरूपिणीं शरीराद्धि निष्क्रामन्तीं तदा श्रियम् ॥१॥
तां दृष्ट्वा प्रभया दीप्तां भगवान् पाकशासनः ।
विस्मयोत्फुल्लनयनो बलिं पप्रच्छ वासवः ॥ २ ॥
शक्र उवाच— बले केयमपक्रान्ता रोचमाना शिखण्डिनी ।
त्वत्तः स्थिता सकेयूरा दीप्यमाना स्वतेजसा ॥ ३ ॥
बलिरुवाच— नहीमामासुरीं वेद्मि न दैवीं च न मानुषीम् ।
त्वमेनां पृच्छ वा मा वा यथेष्टं कुरु वासव ॥ ४ ॥
शक्र उवाच— का त्वं बलेरपक्रान्ता रोचमाना शिखण्डिनी ।
अजानतो ममाचक्ष्व नामधेयं शुचिस्मिते ॥ ५ ॥
का त्वं तिष्ठसि मामेवं दीप्यमाना स्वतेजसा ।
हित्वा दैत्यवरं सुभ्रु तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ६ ॥
श्रीरुवाच— न मां विरोचनो वेद नायं वैरोचनो बलिः ।
आहुर्मां दुःसहेत्येवं विधित्सेति च मां विदुः ॥ ७ ॥
भूतिर्लक्ष्मीति मामाहुः श्रीरित्येवं च वासव ।

शान्तिपर्वमें २२५ अध्याय ।

अनन्तर देवराजने उस समय महात्मा बलिके शरीरसे साक्षात् लक्ष्मीको निकलती हुई देखा । भगवान् पाकशासन इन्द्र विस्मयोत्फुल्ल नेत्रसे उस प्रभापुञ्जसे जलती हुई लक्ष्मीको देखकर बलिसे उसका विषय पूछने लगे । इन्द्र बोले, हे दैत्यराज ! यह जो निज तेजसे प्रकाशमान केयूरवती दर्शनीय रूपवाली शिखण्डशालिनी स्त्री तुम्हारे देहसे निकली, वह कौन है ? (१–३)

बलि बोले, हे इन्द्र ! मैं नहीं जानता, कि यह आसुरी, दैवी अथवा मानवी है । तुम्हारी इच्छा हो, इससे पूछो, वा मत पूछो । इन्द्र बोले, हे शुचिस्मिते ! तुम कौन हो, मनोहर रूप और केशपाश धारण करके बलिके शरीरसे क्यों निकलीं; तुम्हारा क्या नाम है, उसे मैं नहीं जानता; इससे मेरे समीप अपना नाम कहो । हे सुभ्रु ! तुम कौन हो, दैत्येश्वर बलिको परित्याग करके निज तेजसे प्रकाशित होकर मायाकी भांति क्यों खडी होरही हो ? मैं पूछता हूं, तुम मुझसे वही कहो । (४–६)

लक्ष्मी बोली, हे वासव ! विरोचन मुझे नहीं जानते थे और यह विरोचनपुत्र बलि भी मुझे नहीं जानता; लोग मुझे दुःसहा और विधित्सा समझते हैं,

त्वं मां शक्र न जानीषे सर्वे देवा न मां विदुः ॥ ८ ॥

शक्र उवाच— किमिदं त्वं मम कृते उताहो बलिनः कृते ।
दुःसहे विजहास्येनं चिरसंवासिनी सती ॥ ९ ॥

श्रीरुवाच— नो धाता न विधाता मां विदधाति कथंचन ।
कालस्तु शक्र पर्यागान्मैनं शक्रावमन्यथाः ॥ १० ॥

शक्र उवाच— कथं त्वया बलिस्त्यक्तः किमर्थं वा शिखण्डिनि ।
कथं च मां न जह्यास्त्वं तन्मे ब्रूहि शुचिस्मिते ॥ ११॥

श्रीरुवाच— सत्ये स्थितास्मि दाने च व्रते तपसि चैव हि ।
पराक्रमे च धर्मे च पराचीनस्ततो बलिः ॥ १२ ॥
ब्रह्मण्योऽयं पुरा भूत्वा सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
अभ्यसूयद्ब्राह्मणानामुच्छिष्टश्चास्पृशद् घृतम् ॥ १३ ॥
यज्ञशीलः सदा भूत्वा मामेव यजते स्वयम् ।
प्रोवाच लोकान्मूढात्मा कालेनोपनिपीडितः ॥ १४ ॥
अपाकृता ततः शक्र त्वयि वत्स्यामि वासव ।
अप्रमत्तेन धार्यास्मि तपसा विक्रमेण च ॥ १५ ॥

मुझे कोई भूति, कोई लक्ष्मी और कोई कोई श्री कहा करते हैं। हे देवराज! तुम मुझे नहीं जानते और सब देवता भी मुझे नहीं जानते। इन्द्र बोले, हे दुःसहे! बहुत समय तक बलिके स्थान में वास करके अब मेरे निमित्त अथवा बलिके ही वास्ते इन्हें परित्याग करती हो, उसे कहो। (७-९)

लक्ष्मी बोली, हे शक्र! धाता वा विधाता मुझे किसी प्रकार स्थिर नहीं रख सकते, काल ही मुझे परिवर्तित करता है; हे देवराज! इसलिये तुम कालकी अवज्ञा मत करो। इन्द्र बोले, हे शुचिस्मिते! तुमने किस कारणसे बलिको परित्याग किया और मुझे किसलिये परित्याग नहीं करती हो, मेरे समीप उसे कहो। लक्ष्मी बोली, हे देवराज! मैं सत्य, दान, व्रत, तपस्या, पराक्रम और कर्ममें निवास करती हूं; बलि इन सब विषयमें पराङ्मुख हुए हैं। ये पहले ब्रह्मनिष्ठ, सत्यवादी और जितेन्द्रिय होकर अन्तमें ब्राह्मणोंकी असूया करते और जूठे रहके घृत छूते थे। पहले यज्ञशील होकर पीछे यह मूढबुद्धि कालसे अत्यन्त पीडित होकर सब लोगोंसे इसी प्रकार कटु और दुष्ट वचन कहता था। हे देवराज! इसही लिये मैं इसे त्यागके तुम्हारे समीप वास

शक्र उवाच— नास्ति देवमनुष्येषु सर्वभूतेषु वा पुमान् ।
यस्त्वामेको विषहितुं शक्नुयात्कमलालये ॥ १६ ॥

श्रीरुवाच— नैव देवो न गन्धर्वो नासुरो न च राक्षसः ।
यो मामेको विषहितुं शक्तः कश्चित्पुरंदर ॥ १७ ॥

शक्र उवाच— तिष्ठेथा मयि नित्यं त्वं यथा तद् ब्रूहि मे शुभे ।
तत्करिष्यामि ते वाक्यमृतं तद्वक्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

श्रीरुवाच— स्थास्यामि नित्यं देवेन्द्र यथा त्वयि निबोध तत् ।
विधिना वेददृष्टेन चतुर्धा विभजस्व माम् ॥ १९ ॥

शक्र उवाच— अहं वै त्वां निधास्यामि यथाशक्ति यथाबलम् ।
न तु मेऽतिक्रमः स्याद्वै सदा लक्ष्मि तवान्तिके ॥२० ॥
भूमिरेव मनुष्येषु धारिणी भूतभाविनी ।
सा ते पादं तितिक्षेत समर्था हीति मे मतिः ॥ २१ ॥

श्रीरुवाच— एष मे निहितः पादो योऽयं भूमौ प्रतिष्ठितः ।
द्वितीयं शक्र पादं मे तस्मात्सुनिहितं कुरु ॥ २२ ॥

शक्र उवाच— आप एव मनुष्येषु द्रवन्त्यः परिचारिणीः ।

करती हूं; तुम सावधान होकर तपस्या और विक्रमके सहारे मुझे धारण करो। (१०–१५)

इन्द्र बोले, हे कमलालये! देवता, मनुष्य अथवा सब प्राणियोंके बीच ऐसा कोई पुरुष नहीं है, जो अकेला तुम्हें धारण करनेमें समर्थ हो। लक्ष्मी बोली, हे पुरन्दर! यह सत्य है, कि देवता, गन्धर्व, असुर वा राक्षसोंमें ऐसा कोई भी नहीं है, जो अकेला मुझे सहन कर सके। इन्द्र बोले, हे शुभे! तुम कहो, किस प्रकार मेरे समीप निवास करोगी, मैं वैसाही करूंगा; यह सत्य वचन कहना तुम्हें उचित है। लक्ष्मी बोली, हे देवेन्द्र। मैं तुम्हारे समीप सदा जिस प्रकार निवास करूंगी, उसे सुनो! तुम वेदविहित विधिके अनुसार मुझे चार हिस्सेमें विभक्त करो। (१६–१९)

इन्द्र बोले, हे कमले! मैं यथाशक्तिसे बलके अनुसार तुम्हें सदा धारण करूंगा, तुम्हारे निकट मेरा कुछ भी व्यतिक्रम न होगा। भूतभाविनी धरणी ही मनुष्योंको धारण किया करती है; इससे धरणी तुम्हारा एक पद धारण करे, मुझे बोध होता है, वह तुम्हारा एक चरण धारण करनेमें समर्थ होगी। लक्ष्मी बोली, यह मैंने भूमिमें एक चरण अर्पण किया, यह भूतलमें प्रतिष्ठित रहेगा।

तास्ते पादं तितिक्षन्तामलमापास्तितिक्षितुम् ॥ २३ ॥

श्रीरुवाच— एष मे निहितः पादो योऽयमप्सु प्रतिष्ठितः।
तृतीयं शक्र पादं मे तस्मात्सुनिहितं कुरु ॥ २४ ॥

शक्र उवाच— यस्मिन्वेदाश्च यज्ञाश्च यस्मिन्देवाः प्रतिष्ठिताः।
तृतीयं पादमग्निस्ते सुधृतं धारयिष्यति ॥ २५ ॥

श्रीरुवाच— एष मे निहितः पादो योऽयमग्नौ प्रतिष्ठितः।
चतुर्थं शक्र पादं मे तस्मात्सुनिहितं कुरु ॥ २६ ॥

शक्र उवाच— ये वै सन्तो मनुष्येषु ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः।
ते ते पादं तितिक्षन्तामलं सन्तस्तितिक्षितुम् ॥ २७ ॥

श्रीरुवाच— एष मे निहितः पादो योऽयं सत्सु प्रतिष्ठितः।
एवं हि निहितां शक्र भूतेषु परिधत्स्व माम् ॥ २८ ॥

शक्र उवाच— भूतानामिह यो वै त्वां मया विनिहितां सतीम्।
उपहन्यात्स मे धृष्यस्तथा शृण्वन्तु मे वचः।

हे इन्द्र! अब मेरे दूसरे चरणका स्थान वर्णन करो। इन्द्र बोले, द्रवमय जल सब मनुष्योंकी परिचर्या किया करता है, इससे जल ही तुम्हारा दूसरा चरण धारण करे क्यों कि जल तुम्हारे चरण-को सहनेमें समर्थ होगा। लक्ष्मी बोली, हे देवेन्द्र! यह मैंने दूसरा चरण जलके बीच अर्पण किया, यह जलमें ही प्रति-ष्ठित रहेगा अब तीसरे चरणके स्थापित करनेका स्थान बतलाओ। (२०–२४)

इन्द्र बोले, वेद, यज्ञ और समस्त देवता जिसमें प्रतिष्ठित हैं वह अग्नि तुम्हारे तीसरे चरणको उत्तम रीतिसे धारण करेगी। लक्ष्मी बोली, हे इन्द्र! यह जो चरण मैंने अर्पण किया, वह अग्निके बीच प्रतिष्ठित हुआ, अब चौथे चरणके स्थापनका स्थान बतलाओ। इन्द्र बोले, मनुष्योंके बीच जो साधु पुरुष सत्यवादी और ब्रह्मनिष्ठ हैं वेही तुम्हारे चौथे चरणको धारण करेंगे, क्यों कि साधु लोग तुम्हारे चरणको धारण करनेमें समर्थ हैं। लक्ष्मी बोली, हे देवराज! यह जो चरण निक्षेप किया, वह साधुओंके बीच प्रतिष्ठित हुआ; भूतोंके बीच इसी प्रकार मेरे चारों चरण निहित रहे; तुम इसी भांति मुझे धारण करो। (२५–२८)

इन्द्र बोले, मैंने सर्व भूतोंके ऊपर तुम्हें स्थापित किया; अर्थात् चित्त, तीर्थादि पुण्य, यज्ञ आदि धर्म और विद्या, ये तुम्हारे चारों चरण भूमि, अग्नि, जल और साधुओंमें प्रतिष्ठित

ततस्त्यक्तः श्रिया राजा दैत्यानां बलिरब्रवीत् ॥ २९ ॥

बलिरुवाच— यावत्पुरस्तात्प्रतपेत्तावद्वै दक्षिणां दिशम् ।
पश्चिमां तावदेवापि तथोदीचीं दिवाकरः ॥ ३० ॥
तथा मध्यंदिने सूर्यो नास्तमेति यदा तदा ।
पुनर्दैवासुरं युद्धं भावि जेताऽस्मि वस्तदा ॥ ३१ ॥
सर्वलोकान्यदादित्य एकस्थस्तापयिष्यति ।
तदा देवासुरे युद्धे जेताऽहं त्वां शतक्रतो ॥ ३२ ॥

शक्र उवाच— ब्रह्मणाऽस्मि समादिष्टो न हन्तव्यो भवानिति ।
तेन तेऽहं बले वज्रं न विमुञ्चामि मूर्धनि ॥ ३३ ॥
यथेष्टं गच्छ दैत्येन्द्र स्वस्ति तेऽस्तु महासुर ।
आदित्यो नैव तपिता कदाचिन्मध्यतः स्थितः ॥ ३४ ॥
स्थापितो ह्यस्य समयः पूर्वमेव स्वयम्भुवा ।
अजस्रं परियात्येष सत्येनावतपन्प्रजाः ॥ ३५ ॥

हुए । मेरा यह वचन सब कोई सुने, जीवोंके बीच जो पुरुष स्तेय, काम, अशौच अथवा अशान्तिसे तुम्हें आहत करेगा, मैं उसे धर्षण करूंगा । अनन्तर लक्ष्मीसे परित्यक्त दैत्यराज बलि कहने लगे । बलि बोले, सुमेरु पर्वतकी प्रदक्षिण करनेवाले सूर्य जैसे पूर्वदिशाको प्रकाशित करता है वैसेही उत्तर, पश्चिम और दक्षिण दिशाको भी प्रकाशित किया करता है; परन्तु जिस समयक्रमसे सब दिशा नष्ट होगी और आदित्यमण्डल केवल सुमेरुपृष्ठके मध्यवर्त्ती ब्रह्मलोकको दिवसके मध्यभागमें प्रकाशित करेगा, तब वर्त्तमान वैवस्वत–मनुका अधिकार च्युत होनेपर सावर्णिक मनुके भावी–अधिकारके समय देवताओं और असुरोंमें युद्ध होगा; उस युद्धमें मैं तुमको फिर जीतूंगा । हे देवराज ! जब सूर्य केवल ब्रह्मलोकमें स्थिति करके सब लोकोंको सन्तापित करेगा, उस समय देवासुरसंग्राममें मैं तुम्हें जय करूंगा । (२९–३२)

इन्द्र बोले, हे दैत्यराज ! "तुम्हें मारना उचित नहीं है," ब्रह्माने मुझे ऐसीही आज्ञा दी है, इसहीसे मैंने तुम्हारे सिरपर वज्र नहीं चलाया । हे दैत्येन्द्र ! तुम्हारी जहां इच्छा हो वहां जाओ, तुम्हारा कल्याण हो; सूर्य मध्यस्थलमें रहके कभी ताप प्रदान न करेगा, स्वयम्भूने पहले ही इसका समय निरूपण किया है, यह सदा सत्य पथमें निवास करते और प्रजाको ताप दान

अयनं तस्य षण्मासानुत्तरं दक्षिणं तथा।
येन संयाति लोकेषु शीतोष्णे विसृजन् रविः ॥ ३६ ॥

भीष्म उवाच— एवमुक्तस्तु दैत्येन्द्रो बलिरिन्द्रेण भारत।
जगाम दक्षिणामाशामुदीचीं तु पुरंदरः ॥ ३७ ॥
इत्येतद्बलिना गीतमनहङ्कारसंज्ञितम्।
वाक्यं श्रुत्वा सहस्राक्षः खमेवारुरुहे तदा ॥ ३८ ॥ [८०८१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि श्रीसंनिधानो नाम पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२५ ॥

भीष्म उवाच— अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
शतक्रतोश्च संवादं नमुचेश्च युधिष्ठिर ॥ १ ॥
श्रिया विहीनमासीनमक्षोभ्यमिव सागरम्।
भवाभवज्ञं भूतानामित्युवाच पुरंदरः ॥ २ ॥
बद्धः पाशैश्च्युतः स्थानाद् द्विषतां वशमागतः।
श्रिया विहीनो नमुचे शोचस्याहो न शोचसि ॥ ३ ॥

नमुचिरुवाच— अनिवार्येण शोकेन शरीरं चोपतप्यते।

करते हुए भ्रमण करता है; छः महीनेके अनन्तर इसकी गति परिवर्तित होती है, उसेही अयन कहते हैं; अयन दो प्रकारके हैं,उत्तरायण और दक्षिणायन। यह सब लोकोंमें उक्त दो प्रकारके अयनके सहारे सूर्य गर्मी और शीतकी वर्षा करते हुए भ्रमण कर रहा है। (३३-३६)

भीष्म बोले, हे भारत! दैत्यराज बलि महेन्द्रका ऐसा वचन सुनके दक्षिण तरफ चले गये। इन्द्रने भी पूर्व-दिशाकी ओर प्रस्थान किया। सहस्र-लोचन इन्द्र बलिके कहे हुए यह अहं-काररहित वचन सुनके आकाश मार्गसे स्वर्गमें गये। (३७-३८)

शान्तिपर्वमें २२५ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २२६ अध्याय।

भीष्म बोले, हे धर्मराज! इस विषयमें शतक्रतु नमुचिके संवादयुक्त इस प्राचीन इतिहासका भी प्रमाण दिया जाता है। एक समय इन्द्रने श्रीहीन होनेपर भी समुद्रकी भांति गम्भीरभाव से बैठे हुए, भूतोंकी उत्पत्ति और नाश-को जाननेवाले नमुचिके समीप आके यह वचन कहा, हे नमुचि! तुम पाश-बद्ध, पदच्युत, शत्रुओंके वशीभूत और श्रीहीन हुए हो, इसलिये ऐसी अवस्थामें पडके शोक करते हो, वा नहीं? (१—३)

अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति शोके नास्ति सहायता ॥ ४ ॥
तस्माच्छक्र न शोचामि सर्वं ह्येवेदमन्तवत्।
संतापाद्भ्रश्यते रूपं संतापाद्भ्रश्यते श्रियः ॥ ५ ॥
संतापाद्भ्रश्यते चायुर्धर्मश्चैव सुरेश्वर।
विनीय खलु तद्दुःखमागतं वैमनस्यजम् ॥ ६ ॥
ध्यातव्यं मनसा हृद्यं कल्याणं संविजानता।
यदा यदा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः।
तदा तस्य प्रसिद्ध्यन्ति सर्वार्था नात्र संशयः ॥ ७ ॥
एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता गर्भे शयानं पुरुषं शास्ति शास्ता।
तेनानुयुक्तः प्रवणादिवोदकं यथा नियुक्तोऽस्मि तथा वहामि ॥ ८ ॥
भवाभवौ त्वभिजानन् गरीयो ज्ञानाच्छ्रेयो न तु तद्वै करोमि।
आशासु धर्म्यासु परासु कुर्वन् यथा नियुक्तोऽस्मि तथा वहामि ॥ ९ ॥
यथा यथाऽस्य प्राप्तव्यं प्राप्नोत्येव तथा तथा।

नमुचि बोला, हे देवराज! अनिवार्य शोकसे शरीर सन्तापित होता है, शत्रु लोग सन्तुष्ट हुआ करते हैं, शोक कभी दुःखनाशका कारण नहीं होता; इसही लिये मैं शोक नहीं करता। जगत्में जो कुछ वस्तु हैं, सभी विनश्वर हैं। हे सुरेश्वर! शोक करनेसे रूप नष्ट होता है, शोक करनेसे श्रीहीन होना पडता है, सन्तापसे परमायु और धर्म नष्ट हुआ करता है; इसलिये ज्ञानवान् मनुष्योंको उचित है, शोकसे उपस्थित दुःखको त्यागके मनहीमन हृदयके प्रीतिकर कल्याणकी चिन्ता करें। मनुष्य जिस समय कल्याण विषयमें मन लगाता है, तभी उसके सब प्रयोजन निःसन्देह सिद्ध होते हैं। (४-७)

अन्तर्यामी रूपसे एकमात्र शासनकर्त्ता वर्त्तमान है, दूसरा कोई भी शास्ता नहीं है। जो गर्भशय्यामें सोये हुए पुरुषको शासित करता है, मैं उसहीके जरिये नियुक्त हुआ हूं, और जैसे जल नीचेकीही ओर जाता है, वैसी ही जिस भांति नियुक्त हुआ हूं, उसही प्रकार कार्यभार ढोता हूं। बंध और मोक्ष इन दोनोंमें तत्वज्ञानसे मोक्ष ही श्रेष्ठ और गरिष्ठ है, इसे जानकर भी मोक्ष और साधनके लिये शमदम आदि विषयोंमें यत्न नहीं कर सकता; धर्मयुक्त और अधर्मविहित आशामें वशीभूत होकर समय बिताते हुए शास्ताके जरिये जिस प्रकार नियुक्त हुआ हूं, उसही भांति कार्यभार ढोया करता हूं। (८-९)

भवितव्यं यथा यच्च भवत्येव तथा तथा ॥ १० ॥
यत्र यत्रैव संयुक्तो धात्रा गर्भे पुनः पुनः ।
तत्र तत्रैव वसति न यत्र स्वयमिच्छति ॥ ११ ॥
भावो योऽयमनुप्राप्तो भवितव्यमिदं मम ।
इति यस्य सदा भावो न स मुह्येत्कदाचन ॥ १२ ॥
पर्यायैर्हन्यमानानामभियोक्ता न विद्यते ।
दुःखमेतत्तु यद् द्वेष्टा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ १३ ॥
ऋषींश्च देवांश्च महासुरांश्च त्रैविद्यवृद्धांश्च वने मुनींश्च ।
कान्नापदो नोपनमन्ति लोके परावरज्ञास्तु न संभ्रमन्ति ॥ १४ ॥
न पण्डितः क्रुद्ध्यति नाभिपद्यते न चापि संसीदति न प्रहृष्यति ॥
न चार्थकृच्छ्रव्यसनेषु शोचते स्थितः प्रकृत्या हिमवानिवाचलः ॥ १५ ॥
यमर्थसिद्धिः परमा न मोहयेत्तथैव काले व्यसनं न मोहयेत् ।
सुखं च दुःखं च तथैव मध्यमं निषेवते यः स धुरंधरो नरः ॥ १६ ॥

मनुष्योंको जो जिस प्रकारसे प्राप्त होनेवाला है, वह उसही भांतिसे प्राप्त होता है; होनहार विषय जो जिस प्रकारसे होनेवाला होता है, वह उसही प्रकार हुआ करता है, विधाता जिन जिन गर्भोंमें जीवोंको वार वार नियुक्त करता है, जीव उसमेंही निवास करते हैं स्वयं जिसकी इच्छा करते हैं, वह सिद्ध नहीं होता। "मेरा ऐसाही भवितव्य था, ऐसा ही होगा," जिनके अन्तःकरणमें ऐसे भाव सदा जागृत होरहे हैं, वे कभी मोहित नहीं होते, कालक्रमसे उपस्थित दुःख सुखके जरिये हन्यमान मनुष्योंका अभियोगकर्त्ता कोई भी नहीं है। मनुष्य दुःखके विषयमें द्वेष करते हुए "मैंही कर्त्ता हूं।" इस प्रकार जो अभिमान किया करते हैं, वही दुःख है। ऋषि, देवता, महासुर, तीनों वेदोंके जाननेवाले ब्राह्मणों और वनवासी मुनियोंके निकट भी सब आपदा उपस्थित होती हैं, जिन्होंने सदसत् वस्तुओंको विशेष रूपसे जाना है वेही भयभीत नहीं होते। (१०-१४)

पण्डित पुरुष क्रुद्ध नहीं होते; विषयोंमें आसक्त नहीं होते; विपद्में दुःखी, सम्पत्में सन्तुष्ट और अर्थकृच्छ्रात् विपद उपस्थित होनेपर शोक नहीं करते; वे स्वभावसेही हिमाचलकी तरह अटलभावसे स्थित रहते हैं। सब प्रयोजनोंकी सिद्धि जिसे हर्षित नहीं कर सकती, और समय पर उपस्थित हुई विपद् भी जिसे दुःखित नहीं कर सकती; जो

यां यामवस्थां पुरुषोऽधिगच्छेत्तस्यां रमेतापरितप्यमानः ।
एवं प्रवृद्धं प्रणुदन्मनोजं संतापमायासकरं शरीरात् ॥ १७ ॥
न तत्सदः सत्परिषत्सभा च सा प्राप्य यां न कुरुते सदा भयम् ।
धर्मतत्त्वमवगाह्य बुद्धिमान्योऽभ्युपैति स धुरंधरः पुमान् ॥ १८ ॥
प्राज्ञस्य कर्माणि दुरन्वयानि न वै प्राज्ञो मुह्यति मोहकाले ।
स्थानाच्च्युतश्चेन्न मुमोह चोत्तमस्तावत्कृच्छ्रामापदं प्राप्य वृद्धः ॥ १९ ॥
न मन्त्रबलवीर्येण प्रज्ञया पौरुषेण च ।
न शीलेन न वृत्तेन तथा नैवार्थसम्पदा ।
अलभ्यं लभते मर्त्यस्तत्र का परिदेवना ॥ २० ॥
यदेवमनुजातस्य धातारो विदधुः पुरा ।
तदेवानुचरिष्यामि किं मे मृत्युः करिष्यति ॥ २१ ॥
लब्धव्यान्येव लभते गन्तव्यान्येव गच्छति ।
प्राप्तव्यान्येव चाप्नोति दुःखानि च सुखानि च ॥ २२ ॥

सुख दुःखको समान भावसे सेवन करते हैं, उन्हीं मनुष्योंको धुरन्धर कहा जाता है। पुरुषको जिस समय जो अवस्था प्राप्त होवे, शोक न करके उसमेंही सन्तुष्ट रहे और सन्तापकारी आयासकर प्रवृद्ध कामको शरीरसे दूर करे। श्रौत, स्मार्त्त, लौकिक न्याय अन्यायको विचारनेवाली ऐसी कोई जनसमाज नहीं है जिसमें प्रवेश करके मनुष्य सदा भय भीत न हो; इससे जो पुरुष दुरवगाह धर्मतत्वमें स्नान करते हुए उसे प्राप्त करे, उसेही सभ्य समाजके बीच धुरन्धर कहना चाहिये। (१५-१८)

धर्मतत्त्व ही अत्यन्त दुरवगाह है, तब इसमें सन्देहही क्या है, कि ब्रह्मतत्त्व उससे भी दुष्प्रवेश्य है। बुद्धिमान् पुरुषोंके सब कार्य परिणाममें भी दुर्ज्ञेय हैं, जो बुद्धिमान् होते हैं, वे कभी मोहके समयमें मुग्ध नहीं होते। हे अहल्यापति वृद्ध गौतम! यदि तुम कष्टकरी विषम विपद्में पडते और पदच्युत होते, तो क्या मुग्ध न होते? मन्त्र, बल, बुद्धि, वीर्य, पौरुष, शील, सदाचार और अर्थसम्पत्तिसे मनुष्य कभी अलभ्य वस्तु प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता, इसलिये उसके लिये शोकका क्या प्रयोजन है। विधाताने पहले मनुष्यके सम्बन्धमें जो विधान किया है, उसे वही भोग करना पडेगा, मैं भी विधिकृत कार्यका अनुसरण करूंगा, मृत्यु मेरा क्या करेगी, मनुष्य प्राप्त होनेवाली वस्तुओंकोही पाता है, जाने

एतद्विदित्वा कार्त्स्न्येन यो न मुह्यति मानवः।
कुशली सर्वदुःखेषु स वै सर्वधनो नरः ॥ २३ ॥ [८१०४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शक्रनमुचिसंवादो नाम षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२६ ॥

युधिष्ठिर उवाच— मग्नस्य व्यसने कृच्छ्रे किं श्रेयः पुरुषस्य हि।
बन्धुनाशे महीपाल राज्यनाशेऽथवा पुनः ॥ १ ॥
त्वं हि नः परमो वक्ता लोकेऽस्मिन् भरतर्षभ।
एतद्भवन्तं पृच्छामि तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

भीष्म उवाच— पुत्रदारैः सुखैश्चैव वियुक्तस्य धनेन वा।
मग्नस्य व्यसने कृच्छ्रे धृतिः श्रेयस्करी नृप ॥ ३ ॥
धैर्येण युक्तं सततं शरीरं न विशीर्यते।
विशोकता सुखं धत्ते धत्ते चारोग्यमुत्तमम् ॥ ४ ॥
आरोग्याच्च शरीरस्य स पुनर्विन्दते श्रियम्।
यश्च प्राज्ञो नरस्तात सात्त्विकीं वृत्तिमास्थितः ॥ ५ ॥
तस्यैश्वर्यं च धैर्यं च व्यवसायश्च कर्मसु।
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ॥ ६ ॥

योग्य स्थानमें ही जाता है और प्राप्त होनेवाले सुख दुःखही प्राप्त होते हैं। जो मनुष्य इन सब विषयोंको पूर्ण रीतिसे जानके मोहित नहीं होते, वे सब दुःखदायक विषयोंमें भी सुखी और सर्वप्रधान करके विख्यात हुआ करते हैं। (१९-२३)

शान्तिपर्वमें २२६ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २२७ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भरतकुलप्रवर पितामह! बन्धुनाश अथवा राज्यनाश रूप कष्टकारी विपद्में पडे हुए पुरुषके पक्षमें कल्याण क्या है? आपही इस लोकमें हम लोगोंके बीच परमवक्ता हैं इसलिये मैं आपसे यह विषय पूछता हूं आप विस्तारपूर्वक वर्णन करिये। (१-२)

भीष्म बोले, हे राजन्! स्त्री, पुत्र, सुख और वित्तहीन मनुष्योंके कष्टकारी विपद्में पडनेसे धीरज ही उनके लिये कल्याणकारी होता है, सदा धैर्ययुक्त शरीर कदापि विशीर्ण नहीं होता, शोकराहित्य सुख और आरोग्यमें श्रेष्ठ कारण है, शरीरका आरोग्य रहनेपर मनुष्य फिर धन प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। हे तात! जो बुद्धिमान् मनुष्य सात्त्विकी वृत्ति अवलम्बन करते हैं, उनके

बलिवासवसंवादं पुनरेव युधिष्ठिर।
वृत्ते देवासुरे युद्धे दैत्यदानवसङ्क्षये ॥ ७ ॥
विष्णुक्रान्तेषु लोकेषु देवराजे शतक्रतौ।
इज्यमानेषु देवेषु चातुर्वर्ण्ये व्यवस्थिते ॥ ८ ॥
समृद्ध्यमाने त्रैलोक्ये प्रीतियुक्ते स्वयम्भुवि।
रुद्रैर्वसुभिरादित्यैरश्विभ्यामपि चार्षिभिः ॥ ९ ॥
गन्धर्वैर्भुजगेन्द्रैश्च सिद्धैश्चान्यैर्वृतः प्रभुः।
चतुर्दन्तं सुदान्तं च वारणेन्द्रं श्रिया वृतम्।
आरुह्यैरावतं शक्रस्त्रैलोक्यमनुसंययौ ॥ १० ॥
स कदाचित्समुद्रान्ते कस्मिंश्चिद्गिरिगह्वरे।
बलिं वैरोचनिं वज्री ददर्शोपससर्प च ॥ ११ ॥
तमैरावतमूर्धस्थं प्रेक्ष्य देवगणैर्वृतम्।
सुरेन्द्रमिन्द्रं दैत्येन्द्रो न शुशोच न विव्यथे ॥ १२ ॥
दृष्ट्वा तमविकारस्थं तिष्ठन्तं निर्भयं बलिम्।
अधिरूढो द्विपश्रेष्ठमित्युवाच शतक्रतुः ॥ १३ ॥
दैत्य न व्यथसे शौर्यादथवा वृद्धसेवया।

ऐश्वर्य धीरज और सब कार्य सिद्ध होते हैं। हे धर्मराज! इस विषयमें फिर बलि और इन्द्रके संवादयुक्त इस प्राचीन इतिहासका प्रमाण दिया जाता है। दैत्यदानवोंके नाशक देवासुर-संग्राम समाप्त होनेपर सब लोक विष्णुसे आक्रान्त और देवराज शतक्रतु हुए, देवताओंके यज्ञ करनेसे ब्राह्मण आदि चारों वर्ण व्यवस्थापित हुए, तीनों लोक समृद्धिवान् और स्वयम्भू ब्रह्मा प्रीतियुक्त हुए; रुद्रगण, वसुवृन्द, दोनों अश्विनीकुमार, देवर्षि, गन्धर्व, भुजगेन्द्र और सिद्ध समूहोंसे घिरे हुए देवराजने चार दांतवाले, अत्यन्त दान्त, शोभायुक्त ऐरावत गजराजपर चढके तीनों लोकोंमें घूमनेके लिये प्रस्थान किया। (३–१०)

उन्होंने किसी समय समुद्रके किनारे-पर किसी पहाडकी गुफामें विरोचनपुत्र बलिको देखा और देखते ही उसके निकट उपस्थित हुए। राजा बलि सुर-राज इन्द्रको ऐरावतपर चढे और देवता ओंसे घिरे देखकर शोकार्त्त वा व्यथित नहीं हुए। इन्द्र ऐरावतपर चढे रहके अविकृत और अभीतभावसे स्थित बलि-को देखकर यह वचन बोले कि, हे

तपसा भावितत्वाद्वा सर्वथैतत्सुदुष्करम् ॥ १४ ॥
शत्रुभिर्वशमानीतो हीनः स्थानादनुत्तमात् ।
वैरोचने किमाश्रित्य शोचितव्ये न शोचसि ॥ १५ ॥
श्रैष्ठ्यं प्राप्य स्वजातीनां महाभोगाननुत्तमान् ।
हृतस्वरत्नराज्यस्त्वं ब्रूहि कस्मान्न शोचसि ॥ १६ ॥
ईश्वरो हि पुरा भूत्वा पितृपैतामहे पदे ।
तत्त्वमद्य हृतं दृष्ट्वा सपत्नैः किं न शोचसि ॥ १७ ॥
बद्धश्च वारुणैः पाशैर्वज्रेण च समाहतः ।
हृतदारो हृतधनो ब्रूहि कस्मान्न शोचसि ॥ १८ ॥
नष्टश्रीर्विभवभ्रष्टो यन्न शोचसि दुष्करम् ।
त्रैलोक्यराज्यनाशे हि कोऽन्यो जीवितुमुत्सहेत् ॥१९ ॥
एतच्चान्यच्च पुरुषं ब्रुवन्तं परिभूय तम् ।
श्रुत्वा सुखमसंभ्रान्तो बलिर्वैरोचनोऽब्रवीत् ॥ २० ॥

बलिरुवाच— निगृहीते मयि भृशं शक्र किं कत्थितेन ते ।

दैत्यराज ! तुम जो ऐसी अवस्थामें भी व्यथित नहीं होते हो, उसमें शूरता अथवा वृद्धसेवा तथा तपस्यासे प्राप्त हुआ तत्वज्ञान कारण हुआ है। जो हो यह सब तरहसे अत्यन्त दुष्कर कार्य है। हे विरोचनपुत्र ! तुम शत्रुओंके वशीभूत और परम श्रेष्ठ पदसे भ्रष्ट होकर किसका सहारा करके शोचितव्य विषयोंमें शोक नहीं करते हो। तुमने स्वजनोंके बीच श्रेष्ठता और अत्यन्त उत्कृष्ट भोगोंको प्राप्त किया था, फिर शत्रुओंके जरिये तुम्हारा धन, रत्न और राज्य छीना गया, तौभी तुम किसलिये शोक नहीं करते हो उसे कहो। (११-१६)

पहले तुम पिता, पितामह पदके ईश्वर हुए थे, अब शत्रुओंके जरिये उस पैतृकपदके छीने जानेपर क्यों नहीं शोक करते हो। तुम वरुण-पाशसे बद्ध, वज्रसे घायल, स्त्री और रत्न हरे जानेपर भी किस कारण शोकरहित होरहे हो, उसे कहो। तुम श्रीहीन और विभवसे भ्रष्ट होके भी जो शोकरहित होरहे हो, यह अत्यन्त दुष्कर कार्य है। क्यों कि तीनों लोकोंका राज्य नष्ट होनेपर तुम्हारे विना दूसरा कौन पुरुष जीवित रहनेका उत्साह करेगा। इन्द्र बलिको पराजित करके इसी प्रकार तथा दूसरी भांति कडुए वचन कह रहे थे, उस समय विरोचनपुत्र बलि ऊपर कहे हुए वचनको अनायास ही सुनके निर्भय

वज्रमुद्यम्य तिष्ठन्तं पश्यामि त्वां पुरन्दर ॥ २१ ॥
अशक्तः पूर्वमासीस्त्वं कथंचिच्छक्ततां गतः।
कस्त्वदन्य इमां वाचं सुक्रूरां वक्तुमर्हति ॥ २२ ॥
यस्तु शत्रोर्वशस्थस्य शक्तोऽपि कुरुते दयाम्।
हस्तप्राप्तस्य वीरस्य तं चैव पुरुषं विदुः ॥ २३ ॥
अनिश्चयो हि युद्धेषु द्वयोर्विवदमानयोः।
एकः प्राप्नोति विजयमेकश्चैव पराजयम् ॥ २४ ॥
मा च ते भूत्स्वभावोऽयमिति ते देवपुङ्गव।
ईश्वरः सर्वभूतानां विक्रमेण जितो बलात् ॥ २५ ॥
नैतदस्मत्कृतं शक्र नैतच्छक्र कृतं त्वया।
यत्त्वमेवङ्गतो वज्रिन्यद्वाऽप्येवङ्गता वयम् ॥ २६ ॥
अहमासं यथाऽद्य त्वं भविता त्वं यथा वयम्।
मावमंस्था मया कर्म दुष्कृतं कृतमित्युत ॥ २७ ॥
सुखदुःखे हि पुरुषः पर्यायेणाधिगच्छति।
पर्यायेणाऽसि शक्रत्वं प्राप्तः शक्र न कर्मणा ॥ २८ ॥

होकर कहने लगे। (१७-२०)

बलि बोले, हे इन्द्र! मैं जब निगृहीत हुआ हूं तब तुम्हें अब विकत्थना करनेका क्या प्रयोजन है; तुम वज्र लेके खडे हो, उसे मैं देखता हूं। पहले तुम असमर्थ थे, इस समय कुछ समर्थ हुए हो तुम्हारे अतिरिक्त कौन पुरुष इस प्रकार अत्यन्त निष्ठुर वचन कह सकता है। जो पुरुष समर्थ होके भी शत्रुके वशमें पडे हुए करतलगत वीरके ऊपर दया करता है, बुद्धिमान् लोग उसे ही पुरुष समझते हैं। युद्ध करनेमें तत्पर दोनोंके बीच जयका निश्चय नहीं है, क्यों कि दोनोंके बीच एककी विजय और एक पुरुषकी पराजय हुआ करती है। हे सुरेश्वर! "सर्वभूतोंके ईश्वरको मैंने जय किया है," —तुम्हें ऐसी घमंड न होवे। (२१-२५)

हे वज्रधर! तुम जो ऐसी अवस्थायुक्त हुए हो, वह तुम्हारा किया नहीं है और मैं जो ऐसी अवस्थामें निवास करता हूं, यह भी मेरा कृत नहीं है, इस समय तुम जैसी अवस्थामें हो, मैं पहले वैसाही था और इस समय मैं जिस प्रकार निवास करता हूं, भविष्यकालमें तुम उस ही प्रकार होगे! मुझसे कुछ पापकर्म हुआ है, ऐसा समझके तुम मेरी अवज्ञा मत करो, हे देवराज!

कालः काले नयति मां त्वां च कालो नयत्ययम् ।
तेनाहं त्वं यथा नाथ त्वं चापि न यथा वयम् ॥ २९ ॥
न मातृपितृशुश्रूषा न च दैवतपूजनम् ।
नान्यो गुणसमाचारः पुरुषस्य सुखावहः ॥ ३० ॥
न विद्या न तपो दानं न मित्राणि न बान्धवाः ।
शक्नुवन्ति परित्रातुं नरं कालेन पीडितम् ॥ ३१ ॥
नागामिनमनर्थं हि प्रतिघातशतैरपि ।
शक्नुवन्ति प्रतिव्योढुमृते बुद्धिबलान्नराः ॥ ३२ ॥
पर्यायैर्हन्यमानानां परित्राता न विद्यते ।
इदं तु दुःखं यच्छक्र कर्ताऽहमिति मन्यसे ॥ ३३ ॥
यदि कर्ता भवेत्कर्ता न क्रियेत कदाचन ।
यस्मात्तु क्रियते कर्ता तस्मात्कर्ताऽप्यनीश्वरः ॥ ३४ ॥
कालेनाहं त्वमजयं कालेनाहं जितस्त्वया ।
गन्ता गतिमतां कालः कालः कलयति प्रजाः ॥ ३५ ॥
इन्द्र प्राकृतया बुद्ध्या प्रलयं नावबुद्ध्यसे ।

पुरुष कालक्रमसे सुख दुःख भोग करता है, काल-क्रमसे ही तुमने इन्द्रत्व प्राप्त किया है, कर्मके जरिये तुम्हें इस इन्द्रत्व पदकी प्राप्ति नहीं हुई है। कालने मुझे वशीभूत किया है, इसहीसे मैं इस समय तुम्हारी भांति समृद्धिशाली नहीं हूं, तुम भी मेरे समान अवस्थामें नहीं पडे हो। (२६-२९)

मातापिताकी सेवा, देवताओंकी पूजा और दूसरे गुण पुरुषके विषयमें सुखदायक नहीं हैं; विद्या, तपस्या, दान, मित्र और बान्धव लोग काल-पीडित पुरुषको परित्राण करनेमें समर्थ नहीं होते। मनुष्य लोग बुद्धिबलके अतिरिक्त सैकडों उपायसे भी आने-वाली विपद्को निवारण करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। कालक्रमसे हन्यमान मनुष्योंको परित्राण करनेवाला कोई भी नहीं है। हे इन्द्र ! तुम जो ऐसा अभि-मान करते हो, कि "मैं कर्त्ता हूं" यही दुःख है। पुरुष यदि कर्त्ता हो, तो वह कभी किसीका कृत न होसके; इसलिये कर्त्ता जब कृत होता है, तब ईश्वरके अतिरिक्त और कोई भी कर्त्ता नहीं है। (३०-३४)

कालक्रमसे मैंने तुम्हें जीता था, और कालके अनुसार तुमने मुझे जय किया है। कालही सबकी गति है, और कालने

केचित्त्वां बहु मन्यन्ते श्रैष्ठ्यं प्राप्तं स्वकर्मणा ॥ ३६ ॥
कथमस्मद्विधो नाम जानन् लोकप्रवृत्तयः ।
कालेनाभ्याहतः शोचेन्मुह्येद्वाप्यथ विभ्रमेत् ॥ ३७ ॥
नित्यं कालपरीतस्य मम वा मद्विधस्य वा ।
बुद्धिर्व्यसनमासाद्य भिन्ना नौरिव सीदति ॥ ३८ ॥
अहं च त्वं च ये चान्ये भविष्यन्ति सुराधिपाः ।
ते सर्वे शक्र यास्यन्ति मार्गमिन्द्रशतैर्गतम् ॥ ३९ ॥
त्वामप्येवं सुदुर्धर्षं ज्वलन्तं परया श्रिया ।
काले परिणते कालः कालयिष्यति मामिव ॥ ४० ॥
बहूनीन्द्रसहस्राणि दैवतानां युगे युगे ।
अभ्यतीतानि कालेन कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ४१ ॥
इदं तु लब्ध्वा संस्थानमात्मानं बहु मन्यसे ।
सर्वभूतभवं देवं ब्रह्माणमिव शाश्वतम् ॥ ४२ ॥
न चेदमचलं स्थानमनन्तं वाऽपि कस्यचित् ।
त्वं तु बालिशया बुद्ध्या ममेदमिति मन्यसे ॥ ४३ ॥

ही सब प्रजाको संकलन कर रखा, हे देवराज ! तुम साधारण बुद्धिके वशमें होकर प्रलयके विषयको नहीं मालूम करते हो; तुमने निज कर्मसे उत्कर्ष लाभ किया है, ऐसा जानके कोई कोई तुम्हारा अत्यन्त आदर किया करते हैं, मेरे समान पुरुष लोकप्रवृत्तिको जानके कालपीडित होनेपर क्यों शोक करेंगे; किस लिये ही मुग्ध होंगे । किस कारणसे ही व्याकुल हुआ करेंगे, मैं अथवा मेरे समान पुरुष यदि सदा ही कालपीडित हों, तो मैं अथवा मेरे समान पुरुषोंकी बुद्धि भिन्न नौकाकी भांति अवसन्न हो सकती है । (३४-३८)

हे वासव ! मैं, वा तुम अथवा दूसरे जो सुराधिपत्य लाभ करेंगे, सैकडों इन्द्र जिस मार्गसे गये हैं, उन्हें भी वही मार्ग अवलम्बन करना पडेगा । तुम परम श्रीसम्पन्न होकर इस समय ऐसे दुर्द्धर्ष होरहे हो, समय उपस्थित होनेपर काल मेरी भांति तुम्हें भी वशीभूत करेगा । युग युगमें कई हजार इन्द्र हुए थे, वे भी कालके वशमें होकर समाप्त हो गये, इसलिये कालको कोई अतिक्रम नहीं कर सकता । काल अत्यन्त दुरतिक्रम है । तुम यह सम्पत्ति पाके अपने को सर्वभूतभावन ब्रह्माके समान समझ रहे हो; परन्तु यह इन्द्रत्व पद

अविश्वस्ते विश्वसिषि मन्यसे वाऽध्रुवे ध्रुवम् ।
नित्यं कालपरीतात्मा भवत्येवं सुरेश्वर ॥ ४४ ॥
ममेयमिति मोहात्त्वं राजश्रियमभीप्ससि ।
नेयं तव न चास्माकं न चान्येषां स्थिरा सदा ॥ ४५॥
अतिक्रम्य बहूनन्यांस्त्वयि तावदियं गता ।
कंचित्कालमियं स्थित्वा त्वयि वासव चञ्चला ॥ ४६ ॥
गौर्निवासमिवोत्सृज्य पुनरन्यं गमिष्यति ।
राजलोका ह्यतिक्रान्ता यान्न संख्यातुमुत्सहे ॥ ४७ ॥
त्वत्तो बहुतराश्चान्ये भविष्यन्ति पुरन्दर ।
सवृक्षौषधिरत्नेयं सहसत्त्ववनाकरा ॥ ४८ ॥
तानिदानीं न पश्यामि यैर्भुक्तेयं पुरा मही ।
पृथुरैलो मयो भीमो नरकः शम्बरस्तथा ॥ ४९ ॥
अश्वग्रीवः पुलोमा च स्वर्भानुरमितध्वजः ।
प्रह्लादो नमुचिर्दक्षो विप्रचित्तिर्विरोचनः ॥ ५० ॥
ह्रीनिषेवः सुहोत्रश्च भूरिहा पुष्पवान् वृषः ।

किसीके पक्षमें अचल और अनन्त नहीं है; तुम मूढतासे ही ऐसा समझते हो कि " यह मेरा है " तुम अविश्वस्त विषयमें विश्वास करते हो, और अनित्य वस्तुको नित्य समझते हो। (३९-४४)

हे सुरेश्वर ! कालसे आक्रान्त पुरुष सदा इस ही प्रकार हुआ करते हैं। " यह राज्यश्री मेरी है " ऐसा समझके तुम मोहके वशमें होकर कामना करते हो, परन्तु यह श्री तुम्हारे वा हमारे अथवा किसीके भी निकट स्थिर नहीं रहती। हे वासव ! इस चञ्चला श्रीने बहुतेरे पुरुषोंको अतिक्रम करके इस समय तुम्हें अवलम्बन किया है, परन्तु कुछ समय तुम्हारे निकट रहके फिर इस प्रकार दूसरेके समीप चली जायगी, जैसे गऊ एक निवासको त्यागके निवासान्तरमें गमन करती है। हे पुरन्दर ! कई सौ राजा गुजर गये, उनकी गिनती करनेकी सामर्थ्य नहीं है, तुमसे भी श्रेष्ठ बहुतेरे पुरुष भविष्यमें इन्द्रत्व लाभ करेंगे। (४४-४८)

वृक्ष, औषधी, रत्न, जीव जन्तु, वन और आकर (खान) युक्त इस पृथ्वीको पहले जिन्होंने भोग किया था, इस समय उन्हें नहीं देखता हूं। पृथु, ऐल, मय, भीम, नरक, शम्बर, अश्वग्रीव, पुलोमा, स्वर्भानु, अमितध्वज, प्रह्लाद,

सत्येषुर्ऋषभो बाहुः कपिलाश्वो विरूपकः ॥ ५१ ॥
बाणः कार्तस्वरो वह्निर्विश्वदंष्ट्रोऽथ नैर्ऋतिः ।
सङ्कोचोऽथ वरीताक्षो वराहाश्वो रुचिप्रभः ॥ ५२ ॥
विश्वजित्प्रतिरूपश्च वृषाण्डो विष्करो मधुः ।
हिरण्यकशिपुश्चैव कैटभश्चैव दानवः ॥ ५३ ॥
दैतेया दानवाश्चैव सर्वे ते नैर्ऋतैः सह ।
एते चान्ये च बहवः पूर्वे पूर्वतराश्च ये ॥ ५४ ॥
दैत्येन्द्रा दानवेन्द्राश्च यांश्चान्याननुशुश्रुम ।
बहवः पूर्वदैत्येन्द्राः संत्यज्य पृथिवीं गताः ॥ ५५ ॥
कालेनाभ्याहताः सर्वे कालो हि बलवत्तरः ।
सर्वैः क्रतुशतैरिष्टं न त्वमेकः शतक्रतुः ॥ ५६ ॥
सर्वे धर्मपराश्चासन् सर्वे सततसत्रिणः ।
अन्तरिक्षचराः सर्वे सर्वेऽभिमुखयोधिनः ॥ ५७ ॥
सर्वे संहननोपेताः सर्वे परिघबाहवः ।
सर्वे मायाशतधराः सर्वे ते कामरूपिणः ॥ ५८ ॥
सर्वे समरमासाद्य न श्रूयन्ते पराजिताः ।
सर्वे सत्यव्रतपराः सर्वे कामविहारिणः ॥ ५९ ॥

नमुचि, दक्ष, विप्रचित्ति, विरोचन, ह्रीनिषेव, सुहोत्र, भूरिहा, पुष्पवान्, वृष, सत्येषु, ऋषभ, बाहु, कपिलाश्व, विरूपक, बाण, कार्त्तस्वर, वह्नि, विश्वदंष्ट्र, नैर्ऋति, संकोच, वरीताक्ष, वराहाश्व, रुचिप्रभ, विश्वजित्, प्रतिरूप, वृषाण्ड, विष्कर, मधु, हिरण्यकशिपु और कैटभ आदि ये समस्त दैत्य दानव और राक्षस लोग तथा इनके अतिरिक्त दूसरे बहुतेरे प्राचीन दैत्येन्द्र वा दानवेन्द्र जिनका कि नाममात्र सुना करता हूं; वैसे बहुतेरे पहले समयके दानवेन्द्र लोग कालपीडित होकर पृथ्वी त्यागके चले गये; इसलिये कालही बलवान् है। इन सबने ही एक एक सौ अश्वमेघ यज्ञ की थीं, तुम्हीं केवल शतक्रतु नहीं हो, ये सभी धर्मपरायण थे, सभी सदा यज्ञ करते और वे सब कोई आकाशमें विचर सकते थे, वे सब कोई सम्मुख युद्धमें समर्थ थे; सभी समरसंयुक्त, परिघबाहु, मायावी और कामरूपी थे। (४८—५८)

सुना जाता है, ये सब कोई युद्धमें उपस्थित होकर पराजित नहीं होते थे,

सर्वे वेदव्रतपराः सर्वे चैव बहुश्रुताः ।
सर्वे संमतमैश्वर्यमीश्वराः प्रतिपेदिरे ॥ ६० ॥
न चैश्वर्यमदस्तेषां भूतपूर्वो महात्मनाम् ।
सर्वे यथार्हदातारः सर्वे विगतमत्सराः ॥ ६१ ॥
सर्वे सर्वेषु भूतेषु यथावत्प्रतिपेदिरे ।
सर्वे दाक्षायणीपुत्राः प्राजापत्या महाबलाः ॥ ६२ ॥
ज्वलन्तः प्रतपन्तश्च कालेन प्रतिसंहृताः ।
त्वं चैवेमां यदा भुक्त्वा पृथिवीं त्यक्ष्यसे पुनः ॥ ६३॥
न शक्ष्यसि तदा शक्र नियन्तुं शोकमात्मनः ।
मुञ्चेच्छां कामभोगेषु मुञ्चेमं श्रीभवं मदम् ॥ ६४ ॥
एवं स्वराज्यनाशे त्वं शोकं संप्रसहिष्यसि ।
शोककाले शुचो मा त्वं हर्षकाले च मा हृषः ॥ ६५ ॥
अतीतानागतं हित्वा प्रत्युत्पन्नेन वर्तय ।
मां चेदभ्यागतः कालः सदा युक्तमतन्द्रितः ॥ ६६ ॥
क्षमस्व न चिरादिन्द्र त्वामप्युपगमिष्यति ।

सब ही सत्यव्रतसे युक्त, कामविहारी, वेदव्रतनिष्ठ और बहुश्रुत थे; सबने ही राजेश्वर होकर योगैश्वर्य प्राप्त किये थे; परन्तु उन महानुभावोंको पहले कभी ऐश्वर्यका मद नहीं हुआ था। वे सब कोई यथायोग्य याचकोंको दान करते थे, सभी सब प्राणियोंके विषयमें यथा उचित करुणा करते थे। वे सब कोई दाक्षायणी दिति और दनु तथा प्रजापति कश्यपके पुत्र थे; वे लोग तेज और प्रतापयुक्त रहनेपर भी कालसे प्रतिसंहृत हुए हैं। (५९-६२)

हे देवराज! जब तुम इस पृथ्वीको भोग करके फिर परित्याग करोगे, तब निज शोक रोकनेमें समर्थ न होगे, इसलिये अभीसे कामभोग विषयकी वासना त्याग दो; इस ऐश्वर्यका गर्व मत करो; ऐसा करनेसे तुम निज राज्य-नाश होनेके समय शोकको सहनेमें समर्थ होगे। तुम शोकके समय शोक मत करो और हर्षके समय हर्षित न होना; अतीत और अनागत विषयोंको त्यागके प्रत्युत्पन्न विषयके सहारे जीवन विताओ। (६३-६६)

हे देवेन्द्र! यदि अतन्द्रित काल मेरे सदा योगमें रत रहनेपर भी हमारे निकट आया है, तो शीघ्रही थोडेही समयके बीच तुम्हारे समीप भी उपस्थित

त्रासयन्निव देवेन्द्र वाग्भिस्तक्षसि मामिह ॥ ६७ ॥
संयते मयि नूनं त्वमात्मानं बहु मन्यसे ।
कालः प्रथममायान्मां पश्चात्त्वामनुधावति ॥ ६८ ॥
तेन गर्जसि देवेन्द्र पूर्वं कालहते मयि ।
को हि स्थातुमलं लोके मम क्रुद्धस्य संयुगे ॥ ६९ ॥
कालस्तु बलवान्प्राप्तस्तेन तिष्ठसि वासव ।
यत्तद्वर्षसहस्रान्तं तूर्णं भवितुमर्हति ॥ ७० ॥
यथा मे सर्वगात्राणि न सुस्थानि महौजसः ।
अहमैन्द्राच्च्युतः स्थानात्त्वमिन्द्रः प्रकृतो दिवि ॥७१॥
सुचित्रे जीवलोकेऽस्मिन्नुपास्यः कालपर्ययात् ।
किं हि कृत्वा त्वमिन्द्रोऽद्य किं वा कृत्वा वयं च्युताः ॥७२॥
कालः कर्ता विकर्ता च सर्वमन्यदकारणम् ।
नाशं विनाशमैश्वर्यं सुखं दुःखं भवाभवौ ॥ ७३ ॥
विद्वान्प्राप्यैवमत्यर्थं न प्रहृष्येन्न च व्यथेत् ।
त्वमेव हीन्द्र वेत्थास्मान्वेदाहं त्वां च वासव ॥ ७४ ॥

होगा; तुम समयकी प्रतीक्षा करो । हे देवेन्द्र ! इस समय तुम वचनव्यूहके जरिये मानो मुझे डराते हुए गर्ज रहे हो, मैं संयत हुआ हूं, इसहीसे तुम अपनी बडाई करते हो, कालने पहले मुझे आक्रमण किया है, अब तुम्हारे पीछे दौड रहा है, हे देवराज ! मैं अगाडी कालसे पीडित हुआ हूं, इसही कारण तुम गर्ज रहे हो। (६६-६९)

हे वासव ! मेरे संग्राममें क्रुद्ध होनेपर कौन मेरे सम्मुख निवास करनेमें समर्थ होता, बलवान् कालने मुझे आक्रमण किया है, इसही कारणसे तुम मेरे सम्मुखमें खडे होरहे हो। यह सहस्र वर्ष प्रायः पूर्ण हुआ, पर मेरा सब शरीर तबतक अच्छी तरह सुस्थ नहीं हुआ । मैं इन्द्रत्व पदसे च्युत हुआ हूं, तुम सुरलोकमें प्रकृत इन्द्र हुए हो, यही विचित्र है; जीवलोकके बीच कालक्रमसे तुम उपास्य होरहे हो । तुम क्या कर्म करके इस समय इन्द्र हुए और मैं ही कौनसे कर्मके जरिये इन्द्रत्व पदसे च्युत हुआ। (६९-७२)

कालही कर्ता और विकारकर्ता है, दूसरा कोई भी कारण नहीं है, विद्वान् पुरुष नाश, विनाश, ऐश्वर्य, सुख, दुःख, जन्म और मृत्यु लाभसे अत्यन्त हर्षित और दुःखित नहीं होते । हे वासव !

किं कत्थसे मां किं च त्वं कालेन निरपत्रप।
त्वमेव हि पुरा वेत्थ यत्तदा पौरुषं मम ॥ ७५ ॥
समरेषु च विक्रान्तं पर्याप्तं तन्निदर्शनम्।
आदित्याश्चैव रुद्राश्च साध्याश्च वसुभिः सह ॥ ७६ ॥
मया विनिर्जिताः पूर्वं मरुतश्च शचीपते।
त्वमेव शक्र जानासि देवासुरसमागमे ॥ ७७ ॥
समेता विबुधा भग्नास्तरसा समरे मया।
पर्वताश्चासकृत्क्षिप्ताः सवनाः सवनौकसः ॥ ७८ ॥
सटङ्कशिखरा भग्नाः समरे मूर्ध्नि ते मया।
किं तु शक्यं मया कर्तुं कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ७९ ॥
न हि त्वां नोत्सहे हन्तुं सवज्रमपि मुष्टिना।
न तु विक्रमकालोऽयं क्षमाकालोऽयमागतः ॥ ८० ॥
तेन त्वां मर्षये शक्र दुर्मर्षणतरस्त्वया।
तं मां परिणते काले परीतं कालवह्निना ॥ ८१ ॥
नियतं कालपाशेन बद्धं शक्र विकत्थसे।

तुम मुझे जानते हो, मैंभी तुम्हें जानता हूं। हे निर्लज्ज! इससे तुम कालक्रमसे उन्नत होकर क्यों मेरी निन्दा कर रहे हो, पहले समयमें मेरा जो पौरुष था वह तुमसे छिपा नहीं है; मैं युद्धमें पर्याप्त परिमाणसे जो विक्रम प्रकाश करता था, वही उसमें प्रमाण है। हे शचीपति! पहले समयमें आदित्य, रुद्र, साध्य, वसु और मरुद्गण मेरे सम्मुखमें विशेष रीतिसे पराजित हुए थे। (७३—७७)

हे वासव! तुम तो जानते हो, कि देवासुर संग्राममें इकट्ठे हुए सब देवता लोग मेरे बलविक्रमके प्रभावसे रणभूमि छोडके भागे थे। मैंने ही वन और वनवासियोंके सहित सब पर्वतोंको बार बार उठाया था और युद्धमें तुम्हारे सिरके ऊपर पत्थरके टूकडोंके सहित पहाडोंके शिखरोंको फेंका था; इस समय क्या करूं, काल अत्यन्त दुरतिक्रम है। क्या मैं वज्रके सहित तुम्हें मुष्टिप्रहारसे नाश करनेका उत्साह नहीं करता, परन्तु यह विक्रम प्रकाश करनेका समय नहीं है, क्षमाकाल उपस्थित हुआ है। हे देवराज! इसही लिये तुम मेरे विषयमें क्षमा नहीं करते हो, तौभी मैं तुम्हारे विषयमें क्षमा करता हूं। हे वासव! काल परिणत

अयं स पुरुषः श्यामो लोकस्य दुरतिक्रमः ॥ ८२ ॥
बद्ध्वा तिष्ठति मां रौद्रः पशुं रशनया यथा ।
लाभालाभौ सुखं दुःखं कामक्रोधौ भवाभवौ ॥ ८३ ॥
वधबन्धप्रमोक्षं च सर्वं कालेन लभ्यते ।
नाहं कर्ता न कर्ता त्वं कर्ता यस्तु सदा प्रभुः ॥ ८४ ॥
सोऽयं पचति कालो मां वृक्षे फलमिवागतम् ।
यान्येव पुरुषः कुर्वन् सुखैः कालेन युज्यते ॥ ८५ ॥
पुनस्तान्येव कुर्वाणो दुःखैः कालेन युज्यते ।
न च कालेन कालज्ञः स्पृष्टः शोचितुमर्हति ॥ ८६ ॥
तेन शक्र न शोचामि नास्ति शोके सहायता ।
यदा हि शोचतः शोको व्यसनं नापकर्षति ॥ ८७ ॥
सामर्थ्यं शोचतो नास्तीत्यतोऽहं नाद्य शोचिमि ।
एवमुक्तः सहस्राक्षो भगवान्पाकशासनः ॥ ८८ ॥
प्रतिसंहृत्य संरम्भमित्युवाच शतक्रतुः ।

होनेसे मैं कालानलसे घिरा और सदा कालपाशसे बद्ध होरहा हूं, इसही कारण तुम मेरे समीप बडाई करते हो। (७७—८२)

यह वही सब लोकोंसे दुरतिक्रम श्यामवर्ण रौद्र पुरुष रसरीमें बन्धे हुए पशुकी भांति मुझे बान्धके निवास कर रहा है। लाभ, हानि, सुख, दुःख, काम, क्रोध, जन्म, मृत्यु, वध, बन्धन और मोक्ष आदि सब काल-वशसेही प्राप्त हुआ करते हैं। मैं कर्ता नहीं हूं, तुम भी कर्ता नहीं हो; जो सदा निग्रहा-निग्रहमें समर्थ है, वही कर्त्ता है, वही काल-रूपी कर्ता मुझे वृक्ष-स्थित फलकी भांति पका रहा है। पुरुष जिन सब कर्मोंको करते हुए काल-वशसे सुखयुक्त होता है, कालक्रमसे फिर उन्हीं कर्मोंको करके दुःखयुक्त हुआ करता है। हे वासव! समयज्ञ पुरुषका कालस्पर्श होनेपर शोक करना उचित नहीं है। इस ही लिये मैं शोक नहीं करता, शोक कभी दुःख-निवारणका कारण नहीं है। (८२-८७)

शोक करनेसे जब वह शोक दुःख दूर नहीं कर सकता, तब जो शोक करता है, उसे भी कुछ सामर्थ्य नहीं है, इसही निमित्त मैं इस समय शोक नहीं करता। भगवान् सहस्रलोचन पाकशासन शतक्रतु बलिका ऐसा वचन सुनके क्रोधको रोकके यह वचन बोले, कि

सवज्रमुद्यतं बाहुं दृष्ट्वा पाशांश्च वारुणान् ॥ ८९ ॥
कस्येह न व्यथेद् बुद्धिर्मृत्योरपि जिघांसतः।
सा ते न व्यथते बुद्धिरचला तत्त्वदर्शिनी ॥ ९० ॥
ध्रुवं न व्यथसेऽद्य त्वं धैर्यात्सत्यपराक्रम।
को हि विश्वासमर्थेषु शरीरे वा शरीरभृत् ॥ ९१ ॥
कर्तुमुत्सहते लोके दृष्ट्वा संप्रस्थितं जगत्।
अहमप्येवमेवैनं लोकं जानाम्यशाश्वतम् ॥ ९२ ॥
कालाग्नावाहितं घोरे गुह्ये सततगेऽक्षरे।
नचात्र परिहारोऽस्ति कालस्पृष्टस्य कस्यचित् ॥ ९३ ॥
सूक्ष्माणां महतां चैव भूतानां परिपच्यताम्।
अनीशस्याप्रमत्तस्य भूतानि पचतः सदा ॥ ९४ ॥
अनिवृत्तस्य कालस्य क्षयं प्राप्तो न मुच्यते।
अप्रमत्तः प्रमत्तेषु कालो जागर्ति देहिषु ॥ ९५ ॥
प्रयत्नेनाप्यपक्रान्तो दृष्टपूर्वो न केनचित्।
पुराणः शाश्वतो धर्मः सर्वप्राणभृतां समः ॥ ९६ ॥
कालो न परिहार्यश्च न चास्यास्ति व्यतिक्रमः।

वज्रके सहित उद्यत बाहु और वरुणपाशको देखकर दूसरेकी बात तो दूर रहे, जिघांसु अन्तककी बुद्धि भी व्यथित हुआ करती है, हे सत्यपराक्रमी! तुम्हारी तत्त्वदर्शिनी अचलबुद्धि व्यथित नहीं होती, इससे निश्चय बोध होता है, कि तुम इस समय धैर्यके सहारे दुःखी नहीं हो, इस लोकमें कौन शरीरधारी पुरुष जगत्को प्रस्थित देखकर विषय वा शरीरमें विश्वास करनेका उत्साह करेगा। गुह्यतम सततगामी अक्षर घोर कालाग्निमें पडे हुए लोगोंको मैं भी इस ही प्रकार अनित्य समझता हूं; इस संसारमें सूक्ष्म अथवा महत् परिपाक अवस्थामें पडे हुए भूतोंके बीच काल जिसे स्पर्श करता है, उसे नहीं छोडता, स्वयं समर्थ, अप्रमत्त, सदा प्राणियोंको पकानेवाले, अनिवृत्त कालके वशमें पडे हुए पुरुष नहीं छूटते; अप्रमत्त काल अनवहित देहधारियोंके निकट जागृत है; ऐसा कभी नहीं देखा गया, कि किसी पुरुषने विशेष यत्न करके भी कालको अतिक्रम किया। (८७-९६)

प्राचीन नित्य धर्म सब प्राणियोंके पक्षमें समान है, काल किसीको भी परिहार्य नहीं है, और इस कालका

अहोरात्रांश्च मासांश्च क्षणान्काष्ठा लवान्कलाः ॥९७॥
संपीडयति यः कालो वृद्धिं वार्धुषिको यथा ।
इदमद्य करिष्यामि श्वः कर्ताऽस्मीति वादिनम् ॥९८॥
कालो हरति संप्राप्तो नदीवेग इव द्रुमम् ।
इदानीं तावदेवासौ मया दृष्टः कथं मृतः ॥ ९९ ॥
इति कालेन ह्रियतां प्रलापः श्रूयते नृणाम् ।
नश्यन्त्यर्थास्तथा भोगाः स्थानमैश्वर्यमेव च ॥ १०० ॥
जीवितं जीवलोकस्य कालेनागम्य नीयते ।
उच्छ्राया विनिपातान्ता भावोऽभावः स एव च ॥१०१
अनित्यमध्रुवं सर्वं व्यवसायो हि दुष्करः ।
सा ते न व्यथते बुद्धिरचला तत्त्वदर्शिनी ॥ १०२ ॥
अहमासं पुरा चेति मनसाऽपि न बुद्ध्यते ।
कालेनाक्रम्य लोकेऽस्मिन् पच्यमाने बलीयसा ॥ १०३ ॥
अज्येष्ठमकनिष्ठं च क्षिप्यमाणो न बुद्ध्यते ।
ईर्ष्याभिमानलोभेषु कामक्रोधभयेषु च ॥ १०४ ॥

कभी व्यतिक्रम नहीं होता । जैसे ऋण देनेवाला व्याज संग्रह करता है, वैसेही काल दिन, रात, महीना, क्षण, कला, काष्ठा और लव, इन सबकोही पिण्डीकृत कर रहा है, जैसे नदीका वेग किनारेपर स्थित वृक्षोंको हरण करता है, वैसेही काल उपस्थित होकर "मैं आज यह करूंगा कल्ह इस प्रकार करूंगा," इस ही प्रकारकी आशामें फंसे हुए पुरुषोंको हरण किया करता है । "मैंने अभी इसे देखा था, यह किस प्रकार मरा ?" कालसे ह्रियमाह मनुष्योंके सदा इस ही प्रकार विलाप सुनाई देते हैं । अर्थ, भोग, पद, शौर्य, ऐश्वर्य आदि सभी नष्ट हुआ करते हैं। काल आगमन करके जीवोंका जीवन हर ले जाता है । (९६–१०१)

उन्नतिका विनिपात ही समाप्ति है, जो है, वह अभाव-स्वरूप है; सब विषय अनित्य और अनिश्चित हैं, इनका निश्चय करना ही अत्यन्त दुष्कर है। तुम्हारी वह तत्त्वदर्शिनी अचल बुद्धि व्यथित नहीं हुई, "मैं पहले ऐसा था" उसे तुम मनमें भी आलोचना नहीं करते । बलवान् काल इस लोकमें सबसे ज्येष्ठ और सबसे कनिष्ठ सभीको आक्रमण करके पका रहा है । पर जो आक्रान्त होता है, वह उसे नहीं समझ

स्पृहामोहाभिमानेषु लोकः सक्तो विमुह्यति।
भवांस्तु भावतत्त्वज्ञो विद्वान् ज्ञानतपोऽन्वितः ॥१०५॥
कालं पश्यति सुव्यक्तं पाणावामलकं यथा।
कालचारित्रतत्त्वज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ॥ १०६ ॥
विवेचने कृतात्मासि स्पृहणीयो विजानताम्।
सर्वलोको ह्ययं मन्ये बुद्ध्या परिगतस्त्वया ॥ १०७ ॥
विहरन्सर्वतो मुक्तो न क्वचित्परिषज्जसे।
रजश्च हि तमश्च त्वां स्पृशते न जितेन्द्रियम् ॥१०८॥
निष्प्रीतिं नष्टसंतापमात्मानं त्वमुपाससे।
सुहृदं सर्वभूतानां निर्वैरं शान्तमानसम् ॥ १०९ ॥
दृष्ट्वा त्वां मम संजाता त्वय्यनुक्रोशिनी मतिः।
नाहमेतादृशं बुद्धं हन्तुमिच्छामि बन्धने ॥ ११० ॥
आनृशंस्यं परो धर्मो ह्यनुक्रोशश्च मे त्वयि।
मोक्ष्यन्ते वारुणाः पाशास्तवेमे कालपर्ययात् ॥ १११ ॥
प्रजानामुपचारेण स्वस्ति तेऽस्तु महासुर।

सकता। ईर्षा, अभिमान, लोभ, काम क्रोध, स्पृहा, मोह, मान आदिमें फंसे हुए लोग ही मोहित हुआ करते हैं। (१०१-१०५)

हे विरोचनपुत्र! तुम आत्मतत्त्वज्ञ, विद्वान्, ज्ञानवान् और तपोनिष्ठ होकर करतलस्थित आमलक फलकी भांति भली प्रकार कालको देखते हो; तुम सब शास्त्रोंके जाननेवाले होकर कालके चरित्र और तत्त्व जानते हो, तुम शुद्ध-बुद्धि और ज्ञानियोंके स्पृहणीय हो; मैं समझता हूं, तुमने ज्ञानबलसे इन सब लोकोंको देखा है; तुम सर्वसङ्गसे मुक्त होकर समय बिताते हुए किसी विषयमें भी आसक्त नहीं हुए हो, तुमने इन्द्रियोंको जीता है, इससे रजोगुण और तमोगुण तुम्हें स्पर्श नहीं कर सकते। तुम प्रीतिरहित तथा दुःखहीन आत्माकी उपासना करते हो; तुम सब भूतोंके सुहृद, वैरहीन और शान्तचित्त हुए हो, तुम्हें देखकर मेरी बुद्धि तुम्हारे विषयमें दयायुक्त हुई है, मैं ऐसे ज्ञानयुक्त पुरुषको बन्धनमें रखके मारनेकी अभिलाषा नहीं करता। (१०५-११०)

अनृशंसताही परम धर्म है, तुम्हारे ऊपर मुझे ऐसी ही करुणा हुई है; इसलिये कालक्रमसे तुम इन सब वरुण-पाशोंसे छूट जाओगे। हे महासुर! प्रजा-

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्य.
१ आदिपर्व	(१ से ११)	११	११२५	६) छः रु.	१।)
२ सभापर्व	(१२ " १५)	४	३५६	२।। अढाई	।।।
३ वनपर्व	(१६ " ३०	१५	१५३८	८) आठ	१।।)
४ विराटपर्व	(३१ " ३३	३	३०६	२ दो	।।
५ उद्योगपर्व	३४ " ४२	९	९५३	५ पांच	१।)
६ भीष्मपर्व	(४३ " ५०	८	८००	४।।) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	(५१ " ६४)	१४	१३६४	९।। साढेनौ	१।)
८ कर्णपर्व	(६५ " ७०)	६	६३७	३।। साढेतीन	।।)
९ शल्यपर्व	(७१ " ७४)	४	४३५	२।।) अढाई	।।।
१० सौप्तिकपर्व	(७५	१	१०४	।।। बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	(७६)	१	१०८	।।।) " "	।)
१२ शान्तिपर्व ।					
राजधर्मपर्व	(७७ " ८३)	७	६९४	४ चार	।।
आपद्धर्मपर्व	८४ " ८५)	२	२३२	१।। डेढ	।।।
मोक्षधर्मपर्व	(८६ " ९६)	११	११००	६) छः	१।)
१३ अनुशासन	(९७ " १०७	११	१०७६	६) छः	१।)
१४ आश्वमेधिक	(१०८ " १११)	४	४००	२।।) अढाई	।।)
१५ आश्रमवासिक	११२	१	१४८	१) एक	।)
१६-१७ १८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहण।	(११३)	१	१०८	१) एक	।

सूचना—ये सब पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री-स्वाध्याय मंडल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

REGISTERED NO. B. 1819

[शांतिपर्व अंक १२]

महाभारत

भाषा-भाष्य-समेत

संपादक-श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल, औंध, जि. सातारा

१२ अंकोंका मूल्य म. आ. से. ६) और वी.पी. से ७) विदेशके लिये ८)

यदा श्वश्रूं स्नुषा वृद्धां परिचारेण योक्ष्यते ॥ ११२ ॥
पुत्रश्च पितरं मोहात्प्रेषयिष्यति कर्मसु।
ब्राह्मणैः कारयिष्यन्ति वृषलाः पादधावनम् ॥११३॥
शूद्राश्च ब्राह्मणीं भार्यामुपयास्यन्ति निर्भयाः।
वियोनिषु विमोक्ष्यन्ति बीजानि पुरुषा यदा ॥११४॥
सङ्करं कांस्यभाण्डैश्च बलिं चैव कुपात्रकैः।
चातुर्वर्ण्यं यदा कृत्स्नममर्यादं भविष्यति ॥ ११५ ॥
एकैकस्ते तदा पाशः क्रमशः परिमोक्ष्यते।
अस्मत्तस्ते भयं नास्ति समयं प्रतिपालय ॥
सुखी भव निराबाधः स्वस्थचेता निरामयः ॥११६॥
तमेवमुक्त्वा भगवाञ्छतक्रतुः प्रतिप्रयातो गजराजवाहनः।
विजित्य सर्वानसुरान्सुराधिपो ननन्द हर्षेण बभूव चैकराट् ॥११७॥
महर्षयस्तुष्टुवुरञ्जसा च तं वृषाकपिं सर्वचराचरेश्वरम्।
हिमापहो हव्यमुवाह चाध्वरे तथाऽमृतं चार्पितमीश्वरोऽपि हि ॥११८॥
द्विजोत्तमैः सर्वगतैरभिष्टुतो विदीप्ततेजा गतमन्युरीश्वरः।

समूहके अत्याचारसे तुम्हारा मङ्गल होवे; जब पुत्रवधू प्राचीन सासको सेवा करनेमें नियुक्त करेगी, पुत्र मोहवशसे पिताको कार्य करनेमें प्रेरणा करेगा, चाण्डाल लोग ब्राह्मणोंसे पैर धुलावेंगे, शूद्र लोग निर्भय होकर ब्राह्मणी भार्यासे सङ्गत होंगे, पुरुष विरुद्ध योनिमें बीज डालेंगे, कांसपात्रके सङ्ग और कुत्सितपात्रके जरिये पूजाके उपहारका व्यवहार करेंगे, चारों वर्णोंकी समस्त व्यवस्था जब मर्यादारहित होगी, उस समय क्रमसे तुम्हारे एक एक पाश छूटेंगे; मुझसे तुम्हें भय नहीं है, तुम समय प्रतिपालन करो; निरामय स्वस्थचित्त और दुःखरहित होके सुखी रहो। (१११-११६)

गजराजवाहन भगवान् पाकशासनने बलिसे ऐसा कहके प्रस्थान किया, वह सब असुरोंको जीतके सुराधिप और अद्वितीय अधीश्वर होकर हर्षके सहित आनन्दित हुए। महर्षि लोग सहसा उपस्थित होकर उस सब चराचरोंके ईश्वर इन्द्रकी स्तुति करने लगे। हिमापह हव्यवाह अध्वरसे हव्य ढोनेमें प्रवृत्त हुए, ईश्वर भी अर्पित अमृत धारण करने लगे। सत्रस्थित द्विजोत्तमोंसे प्रशंसित दीप्ततेजस्वी सुरराज उस समय मन्युहीन, प्रशान्तचित्त और हर्षित

प्रशान्तचेता मुदितः स्वमालयं त्रिविष्टपं प्राप्य मुमोद वासवः ॥११९॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बलिवासवसंवादे सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२७ ॥ [८२२३]

युधिष्ठिर उवाच— पूर्वरूपाणि मे राजन्पुरुषस्य भविष्यतः ।
पराभविष्यतश्चैव तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति ।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः ॥ २ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
श्रिया शक्रस्य संवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ ३ ॥
महतस्तपसो व्युष्टया पश्यँल्लोकौ परावरौ ।
सामान्यमृषिभिर्गत्वा ब्रह्मलोकनिवासिभिः ॥ ४ ॥
ब्रह्मेवामितदीप्तौजाः शान्तपाप्मा महातपाः ।
विचचार यथाकामं त्रिषु लोकेषु नारदः ॥ ५ ॥
कदाचित्प्रातरुत्थाय पिस्पृक्षुः सलिलं शुचि ।
ध्रुवद्वारभवां गङ्गां जगामावततार च ॥ ६ ॥
सहस्रनयनश्चापि वज्री शम्बरपाकहा ।

होकर निज स्थान सुरलोकमें जाके आनन्दित हुए। (११७-११९)

शान्तिपर्वमें २२७ अध्याय।

शान्तिपर्वमें २२८ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! भावी उन्नति और अवनतिशील पुरुषोंके पूर्वलक्षण क्या हैं? आप मेरे समीप उसे वर्णन करिये। (१)

भीष्म बोले, हे राजन्! तुम्हारा मङ्गल हो; मनही मनुष्योंकी भावी उन्नति और अवनतिके लक्षणको प्रकाश किया करता है। हे युधिष्ठिर! पुराने लोग इस विषयमें लक्ष्मी और इन्द्रके संवादयुक्त इस प्राचीन इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं, तुम उसे सुनो। ब्रह्माकी तरह अपरिमित और प्रदीप्त तेजस्वी शान्तपाप महातपस्वी नारदने महातप समृद्धिके प्रभावसे परावर दोनों लोकोंको देखते हुए ब्रह्मलोकनिवासी ऋषियोंके सङ्ग मिलकर इच्छानुसार तीनों लोकोंके बीच भ्रमण किया था। (२-५)

किसी समय वह सबेरे ही उठके पवित्र जलको स्पर्श करनेकी इच्छा करके ध्रुवद्वारसे उत्पन्न गङ्गाके समीप जाके उसमें उतरे। इधर शम्बरवैरी

तस्या देवर्षिजुष्टायास्तीरमभ्याजगाम ह ॥ ७ ॥
तावाप्लुत्य यतात्मानौ कृतजप्यौ समासतः ।
नद्याः पुलिनमासाद्य सूक्ष्मकाञ्चनवालुकम् ॥ ८ ॥
पुण्यकर्मभिराख्याता देवर्षिकथिताः कथाः ।
चक्रतुस्तौ तथाऽऽसीनौ महर्षिकथितास्तथा ॥ ९ ॥
पूर्ववृत्तव्यपेतानि कथयन्तौ समाहितौ ।
अथ भास्करमुद्यन्तं रश्मिजालपुरस्कृतम् ॥ १० ॥
पूर्णमण्डलमालोक्य तावुत्थायोपतस्थतुः ।
अभितस्तूदयन्तं तमर्कमर्कमिवापरम् ॥ ११ ॥
आकाशे ददृशे ज्योतिरुद्यतार्चिःसमप्रभम् ।
तयोः समीपं तं प्राप्तं प्रत्यदृश्यत भारत ॥ १२ ॥
तत्सुपर्णार्करचितमास्थितं वैष्णवं पदम् ।
भाभिरप्रतिमं भाति त्रैलोक्यमवभासयत् ॥ १३ ॥
तत्राऽभिरूपशोभाभिरप्सरोभिः पुरस्कृताम् ।
बृहतीमंशुमत्प्रख्यां बृहद्भानोरिवार्चिषम् ॥ १४ ॥
नक्षत्रकल्पाभरणां तां मौक्तिकसमस्रजम् ।

वज्रधारी सहस्र नेत्रवाले पाकशासनने उस देवर्षिसेवित गंगाके तीरपर आगमन किया, वे दोनों स्थिर चित्तवाले गंगामें स्नान करके संक्षेपसे जप समाप्त करते हुए सूक्ष्म सुवर्णमय वालुसे युक्त पुलिन में पहुंचे, वहां पहुंचके दोनों ही बैठकर पुण्यकर्म करनेवाले महर्षियों और देवर्षियोंकी कही हुई सब कथाकी आलोचना करने लगे । उन्होंने समाहित होकर बीते हुए पूर्ववृत्तान्तोंको कहते कहते किरणोंसे युक्त पूर्णमण्डल सूर्यको उदय होते देखकर दोनोंने उठके उसकी उपासना की । (६-११)

अनन्तर आकाशमें उदय होते हुए सूर्यके सम्मुख दूसरे सूर्यके समान उद्यत आर्चि समान प्रभायुक्त एक ज्योति दीख पडी । हे भारत ! वह ज्योति उन लोगोंके निकट आने लगी। सुपर्ण और सूर्यके स्वभावशाली उस ज्योतिने आकाश तलको अवलम्बन करके प्रभापुञ्जके सहारे अनुपम भावसे प्रकाशित होकर तीनों लोकोंको प्रकाशयुक्त किया । उन्होंने उस ज्योतिके बीच परम सुन्दरतायुक्त अप्सराओंसे वेष्टित, बृहद्भानुकी बृहती अंशुमती नामी किरणकी भांति, तारा सदृश, आभूषणधारिणी

श्रियं ददृशतुः पद्मां साक्षात्पद्मदलस्थिताम् ॥ १५ ॥
साऽवरुह्य विमानाग्रादङ्गनानामनुत्तमा ।
अभ्यागच्छत्त्रिलोकेशं देवर्षिं चापि नारदम्॥ १६ ॥
नारदानुगतः साक्षान्मघवांस्तामुपागमत् ।
कृताञ्जलिपुटो देवीं निवेद्यात्मानमात्मना ॥ १७ ॥
चक्रे चानुपमां पूजां तस्याश्चापि स सर्ववित् ।
देवराजः श्रियं राजन् वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ १८ ॥

शक्र उवाच— का त्वं केन च कार्येण संप्राप्ता चारुहासिनि ।
कुतश्चागम्यते सुभ्रु गन्तव्यं क्व च ते शुभे ॥ १९ ॥

श्रीरुवाच— पुण्येषु त्रिषु लोकेषु सर्वे स्थावरजङ्गमाः ।
ममात्मभावमिच्छन्तो यतन्ते परमात्मना ॥ २० ॥
साहं वै पङ्कजे जाता सूर्यरश्मिविबोधिते ।
भूत्यर्थं सर्वभूतानां पद्मा श्रीः पद्ममालिनी ॥ २१ ॥
अहं लक्ष्मीरहं भूतिः श्रीश्चाहं बलसूदन ।
अहं श्रद्धा च मेधा च सन्नतिर्विजितिः स्थितिः ॥२२॥
अहं धृतिरहं सिद्धिरहं त्वद्भूतिरेव च ।

मुक्ताहारसे युक्त साक्षात् कमलाको कमलदलके बीच बैठी हुई देखा। अंगनाओंमें अग्रगण्य वह देवी विमानके अग्रभागसे उतरकर त्रिलोकनाथ इन्द्र और देवर्षि नारदके सम्मुख उपस्थित हुई, देवराजने स्वयं देवर्षिके सहित देवीके समीप जाके आत्मसमर्पण करके परम आदरके सहित उसकी पूजा की और पूजा करनेके अनन्तर वह सर्वविद् सुरराज देवीसे यह वचन कहने लगे। (११–१८)

इन्द्र बोले, हे चारुहासिनी तुम कौन हो; किस कार्यके लिये इस स्थानमें आई हो? हे सुभ्रु! हे शुभे! तुम कहांसे आई हो, और कहां जाओगी? १९

लक्ष्मी बोली, हे बलसूदन! पवित्र तीनों लोकके बीचमें स्थावर जङ्गम सब जीव मेरे सहित आत्मीयताकी अभि- लाष करते हुए परम आदरके सहित मुझे यत्न करते हैं, मैं सब प्राणियोंके समृद्धिके निमित्त सूर्यकिरणके सहारे फूले हुए कमलपुष्पके बीच उत्पन्न हुई हूं। मुझे सब कोई पद्मा, श्री और पद्ममालिनी कहा करते हैं। मैंही लक्ष्मी, मैंही सम्पत्ति, मैंही श्री, मैंही श्रद्धा, मेधा, उन्नति, विजिती और स्थिति हूं;

अहं स्वाहा स्वधा चैव सन्नतिर्नियतिः स्मृतिः ॥ २३ ॥
राज्ञां विजयमानानां सेनाग्रेषु ध्वजेषु च ।
निवासे धर्मशीलानां विषयेषु पुरेषु च ॥ २४ ॥
जितकाशिनि शूरे च संग्रामेष्वनिवर्तिनि ।
निवसामि मनुष्येन्द्रे सदैव बलसूदन ॥ २५ ॥
धर्मनित्ये महाबुद्धौ ब्रह्मण्ये सत्यवादिनि ।
प्रश्रिते दानशीले च सदैव निवसाम्यहम् ॥ २६ ॥
असुरेष्ववसं पूर्वं सत्यधर्मनिबन्धना ।
विपरीतांस्तु तान् बुद्ध्वा त्वयि वासमरोचयम् ॥२७॥

शक्र उवाच— कथंवृत्तेषु दैत्येषु त्वमवात्सीर्वरानने ।
दृष्ट्वा च किमिहागास्त्वं हित्वा दैतेयदानवान् ॥ २८ ॥

श्रीरुवाच— स्वधर्ममनुतिष्ठत्सु धैर्यादचलितेषु च ।
स्वर्गमार्गाभिरामेषु सत्त्वेषु निरता ह्यहम् ॥ २९ ॥
दानाध्ययनयज्ञेज्यापितृदैवतपूजनम् ।
गुरूणामतिथीनां च तेषां सत्यमवर्तत ॥ ३० ॥

मैंही धृति सिद्धि और भूति हूं, मैं ही स्वाहा, स्वधा, सन्नति, नियति और स्मृति हूं। हे बलनाशन ! मैं विजयी राजाओंकी सेनाके अगाडी और ध्वजा-समूहमें, धर्मशील मनुष्योंके राज्य, नगर और निवासस्थान तथा युद्धमें न हटनेवाले जयलक्षणयुक्त शूर राजाओंके निकट सदा निवास किया करती हूं। धर्ममें रत महामति, ब्रह्मनिष्ठ, सत्यवादी, विनयी और दानशील मनुष्योंके निकट मैं सर्वदा ही वास करती हूं। पहले मैंने सत्य-धर्ममें बद्ध होकर असुरोंके समीप वास किया था; अब उन लोगोंको विपरीत समझके तुम्हारे निकट वास करनेकी इच्छा करती हूं। (२०—२७)

इन्द्र बोले, हे वरानने ! दैत्य दानवोंके किस प्रकार चरित्रको देखकर तुम उनके निकट वास करती थी, और इस समय उन लोगोंको किस प्रकार देखकर उन्हें त्यागके इस स्थानमें आई हो ? (२८)

लक्ष्मी बोली, जो लोग निज धर्मका अनुष्ठान करते, धीरजसे विचलित नहीं होते और स्वर्गमार्गमें जानेके लिये अनुरक्त रहते हैं मैं उनके ऊपर प्रीति किया करता हूं। और जो लोग दान, अध्ययन, यज्ञ, देवता, पितर, गुरु और अ-

सुसंमृष्टगृहाश्चासन् जितस्त्रीका हुताग्नयः ।
गुरुशुश्रूषका दान्ता ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ॥ ३१ ॥
श्रद्दधाना जितक्रोधा दानशीलाऽनसूयवः ।
भृतपुत्रा भृतामात्या भृतदारा ह्यनीर्षवः ॥ ३२ ॥
अमर्षेण न चान्योऽन्यं स्पृहयन्ते कदाचन ।
न च जातूपतप्यन्ति धीराः परसमृद्धिभिः ॥ ३३ ॥
दातारः संग्रहीतार आर्याः करुणवेदिनः ।
महाप्रसादा ऋजवो दृढभक्ता जितेन्द्रियाः ॥ ३४ ॥
संतुष्टभृत्यसचिवाः कृतज्ञाः प्रियवादिनः ।
यथार्हमानार्थकरा ह्रीनिषेवा यतव्रताः ॥ ३५ ॥
नित्यं पर्वसु सुस्नाताः स्वनुलिप्ताः स्वलंकृताः ।
उपवासतपःशीलाः प्रतीता ब्रह्मवादिनः ॥ ३६ ॥
नैनानभ्युदियात्सूर्यो न चाप्यासन् प्रगेशयाः ।
रात्रौ दधि च सक्तूंश्च नित्यमेव व्यवर्जयन् ॥ ३७ ॥

तिथियोंकी पूजा करते हैं, मैं उनके निकट सदा निवास करती हूं। पहले दानवोंके सब गृह सुमार्जित थे, वे लोग स्त्रियोंको वशमें रखते थे, अग्निमें आहुति देते थे। गुरुसेवामें तत्पर रहते, इन्द्रियोंको जय करनेमें सावधान थे; वे लोग ब्रह्मनिष्ठ, सत्यवादी, श्रद्धावान्, क्रोधको जीतनेवाले और दानशील थे, किसीकी असूया नहीं करते थे। (२९-३२)

स्त्री, पुत्र और सेवकोंका पालन पोषण करते थे, किसीके विषयमें ईर्षा करना नहीं जानते थे; डाहके वशमें होकर कभी आपसमें शत्रुता नहीं करते थे, वे लोग धीर थे, इसहीसे दूसरेकी समृद्धि देखकर कातर नहीं होते थे, वे सभी आर्यचरितसम्पन्न, दाता, सञ्चयी, दीनोंके विषयमें दयालु, अत्यन्त कृपा करनेवाले, सरलस्वभाव, दृढभक्त और जितेन्द्रिय थे। उनके सब सेवक और अमात्य सन्तुष्ट रहते थे, वे सब कृतज्ञ और प्रियभाषी थे; जिसका जैसा सम्मान था, उसहीके अनुसार उसे धन देते थे; सभी लज्जाशील और यतव्रत थे। नियमित रीतिसे पर्वके समय स्नान करते थे; उत्तम रीतिसे अनुलिप्त और और अलंकृत रहते थे, वे लोग उपवास और तपस्यामें रत, विश्वस्त तथा ब्रह्मवादी थे। (३२-३६)

सूर्य इन लोगोंकी नींद भङ्ग होनेके पहले उदय नहीं होता था, ये लोग

कल्यं घृतं चान्ववेक्षन्प्रयता ब्रह्मवादिनः।
मङ्गल्यान्यपि चापश्यन् ब्राह्मणांश्चाप्यपूजयन् ॥ ३८ ॥
सदा हि वदतां धर्मं सदाचाऽप्रतिगृह्णताम्।
अर्धं च रात्र्याः स्वपतां दिवा चास्वपतां तथा ॥ ३९॥
कृपणानाथवृद्धानां दुर्बलातुरयोषिताम्।
दयां च संविभागं च नित्यमेवाऽन्वमोदताम् ॥ ४० ॥
त्रस्तं विषण्णमुद्विग्नं भयार्तं व्याधितं कृशम्।
हृतस्वं व्यसनार्तं च नित्यमाश्वासयन्ति ते ॥ ४१ ॥
धर्ममेवान्ववर्तन्त न हिंसन्ति परस्परम्।
अनुकूलाश्च कार्येषु गुरुवृद्धोपसेविनः ॥ ४२ ॥
पितॄन्देवातिथींश्चैव यथावत्तेऽभ्यपूजयन्।
अवशेषाणि चाश्नन्ति नित्यं सत्यतपोधृताः ॥ ४३ ॥
नैकेऽश्नन्ति सुसंपन्नं न गच्छन्ति परस्त्रियम्।
सर्वभूतेष्ववर्तन्त यथाऽऽत्मनि दयां प्रति ॥ ४४ ॥

कोई भी सवेरेके समय शयन नहीं करते थे; रात्रिके समय दही और सत्तूका भोजन सदा परिवर्जित करते थे। भोरमें घृत देखकर प्रणत होकर परब्रह्मके ध्यानमें रत रहते थे, मङ्गलमय वस्तुओंको देखते ब्राह्मणोंका सम्मान करनेमें विरक्त नहीं होते थे। जो लोग सदा धर्मवादी, अप्रतिग्राही, आधी रातमें सोनेवाले थे और दिनमें शयन नहीं करते थे उन लोगोंके और दीन हीन, अनाथ, आतुर, बूढे, निर्बल, अबला और अनुमोदन करनेवाले पुरुषोंके विषयमें सदा दया और दान करते थे; त्रासित, दुःखित, व्याकुल, भयसे आर्त, व्याधित, कृश, हृतसर्वस्व और विपदमें पडे हुए पुरुषोंको वे लोग सदा धीरज देते थे। (३७-४१)

वे लोग धर्मका अनुसरण करके चलते थे, आपसमें कोई किसीकी हिंसा नहीं करते थे; सब कार्योंमें ही अनुकूल थे; वृद्ध और गुरुजनोंकी सेवा तथा देवता, पितर और अतिथियोंकी यथा उचित पूजा करते थे, वे लोग सदा सत्यनिष्ठ और तपमें रत रहके देवता, पितर और अतिथियोंसे बचे हुए अन्नको भोजन करनेमें यत्नवान् रहते थे। वे लोग अकेले ही उत्तम सिद्ध अन्न भोजन नहीं करते थे, परस्त्रीके शरीरको छूनेमें पाप समझते थे, अपनी भांति सब जीवोंमें दया करते थे; अनावृत

नैवाकाशे न पशुषु वियोनौ च न पर्वसु।
इन्द्रियस्य विसर्गं ते रोचयन्ति कदाचन ॥ ४५ ॥
नित्यं दानं तथा दाक्ष्यमार्जवं चैव नित्यदा।
उत्साहोऽथानहंकारः परमं सौहृदं क्षमा ॥ ४६ ॥
सत्यं दानं तपः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।
मित्रेषु चानभिद्रोहः सर्वं तेष्वभवत्प्रभो ॥ ४७ ॥
निद्रा तन्द्रीरसंप्रीतिरसूयाऽथानवेक्षिता।
अरतिश्च विषादश्च स्पृहा चाप्यविशन्न तान् ॥ ४८ ॥
साऽहमेवंगुणेष्वेव दानवेष्ववसं पुरा।
प्रजासर्गमुपादाय नैकं युगविपर्ययम् ॥ ४९ ॥
ततः कालविपर्यासे तेषां गुणविपर्ययात्।
अपश्यं निर्गतं धर्मं कामक्रोधवशात्मनाम् ॥ ५० ॥
सभासदां च वृद्धानां सतां कथयतां कथाः।
प्राहसन्नभ्यसूयंश्च सर्ववृद्धान्गुणावराः ॥ ५१ ॥
युवानश्च समासीना वृद्धानपि गतान्सतः।
नाभ्युत्थानाभिवादाभ्यां यथापूर्वमपूजयन् ॥ ५२ ॥

स्थानमें, पर्वदिनमें पशुयोनि अथवा दूसरी कोई विरुद्ध योनिमें इन्द्रिय स्खलन करनेकी कभी इच्छा नहीं करते थे। हे सुरराज! सदा दान, दक्षता, सरलता, उत्साह, अहंकारहीनता, परम सुहृदता, क्षमा, सत्य, दान, तपस्या, शौच, करुणा, निष्ठुरतारहित वचन और मित्रोंके विषयमें अद्रोह आदि जो सब गुण हैं, उन लोगोंमें वे सभी थे। (४२-४७)

निद्रा, तन्द्रा, अप्रीति, असूया, अधीनवेक्षिता, अरति, विषाद, और स्पृहा उन लोगोंके निकट प्रवेश नहीं कर सकती थी। सृष्टि प्रारम्भ होनेपर प्रतियुगमें ही मैं इसी प्रकार गुणयुक्त दानवोंके स्थानमें वास करती थी, अनन्तर कालक्रमसे गुणोंमें विपर्यय होनेके कारण मैंने उन लोगोंको काम-क्रोधके वशमें देखा, धर्मने उन लोगोंको परित्याग किया। वे लोग सामाजिक साधु वृद्धोंके वचनको लेकर आन्दोलन करने लगे; अपकृष्ट पुरुष प्राचीन पुरुषोंका उपहास और असूया करनेमें प्रवृत्त हुए; बैठे हुए युवा पुरुषोंने पहलेकी भांति अभ्यागत साधु और वृद्धोंको देखकर उठके प्रणामसे उनका संमान

वर्तयत्येव पितरि पुत्रः प्रभवते तथा ।
अभृत्या भृत्यतां प्राप्य ख्यापयन्त्यनपत्रपाः ॥ ५३ ॥
तथा धर्मादपेतेन कर्मणागर्हितेन ये ।
महतः प्राप्नुवन्त्यर्थांस्तेषां तत्राऽभवत्स्पृहा ॥ ५४ ॥
उच्चैश्चाभ्यवदन् रात्रौ नीचैस्तत्राग्निरज्वलत् ।
पुत्राः पितॄनत्यचरन्नार्यश्चात्यचरन् पतीन् ॥ ५५ ॥
मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथिं गुरुम् ।
गुरुत्वान्नाभ्यनन्दन्त कुमारान्नाऽन्वपालयन् ॥ ५६ ॥
भिक्षां बलिमदत्त्वा च स्वयमन्नानि भुञ्जते ।
अनिष्ट्वाऽसंविभज्याथ पितृदेवातिथीन् गुरून् ॥ ५७ ॥
न शौचमनुरुद्ध्यन्त तेषां सूदजनास्तथा ।
मनसा कर्मणा वाचा भक्ष्यमासीदनावृतम् ॥ ५८ ॥
विप्रकीर्णानि धान्यानि काकमूषिकभोजनम् ।
अपावृतं पयोऽतिष्ठदुच्छिष्टाश्चास्पृशन् घृतम् ॥ ५९ ॥
कुद्दालं दात्रपिटकं प्रकीर्णं कांस्यभाजनम् ।

नहीं किया । पिताके वर्त्तमान रहते पुत्र प्रभुता करनेमें प्रवृत्त हुए। जिन लोगोंने कभी सेवकका कार्य स्वीकार नहीं किया था, वे भी निर्लज्ज होकर भृत्यमात्र धारण करके विख्यात हुए। (४८-५३)

जो अधर्मपथसे निन्दित कर्मके जरिये बहुतसा धन पाते हैं, उन्हीं लोगोंकी भांति दानवोंको अर्थोपार्जनमें स्पृहा होने लगी। रात्रिके समय वे लोग ऊंचे स्वरसे निज नाम सुनाकर प्रणाम करनेमें प्रवृत्त हुए, रात्रिमें अग्नि मन्दभावसे जलने लगी। पुत्र पिताके ऊपर और स्त्रियोंने पतिके ऊपर अत्याचार करना आरम्भ किया। उन लोगोंने बूढे माता, पिता, आचार्य, अतिथि और गुरु जनोंके गौरवके निमित्त उन्हें प्रणाम और कुमारोंका प्रतिपालन नहीं किया। देवता, पितर, अतिथि और गुरुजनोंकी पूजा तथा भिक्षा वा भूतोंको बलि न देकर स्वयं अन्न भोजन करने लगे। उनके रसोइयोंने पवित्रताका अनुरोध नहीं किया। वाक्य, मन और कर्मसे उन लोगोंका भक्ष्य विषय अवारित हुआ, उन लोगोंके फैले हुए धान्यको कौवे और चूहे खाने लगे। (५४—५९)

जल पीनेका कलश विना ढांका ही रहने लगा, वे लोग जूठे रहके घृत छूने

द्रव्योपकरणं सर्वं नान्ववैक्षत्कुटुम्बिनी ॥ ६० ॥
प्राकारागारविध्वंसान्न स्म ते प्रतिकुर्वते ।
नाद्रियन्ते पशून्बद्ध्वा यवसेनोदकेन च ॥ ६१ ॥
बालानां प्रेक्षमाणानां स्वयं भक्ष्यमभक्षयन् ।
तथा भृत्यजनं सर्वमसंतर्प्य च दानवाः ॥ ६२ ॥
पायसं कृसरं मांसमपूपानथ शष्कुलीः ।
अपाचयन्नात्मनोऽर्थे वृथा मांसान्यभक्षयन् ॥ ६३ ॥
उत्सूर्यशायिनश्चासन् सर्वे चासन् प्रगेनिशाः ।
अवर्तन्कलहाश्चात्र दिवारात्रं गृहे गृहे ॥ ६४ ॥
अनार्याश्चार्यमासीनं पर्युपासन्न तत्र ह ।
आश्रमस्थान् विधर्मस्थाः प्राद्विषन्त परस्परम् ॥ ६५ ॥
संकराश्चाभ्यवर्तन्त न च शौचमवर्तत ।
ये च वेदविदो विप्रा विस्पृष्टमनृचश्च ये ॥ ६६ ॥
निरंतरविशेषास्ते बहुमानावमानयोः ।
हारमाभरणं वेषं गतं स्थितमवेक्षितम् ॥ ६७ ॥
असेवन्त भुजिष्या वै दुर्जनाचरितं विधिम् ।

लगे। कुदाल पात्र, पेटिका, कांसेके पात्र आदि गृहकी सामग्रियोंके इधर उधर पडी रहनेपर भी दानवोंकी गृहिणियोंने उन्हें न देखा। प्राकार और गृहोंके टूटनेपर भी दानव लोग उसके संस्कार करनेमें उद्यत न हुए; पशुओंको बन्धे रखके तृण जल आदिसे उनका आदर नहीं किया; बालकोंके देखते रहनेपर भी उनका अनादर करके स्वयं भक्ष्य वस्तुओंको भक्षण करने लगे; वे लोग सेवकोंको विना तृप्त किये ही अपने वास्ते पायस, कृसर, मांस, अपूप और पूरी आदि भोजनकी वस्तुओंको पाक कराने लगे और वृथा मांस भक्षण करनेमें प्रवृत्त हुए। (५९-६३)

सभी सूर्यके उदय होनेपर सबेरे सोते रहते थे, उन लोगोंके प्रति गृहमें रात दिन कलह होने लगा। अनार्य पुरुषोंने बैठे हुए आर्य पुरुषोंका सम्मान न किया; विधर्मी लोगोंने आश्रमवासी लोगोंसे द्वेष करना आरम्भ किया; वर्णसंकरोंकी बढती हुई; पवित्र आचार लुप्त होगया, जो सब ब्राह्मण वेदविद् और जो वेदके विषयमें मूर्ख थे, उनके बहुमान और अवमानके विषयमें कुछ भी विशेषता न रही; परिचारिका समूह

स्त्रियः पुरुषवेषेण पुंसः स्त्रीवेषधारिणः ॥ ६८ ॥
क्रीडारतिविहारेषु परां मुदमवाप्नुवन् ।
प्रभवद्भिः पुरादायानर्हेभ्यः प्रतिपादितान् ॥ ६९ ॥
नाऽभ्यवर्तन्त नास्तिक्याद्वर्तन्त संभवेष्वपि ।
मित्रेणाऽभ्यर्थितं मित्रमर्थसंशयिते क्वचित् ॥ ७० ॥
वालकोट्यग्रमात्रेण स्वार्थेनाघ्नत तद्वसु ।
परस्वादानरुचयो विपणव्यवहारिणः ॥ ७१ ॥
अदृश्यन्ताऽऽर्यवर्णेषु शूद्राश्चापि तपोधनाः ।
अधीयन्तेऽव्रताः केचिद्वृथाव्रतमथाऽपरे ॥ ७२ ॥
अशुश्रूषुर्गुरोः शिष्यः कश्चिच्छिष्यसखो गुरुः ।
पिता चैव जनित्री च श्रान्तौ वृत्तोत्सवाविव ।
अप्रभुत्वे स्थितौ वृद्धावन्नं प्रार्थयतः सुतान् ॥ ७३ ॥
तत्र वेदविदः प्राज्ञा गांभीर्ये सागरोपमाः ॥ ७४ ॥
कृष्यादिष्वभवन्सक्ता मूर्खाः श्राद्धान्यभुञ्जत ।

हार, आभूषण और वेशविन्यास है, वा गया है, उसे ही देखने लगीं। उन्होंने दुर्जनोंके आचरित अनुष्ठानका अनुकरण किया। (६४—६८)

स्त्रियां पुरुषका वेष बनाकर और पुरुष स्त्रियोंका वेष धरके क्रीडा, रति तथा विहारके समय अत्यन्त आनन्दमें डूब गये। पिता पितामहोंने पहले देने योग्य लोगोंको जो कुछ दे गये थे, नास्तिकताके कारण भ्राता लोग उसे अनुवर्तन करनेमें असम्मत होने लगे; किसी तरहका अर्थ संशय उपस्थित होनेपर मित्र यदि मित्रके निकट प्रार्थना करे। तो केशके नोक समान भी स्वार्थ रहनेपर भी मित्र लोग मित्रोंके धनको नष्ट करनेमें प्रवृत्त हुए। श्रेष्ठ वर्णोंके बीच बहुतोंने परस्व ग्रहण करनेकी अभिलाषा की; सभी विपरीत व्यवहार करते हुए दीख पडे, शूद्र लोग तपस्या करने लगे; व्रतहीन पुरुषोंने पढना आरम्भ किया, दूसरे लोग वृथा व्रत करनेमें प्रवृत्त हुए, चेलोंने गुरुकी सेवा न की; कोई गुरु शिष्यके सखा हुए; माता पिता श्रान्त और उत्सवहीन होने लगे; बूढे पिता माताकी प्रभुता न रही, वे लोग पुत्रोंके समीप अन्नके निमित्त प्रार्थना करने लगे। (६८-७३)

समुद्रके समान गम्भीरतासे युक्त वेद जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुष कृषिकार्य आदि जीवनके उपायमें आसक्त

प्रातः प्रातश्च सुप्रश्नं कल्पनं प्रेषणक्रियाः ॥ ७५ ॥
शिष्यानप्रहितास्तेषामकुर्वन् गुरवः स्वयम् ।
श्वश्रूश्वशुरयोरग्रे वधूः प्रेष्यानशासत ॥ ७६ ॥
अन्वशासच्च भर्तारं समाहूयाऽभिजल्पति ।
प्रयत्नेनापि चारक्षच्चित्तं पुत्रस्य वै पिता ॥ ७७ ॥
व्यभजच्चापि संरम्भाद्दुःखवासं तथाऽवसत् ।
अग्निदाहेन चोरैर्वा राजभिर्वा हृतं धनम् ॥ ७८ ॥
दृष्ट्वा द्वेषात्प्राहसन्त सुहृत्संभाविता ह्यपि ।
कृतघ्ना नास्तिकाः पापा गुरुदाराभिमर्शिनः ॥ ७९ ॥
अभक्ष्यभक्षणरता निर्मर्यादा हतत्विषः ।
तेष्वेवमादीनाचारानाचरत्सु विपर्यये ॥ ८० ॥
नाहं देवेन्द्र वत्स्यामि दानवेष्विति मे मतिः ।
तन्मां स्वयमनुप्राप्तामभिनन्द शचीपते ॥ ८१ ॥
त्वयाऽर्चितां मां देवेश पुरोधास्यन्ति देवताः ।
यत्राहं तत्र मत्कान्ता मद्विशिष्टा मदर्पणाः ॥ ८२ ॥

हुए; मूर्ख लोग श्राद्धका अन्न भोजन करने लगे। प्रतिदिन भोरके समय चेलोंको गुरुके निकट स्वास्थ्य पूछनेके लिये दूत भेजना तो दूर रहे, गुरु लोग स्वयं ही शिष्योंके निकट स्वास्थ्य पूछनेके निमित्त जाने लगे; सास और ससुरके सम्मुखमें ही बहू दास दासियोंको शासन करनेमें प्रवृत्त हुई और स्वामीको आवाहन करके तिरस्कार करती हुई शासन करने लगे; पिता यत्नपूर्वक पुत्रोंके मनकी रक्षा करने लगे। (७४-७७)

और अत्यन्त दुःखसे निवास करते हुए यदि पुत्र क्रुद्ध हो, इसी भयसे समय बितानेमें प्रवृत्त हुए, अग्निदाह, चोर अथवा राजपुरुषोंके जरिये किसीका धन हरे जानेपर, उसके मित्र लोग द्वेषके कारण उपहास करने लगे; वे लोग सब कोई कृतघ्न, नास्तिक, पापाचारी, गुरुस्त्री हरनेवाले, अभक्ष्यके भक्षणमें अनुरक्त, मर्यादारहित और निस्तेज हुए। हे देवेन्द्र! कालक्रमसे दानव लोग इस ही प्रकार आचरण करनेमें प्रवृत्त हुए, तब मैं उनके निकट निवास न कर सकी; यही मेरे मनमें निश्चय है। हे शचीनाथ! मैं स्वयं तुम्हारे निकट आई हूं; तुम मुझे अभिनन्दित करो। (७८-८१)

हे सुरेश्वर! तुम्हारे सत्कार करनेसे

सप्त देव्यो जयाष्टम्यो वासमेष्यन्ति तेऽष्टधा ।
आशा श्रद्धा धृतिः क्षान्तिर्विजितिः सन्नतिः क्षमा ॥ ८३ ॥
अष्टमी वृत्तिरेतासां पुरोगा पाकशासन ।
ताश्चाहं चासुरांस्त्यक्त्वा युष्मद्विषयमागताः॥ ८४ ॥
त्रिदशेषु निवत्स्यामो धर्मनिष्ठान्तरात्मसु ।
इत्युक्तवचनां देवीं प्रीत्यर्थं च ननन्दतुः ॥ ८५ ॥
नारदश्चात्र देवर्षिर्वृत्रहन्ता च वासवः ।
ततोऽनलसखो वायुः प्रववौ देववर्त्मसु ॥ ८६ ॥
इष्टगन्धः सुखस्पर्शः सर्वेन्द्रियसुखावहः ।
शुचौ चाभ्यर्थिते देशे त्रिदशाः प्रायशः स्थिताः ॥ ८७ ॥
लक्ष्मीसहितमासीनं मघवन्तं दिदृक्षवः ॥ ८८ ॥
ततो दिवं प्राप्य सहस्रलोचनः श्रियोपपन्नः सुहृदा महर्षिणा ।
रथेन हर्यश्वयुजा सुरर्षभः सदः सुराणामभिसत्कृतो ययौ ॥ ८९ ॥
अथेङ्गितं वज्रधरस्य नारदः श्रियश्च देव्या मनसा विचारयन् ।

देवता लोग मुझे ग्रहण करनेके लिये अगाडी दौडेंगे । हे पाकशासन ! मैं जिस स्थानमें निवास करती हूं, वहां मेरी प्रिय मुझसे भी विशिष्ट और मदवलंबना जया आदि आठों देवी आठ प्रकारके रूपसे वास करनेकी अभिलाष करती हैं, आशा, श्रद्धा, धृति, क्षान्ति, विजया, उन्नति, क्षमा और जया, ये आठों देवी अग्रगामिनी होकर वहां निवास किया करती हैं, इन सब देवियोंके सहित मैं असुरोंको परित्याग करके तुम्हारे राज्यमें आई हूं, अब धर्मनिष्ठ और पवित्रचित्तवाले देवताओंके निकट निवास करूंगी । कमलमें वास करनेवाली देवीने जब ऐसा वचन कहा, तब देवर्षि नारद और वृत्रासुरके नाशक इन्द्र प्रीतिके वशमें होकर अत्यन्त आनन्दित हुए । अनन्तर अनल बन्धु सब इन्द्रियोंको सुखदायक सुखस्पर्श सुगन्धयुक्त वायु देवताओंके स्थानमें बहने लगा । लक्ष्मीके सहित बैठे हुए भगवान् इन्द्रके दर्शन करनेकी अभिलाषा करके देवता लोग प्रायः पवित्र और प्रार्थित स्थानमें निवास करने लगे ।(८२-८८)

अनन्तर श्रीसंपन्न सहस्रनेत्र सुरेश्वर प्रिय सुहृत् महर्षिके सहित हरे रङ्गवाले घोडोंसे जुते हुए रथपर बैठ स्वर्ग लोकमें पहुंचके सत्कृत होकर सुरसमाजमें उपस्थित हुए । फिर महर्षियोंसे युक्त नारद और देवराजने कमला देवीके

श्रियै शशंसामरदृष्टपौरुषः शिवेन तत्रागमनं महर्षिभिः ॥ ९० ॥
ततोऽमृतं द्यौः प्रववर्ष भास्वती पितामहस्यायतने स्वयंभुवः।
अनाहता दुंदुभयोऽथ नेदिरे तथा प्रसन्नाश्च दिशश्चकाशिरे ॥ ९१ ॥
यथर्तु सस्येषु ववर्ष वासवो न धर्ममार्गाद्विचचाल कश्चन।
अनेकरत्नाकरभूषणा च भूः सुघोषघोषा भुवनौकसां जये ॥ ९२ ॥
क्रियाभिरामा मनुजा मनस्विनो बभुः शुभे पुण्यकृतां पथि स्थिताः।
नरामराः किन्नरयक्षराक्षसाः समृद्धिमन्तः सुमनस्विनोऽभवन् ॥ ९३ ॥
न जात्वकाले कुसुमं कुतः फलं पपात वृक्षात्पवनेरितादपि।
रसप्रदाः कामदुघाश्च धेनवो न दारुणावाग्विचचार कस्यचित् ॥ ९४ ॥
इमां सपर्यां सह सर्वकामदैः श्रियाश्च शक्रप्रमुखैश्च दैवतैः।
पठन्ति ये विप्रसदः समागताः समृद्धकामाः श्रियमाप्नुवन्ति ते ॥ ९५ ॥
त्वया कुरूणां वर यत्प्रचोदितं भवाभवस्येह परं निदर्शनम्।
तदद्य सर्वं परिकीर्तितं मया परीक्ष्य तत्त्वं परिगन्तुमर्हसि ॥९६॥ ८३१९

इति श्रीमहा० मोक्षधर्मप० श्रीवासवसंवादो नाम अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२३ ॥

हृदयगत अभिप्रायको मनहीमन विचारते हुए देवताओंके पौरुषको देखकर लक्ष्मी देवीसे वहांपर सुखपूर्वक आगमनका विषय पूछा। अनन्तर दीप्तिमान् द्युलोक अमृतकी वर्षा करनेमें प्रवृत्त हुआ। स्वयम्भू पितामहके स्थानमें विना बजाये ही नगाड़े बजने लगे; सब दिशा प्रसन्न और प्रकाशित हुई। (८९-९१)

देवराज ऋतुके अनुसार शस्योंके ऊपर जल बरसाने लगे, कोई पुरुष भी धर्ममार्गसे विचलित नहीं हुए; सुरलोक वासियोंकी विजय होनेपर अनेक रत्नाकर-भूषित भूमि मङ्गलध्वनि करने लगी; यज्ञादि कर्मोंसे रमणीय सुन्दर मनस्वी मनुष्य पुण्यवान् लोगोंके पवित्र मार्गमें निवास करते हुए सुशोभित हुए; मनुष्य, देवता, किन्नर, यक्ष और राक्षस लोग समृद्धियुक्त तथा प्रशस्तचित्त हुए; फूल-फल वायुके झकोरेसे भी टूटकर कभी वृक्षोंसे न गिरे; रसप्रद गौवें कामदुघ हुई। किसीके मुखसे दारुण वचन न निकला। जो लोग विप्रसमाजमें उपस्थित होकर सर्व कामप्रद इन्द्र आदि देवताओंके सहारे भगवती लक्ष्मी देवीके इस सपर्याय विषयका पाठ करते हैं, वे लोग समृद्धियुक्त होकर सम्पत्ति लाभ करते हैं। हे कुरुवर! तुमने जो इस लोकमें उन्नति और अवनतिका विषय पूछा था, मैंने उसका परम निदर्शन वर्णन किया, अब तुम

युधिष्ठिर उवाच— किंशीलः किंसमाचारः किंविद्यः किंपराक्रमः ।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत्परे प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— मोक्षधर्मेषु नियतो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं तत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ २ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
जैगीषव्यस्य संवादमसितस्य च भारत ॥ ३ ॥
जैगीषव्यं महाप्राज्ञं धर्माणामागतागमम् ।
अक्रुध्यन्तमहृष्यन्तमसितो देवलोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥
देवल उवाच— न प्रीयसे वन्द्यमानो निन्द्यमानो न कुप्यसे ।
का ते प्रज्ञा कुतश्चैषा किं ते तस्याः परायणम् ॥ ५ ॥
भीष्म उवाच— इति तेनानुयुक्तः स तमुवाच महातपाः ।
महद्वाक्यमसंदिग्धं पुष्कलार्थपदं शुचि ॥ ६ ॥
जैगीषव्य उवाच- या गतिर्या परा काष्ठा या शान्तिः पुण्यकर्मणाम् ।
तां तेऽहं संप्रवक्ष्यामि महतीमृषिसत्तम ॥ ७ ॥

परीक्षा करके तत्त्वविषय अवलम्बन करो । (९२-९६)

शान्तिपर्वमें २२८ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें २२९ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! पुरुष कैसे चरित्र, किस प्रकारके आचार कौनसी विद्या और कैसे आचारसे युक्त होनेपर प्रकृतिसे भी श्रेष्ठ नित्यधाम प्राप्त करता है । (१)

भीष्म बोले, जो लोग मोक्षधर्ममें सदा रत अल्पाहारी और जितेन्द्रिय हैं वेही प्रकृतिसे भी श्रेष्ठ ब्रह्मधाम लाभ किया करते हैं । हे भारत ! प्राचीन लोग इस विषयमें असितदेवल और जैगीषव्यके इस पुराने इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं । असित, देवल, सब धर्मोंके जाननेवाले, महाप्राज्ञ, क्रोध हर्षसे रहित जैगीषव्यसे कहने लगे । (२-४)

देवल बोले, हे महर्षि ! तुम्हारी वन्दना करनेपर भी तुम प्रसन्न नहीं होते और निन्दा करनेपर भी क्रोध नहीं करते, यह तुम्हारी किस प्रकारकी बुद्धि है । ऐसी बुद्धि तुमने कहांसे पाई । तुम्हारी इस बुद्धिका परम अवलम्बन क्या है ? (५)

भीष्म बोले, महातपस्वी जैगीषव्य देवलका ऐसा वचन सुनके सन्देहरहित प्रचुर अर्थ और पद संयुक्त पवित्र तथा महत् वचन कहने लगे । (६)

जैगीषव्य बोले, हे ऋषिसत्तम !

निंद्यन्तु च समा नित्यं प्रशंसन्तु च देवल ।
निह्नुवन्ति च ये तेषां समयं सुकृतं च यत् ॥ ८ ॥
उक्ताश्च न वदिष्यन्ति वक्तारमहिते हितम् ।
प्रतिहन्तुं न चेच्छन्ति हन्तारं वै मनीषिणः ॥ ९ ॥
नाप्राप्तमनुशोचन्ति प्राप्तकालानि कुर्वते ।
न चातीतानि शोचन्ति न चैव प्रतिजानते ॥ १० ॥
संप्राप्तायां च पूजायां कामादर्थेषु देवल ।
यथोपपत्तिं कुर्वन्ति शक्तिमन्तः कृतव्रताः ॥ ११ ॥
पक्वविद्या महाप्राज्ञा जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।
मनसा कर्मणा वाचा नापराध्यन्ति कर्हिचित् ॥ १२ ॥
अनीर्षवो न चान्योऽन्यं विहिंसन्ति कदाचन ।
न च जातूपतप्यन्ते धीराः परसमृद्धिभिः ॥ १३ ॥
निन्दाप्रशंसे चात्यर्थं न वदन्ति परस्य ये
न च निन्दाप्रशंसाभ्यां विक्रियन्ते कदाचन ॥ १४ ॥
सर्वतश्च प्रशान्ता ये सर्वभूतहिते रताः ।

पुण्यकर्म करनेवाले मनुष्योंका जो परम अवलम्बन है, मैं उस अत्यन्त महती शान्ति विषयका तुमसे कहता हूं, सुनो। देवल ! मनीषि लोग स्तुतिनिन्दामें समज्ञान किया करते हैं। जो लोग उनकी प्रशंसा वा निन्दा करते हैं, वे उनके भी आचार व्यवहारोंका गोपन कर रखते हैं, वे लोग पूछनेपर भी अहित विषयमें हितवादी पुरुषको कुछ नहीं करते और जो लोग उनके ऊपर आघात करते हैं, वे पलटा लेनेकी इच्छा नहीं करते। वे लोग अप्राप्त विषयोंके लिये शोक न करके समयपर प्राप्त हुए विषयको भोग किया करते हैं; बीते हुए विषयोंके निमित्त शोक तथा उन्हें स्मरण नहीं करते। (७-१०)

हे देवल! व्रत करनेवाले, शक्तिमान् मनीषि लोग इच्छानुसार प्रयोजन विषयमें सत्कार लाभ करनेपर युक्तिके अनुसार उसे साधन किया करते हैं। जिन्होंने क्रोधको जीता तथा जिनका ज्ञान परिणत है, वे जितेन्द्रिय महाप्राज्ञ मनुष्य मन, वचन और कर्मसे किसीके निकट कुछ अपराध नहीं करते। वे ईर्षारहित होते हैं, इसीसे कभी आपसमें हिंसा करनेमें रत नहीं होते। धीर लोग दूसरे की समृद्धि देखकर कभी डाह नहीं करते। जो लोग दूसरेकी निन्दा तथा

न क्रुद्ध्यन्ति न हृष्यन्ति नापराध्यन्ति कर्हिचित्॥१५॥
विमुच्य हृदयग्रन्थिं चङ्क्रमन्ति यथासुखम्
न येषां बान्धवाः सन्ति ये चाऽन्येषां न बान्धवाः॥१६॥
अमित्राश्च न सन्त्येषां ये चाऽमित्रा न कस्यचित्।
य एवं कुर्वते मर्त्याः सुखं जीवन्ति सर्वदा ॥ १७ ॥
ये धर्मं चानुरुद्ध्यन्ते धर्मज्ञा द्विजसत्तम।
ये ह्यतो विच्युता मार्गात्ते हृष्यन्त्युद्विजन्ति च ॥१८॥
आस्थितस्तमहं मार्गमसूयिष्यामि कं कथम्।
निन्द्यमानः प्रशस्तो वा हृष्येऽहं केन हेतुना ॥ १९ ॥
यद्यदिच्छन्ति तत्तस्मादपि गच्छन्तु मानवाः।
न मे निन्दाप्रशंसाभ्यां ह्रासवृद्धी भविष्यतः॥ २० ॥
अमृतस्येव सन्तृप्येदवमानस्य तत्त्ववित्।
विषस्येवोद्विजेन्नित्यं सम्मानस्य विचक्षणः ॥ २१ ॥
अवज्ञातः सुखं शेते इह चामुत्र चाभयम्।

किसीकी प्रशंसा नहीं करते, वे आत्म-निन्दा वा प्रशंसासे विकृत नहीं होते, जो लोग सब तरहसे प्रशान्त और सब भूतोंके हितमें अनुरक्त रहते हैं, वे क्रोध, हर्ष वा किसीके समीप अपराध नहीं करते। (११-१५)

जिनका कोई बान्धव नहीं है और जो दूसरेके बन्धु नहीं हैं, उनका कोई भी शत्रु नहीं है और वे भी किसीके शत्रु नहीं हैं। ऐसे मनुष्य हृदयकी ग्रन्थि छुडाके सुखपूर्वक विचरते हैं। जो मनुष्य इसही प्रकार व्यवहार करते हैं, वे सदा सुखसे जीवन बितानेमें समर्थ होते हैं। हे द्विजोत्तम ! जो सब धर्मज्ञ लोग धर्ममार्गका अनुरोध करते हैं, वेही आनन्दित होते हैं और जो लोग धर्म-मार्गसे च्युत हुए हैं, वे उद्वेग लाभ किया करते हैं। मैंने उस ही धर्मपथका आसरा किया है, इससे किस लिये किसीकी असूया करूंगा। कोई मेरी निन्दा करे अथवा प्रशंसा ही करे, तो भी मैं किस लिये हर्षित होऊंगा। मनुष्य लोग जिसकी अभिलाष करें, धर्मसे उसेही प्राप्त करनेमें समर्थ होवें; निन्दा वा प्रशंसासे मेरी ह्रास वा वृद्धि न होगी। तत्त्ववित् बुद्धिमान् मनुष्य अवमानको अमृत समझके तृप्त हुआ करते हैं और सम्मानको विष समझके उद्विग्न होते हैं। (१६—२१)

अवज्ञात लोग सब दोषोंसे विमुक्त

विमुक्तः सर्वदोषेभ्यो योऽवमन्ता स बुध्यते ॥ २२ ॥
परां गतिं च ये केचित्प्रार्थयन्ति मनीषिणः ।
एतद्व्रतं समाहृत्य सुखमेधन्ति ते जनाः ॥ २३ ॥
सर्वतश्च समाहृत्य क्रतून् सर्वान् जितेन्द्रियः ।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ २४ ॥
नास्य देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
पदमन्ववरोहन्ति प्राप्तस्य परमां गतिम् ॥ २५ ॥ [८२४४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जैगीषव्यासितसंवादे ऊनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२९ ॥

युधिष्ठिर उवाच— प्रियः सर्वस्य लोकस्य सर्वसत्त्वाभिनन्दिता ।
गुणैः सर्वैरुपेतश्च कोन्वस्ति भुवि मानवः ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— अत्र ते वर्तयिष्यामि पृच्छतो भरतर्षभ ।
उग्रसेनस्य संवादं नारदे केशवस्य च ॥ २ ॥
उग्रसेन उवाच— यस्य सङ्कल्पते लोको नारदस्य प्रकीर्तने ।
मन्ये स गुणसम्पन्नो ब्रूहि तन्मम पृच्छतः ॥ ३ ॥

रहके इस लोक और परलोकमें सुखसे सोते हैं और जो अवमान करता है, वह विनष्ट होता है। जो कोई मनीषि पुरुष परम गतिकी इच्छा करें, वे इस ही व्रतको संग्रह करके अनायासही वृद्धि-युक्त होते हैं। जितेन्द्रिय पुरुष सब तरहसे समस्त सत्र समाप्त करके प्रकृतिसे परम श्रेष्ठ नित्य ब्रह्मधाम लाभ किया करते हैं, जो लोग परम पद पाते हैं, देवता, गन्धर्व, पिशाच और राक्षस लोग उनके अनुसरण करनेमें समर्थ नहीं हैं। (२२—२५)

शान्तिपर्वमें २२९ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २३० अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! भूलोकमें सब जीवोंके अभिनन्दन करनेवाले सब लोगोंका प्यारा और सब गुणोंसे युक्त मनुष्य कौन है ? (१)

भीष्म बोले, हे भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार नारदके विषयमें उग्रसेन और कृष्णकी जो वार्तालाप हुई थी, इस समय उसे वर्णन करता हूं, सुनो। उग्रसेनने कृष्णके कहा, कि नारदका नाम लेनेमें लोग संकल्प किया करते हैं, बोध होता है वे अवश्य ही गुणयुक्त होंगे इससे मैं पूछता हूं, उनमें जो सब गुण थे, वह सब तुम मेरे समीप वर्णन करो। (२-३)

वासुदेव उवाच—कुकुराधिप यान्मन्ये शृणु तान्मे विवक्षतः ।
नारदस्य गुणान् साधून् संक्षेपेण नराधिप ॥ ४ ॥
न चारित्रनिमित्तोऽस्याहङ्कारो देहतापनः ।
अभिन्नश्रुतचारित्रस्तस्मात्सर्वत्र पूजितः ॥ ५ ॥
अरतिः क्रोधचापल्ये भयं नैतानि नारदे ।
अदीर्घसूत्रः शूरश्च तस्मात्सर्वत्र पूजितः ॥ ६ ॥
उपास्यो नारदो बाढं वाचि नास्य व्यतिक्रमः ।
कामतो यदि वा लोभात्तस्मात्सर्वत्र पूजितः ॥ ७ ॥
अध्यात्मविधितत्त्वज्ञः क्षान्तः शक्तो जितेन्द्रियः ।
ऋजुश्च सत्यवादी च तस्मात्सर्वत्र पूजितः ॥ ८ ॥
तेजसा यशसा बुद्ध्या ज्ञानेन विनयेन च ।
जन्मना तपसा वृद्धस्तस्मात्सर्वत्र पूजितः ॥ ९ ॥
सुशीलः सुखसंवेशः सुभोजः स्वादरः शुचिः ।
सुवाक्यश्चाप्यनीर्ष्यश्च तस्मात्सर्वत्र पूजितः ॥ १० ॥
कल्याणं कुरुते बाढं पापमस्मिन्न विद्यते ।
न प्रीयते परानर्थैस्तस्मात्सर्वत्र पूजितः ॥ ११ ॥

श्रीकृष्ण बोले, हे कुकुरवंशावतंस नरनाथ ! नारदके जो सब उत्तम गुण मुझे विदित हैं, उसे संक्षेपमें कहनेकी इच्छा करता हूं, सुनिये । चरित्रके निमित्त उन्हें देहतापन अहंकार नहीं है; जैसा ज्ञान है, वैसा ही चरित्र है; इस ही लिये वे सब जगह पूजित होते हैं । नारदको अनुराग, क्रोध और भय नहीं है; वह शूर हैं, और आलसी नहीं हैं, इस ही लिये सब ठौर पूजित होते हैं । नारद अत्यन्त ही उपास्य हैं; काम वा लोभके वशमें होकर उनका वचन व्यतिक्रम नहीं होता, इस ही निमित्त वह सर्वत्र पूजित होते हैं । वह अध्यात्म विधिके तत्त्वज्ञ, क्षमाशील, शक्तिमान्, जितेन्द्रिय, सरल और सत्यवादी हैं, इसहीसे सर्वत्र पूजित होते हैं । तेज, यश, बुद्धि, ज्ञान, विनय, जन्म और तपस्यामें वह सबसे वृद्ध हैं, इस ही लिये सर्वत्र पूजित होते हैं । वह सुशील, सुखशायी, सुभोजी, स्वादरयुक्त, पवित्र, उत्तम वचन कहनेवाले और ईर्षारहित हैं, इस ही लिये सब ठौर पूजित होते हैं । (४-१०)

वह सबके विषयमें कल्याणकी इच्छा किया करते हैं, उनमें तनिक भी पाप

वेदश्रुतिभिराख्यानैरर्थानभिजिगीषति ।
तितिक्षुरनवज्ञातस्तस्मात्सर्वत्र पूजितः ॥ १२ ॥
समत्वाच्च प्रियो नास्ति नाप्रियश्च कथंचन ।
मनोऽनुकूलवादी च तस्मात्सर्वत्र पूजितः ॥ १३ ॥
बहुश्रुतश्चित्रकथः पण्डितोऽलालसोऽशठः ।
अदीनोऽक्रोधनोऽलुब्धस्तस्मात्सर्वत्र पूजितः ॥ १४ ॥
नार्थे धने वा कामे वा भूतपूर्वोऽस्य विग्रहः ।
दोषाश्चास्य समुच्छिन्नास्तस्मात्सर्वत्र पूजितः ॥ १५ ॥
दृढभक्तिरनिन्द्यात्मा श्रुतवाननृशंसवान् ।
वीतसंमोहदोषश्च तस्मात्सर्वत्र पूजितः ॥ १६ ॥
असक्तः सर्वसङ्गेषु सक्तात्मेव च लक्ष्यते ।
अदीर्घसंशयो वाग्मी तस्मात्सर्वत्र पूजितः ॥ १७ ॥
समाधिर्नास्य कामार्थे नात्मानं स्तौति कर्हिचित् ।
अनीर्षुर्मृदुसंवादस्तस्मात्सर्वत्र पूजितः ॥ १८ ॥

नहीं है, दूसरेके अनर्थसे वह प्रसन्न नहीं होते, इसहीसे सर्वत्र पूजित होते हैं। वह वेद सुनके आख्यानके सहारे सब विषयोंके जय करनेकी अभिलाष करते हैं, तितिक्षु कहके कोई उनकी अवज्ञा नहीं करता, इस ही कारण वह सर्वत्र पूजित होते हैं। समतानिबन्धनसे कोई उनका प्रिय अथवा किसी प्रकार कोई अप्रिय नहीं है। वह मनके अनुकूल वचन कहा करते हैं, इस ही लिये सर्वत्र पूजित होते हैं। वह अनेक शास्त्रोंको सुनकर वा विचित्र कथाको जानके पण्डित हुए हैं; वह निरालसी, शठताहीन, अदीन, अक्रोधी और लोभरहित हैं, इसहीसे सर्वत्र पूजित होते हैं। विषय, धन और कामके लिये पहले कभी उनका विग्रह नहीं हुआ, उनके सब दोष नष्ट हुए हैं, इस हीसे वह सब जगह पूजित होते हैं। (११-१५)

वह दृढ भक्त, अनिन्द्य स्वभाव, शास्त्रज्ञ, अनृशंस, संमोहहीन और दोषरहित हैं, इस ही लिये सर्वत्र पूजित होते हैं। वह सब विषयोंमें अनासक्त रहनेपर भी आसक्तकी भांति दीखते हैं, बहुत समय तक उनका संशय नहीं रहता और वह अत्यन्त ही वक्ता हैं, इस ही निमित्त सर्वत्र पूजित होते हैं। कामभोगके लिये उन्हें कामना नहीं है, कभी अपनी प्रशंसा नहीं करते, वह ईर्षारहित और कोमल वचन कहनेवाले

लोकस्य विविधं चित्तं प्रेक्षते चाप्यकुत्सयन् ।
संसर्गविद्याकुशलस्तस्मात्सर्वत्र पूजितः ॥ १९ ॥
नासूयत्यागमं कंचित्स्वनयेनोपजीवति ।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा तस्मात्सर्वत्र पूजितः ॥ २० ॥
कृतश्रमः कृतप्रज्ञो न च तृप्तः समाधितः ।
नित्ययुक्तोऽप्रमत्तश्च तस्मात्सर्वत्र पूजितः ॥ २१ ॥
नापत्रपश्च युक्तश्च नियुक्तः श्रेयसे परैः ।
अभेत्ता परगुह्यानां तस्मात्सर्वत्र पूजितः ॥ २२ ॥
न हृष्यत्यर्थलाभेषु नालाभे तु व्यथत्यपि ।
स्थिरबुद्धिरसक्तात्मा तस्मात्सर्वत्र पूजितः ॥ २३ ॥
तं सर्वगुणसम्पन्नं दक्षं शुचिमनामयम् ।
कालज्ञं च प्रियज्ञं च कः प्रियं न करिष्यति ॥ २४ ॥[८३६८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वासुदेवोग्रसेनसंवादे त्रिंशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३० ॥

हैं इस ही लिये सब जगह पूजित होते हैं । वह सब लोगोंकी विविध चित्तवृत्तिको देखते हैं, तौभी किसीकी कुत्सा नहीं करते और सृष्टिविषयक ज्ञानमें अत्यन्त निपुण हैं, इस ही लिये सर्वत्र पूजित होते हैं । वह किसी शास्त्रके विषयमें असूया नहीं करते, निज नीतिको उपजीव्य करके जीवन व्यतीत किया करते हैं, समयको निष्फल नहीं करते और चित्तको वशीभूत कर रखा है, इस ही लिये सब जगह पूजित होते हैं । (१९-२०)

वह समाधि विषयमें श्रम किया करते हैं, बुद्धिको शुद्ध किया है, समाधि करके भी तृप्त नहीं होते, सदा उद्यत और अप्रमत्त रहते हैं, इसही लिये सर्वत्र पूजित होते हैं । वह अनपत्रप, योगयुक्त, परम कल्याणमें नियुक्त और दूसरेके गुप्त वचनको प्रकाश नहीं करते, इसहीसे सर्वत्र पूजित होते हैं, वह अर्थ लाभ होनेपर हर्षित और अर्थहानिसे दुःखित नहीं होते, वह स्थिर-बुद्धि और अनासक्त चित्त हैं; इस ही लिये सर्वत्र पूजित होते हैं । उस सर्वगुणयुक्त अत्यन्त निपुण, पवित्र, अनामय, कालज्ञ और प्रियज्ञ महर्षिसे प्रीति करनेमें कौन पराङ्मुख होगा । (२१-२४)

शान्तिपर्वमें २३० अध्याय समाप्त ।

युधिष्ठिर उवाच– आद्यन्तं सर्वभूतानां ज्ञातुमिच्छामि कौरव।
ध्यानं कर्म च कालं च तथैवायुर्युगे युगे ॥ १ ॥
लोकतत्त्वं च कार्त्स्न्येन भूतानामागतिं गतिम्।
सर्गश्च निधनं चैव कुत एतत्प्रवर्तते ॥ २ ॥
यदि तेऽनुग्रहे बुद्धिरस्मास्विह सतां वर।
एतद्भवन्तं पृच्छामि तद्भवान्प्रब्रवीतु मे ॥ ३ ॥
पूर्वं हि कथितं श्रुत्वा भृगुभाषितमुत्तमम्।
भरद्वाजस्य विप्रर्षेस्ततो मे बुद्धिरुत्तमा ॥ ४ ॥
जाता परमधर्मिष्ठा दिव्यसंस्थानसंस्थिता।
ततो भूयस्तु पृच्छामि तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ ५ ॥
भीष्म उवाच— अत्र ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
जगौ यद्भगवान्व्यासः पुत्राय परिपृच्छते ॥ ६ ॥
अधीत्य वेदानखिलान्साङ्गोपनिषदस्तथा।
अन्विच्छन्नैष्ठिकं कर्म धर्मनैपुणदर्शनात् ॥ ७ ॥
कृष्णद्वैपायनं व्यासं पुत्रो वैयासकिः शुकः।
पप्रच्छ सन्देहमिमं छिन्नधर्मार्थसंशयम् ॥ ८ ॥

शान्तिपर्वमें २३१ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे कौरव! सब जीवोंकी उत्पत्ति वा लयका विषय और ध्यान, कर्मकाल तथा युगयुगमें किस प्रकार परमायु होती है, उसे मैं सुननेकी इच्छा करता हूं। समस्त लोकतत्त्व, जीवोंकी अगति और गति तथा यह सृष्टि और मृत्यु कहांसे हुआ करती है। हे साधुवर! यदि हमारे ऊपर आपकी कृपा हो, तो यही विषय जो कि आपसे पूछता हूं, उसे हमारे निकट वर्णन करिये। पहले आपके कहे हुए अत्यन्त श्रेष्ठ भृगु और विप्रर्षि भरद्वाजकी कथा सुनके मेरी बुद्धि अत्यन्त श्रेष्ठ परम धार्मिष्ठ और दिव्य संस्थाननिष्ठ हुई है, इसलिये फिर आपके समीप पूछता हूं; आप उस ही विषयको वर्णन करिये। (१–५)

भीष्म बोले, हे धर्मराज! इस विषयमें व्यासदेवने प्रश्न करनेवाले निज पुत्रसे जो कुछ कहा था, वह प्राचीन इतिहास कहता हूं, सुनो। वैयासकि शुकदेव निखिल वेद और साङ्ग उपनिषदोंको पढके धर्मकी निपुणता दर्शन निबन्धनसे नैष्ठिक कर्मकी कामना करते हुए धर्मात्माओंके संशयको दूर करने-

श्रीशुक उवाच— भूतग्रामस्य कर्तारं कालज्ञानेन निष्ठितम् ।
ब्राह्मणस्य च यत्कृत्यं तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ ९ ॥
भीष्म उवाच— तस्मै प्रोवाच तत्सर्वं पिता पुत्राय पृच्छते ।
अतीतानागते विद्वान्सर्वज्ञः सर्वधर्मवित् ॥ १० ॥
व्यास उवाच— अनाद्यन्तमजं दिव्यमजरं ध्रुवमव्ययम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्माग्रे सम्प्रवर्तते ॥ ११ ॥
काष्ठा निमेषा दश पञ्च चैव त्रिंशत्तु काष्ठा गणयेत्कलां ताम् ।
त्रिंशत्कलश्चापि भवेन्मुहूर्तो भागः कलाया दशमश्च यः स्यात् ॥ १२ ॥
त्रिंशन्मुहूर्तं तु भवेदहश्च रात्रिश्च सङ्ख्या मुनिभिः प्रणीता ।
मासः स्मृतो रात्र्यहनी च त्रिंशत्संवत्सरो द्वादशमास उक्तः ॥ १३ ॥
संवत्सरं द्वे त्वयने वदन्ति सङ्ख्याविदो दक्षिणमुत्तरं च ॥ १४ ॥
अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषलौकिके ।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ १५ ॥

वाले अपने पिता कृष्ण द्वैपायनसे यह सन्देह विषय पूछा । (६-८)

शुकदेव बोले, हे भगवन् ! भूतोंके कालनिष्ठा ज्ञानसे युक्त कर्ता कौन है, और ब्राह्मणका कर्तव्य क्या है ? उसे आप वर्णन करिये । (९)

भीष्म बोले, अतीत और अनागत विषयोंके जाननेवाले ब्रह्मज्ञ तथा सर्व धर्मज्ञ पिता व्यासदेव उस प्रश्न करनेवाले पुत्रसे वह सब वृत्तान्त कहने लगे । (१०)

व्यासदेव बोले, अनादि, अनन्त, जन्मरहित, दीप्तिमान्, नित्य, अजर, अव्यय, तर्कके अगोचर, अविज्ञेय ब्रह्म सृष्टिके पहले वर्त्तमान था; कलाकाष्ठा आदि व्यञ्जक सूर्य आदि जो कुछ व्यक्त पदार्थ हैं, वे सभी मनोमय हैं; इसलिये वक्ष्यमाण रूपसे प्रकट कालको ब्रह्म स्वरूपसे मालूम करना उचित है । पन्द्रह निमेषका एक काष्ठा होता है, तीस काष्ठाको एक कला कहते हैं, तीस कला और कलाके दशवें भाग तीन काष्ठाका एक मुहूर्त हुआ करता है, तीस मुहूर्तकी एक दिन और राति होती है; मुनि लोग इस ही प्रकार गिनती किया करते हैं, तीस दिनरातका एक महीना और बारह महीनोंका एक वर्ष कहा जाता है। सांख्य जाननेवाले पुरुष कहते हैं, दो अयनका एक वर्ष होता है । अयन दो प्रकारके हैं, दाक्षिणायन और उत्तरायण । सूर्यदेव मनुष्य लोक सम्बन्धीय रातदिनका विभाग करते हैं, जीवोंकी निद्राके लिये

पित्र्ये राज्यहनी मासः प्रविभागस्तयोः पुनः।
शुक्लोऽहः कर्मचेष्टायां कृष्णः स्वप्नाय शर्वरी ॥ १६ ॥
दैवे राज्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ॥ १७ ॥
ये ते राज्यहनी पूर्वं कीर्तिते जीवलौकिके।
तयोः सङ्ख्याय वर्षाग्रं ब्राह्मे वक्ष्याम्यहःक्षपे ॥१८॥
पृथक्संवत्सराग्राणि प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः।
कृते त्रेतायुगे चैव द्वापरे च कलौ तथा ॥ १९ ॥
चत्वार्याहुःसहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ॥ २० ॥
इतरेषु स सन्ध्येषु सन्ध्यांशेषु ततस्त्रिषु।
एकपादेन हीयन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ २१ ॥
एतानि शाश्वतान् लोकान् धारयन्ति सनातनान्।

रात और कार्य करनेके वास्ते दिन हुआ करता है। (११–१५)

मनुष्य लोकका एक महीना पितरोंका एक दिनरात है, उसके बीच यह विभाग है, कि कृष्ण पक्ष उन लोगोंके कर्मचेष्टाके निमित्त दिनरूपसे विहित है, और शुक्लपक्ष स्वप्नके निमित्त रात्रिरूपसे कहा गया है। मनुष्योंका एक वर्ष देवताओंका एक दिनरात है। इसका ऐसा विभाग है, कि उत्तरायण दिन और दक्षिणायन रात्रिरूपसे निरूपित है। जीवलोकके दिन रातका विषय जो वर्णन किया है, उसके अनुसार क्रमसे जो देवलोकके दिनरात्रि कही गई, उस देव-परिमाणसे दो हजार वर्ष, परब्रह्माकी एक अहोरात होती है। सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग, इन चारों युगोंसे पृथक् पृथक् वर्षोंकी गिनती हुआ करती है। देवपरिमाणसे चार हजार वर्ष सतयुगका परिमाण है और उसही परिमाणसे चार सौ वर्षकी सतयुगकी सन्ध्या होती है तथा चार सौ वर्ष तक सन्ध्यांश काल है। (१६—२०)

इस ही प्रकार सन्ध्या और सन्ध्यांशके सहित इतर युग सब एक एक चरणहीन हैं, अर्थात् त्रेतायुग देवपरिमाणसे तीन हजार वर्षका है, उसकी सन्ध्या और सन्ध्यांश प्रत्येकका परिमाण तीन सौ वर्षका है। द्वापर देवपरिमाणसे दो हजार वर्षका है, उसकी सन्ध्या और सन्ध्यांश प्रत्येक दो सौ

एतद्ब्रह्मविदां तात विदितं ब्रह्म शाश्वतम् ॥ २२ ॥
चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे ।
नाधर्मेणागमः कश्चित्परस्तस्य प्रवर्तते ॥ २३ ॥
इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोप्यते ।
चौर्यकानृतमायाभिरधर्मश्चोपचीयते ॥ २४ ॥
अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।
कृते त्रेतायुगे त्वेषां पादशो ह्रसते वयः ॥ २५ ॥
वेदवादाश्चानुयुगं ह्रसन्तीतीह नः श्रुतम् ।
आयूंषि चाशिषश्चैव वेदस्यैव च यत्फलम् ॥ २६ ॥
अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे ।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ २७ ॥
तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुत्तमम् ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ २८ ॥
एतां द्वादशसाहस्रीं युगाख्यां कवयो विदुः ।
सहस्रपरिवर्तं तद्ब्राह्मं दिवसमुच्यते ॥ २९ ॥

वर्षके हैं । कलियुग देवपरिमाणसे एक हजार वर्षका है, उसकी सन्ध्या और सन्ध्यांश प्रत्येक एक सौ वर्षके निरूपित हुए हैं । ये चारों युग शाश्वत सनातन लोकोंको धारण कर रहे हैं, ब्रह्मवित् पुरुष इस कालको ही नित्य ब्रह्म कहके जानते हैं । सतयुगमें सब धर्म और सत्य आचरण था, अधर्मसे कोई विषय प्राप्त नहीं होते थे; त्रेता आदि युगोंमें क्रमसे धर्म एक एक चरणहीन हुआ है; चोरी, झूठ और शठतासे अधर्मकी वृद्धि हुई है, सतयुगमें सब पुरुष ही चार सौ वर्षकी आयुसे युक्त और रोगरहित रहके सब मनोरथोंको सिद्ध करते थे । (२१–२५)

त्रेतायुगोंसे क्रमसे मनुष्योंकी आयु एक एक चरण घटती आती है । मैंने सुना है, प्रति युगमें वेदवाक्य और उसके फल, आशा तथा आयु क्रमसे न्हस्व होती जाती है । सतयुगमें मनुष्योंके धर्म स्वतन्त्र थे, त्रेता और द्वापरमें भिन्न भिन्न धर्म हुए; युग न्हासके अनुसार कलियुगमें भी मनुष्योंके धर्म पृथक् रूपसे निर्दिष्ट हुए हैं । सतयुगमें तपस्या ही मनुष्योंका परम धर्म था, त्रेतामें ज्ञान ही श्रेष्ठ था, द्वापरमें यज्ञकर्म और कलियुगमें केवल दानही सबसे श्रेष्ठ धर्मरूपसे वर्णित हुआ है । कवि

रात्रिमेतावतीं चैव तदादौ विश्वमीश्वरः।
प्रलये ध्यानमाविश्य सुप्त्वा सोऽन्ते विबुद्धयते ॥३०॥
सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रां तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ३१ ॥
प्रतिबुद्धो विकुरुते ब्रह्माक्षय्यं क्षपाक्षये।
सृजते च महद्भूतं तस्माद्व्यक्तात्मकं मनः ॥ ३२ ॥ [८४००]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३१ ॥

व्यास उवाच— ब्रह्मतेजोमयं शुक्रं यस्य सर्वमिदं जगत्।
एकस्य भूतं भूतस्य द्वयं स्थावरजङ्गमम् ॥ १ ॥
अहर्मुखे विबुद्धः सन् सृजतेऽविद्यया जगत्।
अग्र एव महद्भूतमाशु व्यक्तात्मकं मनः ॥ २ ॥
अभिभूयेह चार्चिष्मद्व्यसृजत्सप्त मानसान्।
दूरगं बहुधागामि प्रार्थनासंशयात्मकम् ॥ ३ ॥

लोग इस देवपरिमित बारह हजार वर्ष को युग कहा करते हैं; इस ही सहस्र वर्षके परिमाणसे एक ब्राह्म दिन होता है, ब्राह्मरात्रिका परिमाण भी इतना ही है। जगत्‌के ईश्वर ब्रह्मा उस दिवसके अन्त में योगनिद्रा अवलम्बन करके सोते हैं, रात्रि बीतनेपर जागृत हुआ करते हैं। जो लोग सहस्रयुगपर्यन्त ब्रह्माका एक दिन और सहस्रयुगके अन्तभागतक उनकी रात्रि जानते हैं, वेही अहोरात्रिके जाननेवाले हैं। निद्राके अनन्तर साव-धान होनेपर ब्रह्मा निर्विकार स्वरूपको मायासे विकारयुक्त करते हैं, फिर महत् भूतोंकी सृष्टि करनेमें तत्पर होते हैं, उससे ही व्यक्तात्मक मन उत्पन्न होता है। (२५-३२)

शान्तिपर्वमें २३१ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २३२ अध्याय।

व्यास बोले, तेजोमय महत्तत्त्व स्वरूप ब्रह्म ही जगत्‌का बीज है, उससे ही यह समस्त जगत् उत्पन्न हुआ है; द्रव्या-भ्यन्तररहित उस एक मात्र भूतसे स्था-वर जङ्गम सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मा दिनके प्रारंभमें विबुद्ध होकर अविद्याके सहारे जगत्‌की सृष्टि करते हैं, सृष्टिकी आदिमें महत्तत्त्व और व्यक्तात्मक मन उत्पन्न होता है। ईश्वर पूर्वसर्गके अन्तमें सात मानस पदार्थों-को लय करके उत्तर सर्गके प्रारम्भमें उसकी सृष्टि किया करता है। दूरग

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया।
आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दगुणं विदुः ॥ ४ ॥
आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः।
बलवान् जायते वायुस्तस्य स्पर्शो गुणो मतः ॥ ५ ॥
वायोरपि विकुर्वाणाज्ज्योतिर्भवति भास्वरम्।
रोचिष्णु जायते शुक्लं तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ६ ॥
ज्योतिषोऽपि विकुर्वाणाद्भवन्त्यापो रसात्मिकाः।
अद्भ्यो गन्धस्तथा भूमिः सर्वेषां सृष्टिरुच्यते ॥ ७ ॥
गुणाः सर्वस्य पूर्वस्य प्राप्नुवन्त्युत्तरोत्तरम्।
तेषां यावद्यथा यच्च तत्तत्तावद्गुणं स्मृतम् ॥ ८ ॥
उपलभ्याप्सु चेद्गन्धं केचिद् ब्रूयुरनैपुणात्।
पृथिव्यामेव तं विद्यादपां वायोश्च संश्रितम् ॥ ९ ॥
एते सप्तविधात्मानो नानावीर्याः पृथक् पृथक्।
नाशक्नुवन्प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः ॥ १० ॥

और बहुधागामी प्रार्थना तथा संशयात्मक मन सिसृक्षाके जरिये प्रेरित होकर सृष्टिको अनेक रूपसे किया करता है। पण्डित लोग कहा करते हैं, कि मनसे आकाश उत्पन्न होता है, उसका गुण शब्द है। (१-४)

आकाशसे सर्वगन्धको ढोनेवाला पवित्र और बलवान् वायु उत्पन्न होता है, उसका गुण स्पर्श है। वायुसे भास्वर रोचिष्णु सफेद वर्णकी ज्योति उत्पन्न होती है, उसका गुण रूप है; अग्निसे रसात्मक जल उत्पन्न हुआ करता है, जलसे भूमि उत्पन्न होती है, उसका गुण गन्ध है, ये सब परम सृष्टि है। उत्तरोत्तर भूतोंमें पूर्वके भूतोंके सब गुण प्राप्त होते हैं। इन सब भूतोंके बीच जो भूत जबतक जिस प्रकार वर्त्तमान रहता है, उसका गुण भी तबतक उस ही प्रकार उसमें निवास करता है। कोई पुरुष जलके बीच गन्ध सूंघके मूढताके कारण यदि उसे जलका ही गन्ध कहके माने, तो वह यथार्थमें उसका नहीं है, गन्ध पृथ्वीका गुण है; वायु और जल आदिमें वह आगन्तुक द्रव्य-सम्पर्कसे मालूम हुआ करता है। (५—९)

ये महावीर्यशाली सात प्रकारके व्यापक पदार्थ अर्थात् महत्तत्त्व, आकाश - तत्त्व और आकाशादि अपञ्चीकृत पञ्च महाभूतोंके परस्पर न मिलनेसे प्रजा-

ते समेत्य महात्मानो ह्यन्योन्यमभिसंश्रिताः ।
शरीराश्रयणं प्राप्तास्ततः पुरुष उच्यते ॥ ११ ॥
शरीरं श्रयणाद्भवति मूर्तिमत्षोडशात्मकम् ।
तमाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मणा ॥ १२ ॥
सर्वभूतान्युपादाय तपसश्चरणाय हि ।
आदिकर्ता स भूतानां तमेवाहुः प्रजापतिम् ॥ १३ ॥
स वै सृजति भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
ततः स सृजति ब्रह्मा देवर्षिपितृमानवान् ॥ १४ ॥
लोकान्नदीः समुद्रांश्च दिशः शैलान्वनस्पतीन् ।
नरकिन्नररक्षांसि वयःपशुमृगोरगान् ।
अव्ययं च व्ययं चैव द्वयं स्थावरजङ्गमम् ॥ १५ ॥
तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे ।
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥ १६ ॥
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।

ओंकी सृष्टि करनेमें समर्थ नहीं हो-सकते । ये परस्परके सहारेसे मिलित होकर शरीर स्वरूप अवलम्बको प्राप्त होके पुरुष रूपसे कहे जाते हैं। पञ्चभूत, मन और दशों इन्द्रिय ये सोलह पदार्थ शरीरका आसरा करके एकत्रित और मूर्त्तिमान् हुआ करते हैं; महत्तत्त्व आदि सब भूत भोगनेसे शेष रहे हुए कर्म के सहित उस सूक्ष्म शरीरमें प्रविष्ट होते हैं। भूतोंका आदि कर्त्ता निज उपाधि-भूत मायाके एकादश भूत समस्त भूतोंको सङ्कलन करके तपस्याचरणके निमित्त उसमें ही प्रविष्ट हुआ करता है, पण्डित लोग उस ही आदि कर्त्ताको प्रजापति कहते हैं। (९-१३)

वही शरीरान्तर वर्त्ती प्रजापति स्थावर जङ्गम जीवोंको उत्पन्न करता है। शरीरमें प्रवेश करनेके अनन्तर वह प्रजापति देवर्षि, पितर और मनुष्य लोगोंकी सृष्टि करनेमें तत्पर होता है; क्रमक्रमसे नदी, समुद्र, पहाड, दिशा, वनस्पति, मनुष्य, किन्नर, निशाचर, पशुपक्षी, हरिन, सर्प और आकाश आदि नित्य वस्तु तथा घट पट आदि अनित्य वस्तुओंसे युक्त स्थावर जङ्गम पदार्थोंकी सृष्टि करता है। वे सब पहिले सृष्टिके समयमें जिन सब कर्मोंको प्राप्त हुए थे, फिर उत्पन्न होके उन्हीं कर्मोंको प्राप्त करते हैं। (१४-१६)

मनुष्य, किन्नर, निशाचर आदि

तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते ॥ १७ ॥
महाभूतेषु नानात्वमिन्द्रियार्थेषु मूर्तिषु ।
विनियोगं च भूतानां धातैव विदधात्युत ॥ १८ ॥
केचित्पुरुषकारं तु प्राहुः कर्मसु मानवाः ।
दैवमित्यपरे विप्राः स्वभावं भूतचिन्तकाः ॥ १९ ॥
पौरुषं कर्म दैवं च फलवृत्तिस्वभावतः ।
त्रय एतेऽपृथग्भूता न विवेकं तु केचन ॥ २० ॥

जीवोंने विधाताके जरिये प्रकट होके हिंसक, अहिंसक, कोमल, कठोर, धर्म, अधर्म, सत्य और मिथ्या आदि गुणों-को अवलम्बन किया अर्थात् पहले सृष्टि समयमें जिनकी जिन विषयोंमें अभि-लाषा थी, इन जन्ममें भी उनकी उस ही विषयमें इच्छा हुई, जगदिन्द्रजाल फैलानेवाले विधाता ही वियदादि सब महाभूतों, रूप आदि विषय, इन्द्रियों और द्रव्याकृति मूर्त्तियों नानात्व अर्थात् शुक्ति रजतकी भांति प्रति पुरुषमें विभिन्नता, तथा जीवोंके विषय विशेषमें विनियोग अर्थात् भोक्तृभाव, सम्बन्ध बन्धन किया करता है। कोई कोई मनुष्य कहा करते हैं, सब कर्मोंमें ही पुरुषकी सामर्थ है; इसलिये कर्म ही प्रधान है। दूसरे ब्राह्मण लोग कहा करते हैं सूर्य आदि सब ग्रह ही सत् असत् फलके देनेवाले हैं; इसलिये दैव ही प्रधान है। स्वभाववादी पुरुष स्वभावको ही सबसे प्रधान कहा करते हैं। (१७-१९)

दूसरे मतवाले मनुष्य कहते हैं, दैव-कर्म स्वभावके अनुग्रहीत होके फल देनेमें प्रवृत्त हुआ करता है, पौरुष कर्म और दैव, ये पृथक् नहीं हैं। ये तीनों ही मिलके फल उत्पन्न करते हैं, इनमेंसे प्रत्येककी प्रधानता नहीं है। जीवोंके अनेकत्व विषयमें क्या कारण है; जो इसे आर्हत-मतावलम्बी नास्तिकोंने विशेष रूपसे वर्णन नहीं किया, इसे निर्वाचन करनेमें भी उन लोगोंकी सामर्थ नहीं है, यह विषय अनिर्वचनीय है, ऐसा भी नहीं कह सकते। कर्म और दैव इन दोनोंके बीच अन्यन्तरका कार-णत्व सुवच वा दुर्वच हो, दोनों ही इकट्ठे होनेपर कारण होसकते हैं, ऐसी आशंका करके उक्त दोनोंको ही वे लोग कारण नहीं कहते और उन दोनोंके अतिरिक्त दूसरा कोई कारण है, वह भी नहीं कह सकते। तप्त शिलारोहणादि निर्जराख्य धर्मके जरिये मोक्ष हुआ करती है, वे लोग उसे ही सिद्ध करते हैं। परन्तु रजोगुण और तमोगुणसे

एतमेव च नैवं च न चोभे नानुभे न च।
कर्मस्था विषयं ब्रूयुः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ॥ २१ ॥
ततो निःश्रेयसं जन्तोस्तस्य मूलं शमो दमः।
तेन सर्वानवाप्नोति यान्कामान्मनसेच्छति ॥ २२ ॥
तपसा तदवाप्नोति यद्भूतं सृजते जगत्।
स तद्भूतश्च सर्वेषां भूतानां भवति प्रभुः ॥ २३ ॥
ऋषयस्तपसा वेदानध्यैषन्त दिवानिशम्।
अनादिनिधना विद्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ॥ २४ ॥
ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः।
नानारूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् ॥ २५ ॥
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः।
नामधेयानि चर्षीणां याश्च वेदेषु सृष्टयः।
शर्वर्यन्ते सुजातानामन्येभ्यो विदधात्यजः ॥ २६ ॥
नामभेदतपः कर्म यज्ञाख्या लोकसिद्धयः।
आत्मसिद्धिस्तु वेदेषु प्रोच्यते दशभिः क्रमैः॥ २७ ॥

रहित अन्तःकरणवाले सम्प्रज्ञात अवस्थामें स्थित योगीलोग ब्रह्मको ही कारण रूपसे देखते हैं; इस ही लिये वे लोग समदर्शी कहे जाते हैं। (२०-२१)

जीवोंके पक्षमें तपस्या ही मोक्षका कारण है, मनोनिग्रह रूपी शम और बाह्येन्द्रिय निग्रहात्मक दम उस तपस्याके मूल हैं। मनुष्य मन ही मन जो सब कामना करता है, तपस्याके सहारे वह सब पाता है। जिसने जगत्को उत्पन्न किया है, तपस्याके सहारे जीव उसे पाता है, और उसहीका रूप होकर सब जीवोंके ऊपर प्रभुता करनेमें समर्थ हुआ करता है। ऋषि लोग तपोबलसे ही दिनरात वेद पढते हैं, वह अनादिनिधन विद्यारूपी वेदवाणी स्वयम्भूके जरिये शिष्य प्रशिष्य सम्प्रदाय क्रमसे प्रवर्त्तित हुई है। सृष्टिके पहले वेदमयी दिव्यवाणी विद्यमान थी, उससे ही समस्त वृत्तान्त उत्पन्न हुए हैं। सृष्टिके आरम्भमें ईश्वर वेदशब्दोंसे ऋषियोंके नामधेय, जीवोंके अनेक रूप और सब कर्मोंका प्रवर्त्तन निर्माण करता है; वेदके बीच ऋषियोंके जो नामधेयविहित थे, सृष्टि आरम्भके समय विधाताने उसे ही विधान किया। (२२-२६)

नामभेद, तपस्या, कर्म और यज्ञोंको लोकसिद्धि कहते हैं, और आत्मसि-

यदुक्तं वेदवादेषु गहनं वेददर्शिभिः ।
तदन्तेषु यथायुक्तं क्रमयोगेन लक्ष्यते ॥ २८ ॥
कर्मजोऽयं पृथग्भावो द्वन्द्वयुक्तोऽपि देहिनः ।
तमात्मसिद्धिर्विज्ञानाज्जहाति पुरुषो बलात् ॥ २९ ॥
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ३० ॥
आलम्भयज्ञाः क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विशः स्मृताः ।
परिचारयज्ञाः शूद्रास्तु तपोयज्ञा द्विजातयः ॥ ३१ ॥
त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृते युगे ।
द्वापरे विप्लवं यान्ति यज्ञाः कलियुगे तथा ॥ ३२ ॥

द्धिके विषय वेदमें दश प्रकारसे वर्णित हुए हैं । वेददर्शी ऋषि लोग कहा करते हैं, कि वह वेद और वेदान्त वाक्योंके बीच अत्यन्त गहनभावसे विद्यमान हैं। पहले कहे हुए दश प्रकारके क्रम यही हैं, कि वेदाध्ययन, दारपरिग्रह करके गार्हस्थ्य अवलम्बन, कृच्छ्रचान्द्रायण आदि वानप्रस्थाश्रम रूपी तपस्या, सर्वाश्रम साधारण सन्ध्योपासना आदि कर्म, ज्योतिष्टोमादि यज्ञ, कीर्त्तिकर तडाग और आराम आदि पूर्त्तकर्म, ध्यान आदि मानस धर्म, वैश्वानराख्य-का कारण ब्रह्मदर्शन, दहरादि ब्रह उपा-सना और विशुद्धस्वरूपका ज्ञान, इन दशों प्रकारके क्रमके जरिये सांसारिक दुःखोंसे पार होकर परब्रह्मको प्राप्त किया जाता है। इस ही लिये वेद और वेदान्त वाक्य उपनिषदोंके बीच ये दश प्रकारके क्रम आत्मसिद्धिके उपायरूपसे वर्णित हुए हैं । (२७-२८)

देहाभिमानी जीव जो द्वैत-दर्शन किया करता है; वह कर्मज है; कर्मके नष्ट होनेपर सुषुप्ति और समाधि समयमें उसका अभाव होता है । सुख, दुःख, सर्दी, गर्मी, मान, अपमान आदि द्वन्द्व-युक्त द्वैतदर्शनको ही आत्मसिद्धि कहा जाता है । पुरुष विज्ञान बलके प्रभावसे ज्ञातृज्ञेय भाव रूप भेद परित्याग किया करता है । दो प्रकार ब्रह्मको जानना उचित है, पहला शब्दब्रह्मरूप प्रणव, दूसरा परब्रह्म; जो प्रणव उपासना विष-यमें निपुण होते हैं, वेही परब्रह्मको प्राप्त हुआ करते हैं । क्षत्रियोंकी पशु-हिंसा, वैश्योंको धान्य आदि के यज्ञ करना, शूद्रोंको ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों वर्णोंकी सेवा करना और ब्राह्मणोंको ब्रह्मकी उपासना ही यज्ञस्वरूप है । त्रेतायुगमें यज्ञोंकी इस ही

अपृथग्धर्मिणो मर्त्या ऋक्सामानि यजूंषि च।
काम्या इष्टीः पृथग्दृष्ट्वा तपोभिस्तप एव च ॥ ३३ ॥
त्रेतायां तु समस्ता ये प्रादुरासन्महाबलाः।
संयन्तारः स्थावराणां जङ्गमानां च सर्वशः ॥ ३४ ॥
त्रेतायां संहता वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा।
संरोधादायुषस्त्वेते भ्रश्यन्ते द्वापरे युगे ॥ ३५ ॥
दृश्यन्ते न च दृश्यन्ते वेदाः कलियुगेऽखिलाः।
उत्सीदन्ते सयज्ञाश्च केवलाऽधर्मपीडिताः ॥ ३६ ॥
कृते युगे यस्तु धर्मो ब्राह्मणेषु प्रदृश्यते।
आत्मवत्सु तपोवत्सु श्रुतवत्सु प्रतिष्ठितः ॥ ३७ ॥
सधर्मव्रतसंयोगं यथाधर्मं युगे युगे।
विक्रियन्ते स्वधर्मस्था वेदवादा यथागमम् ॥ ३८ ॥

प्रकारसे विधि हुई थी; सतयुगमें किसी विधिका प्रयोजन नहीं था; क्यों कि उस समयमें ये सब प्रवृत्ति स्वतः सिद्ध थी। द्वापरमें लोग यज्ञकर्म आरम्भ करनेकी इच्छा करते थे, कलियुगमें सब कोई उस विषयसे विमुख हुए हैं। सतयुगमें मनुष्य अद्वैतनिष्ठ थे, वे लोग ऋक्, यजु, सामवेद और स्वर्ग आदि के साधन काम्यकर्म यज्ञादिकोंको तपस्यासे पृथक् जानके वह सब परित्याग करके केवल तपस्याका अनुष्ठान करते थे। (२९-३३)

त्रेतायुगमें धर्मविषयमें मनुष्योंकी स्वतः प्रवृत्तिके अभाव निबन्धनसे धर्मसंक्रान्त शासन कर्त्ता जो सब महाबलवान् राजा उत्पन्न हुए थे, वे लोग स्थावर, जङ्गम आदि सब प्राणियोंको सब तरहसे धर्मविषयक शासन करते थे, इसहीसे त्रेतायुगमें सब वेद, सब यज्ञ और वर्णाश्रमोंके यज्ञादिकोंके अनुष्ठान करानेमें तत्पर थे। द्वापरमें परमायुका परिमाण घटनेसे शासन करनेवाले सभी भ्रष्ट हुए। कलियुगमें सब निखिल वेद थोडेसे दीख पडते हैं, सर्वत्र नहीं दीखते; केवल अधर्मसे पीडित होनेसे यज्ञ और वेद नष्ट होरहे हैं। सतयुगमें जो धर्म सब ब्राह्मण मात्रमेंही दीख पडता था, इस समय वह चित्तको जीतनेवाले योगनिष्ठ वेदान्त सुननेमें तत्पर ब्राह्मणोंमें प्रतिष्ठित होरहा है। (३४-३७)

त्रेतायुगमें अग्निहोत्र करनेवाले ब्राह्मण लोग आचार व्यवहारको अतिक्रम न करके वेदोक्त प्रमाणके अनुसार यज्ञ आदि धर्म, और उसके सहित एकादश

यथा विश्वानि भूतानि वृष्ट्या भूयांसि प्रावृषि ।
सृज्यन्ते जङ्गमस्थानि तथा धर्मा युगे युगे ॥ ३९ ॥
यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा ब्रह्महरादिषु ॥ ४० ॥
विहितं कालनानात्वमनादिनिधनं तथा ।
कीर्तितं तत्पुरस्तात्ते तत्सूते चात्ति च प्रजाः ॥ ४१ ॥
दधाति भवति स्थानं भूतानां समयो मतम् ।
स्वभावे नैव वर्तन्ते द्वन्द्वयुक्तानि भूरिशः ॥ ४२ ॥
सर्गकालक्रिया वेदाः कर्ता कार्यक्रियाफलम् ।
प्रोक्तं ते पुत्र सर्वं वै यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥४३॥ [८४४३]

इति श्रीमहाभारते० शा० मोक्ष० शुकानुप्रश्ने द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३२ ॥

उपवास आदि व्रत और तीर्थ दर्शनादि धर्मकर्म इच्छापूर्वक निवाहते थे; वैदिक द्विजाति भी स्वर्गकी कामना करके यज्ञ करती थी। द्वापरयुगमें ब्राह्मण आदि तीनों वर्ण पुत्रकी कामनासे यज्ञ करनेमें प्रवृत्त होते थे। कलियुगमें केवल शत्रु-मारण आदिकी इच्छासे लोग यज्ञ किया करते हैं; युगयुगमें इस ही प्रकार धर्म अलग अलग दीख पडता है। जैसे प्रावृट् ऋतुमें अनेक प्रकारके स्थावर, जङ्गम, वृक्ष, लता, गुल्म आदि वर्षासे उत्पन्न होकर बढती हैं, वैसेही युगयुगमें धर्माधर्मकी घटती बढती हुआ करती है। जैसे ऋतुकालमें सर्दी गर्मी आदि अनेक भांतिके ऋतुके चिन्ह पर्यायक्रम-से दीखते हैं, वैसेही ब्रह्मा और हर आदिमें सृष्टि संहार सामर्थकी वृद्धि और न्हास दीख पडती है। चतुर्युगात्मक काल-पुरुषके कलाकाष्ठादि भेदसे नानात्व, धर्माधर्मकी न्हास वृद्धि भेदसे विभिन्न-त्व और उसका अनादि निधनत्व पहिले तुम्हारे समीप वर्णन किया है। वह काल ही प्रजाओंको उत्पन्न करके संहार करता है। (३८-४१)

जो सब जरायुज अण्डज स्वेदज और उद्भिज प्राणी स्वाभाविक सुखदुःखसे युक्त होकर वर्त्तमान हैं, काल ही उनका अधिष्ठान है, इसलिये समय ही सब भूतोंको धारण कर रहा है, और प्रति-पालन करता है, समय ही स्वयं सर्व-भूतस्वरूप है। हे तात! समय केवल सर्वभूतस्वरूप ही नहीं है, समय सर्ग आदि आत्मस्वरूप है। तुमने मुझसे जो पूछा था, मैंने उसके अनुसार सृष्टि, काल, यज्ञ, श्राद्धादि कर्म, उनके प्रकाशक वेद, उनका अनुष्ठान करने-

व्यास उवाच— प्रत्याहारं तु वक्ष्यामि शर्वर्यादौ गतेऽहनि ।
यथेदं कुरुतेऽध्यात्मं सुसूक्ष्मं विश्वमीश्वरः ॥ १ ॥
दिवि सूर्यस्तथा सप्त दहन्ति शिखिनोऽर्चिषः ।
सर्वमेतत्तदार्चिर्भिः पूर्णं जाज्वल्यते जगत् ॥ २ ॥
पृथिव्यां यानि भूतानि जङ्गमानि ध्रुवाणि च ।
तान्येवाग्रे प्रलीयन्ते भूमित्वमुपयान्ति च ॥ ३ ॥
ततः प्रलीने सर्वस्मिन् स्थावरे जङ्गमे तथा ।
निर्वृक्षा निस्तृणा भूमिर्दृश्यते कूर्मपृष्ठवत् ॥ ४ ॥
भूमेरपि गुणं गन्धमाप आददते यदा ।
आत्तगन्धा तदा भूमिः प्रलयत्वाय कल्पते ॥ ५ ॥
आपस्तत्र प्रतिष्ठन्ति ऊर्मिमत्यो महास्वनाः ।
सर्वमेवेदमापूर्य तिष्ठन्ति च चरन्ति च ॥ ६ ॥
अपामपि गुणं तात ज्योतिराददते यदा ।

वाला देहादि परिग्रह कार्य और क्रिया-फल स्वर्गादि विषयोंको वर्णन किया। ये सभी काल स्वरूप पुरुषमय हैं। (४२-४३)

शान्तिपर्वमें २३२ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २३३ अध्याय।

वेदव्यास बोले, दिन बीतनेपर रात्रिके आरम्भमें ईश्वर आत्मामें सूक्ष्म भावसे स्थित इस जगत्को जिस प्रकार परिणत करता है, उत्पत्तिक्रमसे विपरीत उस प्रलयका विषय कहता हूं सुनो। आकाशमें द्वादश आदित्य और सङ्कर्षणके मुखसे उत्पन्न हुई अग्निकी आंचे इस दृश्यमान जगत्को जलानेमें प्रवृत्त होती है। उस समय सब जगत् सौरी और आग्नेयी ज्वालासे परिपूरित होकर जाज्वल्यमान हुआ करता है। पृथ्वीमण्डलमें जो सब स्थावरजङ्गम जीव हैं, वेही अगाडी प्रलयको प्राप्त होते हैं और लय होनेपर भूमिके साथ मिल जाते हैं। स्थावर और जङ्गम जीवोंके लय होनेपर भूमि वृक्षहीन और तृणरहित होकर कछुएकी पीठके समान दीख पडती है। जिस समय जल भूमि की कठोरताका हेतु गन्धगुण ग्रहण करता है, उस समय पृथ्वी घृतकी भांति कठोरता परित्याग करके जलमय होजाती है। तब जल तरङ्गमाला और महाशब्दसे युक्त होकर इस दृश्यमान जगत्को अपने रूपमें लीन करते हुए प्रतिष्ठा प्राप्त करके स्थिति तथा विचरण करता है। (१-६)

आपस्तदा त्वात्तगुणा ज्योतिःषूपरमन्ति वै ॥ ७ ॥
यदाऽऽदित्यं स्थितं मध्ये गूहन्ति शिखिनोऽर्चिषः ।
सर्वमेवेदमर्चिर्भिः पूर्णं जाज्वल्यते नभः ॥ ८ ॥
ज्योतिषोऽपि गुणं रूपं वायुराददते यदा ।
प्रशाम्यति ततो ज्योतिर्वायुर्दोधूयते महान् ॥ ९ ॥
ततस्तु स्वनमासाद्य वायुः सम्भवमात्मनः ।
अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक्च दोधवीति दिशो दश ॥ १० ॥
वायोरपि गुणं स्पर्शमाकाशं ग्रसते यदा ।
प्रशाम्यति तदा वायुः खं तु तिष्ठति नादवत् ॥ ११ ॥
अरूपमरसस्पर्शमगन्धं न च मूर्तिमत् ।
सर्वलोकप्रणादितं खं तु तिष्ठति नादवत् ॥ १२ ॥
आकाशस्य गुणं शब्दमभिव्यक्तात्मकं मनः ।
मनसो व्यक्तमव्यक्तं ब्राह्मः सम्प्रतिसञ्चरः ॥ १३ ॥
तदात्मगुणमाविश्य मनो ग्रसति चन्द्रमाः ।

हे तात ! जब अग्नि जलके गुणको ग्रहण करती है, उस समय उसका रस अग्निसे सूखनेसे जलभी अग्निमें लीन होता है। जिस समय अग्निशिखा मध्यमें स्थित आदित्यमण्डलको परिपूरित करती है, उस समय यह समस्त आकाश-मण्डल अग्निशिखासे परिपूर्ण होकर प्रज्वलित हुआ करता है। वायु जब अग्निका गुण ग्रहण करता है, तब उस समय अग्नि विरूप होकर प्रशान्त होती है, अनन्तर अत्यन्त बृहत् वायु दोधूयमान हुआ करता है, और अपने महत् शब्दको अवलम्बन करके नीचे, ऊपर, तिर्यक् प्रदेश तथा दशो दिशाको आक्रमण कर धावित होता है। शेषमें जब आकाश वायुके स्पर्शगुणको ग्रास करता है, तब वायु शान्त होजाता है, और शब्दके पूर्वरूप वर्ण विभाग रहित नादकी भांति आकाशमें स्थित रहता है; वायु आदि दृश्य पदार्थोंमें जिसका शब्द वर्तमान है वह आकाश उस समय रूपहीन, रसरहित, स्पर्शवर्जित, गन्धहीन और अमूर्त होकर नादके साथ स्थित करता है। (७-१२)

अनन्तर आकाशका अभिव्यक्तात्मक शब्द गुण मनके जरिये लय होता है, मनका व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप ब्राह्म प्रलयमें लीन होजाता है। उस समय चन्द्रमा आत्मगुण अर्थात् निःसीम ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य धर्मरूप कर्ममें

मनस्युपरते चापि चन्द्रमस्युपतिष्ठते ॥ १४ ॥
तं तु कालेन महता सङ्कल्पं कुरुते वशे ।
चित्तं ग्रसति सङ्कल्पस्तत्र ज्ञानमनुत्तमम् ॥ १५ ॥
कालो गिरति विज्ञानं कालं बलमिति श्रुतिः ।
बलं कालो ग्रसति तु तं विद्या कुरुते वशे ॥ १६ ॥
आकाशस्य तदा घोषं तं विद्वान् कुरुतेऽऽत्मनि ।
तदव्यक्तं परं ब्रह्म तच्छाश्वतमनुत्तमम् ।
एवं सर्वाणि भूतानि ब्रह्मैव प्रतिसञ्चरः ॥ १७ ॥
यथावत्कीर्तितं सम्यगेवमेतदसंशयम् ।
बोध्यं विद्यामयं दृष्ट्वा योगिभिः परमात्मभिः॥ १८ ॥
एवं विस्तारसङ्क्षेपौ ब्रह्मा व्यक्ते पुनः पुनः ।

आविष्ट होकर हिरण्यगर्भ सम्बन्धीय समष्टि मनको नष्ट करता है, मन शान्त होनेपर भी केवल चन्द्रमामें वर्तमान रहता है। योगी पुरुष चन्द्रमा नामक उपाधियुक्त सङ्कल्पमात्र शरीर मनको बहुत समयतक वशीभूत करनेमें समर्थ होते हैं; जब सङ्कल्प विचारात्मिका चित्तवृत्तिको ग्रास करता है, तब सङ्कल्प को रोकना अत्यन्त दुःसाध्य होता है। इस सङ्कल्पके वशीकरणका यही उपाय है कि "यह सब मैंही हूं," इसही प्रकारका ज्ञान सबसे उत्तम है। "मैं" इतना ही प्रत्यय स्वरूप काल सबका अनुभव करानेवाला विज्ञानको ग्रास करता है, और बल नामक शक्ति ही काल स्वरूप है, यह वेदमें प्रतिपन्न है। जैसे बल कालको कवलित करता है, काल भी उस ही प्रकार बलको ग्रास किया करता है। विदेह कैवल्यरूप शान्त बुद्धि पुनरुत्थानाभाव निबन्धनकालको वशमें कर रखती है। (१३-१६)

विदेह कैवल्यस्वरूपी शान्तबुद्धि जिस समय कालको वशीभूत करती है, उस समय विद्वान् योगी आकाशके गुणनाद अर्थात् अर्धमात्रा बिन्दुके अनुसार आत्माको परब्रह्ममें संयुक्त करता है। वह परमात्माही नित्य निर्मुक्त सर्वोत्तम परब्रह्म है; वही इस प्रकार सब भूतोंकी प्रलय किया करता है, यह प्रलयका विषय कहा गया है रस्सीमें सर्पभ्रमकी भांति सब भूतोंके लीन होनेपर केवल अकेला ब्रह्म ही शेष रहता है। परमात्मदर्शी योगियोंने शास्त्रमें कहे हुए विद्यामय इस बोधविषयको निःसंशयरूपसे देखकर यथावत् वर्णन किये हैं। ब्रह्मा इस ही प्रकार बार बार

युगसाहस्रयोरादावहोरात्रस्तथैव च ॥ १९ ॥ [८४६२]

इति श्रीमहाभारते० शान्ति० मोक्ष० शुकानुप्रश्ने त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३३ ॥

व्यास उवाच— भूतग्रामे नियुक्तं यत्तदेतत्कीर्तितं मया ।
ब्राह्मणस्य तु यत्कृत्यं तत्ते वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ १ ॥
जातकर्मप्रभृत्यस्य कर्मणां दक्षिणावताम् ।
क्रिया स्यादासमावृत्तेराचार्ये वेदपारगे ॥ २ ॥
अधीत्य वेदानखिलान् गुरुशुश्रूषणे रतः ।
गुरूणामनृणो भूत्वा समावर्तेत यज्ञवित् ॥ ३ ॥
आचार्येणाभ्यनुज्ञातश्चतुर्णामेकमाश्रमम् ।
आविमोक्षाच्छरीरस्य सोऽवतिष्ठेद्यथाविधि ॥ ४ ॥
प्रजासर्गेण दारैश्च ब्रह्मचर्येण वा पुनः ।
वने गुरुसकाशे वा यतिधर्मेण वा पुनः ॥ ५ ॥
गृहस्थस्त्वेष धर्माणां सर्वेषां मूलमुच्यते ।
यत्र पक्वकषायो हि दान्तः सर्वत्र सिध्यति ॥ ६ ॥

सृष्टि और प्रलय किया करता है। सहस्र युग पर्यन्त सृष्टिकाल ही उसका दिन और सहस्र युग पर्यन्त प्रलयका समय ही उसकी रात्रिरूपसे गिनी जाती है। (१७-१९)

शान्तिपर्वमें २३३ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें २३४ अध्याय ।

वेदव्यास बोले, हे तात ! तुमने जो भूतग्रामका विषय पूंछा था, मैंने उस विषयको वर्णन किया; अब ब्राह्मणोंके जो कुछ कर्तव्य हैं, उसका विवरण करता हूं सुनो। द्विजातियोंके जातकर्म आदिसे समावर्तन पर्यन्त सब दक्षिणान्वित क्रिया वेद जाननेवाले आचार्यके निकट सिद्ध करनी होगी। यज्ञवित् ब्राह्मण गुरुसेवामें रत रहके अखिल वेदको पढकर आचार्यसे अऋणी होके गृहस्थाश्रम अवलम्बन करे; अथवा आचार्यसे अनुज्ञात होकर जबतक शरीर धारण करे, तबतक चारों आश्रमोंके अन्यतरको विधिपूर्वक अवलम्बन करे। अथवा ब्रह्मचर्यके अनन्तर दारपरिग्रह कर सन्तान उत्पन्न करके जङ्गलके बीच गुरुजनोंके निकट यतिधर्मके जरिये निवास करे। महर्षि लोग गृहस्थको इन सब धर्मोंका मूल कहा करते हैं। गार्हस्थ आश्रममें पक्व कषाय अर्थात् लय और विक्षेपके अभावमें राग आदि वासनाके जरिये शुद्धता निबन्धनसे जिनका चित्त अखण्डवस्तुको अवलम्बन

प्रजावान् श्रोत्रियो यज्वा मुक्त एव ऋणैस्त्रिभिः ।
अथान्यानाश्रमान्पश्चात्पूतो गच्छेत कर्मभिः ॥ ७ ॥
यत्पृथिव्यां पुण्यतमं विद्यात्स्थानं तदावसेत् ।
यतेत तस्मिन्प्रामाण्यं गन्तुं यशसि चोत्तमे ॥ ८ ॥
तपसा वा सुमहता विद्यानां पारणेन वा ।
इज्यया वा प्रदानैर्वा विप्राणां वर्धते यशः ॥ ९ ॥
यावदस्य भवत्यस्मिन्कीर्तिर्लोके यशस्करी ।
तावत्पुण्यकृताँल्लोकाननन्तान्पुरुषोऽश्नुते ॥ १० ॥
अध्यापयेदधीयीत याजयेत यजेत वा ।
न वृथा प्रतिगृह्णीयान्न च दद्यात्कथञ्चन ॥ ११ ॥
याज्यतः शिष्यतो वाऽपि कन्याया वा धनं महत् ।
यदा गच्छेद्यजेद्दद्यान्नैकोऽश्नीयात्कथञ्चन ॥ १२ ॥
गृहमावसतो ह्यस्य नान्यत्तीर्थं प्रतिग्रहात् ।
देवर्षिपितृगुर्वर्थं वृद्धातुरबुभुक्षताम् ॥ १३ ॥
अन्तर्हितारितप्तानां यथाशक्ति बुभूषताम् ।

करनेमें समर्थ नहीं है, वैसे ही ब्राह्मण जितेन्द्रिय होनेपर सब आश्रमोंमें ही सिद्धिलाभ करनेमें समर्थ होते हैं। (१—६)

पुत्रवान् श्रोत्रिय और याज्ञीय ब्राह्मण तीनों ऋणोंसे विमुक्त ही हैं, अनन्तर वह कर्मसे पवित्र होकर आश्रमान्तरमें गमन करें, पृथ्वीके बीच ब्राह्मण जिस स्थानको पवित्र समझे, वहां पर वास करे और श्रेष्ठ यश उपार्जनमें यत्नवान् होवे। उत्तम महत् तपस्या, सब विद्याकी पारदर्शिता, यज्ञ और दानसे द्विजोंके यशकी वृद्धि होती है, इस लोकमें ब्राह्मणोंकी जितने परिमाणसे यशस्करी कीर्त्ति हुआ करती है, वह उतने ही परिमाणसे पुण्यवान् लोगोंके अनन्त लोकको उपभोग करते हैं। ब्राह्मण अध्ययन, अध्यापन, यजन और याजन करे, कभी वृथा प्रतिग्रह वा वृथा दान न करे, यजमान, शिष्य और कन्यासे जो महत् धन प्राप्त हो, वह यज्ञकार्यमें व्यय और दान करे, किसी भांति अकेले उपभोग न करे। देवता, ऋषि, पितर, गुरु, आतुर और भूखोंके लिये जो दान किया जाता है गृहस्थके पक्षमें उससे बढके दूसरा तीर्थ और कुछ भी नहीं है। (७-१३)

अन्तर्हित शत्रुसे सन्तप्त और शक्तिके

द्रव्याणामतिशक्त्याऽपि देयमेषां कृतादपि ॥ १४ ॥
अर्हतामनुरूपाणां नादेयं ह्यस्ति किञ्चन ।
उच्चैःश्रवसमप्यश्वं प्रापणीयं सतां विदुः ॥ १५ ॥
अनुनीय यथाकामं सत्यसन्धो महाव्रतः ।
स्वैः प्राणैर्ब्राह्मणप्राणान्परित्राय दिवं गतः ॥ १६ ॥
रन्तिदेवश्च साङ्कृत्यो वसिष्ठाय महात्मने ।
अपः प्रदाय शीतोष्णा नाकपृष्ठे महीयते ॥ १७ ॥
आत्रेयश्चेन्द्रदमनो ह्यर्हते विविधं धनम् ।
दत्वा लोकान्ययौ धीमाननन्तान्स महीपतिः ॥ १८॥
शिबिरौशीनरोऽङ्गानि सुतं च प्रियमौरसम् ।
ब्राह्मणार्थमुपाहृत्य नाकपृष्ठमितो गतः ॥ १९ ॥
प्रतर्दनः काशिपतिः प्रदाय नयने स्वके ।
ब्राह्मणायातुलां कीर्तिमिह चामुत्र चाश्नुते ॥ २० ॥
दिव्यमष्टशलाकं तु सौवर्णं परमार्धिमत् ।
छत्रं देवावृधो दत्वा सराष्ट्रोऽभ्यपतद्दिवम् ॥ २१ ॥

अनुसार ज्ञान प्राप्त करनेमें अनुरक्त ब्राह्मणोंको उचित है, कि निज शक्तिको अतिक्रम करके प्राप्त हुई वस्तुओंमें से भी अधिक दान करें। अनुरूप अर्हणीय ब्राह्मणोंको कुछ भी अदेय नहीं है; प्राचीन पण्डित लोग ऐसा कहा करते हैं, कि उच्चश्रवा घोडा भी साधुओंको प्राप्य है। महाव्रत राजा सत्यसन्धने इच्छानुसार विनती करके निज प्राण दानसे ब्राह्मणका प्राण बचाके सुरपुरमें गमन किया है। सांकृतिपुत्र रन्तिदेव महात्मा वशिष्ठको न बहुत ठण्डा न बहुत गर्म जल दान करके अमरलोकमें सम्मान भाजन हुए हैं, इन्द्रदमन बुद्धिमान् अत्रेय राजाने किसी पूजनीय ब्राह्मणको अनेक तरहका धन दान करके अनन्तलोकमें गमन किया है। उशीनरपुत्र शिबिराजाने राज्याङ्गोंके सहित निज और सपुत्र ब्राह्मणोंको दान करके इस लोकसे नाकपृष्ठ पर आरोहण किया है। (१४-१९)

काशिराज प्रतर्दन ब्राह्मणको अपने दोनों नेत्र दान करके इस लोक और परलोकमें अतुल कीर्तिभागी हुए। देवावृध राजाने आठ शलाकाओंसे युक्त सुवर्णमय महामूल्यवान् छत्र दान करके राज्यवासियोंके सहित भूलोकमें गमन किया, अत्रिपुत्र महातेजस्वी सांकृतिने

सांकृतिश्च तथाऽत्रेयः शिष्येभ्यो ब्रह्म निर्गुणम् ।
उपदिश्य महातेजा गतो लोकाननुत्तमान् ॥ २२ ॥
अम्बरीषो गवां दत्वा ब्राह्मणेभ्यः प्रतापवान् ।
अर्बुदानि दशैकं च सराष्ट्रोऽभ्यपतद्दिवम् ॥ २३ ॥
सावित्री कुण्डले दिव्ये शरीरं जनमेजयः ।
ब्राह्मणार्थे परित्यज्य जग्मतुर्लोकमुत्तमम् ॥ २४ ॥
सर्वरत्नं वृषादर्भिर्युवनाश्वः प्रियाः स्त्रियः ।
रम्यमावसथं चैव दत्वा स्वर्लोकमास्थितः ॥ २५ ॥
निमी राष्ट्रं च वैदेहो जामदग्न्यो वसुन्धराम् ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ चापि गयश्चोर्वीं सपत्तनाम् ॥ २६ ॥
अवर्षति च पर्जन्ये सर्वभूतानि भूतकृत् ।
वसिष्ठो जीवयामास प्रजापतिरिव प्रजाः ॥ २७ ॥
करन्धमस्य पुत्रस्तु कृतात्मा मरुतस्तथा ।
कन्यामङ्गिरसे दत्वा दिवमाशु जगाम ह ॥ २८ ॥
ब्रह्मदत्तश्च पाञ्चाल्यो राजा बुद्धिमतां वरः ।
निधिं शङ्खं द्विजाग्र्येभ्यो दत्वा लोकानवाप्तवान्॥२९॥
राजा मित्रसहश्चापि वसिष्ठाय महात्मने ।

शिष्योंको निर्गुण ब्रह्मविषयक उपदेश देकर परमश्रेष्ठ लोकोंको पाया है। प्रतापवान् अम्बरीष राजा ग्यारह अर्बुद गऊ ब्राह्मणोंको दान करके राज्यके सहित सुरलोकमें गये। सावित्रीने दोनों दिव्य कुण्डल और जनमेजयने ब्राह्मणके निमित्त अपना शरीर छोडके उत्तम लोक पाया है। वृषादर्भि युवनाश्व समस्त रत्न, प्रिय स्त्रियां और रमणीय गृह दान करके स्वर्गलोकमें निवास करते हैं। विदेहवंशीय निमि राजाने ब्राह्मणोंको राज्य दिया, जमदग्निपुत्रने पृथिवी दान की और गय राजाने नगरके सहित पृथ्वी ब्राह्मणोंको समर्पण किया। (२०-२६)

जैसे प्रजापति प्रजाकी रक्षा करते हैं, वैसे ही अनावृष्टिके समय भूतभावन वशिष्ठदेवने सब जीवोंको जीवित रखा था। करन्धमके पुत्र पवित्र बुद्धिवाले मरुत अङ्गिराको कन्या दान करनेसे शीघ्र ही स्वर्गमें गये। पाञ्चालराज बुद्धिमान् ब्रह्मदत्तने अग्रगण्य द्विजोंको निधि और शङ्ख दान करके भी शुभलोकोंको पाया है। मित्रसह राजा

मदयन्तीं प्रियां दत्त्वा तया सह दिवं गतः ॥ ३० ॥
सहस्रजिच्च राजर्षिः प्राणानिष्टान् महायशाः ।
ब्राह्मणार्थं परित्यज्य गतो लोकाननुत्तमान् ॥ ३१ ॥
सर्वकामैश्च सम्पूर्णं दत्त्वा वेश्म हिरण्मयम् ।
मुद्गलाय गतः स्वर्गं शतद्युम्नो महीपतिः ॥ ३२ ॥
नाम्ना च द्युतिमान्नाम शाल्वराजः प्रतापवान् ।
दत्त्वा राज्यमृचीकाय गतो लोकाननुत्तमान् ॥ ३३ ॥
लोमपादश्च राजर्षिः शान्तां दत्त्वा सुतां प्रभुः ।
ऋष्यशृङ्गाय विपुलैः सर्वकामैरयुज्यत ॥ ३४ ॥
मदिराश्वश्च राजर्षिर्दत्त्वा कन्यां सुमध्यमाम् ।
हिरण्यहस्ताय गतो लोकान्देवैरभिष्टुतान् ॥ ३५ ॥
दत्त्वा शतसहस्रं तु गवां राजा प्रसेनजित् ।
सवत्सानां महातेजा गतो लोकाननुत्तमान् ॥ ३६ ॥
एते चान्ये च बहवो दानेन तपसैव च ।
महात्मानो गताः स्वर्गं शिष्टात्मानो जितेन्द्रियाः ॥ ३७ ॥
तेषां प्रतिष्ठिता कीर्तिर्यावत्स्थास्यति मेदिनी ।
दानयज्ञप्रजासर्गैरेते हि दिवमाप्नुवन् ॥ ३८ ॥ [८५००]

इति श्रीमहा० शान्ति०मोक्षधर्मप० शुकानुप्रश्ने चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३४॥

महानुभाव वशिष्ठ देवको प्रिय मदयन्ती दान करके उनके सहित सुरलोकमें गये; महायशस्वी राजर्षि सहस्रजित् ब्राह्मणोंके निमित्त प्रिय प्राण त्यागके सर्वोत्तम लोकोंको प्राप्त किया है। राजा शतद्युम्न मुद्गल ऋषिको सर्वकाम सम्पूर्ण सुवर्णमय गृह दान करके स्वर्गमें गये। (२७-३२)

द्युतिमान् नाम प्रतापवान् शल्य राज ऋचीकको राज्य दान करके अत्यन्त उत्तम लोकोंमें गया है। राजऋषि लोमपाद ऋष्यशृङ्गको शान्ता नामी कन्या दान करके सर्वकामसम्पन्न हुए। राजर्षि मदिराश्वने हिरण्यहस्तको सुन्दरी कन्या दान करके देवताओंसे प्रशंसित लोकोंमें गमन किया है। महातेजस्वी प्रसेनजित् राजाने सात हजार बछडे युक्त गऊ दान करके उत्तम लोक प्राप्त किया है। ये सब लोग और इनके अतिरिक्त शिष्टस्वभाव जितेन्द्रिय बहुतेरे महात्मा लोग दान और तपस्यासे स्वर्गमें गये हैं। जबतक यह पृथ्वी है, तब-

व्यास उवाच— त्रयीं विद्यामवेक्षेत वेदपूक्तामथाङ्गतः ।
ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषोऽथर्वणस्तथा ॥ १ ॥
तिष्ठत्येतेषु भगवान् षट्सु कर्मसु संस्थितः ।
वेदवादेषु कुशला ह्यध्यात्मकुशलाश्च ये ॥ २ ॥
सत्त्ववन्तो महाभागाः पश्यन्ति प्रभवाप्ययौ ।
एवं धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत ॥ ३ ॥
असंरोधेन भूतानां वृत्तिं लिप्सेत वै द्विजः ।
सद्भ्य आगतविज्ञानः शिष्टः शास्त्रविचक्षणः ॥ ४ ॥
स्वधर्मेण क्रिया लोके कर्मसत्त्वस्थसञ्चरः ।
तिष्ठते तेषु गृहवान् षट्सु कर्मसु स द्विजः ॥ ५ ॥
पञ्चभिः सततं यज्ञैः श्रद्दधानो यजेत च ।
धृतिमानप्रमत्तश्च दान्तो धर्मविदात्मवान् ॥ ६ ॥
वीतहर्षमदक्रोधो ब्राह्मणो नावसीदति ।
दानमध्ययनं यज्ञस्तपो ह्रीरार्जवं दमः ॥ ७ ॥
एतैर्वर्धयते तेजः पाप्मानं चापकर्षति ।

तक उन लोगोंकी कीर्ति प्रतिष्ठित रहेगी, क्योंकि इन लोगोंने दान, यज्ञ और सन्तान उत्पन्न करके अमर लोक प्राप्त किया है। (३३-३८)

शान्तिपर्वमें २३४ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २३५ अध्याय।

वेदव्यास बोले, ब्राह्मण वेदमें कही हुई सब साङ्ग वेदविद्या पढे। ऋक्, साम, वर्ण, अक्षर, यजु और अथर्व, इन षट्कर्मोंमें पूर्ण रीतिसे वर्तमान रहके भगवान् वास करता है। वेदवादको जाननेवाले अध्यात्मविद्यामें निपुण सत्त्ववन्त महाभाग ब्राह्मण लोग उत्पत्ति और प्रलयके कारण परमात्माको देखते हैं। ब्राह्मण इस ही प्रकार धर्म अवलम्बन करते हुए जीवनका समय व्यतीत करे। शिष्टोंकी भांति कर्म करनेमें तत्पर होवे और सब भूतोंके अविरोध्य वृत्तिलाभकी अभिलाष करे। जो गृहमेधी साधुओंसे विज्ञान लाभ करके शिष्ट और शास्त्र-विचक्षण होकर इस लोकमें निज धर्मके अनुसार कर्म करता और सात्त्विक कर्मोंमें विचरता हुआ प्रागुक्त षट् कर्मोंमें रत रहता है, वही ब्राह्मण है। इस प्रकार श्रेष्ठ ब्राह्मण सदा श्रद्धावान् होकर पञ्च यज्ञोंका विधान करे। धैर्यशाली, अप्रमत्त, दान्त, धर्मवित्, यत्नवान्, हर्षहीन, मदरहित और क्रोधवर्जित ब्राह्मण

धूतपाप्मा च मेधावी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निनीषेद्ब्रह्मणः पदम् ।
अग्नींश्च ब्राह्मणांश्चार्चेद्देवताः प्रणमेत च ॥ ९ ॥
वर्जयेद्रुशतीं वाचं हिंसां चाधर्मसंहिताम् ।
एषा पूर्वगता वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते ॥ १० ॥
ज्ञानागमेन कर्माणि कुर्वन्कर्मसु सिद्ध्यति ।
पञ्चेन्द्रियजलां घोरां लोभकूलां सुदुस्तराम् ॥ ११ ॥
मन्युपङ्कामनाधृष्यां नदीं तरति बुद्धिमान् ।
कालमभ्युद्यतं पश्येन्नित्यमत्यन्तमोहनम् ॥ १२ ॥
महता विधिदृष्टेन बलेनाप्रतिघातिना ।
स्वभावस्रोतसा वृत्तमुह्यते सततं जगत ॥ १३ ॥
कालोदकेन महता वर्षावर्तेन सन्ततम् ।
मासोर्मिणर्तुवेगेन पक्षोलपतृणेन च ॥ १४ ॥
निमेषोन्मेषफेनेन अहोरात्रजलेन च ।
कामग्राहेण घोरेण वेदयज्ञप्लवेन च ॥ १५ ॥

अवसन्न नहीं होते। दान, वेदाध्ययन, यज्ञ, तपस्या, लज्जा, सरलता और इन्द्रिय दमन, ये सब विषय ब्राह्मणोंके तेजको बढाते और पापोंको दूर करते हैं। (१-८)

पापपङ्कको धोनेवाले मेधावी मनुष्य लघुभोजी और जितेन्द्रिय होकर काम क्रोधको वशमें करते हुए ब्रह्मपद प्राप्ति के लिये कामना करे; तीनों अग्नि और ब्राह्मणोंकी पूजा करे, देवताओंके निकट प्रणत होवे, अकल्याणको त्याग दे; ब्राह्मणोंकी यही पूर्वानुष्ठेय वृत्ति विहित हुई। शेषमें ज्ञानागमके सहारे कर्म करनेसे उस विषयमें उसे सिद्धि प्राप्त हुआ करती है। बुद्धिमान् मनुष्य पञ्चेन्द्रिय जलसेयुक्त, मन्युपङ्कसमन्वित, अभिभवनीय भयङ्करी, अत्यन्त दुस्तर लोभके मूल महानदीसे अनायास ही पार होते हैं। यह देखता रहे, कि विधि दृष्ट महाबलसे युक्त प्रतिघातरहित अत्यन्त मोहनकाल सदा ही उपस्थित होरहा है। (८—१३)

जगत् स्वभाव स्रोतमें पडके सदा ही भासमान होता है, कालस्वरूप उदक, वर्षास्वरूप महा आवर्त, मासमय तरङ्ग, ऋतुरूपी वेग, पक्षमय उलपतृण, निमेष आदि फेन, दिनरात्रि जल, घोरकाम ग्राह, वेद और यज्ञरूपी नौका,

धर्मद्वीपेन भूतानां चार्थकामजलेन च
ऋतवाङ्मोक्षतीरेण विहिंसातरुवाहिना ॥ १६ ॥
युगह्रदौघमध्येन ब्रह्मप्रायभवेन च।
धात्रा सृष्टानि भूतानि कृष्यन्ते यमसादनम् ॥ १७ ॥
एतत्प्रज्ञामयैर्धीरा निस्तरन्ति मनीषिणः।
प्लवैरप्लववन्तो हि किं करिष्यन्त्यचेतसः ॥ १८ ॥
उपपन्नं हि यत्प्राज्ञो निस्तरेन्नेतरो जनः।
दूरतो गुणदोषौ हि प्राज्ञः सर्वत्र पश्यति ॥ १९ ॥
संशयं स तु कामात्मा चलचित्तोऽल्पचेतनः।
अप्राज्ञो न तरत्येनं यो ह्यास्ते न स गच्छति ॥ २० ॥
अप्लवो हि महादोषं मुह्यमानो नियच्छति।
कामग्राहगृहीतस्य ज्ञानमप्यस्य न प्लवः ॥ २१ ॥
तस्मादुन्मज्जनस्यार्थे प्रयतेत विचक्षणः।
एतदुन्मज्जनं तस्य यदयं ब्राह्मणो भवेत ॥ २२ ॥
अवदातेषु सञ्जातस्त्रिसन्देहस्त्रिकर्मकृत।

जीवोंके धर्मस्वरूप द्वीप, अर्थाभिलाषमय दूध, सत्यवचनरूपी मोक्षतीर, हिंसातरुवाही, दो तालावोंसे युक्त प्रवाह के बीचमें स्थित संसार स्रोतके जरिये विधातृसृष्ट जीव निरन्तर शयनगृहमें आकृष्ट होता है। स्थिरचित्तवाले मनीषि लोग प्रज्ञामय नौकाके सहारे इस संसार-स्रोतसे पार होते हैं। प्रज्ञामय नौकासे रहित अल्पबुद्धि मनुष्य इससे पार होनेका और उपाय क्या करेंगे। बुद्धिमान् मनुष्य उपस्थित विपदसे निस्तार लाभ कर सकते हैं, दूसरे लोग कभी विपदसे छूटनेमें समर्थ नहीं हैं। प्राज्ञ पुरुष दूर होनेपर भी सब स्थानोंके दोषगुणको देखते हैं। सत्त्वकामात्मा, डावांडोल चित्त, अल्पचेता, अप्राज्ञ पुरुष संशयसे पार नहीं होते; जिसका अस्तित्व है, वह कभी विनष्ट नहीं होता। (१३—२०)

उत्तरणरहित मनुष्य महादोषसे मोहित होकर नियमित होता है, कामरूप ग्रहसे जो आक्रान्त हुआ है, उसका ज्ञान भी उत्तरणका कारण नहीं होता; इसलिये विचक्षण मनुष्य उन्मज्जनके लिये प्रयत्न करे, जो ब्राह्मण होते हैं, उनहीका उन्मज्जन हुआ करता है, जिन्होंने शुद्ध वंशमें जन्म लिया है, स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों

तस्मादुन्मज्जने तिष्ठेत्प्रज्ञया निस्तरेद्यथा ॥ २३ ॥
संस्कृतस्य हि दान्तस्य नियतस्य यतात्मनः।
प्राज्ञस्यानन्तरा सिद्धिरिह लोके परत्र च ॥ २४ ॥
वर्तेत तेषु गृहवानक्रुध्यन्ननसूयकः।
पञ्चभिः सततं यज्ञैर्विघसाशी यजेत च ॥ २५ ॥
सतां धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत्।
असंरोधेन लोकस्य वृत्तिं लिप्सेदगर्हिताम् ॥ २६ ॥
श्रुतविज्ञानतत्त्वज्ञः शिष्टाचारो विचक्षणः।
स्वधर्मेण क्रियावांश्च कर्मणा सोऽप्यसङ्करः ॥ २७ ॥
क्रियावान् श्रद्दधानो हि दान्तः प्राज्ञोऽनसूयकः।
धर्माधर्मविशेषज्ञः सर्वं तरति दुस्तरम् ॥ २८ ॥
धृतिमानप्रमत्तश्च दान्तो धर्मविदात्मवान्।
वीतहर्षमदक्रोधो ब्राह्मणो नावसीदति ॥ २९ ॥
एषा पुरातनी वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते।

शरीरोंमें आत्म निश्चय विषयमें जिन्हें सन्देह है, जो यजन, अध्ययन और दान, इन तीनों कर्मोंका साधन किया करते हैं, वैसे ब्राह्मण बुद्धिबलके सहारे जिस प्रकार निस्तार लाभ कर सकें, उस ही भांति उन्मज्जनमें सावधान रहें। संस्कारयुक्त, नियमनिष्ठ, संयतात्मा, दमशील, प्राज्ञ पुरुषोंकी इस लोक और परलोकमें अव्यवहित सिद्धि हुआ करती है, गृहस्थ पुरुष क्रोध और असूयारहित होकर ऐसे ही ब्राह्मणके बीच निवास कर और विघसाशी होकर सदा पञ्चयज्ञ करनेमें यत्नवान् रहे। (२१-२५)

साधुओंके आचरित धर्मके जरिये जीवन बिताते हुए शिष्टोंकी भांति कार्योंका अनुष्ठान करे; लोगोंके संग विरोध न करके अनिन्दित वृत्तिलाभकी इच्छा करे। जो लोग शिष्टाचारसे युक्त और विचक्षण होकर विज्ञानतत्त्व सुनते हैं। और निज धर्मके अनुसार सब कर्मोंका निर्वाह किया करते हैं, वे कर्मोंसे सङ्कीर्ण नहीं होते। क्रियावान्, श्रद्धायुक्त, दान्त, प्राज्ञ, अनसूयक और धर्माधर्मके विशेषज्ञ ब्राह्मण दुस्तर विषयों के पार होते हैं। धृतिमान्, अप्रमत्त, दान्त, धर्मवित्, आत्मवान् और हर्ष, मद, क्रोधसे रहित ब्राह्मण अवसन्न नहीं होते। ब्राह्मणोंकी यही पुरानी वृत्ति विहित हुई। ज्ञानतत्त्वसे सब कर्मोंको सिद्ध करते हुए ब्राह्मण लोग सब

ज्ञानवत्त्वेन कर्माणि कुर्वन्सर्वत्र सिध्यति ॥ ३० ॥
अधर्मं धर्मकामो हि करोति ह्यविचक्षणः ।
धर्मं वाधर्मसङ्काशं शोचन्निव करोति सः ॥ ३१ ॥
धर्मं करोमीति करोत्यधर्ममधर्मकामश्च करोति धर्मम् ।
उभेऽबलः कर्मणी न प्रजानन् स जायते म्रियते चापि देही ॥ ३२ ॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने पंचत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३५ ॥ [८५३२]

व्यास उवाच— अथ चेद्रोचयेदेतद्दुह्येत स्रोतसा यथा ।
उन्मज्जंश्च निमज्जंश्च ज्ञानवान् प्लववान्भवेत् ॥ १ ॥
प्रज्ञया निश्चिता धीरास्तारयन्त्यबुधान्प्लवैः ।
नाबुधास्तारयन्त्यन्यानात्मानं वा कथञ्चन ॥ २ ॥
छिन्नदोषो मुनिर्योगान्मुक्तो युञ्जीत द्वादश ।
देशकर्मानुरागार्थानुपायापायनिश्चयः ॥ ३ ॥
चक्षुराहारसंहारैर्मनसा दर्शनेन च ।

विषयोंमें ही सिद्धि लाभ कर सकते हैं। (२९–३०)

मूर्ख मनुष्य धर्मकी इच्छा करके भी अधर्म किया करता है, अथवा मानो वह शोचना करते हुए अधर्मसङ्काश धर्माचरण करता है। "धर्म करता हूं" समझके कोई अधर्म और कोई अधर्मकी इच्छा करके भी धर्म करता है। मूढ जीव उक्त दोनों प्रकारके कर्मोंको न जानके बार बार जन्म लेके मृत्युके मुख में पडे हैं। (३१–३२)

शान्तिपर्वमें २३५ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २३६ अध्याय।

वेदव्यास बोले, जैसे स्रोतके जरिये बहता हुआ मनुष्य कभी डूबता और कभी उतरके शेषमें नौकाका अवलम्बन करता है, वैसे ही संसारस्रोतमें भासमान पुरुषोंको यदि वक्ष्यमाण शान्ति नामक कैवल्यप्राप्तिमें अभिलाष हो, तो उनको ज्ञानरूपी नौका अवलम्बन करनी पडेगी। जिन सब धीर लोग ध्यानजनित साक्षात्कारके जरिये आत्मनिश्चय किया है, वे लोग ज्ञानरूपी नौकाके सहारे मूर्ख लोगोंको पार किया करते हैं। अज्ञानी लोग जब अपनेको ही किसी प्रकार उत्तीर्ण करनेमें समर्थ नहीं हैं, तब दूसरेको किस प्रकार पार करेंगे। राग आदि दोषोंसे रहित मननशील मनुष्य पुत्रकलत्रादिकोंमें आसक्तिरहित होकर देश, कर्म, अनुराग, अर्थ,

यच्छेद्वाङ्मनसी बुद्ध्या य इच्छेज्ज्ञानमुत्तमम् ॥ ४ ॥
ज्ञानेन यच्छेदात्मानं य इच्छेच्छान्तिमात्मनः ।
एतेषां चेदनुद्रष्टा पुरुषोऽपि सुदारुणः ॥ ५ ॥
यदि वा सर्ववेदज्ञो यदि वाऽप्यनृचो द्विजः ।
यदि वा धार्मिको यज्वा यदि वा पापकृत्तमः ॥ ६ ॥
यदि वा पुरुषव्याघ्रो यदि वा क्लैब्यधारितः ।
तरत्येवं महादुर्गं जरामरणसागरम् ॥ ७ ॥
एवं ह्येतेन योगेन युञ्जानो ह्येवमन्ततः ।
अपि जिज्ञासमानोऽपि शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ८ ॥
धर्मोपस्थो ह्रीवरूथ उपायापायकूबरः ।
अपानाक्षः प्राणयुगः प्रज्ञायुर्जीवबन्धनः ॥ ९ ॥
चेतनाबन्धुरश्चारुश्चाचारग्रहनेमिमान् ।
दर्शनस्पर्शनवहो घ्राणश्रवणवाहनः ॥ १० ॥
प्रज्ञानाभिः सर्वतन्त्रप्रतोदो ज्ञानसारथिः ।

अनुपाय, अपाय, निश्चय, नेत्र, आहार, संहार, मन और दर्शन तथा योगकी सहाय, इन बारहोंका अनुसरण करे। (१—४)

जो श्रेष्ठ ज्ञानकी इच्छा करे, उन्हें बुद्धिके सहारे मन और वचनको संयत करना होगा; और जो लोग आत्माकी शान्तिकी अभिलाषा करते हैं, वे ज्ञानके सहारे बुद्धिका संयम करें। वाक्य मनके अधिष्ठाता शान्त आत्माको जिन्होंने जाना है, वे चाहे साधु हों, वा असाधु हों; सब वेदके जाननेवाले, अथवा अवेदज्ञ हों, धार्मिक वा याज्ञिक वा अत्यन्तही पाप करनेवाले हों, पुरुष प्रवर तथा क्लैब्य युक्तही होवें, वे इस प्रकारके जरामरणसागरस्वरूप महादुर्गसे अवश्य ही उत्तीर्ण होते हैं। पहली कही हुई रीतिसे अनुष्ठान करना तो दूर रहे, जिन्होंने केवल शान्त आत्माको जानने की इच्छा की है, वे कर्मकाण्ड अतिक्रम करके निवास करते हैं, निज कर्मोंको त्यागनेसे दोषग्रस्त नहीं होते। (४—८)

यज्ञादि कर्म जिसके ज्ञान सारथीका उपवेशन स्थान है, अकार्योंसे निवृत्तिरूपी लज्जा जिसकी रथगुप्ति है, प्रागुक्त उपाय और अपाय जिसकी धुरीदण्ड है; अपान जिसके पहिये हैं, प्राण जिसका जुआ है, प्रज्ञा और आयु जिसका जीवबन्धन स्थान है, सावधानता जिसका बन्धुर अर्थात् दोनों फलकोंका संश्लेष-

क्षेत्रज्ञाधिष्ठितो धीरः श्रद्धादमपुरःसरः ॥ ११ ॥
त्यागसूक्ष्मानुगः क्षेम्यः शौचगो ध्यानगोचरः ।
जीवयुक्तो रथो दिव्यो ब्रह्मलोके विराजते ॥ १२ ॥
अथ सन्त्वरमाणस्य रथमेवं युयुक्षतः ।
अक्षरं गन्तुमनसो विधिं वक्ष्यामि शीघ्रगम् ॥ १३ ॥
सप्त या धारणाः कृत्स्ना वाग्यतः प्रतिपद्यते ।
पृष्ठतः पार्श्वतश्चान्यास्तावत्यस्ताः प्रधारणाः ॥ १४ ॥
क्रमशः पार्थिवं यच्च वायव्यं खं तथा पयः ।
ज्योतिषो यत्तदैश्वर्यमहङ्कारस्य बुद्धितः ।
अव्यक्तस्य तथैश्वर्यं क्रमशः प्रतिपद्यते ॥ १५ ॥
विक्रमाश्चापि यस्यैते तथा युक्तेषु योगतः ।

स्थल है, आचार स्वीकार जिसका नेमि-स्वरूप दर्शन, स्पर्शन, घ्राण और श्रवण, ये चारों जिसके अश्वादिरूपी वाहन हैं; शम, दम आदि प्रबलता जिसकी नाभि, सब शास्त्र ही जिसके कोडे, शास्त्रार्थ निश्चय ज्ञान ही जिसका सारथी, क्षेत्रज्ञ जिसका अधिष्ठाता, श्रद्धा और दम जिसका पुरःसर और त्याग जिसका सूक्ष्म अनुचर है, वह शौचाचारसे मालूम होनेवाला ध्यानगोचर धीर मुमुक्षु योजित दिव्य रथ ब्रह्मलोकमें विराजता है। ऐसे रथपर चढनेमें शीघ्रतायुक्त होकर जो योगी अक्षर परब्रह्मको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं उनके पक्षमें शीघ्रगामी अन्तरङ्ग विधि कहता हूं, सुनो। (९-१२)

यमनियमादिसे युक्त स्थिर वचन-वाले जो सब धारण अर्थात् एक विषयमें चित्त लगानेका अभ्यास करते हैं, उस-मेंसे विप्रकृष्टतर सूर्य, चन्द्र, ध्रुवमण्डल आदि धारणा है, और सन्निकृष्टतर नासाग्र, भ्रूमध्य, आदि विषयभेदसे विविध धारणा हैं। उन्हें प्रशिष्य और प्रपौत्र आदि शब्दकी तरह प्रधारणा कहते हैं। योगी पुरुष उन्हीं सब धारणा युक्त बुद्धिके जरिये क्रमसे पार्थिव, जलीय, तैजस, वायवीय और आकाश-सम्बन्धीय ऐश्वर्य लाभ करते हैं, और क्रमक्रमसे अहङ्कार तथा अव्यक्तका ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं; अर्थात् ब्रह्मादि कार्यरूपको निज निज कारणोंमें संहार करके विशुद्धचित्त होकर परमात्माका दर्शन करते हैं; योगमें प्रवृत्त योगियोंके बीच जिस योगीका जैसा विक्रम है अर्थात् जिसका जैसा अनुभवक्रम होता है, वह और देहाभ्यन्तरमें परमात्मदर्शी

तथा योगस्य युक्तस्य सिद्धिमात्मनि पश्यतः ॥ १६ ॥
निर्मुच्यमानः सूक्ष्मत्वाद्रूपाणीमानि पश्यतः ।
शैशिरस्तु यथा धूमः सूक्ष्मः संश्रयते नभः ॥ १७ ॥
तथा देहाद्विमुक्तस्य पूर्वरूपं भवत्युत ।
अथ धूमस्य विरमे द्वितीयं रूपदर्शनम् ॥ १८ ॥
जलरूपमिवाकाशे तथैवात्मनि पश्यति ।
अपां व्यतिक्रमे चास्य वह्निरूपं प्रकाशते ॥ १९ ॥
तस्मिन्नुपरतेऽजोऽस्य पीतशस्त्रः प्रकाशते ।
ऊर्णारूपसवर्णस्य तस्य रूपं प्रकाशते ॥ २० ॥
अथ श्वेतां गतिं गत्वा वायव्यं सूक्ष्ममप्युत ।
अशुक्लं चेतसः सौक्ष्म्यमप्युक्तं ब्राह्मणस्य वै ॥ २१ ॥
एतेष्वपि हि जातेषु फलजातानि मे शृणु ।

योगियोंकी सिद्धि अर्थात् पृथ्वी आदि पञ्चभूतोंके जय करनेका विषय कहता हूं, सुनो। (१४-१६)

प्रति शरीरमें समवस्थित आत्माका वक्ष्यमाण रूप परित्याग अर्थात् गुरुके जरिये उक्त युक्तिके जरिये स्थूल देहका अध्यास छोडके सूक्ष्म निबन्धन योगी लोग अन्तःकरणमें उसे देखते हैं, जैसे शिशिर सम्बन्धीय सूक्ष्म धुआं आकाशमण्डलको अवलम्बन करता है, वैसे ही देहसे मुक्त हुई आत्माका पूर्वरूप प्रकाशित होता है। अनन्तर धुएंका ठहराव होनेपर दूसरा रूप दीख पडता है, वह आकाशस्थित जलरूपकी भांति देहके भीतर दीखता है; जलका व्यतिक्रम होनेपर लोहितवर्ण अग्निरूप प्रकाशित होता है। और अग्निरूपके शान्त होनेपर वृक्षोंको फेंकनेवाला शाणितशस्त्र सवर्ण वायुका रूप प्रकट हुआ करता है, उस समय ऊर्णातन्तुकी भांति अत्यन्त लघु और उसहीके समान वायु अवलम्बरहित आकाशमें दोधूयमान हुआ करता है। (१७-२०)

अनन्तर वायुका सूक्ष्म स्वरूप मलिनतारहित प्रकाशमय स्वच्छ आकाशमें लीन होनेपर आकाश मात्र प्रकाशित होता है। ब्रह्मजिज्ञासु योगीके चित्तकी अत्यन्त शुभ्रता और सूक्ष्मताके विषयको शास्त्रकारोंने इस प्रकार कहा है, कि प्रागुक्त प्रकारसे भूमि, जल, अग्नि और आकाशके जयके जरिये भूतशुद्धिप्रकार शास्त्रकारके बीच प्रसिद्ध था; अब सम्प्रदाय समूहके अपरिज्ञान निबन्धनसे उसका यथोचित अनुष्ठान

जातस्य पार्थिवैश्वर्यैः सृष्टिरत्र विधीयते ॥ २२ ॥
प्रजापतिरिवाक्षोभ्यः शरीरात्सृजते प्रजाः ।
अङ्गुल्यङ्गुष्ठमात्रेण हस्तपादेन वा तथा ॥ २३ ॥
पृथिवीं कम्पयेत्यको गुणो वायोरिति श्रुतिः ।
आकाशभूतश्चाकाशे सवर्णत्वात्प्रकाशते ।
वर्णतो गृह्यते चापि कामात्पिबति चाशयान् ॥ २४ ॥
न चास्य तेजसां रूपं दृश्यते शाम्यते तथा ।
अहंकारेऽस्य विजिते पञ्चैते स्युर्वशानुगाः ॥ २५ ॥
षण्णामात्मनि बुद्धौ च जितायां प्रभवत्यथ ।
निर्दोषप्रतिभा ह्येनं कृत्स्ना समभिवर्तते ॥ २६ ॥
तथैव व्यक्तमात्मानमव्यक्तं प्रतिपद्यते ।
यतो निःसरते लोको भवति व्यक्तसंज्ञकः ॥ २७ ॥

नहीं होता। पूर्वोक्त प्रकारसे पञ्चभूतोंको जय करनेसे, जो सब फलोदय होते हैं, वह मुझसे सुनो, योगसिद्ध पुरुषको पार्थिव ऐश्वर्यके जरिये इस लोकमें सृष्टिकी सामर्थ्य उत्पन्न होती है, वह प्रजापतिकी भांति अक्षुब्ध होकर शरीरसे प्रजाकी सृष्टि कर सकता है। श्रुतिमें प्रतिपन्न है, कि वायुको जय कर सकनेसे योगसिद्ध पुरुषका एकमात्र अंगुष्ठ अंगुलीके जरिये अथवा हाथ पांवके सहारे सारी पृथ्वीको कंपानेकी सामर्थ्य होती है। (२१-२४)

आकाश जय करनेपर वह आकाशके वर्ण समान होके आकाशकी भांति सर्वगत होके प्रकाशित होता है; वर्णके अनुसार ज्ञेय होनेपर भी रूपहीनता निबन्धनसे अन्तर्द्धान शक्ति प्राप्त होती है। जल जय करनेका यही फल है, कि जलको जय कर सकनेसे इच्छानुसार अगस्त्यकी भांति वापी, कूप, तडाग आदि जलाशयोंको पी सकते हैं, आकाश जय करनेसे रूपही आकाश स्वरूपमें अन्तर्द्धान हुआ करता है। अग्नि जयसे आकृति सत्वसे भी अदृश्यत्व उत्पन्न होता है। अहंकारको विशेष रूपसे जय कर सकनेसे सिद्ध पुरुषके समीप पञ्चभूत ही वशीभूत हुआ करते हैं। पृथ्वी आदि पञ्चभूत और अहंकारकी आत्मभूता बुद्धिको जय कर सकनेसे सिद्ध योगी सब ऐश्वर्योंसे युक्त और सर्वज्ञ होता है; दोषरहित प्रतिभा अर्थात् संशय विपर्ययसे हीन समस्त ज्ञान उसके समीपवर्ती हुआ करते हैं। वह बुद्धादि रूपसे व्यक्त आत्माको

तत्राऽव्यक्तमयीं विद्यां शृणु त्वं विस्तरेण मे।
तथा व्यक्तमयं चैव सांख्ये पूर्वं निबोध मे ॥ २८ ॥
पञ्चविंशतितत्त्वानि तुल्यान्युभयतः समम्।
योगे सांख्येऽपि च तथा विशेषं तत्र मे शृणु ॥ २९ ॥
प्रोक्तं तद्व्यक्तमित्येव जायते वर्धते च यत्।
जीर्यते म्रियते चैव चतुर्भिर्लक्षणैर्युतम् ॥ ३० ॥
विपरीतमतो यत्तु तदव्यक्तमुदाहृतम।
द्वावात्मानौ च वेदेषु सिद्धान्तेष्वप्युदाहृतौ ॥ ३१ ॥
चतुर्लक्षणजं त्वाद्यं चतुर्वर्गं प्रचक्षते।
व्यक्तमव्यक्तजं चैव तथा बुद्धमचेतनम्।
सत्त्वं क्षेत्रज्ञ इत्येतद् द्वयमप्यनुदर्शितम् ॥ ३२ ॥
द्वावात्मानौ च वेदेषु विषयेष्वनुरज्यतः।

अव्यक्त अर्थात् जगत्कारण ब्रह्मभावसे समझता है; जिससे सब लोग विनष्ट होते हैं, उसका ही नाम व्यक्त हुआ करता है, उसके बीच अव्यक्तमयी और व्यक्तमयी विद्या जो कि सांख्य शास्त्रमें विवृत हुई है, उसे तुम पहले मेरे समीप विस्तारके सहित सुनो। (२४-२८)

मूल प्रकृति प्रभृति पचीस तत्व सांख्य और पातञ्जल शास्त्रमें तुल्यरूपसे जानी गई हैं, उनमें जो विशेष है, वह मेरे समीप सुनो। जिसकी जन्म वृद्धि जरा और मरण है, ऐसे चारों लक्षणोंसे युक्त पदार्थको व्यक्त कहा जाता है और जो इसके विपरीत अर्थात् जन्मादि रहित वस्तु है, वही अव्यक्त रूपसे प्रमाणित हुआ करती है। सांख्य मत-वाले दार्शनिक पण्डित लोग चौवीस तत्वोंके अतिरिक्त एक मात्र जीवात्मा-को प्रति शरीरमें पृथक् समझते हैं। परन्तु वेदान्त सिद्धान्त वाक्यमें जीव और ईश्वर उपाधि भेदसे दो आत्मा प्रमाणित हुए हैं; वैदिक कर्मकाण्डमें यजमान और यष्टव्य भेदसे ऐसा वर्णित है, कि जीव और ब्रह्म स्वतन्त्र है। जन्म आदि विकारयुक्त महत् अहंकार पञ्चतन्मात्र, एकादश इन्द्रिय और पञ्च भूतोंसे उत्पन्न अर्थात् कार्य उपाधि चतुर्वर्गार्थी जीवको व्यक्त रूपसे वर्णन किया जाता है और माया उपाधि ईश्वरको अव्यक्त कहा जाता है, ये दोनोंही बुद्धि और अचेतन अर्थात् चिदचिदात्मक हैं। (२९-३२)

ऐसा वेदमें वर्णित है, कि जलचन्द्र-न्यायके अनुसार जीव विम्ब चैतन्य ईश्वरका प्रतिबिम्ब है। नष्टत्वबुद्धि और

विषयात्प्रतिसंहारः सांख्यानां विद्धि लक्षणम्॥ ३३ ॥
निर्ममश्चानहंकारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः।
नैव क्रुध्यति न द्वेष्टि नानृता भाषते गिरः ॥ ३४ ॥
आक्रुष्टस्ताडितश्चैव मैत्रेण ध्याति नाशुभम्।
वाग्दण्डकर्ममनसां त्रयाणां च निवर्तकः ॥ ३५ ॥
समः सर्वेषु भूतेषु ब्रह्माणमभिवर्तते।
नैवेच्छति न चानिच्छो यात्रामात्रव्यवस्थितः॥ ३६ ॥
अलोलुपोऽव्यथो दान्तो न कृती न निराकृतिः।
नास्येन्द्रियमनेकाग्रं नाविक्षिप्तमनोरथः ॥ ३७ ॥
सर्वभूतसहृन्मैत्रः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ ३८ ॥
अस्पृहः सर्वकामेभ्यो ब्रह्मचर्यदृढव्रतः।

क्षेत्रज्ञ चिदात्मा दोनों ही विषयमें अनुरक्त होते हैं, यह वेदके बीच वर्णित है। घटादि विषयोंसे उत्पत्तिक्रमकी विपरीतताके अनुसार बुद्धि चैतन्यका प्रविलापन करना योग्य है, इसे ही सांख्य मतवाले बुद्धिमान् लोगोंका शास्त्र जानो। उस मतके जीवन्मुक्त पुरुषोंका यही लक्षण है, कि योगी पुरुष ममतारहित और अहंकारशून्य सुख दुःख आदि द्वन्दवर्जित और संशयहीन होवें। वे लोग क्रोध वा द्वेष न करें, झूठ वचन न कहें; आकृष्ट अथवा ताडित होनेपर भी सब भूतोंमें समदर्शिता निबन्धनसे किसीकी भी अशुभचिन्ता न करें; वचन, कर्म और मनसे परुषता परित्याग करें। इस ही प्रकार साधुगुण से युक्त होकर जो लोग सब भूतोंमें समान ज्ञान करते हैं वे ब्रह्मके निकटवर्त्ती होनेमें समर्थ होते हैं। ऐसे मनुष्य लोकयात्रानिर्वाहके लिये स्थित रहके किसी विषयकी अभिलाष नहीं करते और किसी विषयमें अत्यन्त निरिच्छुक भी नहीं होते। (३२-३६)

जिन्हें लोभ और दुःख नहीं है जो इन्द्रिय निग्रहमें समर्थ और कार्यकुशल हैं, जिन्हें वेशविन्यास आदि बाह्य आडम्बरमें तुच्छताज्ञान है, जिनकी इन्द्रियें अनेकाग्र और मनोरथ विक्षिप्त नहीं है, जो सब भूतोंमें समदर्शी, मित्रभावसे युक्त हैं; जिसको लोष्ट, पाषाण और सुवर्ण समान हैं; तथा प्रिय, अप्रिय, निंदा, स्तुति जिसको समानभावसे मालूम होती हैं; जो सब पदार्थोंके विषयमें इच्छारहित, ब्रह्मचारी, सत्य-

अहिंसा सर्वभूतानामीदृक् सांख्यो विमुच्यते॥ ३९ ॥
यथा योगाद्विमुच्यन्ते कारणैर्यैर्निबोध तत् ।
योगैश्वर्यमतिक्रान्तो यो निष्कामति मुच्यते ॥ ४० ॥
इत्येषा भावजा बुद्धिः कथिता ते न संशयः ।
एवं भवति निर्द्वन्द्वो ब्रह्माणं चाधिगच्छति ॥ ४१ ॥ [८५७३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३६ ॥

व्यास उवाच— अथ ज्ञानप्लवं धीरो गृहीत्वा शान्तिमात्मनः ।
उन्मज्जंश्च निमज्जंश्च ज्ञानमेवाभिसंश्रयेत् ॥ १ ॥
शुक उवाच— किं तज्ज्ञानमथो विद्यां यथा निस्तरते द्वयम् ।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिरिति वा वद ॥ २ ॥
व्यास उवाच— यस्तु पश्यन्स्वभावेन विना भावमचेतनः ।

सङ्कल्प और सब भूतोंमें अहिंसास्वभाव हैं; ऐसे सांख्य योगी मुक्त होते हैं। अब पातञ्जल मतसे मनुष्य जिन जिन कारणोंके जरिये मुक्त होते हैं उसे सुनो। (३७-४०)

परम वैराग्य बलसे जिन्होंने अणिमा आदि योग ऐश्वर्यको अतिक्रम किया है, वेही मुक्त होते हैं। यही तुम्हारे निकट वक्तृ विवक्षा विशेष जनित ज्ञान का विषय कहा इसमें कुछ सन्देह नहीं है, इसी भांति जो लोग सुख दुःख आदि द्वन्द्वसे रहित होते हैं, वेही परब्रह्मको जान सकते और उसे प्राप्त करते हैं। (४०-४१)

शान्तिपर्वमें २३६ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २३७ अध्याय।

वेदव्यास बोले, धीर पुरुष संसार-सागरको तरनेवाले साधन शास्त्र और आचार्योंके उपदेशसे प्राप्त हुए परोक्ष ज्ञानरूपी शान्ति अवलम्बन करके संसार-सागरमें सदा उन्मग्न और निमग्न होके भी केवल आत्ममोक्षके हेतुज्ञानको ही अवलम्बन करें। (१)

शुकदेव बोले, आप जो ज्ञानको अवलम्बन करना कहते हैं वह अवलम्बनीय ज्ञान किस प्रकार जाना जाता है। रज्जुसर्पकी भांति अज्ञान मात्रके विनाशसे प्रकृत पदार्थ ज्ञापिका बुद्धि वृत्तिको निवृत्तिलक्षण ज्ञान कहते हैं; अथवा ध्यानके जरिये भृंगीकीटकी भांति ध्येय सारूप्य रूपक धर्म, प्रवृत्तिलक्षण ज्ञानका विषय कहते हैं, उसे वर्णन करिये। जिस प्रकार जीव जन्म-मरणसे निस्तार लाभ कर सके आप

पुष्यते च पुनः सर्वान्प्रज्ञया मुक्तहेतुकान् ॥ ३

येषां चैकान्तभावेन स्वभावात्कारणं मतम्।
पूत्वा तृणमिषीकां वा ते लभन्ते न किंचन ॥ ४

ये चैनं पक्षमाश्रित्य निवर्तन्त्यल्पमेधसः।
स्वभावं कारणं ज्ञात्वा न श्रेयः प्राप्नुवन्ति ते ॥ ५

उसे ही कहिये। (२)

व्यासदेव बोले, "मैं" इस अनुभव विषयमें जड और अहंकार कारण रूपसे प्रसिद्ध है; इसलिये मीमांसा मतवाले पण्डित लोग उक्त दोनोंको आत्मा कहा करते हैं। "अहं" पदका अर्थही आत्मा है उसका गुण प्रकाश है, वह भी तीन क्षणमात्र स्थिति करता है, यह तार्किक मत है। सांख्य मतवाले बुद्धिमान् लोग सिद्ध किया करते हैं, कि आत्मा ही नित्य प्रकाश स्वरूप है, अहं पदका अर्थ आत्मा नहीं है। उसके बीच बहुतेरे लोग आत्मा और अनात्मा दोनोंको ही नित्य कहा करते हैं। अनात्मा ही स्थिर है, देह नाश होनेपर चिदात्माका नाश होता है, यह लोकायतिक नास्तिकोंका मत है। आत्मा ही सत्य पदार्थ है, आत्मासे भिन्न सभी मिथ्या है, यह वेदान्त मतका सिद्धान्त है। शून्यवादी लोग यह कहा करते हैं, कि आत्मा अनात्मा कुछ भी नहीं है; इसलिये शून्यवादियोंके मतमें यदि आत्माका अभाव हुआ, तब ज्ञानका अनर्थकत्व सिद्ध होगा; इसलिये जो मनुष्य अधिष्ठान सत्ताके वि[illegible] के जरिये ही अहंकार आदि[illegible] प्रकाशित होरहे हैं, ऐसा सम[illegible] धिष्ठान स्वाभाविकी जगद्भ्रा[illegible] कार करता है और युक्ति तथा[illegible] शिष्योंको उसही प्रकार बोधव[illegible] अनुरक्त किया करता है, वह [illegible] तत्त्व लाभ करनेमें समर्थ नहीं[illegible] इससे अधिष्ठानके विना भ्रमकी [illegible] बना न रहनेसे शून्यवाद नितान्[illegible] है। (३)

इसके अतिरिक्त जो सब वाद[illegible] त्मोच्छेदवादी लोकायतिक नास्ति[illegible] लोग एकान्तभावसे ईश्वर और अदृष्ट[illegible] सत्ता अस्वीकार करके स्वभावको ही[illegible] देह आदिकी उत्पत्तिके विषयमें कारण कहा करते हैं; वे लोग ऋषिवाक्य सुनके भी कुछ तत्त्वलाभ करनेमें समर्थ नहीं होते; अर्थात् वे लोग आचार्यकी उपासना न करके ही स्वयं इन सब मतोंकी कल्पना करते हैं। जो सब अल्पबुद्धि मनुष्य स्वाभाविक शून्य जगत् भ्रान्ति और स्वाभाविक शरीरादिकोंकी उत्पत्ति, इन दोनों पक्षोंको

स्वभाव- स्वरूपसे [illegible]ज्ञके निर [illegible]न्ते अज्ञी- बुद्धिहीन [illegible] सहारे कुछ भी [illegible] होता; [illegible] सम्भा- [illegible]त हेय [illegible] आ- [illegible]क [illegible]की

स्वभावो हि विनाशाय मोहकर्ममनोभवः ।
निरुक्तमेतयोरेतत्स्वभावपरिभावयोः ॥ ६ ॥
कृष्यादीनीह कर्माणि सस्यसंहरणानि च ।
प्रज्ञावद्भिः प्रक्लृप्तानि यानासनगृहाणि च ॥ ७ ॥
आक्रीडानां गृहाणां च गदानामगदस्य च ।
प्रज्ञावन्तः प्रयोक्तारो ज्ञानवद्भिरनुष्ठिताः ॥ ८ ॥
प्रज्ञा संयोजयत्यर्थैः प्रज्ञा श्रेयोऽधिगच्छति ।
राजानो भुञ्जते राज्यं प्रज्ञया तुल्यलक्षणाः ॥ ९ ॥
परावरं तु भूतानां ज्ञानेनैवोपलभ्यते ।
विद्यया तात सृष्टानां विद्यैवेह परा गतिः ॥ १० ॥
भूतानां जन्म सर्वेषां विविधानां चतुर्विधम् ।
जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजं चोपलक्षयेत् ॥ ११ ॥
स्थावरेभ्यो विशिष्टानि जङ्गमान्युपचारयेत् ।

अवलम्बन करते हैं, वे लोग स्वभावको कारण जानके कुछ भी कल्याण लाभ नहीं करते । मोहके कर्मरूप मनसे ही स्वभाव उत्पन्न होता है, अर्थात् मूढ लोग मनके जरिये जो कुछ कल्पना करते हैं, उसे ही स्वभाव कहते हैं, स्वभावका वक्ष्यमाण लक्षण सुनो। (४-६)

यदि सब कार्य स्वाभाविक ही सिद्ध हों, तो कृषिकार्य आदि सब कर्मोंसे ही बुद्धि-कौशलकी अनर्थकता हो सकती है, वह कदापि सम्भावित नहीं है; क्यों कि कृषि आदि सब कार्य, शस्यसंग्रह, यान, आसन और गृह आदि बुद्धिमान् मनुष्योंके जरिये सम्पन्न हुआ करते हैं। क्रीडागृह और रोगोंमें औषधी करनेके विषयमें बुद्धिमान् पुरुष ही प्रयोक्ता हैं। ज्ञानवान् मनुष्य ही उक्त सब कार्योंका अनुष्ठान किया करते हैं। बुद्धिकी अधिकता रहनेसे ऐश्वर्याधिक्य लाभ होता है। बुद्धिमान् ही कल्याणके मार्गको प्रदर्शित करता है। बुद्धिकी अधिकतासे ही अधिक ऐश्वर्यशाली राजा लोग बुद्धिबलके सहारे राज्य भोग किया करते हैं। जीवोंके परम श्रेष्ठ चिदात्मा और मायाको बुद्धिबलसे ही जाना जाता है। हे तात ! बुद्धिवृत्तिके सहारे परम गति लयस्थानको भी प्राप्त कर सकते हैं। (७-१०)

विविध भूतोंका जन्म चार प्रकारसे है, उसके बीच मनुष्य, पशु, आदि जरायुज; पक्षी, सर्प, आदि अण्डज; तृण, वनस्पति, आदि उद्भिज्ज और यूक,

उपपन्नं हि यच्चेष्टा विशिष्येत विशेष्य या ॥ १२ ॥
आहुर्वै बहुपादानि जङ्गमानि द्वयानि तु।
बहुपाद्भ्यो विशिष्टानि द्विपादानि बहून्यपि ॥ १३ ॥
द्विपदानि द्वयान्याहुः पार्थिवानीतराणि च।
पार्थिवानि विशिष्टानि तानि ह्यन्नानि भुञ्जते ॥ १४ ॥
पार्थिवानि द्वयान्याहुर्मध्यमान्युत्तमानि तु।
मध्यमानि विशिष्टानि जातिधर्मोपधारणात् ॥ १५ ॥
मध्यमानि द्वयान्याहुर्धर्मज्ञानीतराणि च।
धर्मज्ञानि विशिष्टानि कार्याकार्योपधारणात् ॥ १६ ॥
धर्मज्ञानि द्वयान्याहुर्वेदज्ञानीतराणि च।
वेदज्ञानि विशिष्टानि वेदो ह्येषु प्रतिष्ठितः ॥ १७ ॥
वेदज्ञानि द्वयान्याहुः प्रवक्तॄणीतराणि च।
प्रवक्तॄणि विशिष्टानि सर्वधर्मोपधारणात् ॥ १८ ॥
विज्ञायन्ते हि यैर्वेदाः सधर्माः सक्रियाफलाः।

मच्छड आदिको स्वेदज कहके निश्चय करो। तिसके बीच स्थावरोंसे जङ्गमोंको विशिष्ट जानना चाहिये; विशेष-विशेषण करके जो विशेष हो, उसे ही श्रेष्ठ समझो। प्राचीन लोग कहा करते हैं, अनेक चरणवाले जङ्गम जीव दो प्रकारके हैं, तिसके बीच पहले कही हुई रीतिसे अनुसार वृक्षादिके दर्शन आदि स्वतन्त्र रहनेसे भी प्रत्यक्ष दर्शनवाले जङ्गम जीव ही श्रेष्ठ हैं; अनेक चरणवालोंसे कई तरहके दो पांववाली जाति श्रेष्ठ हैं, दो पांववाली जाति भूचर मनुष्य आदि हैं और खेचर पक्षी आदि भेदसे दो प्रकारके हैं, उसमेंसे खेचरसे भूचर मनुष्य आदि श्रेष्ठ हैं क्यों कि वे लोग अन्न भोजन किया करते हैं। (११-१४)

मनुष्य जाति दो तरहकी है, मध्यम और उत्तम तिसके बीच जातीय धर्मके आचरण निबन्धनसे मध्यम ही श्रेष्ठ है; मध्यममें फिर दो भेद हैं, एक धर्मज्ञ, दूसरे इतर, तिसमेंसे कार्याकार्य कर्तव्यका निश्चय करनेसे धर्मज्ञ ही उत्तम है; धर्मज्ञ पुरुष दो प्रकारके हैं, वेदज्ञ और तदितर, उसमेंसे वेद जाननेवाले पुरुष ही उत्तम हैं, क्यों कि वेद इन सबसे ही प्रतिष्ठित होरहा है। वेदज्ञ पुरुष दो तरहके हैं, प्रवक्ता और तदितर, उसके बीच सब धर्मोंके धारण निबन्धनसे प्रवक्ता ही उत्तम है। धर्म

सधर्मा निखिला वेदाः प्रवक्तृभ्यो विनिःसृताः ॥ १९ ॥
प्रवक्तृणि द्वयान्याहुरात्मज्ञानीतराणि च ।
आत्मज्ञानि विशिष्टानि जन्माजन्मोपधारणात् ॥ २० ॥
धर्मद्वयं हि यो वेद स सर्वज्ञः स सर्ववित् ।
स त्यागी सत्यसङ्कल्पः सत्यः शुचिरथेश्वरः ॥ २१ ॥
ब्रह्मज्ञानप्रतिष्ठं हि तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातं परे च कृतनिश्चयम् ॥ २२ ॥
अन्तस्थं च बहिष्ठं च साधियज्ञाधिदैवतम् ।
ज्ञानान्विता हि पश्यन्ति ते देवास्तात ते द्विजाः ॥२३॥
तेषु विश्वमिदं भूतं सर्वं च जगदाहितम् ।
तेषां माहात्म्यभावस्य सदृशं नास्ति किंचन ॥ २४ ॥
आद्यन्ते निधनं चैव कर्म चातीत्य सर्वशः ।
चतुर्विधस्य भूतस्य सर्वस्येशाः स्वयंभुवः ॥ २५ ॥ [८५९८]

इति श्रीमहाभारते० शान्ति० मोक्ष० शुकानुप्रश्ने सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३७ ॥

व्यास उवाच— एषा पूर्वतरा वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते ।

और क्रियाफलके सहित जो लोग सब वेदोंको जानते हैं और धर्मके सहित सब वेद जिससे प्रकट हुए हैं, उन प्रवक्तागणको आत्मज्ञ और तदितर भेदसे फिर दो प्रकार कहा जाता है; उसके बीच जन्म और मोक्ष ज्ञान निबन्धनसे आत्मज्ञपुरुष उत्तम हैं। जो प्रवृत्ति और निवृत्ति लक्षणयुक्त दोनों प्रकारके धर्मको जानते हैं, वेही धर्मज्ञ हैं, वेही धर्मवित् हैं, वेही त्यागशील, सत्यसङ्कल्प, सत्यनिष्ठ, शुचि और सर्वकर्ममें समर्थ हैं। (१९-२१)

ब्रह्मज्ञान विषयमें जिसकी प्रतिष्ठा है, वेद शास्त्रोंमें जिसकी निष्ठा होरही है, और दूसरे शास्त्रोंमें जो लोग कृतनिश्चय हुए हैं, उन्हें देवताभी ब्राह्मण समझते हैं। हे तात! जो सब ज्ञानवान् मनुष्य यज्ञादिदैवत आत्माको अन्तस्थ और बाह्यरूपसे देखते हैं, वेही द्विज और वेही देवस्वरूप हैं, ऐसे आत्मज्ञ पुरुषोंमें ही ये सब भूत और समस्त जगत् प्रतिष्ठित होरहा है; उन लोगोंके माहात्म्यके समान और कुछ भी नहीं है। आदि अन्तसे रहित और सब तरहके कर्मोंको अतिक्रम करके स्थित, चारों प्रकारके भूतोंके स्वयम्भू सब तरहसे ईश्वर हैं। (२२-२४)

शान्तिपर्वमें २३७ अध्याय समाप्त।

ज्ञानवानेव कर्माणि कुर्वन् सर्वत्र सिद्ध्यति ॥ १ ॥
तत्र चेन्न भवेदेवं संशयः कर्म सिद्धये ।
किं तु कर्मस्वभावोऽयं ज्ञानं कर्मेति वा पुनः ॥ २ ॥
तत्र वेदविधिः स स्याज्ज्ञानं चेत्पुरुषं प्रति ।
उपपत्त्युपलब्धिभ्यां वर्णयिष्यामि तच्छृणु ॥ ३ ॥
पौरुषं कारणं केचिदाहुः कर्मसु मानवाः ।
दैवमेके प्रशंसन्ति स्वभावमपरे जनाः ॥ ४ ॥
पौरुषं कर्म दैवं च कालवृत्ति स्वभावतः ।
त्रयमेतत्पृथग्भूतमविवेकं तु केचन ॥ ५ ॥
एतदेवं च नैवं च नचोभे नानुभे तथा ।
कर्मस्था विषयं ब्रूयुः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ॥ ६ ॥
त्रेतायां द्वापरे चैव कलिजाश्च ससंशयाः ।

शान्तिपर्वमें २३८ अध्याय ।

व्यासदेव बोले, यह ब्राह्मणोंकी नित्य वृत्ति विहित हुई है, ज्ञानवान् ब्राह्मणही कर्म करते हुए सर्वत्र सिद्धि लाभ किया करते हैं, कर्म विषयमें यदि संशय न हो, तो वह निःसंशयरूपसे किया गया कर्मही सिद्धिका हेतु हुआ करता है; परन्तु कर्मका क्या लक्षण है, ऐसा सन्देह उत्पन्न होनेपर ज्ञान वा ज्ञानजनक कर्मको यदि कर्म कहा जावे, तब उसे वेदविधि कहके अङ्गीकार करना होगा; इसलिये उपपत्ति और उपलब्धिके जरिये उभयत्र कर्मकी प्रधानता कहता हूं सुनो। (१–३)

कोई कोई मनुष्य इस जन्म और जन्मान्तरमें किये हुए कर्मको ही प्रधान कारण कहा करते हैं, दूसरे लोग दैवको ही कारण रूपसे वर्णन करते हैं; कितने ही लोग स्वभावकोही कारण कहते हैं। पौरुष और दैव कर्म स्वभावके अनुगत होकर फलदायक होते हैं; कोई कहते हैं, ये प्रत्येक पृथक् पृथक् कारण न होकर एकही प्रधान रूपसे कारण हुआ करते हैं; दूसरे लोग कहते हैं इनका समुच्चय ही कारण है। आर्हत मतवाले घट पट आदि विषयोंकी अस्ति भी कहते हैं; और नास्ति भी मानते हैं; "अस्ति नास्ति" यह दोनों ही कहते हैं, और "अस्ति यह भी नहीं है," "नास्ति यह भी नहीं है," ऐसा ही कहा करते हैं, परन्तु योगी लोग परब्रह्मको ही सर्व कारण स्वरूपसे दर्शन करते हैं। त्रेता, द्वापर और कलियुगमें जो सब पुरुष जन्म ग्रहण करते हैं,

तपस्विनः प्रशान्ताश्च सत्त्वस्थाश्च कृते युगे ॥ ७ ॥
अपृथग्दर्शनाः सर्वे ऋक्सामसु यजुःषु च ।
कामद्वेषौ पृथक्कृत्वा तपः कृत उपासते ॥ ८ ॥
तपोधर्मेण संयुक्तस्तपोनित्यः सुसंशितः ।
तेन सर्वानवाप्नोति कामान्यान्मनसेच्छति ॥ ९ ॥
तपसा तदवाप्नोति यद्भूत्वा सृजते जगत् ।
तद्भूतश्च ततः सर्वभूतानां भवति प्रभुः ॥ १० ॥
तदुक्तं वेदवादेषु गहनं वेददर्शिभिः ।
वेदान्तेषु पुनर्व्यक्तं कर्मयोगेन लक्ष्यते ॥ ११ ॥
आलम्भयज्ञाः क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विशः स्मृताः ।
परिचारयज्ञाः शूद्राश्च जपयज्ञा द्विजातयः ॥ १२ ॥
परिनिष्ठितकार्यो हि स्वाध्यायेन द्विजो भवेत् ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ १३ ॥

उन्हें पापानुबन्धनसे श्रौतमतमें सदा ही संशय हुआ करता है, परन्तु सत्ययुगमें उत्पन्न हुए योगनिष्ठ तपस्वी लोग सदा ही संशयरहित होते हैं। कृतयुगमें सब कोई ऋक्, यजु, साम, इन तीनों वेदोंमें भेद न देखके काम और द्वेष आदिको दूर करके केवल ज्ञानकी ही उपासना करते थे। जो लोग तपस्यारूपी धर्मसे युक्त तपमें रत और संशितव्रती होते हैं, वे मनही मन जैसी अभिलाष करते हैं, तपोबलसे वह सब पा सकते हैं। (४—९)

जीव तपोबलसे ब्रह्मस्वरूप होकर जगत्की सृष्टि करता है, तपस्याके सहारे उस ब्रह्मको प्राप्त किया जाता है, और ब्रह्मस्वरूप होनेपर भूतोंके ऊपर प्रभुता करनेकी सामर्थ्य हुआ करती है। वेद-दर्शी ऋषि लोग कहा करते हैं, वेद-वाक्यके बीच यद्यपि ब्रह्मस्वरूप वर्णित हुआ है, तौभी वह अत्यन्त गहन है, ऐसा ही क्यों; वह वेदज्ञ पुरुषोंको भी दुर्ज्ञेय है; वेदान्त दर्शनमें एकमात्र विद्याके सहारे ब्रह्मको जाना जाता है, यही केवल व्यक्त रूपसे वर्णित हुआ है; भावनात्मक कर्मयोगके जरिये ब्रह्मको लक्ष्य नहीं किया जाता। क्षत्रि-योंको पशुहिंसा, वैश्योंको कृषिकर्म, शूद्रोंको तीनों वर्णोंकी सेवा और ब्राह्म-णोंको ब्रह्मोपासनाही यज्ञ-स्वरूप है। जिन लोगोंने स्वशाखोक्त वेदाध्ययनके जरिये सब कार्योंको समाप्त किया है, वेही द्विज होते हैं; जो सब भूतोंमें

त्रेतादौ केवला वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा।
संरोधादायुषस्त्वेते व्यस्यन्ते द्वापरे युगे ॥ १४ ॥
द्वापरे विप्लवं यान्ति वेदाः कलियुगे तथा।
दृश्यन्ते नापि दृश्यन्ते कलेरन्ते पुनः किल ॥ १५ ॥
उत्सीदन्ति स्वधर्माश्च तत्राधर्मेण पीडिताः।
गवां भूमेश्च ये चापामोषधीनां च ये रसाः ॥ १६ ॥
अधर्मान्तर्हिता वेदा वेदधर्मास्तथाऽऽश्रमाः।
विक्रियन्ते स्वधर्मस्थाः स्थावराणि चराणि च ॥ १७ ॥
यथा सर्वाणि भूतानि वृष्टिर्भौमानि वर्षति।
सृजते सर्वतोऽङ्गानि तथा वेदा युगे युगे ॥ १८ ॥
निश्चितं कालनानात्वमनादिनिधनं च यत्।
कीर्तितं यत्पुरस्तान्मे सूते यच्चात्ति च प्रजाः ॥ १९ ॥
यच्चेदं प्रभवः स्थानं भूतानां संयमो यमः।
स्वभावेनैव वर्तन्ते द्वन्द्वसृष्टानि भूरिशः ॥ २० ॥
सर्गः कालो धृतिर्वेदाः कर्ता कार्यं क्रियाफलम्।

समदर्शी हैं, वे दूसरे कर्म करें वा न करें उन्हें ही ब्राह्मण कहा जाता है। सत्ययुग और त्रेतायुगमें सब वेद यज्ञ और वर्णाश्रम थे, द्वापरयुगमें मनुष्योंकी अल्प आयु होनेसे सब वेद आदि लुप्त होते चले आते हैं। (१०-१४)

द्वापर और कलियुगमें सब वेद नष्टप्राय होते हैं द्वापरमें सब वेद दीखते हैं, कलियुगमें सब न दीखेंगे। कलियुगमें अधर्मसे पीडित होकर धर्म और गऊ, भूमि, जल और औषधियोंका रस नाश होरहा है। सब वेद, वेदोक्त धर्म, स्वधर्मस्थ आश्रम और स्थावर तथा जङ्गम जीवन अधर्मके जरिये अन्तर्हित होकर विकृतभाव लाभ करता है। जैसे वर्षा पार्थिव भूतोंकी पुष्टिसाधन करती है, वैसे ही वेद युगयुगमें वेद पढनेवालोंकी पुष्टिसाधन किया करता है। जिसका अनेकत्व और अनादिनिधनत्व निश्चित है, और जो प्रजासमूहके प्रभव और प्रलयका कारण है, उसे मैंने पहले वर्णन किया है। जो काल, जीवोंकी उत्पत्ति और लयका स्थान और अन्तर्यामी है; जिसमें सुख दुःख आदि द्वंद्वयुक्त बहुतसे जीव स्वभावसे ही निवास करते हैं, उस कालका विषय भी कहता हूं। हे तात ! तुमने मुझसे जो पूछा था, मैंने उसही सृष्टि,

एतत्ते कथितं तात यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २१ ॥ [८६१९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने अष्टत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३८ ॥

भीष्म उवाच— इत्युक्तोऽभिप्रशस्यैतत्परमर्षेस्तु शासनम्।
मोक्षधर्मार्थसंयुक्तमिदं प्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ १ ॥

शुक उवाच— प्रज्ञावान् श्रोत्रियो यज्वा कृतप्रज्ञोऽनसूयकः।
अनागतमनैतिह्यं कथं ब्रह्माधिगच्छति ॥ २ ॥
तपसा ब्रह्मचर्येण सर्वत्यागेन मेधया।
सांख्ये वा यदि वा योगे एतत्पृष्टो वदस्व मे ॥ ३ ॥
मनसश्चेन्द्रियाणां च यथैकाग्र्यमवाप्यते।
येनोपायेन पुरुषैस्तत्त्वं व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥

व्यास उवाच— नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्।
नान्यत्र सर्वसंत्यागात्सिद्धिं विन्दति कश्चन ॥ ५ ॥
महाभूतानि सर्वाणि पूर्वसृष्टिः स्वयंभुवः।
भूयिष्ठं प्राणभृद्ग्रामे निविष्टानि शरीरिषु ॥ ६ ॥

काल, सन्तोष, सब वेद, कर्ता, कार्य और क्रियाके समस्त फलको वर्णन किये। (१५-२१)

शान्तिपर्वमें २३८ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २३९ अध्याय।

भीष्म बोले, शुकदेवने महर्षि वेदव्यासका ऐसा वचन सुनके उनके उपदेशकी प्रशंसा करते हुए मोक्ष धर्मार्थयुक्त इस वक्ष्यमाण वचनको पूछनेकी इच्छा की। (१)

शुकदेव बोले, बुद्धिमान् श्रोत्रिय विधिपूर्वक यज्ञ करनेवाले कृतप्रज्ञ और अनसूयक ब्राह्मण प्रत्यक्ष और अनुमानके जरिये अज्ञात तथा अनिर्देश्य ब्रह्मको किस प्रकार जान सकते हैं; तपस्या, ब्रह्मचर्य, सर्वत्याग अथवा धारणायुक्त बुद्धिके जरिये यदि उसे जाना जाय और उसका विषय सांख्य वा पातञ्जल शास्त्रमें निरूपित रहे, तो मैं उसे पूछता हूं, आप मेरे समीप उसे ही वर्णन करिये। मनुष्य जैसे उपायके जरिये मन और इन्द्रियोंकी जिस प्रकार एकाग्रता लाभ करें, आप उसकी ही व्याख्या करिये। (२-४)

व्यासदेव बोले, विद्या, तपस्या, इन्द्रियनिग्रह और सर्वसंन्यासके बिना कोई भी सिद्धि लाभ करनेमें समर्थ नहीं है। सब महाभूत स्वयम्भू ईश्वरकी प्रथम

भूमेर्देहो जलात्स्नेहो ज्योतिषश्चक्षुषी स्मृते ।
प्राणापानाश्रयो वायुः खेष्वाकाशं शरीरिणाम् ॥ ७ ॥
क्रान्ते विष्णुर्बले शक्रः कोष्ठेऽग्निर्भोक्तुमिच्छति ।
कर्णयोः प्रदिशः श्रोत्रं जिह्वायां वाक्सरस्वती ॥ ८ ॥
कर्णौ त्वक्चक्षुषी जिव्हा नासिका चैव पञ्चमी ।
दर्शनीयेन्द्रियोक्तानि द्वाराण्याहारसिद्धये ॥ ९ ॥
शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
इन्द्रियार्थान्पृथग्विद्यादिन्द्रियेभ्यस्तु नित्यदा ॥ १० ॥
इन्द्रियाणि मनो युङ्क्ते वश्यान्यन्तेव वाजिनः ।

सृष्टि है, प्राणिसमूहों तथा शरीराभिमानी मूढ जीवोंमें वह भूयिष्ठरूपसे निविष्ट है शरीरधारियोंके भूमिसे देह, जलसे स्नेह, अग्निसे दोनों नेत्र, वायुसे पञ्चप्राण और आकाशसे अवकाश भाग हुआ करता है। (५-७)

पातञ्जल मतसे आत्मा केवल सुख दुःखका भोक्ता है, कर्ता नहीं है। सांख्य मतसे आत्मा भोक्ता वा कर्त्ता कुछ भी नहीं है; इसलिये सांख्य मतके सिद्धान्तसे पातञ्जल मत इस प्रकार दूषित होता है, की पादेन्द्रियके देवता विष्णु, हाथके अधिष्ठाता इन्द्र हैं, अग्नि उदरके भीतर रहके भोजनकी इच्छा किया करती है। सब दिशा श्रवणेन्द्रियकी देवता हैं, और वागिन्द्रियकी, अधिष्ठात्री सरस्वती है। जैसे सेना राजकीय रथ, शकट आदिको चलाया करती है और जैसे राजा अभिमानके वशमें होके अपनेमें सेनाकी न्हास वृद्धि आदि आरोपित करता है, वैसे ही चिदात्मा इन्द्रिय और उसके अधिष्ठात्री देवतागत भोक्तृत्व स्रष्टृत्व आदिकी अविद्याके वशमें होकर आत्मामें आरोपित कराया करता है अर्थात् "मैं भोगवान् मैं स्रष्टा हूं" इत्यादि वचन आरोपमात्र हैं। जैसे सेनाकी पराजय होनेसे राजाकी हार होती है, वैसे ही विष्णु आदि अधिष्ठात्री देवता लोग भी भोक्ता नहीं हैं, आत्मामें अविद्याके कारण भोक्तृत्व भान हुआ करता है, वास्तवमें आत्मा कर्ता वा भोक्ता नहीं है। (८)

कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका, ये पांचो शब्द आदि ज्ञान साधनके निमित्त द्वाररूप हैं; दर्शनीय इन्द्रिय कहके वर्णित हुआ करते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन पांचों इन्द्रिय विषयोंको सदा ही इन्द्रियोंसे स्वतन्त्र जानना चाहिये। जैसे

मनश्चापि सदा युङ्क्ते भूतात्मा हृदयाश्रितः ॥ ११ ॥
इन्द्रियाणां तथैवैषां सर्वेषामीश्वरं मनः ।
नियमे च विसर्गे च भूतात्मा मानसस्तथा ॥ १२ ॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च स्वभावश्चेतना मनः ।
प्राणापानौ च जीवश्च नित्यं देहेषु देहिनाम् ॥ १३ ॥
आश्रयो नास्ति सत्त्वस्य गुणाः शब्दो न चेतना ।
सत्त्वं हि तेजः सृजति न गुणान्वै कथंचन ॥ १४ ॥
एवं सप्तदशं देहे वृतं षोडशभिर्गुणैः ।
मनीषी मनसा विप्रः पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १५ ॥
न ह्ययं चक्षुषा दृश्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः ।
मनसा तु प्रदीपेन महानात्मा प्रकाशते ॥ १६ ॥
अशब्दस्पर्शरूपं तदरसागन्धमव्ययम् ।

सारथी घोडोंको वशमें करके नियमित करता है, वैसे ही मन इन्द्रियोंको सदा कार्योंमें नियुक्त किया करता है, और अन्तःकरण उपाधिक जीव सदा मनको नियमित करता है। जैसे मन सब इन्द्रियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण है, वैसेही हृदयमें स्थित जीव चैतन्य मनकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय करनेमें समर्थ है; इन्द्रियें, इन्द्रियोंके विषय, बाह्य वस्तुयें सर्दी, गर्मी आदि धर्मस्वरूप स्वभाव, चेतना, मन, प्राण, अपान और चैतन्य देहधारियोंके हृदय-गुफाके बीच सदा ही वर्तमान है। (९—१३)

प्रागुक्त देह बुद्धिका अवलम्ब है, ऐसा सम्भव नहीं होता; स्वप्नकालके शरीरकी भांति उक्त देहका केवल मान-मात्र हुआ करता है; इसलिये सत्त्व, रज, तम यह त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृतिही बुद्धिका अवलम्ब है, चेतना बुद्धिका अवलम्ब वा स्वरूप नहीं है; क्यों कि बुद्धि ही वासनाको उत्पन्न करती है, गुणोंको उत्पन्न करनेके विषयमें बुद्धि कभी कारण नहीं है। इस ही प्रकार चिदात्मा इन्द्रियादि षोडश गुणोंके जरिये पूरित होकर देहमें निवास करता है। मनको निग्रह करनेवाले ब्राह्मण मनके जरिये बुद्धिसे आत्माको देखते हैं। इस आत्माको नेत्रसे नहीं देखा जाता, सब इन्द्रियोंके सहारे भी उसे जाननेकी सामर्थ्य नहीं होती; महान् आत्मा मानस प्रदीपके जरिये प्रकाश-मान होता है (१४—१६)

वह न शब्द है, न स्पर्श है; न रूप

अशरीरं शरीरेषु निरीक्षेत निरिन्द्रियम् ॥ १७ ॥
अव्यक्तं सर्वदेहेषु मर्त्येषु परमाश्रितम् ।
योऽनुपश्यति स प्रेत्य कल्पते ब्रह्मभूयसे ॥ १८ ॥
विद्याभिजनसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १९ ॥
स हि सर्वेषु भूतेषु जङ्गमेषु ध्रुवेषु च ।
वसत्येको महानात्मा येन सर्वमिदं ततम् ॥ २० ॥
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
यदा पश्यति भूतात्मा ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ २१ ॥
यावानात्मनि वेदात्मा तावानात्मा परात्मनि ।
य एवं सततं वेद सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ २२ ॥
सर्वभूतात्मभूतस्य विभोर्भूतहितस्य च ।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥ २३ ॥
शकुन्तानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके ।

है, न रस है और न गन्ध ही है; वह अव्यय और इन्द्रियरहित है; उसके स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर नहीं हैं, तौभी उसे शरीरके बीच देखे। मरण धर्मयुक्त समस्त शरीरोंमें जो अव्यक्त रूपसे निवास करता है, उसे जो पुरुष गुरुवचन और वेदवाक्यके अनुसार अवलोकन करता है, शरीर त्यागने के अनन्तर उसका ब्रह्मके सङ्ग निर्विशेष भाव लाभ होता है। पण्डित लोग विद्वान्, सत्कुलमें उत्पन्न हुए ब्राह्मण गऊ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें ब्रह्म-दर्शन किया करते हैं; जिसने यह सब जगत् बनाया है, वह एक ही महान् आत्मा स्थावर जङ्गम आदि भूतोंमें स्थिति करता है। हृदयाश्रित जीव जब सब भूतोंमें आत्माको परिपूर्ण देखता है, और निष्कलङ्क आत्मामें सब भूतों-को लीन देखता है, उस समय उसे ब्रह्मत्व लाभ होता है। (१७-२१)

वेदके आत्म शब्द स्वरूपसे जितने देश वा कालका प्रमाण होता है, जीवा-त्मा उतनेही देशकालके अनुसारसे अधिष्ठानभूत स्व-स्वरूप परमात्मामें प्रतिष्ठित होता है। जो सदा इस ही प्रकार ज्ञान करते हैं, वे अमृतत्व लाभ करनेमें समर्थ होते हैं। सब भूतोंके हितमें रत पदरहित योगीके पदके अभिलाषी होके उसके अन्वेषणमें देवता भी मोहित हुआ करते हैं। जैसे आकाश

यथा गतिर्न दृश्येत तथा ज्ञानविदां गतिः ॥ २४ ॥
कालः पचति भूतानि सर्वाण्येवात्मनाऽऽत्मनि ।
यस्मिंस्तु पच्यते कालस्तं वेदेह न कश्चन ॥ २५ ॥
न तदूर्ध्वं न तिर्यक् च नाधो न च पुनः पुनः ।
न मध्ये प्रतिगृह्णीते नैव किंचित्कुतश्चन ॥ २६ ॥
सर्वेऽन्तस्था इमे लोका बाह्यमेषां न किंचन ।
यद्यजस्रं समागच्छेद्यथा बाणो गुणच्युतः ॥ २७ ॥
नैवान्तं कारणस्येयाद्यद्यपि स्यान्मनोजवः ।
तस्मात्सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नास्ति स्थूलतरं ततः ॥ २८ ॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ २९ ॥
तदेवाणोरणुतरं तन्महद्भ्यो महत्तरम् ।
तदन्तः सर्वभूतानां ध्रुवं तिष्ठन्न दृश्यते ॥ ३० ॥
अक्षरं च क्षरं चैव द्वैधीभावोऽयमात्मनः ।

में पक्षियों और जलमें मछलियोंकी गति दृष्टिगोचर नहीं होती, ब्रह्मज्ञानियोंकी गति भी वैसी ही है। काल स्वयं अपनेमें सब भूतोंका परिणाम करता है, परन्तु काल जिसमें परिणत होता है, इस जगत्में कौन पुरुष उस परमात्माको जान सकता है। (२२-२५)

मुक्त स्वरूप परब्रह्मको ऊपर, नीचे, तिर्यक् और मध्यदेशी भेदसे किसी स्थानमें भी किसी भांति नेत्र आदि इन्द्रियोंके विषय करनेमें किसीको सामर्थ्य नहीं है। यह समस्त लोग उस उक्त स्वरूपके अन्तर्गत हैं; इन सब लोगोंका कुछ भी बाह्य ज्ञान नहीं है। मनके समान शीघ्रगामी होकर यदि कोई मनुष्य धनुषसे छूटे हुए बाणकी भांति निरन्तर गमन करे, तौभी वह परम कारणका अन्त देखनेमें समर्थ न होवे। वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है, और उससे स्थूल और कुछ भी नहीं है। उस परम कारण परब्रह्मके हाथ, पांव सब दिशामें ही विद्यमान हैं, उसके नेत्र शिर और मुख सब तरफ ही प्रकाशमान हैं, वह समस्त जगत्को परिपूरित करके निवास कर रहा है। (२६—२९)

वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और महत्से भी महत् है, उसमें ही सब भूत लीन हुआ करते हैं, वह सदा निश्चल भावसे निवास करता है, तौ भी किसीके दृष्टि-

क्षरः सर्वेषु भूतेषु दिव्यं त्वमृतमक्षरम् ॥ ३१ ॥
नवद्वारं पुरं गत्वा हंसो हि नियतो वशी।
ईशः सर्वस्य भूतस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ ३२ ॥
हानिभङ्गविकल्पानां नवानां संचयेन च।
शरीराणामजस्याहुर्हंसत्वं पारदर्शिनः ॥ ३३ ॥
हंसोक्तं चाक्षरं चैव कूटस्थं यत्तदक्षरम्।
तद्विद्वानक्षरं प्राप्य जहाति प्राणजन्मनी ॥ ३४ ॥ [८६५२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने ऊनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३९ ॥

व्यास उवाच— पृच्छतस्तव सत्पुत्र यथावदिह सत्त्वतः।
सांख्यज्ञानेन संयुक्तं यदेतत्कीर्तितं मया ॥ १ ॥
योगकृत्यं तु ते कृत्स्नं वर्तयिष्यामि तच्छृणु।

गोचर नहीं होता, अक्षर और क्षर रूप से आत्माका द्वैधीभाव है, वह जो स्थावर जंगम आदि भूतोंमें विनाशि जडरूपसे निवास करता है वही क्षर स्वरूप और दिव्य अमृत अविनाशी चैतन्य ही अक्षरस्वरूप है। अचञ्चल उपाधि दोषके जरिये अनभिभूत स्थावर जङ्गम सब भूतोंके नियन्ता ईश्वर, महत् अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र, अविद्या और कर्म, ये अहंकार धर्म कामके नवद्वारसे युक्त गृहमें गमन करते हैं, इसहीसे वह हंस नाम से वर्णित होता है। (३०—३२)

तत्वदर्शी ऋषि लोग कहा करते हैं, कि जन्मरहित ईश्वरके शरीरमें भीतर गये हुए पहले कहे हुए महदादि सम्बन्धीय हानि, भङ्ग और त्रिविध कल्पना के संग्रह निबन्धनसे हंसत्वकी सिद्धि होती है। 'हंस' इस पदसे जो अक्षर ब्रह्म कहा जाता है, कूटस्थ चैतन्य भी वही अक्षर ब्रह्म है इसमें कुछ भी भेद नहीं है; इसलिये तत्वज्ञानी मनुष्य उस अक्षर ब्रह्मको जानके प्राण और जन्म परित्याग करते हैं, अर्थात् जन्मके कारण अविद्याके विनाश निबन्धनसे वह कैवल्य लाभ किया करते हैं। (३३—३४)

शान्तिपर्वमें २३९ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २४० अध्याय।

व्यासदेव बोले, हे सत्पुत्र ! तुमने जो सांख्यज्ञान संयुक्त ज्ञानका विषय पूछा था, मैंने उसे प्रकृत रूपसे यथावत् वर्णन किया; अब योगियोंका जो कुछ कर्तव्य है, वह सब तुम्हारे समीप

एकत्वं बुद्धिमनसोरिन्द्रियाणां च सर्वशः ॥ २ ॥
आत्मनो व्यापिनस्तात ज्ञानमेतदनुत्तमम्।
तदेतदुपशान्तेन दान्तेनाध्यात्मशीलिना ॥ ३ ॥
आत्मारामेण बुद्धेन बोद्धव्यं शुचिकर्मणा।
योगदोषान्समुच्छिद्य पञ्च यान्कवयो विदुः ॥ ४ ॥
कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम्।
क्रोधं शमेन जयति कामं संकल्पवर्जनात् ॥ ५ ॥
सत्त्वसंसेवनाद्धीरो निद्रामुच्छेत्तुमर्हति।
धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत्पाणिपादं च चक्षुषा ॥ ६ ॥
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च कर्मणा।
अप्रमादाद्भयं जह्याद्दम्भं प्राज्ञोपसेवनात् ॥ ७ ॥
एवमेतान् योगदोषान् जयेन्नित्यमतन्द्रितः।
अग्नींश्च ब्राह्मणांश्चार्चेद्देवताः प्रणमेत च ॥ ८ ॥
वर्जयेदुशतीं वाचं हिंसायुक्तां मनोनुदाम्।

कहता हूं, सुनो। हे तात! बुद्धि, मन, इन्द्रिय और सर्वव्यापी आत्माका एकत्व ज्ञान ही सबसे श्रेष्ठ है; चित्त जीतनेवाले, दान्त, अध्यात्म विषयोंके अनुशीलन युक्त, आत्माराम, यमनियममें निष्ठावान्, शास्त्रतत्वज्ञ पुरुषको आचार्यके मुखसे उक्त ज्ञानके विषयको जानना उचित है। (१—४)

काम, क्रोध, लोभ, भय, और स्वप्न इन पांचोंको पण्डित लोग योगदोष कहा करते हैं; धीर पुरुष ऊपर कहे हुए पांचों दोषोंको नष्ट करके शम गुण के जरिये क्रोधको जीतते हैं। सङ्कल्पको त्यागके कामको विजय करनेमें समर्थ होते हैं और बुद्धिके अनुशीलनसे निद्रा का नाश करनेके योग्य हुआ करते हैं; धैर्यके जरिये व्यभिचार आदिसे शिश्न और उदरकी रक्षा करते हैं; नेत्रसे कांटे आदिकोंसे हाथ पांवकी रक्षा करनेमें सावधान रहते हैं, मनके जरिये परस्त्रीदर्शन आदिसे नेत्र और कानकी सावधानता सम्पादन करते हैं; यज्ञादि कर्मोंसे बुरी चिन्तासे मन और वचनकी रक्षा किया करते हैं; अप्रमादसे भय और प्राज्ञ पुरुषोंकी सेवा निबन्धनसे दम्भ परित्याग करते हैं। (५-७)

योगी लोग सदा अतन्द्रित होकर इस ही प्रकार पूर्वोक्त योग दोषोंको जय करें, अग्नि और ब्राह्मणोंकी पूजा करें, देवताओंके निकट प्रणत होवें;

ब्रह्म तेजोमयं शुक्रं यस्य सर्वमिदं रसः ॥ ९ ॥
एतस्य भूतं भव्यस्य दृष्टं स्थावरजङ्गमम् ।
ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा ॥ १० ॥
शौचमाचारसंशुद्धिरिन्द्रियाणां च निग्रहः ।
एतैर्विवर्धते तेजः पाप्मानं चापकर्षति ॥ ११ ॥
सिद्ध्यन्ति चास्य सर्वार्था विज्ञानं च प्रवर्तते ।
समः सर्वेषु भूतेषु लब्धालब्धेन वर्तयन् ॥ १२ ॥
धूतपाप्मा तु तेजस्वी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निनीषेद्ब्रह्मणः पदम् ॥ १३ ॥
मनसश्चेन्द्रियाणां च कृत्वैकाग्र्यं समाहितः ।
पूर्वरात्रापरार्धे च धारयेन्मन आत्मनि ॥ १४ ॥
जन्तोः पञ्चेन्द्रियस्यास्य यदेकं छिद्रमिन्द्रियम् ।
ततोऽस्य स्रवते प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥ १५ ॥
मनस्तु पूर्वमादद्यात्कुमीनमिव मत्स्यहा ।

हिंसायुक्त मनको सङ्ग करनेवाले अमङ्गल वचन त्याग दें। प्रधान, बीजभूत, प्रकाशात्मक, सत्त्वगुणप्रधान महत्तत्त्व ही ब्रह्मस्वरूप है। ये सब स्थावर, जङ्गम, जीव जिस बीचके सारस्वरूप हैं; वही समस्त जगत् निरीक्षण करता है। ध्यान, अध्ययन, सत्यवचन लज्जाशीलता, सरलता, क्षमा, शौच, शुद्ध आचार और इन्द्रियनिग्रह, इन सबके जरिये सत्त्वोत्कर्ष होनेपर तेजकी बढती और पाप नाश होता है। जो लोग ऐसा आचरण करते हैं, उनकी सब कामना सिद्ध होती और तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। (८–१२)

जो योगी सर्वभूतोंमें समदर्शी यदृच्छालाभसे सन्तुष्ट, पापरहित, तेजस्वी, लघु भोजन करनेवाले और जितेन्द्रिय होवे, वह काम, क्रोधको वशमें करके महत्तत्त्वके आस्पद लय स्थान प्रकृतिको वश में करनेकी अभिलाष करें; समाहित होकर मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता सिद्ध करके पूर्वरात्रि और अपर रात्रिके अर्द्धभागमें बुद्धिमें मनकी धारणा अर्थात् सङ्कल्पात्मक मनका निरोध करे। पञ्चेन्द्रिययुक्त जीवका एक ही इन्द्रिय छिद्र यदि क्षरित हो, तो चर्ममय कोपके छिद्रसे जल निकलनेकी तरह उसकी शास्त्रजनित बुद्धि विषय प्रवणता निबन्धनसे क्षीण हुआ करती है। (१२–१५)

ततः श्रोत्रं ततश्चक्षुर्जिह्वा घ्राणं च योगवित् ॥ १६ ॥
तत एतानि संयम्य मनसि स्थापयेद्यतिः ।
तथैवापोह्य संकल्पान्मनो ह्यात्मनि धारयेत् ॥ १७ ॥
पञ्चेन्द्रियाणि सन्धाय मनसि स्थापयेद्यतिः ।
यदैतान्यवतिष्ठन्ति मनःषष्ठान्यथात्मनि ॥ १८ ॥
प्रसीदन्ति च संस्थाय तदा ब्रह्म प्रकाशते ।
विधूम इव दीप्तार्चिरादित्य इव दीप्तिमान् ॥ १९ ॥
वैद्युतोऽग्निरिवाकाशे दृश्यतेऽऽत्मा तथाऽऽत्मनि ।
सर्वस्तत्र स सर्वत्र व्यापकत्वाच्च दृश्यते ॥ २० ॥
तं पश्यन्ति महात्मानो ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
धृतिमन्तो महाप्राज्ञाः सर्वभूतहिते रताः ॥ २१ ॥
एवं परिमितं कालमाचरन्संशितव्रतः ।
आसीनो हि रहस्येको गच्छेदक्षरसाम्यताम् ॥ २२ ॥
प्रमोहो भ्रम आवर्तो घ्राणं श्रवणदर्शने ।

जैसे मत्स्यजीवी मछुवाहे जाल दंशन करनेमें समर्थ मछलीको अगाडी बांधते हैं, वैसे ही योगवित् यती पहले मनको निग्रह करे, अनन्तर कान, नेत्र, जीभ और नासिकाको संयम करके उन्हें मनके बीच स्थापित करनेमें यत्नवान् होवे, अन्तमें जब मन सब सङ्कल्पोंको परित्याग करे तब मनको बुद्धिमें धारण करे । योगी पुरुष पञ्च इन्द्रियोंको ध्येय वस्तुकी ओर ले जा करके मनमें स्थापन करनेमें यत्नवान् होवे । जब मनके सहित पञ्चइन्द्रिय बुद्धिके बीच स्थिति करके लयको प्राप्त होकर संकल्पजनित कलुषता परित्याग करती हैं; तब उस निर्मल अन्तःकरणमें ब्रह्म प्रकाशमान होता है । धूमरहित अग्नि, प्रकाशमान सूर्य और आकाशमें स्थित बिजलीकी अग्निकी भांति उस समय आत्मा बुद्धिके बीच दीख पडता है । उस समय उस महान् आत्मामें अहंकार आदि सब विकार दिखाई देते हैं, और वह भूतात्मा कारण रूपसे सर्वव्यापक होनेसे सर्वत्र दीखती है । (१६-२०)

जो सब महानुभाव मनीषी ब्राह्मण लोग धृतिमान् महाप्राज्ञ और सब भूतोंके हितमें रत हैं, वेही उस आत्माका दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं । योगयुक्त पुरुष पूर्ण रीतिसे तीक्ष्ण नियम अवलम्बन कर अकेले निर्जन स्थानमें बैठके छः महीनेतक ऐसा ही आचरण करनेसे

अद्भुतानि रसस्पर्शौ शीतोष्णे मारुताकृतिः ॥ २३ ॥
प्रतिभामुपसर्गांश्चाप्युपसंगृह्य योगतः।
तांस्तत्त्वविदनादृत्य आत्मन्येव निवर्तयेत् ॥ २४ ॥
कुर्यात्परिचयं योगे त्रैकाल्ये नियतो मुनिः।
गिरिशृङ्गे तथा चैत्ये वृक्षाग्रेषु च योजयेत् ॥ २५ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं कोष्ठे भाण्डमना इव।
एकाग्रं चिन्तयेन्नित्यं योगान्नोद्विजयेन्मनः ॥ २६ ॥
येनोपायेन शक्येत संनियन्तुं चलं मनः।
तं च युक्तो निषेवेत न चैव विचलेत्ततः ॥ २७ ॥
शून्या गिरिगुहाश्चैव देवतायतनानि च।
शून्यागाराणि चैकाग्रो निवासार्थमुपक्रमेत् ॥ २८ ॥
नाभिष्वजेत्परं वाचा कर्मणा मनसाऽपि वा।
उपेक्षको यताहारो लब्धालब्धे समो भवेत् ॥ २९ ॥
यश्चैनमभिनन्देत यश्चैनमपवादयेत।

मुक्त हुए शुद्ध आत्मस्वरूपकी समानता लाभ करते हैं। तत्त्ववित् योगी लय, विक्षेप, कषाय, प्राण, श्रवण, दर्शन, रस, स्पर्श, शीत, उष्ण, शीघ्रगति, समस्त शास्त्रार्थज्ञान और दिव्य अङ्गना आदि अद्भुत विषयोंको योगबलसे प्राप्त करके अन्तमें उन सबका अनादर कर बुद्धिके बीच उन्हें संहार करें; क्यों कि बुद्धिकल्पित विषयोंका बुद्धिमें ही लय होना योग्य है। (२१–२४)

प्रातःकाल, पूर्वरात्रि और अपर रात्रिमें नियमनिष्ठ योगी पहाडकी शिखर बद्धमूल वृक्षके नीचे अथवा वृक्षके पुरोभागमें योगाभ्यास करें। वह इन्द्रियोंको सब तरहसे नियमित करके इस प्रकार हृदयपुण्डरीकमें एकाग्र भावसे नित्य वस्तुकी चिन्ता करे; जैसे धनकी प्राप्तिमें रत विषयलोभी मनुष्य धनकी चिन्ता करता है; योगसे कभी मनको उद्विग्न न करे। योगयुक्त उपाय से चञ्चल चित्तको पूर्ण रीतिसे नियमित करनेमें समर्थ होवे, उस ही उपायको अवलम्बन करे, उससे कभी विचलित न होवे; वह एकाग्र होकर जनशून्य गिरिगुफा, देवस्थान और सूने गृहमें वास करनेकी इच्छा करे। (२५–२८)

ऐसा योगी पत्नीपरिग्रह न करे, केवल मन, वचन और कर्मसे सब विषयोंमें उपेक्षा करते हुए यताहारी होकर प्राप्त और अप्राप्त विषयोंमें सम-

समस्तयोश्चाप्युभयोर्नाभिध्यायेच्छुभाशुभम् ॥ ३० ॥
न प्रहृष्येत लाभेषु नालाभेषु च चिन्तयेत् ।
समः सर्वेषु भूतेषु सधर्मा मातरिश्वनः ॥ ३१ ॥
एवं स्वस्थात्मनः साधोः सर्वत्र समदर्शिनः ।
षण्मासान्नित्ययुक्तस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ३२ ॥
वेदनार्ताः प्रजा दृष्ट्वा समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
एतस्मिन्विरतो मार्गे विरमेन्न च मोहितः ॥ ३३ ॥
अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकाङ्क्षिणी ।
तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥ ३४ ॥
अजं पुराणमजरं सनातनं यदिन्द्रियैरुपलभेत निश्चलैः ।
अणोरणीयो महतो महत्तरं तदात्मना पश्यति युक्तमात्मवान् ॥ ३५ ॥
इदं महर्षेर्वचनं महात्मनो यथावदुक्तं मनसाऽनुदृश्य च ।

दर्शी होवे। जो पुरुष ऐसे योगीको अभिनन्दित करता है, अथवा जो पुरुष उसकी निन्दा करे, वह उन दोनोंके शुभाशुभकी चिन्ता न करे। योगी पुरुष लाभसे हर्षित और हानिसे असन्तुष्ट न होवे, वह वायुके समान धर्मात्मा होकर सब भूतोंको समभावसे देखे। इस ही भांति छः महीने तक नित्य योगयुक्त सर्वत्र समदर्शी स्वस्थचित्तवाले साधु पुरुषोंके निकट शब्दब्रह्म पूर्णरूपसे प्रकाशित होता है। मृत्पिण्ड, पत्थरके टुकडे और सुवर्णमें समदर्शी योगी प्रजासमूहको पीडासे आर्त्त देखकर इस प्रकारके योगमार्गसे विरत और मोहित न होवे; बल्कि वित्त उपार्जन आदिसे विरत रहे, नीच वर्ण शूद्र भी यदि इस मार्गमें पदार्पण करे और धर्मकी इच्छा करनेवाली स्त्री भी यदि योगाभ्यासमें रत होवे, तो वे भी इस योग अवलम्बनके जरिये परम गति पावें। (२९-३४)

साधु लोग मन और बुद्धियुक्त निश्चल इन्द्रियोंके जरिये जो जन्मरहित जराविवर्जित प्राचीन सनातन पुरुषको लक्ष्य करते हैं। वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और महत्से भी महत् है, चित्तजय करनेवाले योगी उस युक्त स्वरूपको बुद्धिबलसे देखा करते हैं। महानुभाव महर्षियोंके यथावत् वर्णित वह वाक्य गुरुवचनके समान शब्द और अर्थसे जानके उसे स्वयं युक्तिके जरिये परीक्षा करके शुद्धचित्तवाले मनीषि लोग भूतसंप्लव पर्यन्त चतुर्मुखकी समताको प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रलयकालतक ब्रह्मलोकमें

अवेक्ष्य चेमां परमेष्ठिसाम्यतां प्रयान्ति चाभूतगतिं मनीषिणः ॥३६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४० ॥ [८६८९]

शुक उवाच— यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च।
कां दिशं विद्यया यान्ति कां च गच्छन्ति कर्मणा ॥१॥
एतद्वै श्रोतुमिच्छामि तद्भवान्प्रब्रवीतु मे।
एतच्चान्योऽन्यवैरूप्ये वर्तेते प्रतिकूलतः ॥ २ ॥

भीष्म उवाच— इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं पराशरसुतः सुतम्।
कर्मविद्यामयावेतौ व्याख्यास्यामि क्षराक्षरौ ॥ ३ ॥
यां दिशं विद्यया यान्ति यां च गच्छन्ति कर्मणा।
शृणुष्वैकमना वत्स गह्वरं ह्येतदन्तरम् ॥ ४ ॥
अस्ति धर्म इति प्रोक्तं नास्तीत्यत्रैव यो वदेत्।
तस्य पक्षस्य सदृशमिदं मम भवेद्यथा ॥ ५ ॥
द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः।

ब्रह्माके सहित समान भोगके भागी हुआ करते हैं। (३५-३६)

शान्तिपर्वमें २४० अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २४१ अध्याय।

शुकदेव बोले, वेदवाक्यके बीच "कर्म करो और कर्म परित्याग करो," यह जो विधि निषेध है, उसमेंसे विद्याके जरिये लोग किस ओर गमन करते हैं और कर्मके जरिये किस ओर गमन करते हैं, इसे ही मैं सुननेकी इच्छा करता हूं, आप मेरे समीप इसे ही वर्णन करिये। परस्पर वैरूप्ययुक्त ये दोनों मार्ग प्रतिकूल भावसे वर्त्तमान हैं। (१-२)

भीष्म बोले, पराशरनन्दन वेदव्यासने पुत्रका ऐसा वचन सुनके उसे यह उत्तर दिया, हे तात! कर्ममय और ज्ञानमय, नश्वर और अविनश्वर दोनों पथके विषयकी व्याख्या करता हूं; सब लोग विद्याके सहारे जिस ओर गमन करते हैं, तुम एकाग्रचित्त होकर उस विषयको सुनो, इन दोनोंका अन्तर आकाशकी भांति अत्यन्त गम्भीर है। आस्तिक लोग "धर्म है" ऐसा वचन कहते हैं, नास्तिक लोग "धर्म नहीं है" ऐसा कहा करते हैं। उसके बीच नास्तिक और आस्तिकके तारतम्य पूछनेसे आस्तिकके पक्षमें वह जिस प्रकार क्लेशयुक्त होजाता है, मेरे पक्षमें भी यह उस ही प्रकार होरहा है, सब वेद जिसमें

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तौ च सुभाषितः ॥ ६ ॥
कर्मणा बद्ध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥ ७ ॥
कर्मणा जायते प्रेत्य मूर्तिमान्षोडशात्मकः ।
विद्यया जायते नित्यमव्यक्तं ह्यव्ययात्मकम् ॥ ८ ॥
कर्म त्वेके प्रशंसन्ति स्वल्पबुद्धिरता नराः ।
तेन ते देहजालानि रमयन्त उपासते ॥ ९ ॥
ये तु बुद्धिं परां प्राप्ता धर्मनैपुण्यदर्शिनः ।
न ते कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्यां पिबन्निव ॥ १० ॥
कर्मणः फलमाप्नोति सुखदुःखे भवाभवौ ।
विद्यया तदवाप्नोति यत्र गत्वा न शोचति ॥ ११ ॥
यत्र गत्वा न म्रियते यत्र गत्वा न जायते ।
न पुनर्जायते यत्र यत्र गत्वा न वर्तते ॥ १२ ॥
यत्र तद्ब्रह्म परममव्यक्तमचलं ध्रुवम् ।

प्रतिष्ठित होरहे हैं, वह मार्ग दो प्रकारका है; प्रवृत्तिलक्षण धर्म और निवृत्तिलक्षण धर्म उत्तम रीतिसे वर्णित है। (३—६)

जीव कर्मके जरिये बद्ध होता और विद्यासे मुक्त हुआ करता है, इसलिये तत्वदर्शी योगी लोग कर्म करनेमें अनुरक्त नहीं होते। कर्मशील मनुष्य कर्मके जरिये मरनेके अनन्तर फिर शरीर धारण करता है और विद्वान् पुरुष ज्ञानके जरिये नित्य अव्यक्त अव्ययस्वरूपसे प्रगट होते हैं, कोई कोई अल्पबुद्धिमें रत मनुष्य कर्मकी प्रशंसा किया करते हैं, इस हीसे वे स्त्री, पुत्र आदि परिवारमें आसक्त होकर कर्मकी ही उपासना करनेमें रत होते हैं, जो सब धर्ममें निपुण मनुष्योंने श्रेष्ठ बुद्धि लाभ की है, वे इस प्रकार कर्मकी प्रशंसा नहीं करते, जैसे नदीके जलको पीनेवाले मनुष्य कूएंका पानी पीकर उसकी प्रशंसा नहीं करते। (७—१०)

कर्मशील मनुष्य कर्मके फल सुख, दुःख और जन्म, मृत्यु पाते हैं, और ज्ञानी लोग विद्याके सहारे उस स्थानको पाते हैं, जहां पर जानेसे शोक नहीं करना पडता; जहां पर जानेसे जन्म और मृत्यु नहीं होती और फिर दूसरी बार जन्म नहीं लेना पडता। जिस स्थानमें विशेष विज्ञानभावसे जीव लयको प्राप्त होता है, जिस स्थानमें

अव्याकृतमनायासमव्यक्तं चावियोगि च ॥ १३ ॥
द्वन्द्वैर्न यत्र बाध्यन्ते मानसेन च कर्मणा।
समाः सर्वत्र मैत्राश्च सर्वभूतहिते रताः ॥ १४ ॥
विद्यामयोऽन्यः पुरुषस्तात कर्ममयोऽपरः।
विद्धि चन्द्रमसं दर्शे सूक्ष्मया कलया स्थितम् ॥ १५ ॥
तदेतदृषिणा प्रोक्तं विस्तरेणानुमीयते।
नवजं शशिनं दृष्ट्वा वक्रतन्तुमिवाम्बरे ॥ १६ ॥
एकादशविकारात्मा कलासंभारसंभृतः।
मूर्तिमानिति तं विद्धि तात कर्मगुणात्मकम् ॥ १७ ॥
देवो यः संश्रितस्तस्मिन्नब्बिन्दुरिव पुष्करे।
क्षेत्रज्ञं तं विजानीयान्नित्यं योगजितात्मकम् ॥ १८ ॥
तमोरजश्च सत्त्वं च विद्धि जीवगुणात्मकम्।
जीवमात्मगुणं विद्यादात्मानं परमात्मनः ॥ १९ ॥

अव्यक्त, अचल, नित्य, अविस्पष्ट, अक्लेश, अमृत, अवियोगी परब्रह्म विराजमान है; जिस स्थानमें सुख दुःख और मानस कर्मोंसे कुछ बाधा नहीं होती, वहां सब भूतोंमें समदर्शी और सब प्राणियोंके हितमें रत महात्मा लोग निवास किया करते हैं। (११-१४)

हे तात! विद्यामय पुरुष स्वतन्त्र है। और कर्ममय पुरुष स्वतन्त्र है; कर्ममयके बीच संवत्सराख्य प्रजापति श्रेष्ठ हैं। प्रति महीनेमें घटती बढती-युक्त और अमावास्या तिथिमें सूक्ष्म कलासे स्थित चन्द्रमाकी भांति कर्ममय पुरुषोंकी न्हासवृद्धि हुआ करती है। बृहदारण्यकदर्शी याज्ञवल्क्यने आकाशमें वक्रतन्तुकी भांति स्थित नवीन चन्द्रमाको देखकर इस विषयमें बहुतसी युक्तिपूरित उक्ति प्रकाश की है, वह उनके वचनके जरिये अनुमित होती है। हे तात! मनके सहित दशों इन्द्रिय, ये एकादश विकारात्मा कलाके सहित उत्पन्न मूर्तिमान् विराजमान चन्द्रमाको कर्म-गुणात्मक समझो। (१५-१७)

कमल पुष्पके बीच जलकी बूंद समान वह जीव उपाधियुक्त मनके बीच जो द्योतमान चित्प्रकाश संश्रित होरहा है, और उस योगनिरुद्ध चित्त जीवको क्षेत्रज्ञ समझना चाहिये। तम, रज और सत्व, इन तीनों गुणोंको विज्ञानमय किसी जीवका गुण जानना चाहिये। विज्ञानमयको आत्मगुण अर्थात् चिदाभास गुण चैतन्य उससे युक्त समझे;

सचेतनं जीवगुणं वदन्ति स चेष्टते जीवयते च सर्वम् ।
ततः परं क्षेत्रविदो वदन्ति प्राकल्पयद्यो भुवनानि सप्त ॥ २० ॥[८७०९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि
शुकानुप्रश्ने एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४१ ॥

शुक उवाच— अक्षरात्प्रभृति यः सर्गः सगुणानीन्द्रियाणि च ।
बुद्ध्यैश्वर्यातिसर्गोऽयं प्रधानश्चात्मनः श्रुतम् ॥ १ ॥
भूय एव तु लोकेऽस्मिन् सद्वृत्तिं कालहैतुकीम् ।
यथा सन्तः प्रवर्तन्ते तदिच्छाम्यनुवर्तितुम् ॥ २ ॥
वेदे वचनमुक्तं तु कुरु कर्म त्यजेति च ।
कथमेतद्विजानीयां तच्च व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३ ॥
लोकवृत्तान्ततत्त्वज्ञः पूतोऽहं गुरुशासनात् ।
कृत्वा बुद्धिं विमुक्तात्मा द्रक्ष्याम्यात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

व्यास उवाच— यथा वै विहिता वृत्तिः पुरस्ताद्ब्रह्मणा स्वयम् ।

चिदाभास आत्माको परमात्माके गुण ज्ञान और ऐश्वर्य आदिसे संयुक्त जाने। शरीर स्वयं अचेतन होनेपर भी जीवके गुण चैतन्यके संयोगसे सचेतन होकर हाथ पांव चलाते हुए जीवित होता है । जिन्होंने भूलोक, भुवर्लोक आदि सातों भुवनोंको बनाया है, पण्डित लोग उसे ही जीवसे परम श्रेष्ठ कहा करते हैं । (१८-२०)

शान्तिपर्वमें २४१ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें २४२ अध्याय ।

शुकदेव बोले, प्रकृतिसे चौवीस तत्त्वात्मक जो साधारण सृष्टि है,उसे और विषययुक्त इन्द्रियों तथा बुद्धिकी सामर्थ्य आदि जो कुछ असाधारण उत्तम सृष्टि है, वह भी आत्माकी सृष्टि है, यह मैंने सुना । सम्प्रति इस लोकमें युगके अनुसार जो सब सद्व्यवहार प्रचलित हैं, जिसके जरिये साधु लोग उसके आचरणमें प्रवृत्त होते हैं, मैं फिर उस विषयको सुननेकी इच्छा करता हूं । वेदके बीच कर्म करने और कर्मपरित्यागका वचन वर्णित है; परन्तु इन दोनोंके अविरोध विषयविभागके जरिये विचार कर किस प्रकारसे मालूम करूं; आप इस हीकी व्याख्या करिये । मैं गुरुके उपदेशसे धर्माधर्ममूलक लौकिक रीतिको यथार्थ रीतिसे जानके धर्मानुष्ठानके जरिये पवित्र होकर और बुद्धिका संस्कार करके देह छोडकर अव्यय परमात्माका दर्शन करूंगा । (१-४)

व्यासदेव बोले, कर्मके सहारे बुद्धिका

एषा पूर्वतरैः सद्भिराचीर्णा परमर्षिभिः ॥ ५ ॥
ब्रह्मचर्येण वै लोकान् जयन्ति परमर्षयः ।
आत्मनश्च ततः श्रेयांस्यन्विच्छन्मनसाऽऽत्मनि ॥ ६ ॥
वने मूलफलाशी च तप्यन्सुविपुलं तपः ।
पुण्यायतनचारी च भूतानामविहिंसकः ॥ ७ ॥
विधूमे सन्नमुसले वानप्रस्थप्रतिश्रये ।
काले प्राप्ते चरन्भैक्ष्यं कल्पते ब्रह्मभूयसे ॥ ८ ॥
निस्तुतिर्निर्नमस्कारः परित्यज्य शुभाशुभे ।
अरण्ये विचरैकाकी येन केन चिदाशितः ॥ ९ ॥

शुक उवाच— यदिदं वेदवचनं लोकवादे विरुध्यते ।
प्रमाणे वाऽप्रमाणे च विरुद्धे शास्त्रता कुतः ॥ १० ॥
इत्येतच्छ्रोतुमिच्छामि प्रमाणं तूभयं कथम् ।
कर्मणामविरोधेन कथं मोक्षः प्रवर्तते ॥ ११ ॥

भीष्म उवाच— इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं गन्धवत्याः सुतः सुतम् ।

संस्कार करनेसे आत्मदर्शन हुआ करता है, पहले प्रजापतिने स्वयं इस व्यवहारका विधान किया है, और पहलेके साधु महर्षि लोग भी वैसा ही आचरण कर गये हैं। परमर्षि लोग ब्रह्मचर्यसे सब लोकोंको जय किया करते हैं। जो मनके जरिये बुद्धिसे अपने कल्याणकी इच्छा करें, वे वनवासी और फलमूलभोजी होकर अत्यन्त तपस्याचरण करके पवित्र आश्रमोंमें विचरते हुए सब भूतोंमें दयायुक्त होकर धूमरहित मूषक शब्द वर्जित वानप्रस्थ आश्रममें यथासमय भिक्षा प्राप्त करके ब्रह्मत्व लाभ कर सकेंगे। तुम निस्तुति और निर्नमस्कार होके शुभाशुभ परित्याग कर जिस किसी वस्तुसे होसके, उस हीसे तृप्ति लाभ करके वनके बीच अकेले ही विचरो। (५-९)

शुकदेव बोले, "कर्म करो, और कर्म परित्याग करो," ये वेदवचन जो लौकिक वचनसे विरुद्ध होरहे हैं, इन दोनोंके प्रमाण वा अप्रमाण विषयमें किस प्रकार शास्त्रत्वकी सिद्धि हो सकती है। इससे पूर्वोक्त दोनों वचनोंके प्रमाणकी सिद्धिके लिये व्यवस्था करनी उचित है। उन दोनों वाक्योंका ही किस प्रकार प्रमाण हो और सब कर्मोंके अविरोधसे किस प्रकार मोक्ष हुआ करती है, इसे ही मैं सुननेकी इच्छा करता हूं। (१०-११)

ऋषिस्तत्पूजयन्वाक्यं पुत्रस्यामिततेजसः ॥ १२ ॥

व्यास उवाच— ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
यथोक्तचारिणः सर्वे गच्छन्ति परमां गतिम् ॥ १३ ॥
एको वाऽप्याश्रमानेतान्योऽनुतिष्ठेद्यथाविधि।
अकामद्वेषसंयुक्तः स परत्र विधीयते ॥ १४ ॥
चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता।
एतामारुह्य निःश्रेणीं ब्रह्मलोके महीयते ॥ १५ ॥
आयुषस्तु चतुर्भागं ब्रह्मचार्यनसूयकः।
गुरौ वा गुरुपुत्रे वा वसेद्धर्मार्थकोविदः ॥ १६ ॥
जघन्यशायी पूर्वं स्यादुत्थाय गुरुवेश्मनि।
यच्च शिष्येण कर्तव्यं कार्यं दासेन वा पुनः ॥ १७ ॥
कृतमित्येव तत्सर्वं कृत्वा तिष्ठेत पार्श्वतः।
किङ्करः सर्वकारी स्यात्सर्वकर्मसु कोविदः ॥ १८ ॥
कर्मातिशेषेण गुरावध्येतव्यं बुभूषता।

भीष्म बोले, "योजनगन्धापुत्र महर्षि वेदव्यासने कर्मके जरिये चित्त शुद्ध करके आत्माका दर्शन करूंगा," अपरिमित तेजसे युक्त निज पुत्रके इस वचनकी अत्यन्त प्रशंसा करके उसके पूर्व प्रश्नके अनुसार वक्ष्यमाण रीतिसे यह उत्तर दिया। (१२)

व्यासदेव बोले, ब्रह्मचारी, गृहस्थ वानप्रस्थ और भिक्षुक ये सब निज आश्रम विहित कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे मोक्ष लाभ करनेमें समर्थ होते हैं, अथवा जो लोग कामद्वेषसे रहित होके अकेले ही इन चारों आश्रमोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान करते हैं, वह ब्रह्मविषयमें ज्ञानवान् होनेके योग्य हुआ करते हैं। ब्रह्मप्राप्तिके विषयमें यह चतुष्पदी अधिरोहिणी प्रतिष्ठित है, इस ही निःश्रेणीमें चढके लोग ब्रह्मलोकमें जाते हैं। ब्रह्मचारी असूयारहित और धर्मार्थवित् होकर परमायुके चौथे भागके पहले भागमें गुरु अथवा गुरुपुत्रके समीप वास करे। गुरुके गृहमें जघन्य शय्यापर शयन करते हुए पहले उठके शिष्य अथवा सेवकका जो कुछ कार्य हो, वह सब सम्पन्न करे; कर्तव्य कर्मोंके सिद्ध होनेपर गुरुकी पीछे खडा रहे, सब कार्य जाननेवाला सेवक और सब कर्मोंका करनेवाला होवे। (१३-१८)

शेष कर्मोंको समाप्त करके ज्ञानकी इच्छा करनेवाला शिष्य गुरुके समीप पढे;

दक्षिणोऽनपवादी स्यादाहूतो गुरुमाश्रयेत् ॥ १९ ॥
शुचिर्दक्षो गुणोपेतो ब्रूयादिष्टमिवान्तरा ।
चक्षुषा गुरुमव्यग्रो निरीक्षेत जितेन्द्रियः ॥ २० ॥
नाभुक्तवति चाश्नीयादपीतवति नो पिबेत् ।
नातिष्ठति तथासीत नासुप्ते प्रस्वपेत च ॥ २१ ॥
उत्तानाभ्यां च पाणिभ्यां पादावस्य मृदु स्पृशेत् ।
दक्षिणं दक्षिणेनैव सव्यं सव्येन पीडयेत् ॥ २२ ॥
अभिवाद्य गुरुं ब्रूयादधीष्व भगवन्निति ।
इदं करिष्ये भगवन्निदं चापि कृतं मया ॥ २३ ॥
ब्रह्मंस्तदपि कर्ताऽस्मि यद्भवान्वक्ष्यते पुनः ।
इति सर्वमनुज्ञाप्य निवेद्य च यथाविधि ॥ २४ ॥
कुर्यात्कृत्वा च तत्सर्वमाख्येयं गुरवे पुनः ।
यांस्तु गन्धान् रसान् वाऽपि ब्रह्मचारी न सेवते॥२५॥
सेवेत तान्समावृत्त इति धर्मेषु निश्चयः ।
ये केचिद्विस्तरेणोक्ता नियमा ब्रह्मचारिणः ॥ २६ ॥

सरल और अपवादरहित होवे; गुरुके आवाहन करनेसे उसका आश्रय ग्रहण करे; पवित्र निपुण और गुणयुक्त होकर बीच बीचमें प्रियवचन कहे। जितेन्द्रिय और सावधान होकर स्निग्ध नेत्रसे गुरुको देखे। जबतक गुरु भोजन कर न चुकें, तबतक भोजन न करें, उनके विना जल पीये, जल न पीवे, विना बैठे उपविष्ट न होवे और विना निद्रित हुए शयन न करे। दोनों हाथोंको नीचे ऊपर करके गुरुके दोनों पावोंको कोमलभावसे स्पर्श करे, दहने हाथसे दहने पांव और बायें हाथसे बायें चरणकी वन्दना करे। गुरुको प्रमाण करके कहे, हे भगवन्! शिष्यको शिक्षादान करिये; मैं यह करूंगा, इसे किया है; हे भगवन्! दूसरी बार आप जो आज्ञा करेंगे, वह भी करूंगा, इसी प्रकार सब विषयोंमें आज्ञा लेकर और विधिपूर्वक निवेदन करके सब कार्य करे, कार्य समाप्त करके फिर गुरुके समीप सब विषयोंका निवेदन करे, ब्रह्मचारी जिन सब गन्ध रसोंकी सेवा नहीं करते, समावृत्त अर्थात् ब्रह्मचर्य कर्म समाप्त होनेपर समावर्त्तन संस्कारके जरिये संस्कारयुक्त होके उन सब विषयोंको सेवन करे, यह धर्मशास्त्र में निश्चित है। (१९-२६)

ब्रह्मचारीके पक्षमें जो कुछ नियम

तान्सर्वानाचरेन्नित्यं भवेच्चानपगो गुरोः ।
स एवं गुरवे प्रीतिमुपहृत्य यथाबलम् ॥ २७ ॥
आश्रमादाश्रमेष्वेव शिष्यो वर्तेत कर्मणा ।
वेदव्रतोपवासेन चतुर्थे चायुषो गते ॥ २८ ॥
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा समावर्तेद्यथाविधि ॥ २९ ॥
धर्मलब्धैर्युतो दारैरग्नीनुत्पाद्य यत्नतः ।
द्वितीयमायुषो भागं गृहमेधी भवेद्व्रती ॥ ३० ॥ [८७३९]

इति श्रीमहा० मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४२ ॥

व्यास उवाच — द्वितीयमायुषो भागं गृहमेधी गृहे वसेत् ।
धर्मलब्धैर्युतो दारैरग्नीनाहृत्य सुव्रतः ॥ १ ॥
गृहस्थवृत्तयश्चैव चतस्रः कविभिः स्मृताः ।
कुसूलधान्यः प्रथमः कुम्भधान्यस्त्वनन्तरम् ॥ २ ॥
अ-श्वस्तनोऽथ कापोतीमाश्रितो वृत्तिमाहरेत् ।
तेषां परः परो ज्यायान्धर्मतो धर्मजित्तमः ॥ ३ ॥

हैं, उसे विस्तारपूर्वक कहता हूं, ब्रह्मचारी सदा उसहीका आचरण करे और सदा गुरुकी सेवा करनेमें तत्पर रहे। इस ही प्रकार गुरुको शक्तिके अनुसार प्रसन्न करके शिष्य होकर कर्मके जरिये ब्रह्मचर्य आश्रमसे निकलकर दूसरे आश्रममें निवास करे। वेदाध्ययन, व्रत और उपवाससे आयुका प्रथम भाग बीतनेपर गुरुको दक्षिणा देकर विधिपूर्वक समावृत्त होके अर्थात् गुरुगृहसे लौटके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे। फिर धर्मसे प्राप्त हुई दाराका परिग्रह करके यत्नके सहित तीनों अग्निको उत्पन्न करते हुए गृहमेधी और व्रती होकर परमायुका दूसरा भाग बितानेके लिये गृहमें वास करे। (२६-३०)

शान्तिपर्वमें २४२ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २४३ अध्याय।

व्यासदेव बोले, गृहस्थ पुरुष धर्मपत्नीयुक्त और सुव्रती होके अग्नि लाकर आयुके दूसरे भागमें गृहमें निवास करे। कवियोंने गृहस्थकी चार प्रकारकी वृत्तिका विधान किया है, उसमेंसे पहले कुसूलधान्य अर्थात् तुच्छ धान्यके जरिये जीविका निर्वाह करे। दूसरा कुंम्भधान्य अर्थात् बडे परिमित धान्य सञ्चय करके वृत्ति स्थापित करे, तीसरा अ-श्वस्तन अर्थात् दूसरे दिनके लिये, सञ्चय न करे। चौथा कापोती अर्थात् उञ्छवृत्ति अवलम्बन करके जीविका

षट्कर्मा वर्त्तयत्येकस्त्रिभिरन्यः प्रवर्त्तते ।
द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रे व्यवस्थितः ॥ ४ ॥
गृहमेधिव्रतान्यत्र महान्तीह प्रचक्षते ।
नात्मार्थं पाचयेदन्नं न वृथा घातयेत् पशून् ॥ ५ ॥
प्राणी वा यदि वाऽप्राणी संस्कारं यजुषार्हति ।
न दिवा प्रस्वपेज्जातु न पूर्वापररात्रिषु ॥ ६ ॥
न भुञ्जीतान्तरा काले नानृतावाह्वयेत्स्त्रियम् ।
नास्यानश्नन् गृहे विप्रो वसेत्कश्चिदपूजितः ॥ ७ ॥
तथाऽस्यातिथयः पूज्या हव्यकव्यवहाः सदा ।
वेदविद्याव्रतस्नाताः श्रोत्रिया वेदपारगाः ॥ ८ ॥
स्वधर्मजीविनो दान्ताः क्रियावन्तस्तपस्विनः ।
तेषां हव्यं च कव्यं चाप्यर्हणार्थं विधीयते ॥ ९ ॥
नखरैः संप्रयातस्य स्वधर्मज्ञापकस्य च ।
अपविद्धाग्निहोत्रस्य गुरोर्वालीककारिणः ॥ १० ॥

निर्वाह करे। इसनेंसे धर्मके अनुसार जो जिसके अनन्तर वर्णित हुए, वेही उससे अधिक ज्यायान् और धर्मजित्तम हैं, गृहस्थ पुरुष यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान, प्रतिग्रह, इन षट् कर्मोंको अवलम्बन करके वर्त्तमान रहे, कोई दान और अध्ययन, इन दोनों कर्मोंका आसरा करके निवास करें और चौथे आश्रमी केवल ब्रह्मसत्र अर्थात् प्रणवकी उपासनामें रत रहें, इस समय गृहस्थोंके सुन्दर और महत् व्रत कहे जाते हैं। गृहस्थ पुरुष केवल अपने लिये अन्न पाक न करावे और वृथा हत्या न करे। (१-५)

बकरे आदि प्राणी ही होवें अथवा अश्वत्थ आदि अप्राणी ही हों, सबका ही यजुर्वेदीय छेदनमन्त्रसे संस्कार करना होगा। गृहस्थ पुरुष दिनके समय, रात्रिके आरम्भ और रात्रिकी सभाप्तिमें कभी न सोवे; दिन और रात्रि में भोजनका जो समय निर्दिष्ट है, उसके मध्यमें फिर भोजन न करे; ऋतुकालके अतिरिक्त भार्यासे सङ्ग न करे। गृहमें आके कोई ब्राह्मण अनादृत और अभुक्त रहके वास न करे, इस विषयमें गृहस्थको सावधान होना योग्य है; अतिथि लोग सदा सत्कारयुक्त होके हव्यकव्य ढोते हुए निवास करें; वेदज्ञानरत, व्रतस्नात, स्वधर्मजीवी, दान्त, क्रियावान्, तपस्वी, श्रोत्रियोंके अर्हणके निमित्त

संविभागोऽत्र भूतानां सर्वेषामेव शिष्यते।
तथैवापचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना ॥ ११ ॥
विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं चामृतभोजनः।
अमृतं यज्ञशेषं स्याद्भोजनं हविषा समम् ॥ १२ ॥
भृत्यशेषं तु योऽश्नाति तमाहुर्विघसाशिनम्।
विघसं भृत्यशेषं तु यज्ञशेषमथामृतम् ॥ १३ ॥
स्वदारनिरतो दान्तो ह्यनसूयुर्जितेन्द्रियः।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ॥ १४ ॥
वृद्धबालातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसंबन्धिबान्धवैः।
मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ॥ १५ ॥
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्।
एतान्विमुच्य संवादान्सर्वपापैर्विमुच्यते ॥ १६ ॥
एतैर्जितस्तु जयति सर्वाँल्लोकान्न संशयः।

हव्यकव्यका करना सदा ही योग्य है। दम्भके निमित्त नख लोम धारण करनेवाले, स्वधर्मज्ञापक, अविधिसे अग्निहोत्र त्यागनेवाले, और बडे लोगोंके अप्रिय कार्य करनेवाले चाण्डाल आदि जीवोंका भी गार्हस्थ्य धर्ममें संविभाग है, ब्रह्मचारी संन्यासी आदि जिन्हें स्वयंपाक करना निषेध है, गृहमेधी मनुष्य उन्हें अन्नदान करें। (९-११)

गृहस्थ पुरुष सदा विघसाशी और अमृतभोजी होवें, यज्ञसे शेष बचे हुए हविके सहित भोजनको अमृत कहा जाता है, और जो लोग सेवकोंके भोजन करनेके अनन्तर भोजन करते हैं, पण्डित लोग उसे ही विघसाशी कहते हैं; इसलिये यज्ञसे शेष भोजनका नाम अमृत और सेवकोंके भोजन करनेके अनन्तर जो भोजन किया जाता है, वह विघसपदवाच्य हुआ करता है। गृही मनुष्य स्वस्त्रीमें रत, दान्त, असूयारहित और जितेन्द्रिय होकर ऋत्विक्, पुरोहित, अतिथि, आश्रित लोग, वृद्ध, बालक, आतुर, आचार्य, मामा, वैद्य, स्वजन, सम्बन्धी बान्धव, माता, पिता, बहिन अथवा सगोत्रा स्त्रियां, भ्राता, भार्या, पुत्र, कन्या और सेवकोंके सहित विवाद न करे। इन सब लोगोंके संग अंश आदिके निमित्त झगडा परित्याग करनेमें मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हुआ करते है। (१२-१६)

जो लोग इन सब विवादोंके विषयोंको जय करते हैं, वे सब लोकोंको

आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः ॥ १७॥
अतिथिस्त्विन्द्रलोकस्य देवलोकस्य चर्त्विजः ।
जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवे तु ज्ञातयः ॥ १८॥
संबन्धिबान्धवा दिक्षु पृथिव्यां मातृमातुलौ ।
वृद्धबालातुरकृशास्त्वाकाशे प्रभविष्णवः ॥ १९॥
भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः ।
छाया स्वा दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ॥ २०॥
तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेन्नित्यमसंज्वरः ।
गृहधर्मपरो विद्वान् धर्मशीलो जितक्लमः ॥ २१॥
न चार्थबद्धः कर्माणि धर्मवान्कश्चिदाचरेत् ।
गृहस्थवृत्तयस्तिस्रस्तासां निःश्रेयसं परम् ॥ २२॥
परं परं तथैवाहुश्चातुराश्रम्यमेव तत् ।
यथोक्ता नियमास्तेषां सर्वं कार्यं बुभूषता ॥ २३॥

निःसन्देह जय करनेमें समर्थ होते हैं। पूरी रीतिसे आचार्यकी सेवा करनेसे ब्रह्मलोक प्राप्त होता है; पिताके पूजित होनेसे मनुष्य प्रजापति लोक प्राप्तिके प्रभु हुआ करते हैं; अतिथियोंके सत्कारयुक्त होनेसे इन्द्रलोक प्राप्त होता है, ऋत्विजोंके पूजित होनेसे देवलोक मिलता है; कुलकी स्त्रियोंके सम्मानित होनेसे अप्सरा-लोकमें वास होता है; स्वजनोंके आदरयुक्त होनेसे वैश्वदेव लोकमें निवास हुआ करता है; सम्बन्धी बान्धवके सत्कारयुक्त होनेसे सब दिशामें यश फैलता है, माता और मामाके पूजित होनेसे भूलोकमें कीर्त्ति हुआ करती है, वृद्ध, बालक, आतुर और कृश आदिके आदर करनेसे आकाशमें गति प्राप्त होती है। (१७-१९)

बडा भाई पिताके समान है, भार्या और पुत्र निज शरीर स्वरूप हैं, दास दासी निज परछांईके समान हैं, और कन्या अत्यन्त कृपापात्री है; इस लिये इन सबके जरिये निन्दित होनेपर भी गृहधर्मपरायण, विद्वान्, धर्मशील, जितक्लम पुरुष क्रोधरहित होकर सदा उसे सहे। कोई धार्मिक मनुष्य धन लाभके लिये अग्निहोत्र आदि कर्म न करे; उंछ, शिल और कपोतव्रत भेदसे गृहस्थकी तीन प्रकारकी वृत्ति है; उसके बीच उत्तरोत्तर वृत्तिही कल्याणकारी है। (२०-२२)

ऋषि लोग ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रमोंके उत्तरोत्तरको श्रेष्ठ कहा करते

कुम्भधान्यैरुञ्छशिलैः कापोतीं चास्थितास्तथा ।
यस्मिंश्चैते वसन्त्यर्हास्तद्राष्ट्रमभिवर्धते ॥ २४ ॥
पूर्वान् दश दश परान् पुनाति च पितामहान् ।
गृहस्थवृत्तीश्चाप्येता वर्तयेद्यो गतव्यथः ॥ २५ ॥
स चक्रधरलोकानां सदृशीमाप्नुयाद्गतिम् ।
जितेन्द्रियाणामथवा गतिरेषा विधीयते ॥ २६ ॥
स्वर्गलोको गृहस्थानामुदारमनसां हितः ।
स्वर्गो विमानसंयुक्तो वेददृष्टः सुपुष्पितः ॥ २७ ॥
स्वर्गलोको गृहस्थानां प्रतिष्ठा नियतात्मनाम् ।
ब्रह्मणा विहिता योनिरेषा यस्माद्विधीयते ।
द्वितीयं क्रमशः प्राप्य स्वर्गलोके महीयते ॥ २८ ॥
अतः परं परममुदारमाश्रमं तृतीयमाहुस्त्यजतां कलेवरम् ।
वनौकसां गृहपतिनामनुत्तमं शृणुष्व संश्लिष्टशरीरकारिणाम् ॥२९॥

इति श्रीम०शान्ति०मोक्ष०शुकानुप्रश्ने त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४३॥ [८७६८]

हैं। आश्रमोंके सब कार्योंको प्राप्त करनेकी जो लोग इच्छा करते हैं, वे यथोक्त नियमोंका अवलम्बन करें, अथवा कुम्भधान्य वा उंछ, शिल वृत्तिके जरिये कापोती वृत्ति अवलम्बन करें। ऐसे पूजनीय पुरुष जिस देशमें निवास करते हैं, उस राज्यकी समृद्धि वर्द्धित हुआ करती है। ऐसे नियमशाली मनुष्य पहले और पीछेके दश पुरुषोंको पवित्र करते हैं। जो लोग गृहस्थवृत्ति अवलम्बन करके व्यथारहित होकर पहले कहे हुए नियमोंको पालन करते हैं वे राजचक्रवर्त्ती मान्धाता आदि राजाओंने जिन लोकोंमें गमन किया है, उन्हींके समान लोकोंको पाते हैं। (२१–२६)

जितेन्द्रिय लोगोंको भी ऐसी ही गतिका विषय विहित है। उदारचित्त गृहस्थोंके निमित्त स्वर्गलोक ही हितकर है; वेददृष्ट, विमानोंसे संयुक्त स्वर्गलोक नियत चित्तवाले गृहस्थोंके लिये प्रतिष्ठित है। जब कि गार्हस्थ्य धर्म स्वर्गके कारण रूपसे ब्रह्माके जरिये विहित हुआ है, तब मनुष्य क्रमसे गार्हस्थ्य अवलम्बन करके अन्तमें अवश्य ही स्वर्ग लोकमें वास करेंगे। इसके अनन्तर गार्हस्थ्यसे भी परम उदार आश्रमको तीसरा आश्रम कहा जाता है, हड्डी, चर्म आदिके संश्लेषजनित शरीरको सुखानेवाले वनचारी लोगोंको इस

भीष्म उवाच— प्रोक्ता गृहस्थवृत्तिस्ते विहिता या मनीषिभिः।
तदनन्तरमुक्तं यत्तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ १ ॥
क्रमशस्त्ववधूयैनां तृतीयां वृत्तिमुत्तमाम्।
संयोगव्रतखिन्नानां वानप्रस्थाश्रमौकसाम् ॥ २ ॥
श्रूयतां पुत्र भद्रं ते सर्वलोकाश्रमात्मनाम्।
प्रेक्षापूर्वं प्रवृत्तानां पुण्यदेशनिवासिनाम् ॥ ३ ॥

व्यास उवाच— गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं वनमेव तदाश्रयेत् ॥ ४ ॥
तृतीयमायुषो भागं वानप्रस्थाश्रमे वसेत्।
तानेवाग्नीन्परिचरेद्यजमानो दिवौकसः ॥ ५ ॥
नियतो नियताहारः षष्ठभक्तोऽप्रमत्तवान्।
तदग्निहोत्रं ता गावो यज्ञाङ्गानि च सर्वशः ॥ ६ ॥
अफालकृष्टं व्रीहियवं नीवारं विघसानि च।
हवींषि संप्रयच्छेत मखेष्वत्रापि पञ्चसु ॥ ७ ॥

आश्रममें शरीर त्यागनेसे जो फलप्राप्त होता है, उसे सुनो। (२६—२८)

शान्तिपर्वमें २४३ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २४४ अध्याय।

भीष्म बोले, हे धर्मराज! पण्डितोंने जिस प्रकार गृहस्थवृत्तिका विधान किया है, उसे मैंने तुम्हारे समीप वर्णन किया। इसके अनन्तर जिस आश्रमका विषय वर्णित हुआ है उसे कहता हूं सुनो। गृहमेधी मनुष्य परम श्रेष्ठ कापोती वृत्तिको क्रमसे परित्याग करके सहधर्मिणीके सहित खिन्न होकर वानप्रस्थ आश्रमको अवलम्बन करें। हे तात! प्रेक्षापूर्वक प्रवृत्त, पुण्य देशमें निवास करनेवाले, सर्व लोकाश्रम स्वरूप वानप्रस्थ आश्रमवालोंके वृत्तान्त सुननेसे तुम्हारा कल्याण होगा। (१-३)

व्यासदेव बोले, गृहस्थ पुरुष जिस समय निज शरीरको ढलता हुआ तथा, पुत्रकी सन्तानको अवलोकन करें, तब वनवासी होवें। वे परमायुका तीसरा भाग वानप्रस्थाश्रममें व्यतीत करें; देवताओंकी पूजा करके पूर्वोक्त तीनों अग्नियोंकी परिचर्या करते हुए नियुक्त रहें; सदा नियताहारी और अप्रमत्त होकर दिनके छठवें भागमें भोजन करें। इस आश्रममें वनके बीच पञ्चयज्ञ करनेके समय अग्निहोत्र, गौवें; यज्ञके अंग अकालकृष्ट व्रीहि, यव, नीवार, विघस और हवि आदि सम्प्रदान करे। वान-

वानप्रस्थाश्रमेऽप्येताश्चतस्रो वृत्तयः स्मृताः ।
सद्यःप्रक्षालकाः केचित्केचिन्मासिकसंचयाः ॥ ८ ॥
वार्षिकं संचयं केचित्केचिद् द्वादशवार्षिकम् ।
कुर्वन्त्यतिथिपूजार्थं यज्ञतन्त्रार्थमेव वा ॥ ९ ॥
अभ्रावकाशा वर्षासु हेमन्ते जलसंश्रयाः ।
ग्रीष्मे च पञ्चतपसः शश्वच्च मितभोजनाः ॥ १० ॥
भूमौ विपरिवर्तन्ते तिष्ठन्ति प्रपदैरपि ।
स्थानासनैर्वर्तयन्ति सवनेष्वभिषिञ्चते ॥ ११ ॥
दन्तोलूखलिकाः केचिदश्मकुट्टास्तथा परे ।
शुक्लपक्षे पिबन्त्येके यवागूं क्वथितां सकृत् ॥ १२ ॥
कृष्णपक्षे पिबन्त्यन्ये भुञ्जते वा यथागतम् ।
मूलैरेके फलैरेके पुष्पैरेके दृढव्रताः ॥ १३ ॥

प्रस्थ आश्रममें भी ये चार प्रकारकी वृत्ति विहित हुई हैं। (४-८)

इस परमपवित्र आश्रममें अतिथि-सत्कारके लिये अथवा यज्ञ क्रिया निर्व्वाहके वास्ते कोई कोई नित्य ही प्रक्षालन करते हैं, अर्थात् जिस दिन जो कुछ प्राप्त करते हैं, उस ही दिन उसे व्यय किया करते हैं, कोई कोई मासिक सञ्चय, कोई वार्षिक सञ्चय और कोई द्वादशवार्षिक द्रव्य आदि सञ्चय कर रखते हैं। इन लोगोंके बीच कोई कोई प्रावृट्कालमें अभ्राकाश देशमें निवास करते हैं, हेमन्तकालमें जलमें स्थित हुआ करते हैं, ग्रीष्मकाल में पञ्चतपा होते और सदा परिमित भोजन करते हैं। (८-१०)

कोई कोई भूमिपर विपरीत भावसे अर्थात् नतशिरा और ऊर्ध्वपाद होकर निवास करते हैं, कोई पांवके अग्रभाग-से भूमि स्पर्श करके स्थिति किया करते हैं; दूसरे लोग किसी स्थानको अवलम्बन करके स्वल्प आहारसे जीवि-का निर्वाह करते हैं, अन्य लोग अध्वर कालमें अभिषिक्त होते हैं, इस आश्रम-में कोई कोई दन्तोलूखलिक अर्थात् दांतसे उखलका कार्य निबाहते हैं, दूसरे लोग अश्मकुट्ट अर्थात् पत्थरके जरिये धान्य आदि शस्योंको भूसी-रहित किया करते हैं। कोई कोई शुक्ल-पक्षमें एकही बार काथयुक्त यवागू पीते हैं, कोई कृष्ण पक्षमें उक्त काथ पान करते हैं अथवा शास्त्रके अनुसार भोजन किया करते हैं, कोई कोई दृढ-व्रती मनुष्य मूलके जरिये कोई फलके

वर्तयन्ति यथान्यायं वैखानसगतिं श्रिताः।
एताश्चान्याश्च विविधा दीक्षास्तेषां मनीषिणाम् ॥१४॥
चतुर्थश्चौपनिषदो धर्मः साधारणः स्मृतः।
वानप्रस्थाद्गृहस्थाच्च ततोऽन्यः संप्रवर्तते ॥ १५ ॥
अस्मिन्नेव युगे तात विप्रैः सर्वार्थदर्शिभिः।
अगस्त्यः सप्त ऋषयो मधुच्छन्दोऽघमर्षणः ॥ १६ ॥
साङ्कृतिः सुदिवातण्डिर्यथावासोऽकृतश्रमः।
अहोवीर्यस्तथा काव्यस्ताण्ड्यो मेधातिथिर्बुधः ॥१७॥
बलवान्कर्णनिर्वाकः शून्यपालः कृतश्रमः।
एनं धर्मं कृतवन्तस्ततः स्वर्गमुपागमन् ॥ १८ ॥
तात प्रत्यक्षधर्माणस्तथा यायावरा गणाः।
ऋषीणामुग्रतपसां धर्मनैपुणदर्शिनाम् ॥ १९ ॥
अन्ये चापरिमेयाश्च ब्राह्मणा वनमाश्रिताः।
वैखानसा वालखिल्याः सैकताश्च तथा परे ॥ २० ॥
कर्मभिस्ते निरानन्दा धर्मनित्या जितेन्द्रियाः।

सहारे और फूलके जरिये जीवन धारण करते हुए यथान्यायसे वैखानस वृत्ति अवलम्बन करके जीविका निर्वाह किया करते हैं। वे सब मनीषि पुरुषोंके ये सब और इनके अतिरिक्त दूसरी विविध दीक्षा हैं और उपनिषदोंके बीच जो विदित होता है अर्थात् स्थिर होके आत्मासे ही आत्मा का दर्शन करे, यह सर्वाश्रमसाधारण धर्म है। (११-१५)

हे तात! इस युगमें सर्वार्थदर्शी ब्राह्मणोंके जरिये वानप्रस्थ और गृहस्थ आश्रमसे असाधारण धर्म प्रवर्तित हो रहा है। अगस्त्य, सप्तऋषि, मधुच्छन्द, अघमर्षण, सांकृति, सुदिवातण्डि, यथावास, अकृतश्रम, अहोवीर्य, काव्य, ताण्ड्य, मेधातिथि, बुध, बलवान् कर्णनिर्वाक, शून्यपाल और कृतश्रम तथा जिन्होंने धर्मके फल सत्यसङ्कल्प आदिको प्रत्यक्ष किया है, वे प्रत्यक्ष-धर्मवाले ऋषिलोग और यायावर समूहोंने इसही धर्मका आचरण किया था, उसहीसे वे लोग स्वर्गमें गये हैं; धर्म नैपुण्यदर्शी बहुतेरे महर्षि लोग तथा उनके अतिरिक्त अनेक ब्राह्मणोंने अरण्यको अवलम्बन किया था। वैखानस, वालखिल्य सैकत और कृच्छ्र चान्द्रायण आदि परत्व निबन्धन कर्मके जरिये निरानन्द, धर्ममें रत, जितेन्द्रिय

गताः प्रत्यक्षधर्माणस्ते सर्वे वनमाश्रिताः ॥ २१ ॥
अनक्षत्रास्त्वनाधृष्या दृश्यन्ते ज्योतिषां गणाः ।
जरया च परिद्यूनो व्याधिना च प्रपीडितः ॥ २२ ॥
चतुर्थे चायुषः शेषे वानप्रस्थाश्रमं त्यजेत् ।
सद्यस्कारां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ॥ २३ ॥
आत्मयाजी सोऽऽत्मरतिरात्मक्रीडात्मसंश्रयः ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य त्यक्त्वा सर्वपरिग्रहान् ॥२४॥
साद्यस्कांश्च यजेद्यज्ञानिष्टीश्चैवेह सर्वदा ।
यदैव याजिनां यज्ञादात्मनीज्या प्रवर्तते ॥ २५ ॥
त्रींश्चैवाग्नीन्यजेत्सम्यगात्मन्येवात्ममोक्षणात् ।
प्राणेभ्यो यजुषः पञ्च षट् प्राश्नीयादकुत्सयन् ॥ २६ ॥
केशलोमनखान्वाप्य वानप्रस्थो मुनिस्ततः ।
आश्रमादाश्रमं पुण्यं पूतो गच्छति कर्मभिः ॥ २७ ॥

ब्राह्मण लोग तथा प्रत्यक्षधर्मा महर्षि लोग वानप्रस्थको अवलम्बन करके स्वर्गमें गये हैं; नक्षत्र, ग्रह तारासे भिन्न जो सब निर्भय ज्योति समूह आकाशमें दीख पडते हैं, वेही पुण्यवान् मनुष्योंके अवलम्ब हैं। (१५—२२)

मनुष्य जराके जरिये परिवृत और व्याधिसे प्रपीडित होकर अन्तमें परमायुके चौथे भागमें वानप्रस्थाश्रम परित्याग करें। वह सदा सम्पादन करने योग्य सर्वस्व दक्षिणासत्र समाप्त करके आत्मयाजी, आत्मरति, आत्मक्रीड और आत्मसंश्रय होकर सब परिग्रह परित्याग कर आत्मामें तीनों अग्नि आरोपित करके सदा सम्पादनीय ब्रह्मयज्ञ आदि और दर्श पौर्णमास यज्ञका निर्वाह करनेमें रत रहें, जिस समय याज्ञिकोंकी यज्ञप्रवृत्ति निवृत्त होके आत्मामें याग साधन करनेकी इच्छा होती है, उस समय देहत्याग पर्यन्त शरीरमें तीनों अग्नियोंको आरोपित करनी होगी। (२२-२६)

हृदय गार्हपत्य अग्नि, मन अन्वाहार्य-पचन अग्नि और मुख आवहनीय अग्नि है यह वैश्वानर विद्याप्रोक्त प्रकरणके जरिये जानकर देहमें उक्त तीनों अग्निका याग करना होगा। आत्मयागी मनीषि भोजनके समय अन्नकी निन्दा न करके " प्राणाय स्वाहा " इत्यादि यजुर्वेदीय मन्त्रोंको उच्चारण करके पहले पञ्च प्राणोंको पांच ग्रास वा छः ग्रास अन्न प्रदान करे। अनन्तर वानप्रस्थ

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यः प्रव्रजेद् द्विजः।
लोकास्तेजोमयास्तस्य प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ॥ २८ ॥
सुशीलवृत्तो व्यपनीतकल्मषो न चेह नामुत्र च कर्तुमीहते।
अरोषमोहो गतसन्धिविग्रहो भवेदुदासीनवदात्मविन्नरः ॥ २९ ॥
यमेषु चैवानुगतेषु न व्यथेत्स्वशास्त्रसूत्राहुतिमन्त्रविक्रमः।
भवेद्यथेष्टागतिरात्मवेदिनि न संशयो धर्मपरे जितेन्द्रिये ॥ ३० ॥
ततः परं श्रेष्ठमतीव सद्गुणैरधिष्ठितं त्रीनधिवृत्तिमुत्तमम्।
चतुर्थमुक्तं परमाश्रमं शृणु प्रकीर्त्यमानं परमं परायणम् ॥३१॥ [८७९९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४४ ॥

श्रीशुक उवाच– वर्तमानस्तथैवात्र वानप्रस्थाश्रमे यथा।
योक्तव्योऽऽत्मा कथं शक्त्या वेद्यं वै काङ्क्षता परम् ॥१॥

मुनि केश लोम और नखोंसे परिपूरित और कर्मनिर्वाहसे पवित्र होकर उस आश्रमसे पवित्र चौथे आश्रममें गमन करे। जो ब्राह्मण सब भूतोंको अभय-दान करके संन्यास–धर्म अवलम्बन करता है, वह परलोकमें ज्योतिर्मय लोकोंको प्राप्त करके अनन्त सुख भोग किया करता है। (२६–२८)

सुशील सद्वृत्तिवाले, पापरहित आत्मवित् पुरुष ऐहिक और पारलौकिक किसी कर्मके करनेकी अभिलाषा नहीं करते वे क्रोध मोहहीन और सन्धिविग्रह से रहित होकर उदासीनकी भांति निवास करते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, ये पांच यम और शौच, सन्तोष, तपस्या, वेदाध्ययन और ईश्वरप्रणिधानाख्य नियमोंमें निबद्ध न रहें। स्वशास्त्रीय सूत्र और आहुति-मन्त्रमें विक्रम प्रकाश न करें, आत्म-वित् पुरुषोंकी यथेष्ट गति अर्थात् सद्यो-मुक्ति वा क्रममुक्ति इच्छानुसार हुआ करती है; धर्मपरायण जितेन्द्रिय लोगोंको कोई संशय नहीं रहता। वानप्रस्थ आश्रमके अनन्तर श्रेष्ठ गुणोंके जरिये ब्रह्मचर्य आदि तीनों आश्रमोंसे समधिक रूपसे विख्यात धर्मयुक्त चौथे आश्रम का विषय कहता हूं, सुनो। (२९-३१)

शान्तिपर्वमें २४४ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २४५ अध्याय।

शुकदेव बोले, वानप्रस्थाश्रममें यथा-रीतिसे वर्त्तमान पुरुष, परम वेद्यवस्तु ब्रह्मको जाननेकी इच्छा करनेसे किस प्रकार शक्तिके सहित आत्मयोगका अभ्यास करेंगे। (१)

व्यास उवाच— प्राप्य संस्कारमेताभ्यामाश्रमाभ्यां ततः परम्।
यत्कार्यं परमार्थं तु तदिहैकमनाः शृणु ॥ २ ॥
कषायं पाचयित्वाऽऽशु श्रेणिस्थानेषु च त्रिषु।
प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम् ॥ ३ ॥
तद्भवानेवमभ्यस्य वर्ततां श्रूयतां तथा।
एक एव चरेद्धर्मं सिद्ध्यर्थमसहायवान् ॥ ४ ॥
एकश्चरति यः पश्यन्न जहाति न हीयते।
अनग्निरनिकेतश्च ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ॥ ५ ॥
अश्वस्तनविधाता स्यान्मुनिर्भावसमाहितः।
लघ्वाशी नियताहारः सकृदन्ननिषेविता ॥ ६ ॥
कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता।
उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद्भिक्षुलक्षणम् ॥ ७ ॥
यस्मिन्वाचः प्रविशन्ति कूपे त्रस्ता द्विपा इव।
न वक्तारं पुनर्यान्ति स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ ८ ॥

व्यासदेव बोले, ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य आश्रमके जरिये चित्तशुद्धि लाभ करनेके अनन्तर परमार्थ विषयमें जो कुछ कर्त्तव्य है, उसे तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ, इन तीनों आश्रमोंमें चित्तके दोषोंको नष्ट करके सबसे उत्तम संन्यास धर्मरूपी परमपदमें प्रव्रज्या करे; इस लिये तुम इस ही प्रकार योगानुष्ठान करो और इसे सुनो, योगी पुरुष सहायरहित होकर अकेले ही धर्माचरण करें; जो आत्मदर्शी मनुष्य अकेलाही धर्माचरण करता है, वह सर्वव्यापित्व निबन्धनसे किसी पदार्थको परित्याग नहीं करता और मोक्षसुखसे परित्यक्त नहीं होता। (२–५)

वह निरग्नि और निराश्रय होकर अन्नके निमित्त गांवमें जाता है, चित्तको समाधान करनेवाले पुरुष अ-श्वस्तन-विधाता होवें, अर्थात् दूसरे दिनके लिये अन्न सञ्चय न करें; लघुभोजी और नियताहारी होकर दिनमें एक बार अन्न भोजन करें; कपाल और कषाय वस्त्र धारण, तरुमूलका आश्रय, असहायता और सब भूतोंके विषयमें उपेक्षा अर्थात् प्रीति-द्वेषहीनता ये सब भिक्षुके लक्षण हैं, डरे हुए हाथी कूएंमें प्रवेश करनेसे जिस प्रकार होते हैं, वैसे ही दूसरोंके वचन जिनमें प्रविष्ट हुआ करते हैं, अर्थात् जो लोग दूसरेके जरिये

नैव पश्येन्न शृणुयादवाच्यं जातु कस्यचित् ।
ब्राह्मणानां विशेषेण नैव ब्रूयात्कथंचन ॥ ९ ॥
यद्ब्राह्मणस्य कुशलं तदेव सततं वदेत् ।
तूष्णीमासीत निन्दायां कुर्वन् भैषज्यमात्मनः ॥१०॥
येन पूर्णमिवाकाशं भवत्येकेन सर्वदा ।
शून्यं येन जनाकीर्णं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ११ ॥
येनकेनचिदाच्छन्नो येनकेनचिदाशितः ।
यत्र क्वचन शायी च तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ १२ ॥
अहेरिव गणाद्भीतः सौहित्यान्नरकादिव ।
कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ १३ ॥
न क्रुद्ध्येन्न प्रहृष्येच्च मानितोऽमानितश्च यः ।
सर्वभूतेष्वभयदस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ १४ ॥
नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।

आक्रुश्यमान होके भी क्रोध नहीं करते और जो वक्ताके निकट फिर गमन करनेमें विरत रहते हैं, वेही कैवल्य आश्रममें वास करनेमें समर्थ होते हैं। (५—८)

चौथे आश्रमी भिक्षु बाह्यवस्तुओंकी ओर न देखें, कभी किसीकी निन्दा विशेष करके ब्राह्मणकी निन्दा सुननी वा किसी भांतिसे कहनी योग्य नहीं है। जिससे ब्राह्मणोंका कुशल हो सदा वैसा ही वचन कहें; आत्मनिन्दाके समय चुप रहें; और मौनावलम्बन ही भवरोग की चिकित्सा है। जिनके अकेले निवास करनेसे सूना स्थान भी लोगोंसे परिपूरित बोध होता है, लोगोंसे पूरित स्थान जिनके अभावमें सूना हुआ करता है, देवता लोग उन्हें ही ब्रह्मिष्ठ समझते हैं। जो किसीके भी जरिये शरीरको आच्छादित करते, किसीको भी भक्षण करते और किसी स्थानमें भी शयन करते हैं उन्हें ही देवता ब्रह्मिष्ठ समझते हैं। जो सांपसे डरनेकी भांति लोगोंसे भयभीत होते हैं, नरक भयके समान मिष्टान्नजनित तृप्तिसे विरत रहते हैं और मृतक शरीरके समान स्त्रियोंसे भय करते हैं, उन्हें देवता भी ब्रह्मिष्ठ समझते हैं। (९—१३)

जो सम्मानित होनेसे हर्षित नहीं होते, असम्मानित होनेसे क्रोध नहीं करते और जो लोग सब प्राणियोंको अभय दान करते हैं, देवता लोग उन्हें ब्रह्मिष्ठ जानते हैं; मरनेका अभिनन्दन

कालमेव प्रतीक्षेत निदेशं भृतको यथा ॥ १५ ॥
अनभ्याहतचित्तः स्यादनभ्याहतवाग्भवेत्।
निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यो निरमित्रस्य किं भयम् ॥ १६ ॥
अभयं सर्वभूतेभ्यो भूतानामभयं यतः।
तस्य मोहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ १७ ॥
यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
सर्वाण्येवाऽपिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे ॥ १८ ॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपिधीयते।
अमृतः स नित्यं वसति यो हिंसां न प्रपद्यते ॥१९॥
अहिंसकः समः सत्यो धृतिमान्नियतेन्द्रियः।
शरण्यः सर्वभूतानां गतिमाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥ २० ॥
एवं प्रज्ञानतृप्तस्य निर्भयस्य निराशिषः।
न मृत्युरतिगो भावः स मृत्युमधिगच्छति ॥ २१ ॥
विमुक्तं सर्वसङ्गेभ्यो मुनिमाकाशवत्स्थितम्।

न करे, जीवनका भी अभिनन्दन करना योग्य नहीं है; जैसे सेवक स्वामीकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करता है; वैसे ही समयकी प्रतीक्षा करे। जो लोग वचन और मनको दोषरहित करके स्वयं सब पापोंसे मुक्त हुए हैं, उन निरमित्र मनुष्योंको भयका कौनसा विषय है। सब प्राणियोंसे जो लोग अभय हुए हैं और जिनसे सब भूतोंको भय नहीं होता, उन मोहसे छूटे हुए पुरुषोंको किसी प्रकार भयकी सम्भावना नहीं हो सकती। जैसे हाथीके पद-प्रक्षेपके बीच मनुष्य और पशु आदिके पांवके चिन्ह लुप्त होजाते हैं, वैसेही शरीरको शीर्ण करके समाधिस्थ होकर जो लोग योगी हुए हैं, उनके निकट इन्द्रादि पद विहित हुआ करता है। योगमें समस्त कर्मफलोंकाही अन्तर्भाव होता है। (१४—१८)

इस ही प्रकार अहिंसामें सब धर्म, अर्थ अन्तर्भूत हुआ करते हैं, जो हिंसा नहीं करते, वे सदा अमृत उपभोग किया करते हैं। जो लोग अहिंसक, समदर्शी, सत्य बोलनेवाले, धृतिमान्, संयतेन्द्रिय और सब भूतोंके शरण्य हैं, वे सब उत्तम गति पाते हैं। अवश्य-म्भावी मृत्यु इसही प्रकार आत्मानुभव स्वरूप प्रज्ञानसे तृप्त, निर्भय, आशा-रहित पुरुषोंको अतिक्रम नहीं कर सकती, बल्कि वेही मृत्युको अतिक्रम किया

अस्वमेकचरं शान्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २२ ॥
जीवितं यस्य धर्मार्थं धर्मो हर्यर्थमेव च ।
अहोरात्राश्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २३ ॥
निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
निर्मुक्तं बन्धनैः सर्वैस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २४ ॥
सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते सर्वाणि दुःखस्य भृशं त्रसन्ते ।
तेषां भयोत्पादनजातखेदः कुर्यान्न कर्माणि हि श्रद्दधानः ॥ २५ ॥
दानं हि भूताभयदक्षिणायाः सर्वाणि दानान्यधितिष्ठतीह ।
तीक्ष्णां तनुं यः प्रथमं जहाति सोऽनन्त्यमाप्नोत्यभयं प्रजाभ्यः॥२६॥
उत्तान आस्ये न हविर्जुहोति लोकस्य नाभिर्जगतः प्रतिष्ठा ।

करते हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरमें "मैं" इस अभिमान स्वरूप सर्वसङ्गसे जो लोग मुक्त हुए हैं, निर्विषयत्व निबन्धनसे शून्यकी भांति मौन भावसे जो लोग निवास किया करते हैं, और जो अदृश्य और एकचर होकर शान्तभावसे स्थिति करते हैं, देवता लोग उन्हें ब्रह्मिष्ठ समझते हैं। (१९-२२)

जिसका जीवन केवल धर्मके निमित्त है, धर्माचरण भक्त जनोंकी शिक्षाके लिये है, समाधि और व्युत्थान सब लोगोंके शिक्षाके निमित्त है, देवता लोग उन्हें ब्रह्मिष्ठ समझते हैं। जिन्हें न आशा है, न आरम्भ है, जो किसीको नमस्कार वा स्तुति नहीं करते और जो सब वासनासे मुक्त हुए हैं, देवता लोग उन्हें ब्रह्मिष्ठ समझते हैं। प्राणिमात्रही सुखमें रत हुआ करते हैं, और सबही दुःखसे अत्यन्तही डरते हैं, इस लिये श्रद्धावान् मनुष्य उनके भय उत्पन्न होनेके लिये खिन्न होकर कर्म करनेमें यत्नवान् न होवें; क्यों कि कर्ममात्र ही हिंसायुक्त है, इससे उन्हें साधुओंको त्याग करना योग्य है। सब जीवोंमें अभयदान ही सब दानोंसे उत्तम है, यह दान सब प्रकारके दानोंसे समधिक भावसे वर्त्तमान रहता है; जो पहले हिंसामय धर्म परित्याग करते हैं, वे प्रजासमूहसे अभय प्राप्ति स्वरूप अनन्त सुखयुक्त मोक्षपद लाभ किया करते हैं। (२३—२६)

जो आत्मयाजी, योगी, वानप्रस्थकी भांति उत्तान मुखसे "प्राणाय स्वाहा" इत्यादि अनेक मन्त्रोंके जरिये पंच आहुति नहीं देते, वरन प्राणादि पञ्चक और इन्द्रिय वा मनको आत्मामें लीन किया करते हैं, वे चराचर जीवोंके नाभिस्वरूप और त्रैलोक्यात्मा वैश्वानरके

तस्याङ्गमङ्गानि कृताकृतं च वैश्वानरः सर्वमिदं प्रपेदे ॥ २७ ॥
प्रादेशमात्रे हृदि निःसृतं यत्तस्मिन्प्राणानात्मयाजी जुहोति ।
तस्याग्निहोत्रं हुतमात्मसंस्थं सर्वेषु लोकेषु सदेवकेषु ॥ २८ ॥
देवं त्रिधातुं त्रिवृतं सुपर्णं ये विद्युरग्र्यां परमात्मतां च ।
ते सर्वलोकेषु महीयमाना देवाः समर्त्याः सुकृतं वदन्ति ॥ २९ ॥
वेदांश्च वेद्यं तु विधिं च कृत्स्नमथो निरुक्तं परमार्थतां च ।
सर्वं शरीरात्मनि यः प्रवेद तस्यैव देवाः स्पृहयन्ति नित्यम् ॥३०॥
भूमावसक्तं दिवि चाप्रमेयं हिरण्मयं योऽण्डजमण्डमध्ये ।
पतत्त्रिणं पक्षिणमन्तरिक्षे यो वेद भोग्यात्मनि रश्मिदीप्तः॥३१॥

आस्पद होते हैं, उनके मस्तक आदि सब अङ्ग वैश्वानरके अवयव होते, उनके कृत अकृत सब कर्म वैश्वानरके कार्यरूपसे प्रतिपन्न हुआ करते हैं। नाभिसे हृदय पर्यन्त प्रादेश-परिमित स्थानमें जो प्रकट होता है, आत्मयाजी योगी उस चिन्मात्र पुरुषमें प्राण उपलक्षित निखिल प्रपञ्चको लीन करता है, वे लोकके सहित सब लोकोंमें ही उसका आत्मसंस्थ अग्निहोत्र सम्पन्न होता है। जो लोग द्योतमान, सूक्ष्म तेजमय सूत्रात्माको जानते हैं, और तीनों गुणोंसे परिपूरित माया उपाधिक ईश्वरको तथा सूक्ष्म प्रत्यय स्वरूप उपाधिरहित आत्माको जान सकते हैं, वे सब लोकोंमें पूजित होते हैं, और मनुष्य तथा देवता लोग उनके सुकृतकी प्रशंसा किया करते हैं। (२७-२९)

निखिल वेद वियदादि जानने योग्य वस्तुएं, कर्मकाण्डकी सब विधि, शब्द-अगम्य परलोक आदि निरुक्त और आत्माकी सत्यस्वभावतारूपी परमार्थता, ये सब शरीरात्मा प्रत्येय स्वरूपसे वर्त्तमान हैं। इसे जो जानता है, उस सर्वेश्वरकी सदा सेवा करनेके लिये देवता लोग भी अभिलाष किया करते हैं। जो भूमण्डलमें असक्त रूपसे वर्त्तमान है, प्रत्यगात्मता निबन्धनसे द्युलोकमें भी जो अप्रमेय होकर विद्यमान हैं, जो ब्रह्माण्डके बीच प्रकट हो रहा है, जो किरणकी भांति प्रकाशमान नेत्र, कान आदिके जरिये प्रकाशित होकर जीव भावको प्राप्त हुआ है, जो अनेक पक्षि स्थानीय देवता रूपसे संयुक्त होरहा है, उस आसक्तिरहित चिन्मय आत्माको भोग्य शरीर और हृदयाकाश पुण्डरीकके बीच जो स्थित जानता है, देवता लोग भी उसकी सदा सेवा करनेके निमित्त अभिलाष किया करते हैं। (३०-३१)

आवर्तमानमजरं विवर्तनं षण्णाभिकं द्वादशारं सुपर्व ।
यस्येदमास्योपरि याति विश्वं तत्कालचक्रं निहितं गुहायाम् ॥३२॥
यः संप्रसादो जगतः शरीरं सर्वान्स लोकानधिगच्छतीह ।
तस्मिन्हि तं तर्पयतीह देवांस्ते वै तृप्तास्तर्पयन्त्यास्यमस्य ॥ ३३ ॥
तेजोमयो नित्यमयः पुराणो लोकाननन्तानभयानुपैति ।
भूतानि यस्मान्न त्रसन्ते कदाचित्स भूतानां न त्रसते कदाचित् ॥३४॥
अगर्हणीयो न च गर्हतेऽन्यान्स वै विप्रः परमात्मानमीक्षेत् ।
विनीतमोहो व्यपनीतकल्मषो न चेह नामुत्र च सोऽन्नमच्छति ॥३५॥
अरोषमोहः समलोष्टकाञ्चनः प्रहीणकोशो गतसन्धिविग्रहः ।
अपेतनिन्दास्तुतिरप्रियाप्रियश्चरन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः ॥ ३६ ॥[८८३५]

इति श्रीमहा०शान्तिपर्वणि मोक्षधर्म०शुकानुप्रश्ने पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः२४५

जो कालचक्र सदा परिवर्त्तनशील होके भी प्राणियोंकी आयु अजरभावसे व्यतीत कर रहा है, छहों ऋतु जिसकी नाभि और बारहों महीने जिसके अर-स्वरूप हैं, दर्शसंक्रमण आदि जिसमें सुन्दर पर्वस्वरूप हुए हैं, यह दृश्यमान जगत् जिसके मुखमें लीन होरहा है, वही कालचक्र जिसकी बुद्धिमें वर्त्तमान है, देवता भी उसकी सेवा करनेके लिये सदा इच्छा किया करते हैं। जो पूरी रीतिसे प्रसन्नताके आधार होनेसे जगत्के शरीरस्वरूप और स्थूल सूक्ष्म सब लोकोंमें ही सर्व कारण रूपसे स्थित होरहा है, वही सम्प्रदायाभिज्ञ स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीरवाले जीवों और प्राण आदिकी तृप्तिसाधन करता है, प्राण आदि तृप्त होकर उसके मुखको तृप्त किया करते हैं। (३२-३३)

उस तेजमय नित्य स्वरूप पुराण पुरुषका जो आसरा करते हैं, वे लोग अनन्त अभयलोकमें जाते हैं। जिससे सब प्राणी कभी भय नहीं करते, उसे सब प्राणियोंसे कभी भय नहीं होता। इस लोक और परलोकमें अनिन्दित होकर जो दूसरेकी निन्दा नहीं करते, वेही ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण परमात्माका दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं, अन्तमें उनका अज्ञान नष्ट होनेसे जब स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीर नष्ट होती हैं, तब वे भोग्य लोकमें गमन किया करते हैं। जिसे न क्रोध है, न मोह है और सुवर्ण तथा लोष्टमें सम-ज्ञान हुआ है, जो कोपरहित और सन्धि विग्रहसे हीन हुए हैं, जिन्होंने निन्दा, स्तुति परित्याग की है, जिन्हें प्रिय वा अप्रिय कुछ भी नहीं है, वे चौथे आश्रमी भिक्षुक उदासीनकी भांति

व्यास उवाच— प्रकृत्यास्तु विकारा ये क्षेत्रज्ञस्तैरधिष्ठितः ।
न चैनं ते प्रजानन्ति स तु जानाति तानपि ॥ १ ॥
तैश्चैवं कुरुते कार्यं मनःषष्ठैरिहेन्द्रियैः ।
सुदान्तैरिव संयन्ता दृढैः परमवाजिभिः ॥ २ ॥
इन्द्रियेभ्यः परे ह्यर्था अर्थेभ्यः परमं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ ३ ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्परतोऽमृतम् ।
अमृतान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ४ ॥
एवं सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥५॥
अन्तरात्मनि संलीय मनःषष्ठानि मेधया ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च बहु चिन्त्यमचिन्तयन् ॥ ६ ॥

विचरते रहते हैं । (३४-३६)

शान्तिपर्वमें २४५ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें २४६ अध्याय ।

व्यासदेव बोले, देह, इन्द्रिय और मन आदिके बीच प्रकृतिके विकारसे क्षेत्रज्ञ स्थित होरहा है अर्थात् अधिष्ठातृत्व, कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व भावको प्राप्त हुआ है, परन्तु नेत्र आदि इन्द्रिय जडत्व निबन्धनसे आत्माको प्रकाशित नहीं कर सकतीं; आत्मा चेतन है, इसही से उक्त इन्द्रियोंको प्रकाशित करता है । जैसे सारथी दृढ, बलवान्, अत्यन्त दान्त उत्तम घोडोंके जरिये जाने योग्य स्थानमें गमन करता है, वैसे ही आत्मा मनके सहित पांचों इन्द्रियोंके जरिये विषय-प्रदेशमें गमन किया करता है । इन्द्रियोंसे रूप आदि विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन उत्तम है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे आत्मा महान् है, अर्थात् बुद्धि " त्वं " पदार्थ उत्कृष्ट है, महत्तत्वसे उपादान अव्यक्त नामक कारण श्रेष्ठ है, अव्यक्तसे अमृत स्वरूप चिदात्मा परम श्रेष्ठ है, अमृतसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है, वह उत्कर्षकी सीमा और परम गति है । (१-४)

इस ही प्रकार आत्मा सब भूतोंके बीच कंचुकाक्रान्तकी भांति गूढ भावसे स्थिति करनेपर भी प्रकाशित नहीं होता । सूक्ष्मदर्शी योगी लोग केवल सूक्ष्म बुद्धिके सहारे उसका दर्शन किया करते हैं । वे लोग धारणायुक्त बुद्धिके जरिये मनके सहित इन्द्रियों और इन्द्रियोंके गूढ विषयोंको अन्तरात्मामें पूर्ण रीतिसे लय करके ध्येय, ध्यान और ध्यातृरूप

ध्यानेनोपरमं कृत्वा विद्यासंपादितं मनः।
अनीश्वरः प्रशान्तात्मा ततोऽर्च्छत्यमृतं पदम् ॥ ७ ॥
इन्द्रियाणां तु सर्वेषां वश्यात्मा चलितस्मृतिः।
आत्मनः संप्रदानेन मर्त्यो मृत्युमुपाश्नुते ॥ ८ ॥
आहत्य सर्वसंकल्पान् सत्त्वे चित्तं निवेशयेत्।
सत्त्वे चित्तं समावेश्य ततः कालंजरो भवेत् ॥ ९ ॥
चित्तप्रसादेन यतिर्जहातीह शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमत्यन्तमश्नुते ॥१०॥
लक्षणं तु प्रसादस्य यथा स्वप्ने सुखं स्वपेत्।
निवाते वा यथा दीपो दीप्यमानो न कम्पते ॥ ११ ॥
एवं पूर्वापरे काले युञ्जन्नात्मानमात्मनि।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥१२॥
रहस्यं सर्ववेदानामनैतिह्यमनागमम्।
आत्मप्रत्ययिकं शास्त्रमिदं पुत्रानुशासनम् ॥ १३ ॥

इन तीनोंको ही विचारते हैं। "मैं ब्रह्म हूं" इस वचनके निमित्त बुद्धि-वृत्तिरूपी विद्याके जरिये संस्कारयुक्त मनको ध्यानके सहारे स्थिर करके ईशभाव प्रविलापनके अनन्तर प्रशान्त-चित्तवाले योगी कैवल्य पद पाते हैं; और इन्द्रियोंने जिसके चित्तको हरण किया है, जिसकी स्मरणशक्ति विचलित हुई है, वैसा मनुष्य काम आदिका आत्मसमर्पण करके मृत्युके मुखमें पतित हुआ करता है। (७-८)

सङ्कल्पको नष्ट करके सूक्ष्म बुद्धिके बीच चित्त निवेश करे, सूक्ष्म बुद्धिके बीच चित्त निवेश करके शेषमें क्षण मुहूर्तादि कालका नाश करे; क्यों कि आत्म-वित् पुरुष ही कालका विनाश साधन किया करते हैं। जो पुरुष इस लोकमें चित्तप्रसादके जरिये शुभाशुभ परित्याग करता है, वह प्रसन्नचित्त यति आत्म-निष्ठ होकर अत्यन्त ही सुख सम्भोग किया करता है। सुषुप्तिकालकी सुख-निद्रा अथवा निवात स्थलमें दीप्यमान निष्कम्प प्रदीपकी भांति प्रसादका लक्षण है। इस ही प्रकार पूर्व और अपर कालमें परमात्मामें जीवात्माका योग करते हुए लघुभोजी शुद्ध चित्तवाले योगी आत्मामें ही आत्माको अवलोकन करते हैं। (९-१२)

हे पुत्र ! ये आत्मप्रत्यय सिद्ध अनुशासन शास्त्र सब वेदोंके रहस्य हैं;

धर्माख्यानेषु सर्वेषु सत्याख्याने च यद्वसु ।
दशेदमृक्सहस्राणि निर्मथ्यामृतमुद्धृतम् ॥ १४ ॥
नवनीतं यथा दध्नः काष्ठादग्निर्यथैव च ।
तथैव विदुषां ज्ञानं पुत्र हेतोः समुद्धृतम् ॥ १५ ॥
स्नातकानामिदं शास्त्रं वाच्यं पुत्रानुशासनम् ।
तदिदं नाप्रशान्ताय नादान्तायातपस्विने ॥ १६ ॥
नावेदविदुषे वाच्यं तथा नानुगताय च ।
नासूयकायानृजवे न चानिर्दिष्टकारिणे ॥ १७ ॥
न तर्कशास्त्रदग्धाय तथैव पिशुनाय च ।
श्लाघिने श्लाघनीयाय प्रशान्ताय तपस्विने ॥ १८ ॥
इदं प्रियाय पुत्राय शिष्यायानुगताय च ।
रहस्यधर्मं वक्तव्यं नान्यस्मै तु कथञ्चन ॥ १९ ॥
यद्यप्यस्य महीं दद्याद्रत्नपूर्णामिमां नरः ।
इदमेव ततः श्रेय इति मन्येत तत्त्ववित् ॥ २० ॥
अतो गुह्यतरार्थं तदध्यात्ममतिमानुषम् ।

ये केवल अनुमानसे या आगममात्रसे मालूम नहीं होसकते । सब धर्मों और सत्याख्यानमें जो सारभाग है, उसे और सब वेदोंसे उत्तम एक हजार दश ऋक्मन्त्रोंको मथके यह अमृत उद्धृत हुआ है, दहीसे नवनीत घृत और काठसे अग्नि प्रकट होनेकी भांति पुत्रके निमित्त ज्ञानियोंको ज्ञान स्वरूप यह शास्त्र समुद्भूत हुआ है। हे पुत्र! यह अनुशासन शास्त्र स्नातक ब्राह्मणोंके निकट पाठ करना चाहिये; अप्रशान्त, अदान्त और जो पुरुष तपस्वी नहीं हैं, उनके समीप इसे कहना योग्य नहीं है। (१३-१६)

अवेदज्ञ, अननुगत, असूयक, असरल, अनिर्दिष्टकारी, चुगुल, अपनी बडाई करनेवाले और जो पुरुष तर्कशास्त्रके जरिये जले हुए हैं, उनके समीप यह अनुशासन वर्णन करना योग्य नहीं है; बडाईके योग्य, प्रशान्त, तपस्वी, प्रिय-पुत्र और अनुगत शिष्यसे यह रहस्य धर्म अवश्य कहना चाहिये, दूसरे लोगोंके निकट किसी प्रकारसे कहना उचित नहीं है। कोई मनुष्य यदि रत्नपूरित पृथ्वीमण्डल दान करे; तत्ववित् पुरुष उससे भी इस धर्मको श्रेष्ठ जाने । इससे भी गुप्त जो अतिमानुष अध्यात्म विषय है,

यत्तन्महर्षिभिर्दृष्टं वेदान्तेषु च गीयते ॥ २१ ॥
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २२ ॥
यच्च ते मनसि वर्तते परं यत्र चास्ति तव संशयः क्वचित् ।
श्रूयतामयमहं तवाग्रतः पुत्र किं हि कथयामि ते पुनः ॥ २३ ॥[८८५८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४६ ॥

शुक उवाच— अध्यात्मं विस्तरेणेह पुनरेव वदस्व मे ।
यदध्यात्मं यथा वेद भगवन्नृषिसत्तम ॥ १ ॥

व्यास उवाच— अध्यात्मं यदिदं तात पुरुषस्येह पठ्यते ।
तत्तेऽहं वर्तयिष्यामि तस्य व्याख्यामिमां शृणु॥ २ ॥
भूमिरापस्तथा ज्योतिर्वायुराकाश एव च ।
महाभूतानि भूतानां सागरस्योर्मयो यथा ॥ ३ ॥
प्रसार्येह यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः ।
तद्वन्महान्ति भूतानि यवीयःसु विकुर्वते ॥ ४ ॥

महर्षियोंने जिसका दर्शन किया है, वेदान्तके बीच जो वर्णित हुआ करता है, और तुम मुझसे जिसका विषय पूछते हो, मैं उसे तुम्हारे समीप वर्णन करूंगा। हे पुत्र ! तुम्हारे अन्तःकरणमें जो परम पदार्थ वर्त्तमान होरहा है, और जिस किसी विषयमें तुम्हे संशय है, मैं वह सब विषय तुमसे कहता हूं सुनो; और तुमसे क्या कहना होगा? (१७-२३)

शान्तिपर्वमें २४६ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २४७ अध्याय।

शुकदेव बोले, हे भगवन् ! फिर अध्यात्म विषय विस्तारके सहित मेरे समीप वर्णन करिये। हे ऋषिसत्तम ! अध्यात्म विषय किसे कहते हैं, और वह कैसा है? (१)

व्यासदेव बोले, पुरुषके सम्बन्धमें यह अध्यात्म विषय जो पठित होता है, उसे तुम्हारे निकट वर्णन करता हूं, तुम उसकी इस व्याख्याको सुनो। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश, ये पञ्चमहाभूत समुद्रकी तरङ्गमालाकी भांति जरायुज आदि जीवोंके बीच प्रति जीवोंमें पृथक् पृथक् कल्पित हुए हैं। जैसे कछुआ निज अङ्गोंको फैलाकर फिर समेट लेता है, वैसे ही सब महाभूत क्षुद्र शरीराकारसे युक्त महाभूतोंमें स्थित रहके सृष्टि और प्रलय आदि विकारोंको उत्पन्न किया करते हैं; इसलिये शरीरके बीच ही सपनेकी

इति तन्मयमेवेदं सर्वं स्थावरजङ्गमम् ।
सर्गे च प्रलये चैव तस्मिन्निर्दिश्यते तथा　　॥ ५ ॥
महाभूतानि पञ्चैव सर्वभूतेषु भूतकृत् ।
अकरोत्तात वैषम्यं यस्मिन्यदनुपश्यति　　॥ ६ ॥

शुक उवाच— अकरोद्यच्छरीरेषु कथं तदुपलक्षयेत् ।
इन्द्रियाणि गुणाः केचित्कथं तानुपलक्षयेत्　　॥ ७ ॥

व्यास उवाच— एतत्ते वर्तयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।
शृणु तत्त्वमिहैकाग्रो यथा तत्त्वं यथा च तत्　　॥ ८ ॥
शब्दः श्रोत्रं तथा खानि त्रयमाकाशसंभवम् ।
प्राणश्चेष्टा तथा स्पर्श एते वायुगुणास्त्रयः　　॥ ९ ॥
रूपं चक्षुर्विपाकश्च त्रिधा ज्योतिर्विधीयते ।
रसोऽथ रसनं स्नेहो गुणास्त्वेते त्रयोऽम्भसः ॥ १० ॥
घ्रेयं घ्राणं शरीरं च भूमेरेते गुणास्त्रयः ।
एतावानिन्द्रियग्रामो व्याख्यातः पाञ्चभौतिकः ॥ ११ ॥

तरह ब्रह्माण्डका उदय और प्रलय होता है; इससे स्थावरजङ्गमात्मक यह समस्त जगत् अल्पभूतमय उन शरीरान्तर महाभूतोंमें सृष्टि और प्रलय निर्दिष्ट हुआ करती है। हे तात! देवता, मनुष्य, तिर्यग् आदि सब प्राणियोंमें ही पञ्च-महाभूत वर्त्तमान हैं, तौ भी प्राणियोंकी सृष्टि करनेवाले प्रजापति सृष्टि कालमें जिन कर्मोंके लिये जिसे उत्पन्न करते हैं, उनमें पञ्चभूतोंका वैषम्यविधान किया करते हैं। (२-६)

शुकदेव बोले, विधाताने शरीरके अवयव, बुद्धि और इन्द्रिय आदिमें जो पञ्चभूतोंकी विषमता की है, वह किस प्रकार जानी जाती है। इन्द्रिय वा शब्दादि गुण ही कितने प्रकारके हैं, और वे किस प्रकार जाने जाते हैं। (७)

व्यासदेव बोले, हे पुत्र! तुमने जिस विषयमें प्रश्न किया है, उसे विस्तारके सहित यथावत् वर्णन करता हूं, तुम एकाग्रचित्त होकर इस विषयका यथार्थ तत्व सुनो। शब्द, श्रवणेन्द्रिय और शरीरके सब छिद्र आकाशसे उत्पन्न हुए हैं, प्राण, चेष्टा और स्पर्शेन्द्रिय, ये तीनों वायुके विकार हैं, रूप, नेत्र और विपाक अर्थात् जठराग्नि रूपसे ज्योति त्रिविध भावसे विहित है; रस रसकी इन्द्रियां और स्नेह, ये तीनों जलके गुण हैं, घ्रेय वस्तु, घ्राणेन्द्रिय और शरीरके कठोर अंश ये तीनों भूमिके विकार हैं;

वायोः स्पर्शो रसोऽद्भ्यश्च ज्योतिषो रूपमुच्यते ।
आकाशप्रभवः शब्दो गन्धो भूमिगुणः स्मृतः ॥१२॥
मनो बुद्धिः स्वभावश्च त्रय एते स्वयोनिजाः ।
न गुणानतिवर्तन्ते गुणेभ्यः परमागताः ॥ १३ ॥
यथा कूर्म इहाङ्गानि प्रसार्य विनियच्छति ।
एवमेवेन्द्रियग्रामं बुद्धिः सृष्ट्वा नियच्छति ॥ १४ ॥
यदूर्ध्वं पादतलयोरवाङ् मूर्ध्नश्च पश्यति ।
एतस्मिन्नेव कृत्ये तु वर्तते बुद्धिरुत्तमा ॥ १५ ॥
गुणान्नेनीयते बुद्धिर्बुद्धिरेवेन्द्रियाण्यपि ।
मनःषष्ठानि सर्वाणि बुद्ध्यभावे कुतो गुणाः ॥ १६ ॥
इन्द्रियाणि नरे पञ्च षष्ठं तु मन उच्यते ।
सप्तमीं बुद्धिमेवाहुः क्षेत्रज्ञं पुनरष्टमम् ॥ १७ ॥
चक्षुरालोचनायैव संशयं कुरुते मनः ।
बुद्धिरध्यवसानाय साक्षी क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ १८ ॥

ये सब इन सब इन्द्रियोंसे पञ्चभौतिक शरीर व्याख्यात हुआ है। वायुका गुण स्पर्श, जलका गुण रस, अग्निका गुण रूप, आकाशका गुण शब्द और पृथ्वीका गुण गन्ध है; छूना, चखना, देखना, सुनना, और सूंघना, इन्द्रियोंके जरिये मालूम हुआ करते हैं। (८-१२)

सङ्कल्प-विकल्पात्मक मन, निश्चय करनेवाली बुद्धि, पूर्ववासना स्वभाव ये तीनों स्वयोनिज हैं, अर्थात् आत्मयोनि भूतोंसे ये सब उत्पन्न हुए हैं; परन्तु सत्त्वादि गुणोंसे कार्य स्वरूप होके उन सत्त्वादि गुणोंको अतिक्रम करनेमें समर्थ नहीं होते। जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको पसारके फिर नियमित करता है, वैसे ही बुद्धि सब इन्द्रियोंको उत्पन्न करके उन्हें नियमित कर रखती है। पांवके ऊपर और सिरके नीचे इन सारी शरीरके बीच जो कुछ करणीय देखा जाता है, उन सबमें ही बुद्धि वर्त्तमान है, अर्थात् देहमें "मैं" इस अनुभवका विषय बुद्धि स्वरूप है। बुद्धि शब्दादि गुणोंको प्रेरणा करती है, अर्थात् शब्दादि स्वरूपताको प्राप्त होते हैं। बुद्धि ही मनके सहित इन्द्रियोंको प्रेरणा किया करती है, बुद्धि न रहनेपर विषय और इन्द्रियें प्रथित नहीं होती, मनुष्योंके शरीरमें पञ्चेन्द्रिय हैं, मन उनके बीच छठवां कहा जाता है, बुद्धिको सातवीं कहते हैं, क्षेत्रज्ञ अष्टम रूपसे माना

रजस्तमश्च सत्त्वं च त्रय एते स्वयोनिजाः ।
समाः सर्वेषु भूतेषु तान्गुणानुपलक्षयेत् ॥ १९ ॥
तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किंचिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रशान्तमिव संशुद्धं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ २० ॥
यत्तु संतापसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।
प्रवृत्तं रज इत्येवं तत्र चाप्युपलक्षयेत् ॥ २१ ॥
यत्तु संमोहसंयुक्तमव्यक्तविषयं भवेत् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधार्यताम् ॥ २२ ॥
प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः साम्यं स्वस्थात्मचित्तता ।
अकस्माद्यदि वा कस्माद्वर्तन्ते सात्त्विका गुणाः ॥२३॥
अभिमानो मृषावादो लोभो मोहस्तथा क्षमा ।
लिङ्गानि रजसस्तानि वर्तन्ते हेत्वहेतुतः ॥ २४ ॥
तथा मोहः प्रमादश्च निद्रा तन्द्रा प्रबोधिता ।
कथंचिदभिवर्तन्ते विज्ञेयास्तामसा गुणाः ॥ २५ ॥ [८८८३]

इति श्रीमहाभारते शान्ति० मोक्ष०शुकानुप्रश्ने सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४७ ॥

गया है, नेत्रकी आलोचनाके लिये मन संशय करता है, बुद्धि निश्चय किया करती है, क्षेत्रज्ञ साक्षी स्वरूप कहा जाता है, रज, तम और सत्त्वगुण, ये स्वयोनिज होकर देवता मनुष्य सब भूतोंमें निवास करते हैं, कार्यसे इन सब गुणोंको जानना उचित है। (१३-१९)

उसमेंसे आत्मामें जो कुछ प्रीति-संयुक्त मालूम होता है और जो प्रशान्तकी भांति पूरी रीतिसे शुद्ध है, उसे सत्त्वगुण समझे; शरीर और मनको जो सन्तापयुक्त करता है, उसे रजोगुण जाने और जो संमोहसे संयुक्त है, तथा जिसका विषय अव्यक्त तर्कसे अगोचर वा अविज्ञेय है, उसे तमोगुण कहके निश्चय करो। किसी कारण वा अकारणसे ही प्रहर्ष, प्रीति, आनन्द, समता, स्वस्थदेहता और स्वस्थचित्तता हो, तो समझे कि उसमेंही सत्त्वगुण वर्त्तमान है। अभिमान, मृषावाद, लोभ, मोह, और क्षमा, यदि कारण वा अकारणसे उत्पन्न हो, तो उसे ही रजोगुणका लक्षण समझना चाहिये। मोह, प्रमाद, निद्रा, तन्द्रा, और प्रबोधिता यदि किसी प्रकारसे वर्त्तमान हो, तो उसे ही तमोगुण जानना योग्य है। (२०-२५)

शान्तिपर्वमें २४७ अध्याय समाप्त।

व्यास उवाच— मनो विसृजते भावं बुद्धिरध्यवसायिनी ।
हृदयं प्रियाप्रिये वेद त्रिविधा कर्मचोदना ॥ १ ॥
इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यः परमं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा परो मतः ॥ २ ॥
बुद्धिरात्मा मनुष्यस्य बुद्धिरेवात्मनाऽऽत्मनि ।
यदा विकुरुते भावं तदा भवति सा मनः ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणां पृथग्भावाद् बुद्धिर्विक्रियते ह्यतः ।
शृण्वती भवति श्रोत्रं स्पृशती स्पर्श उच्यते ॥ ४ ॥
पश्यती भवते दृष्टी रसती रसनं भवेत् ।
जिघ्रती भवति घ्राणं बुद्धिर्विक्रियते पृथक् ॥ ५ ॥
इन्द्रियाणि तु तान्याहुस्तेष्वदृश्योऽधितिष्ठति ।
तिष्ठती पुरुषे बुद्धिस्त्रिषु भावेषु वर्तते ॥ ६ ॥
कदाचिल्लभते प्रीतिं कदाचिदपि शोचति ।
न सुखेन न दुःखेन कदाचिदिह युज्यते ॥ ७ ॥

शान्तिपर्वमें २४८ अध्याय ।

व्यासदेव बोले, निश्चयात्मिका बुद्धि मनरूपसे सङ्कल्प नामके जरिये विविध पदार्थोंको उत्पन्न करती है, हृदयसे प्रिय और अप्रिय सब विषय मालूम होते हैं, कर्म प्रेरणा तीन प्रकारकी है ; इन्द्रियोंसे सङ्कल्पजनित निश्चयमें सब विषय सूक्ष्म हैं, विषयोंसे मन सूक्ष्म, मनसे बुद्धि सूक्ष्म है, और बुद्धिसे आत्मा सूक्ष्म है, यह महर्षियोंका अभिमत है। बुद्धि मनुष्योंकी व्यावहारिक आत्मा है, बुद्धि ही स्वयं आत्मस्वरूपसे स्थिति करती है, बुद्धि जिस समय विविध पदार्थोंको उत्पन्न करती है, उस समय मनशब्दवाच्य होती है। (१–३)

इन्द्रियोंके पृथक् भावके कारण बुद्धि विकृत होती है, इस ही निमित्त जब बुद्धि सुनती है तब कान, जब स्पर्श करती है तब त्वचा, जब दर्शन करती है तब नेत्र, जब चखती है तब जीभ और जब सूंघती है तब घ्राण कहके वर्णित होती है, इसलिये बुद्धि पृथक् पृथक् रूपसे विकृत हुआ करती है। बुद्धिके उन विकारोंको इन्द्रिय कहते हैं, चिदात्मा अदृश्य भावसे उन सबमें और सात्विक, राजसिक और तामसिक भावोंमें वर्तमान है। पुरुषाधिष्ठिता बुद्धि भी उक्त तीनों भावोंमें निवास करती है; मनुष्य कभी सुख लाभ करता है, कभी शोकित होता है; इस संसारमें

सेयं भावात्मिका भावांस्त्रीनेतानतिवर्तते।
सरितां सागरो भर्ता महावेलामिवोर्मिमान् ॥ ८ ॥
यदा प्रार्थयते किंचित्तदा भवति सा मनः।
अधिष्ठानानि वै बुद्ध्यां पृथगेतानि संस्मरेत्।
इन्द्रियाण्येव मेध्यानि विजेतव्यानि कृत्स्नशः ॥ ९ ॥
सर्वाण्येवानुपूर्व्येण यद्यदाऽनुविधीयते।
अविभागगता बुद्धिर्भावे मनसि वर्तते ॥ १० ॥
ये चैव भावा वर्तन्ते सर्व एष्वेव ते त्रिषु।
अन्वर्थाः संप्रवर्तन्ते रथनेमिमरा इव ॥ ११ ॥

कभी कोई निरवच्छिन्न सुखशाली अथवा दुरवगाह दुःखभागी नहीं होता। जैसे तरङ्गमालायुक्त सरित्पति समुद्र नदियोंके वेगको शान्त करता है, वैसे ही वह भावात्मिका बुद्धि सत्त्व, रज, तम, इन तीनों भावोंको अभिभव किया करती है। (४—८)

जब बुद्धि किसी विषयकी अभिलाप करती है, तब उसे मन कहा जाता है। सब इन्द्रियगोलक बुद्धिमें अन्तर्भूत होकर पृथक् पृथक् निवास करते हैं। रूप आदि ज्ञान साधनमें तत्पर इन्द्रियोंको सब भांतिसे विजय करना उचित है। जो इन्द्रिय जिस समय बुद्धिके अनुगत होती हैं, उस समय पहले बुद्धि पृथग्भूत न रहनेपर भी अन्तमें सङ्कल्पात्मक घटादि विषयोंमें वर्त्तमान हुआ करती है; अर्थात् बुद्धिसे अनुगृहीत होके इन्द्रियां सङ्कल्पजनित वाह्य विषयोंका ज्ञान करती है। इस ही प्रकार क्रमसे रूप आदिका ज्ञान उत्पन्न होता है, सब विषयोंका ज्ञान युगपत् नहीं होता। (९—१०)

जैसे अरोंका रथनेमिके बीच सम्बन्ध रहता है, वैसे ही सात्विक, राजसिक और तामसिक भाव मन, बुद्धि तथा अहंकारमें विषयके अनुसार वर्त्तमान रहते हैं। [जब कि एक मात्र स्त्रीसे पतिकी प्रीति, सपत्नियोंका द्वेष, दूसरेको मोह होते दीख पडता है, तब विषय-दर्शनसे ही आन्तरिक भावोंकी उत्पत्ति होती है, इसे ही अङ्गीकार करना होगा। इस विषयमें अनुभववैषम्यके कारण जो लोग विषयको ही त्रिगुणात्मक कहते हैं, उनका मत युक्तिपूरित नहीं है; क्यों कि एक मात्र स्त्रीमें पतिकी प्रीति, सपत्नीके द्वेष और दूसरोंके मोह सदा ही वर्त्तमान नहीं रहते; इसलिये मन, बुद्धि, अहङ्कार ही सत्त्व, रज और तमोमय हैं, सब विषय तन्मय नहीं हैं।] (११)

प्रदीपार्थं मनः कुर्यादिन्द्रियैर्बुद्धिसत्तमैः।
निश्चरद्भिर्यथायोगमुदासीनैर्यदृच्छया ॥ १२ ॥
एवंस्वभावमेवेदमिति विद्वान्न मुह्यति।
अशोचन्नप्रहृष्यन्हि नित्यं विगतमत्सरः ॥ १३ ॥
न चात्मा शक्यते द्रष्टुमिन्द्रियैः कामगोचरैः।
प्रवर्तमानैरनघैर्दुष्करैरकृतात्मभिः ॥ १४ ॥
तेषां तु मनसा रश्मीन् यदा सम्यङ् नियच्छति।
तदा प्रकाशतेऽस्यात्मा दीपदीप्ता यथाऽऽकृतिः ॥१५॥
सर्वेषामेव भूतानां तमस्यपगते यथा।
प्रकाशं भवते सर्वं तथेदमुपधार्यताम् ॥ १६ ॥
यथा वारिचरः पक्षी न लिप्यति जले चरन्।
विमुक्तात्मा तथा योगी गुणदोषैर्न लिप्यते ॥ १७ ॥

बुद्धिस्थ विषय सिद्धि अर्थात् हृदयगुहा में स्थित परब्रह्म विषयक पारमार्थिक ज्ञान साधनके निमित्त मन किरणरूपी इन्द्रियोंके जरिये श्रेष्ठ परब्रह्मको छिपानेवाले अज्ञानका विनाश किया करता है। योगाचारियोंका यह योग जिस प्रकार सिद्ध होता है, उदासीन मनुष्योंका भी यदृच्छाक्रमसे उस ही प्रकार योग सिद्ध हुआ करता है, बुद्धिमान् मनुष्य इस दृश्यमान जगत्को इस ही स्वभावसे बुद्धिमात्रसे कल्पित जानके मोहित नहीं होते; वे किसी विषयमें हर्ष वा शोक प्रकाश नहीं करते, सदा मत्सरहीन होके निवास करते हैं। (१२-१३)

काम्यमान विषय गोचर इन्द्रियोंके निर्दोष होनेपर भी दुष्कृतिशाली मलिन चित्तवाले मनुष्य उसके सहारे आत्माका दर्शन करनेमें समर्थ नहीं होते; जिस समय पुरुष मनके जरिये इन्द्रियोंके वेगको पूर्ण रीतिसे नियमित करता है, उस समय दीपकके प्रकाशके जरिये घटादि पदार्थोंकी आकृतिके समान उसके समीप आत्मा प्रकाशित होता है। सब जीवोंका ही जिस समय मोह दूर होता है, तब मानो वास्तविक सब विषय ही उनके समीप मालूम हुआ करते हैं, वैसे ही कण्ठगत विस्मृत चामीकरकी भांति अज्ञानके दूर होनेसे ही आत्माकी प्राप्ति हुआ करती है। जैसे जलचारी पक्षी पानीमें विचरते हुए उसमें लिप्त नहीं होते, वैसे ही विमुक्त स्वभाववाले योगी लोग पूर्वकृत पुण्यपापसे अलिप्त हुआ करते हैं। (१४-१७)

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्य.
१ आदिपर्व	(१ से ११)	११	११२५	६) छः रु.	१।)
२ सभापर्व	(१२ " १५)	४	३५६	२॥) अढाई	।॥)
३ वनपर्व	(१६ " ३०)	१५	१५३८	८) आठ	१॥)
४ विराटपर्व	(३१ " ३३	३	३०६	२) दो	॥
५ उद्योगपर्व	(३४ " ४२	९	९५३	५) पांच	१।)
६ भीष्मपर्व	(४३ " ५०)	८	८००	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	(५१ " ६४)	१४	१३६४	७।) साढेसात	१।।)
८ कर्णपर्व	(६५ " ७०)	६	६३७	३।) साढेतीन	।॥)
९ शल्यपर्व	(७१ " ७४)	४	४३५	२॥) अढाई	।॥
१० सौप्तिकपर्व	(७५	१	१०४	॥। बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	(७६)	१	१०८	॥।) " "	।)
१२ शान्तिपर्व।					
राजधर्मपर्व	(७७ " ८३)	७	६९४	४ चार	।।)
आपद्धर्मपर्व	८४ " ८५)	२	२३२	१॥ डेढ	।।)
मोक्षधर्मपर्व	(८६ " ९६)	११	११००	६) छः	१।)
१३ अनुशासन	(९७ " १०७	११	१०७६	६) छः	१।)
१४ आश्वमेधिक	(१०८" १११)	४	४००	२॥) अढाई	।।)
१५ आश्रमवासिक	११२)	१	१४८	१) एक	।)
१६-१७-१८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहण।	(११३)	१	१०८	१) एक	।।

सूचना—ये सब पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री-स्वाध्याय मंडल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक— श्री०दा०सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि०सातारा)

REGISTERED NO. B. 1819

अङ्क १०

महाभारत

भाषा-भाष्य-समेत

संपादक-श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल, औंध, जि. सातारा

संपूर्ण महाभारत तैयार है।

मूल्य।

सजिल्द ६५) डा० व्य० अलग

बिनाजिल्द ६०) ,, ,, ,,

मंत्री—स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि. सातारा)

१२ अंकोंका मूल्य म. आ. से ६) और वी.पी. से ७) विदेशके लिये ८)।

एवमेव कृतप्रज्ञो न दोषैर्विषयांश्चरन् ।
असज्जमानः सर्वेषु कथंचन न लिप्यते ॥ १८ ॥
त्यक्त्वा पूर्वकृतं कर्म रतिर्यस्य सदाऽऽत्मनि ।
सर्वभूतात्मभूतस्य गुणवर्गेष्वसज्जतः ॥ १९ ॥
सत्त्वमात्मा प्रसरति गुणान्वाऽपि कदाचन ।
न गुणा विदुरात्मानं गुणान्वेद स सर्वदा ॥ २० ॥
परिद्रष्टा गुणानां च परिस्रष्टा यथातथम् ।
सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरेतदन्तरं विद्धि सूक्ष्मयोः ॥ २१ ॥
सृजतेऽत्र गुणानेक एको न सृजते गुणान् ।
पृथग्भूतौ प्रकृत्या तौ संप्रयुक्तौ च सर्वदा ॥ २२ ॥
यथा मत्स्योऽद्भिरन्यः स्यात्संप्रयुक्तौ तथैव तौ ।
मशकोदुम्बरौ वाऽपि संप्रयुक्तौ यथा सह ॥ २३ ॥
इषीका वा यथा मुञ्जे पृथक्च सह चैव च ।
तथैव सहितावेतावन्योऽन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ ॥ २४ ॥ [८९०७]

इति श्रीमहाभारते० मोक्षधर्म० शुकानुप्रश्ने अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४८ ॥

इस ही प्रकार शुद्धचित्तवाले मनुष्य विषयोंको सेवन करनेसे भी पापस्पर्शसे रहित हुआ करते हैं। वह पुत्र, कलत्र आदि स्वजनोंमें आसक्त रहके भी उनके नाशके निमित्त शोक आदिसे अभिभूत नहीं होते, इस ही प्रकार देहासङ्गी पुरुष देहकृत कर्मसे लिप्त नहीं होते। पूर्वकृत कर्मोंको परित्याग करके सत्य-स्वरूप आत्मामें जिसका अनुराग होता है वह सब भूतोंका आत्मभूत सब विषयोंमें असंसक्त पुरुषकी बुद्धि सत्त्वगुणमें विचरती है, कभी विषयोंमें प्रवेश नहीं करती। इन्द्रियें आत्माको जाननेमें समर्थ नहीं हैं, परन्तु आत्मा सदा ही उन्हें जानता है, वह इन्द्रियोंका परिदर्शक और यथायोग्य रीतिसे उनकी सृष्टि किया करता है। (१८—२१)

सूक्ष्म सत् रूप परब्रह्म और क्षेत्रात्माका यह प्रभेद मालूम करो कि इनमेंसे एकने सब विषयोंको बनाया है, दूसरेने कुछ भी नहीं किया है। वे दोनों प्रकृतिके वशमें होके पृथक् रहनेपर भी सर्वदा सम्प्रयुक्त हैं, जैसे मछली जलसे स्वतंत्र होनेपर भी दोनों ही सदा मिले हैं, जैसे मशक और उदुम्बर पृथक् होनेपर भी एकत्रित हैं, जैसे सींक मूंजमें पृथक् रहके भी संयुक्त रहती है, वैसेही जीव और ब्रह्म एक होनेपर भी

व्यास उवाच— सृजते तु गुणान् सत्त्वं क्षेत्रज्ञस्त्वधितिष्ठति ।
गुणान् विक्रियतः सर्वानुदासीनवदीश्वरः ॥ १ ॥
स्वभावयुक्तं तत्सर्वं यदिमान् सृजते गुणान् ।
ऊर्णनाभिर्यथा सूत्रं सृजते तद्गुणांस्तथा ॥ २ ॥
प्रध्वस्ता न निवर्तन्ते प्रवृत्तिर्नोपलभ्यते ।
एवमेके व्यवस्यन्ति निवृत्तिरिति चापरे ॥ ३ ॥
उभयं संप्रधार्यैतदध्यवस्येद्यथामति ।
अनेनैव विधानेन भवेद्गर्भशयो महान् ॥ ४ ॥
अनादिनिधनो ह्यात्मा तं बुद्ध्वा विचरेन्नरः ।
अक्रुध्यन्नप्रहृष्यंश्च नित्यं विगतमत्सरः ॥ ५ ॥
इत्येवं हृदयग्रन्थिं बुद्धिचिन्तामयं दृढम् ।

परस्परमें प्रतिष्ठित हैं। (२१-२४)

शान्तिपर्वमें २४८ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २४९ अध्याय ।

व्यासदेव बोले, सत्स्वरूप आत्मा विषयोंको उत्पन्न करता है, जीव उसमें अधिष्ठित हुआ करता है। ईश्वर उदासीनकी भांति विकृतिको प्राप्त हुए विषयोंका अधिष्ठाता है। जैसे उर्णनाभी अभिन्न निमित्त उपादान स्वरूपसे सूत्र निर्माण करती है, वैसेही ईश्वर जिन गुणोंको उत्पन्न करता है, वे उसहीके स्वभावयुक्त होते हैं। सत्वादि सब गुण तत्वज्ञानके जरिये अदर्शनयुक्त होनेपर भी निवृत्त अर्थात् घट आदि बाह्य पदार्थोंकी भांति नष्ट नहीं होते; परन्तु रज्जुसर्पकी भांति बाधकोही प्रध्वंसपदवाच्य कहना होगा। घट आदि नष्ट होनेपर भी जैसे कपालदर्शनके जरिये इस स्थानसे घट नष्ट हुआ है, इस ही भांति घटसत्वकी उपलब्धि होती है, सत्वादि गुणोंके प्रध्वंस होनेपर उस प्रकार उनके प्रवृत्ति की प्राप्ति नहीं होती; इसलिये सत्वादि गुणोंके नाशको निरवयव नाश कहा जाता है, तार्किक लोग कहा करते हैं, कि आत्यन्तिकी दुःखकी निवृत्ति होनेसे ही आत्मगुणकी निवृत्ति होती है। सांख्यमतवाले दार्शनिक पण्डित लोग-भी दृग्दृश्यसंयोगसे अनादि भावका-भी नाश स्वीकार करते हैं। (१—३)

इस ही प्रकार निवृत्ति और बाध इन दोनों पक्षोंको बुद्धिसे आलोचना करके यथामतिके अनुसार निश्चय करे; पुरुष इस प्रकारके विधानके जरिये महान् आत्माश्रय हुआ करता है। आत्माका आदि और अन्त नहीं है, इसे जानकर मनुष्य क्रोध हर्षसे रहित और मत्सरहीन

अनित्यं सुखमासीत अशोचंश्छिन्नसंशयः ॥ ६ ॥
ताम्येयुः प्रच्युताः पृथ्व्या यथा पूर्णां नदीं नराः ।
अवगाढा ह्यविद्वांसो विद्धि लोकमिमं तथा ॥ ७ ॥
न तु ताम्यति वै विद्वान्स्थले चरति तत्त्ववित् ।
एवं यो विन्दतेऽऽत्मानं केवलं ज्ञानमात्मनः ॥ ८ ॥
एवं बुद्ध्वा नरः सर्वं भूतानामागतिं गतिम् ।
समवेक्ष्य च वैषम्यं लभते शममुत्तमम् ॥ ९ ॥
एतद्वै जन्मसामर्थ्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
आत्मज्ञानं शमश्चैव पर्याप्तं तत्परायणम् ॥ १० ॥
एतद् बुद्ध्वा भवेच्छुद्धः किमन्यद् बुद्धलक्षणम् ।
विज्ञायैतद्विमुच्यन्ते कृतकृत्या मनीषिणः ॥ ११ ॥
न भवति विदुषां महद्भयं यदविदुषां सुमहद्भयं परत्र ।
न हि गतिरधिकाऽस्ति कस्यचिद्भवति हि या विदुषः सनातनी ॥१२॥

होकर सदा विचरण करे। इस ही प्रकार बुद्धिके धर्मचिन्ता आदि दृढ हृदयग्रन्थिको जिन्होंने अतिक्रम किया है, वह शोकरहित और संशयहीन होकर सुखसे समय व्यतीत किया करते हैं। पृथ्वीपरसे भरी हुई नदीमें गिरे हुए मनुष्य डूबते हैं, इस लोकमें तरनेकी विद्यासे रहित मूर्खोंकी गति भी उसही प्रकार जाननी चाहिये, तरनेकी विद्यासे युक्त तत्ववित् पुरुष उन्मज्जन निमज्जनके सहारे क्लेशित न होकर स्थलमें विचरते हैं, इसी प्रकार जिन्होंने अपने आत्माको शुद्ध चिन्मात्र अर्थात् केवल ज्ञान स्वरूप जाना है, वे ही आत्माका स्वरूप और लक्षण जानते हैं। (४-८)

इसही प्रकार मनुष्य सब भूतोंकी उत्पत्ति और लयके विषयको जानके और आकाश आदि भूतोंकी विषमता अवलोकन करके अत्यन्त उत्तम सुख लाभ किया करते हैं। मनुष्य जन्म ग्रहण करने विशेष करके ब्राह्मण होनेसे यह सामर्थ्य प्राप्त होती है, कि आत्मज्ञान और शान्ति अवलम्बनके जरिये मुक्ति लाभ हुआ करती है। मनुष्य इसे ही जानके पापरहित होता है, निष्पाप होनेका दूसरा लक्षण और क्या है? कृतकृत्य, मनीषी पुरुष इसे ही जानकर मुक्त होते हैं। अज्ञानियोंके परलोकमें अधःपतनसे जो अत्यन्त महत् भय स्थित होता है, ज्ञानियोंको उस भयकी सम्भावना नहीं है। ज्ञानियोंकी जो उत्तम महती गति हुआ करती है, उससे

लोकमातुरमसूयते जनस्तत्तदेव च निरीक्ष्य शोचते ।
तत्र पश्य कुशलानशोचतो ये विदुस्तदुभयं कृताकृतम् ॥ १३ ॥
यत्करोत्यनभिसंधिपूर्वकं तच्च निर्णुदति तत्पुरा कृतम् ।
न प्रियं तदुभयं न चाप्रियं तस्य तज्जनयतीह कुर्वतः ॥ १४ ॥ [८९२१]

इति श्रीमहा० मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४९ ॥

शुक उवाच— यस्माद्धर्मात्परो धर्मो विद्यते नेह कश्चन ।
यो विशिष्टश्च धर्मेभ्यस्तं भवान्प्रब्रवीतु मे ॥ १ ॥
व्यास उवाच — धर्मं ते संप्रवक्ष्यामि पुराणमृषिभिः कृतम् ।
विशिष्टं सर्वधर्मेभ्यस्तमिहैकमनाः शृणु ॥ २ ॥
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि बुद्ध्या संयम्य यत्नतः ।
सर्वतो निष्पतिष्णूनि पिता बालानिवात्मजान् ॥ ३ ॥
मनसश्चेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्र्यं परमं तपः ।

बढके उत्तम गति और किसीकी भी नहीं होती । (९—१२)

कोई मनुष्य उपभोग्य स्त्री आदिको दोषसे आक्रान्त समझके उन्हें दोषदृष्टिसे देखते हैं, कोई दूसरेका वैसे दोषाक्रान्त विषयमें अनुराग देखकर शोक किया करते हैं, परन्तु ज्ञानी और अज्ञानीके बीच महत् विलक्षणता है; इसे जानके जो लोग आरोपित वा अनारोपित शोक तथा शोकाभावको विषय जानते हैं, उन्हें ही जानना चाहिये, कि वे निश्चय ही कुशल हैं। जो लोग अनभिसन्धिपूर्वक अर्थात् निष्काम होकर कर्म करते हैं, उनका वही निष्काम कर्म पहलेके किये हुए पापोंको खण्डन करता है, निष्काम कर्म करनेवाले मनुष्योंके इस जन्म और पूर्व जन्मके किये हुए सब कर्म प्रिय वा अप्रिय जनक नहीं होते; इसलिये तत्त्वविद्या अवश्य सिद्ध करनी उचित है। (१३—१४)

शान्तिपर्वमें २४९ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २५० अध्याय।

शुकदेव बोले, हे भगवन् ! इस लोकमें जिस धर्मसे बढके श्रेष्ठ धर्म और कुछ भी न हो और जो सब धर्मोंसे उत्तम है, आप मेरे समीप उसे ही वर्णन करिये। (१)

व्यासदेव बोले, ऋषियोंने जिस पुराण धर्मको स्थापित किया है और जो सब धर्मोंसे उत्तम है, वह तुम्हारे समीप विस्तारपूर्वक कहता हूं, तुम चित्त एकाग्र करके सुनो। जैसे पिता आत्मज सन्तानोंको यत्नपूर्वक संयत करता है, वैसे ही सब भान्तिसे पतन

तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥ ४ ॥
तानि सर्वाणि संधाय मनःषष्ठानि मेधया ।
आत्मतृप्त इवाऽऽसीत बहुचिन्त्यमचिन्तयन् ॥ ५ ॥
गोचरेभ्यो निवृत्तानि यदा स्थास्यन्ति वेश्मनि ।
तदा त्वमात्मनात्मानं परं द्रक्ष्यसि शाश्वतम् ॥ ६ ॥
सर्वात्मानं महात्मानं विधूममिव पावकम् ।
तं पश्यन्ति महात्मानो ब्राह्मणा ये मनीषिणः ॥ ७ ॥
यथा पुष्पफलोपेतो बहुशाखो महाद्रुमः ।
आत्मनो नाभिजानीते क्व मे पुष्पं क्व मे फलम् ॥ ८ ॥
एवमात्मा न जानीते क्व गमिष्ये कुतस्त्वहम् ।
अन्यो ह्यत्रान्तरात्माऽस्ति यः सर्वमनुपश्यति ॥ ९ ॥
ज्ञानदीपेन दीप्तेन पश्यत्यात्मानमात्मनि ।
दृष्ट्वा त्वमात्मनाऽऽत्मानं निरात्मा भव सर्ववित् ॥१०॥
विमुक्तः सर्वपापेभ्यो मुक्तत्वच इवोरगः ।

शील और प्रमथनकारी इन्द्रियोंको बुद्धिके जरिये संयत करके मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता साधन ही परम तपस्या है, वेही सब धर्मोंसे उत्तम और वही परम धर्मरूपसे महर्षियोंके जरिये वर्णित हुआ करता है । मनके सहित इन्द्रियोंको मेधाके सहारे सन्धान करके त्रिपुटी चिन्तनमें अनासक्त होकर आत्मतृप्तकी भांति निवास करे । जब इन्द्रियें बाह्य और आभ्यन्तरिक विषयों से निवृत्त होके सर्वाधिष्ठान परब्रह्ममें निवास करेंगी तब तुम स्वयं ही शाश्वत परमात्माको देख सकोगे । (२-६)

जो सब महाभाग मनीषी पुरुष ब्रह्मवित् होते हैं, वे उस धूमरहित अग्निकी भांति उपाधिरहित सर्वमय महान् आत्माको देखते हैं । जैसे फल फूलसे युक्त अनेक शाखावाले बडे वृक्ष अपने फल फूलोंको यह नहीं जानते कि कहां हैं, वैसे ही अचेतन बुद्धिवाले "मैं कहां जाऊंगा, कहांसे आया हूं" इसे कुछ भी नहीं जान सकते; तब इस देहके बीच बुद्धि व्यतिरिक्त अन्तरात्मा रूपसे जो विराजता है, वही बुद्धि आदि सबका ही अभिज्ञ है और सबको ही देखता रहता है । आत्मवित् पुरुष प्रकाशमान ज्ञानदीप स्वरूप आत्माके जरिये ही आत्माको देखते हैं, इसलिये तुम आप ही अपना दर्शन करके उपाधिरहित और सर्ववित् हो जाओ । तुम्हें

परां बुद्धिमवाप्येह विपाप्मा विगतज्वरः ॥ ११ ॥
सर्वतः स्रोतसंघोरां नदीं लोकप्रवाहिनीम् ।
पञ्चेन्द्रियग्राहवतीं मनःसंकल्परोधसम् ॥ १२ ॥
लोभमोहतृणच्छन्नां कामक्रोधसरीसृपाम् ।
सत्यतीर्थानृतक्षोभां क्रोधपङ्कां सरिद्वराम् ॥ १३ ॥
अव्यक्तप्रभवां शीघ्रां दुस्तरामकृतात्मभिः ।
प्रतरस्व नदीं बुद्ध्या कामग्राहसमाकुलाम् ॥ १४ ॥
संसारसागरगमां योनिपातालदुस्तराम् ।
आत्मकर्मोद्भवां तात जिह्वावर्तां दुरासदाम् ॥ १५ ॥
यां तरन्ति कृतप्रज्ञा धृतिमन्तो मनीषिणः ।
तां तीर्णः सर्वतो मुक्तो विधूतात्माऽऽत्मविच्छुचिः ॥१६॥
उत्तमां बुद्धिमास्थाय ब्रह्म भूयान्भविष्यसि ।
संतीर्णः सर्वसंसारात्प्रसन्नात्मा विकल्मषः ॥ १७ ॥
भूमिष्ठानीव भूतानि पर्वतस्थो निशामय ।
अक्रुध्यन्नप्रहृष्यंश्च न नृशंसमतिस्तथा ॥ १८ ॥
ततो द्रक्ष्यसि सर्वेषां भूतानां प्रभवाप्ययौ ।
एवं वै सर्वभूतेभ्यो विशिष्टं मेनिरे बुधाः ।

केंचुलीसे मुक्त सर्पकी भांति छूटकर और इस लोकमें परम ज्ञान प्राप्त कर सुखी होके अनेक प्रकारसे बहनेवाली लोकप्रवाहिनी, पञ्चेन्द्रियग्राहसे युक्त, मनके सङ्कल्प तटवाली, लोभ मोहरूपी तृणसे परिपूरित, काम क्रोधरूपी सर्पसे युक्त, सत्य तीर्थवाली, मिथ्याक्षोभवाली क्रोधपङ्कसे संयुक्त, अव्यक्तप्रभव, शीघ्रगामिनी और अकृतात्म लोगोंसे दुस्तर और कामग्राहसे परिपूरित, नदी के समान संसारनदीको ज्ञानके सहारे तरना चाहिये। (७—१४)

हे तात ! कृतप्रज्ञ धृतिमान् मनीषी पुरुष संसारसागरगामिनी, वासना पाताल दुस्तरा, आत्म जन्मोद्भव, जिह्वावर्ता जिस दुरासद नदीके पार जाते हैं, तुम उस ही नदीको तरके सर्वसङ्गरहित, विधूतस्वभाव, आत्मवित्, पवित्र और समस्त संसारसे पार होके प्रसन्नात्मा तथा पापरहित होकर परम श्रेष्ठ ज्ञान अवलम्बन करके ब्रह्मत्वलाभ करोगे। तुम ज्ञानरूपी पर्वतपर चढके भूमिष्ठ भूतोंको देखो। तुम क्रोधरहित हर्षहीन और अनृशंसबुद्धि होनेसे सब

धर्मं धर्मभृतां श्रेष्ठा मुनयस्तत्त्वदर्शिनः ॥ १९ ॥
आत्मनो व्यापिनो ज्ञानमिदं पुत्रानुशासनम् ।
प्रयताय प्रवक्तव्यं हितायानुगताय च ॥ २० ॥
आत्मज्ञानमिदं गुह्यं सर्वगुह्यतमं महत् ।
अब्रुवं यदहं तात आत्मसाक्षिकमञ्जसा ॥ २१ ॥
नैव स्त्री न पुमानेतन्नैव वेद नपुंसकम् ।
अदुःखमसुखं ब्रह्म भूतभव्यभवात्मकम् ॥ २२ ॥
नैतज्ज्ञात्वा पुमान्स्त्री वा पुनर्भवमवाप्नुते ।
अभवप्रतिपत्त्यर्थमेतद्धर्मं विधीयते ॥ २३ ॥
यथा मतानि सर्वाणि तथैतानि यथा तथा ।
कथितानि मया पुत्र भवन्ति न भवन्ति च ॥ २४ ॥
तत्प्रीतियुक्तेन गुणान्वितेन पुत्रेण सत्पुत्र दमान्वितेन ।
पृष्टो हि संप्रीतिमना यथार्थं ब्रूयात्सुतस्येह यदुक्तमेतत् ॥ २५ ॥[८९४६]

इति श्रीमहाभारते० शान्तिपर्वणि मोक्षधर्म० शुकानुप्रश्ने पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः २५०

भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय देख सकोगे। धार्मिकप्रवर तत्वदर्शी विद्वान् महर्षि-ओंने योगके जरिये अज्ञान रूपी नदीके सन्तरणस्वरूप इस धर्मको सब धर्मोंसे श्रेष्ठ समझा है। (१५-१९)

हे तात ! सर्वव्यापी आत्माका ज्ञानस्वरूप यह अनुशासन सदा हित-कारी वा अनुगत पुत्र शिष्योंसे कहना चाहिये। हे तात ! यह आत्मसाक्षिक आत्मज्ञानका विषय इतना ही जो तुम से कहा है, यह सबसे महत् और गुप्त है। यह परब्रह्म न स्त्री है, न पुरुष है, और न नपुंसक ही है; यह अदुःख, असुख तथा भूतभव्य वर्तमानस्वरूप है; स्त्री वा पुरुष उसे जाननेसे फिर जन्म नहीं लेते, पुनर्जन्मकी प्राप्ति न होनेके ही निमित्त यह धर्म विहित हुआ है। हे तात ! मैंने जो किसी स्थलमें जैसे सब दर्शनोंके मतोंको कहा है, वैसे ही इस आत्मज्ञानके विषयको भी वर्णन किया है, परन्तु अधिकारी भेदसे वे सब वचन किसी स्थानमें फलित और किसी स्थलमें विफल होते हैं। हे सत्पुत्र ! इसलिये प्रीति, गुण और दमसे युक्त पुत्रके पूछनेपर पिता प्रसन्न होकर इस विषयको यथार्थ रीतिसे पुत्रके निकट इस प्रकार वर्णन करे, जैसे मैंने तुमसे कहा है। (२०-२५)

शान्तिपर्वमें २५० अध्याय समाप्त।

व्यास उवाच-गन्धान् रसान्नानुरुन्ध्यात्सुखं वा नालंकारांश्चाप्नुयात्तस्य तस्य।
मानं च कीर्तिं च यशश्च नेच्छेत्स वै प्रचारः पश्यतो ब्राह्मणस्य ॥१॥
सर्वान्वेदानधीयीत शुश्रूषुर्ब्रह्मचर्यवान्।
ऋचो यजूंषि सामानि यो वेद न स वै द्विजः ॥ २ ॥
ज्ञातिवत्सर्वभूतानां सर्ववित्सर्ववेदवित्।
नाकामो म्रियते जातु न तेन न च वै द्विजः ॥ ३ ॥
इष्टीश्च विविधाः प्राप्य क्रतूंश्चैवाप्तदक्षिणान्।
प्राप्नोति नैव ब्राह्मण्यमविधानात्कथंचन ॥ ४ ॥
यदाचार्यं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ५ ॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ६ ॥
कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम्।

शान्तिपर्वमें २५१ अध्याय।

व्यासदेव बोले, गन्ध रस और सुख का अनुसरण तथा गन्ध आदि सम लंकृत आभूषणोंका अनुरोध और उक्त भोग्य वस्तुओंमें विद्वेष प्रकाश न करके उदासीन भावसे निवास, मान, कीर्ति, तथा यश लाभमें अभिलाष-रहित होना और उन सबमें उदासीनता अवलम्बन करना ही विद्वान् ब्राह्मणोंके व्यवहार हैं। (१)

गुरुसेवा करने में रत, ब्रह्मचर्य व्रत करनेवाला पुरुष यदि सब वेदोंको पढे, तथा ऋक्, यजु और साम वेदको मालूम करे; तौभी उसे मुख्य ब्राह्मण नहीं कहा जाता, जो सर्वज्ञ और सब वेदके जाननेवाले होकर सब प्राणियोंके विषय में स्वजनवत् व्यवहार करते हैं और जो लोग आत्मज्ञानसे तृप्त होते हैं, कभी जिसकी मृत्यु नहीं होती, उनके वैसे कर्मके सहारे भी मुख्य ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति नहीं होती। (२—३)

जिन्होंने विविध इष्टि और अनेक दक्षिणायुक्त यज्ञ किये हैं, उनमेंसे दया और निष्कामता न रहनेसे कदापि ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती; जब पुरुषको किसी प्राणीसे भय नहीं होता और उससे भी कोई नहीं डरते, जब वह किसी विषयकी कामना और किसी विषयमें विद्वेष नहीं करता, तब वह ब्रह्मत्व लाभ करनेमें समर्थ होता है। जब पुरुष मन, वचन और धर्मके जरिये किसी जीवके विषयमें अनिष्ट

कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ७ ॥
कामतो मुच्यमानस्तु धूम्राभ्रादिव चन्द्रमाः ।
विरजाः कालमाकाङ्क्षन् धीरो धैर्येण वर्तते ॥ ८ ॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामः ॥९॥
स कामकान्तो न तु कामकामः स वै कामात्स्वर्गमुपैति देही ॥ १० ॥
वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः ।
दमस्योपनिषद्दानं दानस्योपनिषत्तपः ॥ ११ ॥
तपसोपनिषत्त्यागस्त्यागस्योपनिषत्सुखम् ।
सुखस्योपनिषत्स्वर्गः स्वर्गस्योपनिषच्छमः ॥ १२ ॥
क्लेदनं शोकमनसोः सन्तापं तृष्णया सह ।
सत्त्वमिच्छसि सन्तोषाच्छान्तिलक्षणमुत्तमम्॥ १३ ॥
विशोको निर्ममः शान्तः प्रसन्नात्मा विमत्सरः ।

आचरण नहीं करता, तभी ब्रह्मत्व लाभ करनेमें समर्थ होता है। इस लोकमें एकमात्र काम बन्धन ही विशिष्ट है। उससे बढके दूसरा कोई बन्धन दृढ नहीं है, जो लोग उस काम-बन्धनसे छूटे हैं, वेही ब्रह्मत्व लाभ करनेमें समर्थ होते हैं। (४-७)

जैसे धूमवर्ण बादलोंसे चन्द्रमा युक्त होता है, वैसे ही रजोगुणसे रहित, धीर पुरुष कामबन्धनसे छूटकर समयकी प्रतीक्षा करते हुए धीरज अवलम्बन करके निवास करते हैं। अचलके समान स्थिर भाव, भली भाँतिसे पूरित समुद्र में दूसरे सब जल जिस प्रकारसे प्रविष्ट होते हैं, वैसे ही सब काम जिस पुरुषमें प्रविष्ट हुआ करते हैं, वे ही शान्तिलाभ करते हैं; वैसे पुरुष कभी विषयके अभिलाषी नहीं होते। वे विद्वान् पुरुष सङ्कल्पमात्रके सहारे समुपस्थित सुखोंमें रममाण होते हैं, वेही इच्छा करनेसे स्वर्ग लाभ करनेमें समर्थ हुआ करते हैं; नहीं तो स्वर्गकी इच्छा करनेवाले मनुष्य इच्छामात्रसे ही स्वर्ग लाभ करनेमें समर्थ नहीं होते। वेदका रहस्य सत्य है, सत्यका रहस्य दम है, दमका रहस्य दान है, दानका रहस्य तपस्या है, तपस्याका रहस्य त्याग है, त्यागका रहस्य सुख है, सुखका रहस्य स्वर्ग है, और स्वर्गका रहस्य शान्ति है। (८-१२)

सन्तोषके कारण यदि चित्तप्रसाद लाभकी अभिलाषा हो, तो वासनाके सहित भी शोक मोहको सन्तापित करके

षड्भिर्लक्षणवानेतैः समग्रः पुनरेष्यति ॥ १४ ॥
षड्भिः सत्त्वगुणोपेतैः प्राज्ञैरधिगतं त्रिभिः।
ये विदुः प्रेत्य चात्मानमिहस्थं तं गुणं विदुः ॥ १५ ॥
अकृत्रिममसंहार्यं प्राकृतं निरुपस्कृतम्।
अध्यात्मं सुकृतं प्राप्तः सुखमव्ययमश्नुते ॥ १६ ॥
निष्प्रचारं मनः कृत्वा प्रतिष्ठाप्य च सर्वशः।
यामयं लभते तुष्टिं सा न शक्याऽऽत्मनोऽन्यथा ॥१७॥
येन तृप्यत्यभुञ्जानो येन तृप्यत्यवित्तवान्।
येनास्नेहो बलं धत्ते यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १८ ॥
संगुप्तान्यात्मनो द्वाराण्यपिधाय विचिन्तयन्।
यो ह्यास्ते ब्राह्मणः शिष्टः स आत्मरतिरुच्यते ॥१९॥
समाहितं परे तत्त्वे क्षीणकाममवस्थितम्।
सर्वतः सुखमन्वेति वपुश्चान्द्रमसं यथा ॥ २० ॥

छेदन करो, यही शान्तिका उत्तम लक्षण है। शोकरहित, ममताहीन, शान्त, प्रसन्नचित्त, मत्सरहित और सन्तोषयुक्त होकर जो लोग समस्त ज्ञानसे तृप्त हुए हैं, वे इन छहों लक्षणोंसे सबके ही कामनीय हुआ करते हैं। बुद्धिमान् पुरुष सत्य, दम, दान, तपस्या, त्याग और शम नामक छहों सत्वगुणसे युक्त, श्रवण, मनन, निदिध्यासनके जरिये जिस आत्माको जान सकते हैं, जीवित देहमें उसही आत्माको जिन्होंने बुद्धि स्वरूपसे जाना है, वेही पूर्वोक्त मुक्त लक्षणको प्राप्त हुए हैं। जो बुद्धिमान् पुरुष अकृत्रिम अर्थात् अजन्य हैं, इसहीसे असंहार्य, स्वभावसिद्ध और गुणाधान मलापकर्षणात्मक संस्काररहित शरीरमें अधिष्ठित सुकृत आत्माको जाना है, वेही अव्यय सुख उपभोग करते हैं। मनको विषयोंसे रोकके आत्मविचारमें प्रतिष्ठित करते हुए योगी पुरुष आत्मासे जो तुष्टिलाभ करते हैं, दूसरे किसी प्रकारसे भी वैसी तुष्टिलाभ नहीं होती। अभुञ्जान मनुष्य जिसके जरिये तृप्त होते हैं, वृत्तिहीन पुरुष जिससे तृप्तिलाभ करते हैं, स्नेहरहित पुरुष जिसके सहारे बलवान् होते हैं, जो लोग उस ब्रह्मको जानते हैं, वेही वेदवित् है। (१३–१८)

जो शिष्ट ब्राह्मण प्रमादसे इन्द्रियोंकी पूर्ण रीतिसे रक्षा करते हुए ध्यान अवलम्बन करके निवास करते हैं, उन्हें ही आत्मरति कहते हैं। जो परम तत्त्वमें तत्पर और वासनारहित होकर स्थित

अविशेषाणि भूतानि गुणांश्च जहतो मुनेः ।
सुखेनापोह्यते दुःखं भास्करेण तमो यथा ॥ २१ ॥
तमतिक्रान्तकर्माणमतिक्रान्तगुणक्षयम् ।
ब्राह्मणं विषयाश्लिष्टं जरामृत्यू न विन्दतः ॥ २२ ॥
स यदा सर्वतो मुक्तः समः पर्यवतिष्ठते ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च शरीरस्थोऽतिवर्तते ॥ २३ ॥
कारणं परमं प्राप्य अतिक्रान्तस्य कार्यताम् ।
पुनरावर्तनं नास्ति सम्प्राप्तस्य परं पदम् ॥ २४ ॥ [८९७०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५१ ॥

व्यास उवाच— द्वन्द्वानि मोक्षजिज्ञासुरर्थधर्मावनुष्ठितः ।
वक्त्रा गुणवता शिष्यः श्राव्यः पूर्वमिदं महत् ॥ १ ॥
आकाशं मारुतो ज्योतिरापः पृथ्वी च पञ्चमी ।
भावाभावौ च कालश्च सर्वभूतेषु पञ्चसु ॥ २ ॥

रहते हैं, चन्द्रमाकी भांति उनका सुख बढता रहता है। जैसे सूर्यके जरिये अन्धकार दूर हो जाता है, वैसे ही जो मननशील योगी पञ्चतन्मात्र, महत्तत्व और प्रकृतिको परित्याग करते हैं, वे सहजमें ही संसारके दुःखोंसे छूट जाते हैं। वे अतिक्रान्त कर्म करनेवाले अतिक्रान्त गुण, ऐश्वर्य और विषयोंसे असंश्लिष्ट ब्राह्मणको जरा तथा मृत्यु स्पर्श नहीं कर सकती। वे जब सब तरहसे विरक्त और रागद्वेषसे रहित होके निवास करते हैं, उस समय जीवित शरीरसे ही इन्द्रिय और इन्द्रियोंके विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं। जिन्होंने प्रकृतिको परित्याग करके परम कारण परब्रह्मको जाना है, उन परम पद पानेवाले पुरुषोंको स्थिर संसारमें लौटकर नहीं आना पडता। (१९–२४)

शान्तिपर्वमें २५१ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २५२ अध्याय।

व्यासदेव बोले, सुख, दुःख, मान, अपमान सहनेवाला मनुष्य अर्थ और धर्मका अनुष्ठान करके शेषमें यदि मोक्ष जिज्ञासु हो, तो गुणवान् वक्ता उस शिष्यको पहले यही महत् अध्यात्म विषय सुनावे। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, ये पञ्चभूत और द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय और विशेष, ये कई एक भाव पदार्थ, इनके अतिरिक्त अभाव पदार्थ तथा काल

अन्तरात्मकमाकाशं तन्मयं श्रोत्रमिन्द्रियम् ।
तस्य शब्दं गुणं विद्यान्मूर्तिशास्त्रविधानवित् ॥ ३ ॥
चरणं मारुतात्मेति प्राणापानौ च तन्मयौ ।
स्पर्शनं चेन्द्रियं विद्यात्तथा स्पर्शं च तन्मयम् ॥ ४ ॥
तापः पाकः प्रकाशश्च ज्योतिश्चक्षुश्च पञ्चमम् ।
तस्य रूपं गुणं विद्यात्ताम्रगौरासितात्मकम् ॥ ५ ॥
प्रक्लेदः क्षुद्रता स्नेह इत्यपामुपदिश्यते ।
असृङ् मज्जा च यच्चान्यत्स्निग्धं विद्यात्तदात्मकम् ॥६॥
रसनं चेन्द्रियं जिह्वा रसश्चापां गुणो मतः ।
संघातः पार्थिवो धातुरस्थिदन्तनखानि च ॥ ७ ॥
श्मश्रुरोम च केशाश्च शिरास्नायु च चर्म च ।
इन्द्रियं घ्राणसंज्ञातं नासिकेत्यभिसंज्ञिता ॥ ८ ॥
गन्धश्चैवेन्द्रियार्थोऽयं विज्ञेयः पृथिवीमयः ।
उत्तरेषु गुणाः सन्ति सर्वसत्त्वेषु चोत्तराः ॥ ९ ॥

पञ्चभूतात्मक जरायुज आदि जीव मात्र में ही वर्त्तमान है। तिसके बीच आकाश अवकाश भाग है, श्रवणेन्द्रिय आकाशमय है; शारीरिक शास्त्र विधानवित् पुरुष आकाशको शब्दगुण कहा करते हैं। गमन आदि कार्य वायुसे उत्पन्न होते हैं, प्राण और अपान आदि वायुमय है, स्पर्शेन्द्रिय और स्पर्शको भी वायुमय जानो। (१-४)

ताप, पाक, प्रकाश, उष्णता और नेत्र, ये पांचो अग्निस्वरूप हैं, उसका गुण रूप लाल, श्वेत और असितात्मक है। क्लेद, संकोच और स्नेह ये तीनों जलके धर्म हैं; असृक्, मज्जा आदि जो कुछ स्निग्ध पदार्थ हैं, वे सब जलमय हैं, रसनेन्द्रिय, जिह्वा वा रस जल के गुण कहे गये हैं। धातु, संघात, पार्थिव पदार्थ, हड्डी, दांत, नख, रोम श्मश्रु, केश, शिरा और चर्म, ये सब पृथ्वीमय हैं। घ्राणेन्द्रियका नाम नासिका है, गन्ध ही इस इन्द्रियका विषय है। पूर्व पूर्व भूतोंके गुण उत्तरोत्तर भूतोंमें वर्त्तमान हैं; इसलिये आकाशमें केवल शब्दगुण है, वायुमें शब्द और स्पर्श है, अग्निमें शब्द, स्पर्श और रूप है जलमें शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस है और पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध, ये पांचो ही विद्यमान हैं; ये पांचो गुण प्राणिमात्रमें ही विद्यमान रहते हैं। (५-९)

पञ्चानां भूतसंघानां संततिं मुनयो विदुः ।
मनो नवममेषां तु बुद्धिस्तु दशमी स्मृता ॥ १० ॥
एकादशस्त्वनन्तात्मा स सर्वः पर उच्यते ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिर्मनो व्याकरणात्मकम् ।
कर्मानुमानाद्विज्ञेयः स जीवः क्षेत्रसंज्ञकः ॥ ११ ॥
एभिः कालात्मकैर्भावैर्यः सर्वैः सर्वमन्वितम् ।
पश्यत्यकलुषं कर्म स मोहं नानुवर्तते ॥ १२ ॥ [८९८२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५२ ॥

व्यास उवाच— शरीराद्विप्रमुक्तं हि सूक्ष्मभूतं शरीरिणम् ।
कर्मभिः परिपश्यन्ति शास्त्रोक्तैः शास्त्रवेदिनः ॥ १ ॥
यथा मरीच्यः सहिताश्चरन्ति सर्वत्र तिष्ठन्ति च दृश्यमानाः ।
देहैर्विमुक्तानि चरन्ति लोकांस्तथैव सत्त्वान्यतिमानुषाणि ॥ २ ॥

मुनि लोग इस पञ्चभूत सन्तति और अविद्या, काम तथा धर्मको अष्टम गिना करते हैं, मनको इन सबके बीच नवां कहा करते हैं, बुद्धिको दशवीं कहते हैं, अनन्तर आत्मा ग्यारहवां है, वह सबसे श्रेष्ठ कहके वर्णित होता है। बुद्धि निश्चय करनेवाली है और मन संशयात्मक है, वह अनन्त आत्मा कर्मानुमान निबन्धन अर्थात् सुख, दुःख लक्षणयुक्त कर्मोंके आश्रयत्वके कारण क्षेत्रसंज्ञक जीवरूपसे अनुमित होता है, सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग इन कालसंज्ञक जीवोंसे युक्त समस्त प्राणिपुञ्जको जो लोग स्वरूपसे पापरहित देखते हैं। वह मोहका अनुसरण नहीं करते। (१०-१२)

शान्तिपर्वमें २५२ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २५३ अध्याय।

व्यासदेव बोले, शास्त्रवेत्ता लोग स्थूल शरीरसे मुक्त, सूक्ष्मभूत और दुर्लक्ष्य, सूक्ष्म शरीरी आत्माको शास्त्रोक्त कर्म योगानुष्ठान आदिके जरिये दर्शन करते हैं अर्थात् योगी लोग समाधिके समय लिङ्गात्माका दर्शन किया करते हैं, जैसे सूर्यकी किरण आकाशमण्डलमें निबिड भावसे निवास करनेपर भी जैसे स्थूलदृष्टिके सहारे नहीं दीख पडती, परन्तु गुरूपदेशसे उन्हीं सर्वत्र विचरते हुए देखा जाता है, वैसेही स्थूल देहसे युक्त लिङ्ग शरीर स्थूल दृष्टि से नहीं दीखता। देहसे छूटनेपर वह अतिमानुष लिङ्ग देह सब लोकोंमें विचरती है; इसे योगी लोग देखते हैं। (१-२)

प्रतिरूपं यथैवाप्सु तापः सूर्यस्य लक्ष्यते।
सत्त्ववत्सु तथा सत्त्वं प्रतिरूपं स पश्यति ॥ ३ ॥
तानि सूक्ष्माणि सत्त्वानि विमुक्तानि शरीरतः।
स्वेन सत्त्वेन सत्त्वज्ञाः पश्यन्ति नियतेन्द्रियाः ॥ ४ ॥
स्वपतां जाग्रतां चैव सर्वेषामात्मचिन्तितम्।
प्रधानाद्वैधमुक्तानां जहतां कर्मजं रजः ॥ ५ ॥
यथाऽहनि तथा रात्रौ यथा रात्रौ तथाऽहनि।
वशे तिष्ठति सत्त्वात्मा सततं योगयोगिनाम् ॥ ६ ॥
तेषां नित्यं सदा नित्यो भूतात्मा सततं गुणैः।
सप्तभिस्त्वन्वितः सूक्ष्मैश्चरिष्णुरजरामरः ॥ ७ ॥
मनोबुद्धिपराभूतः स्वदेहपरदेहवित्।
स्वप्नेष्वपि भवत्येष विज्ञाता सुखदुःखयोः ॥ ८ ॥
तत्रापि लभते दुःखं तत्रापि लभते सुखम्।
क्रोधलोभौ तु तत्रापि कृत्वा व्यसनमर्च्छति ॥ ९ ॥

जैसे सूर्यके किरणमण्डलका प्रतिविम्ब जलमें भी दीखता है, वैसेही योगी पुरुष सत्ववन्त पुरुष मात्रमें ही प्रतिरूपसे लिङ्ग शरीरको अवलोकन किया करते हैं। संयतेन्द्रिय सत्वज्ञ योगी लोग शरीरसे विमुक्त होके उन समस्त सूक्ष्म शरीरोंको निज लिङ्ग देह स्वरूप से देखते हैं। जिन योगयुक्त पुरुषोंने आत्मामें कल्पित कामादि व्यसनोंको परित्याग किया है और जो जगत्कारक प्रकृतिका अद्वैध अर्थात् प्रकृतिके तदात्म योग ऐश्वर्यसे भी विमुक्त हुए हैं, उन्हें क्या स्वप्नके समयमें क्या जाग्रत् अवस्थामें, जैसे दिन वैसे ही रात्रिके समयमें, जैसे रात्रि वैसेही दिनके समयमें अर्थात सब अवस्था तथा सब समयमें ही लिङ्गदेह वशीभूत रहती है। (३-६)

उन सब योगियोंका जीव महत्,अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र, इन सातों गुणोंसे सदा संयुक्त रहके इन्द्रादि लोकोंमें सदा विचरते हुए तीनों कालोंमें भी मिथ्यात्व निबन्धनसे धावित होनेसे भी अजर और अमर हुआ करता है। स्वदेह और परदेहवित् योगी यदि मन तथा बुद्धिके जरिये पराभूत हो, तो वह थोडे समयमें भी सुख दुःखका अनुभव किया करता है। वह जब सपनेमें भी कभी सुख लाभ करता, कभी दुःख भोग किया करता है; तब वह क्रोध और

प्रीणितश्चापि भवति महतोऽर्थानवाप्य हि ।
करोति पुण्यं तत्रापि जीवन्निव च पश्यति ॥ १० ॥
अहोष्मान्तर्गतश्चापि गर्भत्वं समुपेयिवान् ।
दश मासान्वसन्कुक्षौ नैषोऽन्नमिव जीर्यते ॥ ११ ॥
तमेतमतितेजोंऽशं भूतात्मानं हृदि स्थितम् ।
तमोरजोभ्यामाविष्टा नानुपश्यन्ति मूर्तिषु ॥ १२ ॥
योगशास्त्रपरा भूत्वा तमात्मानं परीप्सवः ।
अनुच्छ्वासान्यमूर्तानि यानि वज्रोपमान्यपि ॥ १३ ॥
पृथग्भूतेषु सृष्टेषु चतुर्थाश्रमकर्मसु ।
समाधौ योगमेवैतच्छाण्डिल्यः शममब्रवीत् ॥ १४ ॥
विदित्वा सप्त सूक्ष्माणि षडङ्गं च महेश्वरम् ।

लोभके वशमें होकर विपद्ग्रस्त होता है, वह स्वप्न समयमें बहुत सा धन प्राप्त करके प्रसन्न होता, पुण्य कर्मोंका अनुष्ठान करता और जैसे जाग्रत् अवस्थामें सब विषयोंका दर्शन किया जाता है, वैसेही उस समयमें भी उसही के अनुरूप सब वस्तुओंको देखा करता है। (७-१०)

स्वप्नकालकी भांति जीव गर्भमें जठर उष्माके बीच शयन किया करता है। कोखके बीच दस महीनेतक वास करके भी जीव अन्नकी तरह जीर्ण नहीं होता। वह अत्यन्त तेजस्वी परमेश्वरके अंशभूत हृदयमें स्थित जीवात्माको तमोगुण और रजोगुण युक्त पुरुष देहके बीच देखनेमें समर्थ नहीं हैं। जो लोग योगशास्त्रपरायण होके उस आत्माको प्राप्त करनेकी अभिलाष करते हैं, वे अचेतन स्थूल शरीर, अमूर्त सूक्ष्म शरीर और वज्रकी भांति अर्थात् ब्रह्माके प्रलयमें भी अविनाशी कारण-शरीरोंको अतिक्रम करनेमें समर्थ होते हैं। विभिन्न रूपसे विहित संन्यास धर्मके बीच समाधिके समयमें मैंने जो यह योगका विषय कहा, शाण्डिल्य मुनिने इसे सन्यासियोंके शान्तिका हेतु कहा है। इन्द्रिय, इन्द्रियोंके विषय, मन, बुद्धि, महत्तत्व, प्रकृति और पुरुष, ये सातों सूक्ष्म विषय तथा सर्वज्ञता, तृप्ति अनादिका बोध, स्वतन्त्रता, सदा अलुप्त दृष्टि और अनन्त शक्ति, इस षडङ्गयुक्त महेश्वरको जानके, यह जगत् त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका विपरिणाम है, इसे जो लोग जानते हैं, वे गुरु और वेदान्तवचनके अनुसार परब्रह्मका दर्शन करनेमें समर्थ

प्रधानविनियोगज्ञः परं ब्रह्मानुपश्यति ॥ १९ ॥ [८९९७]

इति श्रीमहा०शान्तिपर्वणि मोक्षधर्म०शुकानुप्रश्ने त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२५३॥

व्यास उवाच— हृदि कामद्रुमश्चित्रो मोहसञ्चयसम्भवः।
क्रोधमानमहास्कन्धो विधित्सापरिषेचनः ॥ १ ॥
तस्य चाज्ञानमाधारः प्रमादः परिषेचनम्।
सोऽभ्यसूयापलाशो हि पुरा दुष्कृतसारवान् ॥ २ ॥
संमोहचिन्ताविटपः शोकशाखो भयाङ्कुरः।
मोहनीभिः पिपासाभिर्लताभिरनुवेष्टितः ॥ ३ ॥
उपासते महावृक्षं सुलुब्धास्तत्फलेप्सवः।
आयसैः संयुताः पाशैः फलदं परिवेष्ट्य तम् ॥ ४ ॥
यस्तान्पाशान्वशे कृत्वा तं वृक्षमपकर्षति।
गतः स दुःखयोरन्तं त्यजमानस्तयोर्द्वयोः ॥ ५ ॥
संरोहत्यकृतप्रज्ञः सदा येन हि पादपम्।
स तमेव ततो हन्ति विषग्रन्थिरिवातुरम् ॥ ६ ॥

होते हैं। (११-१९)

शान्तिपर्वमें २५३ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २५४ अध्याय।

व्यासदेव बोले, हृदयक्षेत्रमें मोह-मूलक एक विचित्र कामतरु विराजमान हुआ करता है; क्रोध और मान उसके महास्कन्ध, विधित्सा उसके आलवाल, अज्ञान उसका आधार है; प्रमाद उसे सिंचन करनेवाला जल, असूया उसका पत्र और वह पूर्वकृत दुष्कृतोंके जरिये सारवान् हुआ करता है। सम्मोह और चिन्ता उसके पल्लव, शोक उसकी शाखा और भय उसका अङ्कुर होता है; वह वृक्ष मोहनी पिपासारूपी लताजालके जरिये परिपूरित हुआ करता है। अत्यन्त लोभी मनुष्य लोग आयस अर्थात् लोहमयके समान दृढपाशके जरिये संयत होकर उन्हीं सब वृक्षोंके फल-लाभकी अभिलाष करके उसे घेरकर उसकी सेवा किया करते हैं। जो लोग उन सब पाशोंको वशमें करके उक्त वृक्षको छेदन करते हैं, वेही वैषयिक सुख दुःख त्यागनेकी वासना करनेपर सहजमेंही सुख दुःखसे पार होनेमें समर्थ होते हैं। (१-५)

अकृतबुद्धि मूर्ख लोग स्रक्चन्दन वनिता आदिके जरिये सदा उस काम-तरुको संवर्द्धित करते हैं, विषग्रन्थिके आतुरघातकी भांति वही स्रक्चन्दन वनिता आदिही उस वर्द्धकका विनाश

तस्यानुगतमूलस्य मूलमुद्ध्रियते बलात् ।
योगप्रसादात्कृतिना साम्येन परमासिना ॥ ७ ॥
एवं यो वेद कामस्य केवलस्य निवर्तनम् ।
बन्धं वै कामशास्त्रस्य स दुःखान्यतिवर्तते ॥ ८ ॥
शरीरं पुरमित्याहुः स्वामिनी बुद्धिरिष्यते ।
तत्त्वबुद्धेः शरीरस्थं मनो नामार्थचिन्तकम् ॥ ९ ॥
इन्द्रियाणि मनः पौरास्तदर्थं तु परा कृतिः ।
तत्र द्वौ दारुणौ दोषौ तमो नाम रजस्तथा ।
तदर्थमुपजीवन्ति पौराः सह पुरेश्वरैः ॥ १० ॥
अद्वारेण तमेवार्थं द्वौ दोषावुपजीवतः ।
तत्र बुद्धिर्हि दुर्धर्षा मनःसामान्यमश्नुते ॥ ११ ॥

किया करती हैं। कृती पुरुष योग-प्रसादसे बलपूर्वक निर्विकल्पक समाधि स्वरूप उत्तम खड्गके जरिये उस मूलानुगत महावृक्षका मूल उखाड दिया करते हैं। इस ही प्रकार जो लोग केवल कामका निवर्त्तन करना जानते हैं, वे कामशास्त्रके बन्धनको छुडाके सब दुःखोंको अतिक्रम करते हैं। महर्षि लोग भोगायतन इस शरीरको पुर कहा करते हैं; भोगजनित सुख दुःख आदि-के अभिमानित्व निबन्धन बुद्धिको इस की स्वामिनी कहते हैं। (६-९)

शरीरस्थ मन निश्चयात्मिका बुद्धिके अमात्यस्थानीय है; क्यों कि विचार-परायण मन बुद्धिको भोगके लिये इन्द्रिय विषयस्वरूप समस्त धनको अर्पण करता है, इन्द्रियें पुरवासी स्वरूप हैं, इन्द्रिय स्वरूप पौरजनोंको पालनेके लिये मनकी महती क्रियाप्रवृत्ति अर्थात् यज्ञ दान आदि रूपसे दृष्टादृष्ट फलोंको साधन करनेवाली कर्म-प्रवृत्ति हुआ करती है। राजस और तामस नाम दोनों दारुण दोष कर्मफलोंको अन्यथा करते हुए चित्त-अमात्यकी कलुषता सिद्ध करते हैं। पुरेश्वर मन, बुद्धि और अहङ्कारके सहित इन्द्रिय स्वरूप पौर गण तथा दोषयुक्त चित्त अमात्यके जरिये निर्मित कर्मफल सुखदुःख आदि-को उपजीव्य किया करता है। ऐसा होनेसे राजस और तामस दोनों दोष अविहित मार्ग अर्थात् परदारा आदि भोगके जरिये सुखादिरूपी अर्थको उप-जीव्य समझा करता है, शुद्ध सत्वमयत्व निबन्धन बुद्धि रजोगुण और सत्वगुण-के वशमें न होनेपर भी मनकी प्रधान-ताके कारण दोषकलुषित मनके सहित

पौराश्चापि मनस्त्रस्तास्तेषामपि चला स्थितिः ।
तदर्थं बुद्धिरध्यास्ते सोऽनर्थः परिषीदति ॥ १२ ॥
यदर्थं पृथगध्यास्ते मनस्तत्परिषीदति ।
पृथग्भूतं मनो बुद्ध्या मनो भवति केवलम् ॥ १३ ॥
तत्रैनं विधृतं शून्यं रजः पर्यवतिष्ठते ।
तन्मनः कुरुते सख्यं रजसा सह संगतम् ।
तं चादाय जनं पौरं रजसे संप्रयच्छति ॥ १४ ॥ [९०११]

इति श्रीमहा०शान्तिप० मोक्षधर्मप० शुकानुप्रश्ने चतुःपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२५४॥

भीष्म उवाच— भूतानां परिसंख्यानं भूयः पुत्र निशामय ।
द्वैपायनमुखाद्भ्रष्टं श्लाघया परयाऽऽनघ ॥ १ ॥

उसकी समता होजाती है। (९-११)

इन्द्रियरूपी पौरगण मनसे डरके चञ्चल होजाते हैं अर्थात् मन दुष्ट होनेपर इन्द्रियें भी दोषस्पृष्ट होकर किसी स्थानमें भी स्थैर्य अवलम्बन नहीं करतीं। दुष्टबुद्धि पुरुष जिस विषयको हितकर कहके निश्चय करता है, वह भी दुःखदायी अनर्थ होकर परिणाममें विनष्ट होता है। नष्ट अर्थ भी दुःखदायक हैं; क्यों कि बुद्धिके सहित मन अर्थहानि स्मरण करके भी अवसन्न होजाता है। जब सङ्कल्परूपसे मन बुद्धिसे पृथक् होता है, तब उसे केवल मन कहा जाता है, यथार्थमें वही बुद्धि है; इसलिये उसके तापसे बुद्धि भी सन्तापित हुआ करती है। (१२-१३)

बुद्धिमें गया हुआ दुःखका फल देने वाला रजोगुण उस बुद्धिके बीच विधृत अर्थात् प्रतिबिम्ब रूपसे स्थापित इस आत्माको आवरण करता है अर्थात् परिच्छेद परिताप आदि बुद्धिके धर्म तदुपहित आत्मामें प्रकाशित होते हैं, इससे मन रजोगुणके संग मिलकर सख्यता करता है अर्थात् प्रवृत्ति विषयमें उन्मुख होता है। संगत मन उसही आत्मा और पौरजन इन्द्रियोंको वशमें करके रजोगुणके फल दुःखके निकट अर्पण करता है, अर्थात् जैसे कोई दुष्ट मन्त्री राजा और नगरवासी प्रजाको अपने अधीनमें करके शत्रुके निकट समर्पण करता है, वैसेही राजसिक मनके जरिये आत्मा, बुद्धि और इन्द्रियां बद्ध होती हैं। (१४)

शान्तिपर्वमें २५४ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २५५ अध्याय।

भीष्म बोले, हे तात युधिष्ठिर ! आकाश आदि भूतोंका निर्द्धारण रूप जो शास्त्र द्वैपायन मुनिके मुखसे वर्णित हुआ है, हे पापरहित ! तुम अपनेको

दीप्तानलनिभः प्राह भगवान्धूमवर्चसे।
ततोऽहमपि वक्ष्यामि भूयः पुत्र निदर्शनम् ॥ २ ॥
भूमेः स्थैर्यं गुरुत्वं च काठिन्यं प्रसवार्थता।
गन्धो गुरुत्वं शक्तिश्च संघातः स्थापना धृतिः ॥ ३ ॥
अपां शैत्यं रसः क्लेदो द्रवत्वं स्नेहसौम्यता।
जिह्वाविस्यन्दनं चापि भौमानां श्रपणं तथा ॥ ४ ॥
अग्नेर्दुर्धर्षता ज्योतिस्तापः पाकः प्रकाशनम्।
शोको रागो लघुस्तैक्ष्ण्यं सततं चोर्ध्वभासिता ॥ ५ ॥
वायोरनियमस्पर्शो वादस्थानं स्वतन्त्रता।
बलं शैघ्र्यं च मोक्षं च कर्मचेष्टात्मता भवः ॥ ६ ॥
आकाशस्य गुणः शब्दो व्यापित्वं छिद्रताऽपि च।
अनाश्रयमनालम्बमव्यक्तमविकारिता ॥ ७ ॥
अप्रतीघातिता चैव भूतत्वं विकृतानि च।

परम श्लाघायुक्त समझके उसे फिर मेरे समीप सुनो, प्रकाशमान अग्निके समान अर्थात् अज्ञानसे रहित भगवान् द्वैपायनने जिसका वर्णन किया है, हे तात! मैं उसही अज्ञानको नष्ट करनेवाले शास्त्रको फिर कहता हूं। स्थैर्य, गरुआई, कठोरता, प्रसवार्थता अर्थात् धान्य आदिके उत्पत्तिकी निमित्तता, गन्ध, गुरुत्व, गन्ध ग्रहण करनेकी सामर्थ्य, श्लिष्टावयत्व, स्थापन अर्थात् मनुष्य आदिके आश्रयत्व और पञ्चभौतिक मनमें जो धृतिके अंश हैं, वे सब भूमिके गुण हैं। शीतता, क्लेद, द्रवत्व, स्नेह, सौम्यता, रसनेन्द्रिय, प्रस्रवण और भूमिसे उत्पन्न हुए चावल प्रभृतिके पचानेकी शक्ति, ये जलके गुण हैं। (१-४)

दुर्द्धर्षता; ज्योति, ताप, पाक, प्रकाश, शोक, राग, लघुता, तीक्ष्णता और सदा उर्ध्वज्वलन, ये कई एक अग्निके गुण हैं। अनुष्णाशीत स्पर्श, वागिन्द्रिय-गोलक, गमन आदि विषयोंमें स्वतन्त्रता, बल, शीघ्रता, मूत्र आदिका त्याग, उत्क्षेपण आदि कर्म, श्वास प्रश्वास आदि चेष्टा, प्राणरूपसे चिदुपाधिता और जन्म, मरण, ये कई एक वायुके गुण हैं। शब्द, व्यापकता, छिद्रता, आश्रयत्वाभाव, आश्रयान्तरशून्यता, रूपस्पर्शशून्यता निबन्धन, अव्यक्तता, अविकारिता, अप्रतिघातिता, श्रवणेन्द्रियकी उपादानता और देहान्तर्गत छिद्र स्वरूपता, ये कई एक आकाशके गुण हैं।

गुणाः पञ्चाशतं प्रोक्ताः पञ्चभूतात्मभाविताः ॥ ८ ॥
धैर्योपपत्तिर्व्यक्तिश्च विसर्गः कल्पना क्षमा ।
सदसच्चाशुता चैव मनसो नव वै गुणाः ॥ ९ ॥
इष्टानिष्टविपत्तिश्च व्यवसायः समाधिता ।
संशयः प्रतिपत्तिश्च बुद्धेः पञ्च गुणान्विदुः ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच— कथं पञ्चगुणा बुद्धिः कथं पञ्चेन्द्रिया गुणाः ।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व सूक्ष्मज्ञानं पितामह ॥ ११ ॥

भीष्म उवाच— आहुः षष्टिं बुद्धिगुणान्वै भूतविशिष्टा नित्यविषक्ताः ।
भूतविभूतीश्चाक्षरसृष्टाः पुत्र न नित्यं तदिह वदन्ति ॥ १२ ॥
तत्पुत्र चिन्ताकलिलं तदुक्तमनागतं वै तव संप्रतीह ।
भूतार्थतत्त्वं तदवाप्य सर्वं भूतप्रभावाद्भव शान्तबुद्धिः ॥ १३ ॥[९०२४]

इति श्रीमहाभारते शान्ति० मो० शुकानुप्रश्ने पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५५ ॥

पञ्चभूतोंके यही पचास गुण प्राचीन महर्षियोंके जरिये वर्णित हुए हैं । धीरज, उपपत्ति अर्थात् ऊहापोह-कौशल, स्मरण, भ्रान्ति, कल्पना अर्थात् मनोरथवृत्ति, क्षमा, वैराग्य, राग, द्वेष, और अस्थिरत्व, ये नव मनके गुण हैं । इष्ट और अनिष्ट वृत्ति विशेषका विनाश, उत्साह, चित्तकी स्थिरता, संशय और प्रतिपत्ति अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणवृत्ति, इन पांचोंको पण्डित लोग बुद्धिका गुण समझते हैं । (५—१०)

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! बुद्धि किस कारणसे पञ्चगुणान्वित हुई और इन्द्रियां ही किस लिये गुणरूपसे वर्णित हुईं; आप इस सूक्ष्म ज्ञानका सब विषय मेरे समीप वर्णन करिये (११)

भीष्म बोले, हे तात ! साधारण रीतिसे बुद्धिके पांच गुण वर्णित होनेपर भी वेदवचनके अनुसार उसे षष्टिगुण युक्त कहा जाता है; क्यों कि पञ्च भूतोंके पहले कहे हुए पचास गुण और स्वयं पञ्चभूत भी बुद्धिके गुण-स्वरूप कहे गये हैं, बुद्धि अपने पञ्च गुणोंके सहित पूर्वोक्त पचपनगुणोंसे मिलकर साठगुणोंसे संयुक्त होती है । वे सब गुण नित्य चैतन्यके संग मिलनेसे सब वृत्तियोंके जड होनेपर भी चैतन्य-सम्बन्धसे उनके ज्ञानरूपत्व व्यवहार हुआ करते हैं । सब भूतोंकी समस्त विभूति अक्षर परब्रह्मके जरिये उत्पन्न हुई है; परन्तु वह उत्पत्ति नित्य नहीं है, यह वेदमें वर्णित है । हे पुत्र ! जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके विषयमें दूसरे वादियोंने जो वेदविरुद्ध

युधिष्ठिर उवाच— य इमे पृथिवीपालाः शेरते पृथिवीतले।
पृतनामध्य एते हि गतसंज्ञा महाबलाः ॥ १ ॥
एकैकशो भीमबला नागायुतबलास्तथा।
एते हि निहताः संख्ये तुल्यतेजोबलैर्नरैः ॥ २ ॥
नैषां पश्यामि हन्तारं प्राणिनां संयुगे परम्।
विक्रमेणोपसंपन्नास्तेजोबलसमन्विताः ॥ ३ ॥
अथ चेमे महाप्राज्ञाः शेरते हि गतासवः।
मृता इति च शब्दोऽयं वर्तत्येषु गतासुषु ॥ ४ ॥
इमे मृता नृपतयः प्रायशो भीमविक्रमाः।
तत्र मे संशयो जातः कुतः संज्ञा मृता इति ॥ ५ ॥
कस्य मृत्युः कुतो मृत्युः केन मृत्युरिह प्रजाः।
हरत्यमरसंकाश तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ६ ॥
भीष्म उवाच— पुरा कृतयुगे तात राजा ह्यासीदकम्पनः।

युक्ति कही है वे विचारसे दूषित हैं; इससे तुम इस लोकमें मेरे कहे हुए नित्य सिद्ध परब्रह्मके तत्वको जानकर और ब्राह्म ऐश्वर्य प्राप्त करके शान्तबुद्धि होजाओ। (१२—१३)

शान्तिपर्वमें २५५ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २५६ अध्याय।

युद्धिष्ठिर बोले, ये जो सब महाबलवान् राजा सेनाके बीच चेतनारहित होकर पृथ्वीपर शयन कर रहे हैं, इनके बीच एक एक पुरुष अत्यन्त बलवान् थे। कोई कोई दस हजार हाथीके समान बलशाली थे; ये सब युद्धभूमिमें समबल तथा तुल्य तेजवाले वीरोंके जरिये मारे गये हैं। युद्धभूमिमें इन सब महाप्राणियोंको संहार करे, ऐसा मैं किसीको भी नहीं देखता हूं। ये सब बहुत विक्रमसे युक्त और वीर्य तथा बलसे भरे थे; तौ भी ये महाबुद्धिमान् पुरुष प्राणरहित होके पृथ्वीपर सो गये हैं, और इन सब प्राणहीन मनुष्योंके विषयमें मृत शब्द व्यवहृत होरहा है। ये सब भयङ्कर विक्रमी राजा लोग प्रायः बहुतेरे ही मर गये हैं; इसलिये इस विषयमें मुझे यह संशय उत्पन्न हुआ है, कि 'मृत' यह नाम कहांसे उत्पन्न हुआ है, हे देवतुल्य पितामह! स्थूल शरीर वा सूक्ष्म शरीर अथवा आत्मा, इन कई एकके बीच किसकी मृत्यु होती है। किस पुरुषसे उत्पन्न होकर मृत्यु किस लिये सब प्रजा समूहको हरण करती है। आप मेरे समीप उसे ही वर्णन करिये। (१-६)

स शत्रुवशमापन्नः संग्रामे क्षीणवाहनः ॥ ७ ॥
तस्य पुत्रो हरिर्नाम नारायणसमो बले।
स शत्रुभिर्हतः संख्ये सबलः सपदानुगः ॥ ८ ॥
स राजा शत्रुवशगः पुत्रशोकसमन्वितः।
यदृच्छया शान्तिपरो ददर्श भुवि नारदम् ॥ ९ ॥
तस्मै स सर्वमाचष्ट यथावृत्तं जनेश्वरः।
शत्रुभिर्ग्रहणं संख्ये पुत्रस्य मरणं तथा ॥ १० ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा नारदोऽथ तपोधनः।
आख्यानमिदमाचष्ट पुत्रशोकापहं तदा ॥ ११ ॥
नारद उवाच— राजन् शृणु समाख्यानमद्येदं बहुविस्तरम्।
यथावृत्तं श्रुतं चैव मयेदं वसुधाधिप ॥ १२ ॥
प्रजाः सृष्ट्वा महातेजाः प्रजासर्गे पितामहः।
अतीव वृद्धा बहुला नामृष्यत पुनः प्रजाः ॥ १३ ॥
नह्यन्तरमभूत्किंचित्क्वचिज्जन्तुभिरच्युत।
निरुच्छ्वासमिवोन्नद्धं त्रैलोक्यमभवन्नृप ॥ १४ ॥

भीष्म बोले, हे तात ! पहिले समय सत्ययुगमें अकम्पन नाम एक राजा था, वह युद्धमें वाहनरहित होकर शत्रुओंके वशमें होगया। बल विक्रममें नारायणके समान उसके हरिनाम एक पुत्र था, वह युद्धमें शत्रुओंके जरिये सेनाके सहित मारा गया। शत्रुओंके वशीभूत और पुत्रशोकसे युक्त राजा अनुकम्पनने दैवसंयोगसे शान्तिपरायण होकर एक बार पृथ्वीमण्डलपर महर्षि नारदका दर्शन किया। उस राजाने पुत्रका मरना और शत्रुओंके जरिये जिस प्रकार बन्धन प्राप्त हुआ था, वह सब उनके निकट निवेदन किया। अनन्तर तपोधन नारदमुनि उनका वह सब वचन सुनके उस समय पुत्रशोकको दूर करनेवाला यह लम्बायमान आख्यान कहने लगे। (७-११)

नारदमुनि बोले, हे पृथ्वीनाथ महाराज ! यह बहुत बडा उपाख्यान जिस प्रकार कहा गया था, और मैंने जैसे सुना है, उसे इस समय तुम सुनो। महातेजस्वी पितामहने प्रजा उत्पन्न करनेके समय बहुतसी प्रजाकी सृष्टि की; उस समय वे सब प्रजा अत्यन्त वृद्धिमान् हुई, परन्तु कोई पुरुष मृत्युके वशीभूत न हुए। उस समय कोई स्थान भी प्राणियोंसे सूना नहीं था,

तस्य चिन्ता समुत्पन्ना संहारं प्रति भूपते ।
चिन्तयन्नाध्यगच्छच्च संहारे हेतुकारणम् ॥ १५ ॥
तस्य रोषान्महाराज खेभ्योऽग्निरुदतिष्ठत ।
तेन सर्वा दिशो राजन् ददाह स पितामहः ॥ १६ ॥
ततो दिवं भुवं खं च जगच्च सचराचरम् ।
ददाह पावको राजन् भगवत्कोपसंभवः ॥ १७ ॥
तत्रादह्यन्त भूतानि जङ्गमानि ध्रुवाणि च ।
महता क्रोधवेगेन कुपिते प्रपितामहे ॥ १८ ॥
ततोऽध्वरजटः स्थाणुर्वेदाध्वरपतिः शिवः ।
जगाम शरणं देवो ब्रह्माणं परवीरहा ॥ १९ ॥
तस्मिन्नभिगते स्थाणौ प्रजानां हितकाम्यया ।
अब्रवीत्परमो देवो ज्वलन्निव तदा शिवम् ॥ २० ॥
करवाण्यद्य कं कामं वरार्होऽसि मतो मम ।
कर्ता ह्यस्मि प्रियं शम्भो तव यद्धृदि वर्तते ॥२१॥ [९०४५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मृत्युप्रजापतिसंवादोपक्रमे षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५६ ॥

मानो तीनों लोक प्रजासमूहसे भर गये थे; इसलिये प्रजापतिके अन्तःकरणमें संहारकी चिन्ता उत्पन्न हुई; उन्होंने चिन्ता करते ही संहार विषयमें हेतुयुक्त कारण पाया। हे महाराज ! क्रोध वशसे उनके इन्द्रियछिद्रोंसे अग्नि उत्पन्न हुई। हे राजन् ! पितामह उस ही अग्निके जरिये सब दिशाओंको जलानेमें प्रवृत्त हुए। (१२—१६)

हे महाराज ! अनन्तर ब्रह्माके कोपसे उत्पन्न हुई अग्नि द्युलोक, और आकाश-मण्डलमें स्थित ग्रह, नक्षत्र तथा स्थावर जङ्गमके सहित समस्त जगत्को जलाने लगी। पितामहके महाक्रोधके वेगसे कुपित होनेपर उनकी क्रोधाग्निसे स्थावर जङ्गम सब जीव जलने लगे। तब पिंगल-वर्ण जटासे युक्त वेदपति और यज्ञपति परवीरहन्ता महादेव पितामहके निकट उपस्थित हुए, जब भगवान् महादेव प्रजासमूहके हितकी इच्छासे पितामहके निकट उपस्थित हुए; उस समय मानो ब्रह्मा तेजसे प्रज्वलित होकर महादेवसे बोले, हे शम्भु ! आज मैं तुम्हें वर ग्रहण करनेके योग्य समझता हूं; इस-लिये तुम्हारी कौनसी अभिलाषा पूरी करूं; तुम्हारे हृदयमें जो प्रिय विषय

स्थाणुरुवाच— प्रजासर्गनिमित्तं मे कार्यवत्तामिमां प्रभो।
विद्धि सृष्टास्त्वया हीमा मा कुप्याऽसां पितामह॥१॥
तव तेजोऽग्निना देव प्रजा दह्यन्ति सर्वशः।
ता दृष्ट्वा मम कारुण्यं मा कुप्याऽसां जगत्प्रभो॥२॥
प्रजापतिरुवाच- न कुप्ये न च मे कामो न भवेयुः प्रजा इति।
लाघवार्थं धरण्यास्तु ततः संहार इष्यते॥३॥
इयं हि मां सदा देवी भारार्ता समचोदयत्।
संहारार्थं महादेव भारेणाप्सु निमज्जति॥४॥
यदाऽहं नाधिगच्छामि बुद्ध्या बहु विचारयन्।
संहारमासां वृद्धानां ततो मां क्रोध आविशत्॥५॥
स्थाणुरुवाच— संहारार्थं प्रसीदस्व मा क्रुधो विबुधेश्वर।
मा प्रजाः स्थावरं चैव जङ्गमं च व्यनीनशत्॥६॥
पल्वलानि च सर्वाणि सर्वं चैव तृणोलपम्।
स्थावरं जङ्गमं चैव भूतग्रामं चतुर्विधम्॥७॥

विद्यमान है, आज मैं उसे पूर्ण करूंगा। (१७-२१)

शान्तिपर्वमें २५६ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २५७ अध्याय।

महादेव बोले, हे प्रभु पितामह! प्रजा सृष्टिके लिये ही मेरी यह प्रार्थना समझिये; आपने समस्त प्रजाकी सृष्टि की है; इसलिये इनके ऊपर कोप न करिये। हे देव जगत्प्रभु! आपके तेजरूपी अग्निसे सारी प्रजा सब भांतिसे जली जाती है, उसे देखके मुझे करुणा हुई है, इसलिये आप इन लोगोंके ऊपर क्रोध न करिये। (१-२)

ब्रह्मा बोले, मैंने क्रोध नहीं किया है और सब प्रजा न रहे, यह भी मेरी इच्छा नहीं है। केवल पृथ्वीके भारको हलका करनेके ही लिये इनके संहारकी इच्छा करता हूं। हे महादेव! इस भारसे दुःखित वसुन्धराने बहुतसे बोझके कारण जलमें डूबती हुई सदा संहारके लिये मुझे उत्तेजित किया है, मैंने इन वृद्धिको प्राप्त हुई प्रजासमूहके संहारके विषयमें जब बुद्धिसे बहुत विचार करके भी कोई उपाय न देख सका। तब मेरे शरीरसे क्रोध उत्पन्न हुआ। (३-५)

महादेव बोले, हे विबुधेश्वर! आप प्रसन्न होइये, प्रजाके संहारके निमित्त क्रोध न करिये स्थावर, जंगम जीव विनष्ट न होवें, समस्त पल्वल तथा

तदेतद्भस्मसाद्भूतं जगत्सर्वमुपप्लुतम् ।
प्रसीद भगवन्साधो वर एष वृतो मया ॥ ८ ॥
नष्टा न पुनरेष्यन्ति प्रजा ह्येताः कथंचन ।
तस्मान्निवर्ततामेतत्तेन स्वेनैव तेजसा ॥ ९ ॥
उपायमन्यं संपश्य भूतानां हितकाम्यया ।
यथाऽमी जन्तवः सर्वे न दह्येरन्पितामह ॥ १० ॥
अभावं हि न गच्छेयुरुच्छिन्नप्रजनाः प्रजाः ।
अधिदैवे नियुक्तोऽस्मि त्वया लोकेश्वरेश्वर ॥ ११ ॥
त्वद्भवं हि जगन्नाथ एतत्स्थावरजङ्गमम् ।
प्रसाद्य त्वां महादेव याचाम्यावृत्तिजाः प्रजाः ॥१२॥
नारद उवाच— श्रुत्वा तु वचनं देवः स्थाणोर्नियतवाङ्मनाः ।
तेजस्तत्संनिजग्राह पुनरेवान्तरात्मनि ॥ १३ ॥
ततोऽग्निमुपसंगृह्य भगवाँल्लोकपूजितः ।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कल्पयामास वै प्रभुः ॥ १४ ॥

बल्वज, तृण वा स्थावर जङ्गम आदि चार प्रकारके उत्पन्न हुए जीव, ये सभी भस्मप्राय हुए हैं, इससे सब जगत् नष्ट हुआ है। हे साधु! हे भगवन्! इसलिये आप प्रसन्न होइये, मैंने यही वर मांगा, ये सब प्रजा जो कि नष्ट हुई हैं, वे किसी प्रकार फिर आगमन न करेंगी, इससे निज तेजके जरिये ही इस तेजकी निवृत्ति होवे। हे पितामह! ये सब जन्तु जिसमें भस्म न हो जावें, आप जीवोंकी हितकामनासे वैसा दूसरा उपाय अवलोकन करिये, ये लोकनाथेश्वर! आपने मुझे अहङ्काराधिष्ठातृत्वमें नियुक्त किया है; इससे प्रजासमूहका प्रजननके उच्छेद निबन्धन से जिसमें अभाव न हो, आप वैसेही किसी उपायका विधान करिये। हे नाथ! यह स्थावर जङ्गम जगत् आपसे ही उत्पन्न हुआ है। हे देवोंके देव! इसलिये मैं आपको प्रसन्न करके यह प्रार्थना करता हूं, कि सब जीव मरनेके अनन्तर बार बार जन्म ग्रहण किया करें। (६–१२)

नारदमुनि बोले, नियत वाक्य और संयतचित्त देव प्रजापतिने महादेवके उक्त वचनको सुनकर अन्तरात्मामें उस तेजको समेट लिया। अनन्तर सर्वलोकपूजित भगवान् प्रभु पितामहने अग्निको उपसंहार करके जीवोंके जन्म और मरणकी व्यवस्था कर दी। महानुभाव

उपसंहरतस्तस्य तमग्निं रोषजं तदा।
प्रादुर्बभूव विश्वेभ्यः खेभ्यो नारी महात्मनः ॥ १५ ॥
कृष्णरक्ताम्बरधरा कृष्णनेत्रतलान्तरा।
दिव्यकुण्डलसंपन्ना दिव्याभरणभूषिता ॥ १६ ॥
सा विनिःसृत्य वै खेभ्यो दक्षिणामाश्रिता दिशम्।
ददृशाते च तां कन्यां देवौ विश्वेश्वरावुभौ ॥ १७ ॥
तामाहूय तदा देवो लोकानामादिरीश्वरः।
मृत्यो इति महीपाल जहि चेमाः प्रजा इति ॥ १८ ॥
त्वं हि संहारबुद्ध्या मे चिन्तिता रुषितेन च।
तस्मात्संहर सर्वास्त्वं प्रजाः सजडपण्डिताः ॥ १९ ॥
अविशेषेण चैव त्वं प्रजाः संहर कामिनि।
मम त्वं हि नियोगेन श्रेयः परमवाप्स्यसि ॥ २० ॥
एवमुक्ता तु सा देवी मृत्युः कमलमालिनी।
प्रदध्यौ दुःखिता बाला साश्रुपातमतीव च ॥ २१ ॥
पाणिभ्यां चैव जग्राह तान्यश्रूणि जनेश्वरः।

प्रजापतिके क्रोधज अग्निको उपसंहार करनेके समय उनके निखिल इन्द्रिय-रन्ध्रोंसे एक स्त्री उत्पन्न हुई। वह नारी काले और लाल वस्त्र पहने हुए दिव्य कुण्डलोंसे युक्त दिव्य आभूषणोंसे भूषित और उसके दोनों नेत्र और करतल काले थे; वह इन्द्रियछिद्रोंसे निकलते ही उनकी दहनी ओर बैठ गई। विश्वेश्वर ब्रह्मा और रुद्र दोनों ही उस कन्याको देखने लगे। (१६-१७)

हे महाराज! उस समय सब लोकोंके ईश्वर आदिभूत ब्रह्मा उस कन्याको मृत्यु नामसे आवाहन करके बोले, तुम इन सब प्रजाको संहार करो। मैं रुष्ट होकर संहार करनेके लिये तेरा स्मरण किया। इसलिये तू मूर्खोंको आरंभ करके पंडितपर्यंत सभी प्रजाका संहार कर। हे कामिनी! तुम शीघ्र प्रजाका संहार करनेमें प्रवृत्त होजाओ; मेरे नियोगके अनुसार तुम्हारा परम कल्याण होगा। जब कमलमालिनी मृत्यु देवीसे प्रजापतिने ऐसा कहा, तब वह कन्या अत्यन्त दुःखित होकर आंसू बहाती हुई चिन्ता करने लगी। मृत्युके आंसू गिरनेसे इकबारगी सब भूतोंका नाश न होजाय, इस ही आशङ्कासे प्रजापतिने अपने दोनों हाथकी अञ्जलीमें उसके आंसुओंको ग्रहण किया और मनुष्योंके

मानवानां हितार्थाय ययाचे पुनरेव ह ॥ २२ ॥ [९०६७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मृत्युप्रजापतिसंवादे सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५७ ॥

नारद उवाच— विनीय दुःखमबला साऽऽत्मनैवायतेक्षणा ।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा तमेवावार्जिता तदा ॥ १ ॥
त्वया सृष्टा कथं नारी मादृशी वदतां वर ।
रौद्रकर्माभिजायेत सर्वप्राणिभयंकरी ॥ २ ॥
बिभेम्यहमधर्मस्य धर्म्यमादिश कर्म मे ।
त्वं मां भीतामवेक्षस्व शिवेनेक्षस्व चक्षुषा ॥ ३ ॥
बालान्वृद्धान्वयस्थांश्च न हरेयमनागसः ।
प्राणिनः प्राणिनामीश नमस्तेऽस्तु प्रसीद मे ॥ ४ ॥
प्रियान्पुत्रान्वयस्यांश्च भ्रातॄन्मातॄः पितॄनपि ।
अपध्यास्यन्ति यद्येवं मृतास्तेषां बिभेम्यहम् ॥ ५ ॥
कृपणाश्रुपरिक्लेदो दहेन्मां शाश्वतीः समाः ।
तेभ्योऽहं बलवद्भीता शरणं त्वामुपागता ॥ ६ ॥
यमस्य भवने देव पात्यन्ते पापकर्मिणः ।

हितके लिये फिर उसके निकट प्रार्थना की । (१८-२२)

शान्तिपर्वमें २५७ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें २५८ अध्याय ।

नारदमुनि बोले, यह विशालनयनी अबला स्वयं ही दुःख दूर करके उस समय आवर्जित लताकी भांति हाथ जोडके बोली, हे वक्तृवर ! आपने मेरे समान स्त्री क्यों उत्पन्न की; मेरे समान अबलाके जरिये भयङ्कर रौद्रकर्म किस प्रकार साधित होवेगा । मैं अधर्मसे अत्यन्त डरती हूं; इसलिये आप मेरे विषयमें धर्मविहित कर्म करनेकी आज्ञा करिये; आप मुझे भयार्त्त देख रहे हैं; इससे कल्याणकारी नेत्रसे अवलोकन करिये । हे प्रजेश्वर ! मैं निरपराधिनी बाला हूं, बूढे वा युवा प्राणियोंको हरण न कर सकूंगी, मैं आपको नमस्कार करती हूं, आप मेरे ऊपर प्रसन्न होइये । जिसके प्रिय पुत्र, सखा, भाई, माता और पिता आदिको मैं हरण करूंगी वह यदि मुझे शाप देवें, उस ही निमित्त मैं अत्यन्त भयभीत हुई हूं; दुःखित प्राणियोंकी आंखोंके आंसू मुझे सदा जलावेंगे, इसलिये मैं वैसे प्राणियोंसे अत्यन्त भयभीत होकर आपकी शरणा-

प्रसादये त्वां वरद प्रसादं कुरु मे प्रभो ॥ ७ ॥
एतदिच्छाम्यहं कामं त्वत्तो लोकपितामह।
इच्छेयं त्वत्प्रसादार्थं तपस्तप्तुं महेश्वर ॥ ८ ॥
पितामह उवाच- मृत्यो संकल्पिता मे त्वं प्रजासंहारहेतुना।
गच्छ संहर सर्वास्त्वं प्रजा मा च विचारय ॥ ९ ॥
एतदेवमवश्यं हि भविता नैतदन्यथा।
क्रियतामनवद्याङ्गि यथोक्तं मद्वचोऽनघे ॥ १० ॥
एवमुक्ता महाबाहो मृत्युः परपुरंजय।
न व्याजहार तस्थौ च प्रह्वा भगवदुन्मुखी ॥ ११ ॥
पुनः पुनरथोक्ता सा गतसत्त्वेव भामिनी।
तूष्णीमासीत्ततो देवो देवानामीश्वरेश्वरः ॥ १२ ॥
प्रससाद किल ब्रह्मा स्वयमेवात्मनाऽऽत्मनि।
स्मयमानश्च लोकेशो लोकान्सर्वानवैक्षत ॥ १३ ॥
निवृत्तरोषे तस्मिंस्तु भगवत्यपराजिते।
सा कन्याऽथ जगामास्य समीपादिति नः श्रुतम् ॥१४॥

गत हुई हूं। हे देव! पाप कर्म करनेवाले मनुष्य ही यम लोकमें गमन करें; हे वरदायक! इससे आप मुझपर कृपा करिये। हे लोकपितामह महेश्वर! मैं आपके निकट यही प्रार्थना करती हूं, कि आपकी प्रसन्नताके लिये मुझे तपस्या करनेकी इच्छा है, आप इस विषयमें आज्ञा करिये। (१—८)

ब्रह्मा बोले, हे मृत्यु! मैंने प्रजा संहार करनेके लिये तुम्हें उत्पन्न किया है, इससे जाके सब प्रजाको संहार करो, इस विषयमें और वितर्क मत करो; मैंने जैसा सङ्कल्प किया है, वह अवश्य वैसा ही होगा, उसमें कभी उलट फेर न होगा। हे पापरहित अनिन्दिते! मैंने जो वचन कहा है, उसे प्रतिपालन करो। हे पराये देशको जीतनेवाले महाबाहु महाराज! मृत्यु प्रजापतिका ऐसा वचन सुनके कुछ भी न बोली, केवल नम्रभावसे भगवान्‌के निकट सिर झुकाकर, स्थिति करने लगी; बार बार कहनेपर भी जब वह भामिनी चेतनारहितकी भांति चुपी साध गई; तब देवेश्वर ब्रह्मा आपसे आप ही प्रसन्न हुए और उन लोकनाथने विस्मित होकर सब लोकोंको देखा। अनन्तर उन पराजयरहित भगवान्‌का क्रोध निवृत्त होनेपर वह कन्या उनके निकटसे चली गई, ऐसा

अपसृत्याप्रतिश्रुत्य प्रजासंहरणं तदा ।
त्वरमाणेव राजेन्द्र मृत्युर्धेनुकमभ्यगात् ॥ १५ ॥
सा तत्र परमं देवी तपोऽचरत दुश्चरम् ।
समा ह्येकपदे तस्थौ दश पद्मानि पञ्च च ॥ १६ ॥
तां तथा कुर्वतीं तत्र तपः परमदुश्चरम् ।
पुनरेव महातेजा ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥
कुरुष्व मे वचो मृत्यो तदनादृत्य सत्वरा ।
तथैवैकपदे तात पुनरन्यानि सप्त सा ॥ १८ ॥
तस्थौ पद्मानि षट् चैव पञ्च द्वे चैव मानद ।
भूयः पद्मायुतं तात मृगैः सह चचार सा ॥ १९ ॥
द्वे चायुते नरश्रेष्ठ वाय्वाहारा महामते ।
पुनरेव ततो राजन्मौनमातिष्ठदुत्तमम् ॥ २० ॥
अप्सु वर्षसहस्राणि सप्त चैकं च पार्थिव ।
ततो जगाम सा कन्या कौशिकीं नृपसत्तम ॥ २१ ॥
तत्र वायुजलाहारा चचार नियमं पुनः ।

हमने सुना है । (९-१४)

हे राजेन्द्र ! मृत्यु उस समय वहांसे गमन करके प्रजा संहार विषयको अनंगीकार करती हुई शीघ्रताके सहित धेनुक तीर्थमें गई, वह देवी धेनुक तीर्थमें परम दुष्कर तपस्या करनेमें प्रवृत्त हुई । वह पन्दरह पद्म वर्षपरिमाणसे एक चरणसे खडी होके स्थिति करने लगी । जब मृत्यु उस स्थानमें इस प्रकार दुष्कर तपस्या कर रही थी, उस समय महातेजस्वी ब्रह्मा फिर उससे यह वचन बोले, हे मृत्यु ! मेरा वचन प्रतिपालन करो । मृत्यु उनके वचनका अनादर करके शीघ्रतापूर्वक फिर सात पद्म वर्ष परिमाण एक चरणसे खडी रही । हे मानद ! इसी प्रकार पर्याय क्रमसे उसने तेरह पद्म वर्ष व्यतीत किया । शेषमें वह फिर अयुतपद्म वर्ष पर्यन्त मृगसमूहोंके सहित घूमती रही । (१५-१९)

हे महाबुद्धिमान् महाराज ! मृत्यु वीस हजार वर्ष तक वायु पीके रही थी। हे राजन् ! अनन्तर उसने अत्यन्त कठोर मौनव्रत अवलम्बन किया, सात हजार एक वर्षतक जलमें निवास किया । हे नृपसत्तम ! अनन्तर उस कन्याने गण्डकी नदीमें गमन किया, वहां वायु और जल पीके फिर नियमाचरण करने लगी,

ततो ययौ महाभागा गङ्गां मेरुं च केवलम् ॥ २२ ॥
तस्थौ दार्विव निश्चेष्टा प्रजानां हितकाम्यया ।
ततो हिमवतो मूर्ध्नि यत्र देवाः समीजिरे ॥ २३ ॥
तत्राङ्गुष्ठेन राजेन्द्र निखर्वमपरं ततः ।
तस्थौ पितामहं चैव तोषयामास यत्नतः ॥ २४ ॥
ततस्तामब्रवीत्तत्र लोकानां प्रभवाप्ययः ।
किमिदं वर्तते पुत्रि क्रियतां मम तद्वचः ॥ २५ ॥
ततोऽब्रवीत्पुनर्मृत्युर्भगवन्तं पितामहम् ।
न हरेयं प्रजा देव पुनश्चाहं प्रसादये ॥ २६ ॥
तामधर्मभयाद्भीतां पुनरेव प्रयाचतीम् ।
तदाऽब्रवीद्देवदेवो निगृह्येदं वचस्ततः ॥ २७ ॥
अधर्मो नास्ति ते मृत्यो संयच्छेमाः प्रजाः शुभे ।
मया ह्युक्तं मृषा भद्रे भविता नेह किंचन ॥ २८ ॥
धर्मः सनातनश्च त्वामिहैवानुप्रवेक्ष्यति ।
अहं च विबुधाश्चैव त्वद्धिते निरताः सदा ॥ २९ ॥
इममन्यं च ते कामं ददानि मनसेप्सितम् ।

अन्तमें वह महाभागा गङ्गानदी और सुमेरु पर्वतपर गई। वहां प्रजासमूहके हितकामनाके लिये स्थाणुकी भांति केवल निश्चेष्ट होरही। हे राजेन्द्र! अनन्तर हिमालयकी शिखरपर जहां कि देवताओंने यज्ञ किया था; वहांपर वह निखर्व वर्ष पर्यन्त अंगूठेके बल स्थित रही और परम यत्नसे प्रजापतिको प्रसन्न किया। उस समय सब लोकोंकी सृष्टि और प्रलयके कारण प्रजापति उससे बोले, हे पुत्री! यह क्या होरहा है? मेरा पहला वचन प्रतिपालन करो। (२०-२५)

पितामहका वचन सुनके मृत्युने उन भगवान्से फिर कहा, हे देव! प्रजासमूहका संहार न करूंगी, मैं फिर आपको प्रसन्न करती हूं। देवोंके देव पितामहने उस कन्याको अधर्मके भयसे डरी हुई तथा फिर प्रार्थना करती हुई देख निज वाक्यका निग्रह करके यह वचन बोले, हे शुभे! तुम इन सब प्रजाको संयत करो, इससे तुम्हें अधर्म न होगा। हे कल्याणि! मैंने जो कुछ कहा है, वह मिथ्या न होगा; सनातन धर्म इस समय तुम्हें अवलम्बन करेगा; मैं तथा दूसरे देवता लोग सब कोई तुम्हारे

न त्वां दोषेण यास्यन्ति व्याधिसंपीडिताः प्रजाः ॥३०॥
पुरुषेषु स्वरूपेण पुरुषस्त्वं भविष्यसि।
स्त्रीषु स्त्रीरूपिणी चैव तृतीयेषु नपुंसकम् ॥ ३१ ॥
सैवमुक्ता महाराज कृताञ्जलिरुवाच ह।
पुनरेव महात्मानं नेति देवेशमव्ययम् ॥ ३२ ॥
तामब्रवीत्तदा देवो मृत्यो संहर मानवान्।
अधर्मस्ते न भविता तथाध्यास्याम्यहं शुभे ॥ ३३ ॥
यानश्रुबिन्दून्पतितानपश्यं ये पाणिभ्यां धारितास्ते पुरस्तात्।
ते व्याधयो मानवान् घोररूपाः प्राप्ते काले कालयिष्यन्ति मृत्यो ॥३४॥
सर्वेषां त्वं प्राणिनामन्तकाले कामक्रोधौ सहितौ योजयेथाः।
एवं धर्मस्त्वामुपैष्यत्यमेयो न चाधर्मं लप्स्यसे तुल्यवृत्तिः ॥ ३५ ॥
एवं धर्मं पालयिष्यस्यथो त्वं न चात्मानं मज्जयिष्यस्यधर्मे।
तस्मात्कामं रोचयाभ्यागतं त्वं संयोज्याथो संहरस्वेह जन्तून् ॥३६॥

हितमें रत रहेंगे। तुम्हारी यह अभिलापा तथा और जो कुछ तुम्हारे मनमें अभिलषित विषय है; उसे प्रदान करता हूं; व्याधिसे पीडित प्रजा तुम्हें दोषी न करेंगी! तुम प्रतिपुरुषमें निज स्वरूपसे पुरुषत्वको प्राप्त होगी; स्त्रियोंमें स्त्रीरूपी होगी और नपुंसकोंमें नपुंसकत्व लाभ करोगी। (२६-३१)

हे महाराज! मृत्यु प्रजापतिका ऐसा वचन सुनके फिर उस अव्यय महात्मा देवेश्वरके समीप हाथ जोडके प्रजासंहारके विषयमें अनङ्गीकार वचन ही कहने लगी। देव पितामह उस समय उससे बोले, हे मृत्यु! तुम मनुष्योंको संहार करो। हे शुभे! जिसमें तुम्हें अधर्म न हो, मैं उसही उपायको सोचूंगा। हे मृत्यु! तुम्हारे जिन सब आंसुओंकी बूंदोंको गिरती हुई देखके मैंने तुम्हारे सम्मुखमें ही अञ्जली धारण की थीं, वेही भयङ्कर व्याधि होकर समय उपस्थित होनेपर मनुष्योंको तुम्हारे वशीभूत करेंगी। तुम सब प्राणियोंके अन्तकालमें इकबारगी मरणके निदान काम और क्रोधको प्रेरणा करोगी; ऐसा होनेसे नित्य धर्म तुम्हें अवलम्बन करेगा अर्थात् काम क्रोधको प्रकट कर उसहीके जरिये जीवोंका संहार करके तुम रागद्वेषसे रहित होनेके कारण अधर्मभाजन न होगी तुम इस ही प्रकार धर्म पालन करोगी, किसी भांति आत्माको अधर्ममें निमग्न न करोगी; इसलिये तुम इच्छानुसार निज अधिकारकी

सा वै तदा मृत्युसंज्ञापदेशाद्भीता शापाद्बाढमित्यब्रवीत्तम् ।
अथो प्राणान्प्राणिनामन्तकाले कामक्रोधौ प्राप्य निर्मोह्य हन्ति ॥३७॥
मृत्योर्ये ते व्याधयश्चाश्रुपाता मनुष्याणां रुज्यते यैः शरीरम् ।
सर्वेषां वै प्राणिनां प्राणनान्ते तस्माच्छोकं मा कृथा बुद्धय बुद्ध्या ॥३८॥
सर्वे जीवाः प्राणिनां प्राणनान्ते गत्वा वृत्ताः सन्निवृत्तास्तथैव ।
एवं सर्वे मानवाः प्राणनान्ते गत्वा वृत्ता देववद्राजसिंह ॥ ३९ ॥
वायुर्भीमो भीमनादो महौजाः स सर्वेषां प्राणिनां प्राणभृतः ।
नानावृत्तिर्देहिनां देहभेदे तस्माद्वायुर्देवदेवो विशिष्टः ॥ ४० ॥
सर्वे देवा मर्त्यसंज्ञाविशिष्टाः सर्वे मर्त्या देवसंज्ञाविशिष्टाः ।
तस्मात्पुत्रं मा शुचो राजसिंह पुत्रः स्वर्गं प्राप्यते मोदते ह ॥४१॥
एवं मृत्युर्देवसृष्टा प्रजानां प्राप्ते काले संहरन्ती यथावत् ।

अभिलाष करो और कामको प्रकट करके अब जीवोंके संहार करनेमें प्रवृत्त होजाओ। (३२—३६)

मृत्यु नामी कामिनीने उस समय शापभयसे डरके ब्रह्मासे बोली, "वैसा ही करूंगी" अनन्तर वह प्राणियोंके अन्तकालमें काम क्रोधको प्रेरणा कर और सबको मोहित करके प्राणियोंका नाश किया करती है। पहले मृत्युके जो सब आंसू गिरे थे, वेही व्याधि स्वरूप हुए हैं, उन्हीं व्याधियोंके जरिये मनुष्योंका शरीर रोगयुक्त हुआ करता है, इससे प्राणियोंके जीवन नष्ट होनेपर शोक करना उचित नहीं है, इसलिये तुम शोक मत करो। विचारके जरिये यथार्थ विषय मालूम करो। हे राजन्! जैसे इन्द्रियां सुषुप्ति अवस्थामें सद्वस्तु के संग लीन होके जाग्रत् अवस्थामें फिर लौटती हैं, वैसेही मनुष्य लोग जीवन शेष होनेपर गमन करके इन्द्रियोंकी भांति पुनरागमन किया करते हैं। (३७—३९)

भयङ्कर शब्दसे युक्त महा तेजस्वी भयानक वायु सब प्राणियोंका प्राणभूत है, वह वायु देहधारियोंके देहभेदसे नाना वृत्ति अर्थात् अनेक शरीरगत हुआ करता है; इसलिये वायुही सब इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ है। देवता लोग पुण्य क्षीण होनेसे मनुष्य होते और मनुष्य पुण्यात्मा होनेसे देवत्व लाभ करते हैं। हे राजन्! इसलिये पुत्रके निमित्त शोक मत करो, तुम्हारा पुत्र स्वर्गलाभ करके आनन्दित होरहा है। इसही प्रकार देवसृष्ट मृत्यु समय उपस्थित होनेपर प्रजाको संहार करती है, उसके वेही सब आंसू व्याधि होकर समयके अनु-

तस्याश्चैव व्याधयस्तेऽश्रुपाताः प्राप्ते काले संहरन्तीह जन्तून् ॥४२॥[९१०९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मृत्युप्रजापतिसंवादे अष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५८ ॥

युधिष्ठिर उवाच- इमे वै मानवाः सर्वे धर्मं प्रति विशङ्किताः ।
कोऽयं धर्मः कुतो धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
धर्मस्त्वयमिहार्थः किममुत्रार्थोऽपि वा भवेत् ।
उभयार्थो हि वा धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

भीष्म उवाच- सदाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम् ।
चतुर्थमर्थमित्याहुः कवयो धर्मलक्षणम् ॥ ३ ॥
अपि ह्युक्तानि धर्म्याणि व्यवस्यन्त्युत्तरावरे ।
लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः ॥ ४ ॥
उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च ।
अलब्ध्वा निपुणं धर्मं पापः पापेन युज्यते ॥ ५ ॥
न च पापकृतः पापान्मुच्यन्ते केचिदापदि ।

सार जीवोंको हरण किया करते हैं । (४०-४२)

शान्तिपर्वमें २५८ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २५९ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! ये सब मनुष्य आर्य, जैन, म्लेच्छ आदि शास्त्रीय धर्मके नानात्व निबन्धनसे उस विषयमें सन्देहयुक्त होते हैं; इससे धर्मका स्वरूप और लक्षण क्या है । तथा कहांसे धर्मकी उत्पत्ति हुआ करती है, आप मेरे समीप वर्णन करिये; और धर्म इस लोकके लिये, वा परलोकके लिये अथवा दोनों लोकोंके निमित्त है, यह भी आप मुझसे विशेष रीतिसे कहिये है । (१—२)

भीष्म बोले, वेद, स्मृति और सदाचार ये तीन प्रकार धर्मके लक्षण हैं, और प्रयोजनको भी पण्डित लोग चतुर्थ लक्षण कहा करते हैं । महर्षि लोग धर्मके निमित्त हितकर कर्मोंको न्यूनाधिक भावसे निश्चय करते हैं, गार्हस्थ्य आश्रममें भी मोक्ष होती है, आलसी लोग संन्यास अवलम्बन करते हैं, त्याग करनेसे ही मुक्ति हुआ करती है; विषयलम्पट मनुष्य गार्हस्थ्याश्रमकी अभिलाष करते हैं, ऐसी शंकाएं होनेपर निश्चय यह है कि लोकयात्रा के लिये धर्मका नियम निर्णीत हुआ है । इस लोक और परलोक दोनों ओर धर्मके फल दीख पडते हैं । पापी मनुष्य निपुण

अपापवादी भवति यथा भवति धर्मकृत् ।
धर्मस्य निष्ठा त्वाचारस्तमेवाश्रित्य भोत्स्यसे ॥ ६ ॥
यथाधर्मसमाविष्टो धनं गृह्णाति तस्करः ।
रमते निर्हरंस्तेनः परवित्तमराजके ॥ ७ ॥
यदाऽस्य तद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति ।
तदा तेषां स्पृहयते ये वै तुष्टाः स्वकैर्धनैः ॥ ८ ॥
अभीतः शुचिरभ्येति राजद्वारमशङ्कितः ।
न हि दुश्चरितं किंचिदन्तरात्मनि पश्यति ॥ ९ ॥
सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद्विद्यते परम् ।
सत्येन विधृतं सर्वं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥
अपि पापकृतो रौद्राः सत्यं कृत्वा पृथक् पृथक् ।
अद्रोहमविसंवादं प्रवर्तन्ते तदाश्रयाः ॥ ११ ॥
ते चेन्मिथो धृतिं कुर्युर्विनश्येयुरसंशयम् ।
न हर्तव्यं परधनमिति धर्मः सनातनः ॥ १२ ॥

भावसे धर्म प्राप्तिमें असमर्थ होकर पाप-युक्त होता है। कोई कोई ऐसा कहा करते हैं, कि पाप करनेवाले पुरुष आपद कालमें भी पापोंसे नहीं छूटते। धर्म-वित् पुरुष पापवादी होनेपर भी अपाप-वादी हुआ करते हैं, आचार ही धर्मकी निष्ठा है; इसलिये तुम उस आचारका अवलम्बन करनेसे ही धर्मको जान सकोगे। (३-६)

अधर्मसमाविष्ट तस्कर जब परधनको हरता है, अथवा अराजक समयमें पराये वित्तको अपना कर लेता है, उस समय वह परम सुखी होता है; परन्तु जब तस्करके धनको दूसरे लोग हर लेते हैं, तब वह राजद्वारमें उपस्थित होता है, तब जो लोग निज धनसे सन्तुष्ट हैं, वह उनकी स्पृहा किया करता है, वह निर्भय, पवित्र और अशंकित होकर राजद्वारमें प्रवेश करता है। अन्तरात्मामें कुछ भी दुश्चरित्र नहीं देखता। सत्य कहना ही उत्तम है, सत्यसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है, सत्यसे सारा संसार विधृत हुआ करता है, समस्त जगत् सत्यसे ही प्रतिष्ठित है। रौद्र कर्म करने-वाले पापाचारी मनुष्य भी पृथक् पृथक् शपथ करके सत्यके आश्रयसे अद्रोह और अविसंवादमें स्थित रहते हैं, वे लोग यदि परस्परकी प्रतिज्ञा भङ्ग करें, तो निश्चयही विनष्ट होवें, परधन हरन उचित नहीं, यह सनातन धर्म है।

मन्यन्ते बलवन्तस्तं दुर्बलैः संप्रवर्तितम् ।
यदा नियतिदौर्बल्यमथैषामेव रोचते ॥ १३ ॥
न ह्यत्यन्तं बलवन्तो भवन्ति सुखिनोऽपि वा ।
तस्मादनार्जवे बुद्धिर्न कार्या ते कदाचन ॥ १४ ॥
असाधुभ्योऽस्य न भयं न चौरेभ्यो न राजतः ।
अकिंचित्कस्यचित्कुर्वन्निर्भयः शुचिरावसेत् ॥ १५ ॥
सर्वतः शङ्कते स्तेनो मृगो ग्राममिवेयिवान् ।
बहुधाऽऽचरितं पापमन्यत्रैवानुपश्यति ॥ १६ ॥
मुदितः शुचिरभ्येति सर्वतो निर्भयः सदा ।
न हि दुश्चरितं किंचिदात्मनोऽन्येषु पश्यति ॥ १७ ॥
दातव्यमित्ययं धर्म उक्तो भूतहिते रतैः ।
तं मन्यन्ते धनयुताः कृपणैः संप्रवर्तितम् ॥ १८ ॥
यदा नियतिकार्पण्यमथैषामेव रोचते ।
न ह्यत्यन्तं धनवन्तो भवन्ति सुखिनोऽपि वा॥ १९ ॥

बलवान् पुरुष पूर्वोक्त धर्मको निर्बलोंके जरिये प्रवर्त्तित समझते हैं, जिस समय बलवानोंको दैवकी प्रतिकूलतासे निर्बलता प्राप्त होती है, तब उन लोगोंकी भी धर्ममें रुचि हुआ करती है। (७-१३)

अत्यन्त बलवान् पुरुष भी सुखी नहीं होते, इसलिये अनार्जव अर्थात् कुटिल कार्योंमें बुद्धि लगानी तुम्हें उचित नहीं है। सत्यवादी पुरुष असाधु, तस्कर और राजासे भयभीत नहीं होता, वह किसी पुरुषका कुछ अनिष्ट नहीं करता; इसहीसे निर्भय और पवित्र हृदयसे निवास किया करता है। गांवमें आये हुए हरिनकी भांति तस्कर सब लोगोंके समीप शङ्कित होता है, जैसे वह स्वयं बहुतसा पाप कार्य करता है, दूसरेको भी वैसाही दीखता है। जो शठ होता है, वह दूसरेको भी शठ समझता है; और शुद्धहृदय तथा सदा शयवाले पुरुष सदा आनन्दित और निर्भय होकर सब ठौर विचरते हैं, अपने दुश्चरितके विषय आत्मासे पृथक् नहीं देखते। सब भूतोंके हितमें रत महर्षियोंने "दान करना चाहिये," इसेही धर्म कहा है; धनवान् मनुष्य उसही धर्मको निर्द्धनोंसे प्रवर्त्तित समझता है, दैववशसे जब वह भी दीनदशासे युक्त होजाता है, उस समयमें उसे भी उसही धर्ममें रुचि उत्पन्न होती है; इसलिये अत्यन्त धनवान् पुरुष भी कदाचित्

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥ २० ॥
योऽन्यस्य स्यादुपपतिः स कं किं वक्तुमर्हति।
यदन्यस्य ततः कुर्यान्न मृष्येदिति मे मतिः ॥ २१ ॥
जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ॥ २२ ॥
अतिरिक्तैः संविभजेद्भोगैरन्यानकिंचनान्।
एतस्मात्कारणाद्धात्रा कुसीदं संप्रवर्तितम् ॥ २३ ॥
यस्मिंस्तु देवाः समये सन्तिष्ठेरंस्तथा भवेत्।
अथवा लाभसमये स्थितिर्धर्मेऽपि शोभना ॥ २४ ॥
सर्वं प्रियाभ्युपगतं धर्ममाहुर्मनीषिणः।

सुखी नहीं होते। जब मनुष्य दूसरेके किये हुए कर्मको आत्मकृत कर्म कहनेकी अभिलाषा नहीं करता, तब वह जिस कर्मको अपना अप्रिय समझता है, दूसरेके लिये उसे कभी न करेगा। (१४-२०)

जो पुरुष पराई स्त्रीका उपपति होता है, वह स्वयं दोषी है, इसलिये वह दूसरेको क्या कह सकेगा। वह यदि दूसरे पुरुषको उक्त कार्य करते हुए देखे तो मुझे बोध होता है, उसे कुछ न कह सकनेसे क्षमा किया करेगा। जो पुरुष स्वयं जीवित रहनेकी इच्छा करता है, वह किस प्रकार दूसरेका वध कर सकेगा; इसलिये अपने लिये जैसी अभिलाष करे, दूसरेके वास्ते भी वैसी ही इच्छा करनी उचित है। स्वीकार आवश्यकके अतिरिक्त भोगसाधन धन आदिके जरिये दीनजनोंका भरणपोषण करे, इस ही निमित्त विधाताने कुसीद अर्थात् वृद्धिके निमित्त धन-प्रयोग प्रवर्तित किया है; दीन-दरिद्रोंके पालने पोषनेके लिये ही धनकी वृद्धि करनी चाहिये, नहीं तो केवल धनकी वृद्धि हो, यह उद्देश्य अत्यन्त निकृष्ट है। (२१—२३)

जिस सन्मार्गमें निवास करनेसे देवता लोग भी सम्मुखवर्त्ती हुआ करते हैं, वैसे सन्मार्गमें सदा विचरता रहे, अर्थात् सदा दम, दान और दयायुक्त होवे, अथवा लाभके समय यज्ञ, दान आदि धर्ममें अनुरक्त होना उत्तम कार्य है। हे युधिष्ठिर! प्रिय वाक्यसे जो कुछ प्राप्त होता है, मनीषी लोग उसेही धर्म कहा करते हैं, जो अपनेको प्रिय है, [illegible] विषयमें वैसा ही करना चाहिये;

पश्यैतं लक्षणोद्देशं धर्माधर्मे युधिष्ठिर ॥ २५ ॥
लोकसंग्रहसंयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा ।
सूक्ष्मधर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम् ॥ २६ ॥
धर्मलक्षणमाख्यातमेतत्ते कुरुसत्तम ।
तस्मादनार्जवे बुद्धिर्न ते कार्या कथञ्चन ॥ २७ ॥ [९१३६]

इति श्रीमहाभारते० शान्तिपर्वणि मोक्षधर्म० धर्मलक्षणे एकोनषष्ठ्यधिकद्विशततमोऽध्यायः २५९

युधिष्ठिर उवाच– सूक्ष्मं साधुसमुद्दिष्टं नियतं ब्रह्मलक्षणम् ।
प्रतिभा त्वस्ति मे काचित्तां ब्रूयामनुमानतः ॥ १ ॥
भूयांसो हृदये ये मे प्रश्नास्ते व्याहृतास्त्वया ।
इदं त्वन्यत्प्रवक्ष्यामि न राजन्निग्रहादिव ॥ २ ॥
इमानि हि प्राणयन्ति सृजन्त्युत्तारयन्ति च ।
न धर्मः परिपाठेन शक्यो भारत वेदितुम् ॥ ३ ॥

जो अपनेको प्रिय नहीं है, दूसरेके सम्बन्धमें वैसा करना योग्य नहीं है । यह जो मैंने धर्म अधर्मका लक्षण वर्णन किया है, तुम उसकी आलोचना करो । पहले समयमें विधाताने साधुओंके दयाप्रधान सत् चरित्रको ही सूक्ष्म धर्म जाननेका साधन है ऐसा कहा था । हे कुरुसत्तम ! यही तुम्हारे निकट धर्मका लक्षण वर्णन किया गया, इसे सुनकर तुम किसी प्रकार अनार्जव कार्योंमें बुद्धि निवेश न करना । (२४-२७)

शान्तिपर्वमें २५९ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें २६० अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! वेदैकगम्य, साधुसमुद्दिष्ट धर्मका लक्षण अत्यंत सूक्ष्म है, हमारी कोई प्रतिभा है, उसही को अवलम्बन करके अनुमानके जरिये मैं यह सब प्रश्न करता हूं; मेरे हृदयमें बहुतसे प्रश्न थे, उनमेंसे आपने अधिकांशके उत्तर दिये हैं, अब दूसरी प्रकारका एक प्रश्न करता हूं, उस विषयमें कुतर्क करनेका मुझे आग्रह नहीं है, पूंछना ही मुख्य प्रयोजन है । हे भारत ! यह प्रसिद्ध ही है, कि ये समस्त शरीरयुक्त प्राणी स्वयं ही जीवन लाभ करते हैं, स्वयं ही उत्पन्न होते हैं और स्वयं ही उत्तीर्ण अर्थात् देहाकारसे च्युत होते हैं; ऐसी जनश्रुति है, कि अन्नसे ये सब जीव जन्म ग्रहण करते हैं, जन्म ग्रहण करके अन्नसे ही जीवित रहते हैं, और अन्त समय अन्नमें जाके प्रवेश किया करते हैं; आपने कहा है दूसरोंके सुख दुःख उत्पादनसे जो धर्माधर्म उत्पन्न होता है वह कालान्तरमें अपना सुख

अन्यो धर्मः समस्थस्य विषमस्थस्य चापरः।
आपदस्तु कथं शक्याः परिपाठेन वेदितुम् ॥ ४ ॥
सदाचारो मतो धर्मः सन्तस्त्वाचारलक्षणाः।
साध्यासाध्यं कथं शक्यं सदाचारो ह्यलक्षणः ॥ ५ ॥
दृश्यते हि धर्मरूपेणाधर्मं प्राकृतश्चरन्।
धर्मं चाधर्मरूपेण कश्चिदप्राकृतश्चरन् ॥ ६ ॥
पुनरस्य प्रमाणं हि निर्दिष्टं शास्त्रकोविदैः।
वेदवादाश्चानुयुगं ह्रसन्तीतीह नः श्रुतम् ॥ ७ ॥
अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे।
अन्ये कलियुगे धर्मा यथाशक्ति कृता इव ॥ ८ ॥

दुःखप्रद हुआ करता है, इसलिये केवल वेदाध्ययनसे ही धर्मका निश्चय नहीं किया जा सकता; क्यों कि व्यवस्थाके अभाव के कारण वैदिक धर्म अत्यन्त दुर्ज्ञेय है। (१-३)

सब पुरुषोंके धर्म स्वतन्त्र हैं और विषमस्थ लोगोंका स्वतन्त्र धर्म है; आपदका अन्त नहीं है; इसलिये धर्मको भी अनन्त कहना होगा। अनन्त होनेसे ही धर्म दुर्ज्ञेय हुआ; इसलिये अव्यवस्थित वैदिक धर्मका धर्मत्व किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा। और सदाचारको आपने धर्म कहा है, परन्तु धर्माचरणसे ही लोगोंमें सत् हुआ करता है; इसलिये लक्ष्य और लक्षणके अन्योन्याश्रय दोष-सम्पर्कसे सदाचारको धर्मलक्षण रूपसे किस प्रकार स्वीकार किया जावे; यह दीख पडता है, कि कोई प्राकृत पुरुष धर्मरूपसे अधर्म करता है और कोई असाधारण मनुष्य अधर्मरूपसे धर्माचरण करता है। शूद्र जातिको वेद सुनना शास्त्रमें मना होनेपर भी प्राकृत शूद्र धर्मबुद्धिके कारण मुमुक्षु होकर वेदान्त सुना करते हैं और अगस्त्य आदि असाधारण महर्षियोंने बहुतसे हिंसायुक्त अधर्माचरण किये हैं, इसलिये भ्रष्ट लोगोंमें शिष्ट लक्षण दीख पडनेसे सदाचारका भी निर्णय करना अत्यन्त दुःसाध्य है; परन्तु धर्म जाननेवाले पुरुषोंने धर्मके यही प्रमाण निर्देश किये हैं। (४-६)

मैंने सुना है युग युगमें वेदोंकी मर्यादा घटती हुई जाती है, इसलिये कालभेदसे जब कि वेदमें भी अन्यथा देखी जाती है, तब वह अनवस्थित वेदवाक्य भी अश्रद्धेय होसकता है। सत्ययुगका धर्म स्वतन्त्र है; त्रेता, द्वापरके स्वतन्त्र धर्म हैं और कलियुगका धर्म उनसे पृथक्

आम्नायवचनं सत्यमित्ययं लोकसंग्रहः ।
आम्नायेभ्यः पुनर्वेदाः प्रसृताः सर्वतोमुखाः ॥ ९ ॥
ते चेत्सर्वप्रमाणं वै प्रमाणं तन्न विद्यते ।
प्रमाणेऽप्यप्रमाणेन विरुद्धे शास्त्रता कुतः ॥ १० ॥
धर्मस्य क्रियमाणस्य बलवद्भिर्दुरात्मभिः ।
या या विक्रियते संस्था ततः साऽपि प्रणश्यति ॥११॥
विद्म चैवं न वा विद्म शक्यं वा वेदितुं न वा ।
अणीयान् क्षुरधाराया गरीयानपि पर्वतात् ॥ १२ ॥
गन्धर्वनगराकारः प्रथमं संप्रदृश्यते ।
अन्वीक्ष्यमाणः कविभिः पुनर्गच्छत्यदर्शनम् ॥ १३ ॥

है, मानो यह शक्तिके अनुसार विहित हुआ है। "वेदके सब वचन सत्य हैं," यह केवल लोकरञ्जनमात्र है, और वेदसे निकली हुई स्मृतियें सर्वमुख हुई हैं; इसलिये किस प्रकार स्मृतिवाक्य प्रमाण किया जा सकता है। सबका प्रमाण वेदवाक्य सारी स्मृतियोंके प्रमाणको सिद्ध करता है, यदि यह अङ्गीकार किया जावे, तो वेदवाक्यका निरपेक्षत्व निबन्धन प्रमाण स्वीकार करना होगा और सब स्मृतियें श्रुति-संक्षेप कहके अप्रमाण रूपसे परिगणित हुआ करती हैं; परन्तु अप्रमाणरूपी स्मृतिके सङ्ग जब श्रुतिका विरोध दीख पडता है, तब मूलभूत वेदवाक्यका भी अप्रमाणत्व निबन्धन एकपक्षपातिनी युक्तिके विना प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष श्रुति तथा स्मृति दोनोंके ही अप्रमाणके कारण शास्त्रत्व सिद्धि किस प्रकार हो सकती है। (७-१०)

बलवान् दुरात्मा पुरुषोंके जरिये क्रियमाण धर्मका जो जो स्वरूप विकृत होता है, वही प्रनष्ट होजाता है। हम स्वयं इस धर्मको जानें वा न जानें अथवा जान सकें, वा न जान सकें; तौ भी धर्म क्षुरधारसे भी सूक्ष्म और पहाडसे भी गुरुतर है। पहले धर्म गन्धर्वनगरकी भांति अद्भुतरूपसे दीख पडता है, अर्थात् धर्मकाण्डमें कहा है, कि "चातुर्मास्ययाजीको अक्षय सुकृत होता है। हम सोमपान करेंगे, अमर होंगे" इत्यादि श्रुतिका गन्धर्व नगरके समान अद्भुतत्व दीख पडता है। अनन्तर कवियोंके जरिये उपनिषत्के बीच ईक्ष्यमाण कर्म फिर अदृश्यताको प्राप्त होता है, अर्थात् कार्यमात्र ही अनित्य हैं; कर्मसे जो लोक जय किया जाता है, उसका भी नाश होता है इत्यादि

निपानानीव गोभ्योऽपि क्षेत्रे कुल्ये च भारत।
स्मृतिर्हि शाश्वतो धर्मो विप्रहीणो न दृश्यते ॥ १४ ॥
कामादन्येच्छया चान्ये कारणैरपरैस्तथा।
असन्तोऽपि वृथाचारं भजन्ते बहवोऽपरे ॥ १५ ॥
धर्मो भवति स क्षिप्रं प्रलापस्त्वेव साधुषु।
अथैतानाहुरुन्मत्तानपि चावहसन्त्युत ॥ १६ ॥
महाजना ह्युपावृत्ता राजधर्मं समाश्रिताः।
न हि सर्वहितः कश्चिदाचारः संप्रवर्तते ॥ १७ ॥
तेनैवान्यः प्रभवति सोऽपरं बाधते पुनः।
दृश्यते चैव स पुनस्तुल्यरूपो यदृच्छया ॥ १८ ॥
येनैवान्यः स भवति सोऽपरानपि बाधते।
आचाराणामनैकाग्र्यं सर्वेषामुपलक्षयेत् ॥ १९ ॥
चिराभिपन्नः कविभिः पूर्वं धर्म उदाहृतः।

उपनिषत् वाक्यसे धर्म अत्यन्त तुच्छ बोध होता है। (११-१३)

हे भारत! जैसे पशुओंके पीने योग्य क्षुद्र तालावके जलको क्षेत्रमें सींचने पर सारा तालाव सूख जाता है, वैसेही शाश्वत धर्म अङ्गहीन होकर कलियुगके शेषमें अदृश्य होगा। इस ही प्रकार भविष्य विषयिणी स्मृति है, कि निज इच्छा वा पराई इच्छा तथा दूसरे किसी कारणसे बहुतेरे असत् पुरुष वृथा आचार किया करते हैं, साधुओंके आचरित कर्मही धर्म रूपसे मालूम होते हैं, परन्तु मूढ दृष्टिसे देखनेसे वही धर्म साधुओंमें प्रलापमात्र मालूम हुआ करता है। मूढ लोग साधुओंको उन्मत्त कहा करते हैं, और उनकी हंसी करते हैं। द्रोणाचार्य आदि महाजनोंने ब्राह्मणोंके कर्त्तव्य कार्यका अनादर करके क्षत्रियधर्म अवलम्बन किया था; इसलिये सर्वहित-कर कोई व्यवहार प्रवर्त्तित नहीं होता। (१४-१७)

इसके अतिरिक्त आचारके जरिये निकृष्ट जाति भी उत्कृष्ट होती है, और उत्तम वर्ण भी निकृष्ट हुआ करते हैं। कभी कोई पुरुष दैवइच्छासे आचारके जरिये समान रूपसे ही रहते हैं, विश्वामित्र, जमदग्नि और वसिष्ठ आदि इस विषयमें विस्पष्ट दृष्टान्त स्थल हैं, जिस आचारके जरिये एक पुरुष उन्नत होता है, वही आचार दूसरेको अवनत करता है, इसकी पर्यालोचना करनेसे सब आचारोंमें ही अनैक्यता अर्थात् व्यभि-

तेनाचारेण पूर्वेण संस्था भवति शाश्वती ॥ २० ॥ [९१५४]

इति श्रीमहा० शान्ति०मोक्षधर्मपर्वणि धर्मप्रामाण्याक्षेपे षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६०॥

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
तुलाधारस्य वाक्यानि धर्मे जाजलिना सह ॥ १ ॥
वने वनचरः कश्चिज्जाजलिर्नाम वै द्विजः ।
सागरोद्देशमागम्य तपस्तेपे महातपाः ॥ २ ॥
नियतो नियताहारश्चीराजिनजटाधरः ।
मलपङ्कधरो धीमान्बहून्वर्षगणान्मुनिः ॥ ३ ॥
स कदाचिन्महातेजा जलवासो महीपते ।
चचार लोकान् विप्रर्षिः प्रेक्षमाणो मनोजवः ॥ ४ ॥
स चिन्तयामास मुनिर्जलवासे कदाचन ।
विप्रेक्ष्य सागरान्तां वै महीं सवनकाननाम् ॥ ५ ॥
न मया सदृशोऽस्तीह लोके स्थावरजङ्गमे ।

चारित्र मालूम हुआ करता है। प्राचीन पंडित लोग सदासे जिस धर्मको स्वीकार करते चले आते हैं, आपने वह विषय ही वर्णन किया; इसलिये उस प्राचीन आचारके जरिये शाश्वती मर्यादा स्थापित हुआ करती है, परन्तु मुझे ऐसा मालूम होता है, कि अनादि अविद्या प्रवृत्त स्वभावसे ही सुख-दुःख कार्याकार्यकी व्यवस्था हुआ करती है। वेद- प्रमाणक धर्मके जरिये सुख दुःख आदि कार्याकार्यकी व्यवस्था नहीं होती। (१८—२०)

शान्तिपर्वमें २६० अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २६१ अध्याय।

भीष्म बोले, धर्म विषयमें जाजलीके सङ्ग तुलाधारकी जो सब वार्त्ता हुई थी, इस विषयमें प्राचीन लोग उस ही पुराने इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। जाजली नाम कोई वनचारी ब्राह्मण जङ्गलमें वास करते थे, उस महातपस्वी ने समुद्रके किनारे पर बहुत तपस्या की थी। वह धीमान् मुनि संयत और नियताहारी होकर अनेक वर्ष पर्यन्त चीर, मृगछाला और जटा धारण करके मलिन हुए थे। हे राजन्! किसी समय वह महातेजस्वी विप्रर्षि समुद्रके जलमें वास करते हुए सब लोकोंको देखनेके लिये उत्सुक होकर मनकी भांति वेष धारण करके विचरने लगे। अनन्तर उन्होंने वन सहित समुद्र पर्यन्त पृथ्वी- को देखकर फिर चिन्ता की, कि स्थावर जङ्गमयुक्त संसारके बीच मेरे समान

अप्सु वैहायसं गच्छेन्मया योऽन्यः सहेति वै ॥ ६ ॥
अदृश्यमानो रक्षोभिर्जलमध्ये वदंस्तथा।
अब्रुवंश्च पिशाचास्तं नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ७ ॥
तुलाधारो वणिग्धर्मा वाराणस्यां महायशाः।
सोऽप्येवं नार्हते वक्तुं यथा त्वं द्विजसत्तम ॥ ८ ॥
इत्युक्तो जाजलिर्भूतैः प्रत्युवाच महातपाः।
पश्येयं तमहं प्राज्ञं तुलाधारं यशस्विनम् ॥ ९ ॥
इति ब्रुवाणं तमृषिं रक्षांस्युद्धृत्य सागरात्।
अब्रुवन्गच्छ पन्थानमास्थायेमं द्विजोत्तम ॥ १० ॥
इत्युक्तो जाजलिर्भूतैर्जगाम विमनास्तदा।
वाराणस्यां तुलाधारं समासाद्याब्रवीदिदम् ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच— किं कृतं दुष्करं तात कर्म जाजलिना पुरा।
येन सिद्धिं परां प्राप्तस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच— अतीव तपसा युक्तो घोरेण स बभूव ह।
तथोपस्पर्शनरतः सायंप्रातर्महातपाः ॥ १३ ॥

वा मेरे सहित जलके बीच तथा आकाशमण्डलके नक्षत्रादि लोकोंमें गमन कर सके, ऐसा कोई भी नहीं है। (१-६)

वह जब जलके बीच राक्षसोंसे अदृश्यमान रहके ऐसा कह रहे थे, तब पिशाचोंने उनसे कहा, हे द्विजसत्तम! तुम्हें ऐसा कहना उचित नहीं है, वाराणसी (काशी) में तुलाधार नाम वणिक् व्यवसायी एक महायशस्वी मनुष्य है, तुम जैसा कहते हो, वह भी वैसा वचन नहीं कह सकता। महातेजस्वी जाजली ने पिशाचोंका ऐसा वचन सुनके उन्हें उत्तर दिया, कि बहुत अच्छा, मैं बुद्धिमान् यशस्वी तुलाधारका दर्शन करूंगा। ऋषि जब ऐसा वचन बोले, तब पिशाचोंने उन्हें समुद्रसे उठाकर कहा, हे द्विजवर! तुम इस ही मार्गको अवलम्बन करके गमन करो। जाजली मुनि भूतोंका ऐसा वचन सुनकर मलिन-मन होकर काशीमें तुलाधारके समीप वक्ष्यमाण वचन कहने लगे। (७-११)

युधिष्ठिर बोले हे पितामह! जाजली मुनिने पहिले कौनसा दुष्कर कर्म किया था, जिससे कि उन्होंने परम सिद्धि पाई; आप मेरे समीप उसेही वर्णन करिये। (१२)

भीष्म बोले, महातपस्वी जाजली मुनि घोर तपस्यायुक्त हुए थे, वह

अग्नीन् परिचरन् सम्यक् स्वाध्यायपरमो द्विजः ।
वानप्रस्थविधानज्ञो जाजलिर्ज्वलितः श्रिया ॥ १४ ॥
वने तपस्यतिष्ठत्स न च धर्ममवैक्षत ।
वर्षास्वाकाशशायी च हेमन्ते जलसंश्रयः ॥ १५ ॥
वातातपसहो ग्रीष्मे न च धर्ममविन्दत ।
दुःखशय्याश्च विविधा भूमौ च परिवर्तते ॥ १६ ॥
ततः कदाचित्स मुनिर्वर्षास्वाकाशमास्थितः ।
अन्तरिक्षाज्जलं मूर्ध्ना प्रत्यगृह्णान्मुहुर्मुहुः ॥ १७ ॥
अथ तस्य जटाः क्लिन्ना बभूवुर्ग्रथिताः प्रभो ।
अरण्यगमनान्नित्यं मलिनोऽमलसंयुतः ॥ १८ ॥
स कदाचिन्निराहारो वायुभक्षो महातपाः ।
तस्थौ काष्ठवदव्यग्रो न चचाल च कर्हिचित् ॥ १९ ॥
तस्य स्म स्थाणुभूतस्य निर्विचेष्टस्य भारत ।
कुलिङ्गशकुनौ राजन्नीडं शिरसि चक्रतुः ॥ २० ॥
स तौ दयावान्ब्रह्मर्षिरुपप्रैक्षत दंपती ।

सन्ध्या और सबेरेके समय स्नान और आचमनमें रत रहते थे, वह स्वाध्यायमें रत द्विजश्रेष्ठ यथानियमसे अग्निकी परिचर्या करते थे, वानप्रस्थ विधान जानके वेदविद्यासे प्रदीप्त हुए थे, वह वर्षाकालमें आकाशशायी और हेमन्तमें जलसंश्रयी होकर तपस्या करते थे; परन्तु यह न जानते थे, कि मैं धर्मवान् हूं । ग्रीष्मकालमें वायु और घाम सहते थे, तौभी अपनेको धार्मिक समझके अभिमान नहीं करते थे । वह भूमिपर अनेक दुःखकरी शय्यापर शयन करते थे । (१३—१६)

अनन्तर किसी प्रावृट्कालमें उस मुनिने आकाशको अवलम्बन करके अन्तरिक्षसे बार बार गिरते हुए जलको शिरपर धारण किया था । उससे उनकी सब जटा क्लिन्न और ग्रथित हुई थी । वह सदा वनमें घूमनेसे मलिन और पापरहित हुए थे । उस महातपस्वीने कभी कभी निराहारी और वायुभक्षी होकर काठकी भांति अव्यग्र भावसे निवास किया था, किसी प्रकार विचलित नहीं हुए थे । हे भारत ! उसही शाखारहित वृक्षकी भांति चेष्टाहीन मुनिके शिरपर चटकपक्षी-दम्पतीने घोसला बनाया; जब पक्षीदम्पती तृणों-से घोसला बना रही थीं, तब उन

कुर्वाणौ नीडकं तत्र जटासु तृणतन्तुभिः ॥ २१ ॥
यदा न स चलत्येव स्थाणुभूतो महातपाः ।
ततस्तौ सुखविश्वस्तौ सुखं तत्रोषतुस्तदा ॥ २२ ॥
अतीतास्वथ वर्षासु शरत्काल उपस्थिते ।
प्राजापत्येन विधिना विश्वासात्काममोहितौ ॥ २३ ॥
तत्रापातयतां राजन् शिरस्यण्डानि खेचरौ ।
तान्यबुध्यत तेजस्वी स विप्रः संशितव्रतः ॥ २४ ॥
बुद्ध्वा च स महातेजा न चचाल च जाजलिः ।
धर्मे कृतमना नित्यं नाधर्मं स त्वरोचयत् ॥ २५ ॥
अहन्यहनि चागत्य ततस्तौ तस्य मूर्धनि ।
आश्वासितौ निवसतः संप्रहृष्टौ तदा विभो ॥ २६ ॥
अण्डेभ्यस्त्वथ पुष्टेभ्यः प्राजायन्त शकुन्तकाः ।
व्यवर्धन्त च तत्रैव नचाकम्पत जाजलिः ॥ २७ ॥
स रक्षमाणस्त्वण्डानि कुलिङ्गानां धृतव्रतः ।
तथैव तस्थौ धर्मात्मा निर्विचेष्टः समाहितः ॥ २८ ॥
ततस्तु कालसमये बभूवुस्तेऽथ पक्षिणः ।

दयावान् महर्षिने उसे निवारण न किया। वह स्थाणुस्वरूप महातपस्वी जब किसी प्रकार विचलित न हुए, तब वह विहंग-दम्पती विश्वस्त होकर सहजमें ही उन महर्षिके शिरपर वास करने लगी। (१७-२२)

वर्षाकालके बीतने और शरत्काल उपस्थित होनेपर काममोहित पक्षी मिथुन प्राकृतिक धर्मके अनुसार विश्वास के वशमें होकर उस मुनिके शिरपर अण्डप्रसव किया। उस संशितव्रती तेजस्वी विप्रने उसे जाना और जानके भी वह महातेजस्वी जाजली कुछ भी विचलित नहीं हुए; वह सदा धर्मनिष्ठ रहनेके कारण कभी अधर्ममें अभिलाष नहीं करते थे। अनन्तर वे दोनों पक्षी प्रतिदिन उनके शिरपर आके आश्वासित और हर्षित होकर वास करते थे। कालक्रमसे अण्डोंके परिपुष्ट होने पर उनमेंसे बच्चे उत्पन्न हुए और जन्म लेकर वहां क्रमसे बढने लगे; तौभी जाजली विचलित नहीं हुए। वह चेष्टा रहित, समाधिनिष्ठ, धृतव्रत, धर्मात्मा चटकपक्षीके बच्चोंकी रक्षा करते हुए उस ही प्रकार स्थिति करने लगे। (२३-२८)

समयके अनुसार चटकशावकोंके पङ्ख

बुबुधे तांस्तु स मुनिर्जातपक्षान्कुलिङ्गकान् ॥ २९ ॥
ततः कदाचित्तांस्तत्र पश्यन्पक्षीन्यतव्रतः ।
बभूव परमप्रीतस्तदा मतिमतां वरः ॥ ३० ॥
तथा तानपि संवृद्धान्दृष्ट्वा चाप्नुवतां मुदम् ।
शकुनौ निर्भयौ तत्र ऊषतुश्चात्मजैः सह ॥ ३१ ॥
जातपक्षांश्च सोऽपश्यदुड्डीनान्पुनरागतान् ।
सायं सायं द्विजान्विप्रो न चाकम्पत जाजलिः ॥ ३२ ॥
कदाचित्पुनरभ्येत्य पुनर्गच्छन्ति सन्ततम् ।
त्यक्त्वा मातापितृभ्यां ते न चाकम्पत जाजलिः ॥ ३३ ॥
तथा ते दिवसं चापि गत्वा सायं पुनर्नृप ।
उपावर्तन्त तत्रैव निवासार्थं शकुन्तकाः ॥ ३४ ॥
कदाचिद्दिवसान्पञ्च समुत्पत्य विहंगमाः ।
षष्ठेऽहनि समाजग्मुर्न चाकम्पत जाजलिः ॥ ३५ ॥
क्रमेण च पुनः सर्वे दिवसान् सुबहूनथ ।
नोपावर्तन्त शकुना जातप्राणाः स्म ते यदा ॥ ३६ ॥
कदाचिन्मासमात्रेण समुत्पत्य विहंगमाः ।

जमे, मुनिने उसे जान लिया। अनन्तर किसी समयमें बुद्धिमान् यतव्रती महर्षि उन पक्षियोंको देखकर परम प्रसन्न हुए। पक्षी-दम्पती भी अपने बच्चोंको पूरी रीतिसे बढते देख हर्षित होकर निर्भयताके सहित उनके सहित मुनिके शिर पर वास करने लगी। जब पक्षी शावकोंके पङ्ख जम गये, तब वह उडनेवाले होकर स्थानान्तरमें गमन करके फिर सन्ध्याके समय मुनिके शिरपर आके वास करते थे; विप्रवर जाजली उससे भी विचलित न हुए, किसी समय वे बच्चे जनकजननीसे परित्यक्त होके भी मुनिके शिरपर आगमन करके फिर स्थानान्तरमें गमन करते थे। सदा उनके ऐसा आचरण करने पर भी जाजली निज स्थानसे विचलित न हुए। हे राजन् इस ही प्रकार सारा दिन बिताकर पक्षीशावक सन्ध्याके समय निवासके लिये उस ही स्थानमें लौट आते थे। किसी समय पक्षीवृन्द स्थानान्तरमें पांच दिन बिताकर छठवें दिन जाजलीके शिरपर आके उपस्थित होते थे, इससे भी मुनि विचलित न हुए। (२९-३५)

क्रम क्रमसे वे बच्चे बलवान् होनेसे स्थानन्तरमें कई दिन बिताके भी नहीं

नैवागच्छंस्ततो राजन् प्रातिष्ठत स जाजलिः ॥ ३७ ॥
ततस्तेषु प्रलीनेषु जाजलिर्जातविस्मयः ।
सिद्धोऽस्मीति मतिं चक्रे ततस्तं मान आविशत्॥ ३८॥
स तथा निर्गतान् दृष्ट्वा शकुन्तान्नियतव्रतः ।
संभावितात्मा संभाव्य भृशं प्रीतमनाऽभवत् ॥३९॥
स नद्यां समुपस्पृश्य तर्पयित्वा हुताशनम् ।
उदयन्तमथादित्यमुपातिष्ठन्महातपाः ॥ ४० ॥
संभाव्य चटकान्मूर्ध्नि जाजलिर्जपतां वरः ।
आस्फोटयत्तथाऽऽकाशे धर्मः प्राप्तो मयेति वै ॥ ४१ ॥
अथान्तरिक्षे वागासीत्तां च शुश्राव जाजलिः ।
धर्मेण न समस्त्वं वै तुलाधारस्य जाजले ॥ ४२ ॥
वाराणस्यां महाप्राज्ञस्तुलाधारः प्रतिष्ठितः ।
सोऽप्येवं नार्हते वक्तुं यथा त्वं भाषसे द्विज ॥ ४३ ॥
सोऽमर्षवशमापन्नस्तुलाधारदिदृक्षया ।
पृथिवीमचरद्राजन् यत्र सायंगृहो मुनिः ॥ ४४ ॥

लौटते थे, कभी एक महीनेके लिये उडके चले जाते थे; फिर लौटकर नहीं आते थे, परन्तु जाजली उसही भांति निवास करते थे। अनन्तर उन पक्षियोंके एक समय उडके चले जाने पर जाजलीने विस्मययुक्त होके समझा कि 'मैं' सिद्ध हुआ हूं। ऐसा ज्ञान होनेके अनन्तर उनके चित्तमें अभिमान उत्पन्न हुआ। व्रतनिष्ठ जाजली उन पक्षियोंको एकबारही निज मस्तकसे निकलते देखकर अपनेको सत्कारके योग्य समझके अत्यन्त प्रसन्नचित्त हुए। उस महातपस्वीने नदीमें स्नान करके अग्निमें आहुति देनेके अनन्तर सूर्यको उदय होते देखकर उनकी उपासना की। जापकश्रेष्ठ जाजलीने शिरके बीच चटकशावकोंको पूरी रीतिसे वर्द्धित करके "मैंने धर्म लाभ किया है" ऐसा वचन कहते हुए शून्य स्थलमें बाहु स्फोट करने लगे। (३६-४१)

अनन्तर यह आकाशवाणी हुई कि, हे जाजली ! तुम धर्म विषयमें तुलाधारके समान नहीं हुए। काशीपुरीमें तुलाधार नाम एक पुरुष रहता है। हे विप्र ! तुमने जैसा कहा वह भी वैसा वचन नहीं कह सकता। हे राजन् ! जाजली मुनि उस आकाशवाणीको सुनके क्रोधवश होकर तुलाधारका दर्शन

कालेन महताऽगच्छत्स तु वाराणसीं पुरीम् ।
विक्रीणन्तं च पण्यानि तुलाधारं ददर्श सः ॥ ४५ ॥
सोऽपि दृष्ट्वैव तं विप्रमायान्तं भाण्डजीवनः ।
समुत्थाय सुसंहृष्टः स्वागतेनाभ्यपूजयत् ॥ ४६ ॥
तुलाधार उवाच- आयानेवासि विदितो मम ब्रह्मन्न संशयः ।
ब्रवीमि यत्तु वचनं तच्छृणुष्व द्विजोत्तम ॥ ४७ ॥
सागरानूपमाश्रित्य तपस्तप्तं त्वया महत् ।
न च धर्मस्य संज्ञां त्वं पुरा वेत्थ कथंचन ॥ ४८ ॥
ततः सिद्धस्य तपसा तव विप्र शकुन्तकाः ।
क्षिप्रं शिरस्यजायन्त ते च संभाविलास्त्वया ॥ ४९ ॥
जातपक्षा यदा ते च गताश्चारीमितस्ततः ।
मन्यमानस्ततो धर्मं चटकप्रभवं द्विज ॥ ५० ॥
खे वाचं त्वमथाश्रौषीर्मां प्रति द्विजसत्तम ।
अमर्षवशमापन्नस्ततः प्राप्तो भवानिह ।

करनेके लिये सारी पृथ्वीपर घूमने लगे और जहांपर सन्ध्याका समय उपस्थित होता था, वहांपर निवास करते थे, बहुत समयके अनन्तर वह काशीपुरीमें पहुंचे, वहां पहुंचके तुलाधारको पण्य वस्तुओंको बेचते हुए देखा। मूलधनोपजीवी तुलाधार विप्रवर जाजलीको आते देखकर ही परम सन्तुष्ट होकर उठ खडे हुए और स्वागत प्रश्नसे उनका सत्कार किया। (४२-४६)

तुलाधार बोले, हे ब्रह्मन्! आप अभी आये हैं, इसे मैंने निःसन्देह जाना है। हे द्विजवर! अब मैं जो कहता हूं, उसे सुनो। आपने समुद्रके तटपर सजल स्थानमें महती तपस्या की है, पहले कभी धर्मका नाम भी नहीं जानते थे, अर्थात् "मैं धार्मिक हूं" आपको ऐसा ज्ञान नहीं था। हे विप्र! अन्तमें जब आप तपस्यासे सिद्ध हुए, तब पक्षियोंके बच्चे शीघ्रही तुम्हारे शिरपर उत्पन्न हुए, आपने उनका यथायोग्य सत्कार किया। हे द्विज! जब बच्चे पङ्खवाले होकर आहारके लिये उडके चले गये, तब आपने मनमें यह निश्चय किया, कि "चटक पक्षियोंका पालन करनेसे धर्म हुआ है।" हे द्विजसत्तम! अनन्तर मुझे उद्देश्य करके जो आकाशवाणी हुई, तुम उसे सुनके क्रोधके वश में हुए और उसही निमित्त इस स्थानमें आये हो। हे द्विजवर! इसलिये मैं

करवाणि प्रियं किं ते तद् ब्रूहि द्विजसत्तम॥ ५१ ॥ [९२०७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे एकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६१ ॥

भीष्म उवाच— इत्युक्तः स तदा तेन तुलाधारेण धीमता।
प्रोवाच वचनं धीमान् जाजलिर्जपतां वरः ॥ १ ॥

जाजलिरुवाच- विक्रीणतः सर्वरसान् सर्वगन्धांश्च वाणिज।
वनस्पतीनोषधीश्च तेषां मूलफलानि च ॥ २ ॥
अध्यगा नैष्ठिकीं बुद्धिं कुतस्त्वामिदमागतम्।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं निखिलेन महामते ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच— एवमुक्तस्तुलाधारो ब्राह्मणेन यशस्विना।
उवाच धर्मसूक्ष्माणि वैश्यो धर्मार्थतत्त्ववित् ॥ ४ ॥

तुलाधार उवाच- वेदाहं जाजले धर्मं सरहस्यं सनातनम्।
सर्वभूतहितं मैत्रं पुराणं यं जना विदुः ॥ ५ ॥
अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिः स परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले ॥ ६ ॥

आपका कौनसा प्रियकार्य सिद्ध करूं, उसे ही कहिये। (४७—५१)

शान्तिपर्वमें २६१ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २६२ अध्याय।

भीष्म बोले, उस समय जब बुद्धिमान् तुलाधारने जापकप्रवर जाजलीसे ऐसा वचन कहा, तब उन्होंने वक्ष्यमाण वचनसे उसे उत्तर दिया। (१)

जाजली बोले, हे वणिक्पुत्र ! तुम समस्त रस, गन्ध, वनस्पति औषधी और फलमूलोंको बेचा करते हो, तुमने नैष्ठिकी बुद्धि कहांसे पायी और किस प्रकार तुम्हें ऐसा ज्ञान हुआ। हे महाप्राज्ञ ! तुम इस ही विषयको विस्तारपूर्वक मेरे समीप वर्णन करो। (२-३)

भीष्म बोले, हे राजन् ! यशस्वी ब्राह्मणके ऐसा पूछनेपर धर्म अर्थके तत्त्वको जाननेवाला तुलाधार वैश्य उस समय ज्ञानतृप्त कठोर तपस्वी जाजलीसे सब सूक्ष्म धर्म कहने लगा। (४)

तुलाधार बोला, हे जाजली ! लोकमें सब भूतोंके हितकर जो पुराण-धर्मको जानते हैं, मैं रहस्यके सहित उस सनातन धर्मको जानता हूं; जीवोंसे द्रोह न करके अथवा आपद्कालमें अल्प द्रोह आचरण करके जो जीविका निबाही जाती है, वही परम धर्म है। हे जाजली ! मैं वैसी ही वृत्ति अवलम्बन करके

परिच्छिन्नैः काष्ठतृणैर्मयेदं शरणं कृतम् ।
अलक्तं पद्मकं तुङ्गं गन्धांश्चोच्चावचांस्तथा ॥ ७ ॥
रसांश्च तांस्तान्विप्रर्षे मद्यवर्ज्यान्बहूनहम् ।
क्रीत्वा वै प्रतिविक्रीणे परहस्तादमायया ॥ ८ ॥
सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः ।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले ॥ ९ ॥
नानुरुद्ध्ये विरुध्ये वा न द्वेष्मि न च कामये ।
समोऽहं सर्वभूतेषु पश्य मे जाजले व्रतम् ।
तुला मे सर्वभूतेषु समा तिष्ठति जाजले ॥ १० ॥
नाहं परेषां कृत्यानि प्रशंसामि न गर्हये ।
आकाशस्येव विप्रेन्द्र पश्यन् लोकस्य चित्रताम् ॥ ११ ॥
इति मां त्वं विजानीहि सर्वलोकस्य जाजले ।
समं मतिमतां श्रेष्ठ समलोष्टाश्मकाञ्चनम् ॥ १२ ॥
यथान्धबधिरोन्मत्ता उच्छ्वासपरमाः सदा ।

जीवन व्यतीत किया करता हूं । मैंने परिच्छिन्न तृणकाठोंसे यह गृह बनाया है । हे विप्रर्षि ! अलक्त, पद्मक और तुङ्गकाष्ठ, कस्तूरी आदि विविध सुगन्धित वस्तु और नमक आदि रसकी वस्तुयें, मद्यके अतिरिक्त इन सब वस्तुओंको मैं दूसरेके हाथसे खरीदके कपट-रहित होकर वचन, मन और कर्मके जरिये बेचा करता हूं । हे जाजली ! जो सब प्राणियों के सुहृद् तथा सब जीवोंके हितमें रत रहते हैं, वेही धर्म जाननेवाले हैं । (६—९)

हे जाजली ! मैं किसीको किसी विषयमें अनुरोध नहीं करता, किसीके संग विरोध नहीं करता, किसीसे द्वेष नहीं करता और किसीके समीप किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करता । मैं सब भूतोंमें समदर्शी हूं, इसलिये तुम मेरा व्रत अवलोकन करो । हे जाजली! सब भूतोंमें मेरा तुलादण्ड समान भावसे खडा है । हे विप्रवर ! मैं आकाशमण्डलमें स्थित विविध रूपवाले बादल समूहोंकी भांति जगत्की विचित्रता देखकर दूसरेके किये हुए कार्योंकी प्रशंसा नहीं करता और निन्दा भी नहीं करता हूं । हे बुद्धिमान् जाजली ! इस ही भांति तुम मुझे सब भूतों और ढेले, पत्थर तथा सुवर्णमें समदर्शी समझो । जैसे अन्धे, बहरे और उन्मत्त आदि पुरुषोंके इन्द्रियगोलक उस ही

देवैरपिहितद्वारा सोपमा पश्यतो मम ॥ १३ ॥
यथा वृद्धातुरकृशा निस्पृहा विषयान्प्रति।
तथार्थकामभोगेषु ममापि विगता स्पृहा ॥ १४ ॥
यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ १५ ॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ १६ ॥
न भूतो न भविष्योऽस्ति न च धर्मोऽस्ति कश्चन।
योऽभयः सर्वभूतानां स प्राप्नोत्यभयं पदम् ॥ १७ ॥
यस्मादुद्विजते लोकः सर्वो मृत्युमुखादिव।
वाक्क्रूराद्दण्डपरुषात्स प्राप्नोति महद्भयम् ॥ १८ ॥
यथावद्वर्तमानानां वृद्धानां पुत्रपौत्रिणाम्।
अनुवर्तामहे वृत्तमहिंस्राणां महात्मनाम् ॥ १९ ॥
प्रनष्टः शाश्वतो धर्मः सदाचारेण मोहितः।
तेन वैद्यस्तपस्वी वा बलवान्वा विमुह्यते ॥ २० ॥

इन्द्रियाधिष्ठातृ देवताओंके जरिये आच्छादित होनेपर भी वे लोग श्वास लेते हुए जीवन धारण किया करते हैं, मैं उसे देखकर अपनेमें ही वैसी उपमा दिया करता हूं। (१०—१३)

जैसे बूढे, आतुर और दुर्बल पुरुष विषयोंसे निस्पृह होते हैं, वैसे ही अर्थ और काम्य वस्तुके उपभोग विषयमें मुझे भी स्पृहा नहीं है। जब यह जीव किसी प्राणीसे नहीं डरता और इससे भी दूसरे भयभीत नहीं होते; जब जीव किसी विषयकी कामना नहीं करता और किसीसे भी द्वेष नहीं करता, तब वह ब्रह्मत्वलाभ किया करता है। कर्म, मन और वाणीके जरिये जब प्राणिमात्रके विषयमें पापभाव धारण नहीं करता, तब ब्रह्मभावको पाता है। जिसका भूत भविष्य कोई धर्म नहीं है, जिससे किसी भूतको भय नहीं होता, वही अभयपद पाता है। मृत्युमुखके समान, क्रूर वचन कहनेवाले कठोर दण्डधारी जिस पुरुषसे सब लोग व्याकुल होते हैं, उसे महत् भय प्राप्त होता है। मैं यथावत् वर्तमान पुत्र पौत्रोंके सहित अहिंसामय महानुभाव बूढोंके चरित्रका अनुवर्त्तन किया करता हूं। (१३-१९)

किसी अंशमें विरुद्ध सदाचारसे

आचाराज्जाजले प्राज्ञः क्षिप्रं धर्ममवाप्नुयात् ।
एवं यः साधुभिर्दान्तश्चरेदद्रोहचेतसा ॥ २१ ॥
नद्यां चेह यथा काष्ठमुह्यमानं यदृच्छया ।
यदृच्छयैव काष्ठेन संधिं गच्छेत केनचित् ॥ २२ ॥
तत्रापराणि दारूणि संसृज्यन्ते परस्परम् ।
तृणकाष्ठकरीषाणि कदाचिन्न समीक्षया ॥ २३ ॥
यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किंचित्कथंचन ।
अभयं सर्वभूतेभ्यः स प्राप्नोति सदा मुने ॥ २४ ॥
यस्मादुद्विजते विद्वन् सर्वलोको वृकादिव ।
क्रोशतस्तीरमासाद्य यथा सर्वे जलेचराः ॥ २५ ॥
एवमेवायमाचारः प्रादुर्भूतो यतस्ततः ।
सहायवान् द्रव्यवान्यः सुभगोऽथ परस्तथा ॥ २६ ॥
ततस्तानेव कवयः शास्त्रेषु प्रवदन्त्युत ।

मोहित शाश्वत वैदिक धर्म अनुदिष्ट हुआ है, इस ही निमित्त चाहे विद्यावान् हों, चाहे जितेन्द्रिय ही हों, वा काम क्रोध विजयी बलवान् ही क्यों न हों, सब पुरुष ही धर्म विषयमें मोहित हुआ करते हैं। जो दान्त पुरुष द्रोहरहित अन्तःकरणसे साधुओंके सङ्ग सदाचरण करता है, हे जाजली! वह बुद्धिमान् पुरुष आचारके जरिये शीघ्र ही धर्मलाभ करनेमें समर्थ होता है। जैसे नदीके प्रवाहमें बहता हुआ काठ यदृच्छावशसे दूसरे काठके सङ्ग मिल जाता है और उस स्थानमें दूसरे काष्ठ परस्पर मिल जाते हैं; कभी तृण काठ करीष आदि नहीं दीख पडते, मनुष्योंके कर्मप्रवाहके जरिये पुत्र स्त्री आदि का संयोग वियोग भी वैसा ही है। जिससे कोई जीव भी किसी प्रकार व्याकुल नहीं होते, हे मुनि! वेही सब भूतोंसे सदा अभय लाभ करते हैं। (२०—२४)

हे विद्वन्! जैसे दाडवानलसे किनारेपर रहनेवाले सब जलचर और चीत्कार करनेवाले हिंसक भेडियेसे वनचर जीव डरते हैं, वैसे ही जिससे सब लोक उद्वेगयुक्त हुआ करते हैं उसे महत् भय प्राप्त होता है। इस ही प्रकार जीवोंको अभयदानरूपी आचार जिसमें सब तरहके उपायसे उत्पन्न हो, उस विषयमें यत्न करना उचित है। जो लोग सहायसम्पत्तिसे युक्त होते हैं, वे इस लोकमें ऐश्वर्यशाली और परलोकमें परम सुखी होते हैं। इसहीसे कवि लोग

कीर्त्यर्थमल्पहृल्लेखाः पटवः कृत्स्ननिर्णयाः ॥ २७ ॥
तपोभिर्यज्ञदानैश्च वाक्यैः प्रज्ञाश्रितैस्तथा।
प्राप्नोत्यभयदानस्य यद्यत्फलमिहाश्नुते ॥ २८ ॥
लोके यः सर्वभूतेभ्यो ददात्यभयदक्षिणाम्।
स सर्वयज्ञैरीजानः प्राप्नोत्यभयदक्षिणाम् ॥ २९ ॥
न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन।
यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किंचित्कथंचन।
सोऽभयं सर्वभूतेभ्यः संप्राप्नोति महामुने ॥ ३० ॥
यस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद्वेश्मगतादिव।
न स धर्ममवाप्नोति इह लोके परत्र च ॥ ३१ ॥
सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यतः।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥ ३२ ॥
दानं भूताऽभयस्याहुः सर्वदानेभ्य उत्तमम्।
ब्रवीमि ते सत्यमिदं श्रद्दधस्व च जाजले ॥ ३३ ॥

सब शास्त्रोंमें अभयदाता पुरुषोंको ही सबसे श्रेष्ठ कहा करते हैं। जिनके अन्तःकरणमें थोडासा बाह्यसुख लेखाकी भांति प्रतिष्ठित है, वे भी कीर्त्तिके लिये अभयदान करें और निपुण मनुष्य भी परब्रह्मकी प्राप्तिके लिये अभयदानमें दीक्षित होवें। (२५-२७)

तपस्या, यज्ञ, दान और बुद्धियुक्त वचनसे इस लोकमें जो सब फल भोग हुआ करते हैं अभयदानके सहारे वे सब फल प्राप्त होते हैं। जगत्में जो लोग सब प्राणियोंको अभयदक्षिणा दान करते हैं, वे सब यज्ञयाजनके फल स्वरूप अभयदक्षिणा पाते हैं। सब प्राणियोंकी अहिंसासे बढके श्रेष्ठ धर्म और कुछ भी नहीं है। हे महामुनि! जिससे कोई जीव कभी किसी प्रकार व्याकुल नहीं होते, उसे सब प्राणियोंसे अभय प्राप्त होता है; और जिससे गृहगत सर्पकी भांति सब लोग व्याकुल होते हैं, वह ऐहिक और पारलौकिक धर्म प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता, जो सब प्राणियोंके आत्मभूत और समान भावसे सब जीवोंको देखते हैं, देवता लोग भी ब्रह्मलोक आदिके अनभिलाषी, साधक पदके इच्छुक होकर उनके आचरित मार्गमें विचरण करते हुए मोहित होते हैं। हे जाजली! जीवोंको अभय दान सब दानसे उत्तम है; यह मैं तुम्हारे समीप सत्य ही कहता हूं;

स एव सुभगो भूत्वा पुनर्भवति दुर्भगः ।
व्यापत्तिं कर्मणां दृष्ट्वा जुगुप्सन्ति जनाः सदा ॥ ३४ ॥
अकारणो हि नैवास्ति धर्मः सूक्ष्मो हि जाजले ।
भूतभव्यार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतम् ॥ ३५ ॥
सूक्ष्मत्वान्न स विज्ञातुं शक्यते बहुनिह्नवः ।
उपलभ्यान्तरा चान्यानाचारानवबुध्यते ॥ ३६ ॥
ये च च्छिन्दन्ति वृषणान् ये च भिन्दन्ति नस्तकान् ।
वहन्ति महतो भारान् बध्नन्ति दमयन्ति च ॥ ३७ ॥
हत्वा सत्त्वानि खादन्ति तान्कथं न विगर्हसे ।
मानुषा मानुषानेव दासभावेन भुञ्जते ॥ ३८ ॥
वधबन्धनिरोधेन कारयन्ति दिवानिशम् ।
आत्मनश्चापि जानाति यद् दुःखं वधबन्धने ॥ ३९ ॥

इसलिये आप इस विषयमें श्रद्धा करिये । (२८-३३)

'सब कार्य कर्म स्वर्गफल साधनके हेतु कभी सुभग होते, कभी स्वर्गफल भोगान्तर पतन आदिके निमित्त दुर्भग हुआ करते हैं; इसलिये कार्य कर्मोंकी क्षयिष्णुता देखकर सज्जन लोग सदा उसकी निन्दा किया करते हैं। हे जाजलि ! स्थूल धर्म यज्ञ आदिसे सूक्ष्म अभयदान धर्मका अनुष्ठान करनेसे फल हीन नहीं होता, ब्रह्मप्राप्ति और स्वर्ग-लाभके लिये वेदमें शम दम आदिके साधन और यज्ञ आदि धर्म विहित हुए हैं। अभय दान धर्म अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे वह पूर्ण रीतिसे जाना नहीं जाता; वेदके बीच किसी स्थलमें वैध-हिंसाकी विधि है, कहीं पर अहिंसाकी विधि बलवती हुई है; इससे वैदिक धर्म अत्यन्त ही अन्तर्गूढ है। सब आचार जाननेके लिये उद्यत होनेपर भी उसके बीच अनेक प्रकारके विभिन्न व्यवहार मालूम हुआ करते हैं। (३३-३६)

जिन सब बैलोंकी वृषण काटे जाते हैं, और नासिकामें छेद किया जाता है। वे बहुत सा बोझा ढोनेमें समर्थ हुआ करते हैं; मनुष्य उनका बन्धन और दमन करते हैं। जो जीवोंको मार कर भक्षण करते हैं, उनकी निन्दा क्यों नहीं करते; मनुष्य लोग मनुष्योंको दासत्व शृङ्खलामें बांध रखते हैं। दूसरी जातिकी बात तो दूर रहे, वे लोग स्वजातिके लोगोंको रात दिन वध, बन्धन और निरोध करके दुःख भोग कराते हैं; इसके अतिरिक्त अपने वध,

पञ्चेन्द्रियेषु भूतेषु सर्वं वसति दैवतम् ।
आदित्यश्चन्द्रमा वायुर्ब्रह्मा प्राणः क्रतुर्यमः ॥ ४० ॥
तानि जीवानि विक्रीय का मृतेषु विचारणा ।
अजोऽग्निर्वरुणो मेषः सूर्योऽश्वः पृथिवी विराट् ॥४१॥
धेनुर्वत्सश्च सोमो वै विक्रीयैतश्च सिद्ध्यति ।
का तैले का घृते ब्रह्मन् मधुन्यप्यौषधेषु वा ॥ ४२ ॥
अदंशमशके देशे सुखसंवर्धितान्पशून् ।
तांश्च मातुः प्रियान् जानन्नाक्रम्य बहुधा नराः॥ ४३ ॥
बहुदंशाकुलान्देशान्नयन्ति बहुकर्दमान् ।
वाहसंपीडिता धुर्याः सीदन्त्यविधिना परे ॥ ४४ ॥
न मन्ये भ्रूणहत्याऽपि विशिष्टा तेन कर्मणा ।
कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा च वृत्तिः सुदारुणा॥४५॥
भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ।
तथैवानडुहो युक्तान्समवेक्षस्व जाजले ॥ ४६ ॥

बन्धनसे जो दुःख होता है, उस विषयमें भी वे लोग अनभिज्ञ नहीं हैं; पञ्चेन्द्रिययुक्त जीवोंमें सब देवता ही निवास किया करते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, वायु, ब्रह्मा, प्राण, क्रतु और यम, ये सब देवता जिस जीवदेहमें निवास करते हैं, उन जीवोंके बेचनेमें जब कोई फल नहीं है, तब मृतजीवोंके विषयमें विचारकी क्या आवश्यकता है। बकरे, अग्नि, मेढे, घोडे, जल, पृथ्वी, गौ, बछडे और सोमरस बेचनेसे मनुष्य सिद्ध नहीं होता। हे ब्रह्मन्! इसलिये तैल, घृत, मधु और औषधि बेचनेकी वार्ता कुछ कार्यकरी नहीं है। (३७-४२)

मनुष्य लोग दंश मच्छरोंसे रहित स्थानमें सहजमें ही संवर्द्धित पशुओंको उनकी माताके प्रिय जानके भी अनेक भांतिसे आक्रमण करके बहुतसे कीचडयुक्त देश तथा मशकोंसे परिपूरित स्थानमें स्थापित करते हैं, दूसरे अनेक धुर्य वाहनोंके जरिये पीडित होकर अवसन्न होते हैं; मुझे बोध होता है, ऐसे पशुपीडन कर्मकी अपेक्षा भ्रूणहत्या अधिक पापयुक्त नहीं है। जो लोग कृषिकर्मको उत्तम समझते हैं, मैं उनकी भी प्रशंसा नहीं करता; क्यों कि कृषिकर्म भी अत्यन्त दारुण है। हे जाजली! लोहमुख हल भूमि और भूमिमें रहनेवाले सर्प आदि प्राणियोंको नष्ट करता है, और हलमें जुते हुए

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति ।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वाऽलभेत्तु यः ॥ ४७ ॥
ऋषयो यतयो ह्येतन्नहुषे प्रत्यवेदयन् ।
गां मातरं चाप्यवधीर्वृषभं च प्रजापतिम् ॥ ४८ ॥
अकार्यं नहुषाकार्षीर्लप्स्यामस्त्वत्कृते व्यथाम् ।
शतं चैकं च रोगाणां सर्वभूतेष्वपातयन् ॥ ४९ ॥
ऋषयस्ते महाभागाः प्रजास्वेव हि जाजले ।
भ्रूणहं नहुषं त्वाहुर्न ते होष्यामहे हविः ॥ ५० ॥
इत्युक्त्वा ते महात्मानः सर्वे तत्त्वार्थदर्शिनः ।
ऋषयो यतयः शान्तास्तपसा प्रत्यवेदयन् ॥ ५१ ॥
ईदृशानशिवान्घोरानाचारानिह जाजले ।
केवलाचरितत्वात्तु निपुणो नावबुद्ध्यसे ॥ ५२ ॥

वृषभोंकी ओर देखो, वे कितना क्लेश सहा करते हैं । (४३-४६)

गऊ अवध्य है, इसहीसे उनका नाम अघ्न्या है; इसलिये कौन उन्हें मारनेमें समर्थ हुआ करता है । जो पुरुष वृषभ अथवा गऊकी हिंसा करता है वह बहुत ही अमङ्गल किया करता है । जितेन्द्रिय ऋषियोंने नहुषके समीप यह विषय कहा था । उन्होंने कहा था, गऊ मातृ-स्वरूप और वृषभ प्रजापति स्वरूप हैं; तुमने उनका वध किया है । हे नहुष ! इससे तुमने बहुत ही अकार्य किया है, तुम्हारे निमित्त हम सब कोई व्यथित हुए हैं । हे जाजली ! जैसे इन्द्रका ब्रह्म-हत्याका पाप स्त्रियोंमें रज रूपसे निक्षिप्त हुआ था, वैसेही उन महाभाग ऋषि-योंने नहुषके किये हुए गो-वृषभ हत्याके पापको सब प्राणियोंके बीच एक सौ एक रोग रूपसे निक्षेप किया । ब्रह्महत्या और गोहत्याका पाप समान है, इसीसे लोग नहुषको भ्रूणहत्या करनेवाला कहा करते हैं, इससे हम लोग उसका होम न करेंगे, उन समस्त तत्वार्थदर्शी महा-नुभाव जितेन्द्रिय शान्त महर्षियोंने नहुषके विषयमें ऐसा कहकर तथा ध्यानपूर्वक उसे गोहत्या करनेमें प्रवृत्त न देखकर उसके किये हुए पापोंको प्रजासमूहमें रोगरूपसे संक्रामित किया था । (४७-५१)

हे जाजली ! इस लोकमें ऐसा घोर अकल्याणकर आचारके प्रचलित रहनेके कारणही तुम उस आचारको करते हो, मनुष्यको उचित है कि वह तत्त्वदृष्टीसे विचार करे । परन्तु वैसा करनेको तू

कारणाद्धर्ममन्विच्छेन्न लोकचरितं चरेत्।
यो हन्याद्यश्च मां स्तौति तत्रापि शृणु जाजले॥ ५३॥
समौ तावपि मे स्यातां न हि मेऽस्ति प्रियाप्रियम्।
एतदीदृशकं धर्मं प्रशंसन्ति मनीषिणः॥ ५४॥
उपपत्त्या हि संपन्नो यतिभिश्चैव सेव्यते।
सततं धर्मशीलैश्च निपुणेनोपलक्षितः॥ ५५॥ [९२६२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २६२॥

जाजलिरुवाच— अयं प्रवर्तितो धर्मस्तुलां धारयता त्वया।
स्वर्गद्वारं च वृत्तिं च भूतानामवरोत्स्यते॥ १॥
कृष्या ह्यन्नं प्रभवति ततस्त्वमपि जीवसि।
पशुभिश्चौषधीभिश्च मर्त्या जीवन्ति वाणिज॥ २॥
ततो यज्ञः प्रभवति नास्तिक्यमपि जल्पसि।
न हि वर्तेदयं लोको वार्तामुत्सृज्य केवलाम्॥ ३॥

तुलाधार उवाच— वक्ष्यामि जाजले वृत्तिं नास्मि ब्राह्मण नास्तिकः।

असमर्थ है। कारणके अनुसार धर्माचरण करे, जिससे जीवोंको भय न हो, उसे ही धर्म जानो; गतानुगतिक होके लोकव्यवहार न करे। हे जाजली! सुनो, जो लोग मुझपर प्रहार करें, अथवा जो प्रशंसा करें, वे दोनों ही मेरे पक्षमें समान हैं; मुझे हर्ष-विषाद कुछ भी नहीं है। मनीषी लोग इस ही प्रकार धर्मकी प्रशंसा किया करते हैं, यति लोग भी युक्तिपूरित उक्त धर्मकी सेवा किया करते हैं, धर्मशील मनुष्य सदा निपुण नेत्रसे उक्त धर्मको अवलोकन करते हैं। (५२—५४)

शान्तिपर्वमें २६२ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २६३ अध्याय।

जाजली मुनि बोले, तुमने तुला धारण करके यह धर्म प्रवर्त्तन किया है, इससे जीवोंके स्वर्गद्वार और जीविकाका अवरोध होता है। कृषिसे अन्न उत्पन्न होता है, तुम भी उसहीसे जीवन धारण किया करते हो; प्राणिमात्रही पशु और औषधियोंके जरियेही जीवन धारण करते हैं यज्ञ भी इनसे ही पूर्ण हुआ करता है। तुम्हारे वचनमें नास्तिकता दीखती है। क्यों कि तुम उसही यज्ञकी निन्दा करके नास्तिकता प्रकाशित करते हो। लोग प्रवृत्तिमूलक धर्मको परित्याग करके कदाचित् जीवन धारण

न यज्ञं च विनिन्दामि यज्ञवित्तु सुदुर्लभः ॥ ४ ॥
नमो ब्राह्मणयज्ञाय ये च यज्ञविदो जनाः।
स्वयज्ञं ब्राह्मणा हित्वा क्षत्रयज्ञमिहास्थिताः ॥ ५ ॥
लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन्नास्तिकैः संप्रवर्तितम्।
वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम् ॥ ६ ॥
इदं देयमिदं देयमिति चायं प्रशस्यते।
अतः स्तैन्यं प्रभवति विकर्माणि च जाजले ॥ ७ ॥
यदेव सुकृतं हव्यं तेन तुष्यन्ति देवताः।
नमस्कारेण हविषा स्वाध्यायैरौषधैस्तथा।
पूजा स्याद्देवतानां हि यथाशास्त्रनिदर्शनम् ॥ ८ ॥
इष्टापूर्ताद्साधूनां विगुणा जायते प्रजा।
लुब्धेभ्यो जायते लुब्धः समेभ्यो जायते समः॥ ९ ॥
यजमाना यथाऽऽत्मानमृत्विजश्च तथा प्रजाः।

करनेमें समर्थ नहीं होते। (१-३)

तुलाधार बोला, हे द्विज जाजली! मैं निज वृत्तिका विषय कहता हूं, मैं नास्तिक नहीं हूं और यज्ञकी भी निन्दा नहीं की है, यज्ञवित् पुरुप अत्यन्त दुर्लभ हैं; मैं ब्राह्मण यज्ञको नमस्कार करता हूं। जो सब ब्राह्मण यज्ञ प्रकरण जानते हैं, उन्होंने अपने निजके यज्ञ परित्याग करके इस समय हिंसामय क्षत्रिय यज्ञ अवलम्बन किया है। हे ब्रह्मन्! वित्तपरायण लोभी आस्तिक लोगोंने वेदवाक्योंको न जानके सत्य की भांति भासमान मिथ्याके प्रवर्त्तन करनेके कारण "इस यज्ञमें यह दक्षिणा दान करनी योग्य है," इस ही प्रकार यज्ञकी प्रशस्तता साधन की है। हे जाजली! इसही निमित्त यजमानके साध्य होनेपर भी यथायोग्य दक्षिणा दान न करनेसे चोरी और अकल्याण-कर विपरीत कार्योंकी उत्पत्ति हुई है। (४—७)

नमस्कार स्वरूप हवि, स्व-शाखोक्त वेदपाठ और औषध स्वरूप सुकृतसे प्राप्त हुआ जो हव्य है, उसहीके जरिये देवता लोग प्रसन्न हुआ करते हैं, शास्त्र निदर्शनके अनुसार देवताओंकी पूजा हुआ करती है। कामनावान् मनुष्योंके इष्टापूर्त्तसे विगुण सन्तानोंकी उत्पत्ति होती है। यजमानके लोभी होनेसे उसकी सन्तान भी लोभी होती है; यज-मानके रागद्वेषसे रहित होनेसे उसकी सन्तान भी वैसीही हुआ करती है।

यज्ञात्प्रजा प्रभवति नभसोऽम्भ इवामलम् ॥ १० ॥
अग्नौ प्रास्ताहुतिर्ब्रह्मन्नादित्यमुपगच्छति ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ ११ ॥
तस्मात्सुनिष्ठिताः पूर्वे सर्वान्कामांश्च लेभिरे ।
अकृष्टपच्या पृथिवी आशीर्भिर्वीरुधोऽभवन् ॥ १२ ॥
न ते यज्ञेष्वात्मसु वा फलं पश्यन्ति किंचन ।
शङ्कमानाः फलं यज्ञे ये यजेरन्कथंचन ॥ १३ ॥
जायन्तेऽसाधवो धूर्ता लुब्धा वित्तप्रयोजनाः ।
स स्म पापकृतां लोकान्गच्छेदशुभकर्मणा ॥ १४ ॥
प्रमाणमप्रमाणेन यः कुर्यादशुभं नरः ।
पापात्मा सोऽकृतप्रज्ञः सदैवेह द्विजोत्तम ॥ १५ ॥
कर्तव्यमिति कर्तव्यं वेत्ति वै ब्राह्मणो भयम् ।
ब्रह्मैव वर्तते लोके नैव कर्तव्यतां पुनः ॥ १६ ॥

यजमान अपनेको जैसा समझता है, सन्तान भी वैसीही होती है। आकाशसे निर्मल जल बरसनेकी भांति यज्ञसे ही प्रजा समूहकी उत्पत्ति हुआ करती है। हे ब्रह्मन्! अग्निमें डाली हुई आहुति सूर्यमण्डलमें पहुंचती है, सूर्यसे वृष्टि उत्पन्न होती है, वर्षासे अन्न उत्पन्न हुआ करता है, और अन्नसे ही प्रजासमूहकी उत्पत्ति होती है। (८-११)

यज्ञनिष्ठ मनुष्योंने फलानुसन्धान न करके यज्ञसे ही सब काम्य वस्तुएं पायी हैं। उस समय यज्ञके प्रभावसे पृथ्वीमें विना जोते ही शस्य उत्पन्न होते और वृक्षोंमें अनायास ही फल लगते थे; इसहीसे लोग कृषिकार्यके निमित्त भूमिमें रहनेवाले सर्प आदि प्राणिओंकी हिंसासे लिप्त नहीं होते थे। तिसके अनन्तर मनुष्य यज्ञ आदि कर्मोंके फल, कर्त्ताको नहीं देखते थे। जो लोग "यज्ञ करनेसे फल है, वा नहीं" इसही भांति सन्देहयुक्त होकर किसी प्रकारका यज्ञ करते हैं, वे लोग असाधु, दम्भी, धनलोलुप और लोभी कहके विख्यात होते हैं। हे द्विजवर! जो पुरुष कुतर्कसे वेदोंको अप्रामाण्य सिद्ध करता है, वह उसही अशुभ कर्मसे पापाचारियोंके लोकमें गमन किया करता है, और उसेही इस लोकमें पापात्मा वा अत्यन्त अकृतप्रज्ञ कहा जाता है, वैसे पुरुषकी कभी मुक्ति नहीं होती। (१२—१५)

नित्य कर्मोंको अवश्य करना चाहिये,

विगुणं च पुनः कर्म ज्याय इत्यनुशुश्रुम ।
सर्वभूतोपघातश्च फलभावे च संयमः ॥ १७ ॥
सत्ययज्ञा दमयज्ञा अर्थलुब्धार्थतृप्तयः ।
उत्पन्नत्यागिनः सर्वे जना आसन्नमत्सराः ॥ १८ ॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञतत्त्वज्ञाः स्वयज्ञपरिनिष्ठिताः ।
ब्राह्मं वेदमधीयन्तस्तोषयन्त्यपरानपि ॥ १९ ॥
अखिलं दैवतं सर्वं ब्रह्म ब्रह्मणि संश्रितम् ।
तुष्यन्ति तृप्यतो देवास्तृप्तास्तृप्तस्य जाजले ॥ २० ॥
यथा सर्वरसैस्तृप्तो नाभिनन्दति किंचन ।
तथा प्रज्ञानतृप्तस्य नित्यतृप्तिः सुखोदया ॥ २१ ॥
धर्माधारा धर्मसुखाः कृत्स्नव्यवसितास्तथा ।

उनके न करनेसे भय होता है, इसे जो लोग जानते हैं, वेही ब्रह्मनिष्ठ हैं। इस लोकमें जो पुरुष अपनेमें वयोवर्णका अध्यास करके कर्तृत्व मालूम नहीं करते वेही ब्राह्मण हैं; अर्थात् कर्तृत्वाभिमान और फलाभिलाष परित्याग करके कर्माङ्गोंमें ब्रह्मदृष्टि करते हुए जो लोग अशन, पान आदिकी भांति कर्म किया करते हैं उन्हें ही ब्रह्मनिष्ठ कहा जाता है। ऐसे ब्राह्मणोंके कर्म द्विगुण होने और अपवित्र कुत्ते, सूकर आदि पशुओंके जरिये विघ्नित होनेपर भी श्रेष्ठ रूपसे परिगणित हुआ करते हैं, यह श्रुतिमें वर्णित है; परन्तु मेरा यह कर्म इस विघ्नसे नष्ट हुआ है, ऐसा ज्ञान होनेपर उसके लिये प्रायश्चित्त करना होगा, यह भी वेदमें वर्णित है। (१६—१७)

जो सब पुरुष सत्य कहते और इन्द्रिय संयमकोही यज्ञ समझते हैं, परम पुरुषार्थ प्राप्त करनेमें जिन्हें लोभ होरहा है; वित्त वा विषयोंसे जिनकी तृप्ति हुई है और जो दूसरे दिनके लिये अर्थसंग्रह नहीं करते, वेही अमत्सरी हुआ करते हैं। जो सब योगनिष्ठ पुरुष क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके तत्वको जानते तथा प्रणव अध्ययन करते हैं, वे दूसरोंको सन्तुष्ट किया करते हैं। सब देवता और समस्त वेदस्वरूप प्रणव ब्रह्मवित् पुरुषमें प्रतिष्ठित होरहे हैं। हे जाजलि! उसही ब्रह्मवित् पुरुषके तृप्त होनेसे आदित्य आदि देवता तृप्त और सन्तुष्ट होते हैं। जो सब रसोंसे तृप्त हुए हैं, वे जैसे कोई दूसरे रसान्तरका अभिनन्दन नहीं करता, वैसेही प्रज्ञानतृप्त पुरुषोंको अनायास ही नित्यतृप्ति हुआ करती है। (१८—२१)

अस्ति नस्तत्त्वतो भूय इति प्राज्ञस्त्ववेक्षते ॥ २२ ॥
ज्ञानविज्ञानिनः केचित्परं पारं तितीर्षवः ।
अतीव पुण्यदं पुण्यं पुण्याभिजनसंहितम् ॥ २३ ॥
यत्र गत्वा न शोचन्ति न च्यवन्ति व्यथन्ति च ।
ते तु तद्ब्रह्मणः स्थानं प्राप्नुवन्तीह सात्त्विकाः ॥ २४ ॥
नैव ते स्वर्गमिच्छन्ति न यजन्ति यशोधनैः ।
सतां वर्त्मानुवर्तन्ते यजन्ते चाविहिंसया ॥ २५ ॥
वनस्पतीनोषधीश्च फलं मूलं च ते विदुः ।
न चैतानृत्विजो लुब्धा याजयन्ति फलार्थिनः॥ २६ ॥
स्वमेव चार्थं कुर्वाणा यज्ञं चक्रुः पुनर्द्विजाः ।
परिनिष्ठितकर्माणः प्रजानुग्रहकाम्यया ॥ २७ ॥
तस्मात्तानृत्विजो लुब्धा याजयन्त्यशुभान्नरान् ।
प्रापयेयुः प्रजाः स्वर्गं स्वधर्माचरणेन वै ।

धर्महीं जिनका एक मात्र अवलम्ब है, धर्मसे ही जो लोग सुखी हुआ करते हैं, उन्होंने ही समस्त कार्याकार्योंके निश्चय किये हैं, और कर्मके जरिये जिन का अन्तःकरण शुद्ध हुआ है वह प्राज्ञ पुरुष हमारे स्वरूपसे बुद्धिके बीच चिदाभासमय पुरुषसे बढके और कोई भी नहीं है, इसे ही अवलोकन करते हैं। जो सब ज्ञान विज्ञानसे युक्त सात्विक पुरुष संसारके पार जानेकी अभिलाष करते हैं, वे लोग जिस स्थानमें जानेसे शोक नहीं करना होता, च्युत नहीं होना पडता, व्यथित नहीं होना पडता, उसही पुण्याभिजन नाम अत्यन्त पुण्यप्रद पवित्र ब्रह्मलोकको पाते हैं। वे स्वर्गकी कामना नहीं करते, धनसाध्य कर्मोंसे परब्रह्मकी पूजा करनेके अभिलाषी नहीं होते, केवल साधुमार्ग अर्थात् योगमें निवास करते हुए अहिंसाके जरिये ईश्वरकी आराधना किया करते हैं। (२२-२५)

वे लोग वनस्पति, फलमूलोंको हवनीय रूपसे जानते हैं, धनार्थी ऋत्विक् वैसे निर्द्धन यजमानोंका याजन नहीं करते; उक्त द्विजातियोंके सब कर्म समाप्त होनेपर भी वे लोग प्रजासमूहके विषयमें अनुग्रहकी अभिलाष करके अपनेको ही अर्थ कल्पना करते हुए मानसयज्ञ पूर्ण किया करते हैं। लोभी ऋत्विक् जब वैसे निर्द्धन पुरुषोंका याजन नहीं करते, तब अवश्यही वे लोग मोक्षकी इच्छासे रहित पुरुषोंका

इति मे वर्तते बुद्धिः समा सर्वत्र जाजले ॥ २८ ॥
यानि यज्ञेष्विहेज्यन्ति सदा प्राज्ञा द्विजर्षभाः।
तेन ते देवयानेन पथा यान्ति महामुने ॥ २९ ॥
आवृत्तिस्तस्य चैकस्य नास्त्यावृत्तिर्मनीषिणः।
उभौ तौ देवयानेन गच्छतो जाजले यथा ॥ ३० ॥
स्वयं चैषामनडुहो युज्यन्ति च वहन्ति च।
स्वयमुस्राश्च दुह्यन्ते मनःसङ्कल्पसिद्धिभिः ॥ ३१ ॥
स्वयं यूपानुपादाय यजन्ते स्वाप्तदक्षिणैः।
यस्तथा भावितात्मा स्यात्स गामालब्धुमर्हति ॥३२॥
ओषधीभिस्तथा ब्रह्मन्यजेरंस्ते न तादृशाः।
इति त्यागं पुरस्कृत्य तादृशं प्रब्रवीमि ते ॥ ३३ ॥

ही याजन किया करते हैं। साधु लोग स्वधर्माचरणके जरिये दूसरोंका उपकार करते हैं, वे लोग समबुद्धिके कारण धर्मफलकी कामना नहीं करते। हे जाजली! इस ही लिये मैं सर्वत्र समबुद्धि होरहा हूं, अर्थात् सत् और असत् वृत्तिकी विभिन्नता निबन्धनसे मैं सदाचरणका ही अनुसरण किया करता हूं। हे महामुनि! कर्मठ वा उपासक ब्राह्मण लोग इस लोकमें सदा जो सब पुनरावृत्तिप्रद मार्गप्रदर्शक और अपुनरावृत्तिप्रद मार्गप्रदर्शक यज्ञ याजन करते हैं वे उस ही देवयान पथके जरिये पितृलोक और देवलोकमें गमन किया करते हैं।(२६-२९)

हे जाजली! देवयान पथसे गमन करनेपर भी कर्मठ पुरुषोंका पुनरागमन हुआ करता है, और मनको निग्रह करनेवाले उपासकोंकी पुनरावृत्ति नहीं होती, अर्थात् दिव्य पथसे गमन करने पर भी दोनोंके सङ्कल्पभेद निबन्धनसे कर्मठ ब्राह्मणोंकी आवृत्ति और उपासकोंकी अनावृत्ति हुआ करती है; इसलिये कर्ममें रत कर्मठ ब्राह्मणों और मनको निरोध करनेवाले उपासक ब्राह्मणोंमें बहुत ही विलक्षणता है। सत्य सङ्कल्प उपासकोंकी मनकी सङ्कल्पसिद्धिके जरिये वृषभ स्वयं जुतके हल खींचते हैं और गौवें दूध दोहन किया करती हैं। उनके मानसिक यज्ञ सङ्कल्पसे ही सिद्ध होते हैं; वे लोक संकल्प सिद्ध होनेसे यूप-दक्षिणा आदि यज्ञके द्रव्योंको मनसे ही उत्पन्न किया करते हैं। जिन्होंने इसही प्रकार योगाभ्यासके जरिये चित्तशोधन किया है, वे मधुपर्कमें गवालंभ कर सकते हैं। (३०-३२)

हे ब्रह्मन्! जो लोग उस प्रकार

निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३४ ॥
न श्रावयन्न च यजन्न ददद्ब्राह्मणेषु च ।
काम्यां वृत्तिं लिप्समानः कां गतिं याति जाजले ।
इदं तु दैवतं कृत्वा यथा यज्ञमवाप्नुयात् ॥ ३५ ॥
जाजलिरुवाच-न वै मुनीनां शृणुमः स्म तत्त्वं पृच्छामि ते वाणिज कष्टमेतत्।
पूर्वं पूर्वं चास्य नावेक्षमाणा नातः परं तमृषयः स्थापयन्ति ॥ ३६ ॥
यस्मिन्नेवात्मतीर्थे न पशवः प्राप्नुयुर्मखम् ।
अथ स्म कर्मणा केन वाणिज प्राप्नुयात्सुखम् ।
शंस मे तन्महाप्राज्ञ भृशं वै श्रद्दधामि ते ॥ ३७ ॥
तुलाधार उवाच-उत यज्ञा उतायज्ञा मखं नार्हन्ति ते क्वचित् ।

विशुद्धचित्तवाले नहीं हैं, वे लोग पशु-हिंसा करनेसे अवश्यही प्रत्यवायभागी होंगे, इसलिये उनके लिये औषधियोंसे ही यज्ञसाधन विहित हुआ करता है। त्यागका ऐसा माहात्म्य होनेसे ही मैंने त्यागका पुरस्कार करके तुम्हारे समीप वैसा वचन कहा है। जिसे आशा और आरम्भ नहीं है, जो किसीको नमस्कार वा प्रशंसा नहीं करते, जो क्षीण नहीं हैं, परन्तु जिनके सब कर्म क्षीण हुए हैं, देवता लोग उन्हें ब्राह्मण जानते हैं। जो पुरुष वेदश्रवण, देवयजन, ब्राह्मणों को दान नहीं करता और स्त्रियोंकी वृत्ति लाभकी इच्छा किया करता है, वह असुर स्वभाववाला मनुष्य देवमार्ग वा पितर मार्ग किसी पथमें भी गमन करनेमें समर्थ नहीं होता। आशाहीनता आदि पूर्वोक्त वाक्यको देवताकी भांति सेवनीय समझनेसे यथाविधि यज्ञ स्वरूप परमात्माको प्राप्त किया जाता है। (३१-३५)

जाजली मुनि बोले, हे वणिक् ! मैंने आत्मयाजी योगियोंके तत्वको नहीं सुना है, इस ही निमित्त तुम्हारे निकट यह दुर्ज्ञेय विषय पूछता हूं। पहलेके महर्षियोंने इस प्रकार योगधर्मकी आलोचना नहीं की है, इससे लोकके बीच यह रहस्य धर्म प्रचारित नहीं हुआ है। हे महाप्राज्ञ वणिक् ! यद्यपि आत्मतीर्थ अर्थात् आत्मस्वरूप यज्ञभूमिमें पशुतुल्य मन्दबुद्धि मनुष्य मानसिक यज्ञजनित सुखलाभ करनेमें समर्थ नहीं होते, तब वे लोग किस कर्मके जरिये सुखलाभके अधिकारी होंगे उसे तुम मेरे समीप वर्णन करो। मैं तुमपर अत्यन्त श्रद्धा करता हूं। (३६-३७)

आज्येन पयसा दध्ना पूर्णाहुत्या विशेषतः ।
वालैः शृङ्गेण पादेन संभरत्येव गौर्मखम् ॥ ३८ ॥
पत्नीं चानेन विधिना प्रकरोति नियोजयन् ।
इष्टं तु दैवतं कृत्वा यथा यज्ञमवाप्नुयात् ॥ ३९ ॥
पुरोडाशो हि सर्वेषां पशूनां मेध्य उच्यते ।
सर्वा नद्यः सरस्वत्यः सर्वे पुण्याः शिलोच्चयाः ॥४० ॥
जाजले तीर्थमात्मैव मा स्म देशातिथिर्भव ।
एतानीदृशकान्धर्मानाचरन्निह जाजले ।
कारणैर्धर्ममन्विच्छन्स लोकानाप्नुते शुभान् ॥ ४१ ॥
भीष्म उवाच— एतानीदृशकान् धर्मांस्तुलाधारः प्रशंसति ।
उपपत्त्याभिसंपन्नान्नित्यं सद्भिर्निषेवितान् ॥ ४२ ॥ [९३०४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६३ ॥

तुलाधार बोले, जिन सब दाम्भिकों के यज्ञ श्रद्धाहीनताके कारण अयज्ञ रूपसे प्रतिपन्न हुआ करते हैं, वे लोग आन्तरिक वा बाह्य कोई यज्ञ करनेके योग्य नहीं हैं । श्रद्धावान् मनुष्योंको एक ही गऊके जरिये बाह्य क्रतु सिद्ध हुआ करता है; क्योंकि घृत, दूध, दही, विशेष करके पूर्णाहुतिमें असमर्थके विषयमें गोपूंछसे तर्पणके निमित्त पूंछके रोम, अभिषेक आदि निबन्धनमें गोशृङ्ग और खुररज, इन सात प्रकार की वस्तुओंसे गोयज्ञके कार्य सिद्ध हुआ करते हैं । इस पशुहिंसारहित घृतादिके बीच यज्ञविधिसे घृत आदि वस्तु देव उद्देश्यसे विनियोगके लिये मानसिक श्रद्धाको पत्नीरूपसे कल्पना करनी होती है; क्यों कि अपतिक पुरुषका वैदिक यज्ञ सिद्ध नहीं होता । (३८–३९)

यज्ञको अत्यन्त सेवनीय-दैवत समझनेसे यज्ञरूपी विष्णुको यथावत् प्राप्त किया जाता है । अपवित्र पशुओंसे पुरोडाश ही पवित्ररूपसे वर्णित हुआ करता है । हे जाजली ! जिससे आत्मसाधन होता है, वही यज्ञभूमि है, आत्माही सरस्वती आदि समस्त नदी और पवित्र शैलस्वरूप है; इसलिये आत्माको न जानके अन्य तीर्थोंका अतिथि मत बनो । हे जाजली ! इस लोकमें जो लोग इस ही भांति अहिंसामय धर्माचरण करते हैं और अर्थित्व वा समर्थित्व तारतम्यके अनुसार धर्मानुष्ठान किया करते हैं, वे शुभलोकोंको

तुलाधार उवाच—सद्भिर्वा यदि वासद्भिः पन्थानमिममास्थितम् ।
प्रत्यक्षं क्रियतां साधु ततो ज्ञास्यसि तद्यथा ॥ १ ॥
एते शकुन्ता बहवः समन्ताद्विचरन्ति ह
तवोत्तमाङ्गे संभूताः श्येनाश्चान्याश्च जातयः ॥ २ ॥
आहूयैनान्महाब्रह्मन्विशमानांस्ततस्ततः ।
पश्येमान्हस्तपादैश्च श्लिष्टान्देहेषु सर्वशः ॥ ३ ॥
संभावयन्ति पितरं त्वया संभाविताः खगाः ।
असंशयं पिता वै त्वं पुत्रानाहूय जाजले ॥ ४ ॥
भीष्म उवाच— ततो जाजलिना तेन समाहूताः पतत्त्रिणः ।
वाचमुच्चारयन्ति स्म धर्मस्य वचनात्किल ॥ ५ ॥
अहिंसादि कृतं कर्म इह चैव परत्र च ।
श्रद्धां निहन्ति वै ब्रह्मन्सा हता हन्ति तं नरम्॥ ६ ॥
समानां श्रद्दधानानां संयतानां सुचेतसाम् ।

पाते हैं। (३९—४१)

भीष्म बोले, तुलाधार इस ही प्रकार युक्तिसङ्गत वा सदा साधुओंसे सेवित इस समस्त धर्मकी प्रशंसा किया करता है। (४२)

शान्तिपर्वमें २६३ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २६४ अध्याय।

तुलाधार बोला, साधु वा असाधुओंसे अवलम्बित इस पथको उत्तम रीतिसे मालूम करो, ऐसा होनेसे ही उसका जैसा फल है उसे जान सकोगे। ये सब अनेक जातीय पक्षी इस स्थानमें विचर रहे हैं। तुम्हारे उत्तमाङ्गसे जो उत्पन्न हुए थे, वे सब और बाज तथा दूसरी जातिके पक्षी भी इनके बीच विद्यमान हैं, इन सबोंने अपने घोसलोंमें प्रवेश करनेके निमित्त हस्तपादादि संकुचित किये हैं। हे ब्रह्मन्! इस लिये इस समय तुम इन्हें आवाहन करके देखो। यह देखिये, पक्षीवृन्द तुमसे समादृत होके तुम्हारा संमान कर रहे हैं। हे जाजली! पुत्रोंको आह्वान करो, तुम इनके पिता हुए हो, इसमें सन्देह नहीं है। (१-४)

भीष्म बोले, अनन्तर उस जाजली मुनिके बुलाने पर पक्षियोंने अहिंसामय धर्म वचनके अनुसार प्रत्युत्तर दिया। हे ब्रह्मन्! हिंसाके जरिये किया हुआ कर्म इसलोक और परलोकमें श्रद्धा नष्ट करता है, श्रद्धा नष्ट होनेपर श्रद्धाहीन मनुष्यको विनष्ट किया करता है, लाभ हानिमें समदर्शी, श्रद्धावान्, शान्त,

कुर्वतां यज्ञ इत्येव न यज्ञो जातु नेष्यते ॥ ७ ॥
श्रद्धा वैवस्वती सेयं सूर्यस्य दुहिता द्विज।
साऽवित्री प्रसवित्री च बहिर्वाङ्मनसी तत। ॥ ८ ॥
वाग्वृद्धं त्रायते श्रद्धा मनोवृद्धं च भारत।
श्रद्धावृद्धं वाङ्मनसी न कर्म त्रातुमर्हति ॥ ९ ॥
अत्र गाथा ब्रह्मगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
शुचेरश्रद्दधानस्य श्रद्दधानस्य चाशुचेः ॥ १० ॥
देवा वित्तममन्यन्त सदृशं यज्ञकर्मणि।
श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः ॥ ११ ॥
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन्।
प्रजापतिस्तानुवाच विषमं कृतमित्युत ॥ १२ ॥

दान्त पुरुष "यज्ञ करना योग्य है" ऐसे ही अभिसन्धि करके अर्थात् कर्तृत्वाभिमान अथवा फलाभिसन्धि न करके यदि यज्ञका अनुष्ठान करें, तो उनके अनुष्ठित यज्ञसे कदापि अनिष्ट फलकी उत्पत्ति न होवे। हे द्विज! ब्रह्मविषयिणी श्रद्धाको सूर्यके समान प्रकाशमान सत्वकी पुत्री अर्थात् सात्विकी कहा जाता है; वह श्रद्धा पालन करती है, इसहीसे सावित्री और शुद्ध जन्म प्रदान करती है, इसीसे प्रसवित्री रूपसे कही जाती है। वाक्य, मन वा श्रद्धाके उस बहिरङ्ग अर्थात् जप और ध्यानजनित धर्मसे श्रद्धा ही सब प्रकार श्रेष्ठ है। (५-८)

हे भारत! मन्त्र आदि उच्चारण करनेके समय स्वर-वर्ण विपर्यासके जरिये जो वाक्य नष्ट होता है, और व्यग्र चित्तसे जो देवताओंके ध्यान आदि विनष्ट होते हैं, श्रद्धा उसका समाधान करती है; परन्तु वचन, मन और कर्म, श्रद्धाहीन पुरुषको परित्राण करनेमें समर्थ नहीं होते। पुराण जाननेवाले पण्डित लोग इस विषयमें ब्रह्माने कही हुई यह गाथा कहा करते हैं, कि पवित्र और अश्रद्धावान् तथा श्रद्धावान् और अपवित्र पुरुषके वित्तको देवता लोग यज्ञ कर्ममें समानही समझते हैं। श्रोत्रिय होके भी जो पुरुष कृपणता व्यवहार करता है, और धान्य बेचके भी जो वदान्य होता है, देवताओंने विचार करके उन दोनोंके अन्नको समान भावसे कल्पना किया था। प्रजापतिने उस ही लिये उनसे कहा था हे देवतावृन्द! तुमने जो कुछ कहा है, वह अत्यन्त विषम हुआ है। (९-१२)

श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत्।
भोज्यमन्नं वदान्यस्य कदर्यस्य न वार्धुषेः ॥ १३ ॥
अश्रद्दधान एवैको देवानां नार्हते हविः।
तस्यैवान्नं न भोक्तव्यमिति धर्मविदो विदुः ॥ १४ ॥
अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचनी।
जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णामिव त्वचम् ॥१५॥
ज्यायसी या पवित्राणां निवृत्तिः श्रद्धया सह।
निवृत्तशीलदोषो यः श्रद्धावान्पूत एव सः ॥ १६ ॥
किं तस्य तपसा कार्यं किं वृत्तेन किमात्मना।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ १७ ॥
इति धर्मः समाख्यातः सद्भिर्धर्मार्थदर्शिभिः।
वयं जिज्ञासमानास्तु संप्राप्ता धर्मदर्शनात् ॥ १८ ॥
श्रद्धां कुरु महाप्राज्ञ ततः प्राप्स्यसि यत्परम्।
श्रद्धावान् श्रद्दधानश्च धर्मश्चैव हि जाजले।

वदान्य पुरुषके श्रद्धायुक्त अन्न भक्षणीय हैं, अश्रद्धासे सिद्ध हुए अन्न भक्षणीय नहीं है, और कृपण तथा वृद्धिजीवीका अन्न न खाना चाहिये। केवल अश्रद्धावान् मनुष्य देवताओंको हवि दान करनेके योग्य नहीं है, उनका भी अन्न अभक्षणीय है; ऐसा धर्म जाननेवाले पुरुष कहा करते हैं। अश्रद्धा ही परम पाप स्वरूप है, और श्रद्धा ही पापको दूर किया करती है। जैसे सांप अपनी पुरानी केचुली परित्याग करता है, श्रद्धावान् मनुष्य उस ही प्रकार पाप परित्याग किया करते हैं। (१३-१५)

श्रद्धाके सहित निवृत्तिमार्गको अवलम्बन करना ही सब पवित्रताके बीच श्रेष्ठ है, राग आदि दोषोंसे जो लोग निवृत्त हुए हैं, वेही श्रद्धावान् और पवित्र हैं, उन्हें तपस्या, शील और धर्मके अभ्याससे क्या प्रयोजन है। ये श्रद्धामय पुरुष सात्विकी, राजसी और तामसी भेदसे तीन प्रकारकी श्रद्धाके बीच जैसी श्रद्धासे युक्त होते हैं, तब वह उसही नामसे अर्थात् सात्विक, राजसिक और तामस नामसे प्रसिद्ध हुआ करते हैं। धर्मार्थदर्शी साधुओंने इसही प्रकार धर्म वर्णन किया है; धर्मदर्शन नाम मुनिसे पूछकर उससेही हम लोगोंने इस प्रकार धर्मका लक्षण जाना है। हे महाप्राज्ञ जाजली! तुम श्रद्धा

स्ववर्त्मनि स्थितश्चैव गरीयानेव जाजले ॥ १९ ॥

भीष्म उवाच— ततोऽचिरेण कालेन तुलाधारः स एव च ।
दिवं गत्वा महाप्राज्ञौ विहरेतां यथासुखम् ॥ २० ॥
स्वं स्वं स्थानमुपागम्य स्वकर्मपरिवर्जितम् ।
एवं बहुविधार्थं च तुलाधारेण भाषितम् ॥ २१ ॥
सम्यक्चेदमुपालब्धो धर्मश्चोक्तः सनातनः ।
तस्य विख्यातवीर्यस्य श्रुत्वा वाक्यानि स द्विजः॥२२॥
तुलाधारस्य कौन्तेय शान्तिमेवान्वपद्यत ।
एवं बहुमतार्थं च तुलाधारेण भाषितम् ।
यथौपम्योपदेशेन किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥२३॥ [९३२७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे चतुःषष्ठ्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६४ ॥

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रजानामनुकम्पार्थं गीतं राज्ञा विचख्नुना ॥ १ ॥

करनेसे परम अर्थ पाओगे; जो वेदवाक्यमें श्रद्धावान् और वेदार्थ अनुष्ठान करनेमें श्रद्धा किया करते हैं, वेही धर्मात्मा हैं। हे जाजली ! जो लोग कर्त्तव्य मार्गमें निवास करते हैं, वेही गौरवयुक्त हैं। (१६—१९)

भीष्म बोले, अनन्तर महाप्राज्ञ तुलाधार और जाजली मुनि थोडे ही समयमें सुरलोकमें जाके निज धर्मके उपार्जित अपने अपने स्थानको पाके सुखपूर्वक विहार करने लगे। तुलाधारके जरिये इसही प्रकार अनेक तरहके विषय कहे गये थे; तुलाधारने पूर्णरीतिसे सनातन धर्म जाना था, और जाजली मुनिके समीप कहा था। (२०—२२)

हे कौन्तेय ! द्विजश्रेष्ठ जाजलीने उस विख्यातवीर्य तुलाधारका सब वचन सुनके शान्तिमार्ग अवलम्बन किया था। तुलाधारने यथाविहित दृष्टान्तके जरिये मौनव्रती विप्रवर जाजलीके निकट इस ही प्रकार अनेक भांतिके विषय कहे थे; तुम अब फिर किस विषयको सुननेकी इच्छा करते हो। (२२—२३)

शान्तिपर्वमें २६४ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २६५ अध्याय।

भीष्म बोले, पुरुष आदि पशुओंके विषयमें कृपा करनेके निमित्त महाराजा विचख्नूने जो कुछ कहा था, प्राचीन लोग इस विषयमें उस ही प्राचीन इति-

छिन्नस्थूणं वृषं दृष्ट्वा विलापं च गवां भृशम् ।
गोग्रहे यज्ञवाटस्य प्रेक्षमाणः स पार्थिवः ॥ २ ॥
स्वस्ति गोभ्योऽस्तु लोकेषु ततो निर्वचनं कृतम् ।
हिंसायां हि प्रवृत्तायामाशीरेषा तु कल्पिता ॥ ३ ॥
अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः ।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता ॥ ४ ॥
सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।
कामकाराद्विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून्नराः ॥ ५ ॥
तस्मात्प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता ।
अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥ ६ ॥
उपोष्य संशितो भूत्वा हित्वा वेदकृताः श्रुतीः ।
आचार इत्यनाचाराः कृपणाः फलहेतवः ॥ ७ ॥

हासका उदाहरण दिया करते हैं। उक्त राजा गोमेघ यज्ञमें वृषभोंके शरीरको कटे हुए देखने और गौवोंका अत्यन्त विलाप सुननेसे कातर होके यज्ञभूमिको देखकर लोकके बीच गौवोंकी "स्वस्ति होवे" यही वाक्य निश्चय किया था। गोहिंसा आरम्भ होनेपर उक्त राजाके जरिये यही आशीर्वचन कल्पित हुआ था। जिनकी मर्यादा विचलित हुई है वैसा विमूढ शरीर ही आत्मा है, वा देहके अतिरिक्त कोई दूसरा आत्मा है, ऐसे संशययुक्त चित्तवाले नास्तिक पुरुषोंने यज्ञादिके जरिये बडाई पानेकी अभिलाष करते हुए पशुहिंसाकी प्रशंसा की है; परन्तु सब अर्थ और वेदोंके तत्वको जाननेवाले धर्मात्मा मनुने सब कर्मोंमें ही अहिंसाकी प्रशंसा की है। (१—५)

इच्छानुसारी मनुष्य यज्ञके अतिरिक्त स्थलमें भी पशुहिंसा किया करते हैं, इसलिये प्रमाणके जरिये हिंसा और अहिंसा दोनोंके बलाबलको जान कर सूक्ष्म धर्म अवलम्बन करें, सब प्राणिओंके विषयमें हिंसा न करना ही धर्माधर्मोंमें उत्तम है। गांवके समीप निवास करते हुए संशितव्रती होकर वेदविहित चातुर्मास्ययाजियोंको अक्षय पुण्य होता है, इत्यादि फलश्रुति परित्याग करके आचारबुद्धिके जरिये पुरुष गृहस्थाचार-रहित होने, संन्यास धर्म अवलम्बन करे, पुरुषोंके विषयमें यही कल्याणकारी है, ऐसा ही समझके निष्कर्म अवलम्बन करना चाहिये, और जो फलकी इच्छा करके कर्म करनेमें प्रवृत्त होते हैं, वे

यदि यज्ञांश्च वृक्षांश्च यूपांश्चोद्दिश्य मानवाः ।
वृथा मांसं न खादन्ति नैष धर्मः प्रशस्यते ॥ ८ ॥
सुरां मत्स्यान्मधुमांसमासवं कृसरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु कल्पितम् ॥ ९ ॥
मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत्प्रकल्पितम् ।
विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः ॥ १० ॥
पायसैः सुमनोभिश्च तस्यापि यजनं स्मृतम् ।
यज्ञियाश्चैव ये वृक्षा वेदेषु परिकल्पिताः ॥ ११ ॥
यच्चापि किंचित्कर्तव्यमन्यच्चोक्षैः सुसंस्कृतम् ।
महत्सत्त्वैः शुद्धभावैः सर्वं देवार्हमेव तत् ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर उवाच— शरीरमापदश्चापि विवदन्त्यविहिंसतः ।
कथं यात्रा शरीरस्य निरारम्भस्य सेत्स्यते ॥ १३ ॥

भीष्म उवाच— यथा शरीरं न ग्लायेन्नेयान्मृत्युवशं यथा ।

अत्यन्त क्षुद्र मनुष्य हैं । (५-७)

यदि मनुष्य यज्ञ, वृक्ष, यूपोंको उद्देश्य करके वृथा मांस भक्षण करें, तो वह कुछ भी प्रशंसनीय धर्म नहीं है। यज्ञ करनेवाले मनुष्य कभी वृथा मांस भक्षण नहीं करते, मद्य, मांस, मछली, मधु, आसव, कृसरौदन अर्थात् तिल मिले हुए चावलोंका भक्षण करना धूर्तोंके जरिये प्रवर्तित हुआ है, यह वेदके बीच वर्णित नहीं है । अभिमान, मोह और लोभके वशमें होकर मनुष्यों-की मद्यसेवनमें इच्छा हुआ करती है। ब्राह्मण लोग सब यज्ञोंमें सर्वव्यापी आत्माको ही जानके तृप्त होते हैं; दूध और फूलोंसे उसकी पूजा हुआ करती हैं, उसमें मधु, मांस आदिका प्रयोजन नहीं है। जो सब यज्ञीय वृक्ष वेदमें वर्णित हैं, और जो कुछ करने योग्य तथा जो कुछ शुद्ध आचारके सहारे संस्कारयुक्त हुआ करता है, महत् सत्व और शुद्ध अन्तःकरणके सहित वह सभी देवताके योग्य रूपसे विहित हुआ है। (८—१२)

युधिष्ठिर बोले, शरीर और समस्त आपदा आपसमें विवाद किया करती हैं, अर्थात् आपदा शरीरको अवसन्न करती हैं, और शरीर भी आपदको नष्ट करनेकी इच्छा किया करता है; इससे अत्यन्त हिंसारहित पुरुषकी शरीरयात्रा-का निर्वाह किस प्रकार सिद्ध होसकता है । (१३)

भीष्म बोले, जिससे शरीर ग्लानि-

तथा कर्मसु वर्तेत समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ १४ ॥ [९३४१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि चिरकारिगीतायां पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६५ ॥

युधिष्ठिर उवाच- कथं कार्यं परीक्षेत शीघ्रं वाऽथ चिरेण वा ।
सर्वथा कार्यदुर्गेऽस्मिन् भवान्नः परमो गुरुः ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
चिरकारेस्तु यत्पूर्वं वृत्तमाङ्गिरसे कुले ॥ २ ॥
चिरकारिक भद्रं ते भद्रं ते चिरकारिक ।
चिरकारी हि मेधावी नापराध्यति कर्मसु ॥ ३ ॥
चिरकारी महाप्राज्ञो गौतमस्याभवत्सुतः ।
चिरेण सर्वकार्याणि विमृश्यार्थान्प्रपद्यते ॥ ४ ॥
चिरं स चिन्तयत्यर्थांश्चिरं जाग्रच्चिरं स्वपन् ।
चिरं कार्याभिपत्तिं च चिरकारी तथोच्यते ॥ ५ ॥
अलसग्रहणं प्राप्तो दुर्मेधावी तथोच्यते ।

युक्त वा मृत्युके वशीभूत न हो, वैसे ही कार्योंमें प्रवृत्त होना चाहिये, समर्थ होनेपर धर्माचरण करे, अर्थात् शरीरके अनुकूल धर्मकार्य करे, धर्मके अनुरोधसे शरीर नष्ट न करे। (१४)

शान्तिपर्वमें २६५ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २६६ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! आप हमारे परम गुरु हैं, इससे हिंसामय कार्य दुष्कर होनेसे भी गुरुवचनके अनुसार यदि उसे अवश्य करना पडे, तो विलंब वा शीघ्रताके सहित किस प्रकारसे उसकी परीक्षा करनी होगी, उसे ही कहिये। (१)

भीष्म बोले, पहिले समयमें अङ्गिरा-वंशमें चिरकारीके किये हुए कर्मके जरिये जो घटना हुई थी, प्राचीन लोग इस विषयमें उस ही पुराने इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं। (२)

हे चिरकारिन् ! तुम्हारा ही मङ्गल हो, हे चिरकारिन् ! तुम्हारा ही कल्याण हो, मेधावी चिरकारी कभी किसी कर्ममें अपराधी नहीं होते थे। महाप्राज्ञ चिरकारी गौतमके पुत्र थे, वह बहुत समयतक विचार करके कार्य करते थे, बहुत समयतक सब विषयोंको सोचते थे, बहुत देरतक जागते रहते थे और बहुत देर पर्यन्त सोते रहते थे, तथा विलम्ब करके कार्यमें प्रवृत्त होते थे, इस निमित्त उन्हें चिरकारी कहा जाता है।

बुद्धिलाघवयुक्तेन जनेनादीर्घदर्शिना ॥ ६ ॥
व्यभिचारे तु कस्मिंश्चिद्व्यतिक्रम्यापरान्सुतान्।
पित्रोक्तः कुपितेनाथ जहीमां जननीमिति ॥ ७ ॥
इत्युक्त्वा स सदा विप्रो गौतमो जपतां वरः।
अविमृश्य महाभागो वनमेव जगाम सः ॥ ८ ॥
स तथेति चिरेणोक्त्वा स्वभावाच्चिरकारिकः।
विमृश्य चिरकारित्वाच्चिन्तयामास वै चिरम् ॥ ९ ॥
पितुराज्ञां कथं कुर्यां न हन्यां मातरं कथम्।
कथं धर्मच्छले नास्मिन्निमज्जेयमसाधुवत् ॥ १० ॥
पितुराज्ञा परो धर्मः स्वधर्मो मातृरक्षणम्।
अस्वतन्त्रं च पुत्रत्वं किं तु मां नानुपीडयेत् ॥ ११ ॥
स्त्रियं हत्वा मातरं च को हि जातु सुखी भवेत्।
पितरं चाप्यवज्ञाय कः प्रतिष्ठामवाप्नुयात् ॥ १२ ॥
अनवज्ञा पितुर्युक्ता धारणं मातृरक्षणम्।

थोडी बुद्धिवाले और अदूरदर्शी लोग उन्हें आलसी और मन्दबुद्धि कहते थे। (२-६)

किसी समय गौतमने अपनी स्त्री अहल्याका कुछ व्यभिचार देखकर कोपित होके दूसरी सन्तानोंको अतिक्रम करते हुए चिरकारीसे कहा था, हे चिरकारी! तुम अपनी माताका वध करो। वह जापकश्रेष्ठ महाभाग गौतम ब्राह्मण ऐसा कहके विचार न करके अरण्यमें जाने लगा। चिरकारी स्वभावसे ही बहुत देरके अनन्तर "वही करूंगा" ऐसा वचन कहके चिरकारित्वके सबब बहुत देरतक विचार करके सोचने लगा, कि पिताकी आज्ञा किस प्रकार प्रतिपालन न करूं; किस प्रकारसे ही मातृहत्या करूं। और दुष्टोंकी भांति किस प्रकार इस धर्म-सङ्कटमें निमग्न होऊं। पिताकी आज्ञा माननी परम धर्म है, तथा माताकी रक्षा करना भी स्वधर्म है, और पुत्रत्व भी एकबारही स्वतन्त्र नहीं है; इन दोनोंके बीच मुझे कौन विषय पीडित नहीं करता है। स्त्रीहत्या विशेष करके माताका वध करनेसे कौन पुरुष सुखी होसकता है और पिताकी अवज्ञा करके किस पुरुषको प्रतिष्ठा प्राप्त हुआ करती है। (७-१२)

पिताकी अवज्ञा न करनी ही उचित है और माताकी रक्षा अवश्य करनी

युक्तक्षमावुभावेतौ नातिवर्तेत मां कथम् ॥ १३ ॥
पिता ह्यात्मानमाधत्ते जायायां जज्ञिवानिति ।
शीलचारित्रगोत्रस्य धारणार्थं कुलस्य च ॥ १४ ॥
सोऽहं मात्रा स्वयं पित्रा पुत्रत्वे प्रकृतः पुनः ।
विज्ञानं मे कथं न स्याद् द्वौ बुद्ध्ये चात्मसंभवम् ॥ १५ ॥
जातकर्मणि यत्प्राह पिता यच्चोपकर्मणि ।
पर्याप्तः स दृढीकारः पितुर्गौरवनिश्चये ॥ १६ ॥
गुरुरग्र्यः परो धर्मः पोषणाध्यापनान्वितः ।
पिता यदाह धर्मः स वेदेष्वपि सुनिश्चितः ॥ १७ ॥
प्रीतिमात्रं पितुः पुत्रः सर्वं पुत्रस्य वै पिता ।
शरीरादीनि देयानि पिता त्वेकः प्रयच्छति ॥ १८ ॥
तस्मात्पितुर्वचः कार्यं न विचार्यं कदाचन ।
पातकान्यपि पूयन्ते पितुः शासनकारिणः ॥ १९ ॥

चाहिये, इन दोनों धर्मोंके परस्पर विरुद्ध होनेपर भी मुझे दोनों कार्यका अनुष्ठान करना उचित मालूम होता है, इसलिये मैं इन दोनों धर्मोंको किस प्रकार अतिक्रम न करूं। पिता अपने सद्वृत्त चरित्रके नाम और वंशकी रक्षाके लिये जायाके जरिये जन्म लेकर आत्माको धारण करता है। मैं माता पिता दोनोंसे ही उत्पन्न हुआ हूं दोनोंको ही अपनी उत्पत्तिका कारण जानता हूं; ऐसा ज्ञान मुझे क्यों न होगा। जातकर्म संस्कारके समय पिता कहता है, कि 'प्रस्तर हो' अर्थात् पत्थरकी भांति अच्छेद्य हो 'तथा परशु हो' अर्थात् फरशेकी भांति मेरे शत्रुओंके नाशक बनो। उपनयनके अनन्तर गुरुगृहसे लौटनेपर पिता पुत्रका मस्तक छूके "आत्मा ही पुत्ररूपसे उत्पन्न हुआ है," इत्यादि वचन कहा करता है. पिताके गौरव-निश्चयके विषयमें वही दृढ और पर्याप्त है। पिता प्रतिपालन और शिक्षा देनेसे परम धर्मस्वरूप है। (१३-१७)

पिता जैसी आज्ञा दे, वही धर्म है, यह वेदोंमें भली प्रकार निश्चित है; पुत्र ही पिताका प्रीतिपात्र है और पिता ही पुत्रका सर्वस्व है। शरीर आदि जो कुछ देय पदार्थ हैं, उन्हें केवल पिता ही पुत्रको प्रदान किया करता है; इसलिये पिताकी आज्ञा अवश्य प्रतिपालन करनी चाहिये, कभी उसमें विचार न

भोग्ये भोज्ये प्रवचने सर्वलोकनिदर्शने ।
भर्त्रा चैव समायोगे सीमन्तोन्नयने तथा ॥ २० ॥
पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः ।
पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वाः प्रीयन्ति देवताः ॥ २१ ॥
आशिषस्ता भजन्त्येनं पुरुषं प्राह यत्पिता ।
निष्कृतिः सर्वपापानां पिता यच्चाभिनन्दति ॥ २२ ॥
मुच्यते बन्धनात्पुष्पं फलं वृक्षात्प्रमुच्यते ।
क्लिश्यन्नपि सुतं स्नेहैः पिता पुत्रं न मुञ्चति ॥ २३ ॥
एतद्विचिन्तितं तावत् पुत्रस्य पितृगौरवम् ।
पिता नाल्पतरं स्थानं चिन्तयिष्यामि मातरम् ॥२४॥
यो ह्ययं मयि सङ्घातो मर्त्यत्वे पाञ्चभौतिकः ।
अस्य मे जननी हेतुः पावकस्य यथाऽरणिः ॥ २५ ॥
माता देहारणिः पुंसां सर्वस्यार्तस्य निर्वृतिः ।
मातृलाभे सनाथत्वमनाथत्वं विपर्यये ॥ २६ ॥

करना चाहिये, जो पिताकी आज्ञा पालन करते हैं, वे पापोंसे छूटके पवित्र हुआ करते हैं। वस्त्रादि भोग्यविषय अन्न प्रभृति भोज्य-पदार्थ, वेदाध्ययन, लौकिक शिक्षाके विषय तथा गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन आदि सब संस्कारोंके करनेसे पिता धर्मस्वरूप है, पिता ही स्वर्गरूपी है और पिता ही परम तपस्या स्वरूप है; पिताके प्रसन्न होनेपर सब देवता प्रसन्न हुआ करते हैं। पिता पुत्रसे जो कहे वही पुत्रके विषयमें आशीर्वाद वचन है; यदि पिता पुत्रका आदर करे, तो पुत्र सब पापोंसे छूट जाता है। किसलयोंसे फूल और वृक्षोंसे फल गिरा करते हैं, परन्तु पिता दुःख पानेपर भी प्रीतिके वशमें होकर सन्तानको परित्याग नहीं कर सकता। पुत्रके विषयमें पिताका जैसा गौरव है, उसका मैंने विचार कर लिया पिता साधारण क्षुद्र नहीं है; जो हो, अब माताके विषयका विचार अवश्य करूं। (१७-२४)

मनुष्यशरीर धारण करनेसे मुझमें जो पाञ्चभौतिक समष्टि है, अग्निके प्रकट होनेके कारण अरणीकी भांति माता ही मेरे इस शरीरका हेतु है। माता ही मनुष्यशरीरके विषयमें अरणी-स्वरूप है, माता ही सब सुखोंको विधान करनेवाली है, माताके रहते सभी सनाथ और उसके विपर्यय होनेसे सभी अनाथ

न च शोचति नाप्येनं स्थाविर्यमपकर्षति।
श्रिया हीनोऽपि यो गेहमम्बेति प्रतिपद्यते ॥ २७ ॥
पुत्रपौत्रोपपन्नोऽपि जननीं यः समाश्रितः।
अपि वर्षशतस्यान्ते स द्विहायनवच्चरेत् ॥ २८ ॥
समर्थं वाऽसमर्थं वा कृशं वाप्यकृशं तथा।
रक्षत्येव सुतं माता नान्यः पोष्टा विधानतः ॥ २९ ॥
तदा स वृद्धो भवति तदा भवति दुःखितः।
तदा शून्यं जगत्तस्य यदा मात्रा वियुज्यते ॥ ३० ॥
नास्ति मातृसमा च्छाया नास्ति मातृसमा गतिः।
नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया ॥३१॥
कुक्षिसंधारणाद्धात्री जननाज्जननी स्मृता।
अङ्गानां वर्धनादम्बा वीरसूत्वेन वीरसूः ॥ ३२ ॥
शिशोः शुश्रूषणाच्छुश्रूर्माता देहमनन्तरम्।

हुआ करते हैं। पुरुष श्रीहीन होके भी यदि "मा" कहके गृहमें प्रवेश करे, तो उसे शोक करना न पडे और मातृमान् पुरुषको स्थविरता आकर्षण नहीं कर सकती। पुत्रपौत्रसे युक्त पुरुष भी यदि जननीका आश्रित होवे, तो वह एक सौ वर्षकी अवस्थाका होनेपर भी दो वर्षवालेकी भांति आचरण करता रहे। (२५-२८)

पुत्र समर्थ हो, वा असमर्थ होवे, दुबला हो वा हृष्टपुष्ट ही होवे, माताही उसे विधिपूर्वक पोषण किया करती है; उस प्रकार पालन करनेमें दूसरा कोई भी समर्थ नहीं है। जब मनुष्योंको मातृवियोग होता है तभी वह वृद्ध होता, तभी वह दुःखित होता है, उसही समय उसे सब जगत् सूना बोध होता है; जननीके समान दुःख हरनेवाला कोई भी नहीं है, माताके समान आश्रय-स्थान दूसरा कोई भी नहीं है, प्रकृतिके समान त्राण करनेवाला कोई नहीं है, माताके समान प्रियवादिनी और कोई नहीं है। जननी सन्तानको कुक्षिमें धारण करती है। इसहीसे उसका नाम धात्री है; उससे जन्म होता है, इस ही कारण उसे जननी कहा जाता है; उससे अङ्गोंकी पुष्टि होती है, इसहीसे उसे अम्बा कहा जाता है, और वह वीर पुरुष प्रसव करती है, इसीसे उसे वीरसू कहते हैं। (२९-३२)

माता शिशुकी सेवा करती है; इस ही लिये उसे शुश्रू कहा जाता है, माता

चेतनावान्नरो हन्याद्यस्य नासुषिरं शिरः ॥ ३३ ॥
दम्पत्योः प्राणसंश्लेषे योऽभिसंधिः कृतः किल ।
तं माता च पिता चेति भूतार्थो मातरि स्थितः ॥ ३४ ॥
माता जानाति यद्गोत्रं माता जानाति यस्य सः ।
मातुर्भरणमात्रेण प्रीतिः स्नेहः पितुः प्रजाः ॥ ३५ ॥
पाणिबन्धं स्वयं कृत्वा सह धर्ममुपेत्य च ।
यदा यास्यन्ति पुरुषाः स्त्रियो नार्हन्ति याच्यताम् ॥३६॥
भरणाद्धि स्त्रियो भर्ता पात्याच्चैव स्त्रियः पतिः ।
गुणस्यास्य निवृत्तौ तु न भर्ता न पुनः पतिः॥ ३७ ॥

ही अव्यवहित शरीर स्वरूप है, इसलिये जिसका मेद और मज्जारहित मस्तक सूखे हुए अलाबूकी भांति मार्गके बीच पतित नहीं हुआ है, वैसा कौन चेतन मनुष्य मातृहत्या करनेमें प्रवृत्त होसकता है। दम्पतीके प्राणसंश्लेष समयमें अर्थात् मैथुनकालमें जो अभिसन्धि की जाती है, अर्थात् हमारा पुत्र गौरवर्ण तथा सम्पूर्ण परमायुयुक्त होवे; पिता-माता दोनोंकी ऐसी अभिलाषा होनेपर भी माताकी ही वैसी अभिलाषमें यथार्थ कर्तृत्व है। पुत्र जिस गोत्रमें जिसके औरससे उत्पन्न होता है, उसे माता ही जानती है। माता पुत्रको गर्भमें धारण करती है, इसहीसे उसके ऊपर उसकी प्रीति तथा स्नेह हुआ करता है; इसलिये प्रत्युपकारके लिये माताके विषयमें भक्ति तथा स्नेह पुत्रको अवश्य करना चाहिये। (३३—३५)

"धर्म, अर्थ और काम विषयमें व्यभिचार न करूंगा," स्वयं ऐसी प्रतिज्ञा कर पाणिग्रहण और सहधर्म आचरण करके यदि पुरुष परस्त्रीमें प्रवृत्त हो, तो वैसा पुरुष कभी आदरके योग्य नहीं है; परन्तु मेरा पिता वैसा नहीं है; इसलिये उसकी आज्ञा अवश्य प्रतिपालन करनी चाहिये। तब क्या पिताकी आज्ञासे मातृहत्यामें प्रवृत्त होऊंगा? नहीं, वह भी किस प्रकार सम्भव होसकता है, पत्नीके भरण करनेसे पतिका नाम भर्त्ता है, और पालन करता है, इस ही निमित्त पति नाम हुआ है। जिसके भर्तृत्व और पतित्व धर्मकी निवृत्ति होती है, वह भर्त्ता नहीं है, और पति भी नहीं है; इसलिये जिन्होंने पालनीय भार्याके प्राणनाशकी आज्ञा दी है, इस भर्तृत्व आदि गुणोंसे रहित उन्मत्त समान पिताकी आज्ञासे माताकी हिंसा करनी कदापि न्याय्य नहीं है। (३६-३७)

एवं स्त्री नापराध्नोति नर एवापराध्यति।
व्युच्चरंश्च महादोषं नर एवापराध्यति ॥ ३८ ॥
स्त्रिया हि परमो भर्ता दैवतं परमं स्मृतम्।
तस्यात्मना तु सदृशमात्मानं परमं ददौ ॥ ३९ ॥
नापराधोऽस्ति नारीणां नर एवापराध्यति।
सर्वकार्यापराध्यत्वान्नापराध्यन्ति चाङ्गनाः ॥ ४० ॥
यश्चनोक्तोऽथ निर्देशस्त्रिया मैथुनतृप्तये।
तस्य स्मारयतो व्यक्तमधर्मो नास्ति संशयः ॥ ४१ ॥
एवं नारीं मातरं च गौरवे चाधिके स्थिताम्।
अवध्यां तु विजानीयुः पशवोऽप्यविचक्षणाः ॥४२ ॥
देवतानां समावायमेकस्थं पितरं विदुः।

यदि पुरुष प्रार्थयिता न हो, तो स्त्री कभी व्यभिचारिणी नहीं हो सकती, इसलिये व्यभिचार दोषमें स्त्री अपराधिनी नहीं है, पुरुष ही अत्यन्त महत् व्यभिचार दोषका आचरण करनेसे अपराधी हुआ करता है। भर्ता ही स्त्रियोंके लिये परम श्रेष्ठ और परम देवता स्वरूप है; इसलिये उसहीके वेषधारी इन्द्रको अवलोकन करने पर पर-पुरुष न मालूम होनेसे निज पति जानके ही जब मेरी माताने इन्द्रको अङ्ग-समर्पण किया है, तब उसका इसमें कुछ अपराध नहीं हो सकता; देवराज ही इस विषयमें सब तरहसे अपराधी है। स्त्रियां अल्प-बलवाली होनेसे सब कार्योंमें ही पुरुषोंके अधीन हैं; इसलिये उनके कुछ अपराध नहीं हो सकते। पुरुष सब विषयोंमें अपराधी है, क्यों कि जबर्दस्ती किये हुए व्यभिचार विषयमें स्त्रियोंका अपराध नहीं है; पुरुष ही उस विषयमें सब प्रकारसे दोषी हैं। (३८—४०)

मैथुनजनित तृप्तिके निमित्त किसी स्त्रीने इन्द्रके विषयमें जो वचन कहा था, देवराज उन्हीं सब वचनोंको व्यक्त रूपसे स्मरण करा देनेसे सब तरहसे निःसन्देह अपराधी हुआ है; इसलिये इन्द्रके अपराधसे मुझे मातृहत्या करनी योग्य नहीं है। जो हो, एक तो स्त्री, उस पर भी समधिक गौरवशालिनी माता अवध्य है, इसे पशुके समान मूर्खपुरुष भी विशेष रूपसे जानते हैं; इसलिये मैं किस प्रकार माताका जीवन नष्ट करूंगा। पण्डित लोग पिताको देवताओंका समवाय कहा करते हैं· अर्थात् पिताको सन्तुष्ट करनेसे स्वर्ग

मर्त्यानां देवतानां च स्नेहादभ्येति मातरम् ॥ ४३ ॥
एवं विमृशतस्तस्य चिरकारितया बहु ।
दीर्घः कालो व्यतिक्रान्तस्ततोऽस्याभ्यागमत्पिता ॥ ४४ ॥
मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः
विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थाव्यतिक्रमम् ॥४५॥
सोऽब्रवीद्भृशसंतप्तो दुःखेनाश्रूणि वर्तयन् ।
श्रुतधैर्यप्रसादेन पश्चात्तापमुपागतः ॥ ४६ ॥
आश्रमं मम संप्राप्तस्त्रिलोकेशः पुरन्दरः ।
अतिथिव्रतमास्थाय ब्राह्मणं रूपमास्थितः ॥ ४७ ॥
स मया सान्त्वितो वाग्भिः स्वागतेनाभिपूजितः ।
अर्घ्यं पाद्यं यथान्यायं मया च प्रतिपादितः ॥ ४८ ॥
परवानस्मि चेत्युक्तः प्रणयिष्यति तेन च ।
अत्र चाकुशले जाते स्त्रिया नास्ति व्यतिक्रमः ॥४९॥
एवं न स्त्री न चैवाहं नाध्वगस्त्रिदशेश्वरः ।

मिलता है और मर्त्य तथा अमर्त्योंके समवाय स्नेहके कारण माताके निकटवर्ती हुआ करता है, अर्थात् माता इस लोकमें पालयित्री और अदृष्टके अनुसार परलोकमें परम सुख प्रदान किया करती है। (४१-४३)

चिरकारीके चिरकारित्व निबन्धनसे इस ही प्रकार बहुत विचार करते हुए बहुत समय बीत गया। तिसके अनन्तर उसका पिता उसहीके संमुख आ पहुंचा। महाबुद्धिमान् मेधातिथि गौतम तपस्यामें समय बिताते थे, उस समय वह निज पत्नीका मरना अनुचित समझ कर अत्यन्त सन्तापित होकर दुःखसे आंसू बहाने लगे, वह शास्त्रके पढने और धीरजके प्रभावसे पश्चाताप करके बोले, तीनों लोकके ईश्वर इन्द्र अतिथिव्रत अवलम्बन करके ब्राह्मणका रूप बनाकर मेरे आश्रमपर आये थे, मैं उन्हें वचनसे प्रसन्न करके स्वागत प्रश्नसे आदर करके यथा रीतिसे पाद्य अर्घ्य प्रदान किया और कहा, कि आज मेरे आश्रममें तुम्हारा आगमन होनेसे मैं सनाथ हुआ हूं। देवराज प्रसन्न होंगे, ऐसा समझके मैंने ये सब वचन कहे थे, इस विषयकी चिन्ता करनेसे मालूम होता है, यह अमङ्गल उपस्थित हुआ है, अर्थात् इन्द्रकी चपलतासे मेरी स्त्रीमें दोषस्पर्श होनेसे अहल्याका उसमें कुछ अपराध नहीं हुआ है। इसलिये इस

अपराध्यति धर्मस्य प्रमादस्त्वपराध्यति ॥ ५० ॥
ईर्ष्याजं व्यसनं प्राहुस्तेन चैवोर्ध्वरेतसः।
ईर्ष्यया त्वहमाक्षिप्तो मग्नो दुष्कृतसागरे ॥ ५१ ॥
हत्वा साध्वीं च नारीं च व्यसनित्वाच्च वासिताम्।
भर्तव्यत्वेन भार्यां च को नु मां तारयिष्यति ॥५२ ॥
अन्तरेण मयाऽऽज्ञप्तश्चिरकारीत्युदारधीः।
यद्यद्य चिरकारी स्यात्स मां त्रायेत पातकात् ॥५३ ॥
चिरकारिक भद्रं ते भद्रं ते चिरकारिक।
यद्यद्य चिरकारी त्वं ततोऽसि चिरकारिकः ॥ ५४ ॥
त्राहि मां मातरं चैव तपो यच्चार्जितं मया।
आत्मानं पातकेभ्यश्च भवाद्य चिरकारिकः ॥ ५५ ॥
सहजं चिरकारित्वमतिप्रज्ञतया तव।
सफलं तत्तथा तेऽस्तु भवाद्य चिरकारिकः ॥ ५६ ॥
चिरमाशंसितो मात्रा चिरं गर्भेण धारितः।

विषयमें अहल्या, मैं और स्वर्गपथगामी इन्द्र, इन तीनोंके बीच कोई भी अपराधी नहीं है, धर्मसम्बन्धीय प्रमाद ही इस विषयमें अपराधी है। (४४-५०)

ऊर्द्धरेता मुनि लोग कहते हैं, प्रमादसे ईर्षाजनित विपद उपस्थित होती है, मैं ईर्षासे आकर्षित होकर पापसागरमें डूबा हूं; सती सीमन्तिनी भरणीय भार्याने न जाननेसे ही पर पुरुषका संसर्ग किया, मैंने उसे मारनेकी आज्ञा दी है, इस समय कौन मुझे उस पापसे परित्राण करेगा। मैंने प्रमादके वशमें होकर उदारबुद्धि चिरकारीको मातृहत्या करनेकी आज्ञा दी है, आज यदि वह चिरकारी हो तो वही मुझे इस पापसे परित्राण करेगा। हे चिरकारिन्! तुम्हारा कल्याण होवे, हे चिरकारी! तुम्हारा मङ्गल हो, आज यदि तुम चिरकारी बनो, तभी तुमने यथार्थ चिरकारी नाम धारण किया है। आज तुम मुझे और अपनी माताका परित्राण करो; मैंने जो तपस्या उपार्जन की है उसकी रक्षा करो और आत्माको पापपुञ्जसे परित्राण करके चिरकारी नामसे विख्यात होजाओ। तुम्हारी असाधारण बुद्धिमत्तासे चिरकारित्व गुण स्वभावसिद्ध है, आज तुम्हारा वह गुण सफल होवे, तुम चिरकारी होजाओ। हे चिरकारी! माताने तुम्हें प्राप्त करनेकी लालसासे बहुत समयतक आशा की थी, बहुत

सफलं चिरकारित्वं कुरु त्वं चिरकारिक ॥ ५७ ॥
चिरायते च सन्तापाच्चिरं स्वपिति धारितः।
आवयोश्चिरसन्तापादवेक्ष्य चिरकारिक ॥ ५८ ॥
एवं स दुःखितो राजन्महर्षिर्गौतमस्तदा।
चिरकारिं ददर्शाथ पुत्रं स्थितमथान्तिके ॥ ५९ ॥
चिरकारी तु पितरं दृष्ट्वा परमदुःखितः।
शस्त्रं त्यक्त्वा ततो मूर्ध्ना प्रसादायोपचक्रमे ॥ ६० ॥
गौतमस्तं ततो दृष्ट्वा शिरसा पतितं भुवि।
पत्नीं चैव निराकारां परामभ्यागमन्मुदम् ॥ ६१ ॥
न हि सा तेन संभेदं पत्नी नीता महात्मना।
विजने चाश्रमस्थेन पुत्रश्चापि समाहितः ॥ ६२ ॥
हन्या इति समादेशः शस्त्रपाणौ सुते स्थिते।
विनीते प्रसवत्यर्थे विवासे चात्मकर्मसु ॥ ६३ ॥
बुद्धिश्चासीत्सुतं दृष्ट्वा पितुश्चरणयोर्नतम्।
शस्त्रग्रहणचापल्यं संवृणोति भयादिति ॥ ६४ ॥

समय तक गर्भमें धारण किया था; इसलिये अब तुम अपने चिरकारित्व गुणको सफल करो। हे चिरकारी! हम लोगोंका चिरसन्ताप देखके तुम मेरी आज्ञाको पालन करनेमें प्रवृत्त होकर भी बोध होता है, विलम्ब कर रहे हो। (५१-५८)

हे राजन्! महर्षि गौतमने उस समय इस ही प्रकार अत्यन्त दुःखित होकर निकट आये हुए चिरकारी पुत्रको देखा, चिरकारी भी पिताको देखकर अत्यन्त दुःखित हुआ और शस्त्र त्यागके सिर झुकाकर पिताको प्रसन्न करनेकी इच्छा की। अनन्तर गौतम उसे सिर झुकाके पृथ्वीमें गिरते और पत्नीको लज्जासे पत्थरके समान देखकर अत्यन्त हर्षित हुए, परन्तु महात्मा गृहस्थ गौतमने निर्जन जङ्गलके बीच उस पत्नी और समाहित पुत्रके सहित उस समय पृथग्भाव अवलम्बन नहीं किया। उनके "वध करो" ऐसी आज्ञा देकर निज कर्म साधन करनेके लिये प्रवासमें चले जानेपर उनका पुत्र माताके निमित्त हाथमें शस्त्र लेकर भी विनीतभावसे खडा था, अनन्तर उन्होंने आश्रममें आके अपने दोनों चरणोंपर गिरे हुए पुत्रको देखकर यही समझा, कि चिरकारी भयसे शस्त्र ग्रहण करनेकी चपलताको

ततः पित्रा चिरं स्तुत्वा चिरं चाघ्राय मूर्धनि ।
चिरं दोर्भ्यां परिष्वज्य चिरं जीवेत्युदाहृतः ॥ ६५ ॥
एवं स गौतमः पुत्रं प्रीतिहर्षगुणैर्युतः ।
अभिनन्द्य महाप्राज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ॥ ६६ ॥
चिरकारिक भद्रं ते चिरकारी चिरं भव ।
चिराय यदि ते सौम्य चिरमस्मि न दुःखितः ॥ ६७॥
गाथाश्चाप्यब्रवीद्विद्वान् गौतमो मुनिसत्तमः ।
चिरकारिषु धीरेषु गुणोद्देशसमाश्रयाः ॥ ६८ ॥
चिरेण मित्रं बध्नीयाच्चिरेण च कृतं त्यजेत् ।
चिरेण हि कृतं मित्रं चिरं धारणमर्हति ॥ ६९ ॥
रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि ।
अप्रिये चैव कर्तव्ये चिरकारी प्रशस्यते ॥ ७० ॥
बन्धूनां सुहृदां चैव भृत्यानां स्त्रीजनस्य च ।
अव्यक्तेष्वपराधेषु चिरकारी प्रशस्यते ॥ ७१ ॥
एवं स गौतमस्तत्र प्रीतः पुत्रस्य भारत ।

रोकता है। (५९-६४)

अनन्तर पिताने बहुत समयतक प्रशंसा करके मस्तक सूंघकर दोनों भुजा पसारके पुत्रको आलिङ्गन किया और "चिरजीवी हो" ऐसा वचन कहके उसे आशीर्वाद दिया। प्रीति और हर्षसे युक्त होकर महाप्राज्ञ गौतम इस ही प्रकार पुत्रको अभिनन्दित करते हुए वक्ष्यमाण रीतिसे कहने लगे। हे चिरकारी! तुम्हारा कल्याण होवे; तुम सदाके वास्ते चिरकारी बनो। हे सौम्य! सदाके वास्ते तुम्हारा चिरकारित्व हुआ, मैं कभी दुःखित न होऊंगा, मुनिसत्तम विद्वान् गौतमने धीरबुद्धिवाले चिरकारी लोगोंके गुणोंको वर्णन करके यह सब गाथा कही थी। सदा विचार करके लोगोंके संग मित्रताबन्धन करे, बहुत समयतक विचार करके किये हुए कार्यको परित्याग करे, बहुत समयतक सोचके मित्रता करनेसे वह चिरस्थायी हुआ करती है। राग, दर्प, अभिमान, द्रोह, पापकर्म, अप्रिय कार्य और कर्त्तव्यके अनुष्ठान विषयमें चिरकारी मनुष्य श्रेष्ठ होता है। सुहृत, बन्धु, सेवक और स्त्रियोंके अव्यक्त अपराधके विषयमें चिरकारी पुरुष उत्तम हुआ करता है। (६५—७१)

हे कुरुवंशवर्द्धन भारत! इस ही

कर्मणा तेन कौरव्य चिरकारितया तथा ॥ ७२ ॥
एवं सर्वेषु कार्येषु विमृश्य पुरुषस्ततः ।
चिरेण निश्चयं कृत्वा चिरं न परितप्यते ॥ ७३ ॥
चिरं धारयते रोषं चिरं कर्म नियच्छति ।
पश्चात्तापकरं कर्म न किंचिदुपपद्यते ॥ ७४ ॥
चिरं वृद्धानुपासीत चिरमन्वास्य पूजयेत् ।
चिरं धर्मं निषेवेत कुर्याच्चान्वेषणं चिरम् ॥ ७५ ॥
चिरमन्वास्य विदुषश्चिरं शिष्टान्निषेव्य च ।
चिरं विनीय चात्मानं चिरं यात्यनवज्ञताम् ॥ ७६ ॥
ब्रुवतश्च परस्यापि वाक्यं धर्मोपसंहितम् ।
चिरं पृष्टोऽपि च ब्रूयाच्चिरं न परितप्यते ॥ ७७ ॥
उपास्य बहुलास्तस्मिन्नाश्रमे सुमहातपाः ।
समाः स्वर्गं गतो विप्रः पुत्रेण सहितस्तदा ॥७८॥ [९४१९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि चिरकारिकोपाख्याने षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६६ ॥

युधिष्ठिर उवाच– कथं राजा प्रजा रक्षेन्न च किंचित्प्रघातयेत् ।

प्रकार गौतम पुत्रके चिरकारित्व निबन्धनसे वैसे कर्मके जरिये उस समय प्रसन्न हुए थे; इसलिये पुरुषको कार्यमात्रमें ही इस ही प्रकार विचार करके निश्चय करनेसे कभी परितापग्रस्त नहीं होना पडता, जो लोग सदा रोषको धारण किया करते हैं, चिरकाल ही कर्ममें नियमित रहते हैं, वे तनिक भी पश्चात्तापयुक्त कार्यमें लिप्त नहीं होते, सदा वृद्धोंकी उपासना करे, सदा उनके पश्चात् बैठकर उनका सत्कार करे, सदा धर्मकी सेवामें नियुक्त रहे और सदा धर्मकी खोज करे । सदा विद्वानोंका सङ्ग, शिष्ट पुरुषोंकी सेवा और आत्माको विनीत करनेसे सदाके लिये अनवज्ञता प्राप्त हुआ करती है, दूसरेके बहुत समयतक पूछनेपर धर्मयुक्त वचन कहे, ऐसा होनेसे सदाके लिये दुःखित नहीं होना पडेगा । महातपस्वी द्विजश्रेष्ठ गौतम उस आश्रममें कई वर्ष व्यतीत करके अन्तमें पुत्रके सहित स्वर्गमें गये । (७२–७८)

शान्तिपर्वमें २६६ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें २६७ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे साधुप्रवर पितामह ! राजा किस प्रकार प्रजाकी रक्षा

पृच्छामि त्वां सतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
द्युमत्सेनस्य संवादं राज्ञा सत्यवता सह ॥ २ ॥
अव्याहृतं व्याजहार सत्यवानिति नः श्रुतम् ।
वधायोन्नीयमानेषु पितुरेवानुशासनात् ॥ ३ ॥
अधर्मतां याति धर्मो यात्यधर्मश्च धर्मताम् ।
वधो नाम भवेद्धर्मो नैतद्भवितुमर्हति ॥ ४ ॥

द्युमत्सेन उवाच-अथ चेदवधो धर्मो धर्मः को जातुचिद्भवेत् ।
दस्यवश्चेन्न हन्येरन् सत्यवन्संकरो भवेत् ॥ ५ ॥
ममेदमिति नास्यैतत्प्रवर्तेत कलौ युगे ।
लोकयात्रा न चैव स्यादथ चेद्वेत्थ शंस नः ॥ ६ ॥

सत्यवानुवाच— सर्व एते त्रयो वर्णाः कार्या ब्राह्मणबन्धनाः ।

करे, किस भांतिसे ही दण्डविधान रहित करके प्राणिहिंसासे निवृत्त रहे; उसे ही आपसे पूछता हूं, आप ऊपर कहे हुए विषयको मेरे समीप वर्णन करिये। (१)

भीष्म बोले, राजा सत्यवान्के संग द्युमत्सेनके संवादयुक्त इस पुराने इतिहासका प्राचीन लोग इस विषयमें उदाहरण दिया करते हैं। हमने सुना है, पिताकी आज्ञासे सत्यवान्के जरिये दण्डार्ह पुरुष वधके लिये उपस्थित होने पर "दण्डनीय पुरुषोंके दण्ड न होनेका विषय पहले किसीने नहीं कहा है," सत्यवानने ऐसा ही कहा था। कभी अधर्म धर्म होता है और धर्म भी कभी अधर्म हुआ करता है; परन्तु प्राणिहिंसा करना धर्म है, यह कभी सम्भव नहीं होसकता। (२-४)

द्युमत्सेन बोले, हे सत्यवान्! अहिंसा ही यदि धर्म हुआ, तो राजा डाकुओंके दमन करनेके लिये उनका वध न करनेसे वर्णसङ्कर आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, जबकि हिंसा न करनेसे धर्मकी रक्षा नहीं होती, तब केवल अहिंसाको ही किस प्रकार धर्म कहा जासकता है। और अधर्मप्रधान कलियुगमें "यह वस्तु मेरी है, यह उसकी है" ऐसा निश्चय नहीं होसकता; और डाकुओंको न मारनेसे तीर्थयात्रा तथा वाणिज्य व्यवहार आदिका निभना अत्यन्त कठिन है; इसलिये अहिंसाके जरिये जिसमें वर्णसङ्कर न हो, वह यदि तुम्हें विदित हो, तो उसे तुम मेरे समीप वर्णन करो। (५-६)

धर्मपाशनिबद्धानामन्योऽप्येवं चरिष्यति ॥ ७ ॥
यो यस्तेषामपचरेत्तमाचक्षीत वै द्विजः।
अयं मे न शृणोतीति तस्मिन्राजा प्रधारयेत् ॥ ८ ॥
तत्त्वाभेदेन यच्छास्त्रं तत्कार्यं नान्यथाविधम्।
असमीक्ष्यैव कर्माणि नीतिशास्त्रं यथाविधि ॥ ९ ॥
दस्यून्निहन्ति वै राजा भूयसो वाप्यनागसः।
भार्या माता पिता पुत्रो हन्यन्ते पुरुषेण ते।
परेणापकृतो राजा तस्मात्सम्यक् प्रधारयेत् ॥ १० ॥
असाधुश्चैव पुरुषो लभते शीलमेकदा।
साधोश्चापि ह्यसाधुभ्यः शोभना जायते प्रजा ॥११॥
न मूलघातः कर्तव्यो नैष धर्मः सनातनः।
अपि स्वल्पवधेनैव प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ १२ ॥
उद्वेजनेन बन्धेन विरूपकरणेन च।
वधदण्डेन ते क्लिश्या न पुरोहितसंसदि ॥ १३ ॥

सत्यवान् बोले, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन तीनों वर्णोंको ब्राह्मणोंके अधीन करना उचित है, ऊपर कहे हुए तीनों वर्णोंके धर्मपाशमें बद्ध होनेपर दूसरे प्रतिलोम और अनुलोमजात सूत मागध आदि सङ्करजातीय पुरुष क्षत्रियादिकोंकी भांति धर्माचरण करेंगे। उनके बीच जो पुरुष ब्राह्मणोंका वचन अतिक्रम करेगा, ब्राह्मण उसका विषय राजासे कहे कि यह पुरुष मेरा वचन नहीं सुनता; इससे राजा उसके लिये दण्डविधान करे, नीतिशास्त्रकी विधिपूर्वक आलोचना न करके शरीरके अविनाश विषयमें जो शास्त्र विहित हुआ है; उसमें अन्यथा करना उचित नहीं है। जब राजा डाकुओंके मारनेमें प्रवृत्त होता है, तब उनके पिता, माता, भार्या और पुत्र आदि निहत हुआ करते हैं; इसलिये दूसरेके अपकार करनेपर भी राजाको अवश्य पूरी रीतिसे विचार करना चाहिये। (७-१०)

दुष्ट पुरुष किसी समय साधु चरित्रवाले होते हैं, और असाधुओंसे भी साधु सन्तान उत्पन्न हुआ करती है; इसलिये मूलसहित संहार न करना चाहिये, यह सनातन धर्म है; हिंसा न करनेसे भी दूसरे कार्योंके कारण प्रायश्चित्त विहित होता है, यह निश्चय वचन है। उद्वेजन अर्थात् सर्वस्व हरना, भय दिखाना, बांधना, विरूप करना और

यदा पुरोहितं वा ते पर्येयुः शरणैषिणः ।
करिष्यामः पुनर्ब्रह्मन्न पापमिति वादिनः ॥ १४ ॥
तदा विसर्गमर्हाः स्युरितीदं धातृशासनम् ।
बिभ्रद्दण्डाजिनं मुण्डो ब्राह्मणोऽर्हति शासनम् ॥१५॥
गरीयांसो गरीयांसमपराधे पुनः पुनः ।
तदा विसर्गमर्हन्ति न यथा प्रथमे तथा ॥ १६ ॥
द्युमत्सेन उवाच-यत्र यत्रैव शक्येरन्संयन्तुं समये प्रजाः ।
स तावान्प्रोच्यते धर्मो यावन्न प्रतिलङ्घ्यते ॥ १७ ॥
अहन्यमानेषु पुनः सर्वमेव पराभवेत् ।
पूर्वे पूर्वतरे चैव सुशास्या ह्यभवन् जनाः ॥ १८ ॥
मृदवः सत्यभूयिष्ठा अल्पद्रोहाऽल्पमन्यवः ।
पुरा धिग्दण्ड एवासीद्वाग्दण्डस्तदनन्तरम् ॥ १९ ॥
आसीदादानदण्डोऽपि वधदण्डोऽद्य वर्तते ।
वधेनापि न शक्यन्ते नियन्तुमपरे जनाः ॥ २० ॥

वधदण्डसे डाकुओंकी स्त्री आदिको पुरोहित समाजमें कष्ट देना उचित नहीं है । जब डाकू लोग पुरोहितके समीप शरणागत होके कहें, कि "हे ब्रह्मन् ! हम अब फिर ऐसा कार्य नहीं करेंगे," तब उन्हें छोडना उचित है, यही विधाताका शासन है । दण्ड और मृगछाल-धारी सिरमुंडे संन्यासी यदि निन्दित धर्म करें, तो उन्हें भी अवश्य शासन करना चाहिये, बडे लोग भी यदि शासनकर्त्ताके निकट बार बार अपराध करें तो उन्हें डाकुओंकी भांति वधदण्ड-में दण्डित न करके देशसे निकाल देना चाहिये । (११-१६)

द्युमत्सेन बोले, निज निज नियमोंसे प्रजापालन किया जा सकता है, वे सब नियम जब तक लङ्घित न हों, तब वही धर्मरूपसे वर्णित हुआ करते हैं । वध दण्ड न करके राजा सबकोही पराभूत कर रखे, ऐसा होनेसे ऊपर कहे हुए डाकू लोग उत्तम रीतिसे सुशासित हुआ करेंगे, मृदुस्वभाव, सत्यनिष्ठ, अल्पद्रोह करनेवाले और अल्पमन्यु पुरुषोंके अपराधी होनेपर पहले उन्हें धिक्कारके जरिये दण्ड देना विहित था । अनन्तर उन लोगोंको वाग्दण्डसे शासन करना व्यवहृत हुआ था, कुछ समयके अनन्तर उक्त अपराधियोंके विषयमें सर्वस्व हरण रूपी दण्ड प्रचलित हुआ; अब कलियुगके प्रारम्भसे वधदण्ड

नैव दस्युर्मनुष्याणां न देवानामिति श्रुतिः।
न गन्धर्वपितॄणां च कः कस्येह न कश्चन ॥ २१ ॥
पद्मं श्मशानादादत्ते पिशाचाच्चापि दैवतम्।
तेषु यः समयं कश्चित्कुर्वीत हतबुद्धिषु ॥ २२ ॥
सत्यवानुवाच— तान्न शक्नोषि चेत्साधून् परित्रातुमहिंसया।
कस्यचिद् भूतभव्यस्य लाभेनान्तं तथा कुरु ॥ २३ ॥
राजानो लोकयात्रार्थं तप्यन्ते परमं तपः।
तेऽपत्रपन्ति तादृग्भ्यस्तथावृत्ता भवन्ति च ॥ २४ ॥
वित्रास्यमानाः सुकृतो न कामाद् घ्नन्ति दुष्कृतीन्।
सुकृतेनैव राजानो भूयिष्ठं शासते प्रजाः ॥ २५ ॥
श्रेयसः श्रेयसोऽप्येवं वृत्तं लोकोऽनुवर्तते।

व्यवहृत हुआ है। (१७-२०)

एक पुरुषके मारे जानेपर भी दूसरा नहीं डरता; इसलिये डाकुओंके पक्षवाले सब लोग ही वधके योग्य हैं। सुना है कि दस्यु पुरुष मनुष्य, देवता, गन्धर्व और पितरोंमेंसे किसीका भी आत्मीय नहीं है; इसलिये डाकुओंके वध करनेसे उनकी भार्या आदिका वध नहीं होता; क्यों कि उन लोगोंके सङ्ग किसीका भी सम्बन्ध नहीं है। जो मूर्ख पुरुष श्मशानसे मुर्देका अलङ्कार और पिशाच-तुल्य मनुष्योंसे देवताओंकी शपथ करके वस्त्र आदि हरण करता है, उस नष्टबुद्धि पुरुषके विषयमें सदाचार निर्देश करनेमें कौन पुरुष समर्थ होसकता है। (२०-२२)

सत्यवान् बोले, अहिंसाके जरिये यदि दुष्टोंको साधु बनानेमें सामर्थ्य न हो, तो कोई लाभकार्य आरम्भ करके उनका नाश करना चाहिये, क्यों कि पापी लोग लोभमें वश होकर उस कार्यमें सांमिलित होसकते हैं जिससे वे बांधे जासकते हैं। इसलिये वधार्ह पुरुषोंको भी ऐसे कार्यके बीच प्रवेश कराके उनका नाश करना उचित है। राजा लोग लोकयात्रा निबाहनेके लिये परम तपस्या किया करते हैं, वे उत्तम चरित्रवाले होनेपर भी "हमारे राज्यमें डाकू हैं," ऐसा जाननेसे, वैसे डाकुओंसे लज्जित होते हैं। भय दिखानेसे ही प्रजा साधु होती है, राजा अपनी इच्छानुसार दुष्कृतशाली प्रजाको नहीं मारता। परंतु वैसा प्रयोजन होनेसे सुकृतके अर्थ उन्हें इस रीतिसे दण्ड दिया करता है। (२३-२५)

राजाके सदाचार करनेसे प्रजा उसहीके अनुसार सदाचार अवलम्बन करती है; श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण

सदैव हि गुरोर्वृत्तमनुवर्तन्ति मानवाः ॥ २६ ॥
आत्मानमसमाधाय समाधित्सति यः परान्।
विषयेष्विन्द्रियवशं मानवाः प्रहसन्ति तम् ॥ २७ ॥
यो राज्ञो दम्भमोहेन किंचित्कुर्यादसाम्प्रतम्।
सर्वोपायैर्नियम्यः स तथा पापान्निवर्तते ॥ २८ ॥
आत्मैवादौ नियन्तव्यो दुष्कृतं संनियच्छता।
दण्डयेच्च महादण्डैरपि बन्धूननन्तरान् ॥ २९ ॥
यत्र वै पापकृन्नीचो न महद् दुःखमर्च्छति।
वर्धन्ते तत्र पापानि धर्मो ह्रसति च ध्रुवम् ॥ ३० ॥
इति कारुण्यशीलस्तु विद्वान्वै ब्राह्मणोऽन्वशात्।
इति चैवानुशिष्टोऽस्मि पूर्वैस्तातपितामहैः ॥ ३१ ॥
आश्वासयद्भिः सुभृशमनुक्रोशात्तथैव च।
एतत्प्रथमकल्पेन राजा कृतयुगे जयेत् ॥ ३२ ॥

करते हैं, साधारण पुरुष भी उसहीके अनुसार चला करते हैं। लोग इस ही प्रकार क्रमसे कल्याण लाभ करते हैं, मनुष्य बडे लोगोंके अनुवर्त्तनसे सदा निरत हुआ करते हैं। जो राजा अपने चित्तको सावधान न करके दूसरेको शासन करनेकी इच्छा करता है, उस विषयेन्द्रियोंके वशमें रहनेवाल राजाकी प्रजा हंसी किया करती है, जो पुरुष दम्भ और मोहके वशमें होकर राजाके सङ्ग तनिक भी अनुचित व्यवहार करे, उसे जिस उपायसे होसके, शासन करना उचित है; ऐसा होनेसे वह पापसे निवृत्त होगा। (२६-२८)

जो पापकर्म करनेवाले पुरुषको पूर्ण रीतिसे शासन करनेकी इच्छा करे, पहले उसे आत्मनियमन करना योग्य है। अनन्तर पुत्र, सहोदर आदिको महत् दण्डके सहारे शासित करना उचित है। जिस राज्यमें पाप करनेवाले नीच लोग अत्यन्त महत् दुःख नहीं पाते, अवश्य ही वहां पापकी बढती और धर्मकी घटती हुआ करती है; करुणाशील विद्वान् ब्राह्मणोंने ऐसेही अनुशासन किये हैं। हे तात! अत्यन्त करुणाके सबब प्रजासमूहके विषयमें धीरज देनेवाले पितामहके जरिये मैं इस ही प्रकार अनुशिष्ट हुआ था। सत्ययुगमें राजाओंने इस ही प्रथम कल्प शासन अर्थात् अहिंसामय दण्डसे ही पृथ्वीमण्डलको वशमें किया था। (२९-३२)

पादोनेनापि धर्मेण गच्छेत्त्रेतायुगे तथा।
द्वापरे तु द्विपादेन पादेन त्वपरे युगे ॥ ३३ ॥
तथा कलियुगे प्राप्ते राज्ञो दुश्चरितेन ह।
भवेत्कालविशेषेण कला धर्मस्य षोडशी ॥ ३४ ॥
अथ प्रथमकल्पेन सत्यवन्संकरो भवेत्।
आयुः शक्तिं च कालं च निर्दिश्य तप आदिशेत् ॥३५॥
सत्याय हि यथा नेह जह्याद्धर्मफलं महत्।
भूतानामनुकम्पार्थं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥३६॥ [९४५५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि द्युमत्सेनसत्यवत्संवादे सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६७ ॥

युधिष्ठिर उवाच-अविरोधेन भूतानां योगः षाड्गुण्यकारकः।
यः स्यादुभयभाग्धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
गार्हस्थ्यस्य च धर्मस्य योगधर्मस्य चोभयोः।

त्रेतायुगमें तीन पाद धर्मके सहारे प्रजा शासन होता था, द्वापरमें दोपाद धर्म और कलियुगमें एकपाद धर्म प्रवृत्त हुआ है। धिग्दण्ड, वाग्दण्ड, आदानदण्ड और वधदण्ड युगके क्रमसे प्रजासमूहके विषयमें प्रवृत्त हुआ करते हैं। कलियुगके उपस्थित होनेपर समय विशेषमें राजाके दुश्चरित्रसे धर्मके सोलह अंशोंका एक अंश मात्र, शेष रहेगा। हे सत्यवान्! यदि अहिंसामय प्रथम कल्प दण्डविधानसे धर्मसङ्कर हो, तो परमायु, शक्ति और काल निर्देश करके राजा दण्डकी आज्ञा करे। सत्यके निमित्त अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिके हेतु इस लोकमें अत्यन्त महत् धर्मफलको त्यागना न चाहिये। जीवोंके ऊपर कृपा करके स्वयम्भू मनुने उसे कहा है। (३३—३६)

शान्तिपर्वमें २६७ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें २६८ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! समस्त ऐश्वर्य, ध्यान, यश, श्री, वैराग्य और धर्म, इन छहों गुणोंका हेतु जो योग- धर्म जीवोंके विषयमें अविरोध भावसे जिस प्रकार उभयभागी अर्थात् गार्हस्थ्य और संन्यास, इन दोनोंमें उपयोगी होता है, आप मेरे समीप उसे ही वर्णन करिये। गार्हस्थ्यमें पञ्चसूना अनिवार्य है, योगधर्ममें समस्त विषयमें हिंसा परित्याज्य है, उक्त दोनों धर्म एक ही कार्यके लिये प्रवृत्त होने पर अर्थात् न्यायसे प्राप्त हुए धनके जरिये जीविका

अदूरसंप्रस्थितयोः किंस्विच्छ्रेयः पितामह ॥ २ ॥

भीष्म उवाच— उभौ धर्मौ महाभागावुभौ परमदुश्चरौ ।
उभौ महाफलौ तौ तु सद्भिराचरितावुभौ ॥ ३ ॥
अत्र ते वर्तयिष्यामि प्रामाण्यमुभयोस्तयोः ।
शृणुष्वैकमनाः पार्थ छिन्नधर्मार्थसंशयम् ॥ ४ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
कपिलस्य गोश्च संवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ५ ॥
आम्नायमनुपश्यन्हि पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ।
नहुषः पूर्वमालेभे त्वष्टुर्गामिति नः श्रुतम् ॥ ६ ॥
तां नियुक्तामदीनात्मा सत्त्वस्थः संयमे रतः ।
ज्ञानवान्नियताहारो ददर्श कपिलस्तथा ॥ ७ ॥
स बुद्धिमुत्तमां प्राप्तो नैष्ठिकीमकुतोभयाम् ।
सतीमशिथिलां सत्यां वेदाः इत्यब्रवीत् सकृत् ॥ ८ ॥

निर्वाह करनेसे तत्वज्ञाननिष्ठ, अतिथि-प्रिय, श्राद्ध करनेवाले तथा सत्यवादी होनेसे मुक्त होंगे। और योगी पुरुष प्राणायामसे पापोंको जलाकर धारणासे किल्बिष नाश, प्रत्याहारके जरिये संग परिहार और ध्यानके सहारे जीवत्व आदि गुणोंको परित्याग करें; इसलिये उक्त दोनों धर्मोंके तुल्यार्थ होनेपर भी उनके बीच कौन कल्याणकारी है। (१—२)

भीष्म बोले, गार्हस्थ्य और योग-धर्म दोनों ही महा ऐश्वर्यसे युक्त तथा अत्यन्त दुश्चर हैं, दोनोंमें ही महत् फल हैं, और दोनों धर्म साधुओंके आचरित हैं; इस समय मैं तुम्हारे समीप उक्त दोनों धर्मोंका प्रमाण वर्णन करता हूं एकाग्रचित्त होकर सुननेसे धर्म विषयमें तुम्हारा संशय दूर होगा। हे युधिष्ठिर! प्राचीन लोग इस विषयमें कपिल और गौके संवादयुक्त इस पुराने इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं; तुम उसे सुनो। पहले समयमें राजा नहुष नित्य, निश्चल, पुरातन वेदविधि देखकर गृहमें आये हुए अतिथियोंके निमित्त गऊ मारनेमें प्रवृत्त हुए थे मैंने ऐसा सुना है; अदीन स्वभाव-वाले सत्वगुण अवलम्बी, संयममें रत नियताहारी, ज्ञानवान् कपिलने वधके लिये लाई गई उस गऊको देखा था। वह भयरहित सत्यसंश्रयी, अशिथिल और नैष्ठिकी बुद्धिसे युक्त थे। इस ही लिये उस गऊको देखकर ' हा वेद ! '

तां गामृषिः स्यूमरश्मिः प्रविश्य यतिमब्रवीत्।
हंहो वेदा यदि मता धर्माः केनापरे मताः ॥ ९ ॥
तपस्विनो धृतिमन्तः श्रुतिविज्ञानचक्षुषः।
सर्वमार्षं हि मन्यन्ते व्याहृतं विदितात्मनः ॥ १० ॥
तस्यैवं गततृष्णस्य विज्वरस्य निराशिषः।
का विवक्षाऽस्ति वेदेषु निरारम्भस्य सर्वतः ॥ ११ ॥
कपिल उवाच— नाहं वेदान्विनिन्दामि न विवक्ष्यामि कर्हिचित्।
पृथगाश्रमिणां कर्माण्येकार्थानीति नः श्रुतम् ॥ १२ ॥
गच्छत्येव परित्यागी वानप्रस्थश्च गच्छति।
गृहस्थो ब्रह्मचारी च उभौ तावपि गच्छतः ॥ १३ ॥
देवयाना हि पन्थानश्चत्वारः शाश्वता मताः।
एषां ज्यायःकनीयस्त्वं फलेषूक्तं बलाबलम् ॥ १४ ॥

ऐसा वचन कहके आक्षेप प्रकाश किया था। (३—८)

स्यूमरश्मि ऋषि योगबलसे उस गऊके शरीरमें प्रवेश करके कपिल मुनिसे बोले, क्याही आश्चर्य है ? यदि सब वेद ही गर्हित रूपसे संमत हुए तब दूसरा कौन हिंसारहित धर्म लोगोंको अभिमत होगा। सन्तोषयुक्त श्रुतिबलसे विज्ञानदर्शी तपस्वी लोग ऋषियोंसे प्रकट हुए वेदवाक्योंको नित्य विज्ञानमय परमेश्वरका वाक्य कहके मान्य करते हैं, इसलिये वेदवाक्यके एक अक्षरको भी अप्रमाणित करनेमें किसीकी सामर्थ्य नहीं है। जो फलकी आशासे रहित, दोषहीन वीतराग और अवाप्तसमस्तकामत्व निबन्धनसे सब प्रकार निरारम्भ है, उस परमेश्वरके वचन वेदोंमें क्या किसी पुरुषको कुछ कहनेकी शक्ति है। (९-११)

कपिल बोले, मैंने वेदोंकी निन्दा नहीं की है, और किसी विषयमें कुछ विषम वाक्य कहनेकी इच्छा भी नहीं करता, पृथक् पृथक् आश्रमवालोंके सब कर्म एक प्रयोजनके हैं, इसे मैंने सुना है। क्या संन्यासी, क्या वानप्रस्थ, क्या गृहस्थ, क्या ब्रह्मचारी, सबही परम पद लाभ किया करते हैं। चारों आश्रमोंसे ही आत्माको प्राप्त किया जाता है, इस ही लिये ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रम देवयान पथ रूपसे प्रसिद्ध हैं, इन चारोंमें उत्कर्ष और अपकर्ष तथा बलाबलके विषय वर्णित हुए हैं, कि संन्यासी मोक्षलाभ करते हैं, वानप्रस्थ ब्रह्मलोक पाते हैं, गृहस्थ पुरुष स्वर्ग लोकमें

एवं विदित्वा सर्वार्थानारभेतेति वैदिकम्।
नारभेतेति चान्यत्र नैष्ठिकी श्रूयते श्रुतिः ॥ १५ ॥
अनारम्भे ह्यदोषः स्यादारम्भे दोष उत्तमः।
एवं स्थितस्य शास्त्रस्य दुर्विज्ञेयं बलाबलम् ॥ १६ ॥
यद्यत्र किंचित्प्रत्यक्षमहिंसायाः परं मतम्।
ऋते त्वागमशास्त्रेभ्यो ब्रूहि तद्यदि पश्यसि ॥ १७ ॥
स्यूमरश्मिरुवाच-स्वर्गकामो यजेतेति सततं श्रूयते श्रुतिः।
फलं प्रकल्प्य पूर्वं हि ततो यज्ञः प्रतायते ॥ १८ ॥
अजश्चाश्वश्च मेषश्च गौश्च पक्षिगणाश्च ये।
ग्राम्यारण्याश्चौषधयः प्राणस्यान्नमिति श्रुतिः ॥ १९ ॥
तथैवान्नं ह्यहरहः सायं प्रातर्निरूप्यते।
पशवश्चाथ धान्यं च यज्ञस्याङ्गमिति श्रुतिः ॥ २० ॥

गमन किया करते हैं, और ब्रह्मचारी ऋषिलोकमें वास करते हैं। (१२-१४)

ऐसा ही जानके स्वर्गादिप्रद यज्ञादि कर्म आरम्भ करे; यही वैदिक मत और वेदके प्रकरणान्तरमें कर्म न करनेकी भी विधि है, इस ही प्रकार नैष्ठिकी श्रुति भी श्रवणगोचर हुआ करती है अर्थात् सन्यास ही सबके विषयमें परम मोक्षसाधन है। जो सब काम्य वस्तुओंको परित्याग करते हैं, वे पर-ब्रह्मको जानके परमपद पाते हैं। कर्म न करनेसे कोई दोष नहीं होता, परन्तु यज्ञ आदि कर्मोंके अनुष्ठान करनेसे हिंसा आदिसे बहुतेरे दोष हुआ करते हैं। जब शास्त्र इस प्रकार है, तब कर्म-त्याग और कर्मानुष्ठानके बलाबल अत्यन्त ही दुर्विज्ञेय हैं, क्यों कि दोनोंमें ही निन्दा और प्रशंसाकी तुल्यता है। आगमशास्त्रोंके अतिरिक्त जो कुछ हिंसाशास्त्र हैं, यदि वे प्रत्यक्ष हों, और तुमने उन्हें देखा हो, तो उसे ही कहो। (१५-१७)

स्यूमरश्मि बोले, "स्वर्गकी इच्छा करनेवाले पुरुष यज्ञ करें" सदा ऐसी ही श्रुति सुनी जाती है। पहले फलकी कल्पना करके उसके अनन्तर यज्ञ विस्तृत हुआ करता है। बकरे, घोडे, भेड, गऊ, पक्षियें और गांव तथा जङ्गलकी सब औषधियें प्राणियोंके अन्न हैं; यह वेदमें प्रतिपादन हुआ है; इसलिये जो जिसका अन्न है, उसके खानेमें कोई दोष नहीं है। प्रतिदिन सन्ध्या और भोरके समयमें अन्न निरूपित हुआ करता है; पशुसमूह और समस्त धान्य

एतानि सह यज्ञेन प्रजापतिरकल्पयत्।
तेन प्रजापतिर्देवान् यज्ञेनायजत प्रभुः ॥ २१ ॥
तदन्योऽन्यवराः सर्वे प्राणिनः सप्त सप्तधा।
यज्ञेषूपाकृतं विश्वं प्राहुरुत्तमसंज्ञितम् ॥ २२ ॥
एतच्चैवाभ्यनुज्ञातं पूर्वैः पूर्वतरैस्तथा।
को जातु न विचिन्वीत विद्वान्स्वां शक्तिमात्मनः॥२३
पशवश्च मनुष्याश्च द्रुमाश्चौषधिभिः सह।
स्वर्गमेवाभिकाङ्क्षन्ते न च स्वर्गस्ततो मखात् ॥२४॥
ओषध्यः पशवो वृक्षा वीरुदाज्यं पयो दधि।
हविर्भूमिर्दिशः श्रद्धा कालश्चैतानि द्वादश ॥ २५ ॥
ऋचो यजूंषि सामानि यजमानश्च षोडश।
अग्निर्ज्ञेयो गृहपतिः स सप्तदश उच्यते ॥ २६ ॥
अङ्गान्येतानि यज्ञस्य यज्ञो मूलमिति श्रुतिः।
आज्येन पयसा दध्ना शकृताऽऽमिक्षया त्वचा॥ २७॥

यज्ञके अङ्ग हैं; यह भी वेदके बीच विहित है। प्रजापतिने ऊपर कहे हुए पशुओंको यज्ञके लिये उत्पन्न किया है, और उन्हींके जरिये देवताओंका यज्ञ कराया था। ऊपर कहे हुए पशु, ग्राम्य और अरण्यभेदसे सात प्रकारके हैं, वे परस्पर श्रेष्ठ हैं। (१८-२२)

गऊ, बकरे, मनुज, घोडे, भेडे, खच्चर और गदहे, ये सातों ग्रामपशु हैं; और सिंह, बाघ, वराह, अश्व, भैंस, भालू और बन्दर, ये सातों जंगली कहके वर्णित हुआ करते हैं। यज्ञमें विनियुक्त भूमा-गको महर्षि लोग उत्तमसंज्ञक कहा करते हैं और यह पहलेसे ही पण्डितोंके जरिये अनुज्ञात हुआ है। कौन विद्वान् पुरुष अपनी शक्तिके अनुसार मुक्तिके उपाय करनेमें अभिलाषी नहीं होता; सब कोई अपनी सामर्थ्यके अनुसार यज्ञ कार्य करें। मनुष्य, पशु, वृक्ष और समस्त ओषधियें स्वर्गकी कामना किया करती हैं, स्वर्गके अतिरिक्त सुख नहीं है। औषधि, पशु, वृक्ष, वीरुत्, घृत, दूध, दही, हवि, भूमि, दिक्, श्रद्धा और काल, ये बारह और ऋक्, यजु, साम तथा यजमानको मिलाके सोलह, और अग्निस्वरूप गृहपति सप्तदश रूपसे कहे जाते हैं। (२२-२६)

येही सतरह यज्ञके अङ्ग हैं, यज्ञ ही लोकस्थितिका मूल है, यह वेदमें प्रति-पादित है। घृत, दूध, दही, शकृत्, आमिक्षा

वालैः शृङ्गेण पादेन संभवत्येव गौर्मखम् ।
एवं प्रत्यकशः सर्वं यद्यदस्य विधीयते ॥ २८ ॥
यज्ञं वहन्ति संभूय सहर्त्विग्भिः सदक्षिणैः ।
संहृत्यैतानि सर्वाणि यज्ञं निर्वर्तयन्त्युत ॥ २९ ॥
यज्ञार्थानि हि सृष्टानि यथार्था श्रूयते श्रुतिः ।
एवं पूर्वतराः सर्वे प्रवृत्ताश्चैव मानवाः ॥ ३० ॥
न हिंसन्ति नारभते नाभिद्रुह्यति किंचन ।
यज्ञो यष्टव्य इत्येव यो यजत्यफलेप्सया ॥ ३१ ॥
यज्ञाङ्गान्यपि चैतानि यज्ञोक्तान्यनुपूर्वशः ।
विधिना विधियुक्तानि धारयन्ति परस्परम् ॥ ३२ ॥
आम्नायमार्षं पश्यामि यस्मिन्वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
तं विद्वांसोऽनुपश्यन्ति ब्राह्मणस्यानुदर्शनात ॥ ३३ ॥
ब्राह्मणप्रभवो यज्ञो ब्राह्मणार्पण एव च ।
अनुयज्ञं जगत्सर्वं यज्ञश्चानुजगत्सदा ॥ ३४ ॥

त्वक्, पुच्छलोम, शींग और खुरके जरिये गो यज्ञका कार्य सिद्ध हुआ करता है। सब वस्तुओंमेंसे यज्ञके लिये प्रत्येक जो जो विहित होता है, वह सब एकत्रित होकर दक्षिणायुक्त ऋत्विजोंके सहित यज्ञको पूर्ण करता है। ऊपर कही हुई सब सामग्रियोंको समाप्त करनेसे यज्ञ निवृत्त हुआ करता है। यज्ञके लिये ही सब वस्तुएं उत्पन्न हुई हैं, यह यथार्थ श्रुति कानोंसे सुनी जाती है। प्राचीन मनुष्य इस ही भांति यज्ञके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होते थे; वे किसीकी हिंसा नहीं करते थे। फलकी कामनासे कोई कर्म नहीं करते थे। और किसीसे द्रोह नहीं करते थे। "यज्ञ करना कर्त्तव्य है," ऐसा समझके फलकी इच्छा न करके जो लोग यज्ञ करते हैं, उनके यज्ञमें पहले कहे हुए सब यज्ञाङ्ग और यज्ञमें कहे हुए यूपकाष्ठ यथारीतिसे विधिपूर्वक निज कार्योंसे परस्परका उपकार करते हैं। (२७—३२)

जिसमें सब वेद प्रतिष्ठित होरहे हैं, मैं उस ऋषिप्रणीत आम्नाय-वाक्यका दर्शन करता हूं, कर्मप्रवर्त्तक ब्राह्मण वाक्यदर्शन निबन्धनसे विद्वान् लोग भी उस वेदवाक्यको अवलोकन किया करते हैं। ब्राह्मणसे यज्ञकी उत्पत्ति होती है और ब्राह्मणमें यज्ञ अर्पित हुआ करता है, सब जगत् यज्ञका आसरा किये है, और यज्ञ भी सदा जगत्को

ओमिति ब्रह्मणो योनिर्नमः स्वाहा स्वधा वषट् ।
यस्यैतानि प्रयुज्यन्ते यथाशक्ति कृतान्यपि ॥ ३५ ॥
न तस्य त्रिषु लोकेषु परलोकभयं विदुः ।
इति वेदा वदन्तीह सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ ३६ ॥
ऋचो यजूंषि सामानि स्तोभाश्च विधिचोदिताः ।
यस्मिन्नेतानि सर्वाणि भवन्तीह स वै द्विजः ॥ ३७ ॥
अग्न्याधेये यद्भवति यच्च सोमे सुते द्विज ।
यच्चेतरैर्महायज्ञैर्वेद तद्भगवान् पुनः ॥ ३८ ॥
तस्माद्ब्रह्मन्यजेच्चैव याजयेच्चाविचारयन् ।
यजतः स्वर्गविधिना प्रेत्य स्वर्गफलं महत् ॥ ३९ ॥
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञानां परश्चेति विनिश्चयः ।
वेदवादविदश्चैव प्रमाणमुभयं तदा ॥ ४० ॥ [९४९५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि गोकपिलीये अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६८ ॥

कपिल उवाच- एतावदनुपश्यन्ति यतयो यान्ति मार्गगाः ।

अवलम्बन कर रहा है । ओंकार ही वेदका मूल है, इसलिये प्रणवका उच्चारण करके यज्ञादि कार्योंको करना चाहिये । नमः स्वाहा, स्वधा, वषट् इत्यादि मन्त्रोंके यथाशक्ति जिसके गृहमें प्रयोग होते हैं; त्रिभुवनके बीच उसे ही परलोकका भय नहीं है; सब वेद और सिद्ध महर्षि लोग इस विषयमें ऐसा ही कहा करते हैं । (३३—३६)

ऋक्, यजु, साम आदि शब्द, ये सब विधिपूर्वक प्रयुक्त होकर जिसमें निवास करते हैं, वेही द्विज-पदवाच्य होते हैं । हे द्विज! अग्न्याधान, सोमपान और इतर महायज्ञोंसे जो फल होता है, उसे तो आप जानते हैं । इसलिये विचार न करके यजन और याजन करना उचित है । स्वर्गप्रद ज्योतिष्टोमादिके अनुष्ठानके जरिये जो यज्ञ करते हैं, परलोकमें उन्हें अत्यन्त महत् स्वर्ग फल प्राप्त हुआ करता है । जो यज्ञ नहीं करते, उनका यह लोक और परलोक नष्ट होता है । जो वेदगत अर्थवाद जानते हैं, उस अर्थवादके दोनों फल सामर्थ्य ही इस विषयमें प्रमाण है, यह भी उन्हें अविदित नहीं है । (३७-४०)

शान्तिपर्वमें २६८ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें २६९ अध्याय ।

कपिल बोले, सविशेष अवस्थामें

नैषां सर्वेषु लोकेषु कश्चिदस्ति व्यतिक्रमः ॥ १ ॥
निर्द्वन्द्वा निर्नमस्कारा निराशीर्बन्धना बुधाः।
विमुक्ताः सर्वपापेभ्यश्चरन्ति शुचयोऽमलाः ॥ २ ॥
अपवर्गेऽथ संत्यागे बुद्धौ च कृतनिश्चयाः।
ब्रह्मिष्ठा ब्रह्मभूताश्च ब्रह्मण्येव कृतालयाः ॥ ३ ॥
विशोका नष्टरजसस्तेषां लोकाः सनातनाः।
तेषां गतिं परां प्राप्य गार्हस्थ्ये किं प्रयोजनम् ॥ ४ ॥
स्यूमरश्मिरुवाच- यद्येषा परमा काष्ठा यद्येषा परमा गतिः।
गृहस्थानव्यपाश्रित्य नाश्रमोऽन्यः प्रवर्तते ॥ ५ ॥
यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्त इतराऽऽश्रमाः ॥ ६ ॥
गृहस्थ एव यजते गृहस्थस्तप्यते तपः।
गार्हस्थ्यमस्य धर्मस्य मूलं यत्किंचिदेजते ॥ ७ ॥
प्रजनाद्यभिनिर्वृत्ताः सर्वे प्राणभृतो जनाः।

स्थित, यम नियम आदिसे युक्त, योगी लोग दृश्यत्व रूपसे परिच्छिन्न ब्रह्माण्ड पर्यन्त कर्म फल अवलोकन करते हुए परमात्माका दर्शन किया करते हैं; सब लोकोंके बीच इन लोगोंके सङ्कल्प कभी मिथ्या न होवे। जो सर्दी, गर्मीसे उत्पन्न हुए हर्ष विषादसे रहित हैं, जो किसीको नमस्कार वा आशीर्वाद नहीं करते, ज्ञानयुक्त होनेसे वासनाके हेतु सब पापोंसे जो लोग मुक्त हुए हैं, वे स्वभावसिद्ध पवित्र और आनेवाले दोषोंसे रहित योगी पुरुष परम सुखसे विचरते रहते हैं। अपवर्ग और संन्यास विषयको बुद्धिसे जिन्होंने निश्चय किया है, वे ब्रह्माभिलाषी ब्रह्मभूत योगी लोग ब्रह्मको ही अवलम्बन किया करते हैं, जिन्हें शोक नहीं है, और रजोगुण नष्ट हुआ है, उनके निमित्त नित्य सिद्ध सनातन लोक निर्मित है, परमपद पाके फिर उन्हें गृहस्थ धर्मकी क्या आवश्यकता है। (१—४)

स्यूमरश्मि बोले, यदि यही परम उत्कर्ष और यही चरम गति हुई, तोभी विना गृहस्थोंके आसरेसे दूसरे आश्रमोंके निर्वाह नहीं होसकते। जैसे जननीका आसरा करके सब जन्तु जीवन धारण करते हैं, वैसे ही गृहस्थाश्रमके अवलम्बसे सब आश्रमवाले वर्तमान रहते हैं। गृहस्थ ही यज्ञ किया करता है, गृहस्थ ही तपस्या करता है; सुखकी

प्रजनं चाप्युतान्यत्र न कथंचन विद्यते ॥ ८ ॥
यास्तु स्युर्बहिरोषध्यो बहिरन्यास्तथाऽद्रिजाः ।
ओषधिभ्यो बहिर्यस्मात्प्राणात्कश्चिन्न दृश्यते ॥ ९ ॥
कस्यैषा वाग्भवेत्सत्या मोक्षो नास्ति गृहादिति ।
अश्रद्दधानैरप्राज्ञैः सूक्ष्मदर्शनवर्जितैः ॥ १० ॥
निराशैरलसैः श्रान्तैस्तप्यमानैः स्वकर्मभिः ।
शमस्योपरमो दृष्टः प्रव्रज्यायामपण्डितैः ॥ ११ ॥
त्रैलोक्यस्यैव हेतुर्हि मर्यादा शाश्वती ध्रुवा ।
ब्राह्मणो नाम भगवान् जन्मप्रभृति पूज्यते ॥ १२ ॥
प्राग्गर्भाधानान्मन्त्रा हि प्रवर्तन्ते द्विजातिषु ।
अविश्रम्भेषु वर्तन्ते विश्रम्भेष्वप्यसंशयम् ॥ १३ ॥
दाहे पुनः संश्रयणे संश्रिते पात्रभोजने ।

इच्छा करके जो कुछ चेष्टा की जाती है, गार्हस्थ्य ही उसका मूल है । प्राणिमात्र ही सन्तानके उत्पन्न होनेसे सब भांतिसे सुखी होते हैं, गृहस्थाश्रमके अतिरिक्त दूसरे किसी आश्रममें भी वह पुत्रोत्पत्ति सम्भव नहीं होती, बाह्य ओषधि धान्य आदि और शैलज ओषधि सोमलता इत्यादि जो कुछ दीख पडती है, प्राण उन ओषधि स्वरूप है; क्यों कि अग्निमें दी हुई आहुति आदित्यके निकट उपस्थित होती है, सूर्यसे वर्षा उत्पन्न होती है, जल बरसनेसे अन्न उपजता है, और अन्नसे प्रजासमूहकी उत्पत्ति हुआ करती है । (५—९)

इसलिये ओषधिस्वरूप प्राणसे पृथक् जब दूसरा कोई पदार्थ नहीं दीखता, तब गृहस्थाश्रम ही जगत्की उत्पत्तिका कारण है; 'गृहस्थाश्रममें मोक्ष नहीं होती' किस पुरुषका यह वचन सत्य होसकता है । श्रद्धारहित, बुद्धिहीन, सूक्ष्म दर्शन विवर्जित, प्रतिष्ठाहीन, आलसी, श्रान्त और निज कर्मसे सन्तापयुक्त, काणत्व आदि दोषोंसे गृहस्थधर्म प्रतिपालन करनेमें असमर्थ मूर्ख पुरुष ही प्रव्रज्याधर्ममें शमगुणकी अधिकता दर्शन किया करते हैं । तीनों लोकोंके हितके निमित्त यह नित्य, निश्चल मर्यादा है, कि भगवान् वेदवित् ब्राह्मण जन्म पर्यन्त पूजनीय हैं । प्रमाणान्तरोंसे अगम्य स्वर्गादि और ऐहिक कर्मफलसिद्धि विषयमें जो सब मन्त्र हैं, वह गर्भाधानके पहलेसे ही द्विजातियोंमें निवास करते हैं, इसमें

दाने गवां पशूनां वा पिण्डानामप्सु मज्जने ॥ १४ ॥
अर्चिष्मन्तो बर्हिषदः क्रव्यादाः पितरस्तथा।
मृतस्याप्यनुमन्यन्ते मन्त्रामन्त्राश्च कारणम् ॥ १५ ॥
एवं क्रोशत्सु वेदेषु कुतो मोक्षोऽस्ति कस्यचित्।
ऋणवन्तो यदा मर्त्याः पितृदेवद्विजातिषु ॥ १६ ॥
श्रिया विहीनैरलसैः पण्डितैः संप्रवर्तितम्।
वेदवादापरिज्ञानं सत्याभासमिवानृतम् ॥ १७ ॥
न वै पापैर्ह्रियते कृष्यते वा यो ब्राह्मणो यजते वेदशास्त्रैः।
ऊर्ध्वं यज्ञैः पशुभिः सार्धमेति संतर्पितस्तर्पयते च कामैः ॥ १८ ॥
न वेदानां परिभवान्न शाठ्येन न मायया।
महत्प्राप्नोति पुरुषो ब्रह्मणि ब्रह्म विन्दति ॥ १९ ॥

सन्देह नहीं है। (९—१३)

मृत—देहको जलाना, फिर शरीर प्राप्ति, मरनेके अनन्तर श्राद्ध, तर्पण आदि वैतरणीके समयमें गऊदान, आद्य श्राद्ध के समयमें वृषोत्सर्ग और सब पिण्डोंमें जलसिञ्चन, ये सब मन्त्रमूलक हैं; ज्योतिर्मय, कुशोंपर सोनेवाले क्रव्याद् और पितर लोग मृतकके सम्बन्धमें ऊपर कहे हुए कार्योंको मन्त्रसंमत कहा करते हैं; वेद जब इन मन्त्रोंके कारणताकी घोषणा कर रहे हैं और मनुष्य लोग जब पितर देवता तथा ऋषियोंके निकट ऋणी हैं, तब किसी पुरुषको किस प्रकार मोक्ष होसकती है। सब मन्त्र शरीरहीन, मुक्त पुरुषोंके उपकारके लिये नहीं हैं; इसलिये उस प्रकार अशरीरता लक्षण मोक्ष नहीं है। (१४—१६)

वेदवाक्योंका जिसमें पूर्ण रीतिसे ज्ञान नहीं होता, वह सत्यकी भांति आभासमान मिथ्याधर्म है; सम्पत्ति-रहित आलसी पण्डितोंके जरिये वह मिथ्याधर्म प्रवर्त्तित हुआ है, जो वेद-वित् ब्राह्मण वेदशास्त्रविहित यज्ञादि-कोंका अनुष्ठान करता है, वह पापोंसे आहृत वा आकर्षित नहीं होता; बल्कि वह यज्ञ और यज्ञिय पशुओंके सहित ऊर्ध्वलोकमें गमन करता है; और वह स्वयं सर्वकामसे तृप्त होकर दूसरोंको तर्पित किया करता है; इसलिये अग्नि-होत्र आदि कर्म समुचित उपासनारूपी ज्ञानसे ही मोक्ष होती है, इससे वह गृहस्थाश्रममें ही सिद्ध हुआ करती है। वेदोक्त कर्ममें अनादर, शठता वा मायासे पुरुष महत् ब्रह्मपद नहीं पाता, वेद जाननेवाले ब्राह्मण ही वेदोक्त

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्य.
१ आदिपर्व	(१ से ११)	११	११२५	६) छः रु.	१।)
२ सभापर्व	(१२ " १५)	४	३५६	२॥) अढाई	॥।
३ वनपर्व	(१६ " ३०)	१५	१५३८	८) आठ	१॥।
४ विराटपर्व	(३१ " ३३	३	३०६	२) दो	॥
५ उद्योगपर्व	(३४ " ४२	९	९५३	५) पांच	१।)
६ भीष्मपर्व	(४३ " ५०)	८	८००	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	(५१ " ६४)	१४	१३६४	७॥ साढेसात	१।)
८ कर्णपर्व	(६५ " ७०)	६	६३७	३॥ साढेतीन	॥।)
९ शल्यपर्व	(७१ " ७४)	४	४३५	२॥) अढाई	॥।
१० सौप्तिकपर्व	(७५)	१	१०४	॥। बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	(७६)	१	१०८	॥।) " "	।)
१२ शान्तिपर्व।					
राजधर्मपर्व	(७७ " ८३)	७	६९४	४ चार	।।
आपद्धर्मपर्व	(८४ " ८५)	२	२३२	१॥ डेढ	॥
मोक्षधर्मपर्व	(८६ " ९६)	११	११००	६) छः	१।)
१३ अनुशासन	(९७ " १०७	११	१०७६	६) छः	१।)
१४ आश्वमेधिक	(१०८ " १११)	४	४००	२॥) अढाई	॥)
१५ आश्रमवासिक	११२)	१	१४८	१) एक	।)
१६-१७ १८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहण।	(११३)	१	१०८	१) एक	।

सूचना—ये सब पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक ६० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री-स्वाध्याय मंडल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक— श्री० दा. सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)